भारतीय इतिहास : एक दृष्टि

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०
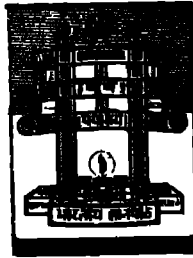
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

आमुख

इस पुस्तकमें प्राचीनतम कालसे लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर्यन्त सम्पूर्ण भारतीय इतिहासका क्रमबद्ध विहङ्गावलोकन प्रस्तुत किया गया है। भारतवर्षकी सनातन भौगोलिक सीमाओंको दृष्टिमें रखकर अखण्ड भारत के, जिसमें भारतीय संघके साथ ही पाकिस्तान और नेपाल भी सम्मिलित हैं, इतिहासका विवेचन अभिप्रेत रहा है। खण्डों और अध्यायोंके द्वारा जो विषय-विभाजन किया गया है उसकी योजना मेरी अपनी है। विषय-निरूपणमें यथासम्भव सर्वमान्य अथवा बहुमान्य तथ्यों, घटनाओं एवं तिथियोंको ही अपनाया गया है, जहाँ कहीं ऐसा नहीं हुआ उसका कारण निजी शोध-खोजके निष्कर्ष हैं। जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़े १९६१ की जनगणनाके आधारपर दिये गये हैं। जहाँ सम्पूर्ण भारतकी भौगोलिक इकाईका प्रश्न है वहाँ भारत और पाकिस्तानके जनसंख्या और क्षेत्रफल सम्बन्धी आँकड़े सम्मिलित हैं। कुछ भौगोलिक नामोंको हाल ही में परिवर्तित किया गया है। यथासम्भव नये स्वीकृत भौगोलिक नाम पुस्तक में प्रयुक्त किये गये हैं।

सामान्य इतिहास-पुस्तकोंसे दो-एक अन्तर भी इस पुस्तकमें दृष्टिगोचर होंगे। अन्य सामान्य ऐतिहासिक आधारोंके साथ-साथ जैन ऐतिहासिक आधारोंका भी इस पुस्तकमें पर्याप्त उपयोग किया गया है, किन्तु उसी सीमातक जहाँतक वे अन्य प्रामाणिक आधारोंसे समर्थित होते हैं अथवा इतने सबल और विश्वसनीय प्रतीत हुए कि उन्हें मान्यता देना उचित जान पड़ा। सामान्य इतिहास-पुस्तकोंमें जैन-संस्कृति और उसके अनु-यायियोंका उल्लेख प्रायः अत्यन्त गौण या उपेक्षित रहता है। उनके इस दोषका परिहार करनेका भी यहाँ प्रयत्न किया गया है। दक्षिण भारत,

तथा शेष भारतके प्रादेशिक राज्यों एवं बृहत्तर भारत आदिको भी अपेक्षाकृत अधिक एवं उचित स्थान देनेका प्रयास किया गया है।

पुस्तकका प्रणयन मैं १९५६ ई० में पूरा कर चुका था और तभी कुछ समय बाद ही इसे प्रकाशनार्थ भारतीय ज्ञानपीठके पास भेज चुका था। इस पुस्तकको लिखनेमें अंशतः तथा उसे भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रकाशित करानेमें मुख्यतः प्रेरक मेरे वय-ज्येष्ट मित्र श्री उग्रसेनजी, काशीपुर, रहे हैं। पुस्तकके प्रकाशनकी स्वीकृति देने, उसमें कुछ संशोधन आदि करनेका सुझाव देने और उसे प्रस्तुत रूपमें प्रकट करनेका श्रेय भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री भाई श्री लक्ष्मीचन्द्रजी को है। इन दोनों ही मित्रोंका मैं हृदयसे आभारी हूँ। मेरे पुत्र-द्वय शशिकान्त एवं रमाकान्तने पाण्डुलिपि एवं प्रूफके संशोधनादिमें पर्याप्त सहायता दी है। अन्य जिन सज्जनोंसे प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी प्रकारकी भी सहायता या सहयोग पुस्तकके निर्माण, मुद्रण, प्रकाशन आदिमें प्राप्त हुआ है उन सबका मैं कृतज्ञ हूँ।

आशा है इतिहासके विद्यार्थियों एवं इतिहास-प्रेमियोंको इस पुस्तकमें कुछ नवीनता तथा कतिपय महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ दृष्टिगोचर होंगी और भारतीय इतिहासके अध्ययनमें यह पुस्तक रुचिकर एवं उपयोगी सिद्ध होगी।

ज्योति-निकुंज
चारबाग, लखनऊ
२७ नवम्बर, १९६१ ई०

—ज्योतिप्रसाद जैन

विषय-सूची

खण्ड १ : प्राचीन भारत

खण्ड २ : विदेशी शासनमें भारत

खण्ड १

प्राचीन भारत

अध्याय १

प्रागैतिहासिक काल

प्रास्ताविक—उत्तरमें सुविस्तृत उत्तुंग हिमवन पर्वतमालासे सुरक्षित तथा दक्षिणमें तीन ओर महासागरसे वेष्टित और मध्यमें विन्ध्यमेखला द्वारा उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ नामक दो विशाल भागोंमें विभाजित हमारे इस त्रिकोणाकार महादेशका सर्वप्राचीन उपलब्ध नाम अंजनाभ था। तदनन्तर यह भारतवर्ष नामसे विख्यात हुआ। यह नाम भी सहस्रों वर्ष पुराना है। इस देशका मुख्य भाग आर्यखण्ड कहलाता था, विशेषकर उत्तरापथकी संज्ञा आर्यावर्त थी। उसके भी मध्य भागका नाम मध्यदेश था। गंगा, यमुनासे युक्त यह मध्यदेश ही प्राचीन भारतीय संस्कृतिका उद्गम स्थान रहा है। इसी प्रदेशमें भारतीय धर्म, दर्शन, ज्ञान और विज्ञान आविष्कृत एवं विकसित हुए, यहींसे देश-देशान्तरोंमें उनका प्रकाश फैला, इसी प्रदेशका आध्यात्मिक एवं बौद्धिक ही नहीं, राजनैतिक नेतृत्व भी चिरकाल तक न केवल सम्पूर्ण भारत देशपर ही वरन् उसके बाहर भी दूर-दूर तक व्याप्त रहा।

अठारह लाख वर्गमील क्षेत्रफल तथा लगभग चव्वन करोड़ जनसंख्याका यह विशाल भारतवर्ष एक पूरा महाद्वीप सरीखा ही है। जल, थल, भूस्थिति और जलवायु, जीव-जन्तु और वनस्पतियों, खनिज और कृषि उत्पादनोंकी जितनी और जैसी विविधता इस देशमें है अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होती। जातियों, भाषाओं, धर्मों और संस्कृतियोंका भी यह एक अद्भुतालय ही कहा जाता है। किन्तु इतनी विषमताओं और विविधताओंका आगार होते हुए भी भारतवर्षकी सांस्कृतिक एकता उसके इतिहास

एवं साहित्यमें अत्यन्त प्राचीन कालसे ही दृष्टिगोचर होने लगती है। साथ ही, इस सांस्कृतिक एकताने देशकी राजनैतिक एकताको भी प्रेरणा दी। चक्रवर्ती सम्राट्का आदर्श इसी तथ्यका द्योतक है। सम्पूर्ण भारतवर्ष चक्रवर्ती क्षेत्र कहलाता था। प्रत्येक महान् नरेश चक्रवर्ती पद प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता था और अपनी दिग्विजय द्वारा सम्पूर्ण देशको राजनैतिक एकसूत्रतामें बाँधनेका प्रयत्न करता था।

उत्तुंग पर्वतमालाओं और गहरे महासागरोंने भारतवर्षको शेष समस्त संसारसे पृथक् करके उसे असन्दिग्ध भौगोलिक एकता प्रदान कर दी है। किन्तु भारतवर्षका यह पृथक्कीकरण भौगोलिक ही रहा, वह इस देशके निवासियोंको कूपमंडूक अथवा अन्य देशों एवं जातियोंसे सम्बन्धविहीन नहीं बना पाया। भारतीय महासागरके मध्य स्थित होने तथा बहुत शीघ्र ही अपनी सभ्यता और संस्कृतिको अति विकसित कर लेनेके कारण भारत-वर्षने अपने इतिहासके प्रायः उदयकालसे ही अपने पड़ोसियों तथा अन्य दूरस्थ देशों और जातियोंके साथ भी व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध अविच्छिन्न बनाये रक्खे। अफ़ग़ानिस्तान तो भारतवर्षका ही एक भाग समझा जाता था, अतः पश्चिममें ईरान और मध्यएशिया ही नहीं, यूनान तथा रूमसागर तटवर्ती अन्य देशोंके साथ और पूर्वमें चीन तथा सुदूर पूर्वके विभिन्न देशोंके साथ सांस्कृतिक, व्यापारिक एवं राजनैतिक यातायातके अनगिनत उदाहरण इतिहासमें बराबर मिलते हैं। ये यातायात उत्तर-पश्चिममें हिन्दूकुश पर्वतमालाके खैबर, बोलन, कुर्रम, गोमल आदि दर्रोके द्वारसे, उत्तरपूर्वमें नैपाल और तिब्बतके मार्गसे तथा दक्षिणमें तीनों ओर समुद्री जलमार्गसे होते रहे। इन्ही द्वारोंसे भारतीयोंका विदेशोंमें गमना-गमन तथा विभिन्न कालोंमें विभिन्न जातीय विदेशियोंका आगमन हुआ। इन विदेशियोंमेंसे जो धन और राज्यकी लिप्सामें बड़े-बड़े सशक्त समूहोंमें यहाँ आये उन्हें लेकर ही इस देशके इतिहासके एक बड़े भागका निर्माण हुआ है।

मानव भेदोंकी जितनी विविधता और विभिन्न मानव जातियोंका मिश्रण भी जैसा भारतवर्षमें रहा है ऐसा अन्यत्र कहीं नहीं रहा । स्थूल रूपमें दो प्रधान मानवी धाराएँ यहाँ उपलब्ध होती हैं, एक ऋक्ष, यक्ष, नाग आदिके वंशजोंकी वह धारा जिसे वर्तमानमें प्रायः द्राविड़ नामसे सूचित किया जाता है और दूसरी उत्तर-पश्चिमकी ओर उदयमें आनेवाली आर्य जातिके वंशजोंकी वह धारा जो इण्डोआर्य कहलाती है । इनके अतिरिक्त प्राचीन कालीन आस्ट्रेलायड, मङ्गोलायड, मानख्मेर आदि और कालान्तरमें ईरानी, यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण, हूण, अरब, तुर्क आदि जातीय तत्त्व भी समय-समय पर भारतीय जनतामें मिश्रित होते रहे हैं । भाषाकी दृष्टिसे भारतीय आर्य, द्राविड़ और मानख्मेर—ये तीन तत्त्व भारतीय भाषाओंके मूलाधार हैं ।

पृथ्वीका प्रारंभिक इतिहास—पृथ्वीके इतिहासके विषयमें दो विचारधाराएँ हैं, एक शाश्वतवादी जिसका विश्वास है कि सत्का कभी नाश नहीं होता और असत्का कभी उत्पाद नहीं होता । इसके अनुसार विश्व-व्यवस्था और उसके अन्तर्गत हमारे पृथ्वीमंडल तथा उसपर निवास करनेवाले मनुष्य आदि प्राणियोंकी परम्परा अनादि और अनन्त है । शून्यमेंसे कभी किसी प्रकार उनका अकस्मात् उदय हो गया या कभी भी उनका सर्वथा क्षय या अभाव हो जायगा, यह बात असम्भव है । पदार्थोंमें अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार निरन्तर परिवर्तन-परिणमन होते रहते हैं । इन परिवर्तनोंकी ही कोई-कोई सामूहिक अवस्था विशेष ऐसी प्रत्यक्ष एवं आत्यन्तिक होती हैं कि उन्हें सृष्टि और प्रलय आदि नाम दे दिये जाते हैं ।

दूसरी विचारधारा सृष्टिवादी संस्कारोंसे उद्भूत है । इसके अनुसार ईश्वर आदि नामोंसे अभिहित शक्ति विशेषने किसी समय अपनी इच्छासे सर्वथा शून्यमेंसे हमारे विश्व, पृथ्वीमण्डल और मानवका एकाएक निर्माण कर दिया और एक समय ऐसा भी आवेगा जब वही शक्ति इनका सर्वथा

विनाश एवं अभाव भी कर देगी। वर्तमान वैज्ञानिक विचारकोंने, जो स्वयं सृष्टिवाद संबंधी पूर्व संस्कारोंसे अभिभूत हैं, वैज्ञानिक अन्वेषणोंपर आधारित अपने अनुमानोंका सृष्टिवादसे समन्वय करनेके लिए विकासवादके सिद्धान्तको जन्म दिया। गत सौ वर्षोंसे इसी सिद्धान्तका बोलबाला है, विचारके प्रत्येक क्षेत्रमें इसका अनुसरण किया जाता है।

अस्तु, वर्तमान वैज्ञानिक विचारकोंके अनुसार विश्व-व्यवस्था तो अनादि-अनन्त है, सत् का विनाश और असत् का उत्पाद भी कभी नहीं होता, सर्व पदार्थाभाव या सर्वथा शून्य भी कभी नहीं था, और न होगा, ईश्वर नाम की कोई सत्ता है या नहीं यह कहा नहीं जा सकता, किन्तु विकासवादके सिद्धान्तानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी इस पृथ्वीका और उसपर मनुष्यके अस्तित्व का कोई आदि अवश्य रहा है। अनादि-अनन्त, असीम एवं शाश्वत विश्वके अनगिनत सौर मंडलोंमेंसे हमारी पृथ्वीसे संबंधित जो सौर मंडल है उसका केन्द्रीय शक्ति मंडल हमारा यह नित्य प्रति दीखने वाला सूर्य है। इस सूर्यसे किसी सुदूर अज्ञात समयमें एक अत्यन्त उष्ण एवं प्रकाशमान द्रव खंड पृथक् होकर गुरुत्वाकर्षण आदिके प्रभावसे आकाशमें फिरकी की नाई घूमता रहा। शनैः शनैः गोल, ठण्डा, और कड़ा होकर उसने हमारी पृथ्वी का रूप धारण कर लिया। सुदीर्घ कालके उपरान्त पृथ्वीतलकी ऐसी भौगोलिक दशा हो पाई कि उसपर विभिन्न वनस्पतियाँ एवं जीव-जन्तु उत्पन्न हो सके और पनप सके।

धरातलपर स्थित विविध चट्टानोंके परीक्षणसे भूतत्त्व-वेत्ताओंने पृथ्वी का तथा उसपर अवस्थित जीवनका जो इतिवृत्त अनुमान किया है उसे सुविधाके लिए कई युगोंमे विभाजित किया गया है। पृथ्वीपर किसी भी रूपमें जीवका प्रादुर्भाव होनेसे पूर्वका काल 'अजोइक' अथवा निर्जीव युग कहलाता है। इस युगके आदि और अन्तके विषयमें विद्वानोंमें घोर मत-भेद है—अधिकसे अधिक एक अरब या ८० करोड़ वर्ष पूर्वसे लेकर कमसे-कम दो करोड़ वर्ष पूर्व पर्यन्त इस काल की अवधि अनुमान की जाती है।

एच० जी० वेल्सके अनुसार वह ८० करोड़से ४० करोड़ वर्ष पूर्वतक रहा प्रतीत होता है। इस कालके प्रारंभमें सम्पूर्ण पृथ्वी प्रायः एक रूप थी, उसमें भारत, युरोप, अफ्रीका, अमेरिका आदि जैसी भौगोलिक इकाइयाँ न बन पाई थीं। किन्तु यह अनुमान किया जाता है कि भारतके हिमवन प्रदेश तथा दक्षिणी पठार की रूपरेखा भूतात्त्विक इतिहासके प्रारंभमें ही बन गई थी। वस्तुतः हिमालयसे कन्याकुमारी पर्यन्त सम्पूर्ण वर्तमान भारतके ढांचे का मूलाधार भी बन गया था। इस प्रकार भारतवर्षका मूल चट्टानी आधार वसुंधराके ज्ञात जीवनमें प्रारंभसे ही अवस्थित था।

निर्जीव युगके उपरान्त जीव युगका प्रारम्भ होता है। इसके तीन खंड है—पहला काल—पुरातन जीवयुग (पेलेजोइक), दूसरा काल—मध्यजीव युग (मेसेजोइक) और तीसरा काल—नव्यजीव युग (केनेजोइक)। यह पहला काल डॉ० हेडेनके अनुसार ४० से ३० करोड़ और वैल्सके अनुसार ३० से १५ करोड़ वर्ष पर्यन्त चला। इसी कालमें सर्व प्रथम धरातल पर वनस्पतियों और जीव-जन्तुओंके अपने सरलतम प्रारंभिक रूपोंमें उदय होनेका अनुमान किया जाता है, जिनसे ही शनैः-शनैः जलचर, नभचर एवं थलचर प्राणियों का तथा जलीय एवं स्थलीय वनस्पतियों का विकास हुआ। इस कालमें भूतलकी रूपरेखा भी वर्तमानसे नितान्त भिन्न थी। दूसरे कालमें पृथ्वीने बड़ी ऐठं मरोड़ दिखायी, भूतलमे बड़े-बड़े परिवर्तन हुए, जल थल विभाजनमें अन्तर पड़े। इस युगमें पृथ्वीको भौगोलिक स्थिति बहुत करके जैन शास्त्रोंमे वर्णित 'अढ़ाई द्वीप—मनुष्य लोक' के सदृश थी, अर्थात् उत्तरीय ध्रुव को केन्द्र लेकर उल्टे कटोरे जैसा एक अविच्छिन्न भूखंड था जिसे चारों ओरसे मेखला की नाई एक वृत्ताकार महासागर घेरे हुए था। तत्पश्चात् फिर एक मेखलाकार अविच्छिन्न भूखंड था—दक्षिणी भारतके कुछ भाग, अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया आदिको संयुक्त करता हुआ। उसके नीचे फिर एक वृत्ताकार महासमुद्र और अन्तमें दक्षिणी ध्रुव पर्यन्त ऊपर जैसा एक अन्य भूखण्ड। यह काल १५

से ४ करोड़ वर्ष पूर्व तक चला। तीसरा काल जो ४ करोड़से ६ लाख वर्ष पूर्वतक चला, अधिक महत्त्व पूर्ण है। इस युगमें अधिकांश पर्वत, समुद्र, झील, नदी-नद, भूखण्ड आदि अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुए। इस युगके अन्तमें पाये जाने वाले जीव-जन्तु, पशु इत्यादि एवं वृक्ष-लता आदि वनस्पतियों में से अधिकांश अबतक अवस्थित हैं। और इसी युगके अन्तमें सर्वप्रथम देहधारी जीवोंमें सर्वश्रेष्ठ प्राणी-मानवके अस्तित्वके चिह्न पाये जाते हैं।

आद्यमानव—मानवकी उत्पत्ति कैसे हुई, कहाँसे हुई, किस स्थानमें हुई, ठीक कब हुई और किस रूपमें हुई—इन बातोंके सम्बन्धमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। किन्तु उक्त विभिन्न मतमतान्तरोंके अध्ययनसे यह निष्कर्ष निर्बाध निकाला जा सकता है कि पृथ्वीतलपर मानवके सर्वप्रथम अस्तित्वके जिस समयसे प्रमाण मिलते हैं तभीसे भारतवर्षमें वह अवश्य विद्यमान था, सो भी पर्याप्त संख्यामें। अतः इस तथ्यमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि मानवी इतिहासके प्रारम्भ कालसे ही भारतभूमि मनुष्यकी क्रीड़ाभूमि रही है। मानव और उसकी आदिम-प्रागैतिहासिक-सभ्यताके विकासका युग भूतात्त्विकों एवं प्रागैतिहासज्ञोंकी भाषामें चौथा काल कहलाता है। इसके तीन विभाग हैं—(१) पूर्व पाषाण युग—१ करोड़से ६ लाख वर्ष पूर्वतक—प्रायः नितान्त असभ्य वन्यजीवन, पूर्णतया प्रकृतिपर अवलम्बित। इस कालसे संबन्धित पत्थर व हड्डीके कतिपय अत्यन्त सादे और भौंड़े शस्त्र, औज़ार आदि भी उपलब्ध हुए हैं। विभिन्न भूभागोंमें निर्बाध गमनागमनके कारण उस युगकी इस आदिम सभ्यताकी एकरूपता भी सर्वत्र लक्षित होती है। वस्तुतः यह युग तीसरे कालका ही अन्तिम पाद था और वास्तविक चौथा काल इसके पश्चात् प्रारम्भ होता है। (२) दूसरा अर्थात् पुरातन पाषाणयुग—६ लाख वर्ष पूर्वसे १५ हजार वर्ष पूर्वतक चला। इस कालमें चार-पाँच बड़े-बड़े व्यापक बर्फ़ीले तूफ़ान आये जिनके कारण उन समयोंको हिमयुग भी कहते हैं। सभ्यताका वास्तविक विकास उक्त हिमप्रलयोंके उपरान्त इस युगके अन्तिम पादमें अर्थात्

४०००० से १५००० वर्ष पूर्वके मध्य ही लक्षित हुआ। इस युगके अस्त्र-शस्त्र, राछ-रछौंडे, औजार आदि भी पाषाण वा अस्थियोंसे ही बने हैं किन्तु आदिम ढंगके होते हुए भी वे पूर्व पाषाण युगवालोंकी अपेक्षा श्रेष्ठतर हैं। इसी कालमें सर्वप्रथम मनुष्यके धर्मभावकी किसी-न-किसी रूपमें अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है। भित्तियोंपर अद्भुत रेखाचित्रोंसे युक्त कुछ आदिमकालीन पर्वतीय गुफाओंमें इसके चिह्न मिले हैं। अन्त्येष्टि संस्कार आदिके भी कुछ अवशेष मिले हैं। मृत व्यक्तियोंको बैठी मुद्रामें भूमिस्थ कर दिया जाता था, साथमें आगामी जीवनमें उपयोग करनेके लिए भोजनादि सामग्री भी रख दी जाती थी। ये लोग फल-फूल, कंदमूल तथा शिकारसे प्राप्त मांस आदिका भक्षण करते थे। उनमें रेखा शास्त्रका भी ज्ञान विकसित हो रहा था। दक्षिण भारतमें कर्नूलकी गुफाओंके परीक्षणसे पता चलता है कि उनका सम्बन्ध जादू-टोने जैसे किसी-न-किसी प्रकारके धार्मिक कृत्योंसे रहा होगा। ये लोग मृत व्यक्तियोंकी देह गुफामें ही छोड़कर अन्यत्र जाकर रहने लगते थे। रेखा एवं भित्तिचित्रोंसे अनुमान होता है कि इस युगके मानव समस्त चराचर पदार्थोंमें जीवकी सत्ता मानते थे, कितने ही सरलतम अपरिष्कृत एवं आदिमरूपमें सही, जीव या जीवनी शक्तिकी सर्वव्यापकतामें उनका विश्वास था। ये पितृपूजक भी थे। मध्य प्रदेशके रायगढ़ ज़िलेमें स्थित सिंगनपुरके निकट भित्ति एवं रेखाचित्रोंसे युक्त उस कालकी ऐसी गुफाएँ मिली हैं जो संभवतया उनके देवस्थान या मन्दिर थे। मनुष्यों, पशुओं एवं आखेट आदिके चित्रोंके अतिरिक्त जो कई रेखानिर्मित रहस्यपूर्ण सांकेतिक चित्र मिले हैं उनका कितने ही आध्यात्मिक सांकेतिक चिह्नोंसे अद्भुत सादृश्य है, वे चित्र कई मौलिक जैन मान्यताओंकी सांकेतिक अभिव्यक्ति जैसे लगते हैं।

(३) **नव्यपाषाणयुग**—ईस्वीपूर्व लगभग १५०००-८००० वर्ष पर्यन्त नव्यपाषाण युग चला। इस कालमें मानवकी आदिम सभ्यता और संस्कृतिने बड़े द्रुतवेग से प्रगति की। विविध पाषाण, हाथीदांत, सींग, लकड़ी आदिके

भी सुन्दर-सुन्दर अनगिनत अस्त्र-शस्त्र, राछ, उपकरण आदि बनने लगे, मिट्टीके कच्चे-पक्के, चित्रित वा सादे विविध बर्तन-भांडे, खाल और वल्कलके ही नहीं ऊन और रूईके भी विविध परिधान, मणि, मुक्ता, शंख, सीप व स्वर्ण आदिके अलङ्कार, साज-शृंगारकी विविध सामग्रियाँ, खेल-खिलौने आदि भी बनने लगे। बड़े-बड़े गाँव बसे, मिट्टी फूस आदिकी सुन्दर सुचारु झोपड़ियाँ बनीं, गाँवकी रक्षाके लिए बाड़े लगाये गये। युद्ध चालू हुए और शत्रुओंसे रक्षा करनेके उपाय सोचे जाने लगे। गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि पशुओंका पालन तथा खेती-बाड़ीका भी प्रारम्भ हुआ। आर्थिक विनिमय, आदान-प्रदान, आयात-निर्यातके रूपमें स्थानीय तथा स्थानान्तरीय व्यापार भी शुरू हुआ। अनेक शिल्पों व खानसे धातु निकालने आदिके उद्योगोंका भी प्रारम्भ हुआ। सामाजिक जीवन, विवाह प्रथा तथा कौटुम्बिक व्यवस्था—कहीं पिताके प्रभुत्वमें और कहीं माताके—विकसित होने लगीं। जाति प्रथाका भी श्रमिक एवं व्यावसायिक बटवारेके रूढ़ होनेसे बीज वपन हुआ। नये-नये आमोद-प्रमोद प्रचलित हुए और धर्मभाव तथा धार्मिक मान्यताओं एवं प्रथाओंका भी महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। पूर्वयुगकी भाँति ही किन्तु उनसे अधिक परिष्कृत, स्थायी एवं निश्चित रूपमें ये लोग प्रत्येक पदार्थमें जीवात्माकी सत्ता मानते थे, इनकी इस मान्यताके साथ जैनधर्मकी पंच स्थावर जीव मान्यताका विलक्षण सादृश्य है। आवागमन तथा पुनर्जन्ममें भी उनका विश्वास था और मृत पूर्वजोंकी प्रेतात्माओंकी पूजा भी की जाती थी। स्वस्तिकका एक विशिष्ट धार्मिक चिह्नके रूपमें प्रयोग होता था। आत्मा, पुनर्जन्म, रोगों एवं अन्य आपत्ति-विपत्तियोंके आध्यात्मिक कारण और उपचार इत्यादिमें विश्वास था। जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि संस्कारोंसे संबंधित अनेक क्रियाकाण्ड उसी युगकी उपज हैं। उन्हें यह ज्ञात था कि शारीरिक क्रियाओंका नियन्त्रण मन करता है और यह कि मनुष्यके जीवनको अलक्ष्य प्राकृतिक शक्तियाँ प्रभावित करती रहती हैं, अतः प्रत्येक लौकिक कार्यके उपलक्ष में

किसी-न-किसी प्रकारके अनुष्ठान करनेकी प्रथाएँ प्रचलित हुई। कितने ही वर्तमान अन्धविश्वासों, व्यक्तियों अथवा पदार्थोंको निषिद्धमान उनके संसर्गनिषेध, परम्परागत आख्यायिकाओं, दैवी उपाख्यानों, लोककथाओं, यहाँ तक कि संगीत और नृत्यके भी बीज नव्यपाषाणयुगीन आत्मवादमें निहित थे। उस युगके जीववादकी अभिव्यक्तिका एक महत्त्वपूर्ण द्वार पाषाण पूजा थी। विभिन्न आकृतियोंके पाषाणखण्ड विशेष-विशेष दैवी शक्तियों अथवा देवी-देवताओंके प्रतीक या प्रतिनिधि समझे जाते थे। लिंग पूजाका भी प्रचलन था। कालान्तरमें वैदिक आर्योंने पहले तो उसका विरोध किया किन्तु बादमें समझौतेकी भावनासे प्रेरित हो उसे अपना लिया। अस्तु जो लिंगेश्वर ऋग्वेदमें इन्द्रका शत्रु कहा जाकर निन्दित हुआ वही अथर्ववेदमें अनेक मन्त्रों द्वारा पूजित-वंदित हुआ।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, देवमूर्तियाँ सर्वप्रथम उसी युगमें निर्माण होनी प्रारम्भ हुई। ये मूर्तियाँ पाषाण अथवा काष्ठकी होती थीं। आज भी शायद इसीलिए काष्ठ और पाषाणको धातुओंकी अपेक्षा अधिक पवित्र और शुद्ध माना जाता है। साधु-सन्यासियोंके लिए भी काष्ठ, पाषाण या मिट्टीके ही पात्र विहित हैं। देवपूजामें भोजन—पानकी विविध सामग्रियाँ समर्पित की जाती थीं, कहीं-कहीं हिंसक बलि भी होती थी। कृषि आरंभ, चरागाह परिवर्तन, युद्ध यात्रा, आखेट आदिके अवसरोंपर आनन्दोत्सव मनाये जाते थे जो भिन्न-भिन्न समूहोंकी प्रकृति तथा परंपराओंके अनुसार हिंसक-अहिंसक दोनों ही प्रकारके होते थे। व्यक्ति, कुटुम्ब, बस्ती अथवा समूहकी मंगल कामनाके लिए भी धार्मिक अनुष्ठान किये जाते थे। स्वप्नों और उनके फलमें विश्वास था। इसमें सन्देह नहीं कि शकुनापशकुनों एवं स्वप्नोंका मानव संस्कृतिके प्रारंभिक विकासपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। ज्योतिष संबंधी प्राथमिक ज्ञान भी उन्हें था। व्योमचारी ग्रह, नक्षत्र, तारिका आदिका वास्तविक रहस्य वे भले ही न जानते हों किन्तु चिरकाल तक प्रकृतिकी ही निरावरण गोदमें खेलते रहनेके कारण

उन्हें ज्योतिर्मान सत्ताओंका अध्ययन करनेके लिए पर्याप्त अवसर मिला था। सामान्यतः कालका निर्णय वे खुले मैदानमें सीधी गाड़ी हुई लकड़ीकी छायामें होनेवाले परिवर्तनोंसे करते थे।

संक्षेपमें यह उस युगके धार्मिक विश्वासों और सभ्यताका विवरण है जो उस युगके प्राप्त विविध एवं बहुक्षेत्रव्यापी अवशेषों परसे अनुमान किया गया है। यदि वर्तमान सभ्यताओं और संस्कृतियोंका विश्लेषण किया जाय तो उसमें अनेक तत्त्व ऐसे मिलेंगे जिनके जनक अथवा प्रवर्तक पाषाण युगके असभ्य माने जाने वाले आदिम मानव ही थे। वस्तुतः इसमें सन्देह नहीं है कि समस्त उत्तरकालीन सभ्यता उक्त पाषाण युगीन सभ्यताके आधारपर ही निर्मित एवं विकसित हुई है। उस कालकी सभ्यता एवं आचार-विचारोंके अनेक अवशेष आजके सभ्य समाजमें भी दृष्टिगोचर होते हैं। वर्तमान धर्मोंके भूतप्रेतवाद, अनेक जड़ पदार्थोंमें दैवी शक्ति अन्तर्निहित होनेका विश्वास, पशुपूजा, लिंगपूजा, मूर्तिपूजा, वृक्ष और पाषाण पूजा, अस्त्र-शस्त्र व घरेलू उपकरणोंकी पूजा, शालिग्रामकी बट्टी, गंडे-तावीज, टोना-टोटका, भभूत-भस्म, माला-जनेऊ, शंख आदि उसी युगकी देन हैं। दृष्टि-दोष निवारण करनेके लिए स्याहीके टीके लगाना, नोन-राई उतारना, मिर्च आदिकी धूनी देना, टूटे बर्तनोंका प्रयोग, काग-उड़ावन ढाँचे बनाना, बाल फेंकना, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना, नाक-कान छिदवाना, बदन गुदवाना, बैठनेके लिए कुशासन और भोजनके लिए पत्तल सकोरे आदि, सूती वस्त्रकी अपेक्षा ऊनी वस्त्र को अधिक पवित्र मानना, प्रतिकूल पड़नेपर व्यक्तियों या स्थानोंके नाम परिवर्तन करना, जड़ी-बूटियोंसे रोगोंका उपचार करना इत्यादि अनेक चीजें उसी युगकी देन हैं। चूल्हा, चर्खा, सिलबट्टा, चकला-बेलन, चक्की, कुम्हारका चाक तथा अन्य अनेक घरेलू एवं शिल्पीय उपकरणोंका आविष्कार उन्होंने किया था। भव परिवर्तन अर्थात् भली आत्माओंका देवयोनि या स्वर्गादिकमें गमन और पापात्माओंका दुष्ट व्यन्तर, दैत्य, दानव, नारकी आदि योनियोंमें जाना, अनेकोंका पाषाण,

वृक्ष, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेना, देवी देवताओंको गदा शंख चक्र त्रिशूल आदि आयुधोंसे युक्त करना, दैत्य दानव प्रेत आदि दुष्ट आत्माओंका पूजा सत्कार करना, सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष आदि अनेक ऐसी मान्यताएँ हैं जो उत्तरकालीन सुसंस्कृत जीवनमें उक्त आदिम विचारोंका प्रभाव स्पष्ट प्रदर्शित करती हैं। जैन, वैदिक, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त बौद्ध, यहूदी, पारसी, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मोंमें अनेक रीति-रिवाज, धार्मिक क्रियाएँ, मान्यताएँ एवं विश्वास उस आदिम युगकी बपौतीके रूपमें ग्रहण किये गये। वस्तुतः आजका सुसभ्य मानव उन तथाकथित नितान्त असभ्य आदिमकालीन मानवोंका कितना ऋणी है यह ठीक-ठीक अनुमान करना और उनकी महत्त्वपूर्ण देनोंका उचित मूल्याङ्कन करना दुष्कर है।

धातुपाषाण युग—इस नव्यपाषाण युगके अंतिम पादमें अर्थात् ईसासे लगभग आठ-दस हजार वर्ष पूर्व एक नवीन युग प्रारंभ हो रहा था जिसे धातुपाषाण युग कहते हैं। इसीमें शनैः शनैः धातु युगका प्रवेश हुआ जो प्रारंभमें कहीं काँसा युग और कहीं ताम्र युगके रूपमें आया और अन्ततः लौह युगमें आकर स्थिर हुआ। नव्यपाषाण युगके अन्तमें ग्रामीण सभ्यता स्थायी हो चुकी थी जिसमें पशुपालन और कृषि प्रधान उद्योग थे। किन्तु धातु युगके उदयके साथ-साथ नागरिक सभ्यताका उदय होने लगा जो प्रारंभमें बड़ी-बड़ी नदियोंकी उपजाऊ घाटियोंमें फली-फूली। उसके साथ ही साथ नानाविध शिल्प उद्योगों, राज्यव्यवस्था एवं राजनीति, जलीय एवं थलीय देशी विदेशी व्यापार आदिका भी उदय हुआ और वर्तमान मानवकी वास्तविक सभ्यता एवं संस्कृतिका व्यवस्थित विकास प्रारंभ हुआ।

मनुष्यकी आदिमकालीन सभ्यता और उसके इतिहासका जो ऊपर संक्षिप्त विवेचन किया गया है, उसमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उक्त सुदीर्घ पाषाण कालको जो विभिन्न युगोंमें विभाजित किया गया है और उन युगोंकी वर्षोंमें जो अवधि दी गई है वे सर्वथा निराधार न होते हुए भी अनुमान मात्र ही हैं। अनेक विद्वान् उक्त अवधियोंमें घटो

या बढ़ी करनेके पक्षमें हैं, फिर भी जो बहुमान्य मत हैं उनका ही यहाँ आधार लिया गया है। दूसरी बात यह है कि आदिममानवका अस्तित्व और उसकी प्रायः ऐसी ही सभ्यताका विकास पृथ्वीके विभिन्न भागोंमें पाया गया है किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि युगपरिवर्तन और सभ्यताका विकास सर्वत्र एक ही समयमें, एक ही रूपमें अथवा एक-सी ही गतिसे हुआ। कहीं उसका वेग और प्रगति बहुत द्रुत रही, कहीं बहुत शिथिल। यदि कहीं धातु युग और नागरिक सभ्यताका प्रारम्भ हो रहा था तो उसी कालमें कहीं नव्यपाषाण युगकी और कहीं पुरातन पाषाणयुगकी ही अवस्था चलती रही। आज भी मध्य अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका, अनेक द्वीपों आदिमें ही नहीं भारत जैसे देशके भी कुछ भागोंमें उक्त नव्यपाषाणयुगीन आदिम मानवके वंशज प्रायः उसी रूपमें रहते पाये जाते हैं। एक बात और है कि प्रागैतिहासिक उपरोक्त युगपरिमाणों या कालावधियोंमें मतभेद हो सकते हैं किन्तु उनका क्रम एवं स्वरूप प्रायः सुनिश्चित है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि भारतवर्षमें मानवने पृथ्वीतलके अन्य समस्त प्रदेशोंकी अपेक्षा, उस कालमें भी कहीं अधिक द्रुत वेगसे प्रगति की थी और सभ्य मानवकी संस्कृति और सभ्यताका भी सर्वप्रथम यहीं उदय हुआ था, और इस प्रगति एवं विकासका सर्वप्रधान केन्द्र उत्तर भारतका प्राचीन मध्य देश ही था।

महाभारतके पूर्वके अनुश्रुतिगम्य भारतीय इतिहासके साथ उपरोक्त आधुनिक विज्ञान सम्मत विवरणका समन्वय करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जबसे भूतलपर मानवके अस्तित्वके चिह्न मिलते हैं तबसे लेकर पाषाण कालके अन्त तक प्रायः सम्पूर्णतया प्रकृत्याश्रित भोगभूमिकी अवस्था बनी रही। जैन परम्पराके पहले, दूसरे और तीसरे कालोंमें यह अवस्था रही बताई जाती है जिसकी सगत भूतात्त्विक व्याख्याके पहले दूसरे व तीसरे कालोंके साथ ठीक ठीक बैठ जाती है। उस परम्पराके अनुसार भी इन कालोंमें उत्तरोत्तर मनुष्य, पशुओं एवं

वनस्पतियोंके आकार, बल और सुख शान्तिमें ह्रास होता गया किन्तु कृत्रिमता, प्रयत्न और उद्योगमें विकास होता गया। प्रारंभिक मानव विशालकाय, अतुल बलशाली, निश्शंक, निर्द्वन्द, निरीह और सुखी था, उसकी जीवन संबंधी आवश्यकताएँ अत्यन्त परिमित थीं और इच्छा करते ही वह उन्हें उसी स्थानके प्राकृतिक वातावरणमें प्राप्त कर लेता था और सन्तुष्ट रहता था। किन्तु धीरे-धीरे उसकी शक्तियाँ क्षीण होने लगीं, प्रकृतिसे स्वत: ही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति न होने लगी, उसे प्रयास और उद्यमकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी, संग्रह और सामाजिकता उसमें आने लगी, और जिसे हम सभ्यता कहते हैं उसका उसमें विकास होने लगा। हिमप्रलयोंके उपरान्तका अर्थात् लगभग ५०००० वर्ष पूर्वके बादका जो पुरातन एवं नव्यपाषाण युग है वह यह संक्रान्ति-काल था। जैन परम्पराके अनुसार जो तीसरे सुखमा-दुखमा कालके अन्तिम भागमें चौदह कुलकर या मनुओंका एकके बाद एक पर्याप्त अन्तरसे होनेका उल्लेख पाया जाता है वे इसी कालमें हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने देश कालके अनुसार अपने समकालीन मनुष्योंका नेतृत्व और पथ प्रदर्शन किया बताया जाता है। इनमें अन्तिम कुलकर नाभिराय थे जो मध्यदेशमें जहाँ अयोध्या स्थित है उस स्थानमें उत्पन्न हुए थे। उन्हींके पुत्र प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव थे।

मनुष्य नृतत्त्व विज्ञान (एन्थ्रोपोलाजी) संबंधी एवं पुरातात्त्विक अन्वेषणोंसे प्राप्त निष्कर्षोंकी प्राचीन अनुश्रुतियों एवं मान्यताओंके साथ संगत बैठानेसे यह स्पष्ट है कि इस प्राचीनतम कालमें जब मनुष्यकी सभ्यताका सर्व प्रथम उदय हो रहा था कमसे कम भारतवर्षसे संबंधित मनुष्य जाति तीन प्रधान समुदायोंमें विभक्त थी जिनके आचार-विचार और संस्कृति एक दूसरेसे भिन्न थीं। प्रथम समुदाय उत्तरी भारतके पूर्वी मैदानी भागमें गंगा-यमुनाके दोआबेसे लेकर अंग-मगध पर्यन्त निवास करता था। ये लोग शान्तिप्रिय और शाकाहारी थे, लोक-परलोक, आत्माके अस्तित्व,

पुनर्जन्म, जीववाद आदिमें विश्वास करते थे। मूर्तिपूजक थे और महापुरुषों-की भक्ति करते थे। योगादि द्वारा शरीर और मनके नियन्त्रणमें इनकी आस्था थी। इनके आचार-विचार अहिंसक एवं निवृत्यात्मक थे। इनका सांस्कृतिक रुझान आध्यात्मिकताकी ओर विशेष था। संभव है उनकी निवास भूमिके भौतिक एवं भौगोलिक वातावरण, जलवायु, सर्व प्रकारके भोज्य शाकाहारकी प्रचुरता एवं सुलभता, जीवन निर्वाहके लिए किसी प्रकारके विशेष उद्यमकी आवश्यकता न होना तथा उनका विशिष्ट बौद्धिक संस्थान या पूर्व संस्कार इनकी ऐसी मनोवृत्तिमें सहायक रहे हों। अवश्य ही उक्त प्रारम्भिक कालमें बहुत कुछ विकसित हो जानेपर भी उनके उपरोक्त विचार एवं विश्वास अत्यन्त अस्पष्ट, अव्यवस्थित, संक्षिप्त और सरल थे। यह समुदाय मानव वंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ क्योंकि मनुओं एवं कुलकरों का जन्म इसी जातिमें हुआ था और उन्होंने समय-समयपर इस जातिका पथ प्रदर्शन किया था। आध्यात्मिक एवं बौद्धिक दृष्टिसे अपने आपको औरोंसे श्रेष्ठ समझनेके कारण संभवतया कालान्तरमें ये अपने आपको आर्य भी कहने लगे। अन्तिम मनु एवं प्रथम मानव तीर्थङ्कर ऋषभदेवका जन्म उपरोक्त भोग-भूमिके अन्तमें इस मध्यदेशीय मानव वंशमें हुआ था और इस जातिमें कर्म भूमि या कर्म प्रधान जीवनका विधिवत् प्रवेश उन्हींने कराया था, ऐसा विश्वास किया जाता है।

दूसरा समुदाय दक्षिण तथा पूर्वके अधिकतर पर्वतीय प्रदेशोंमें सीमित था। आध्यात्मिक दृष्टिसे ये लोग मानवोंकी अपेक्षा हीन थे किन्तु कला-कौशल एवं उद्योग-धन्धोंमें वे उनसे बहुत बढ़े-चढ़े थे। इन दिशाओंमें उन्होंने मानवोंकी अपेक्षा अधिक शीघ्रताके साथ पर्याप्त उन्नति कर ली थी और मानवोंमें कर्मभूमिके आगमनके उपरान्त भी बहुत काल पीछेतक वे उनसे इन विषयोंमें आगे ही रहे। किन्तु साथ ही मानवोंको अपना आध्यात्मिक एवं धार्मिक गुरु मानते रहे। यदि मानवोंने ज्ञानका विकास

किया तो विद्याधरोंने विज्ञानका विकास किया। नाग, ऋक्ष, यक्ष, वानर आदि अनेक कुलोंमें विभाजित यह भारतीय विद्याधर जाति भारतीय महासागरमें फैले हुए विभिन्न द्वीपों एवं प्रदेशोंमें भी शनैः-शनैः फैल गई। कालान्तरमें इस विद्याधर जातिके वंशजोंको ही द्रविड़ संज्ञा दी गई। मानवों और विद्याधरोंके बीच प्रारम्भसे ही घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध रहे। परस्पर विवाह आदि भी होते थे जिससे रक्तमिश्रण बढ़ा। विद्याधरोंने मानवोंके ज्ञानसे लाभ उठाया तो मानवोंने विद्याधरोंके विज्ञानसे।

तीसरा समुदाय मानव वंशकी ही एक शाखा थी जो किसी बहुत पूर्व समयमें मध्यदेशीय मूल मानवजातिसे पृथक् होकर उत्तर-पश्चिम पर्वतीय प्रदेशोंकी ओर चली गई थी। यह समुदाय ज्ञान-विज्ञान दोनोंमें ही बहुत पीछे तक पिछड़ा रहा। पशुपालन इसका प्रधान कर्म रहा। यह समुदाय घुमक्कड़ था और उत्तर-पश्चिम भारतवर्ती अपने मूलस्थानसे चलकर इसके अनेक दल हिन्दूकुशके दर्रोंसे पार होकर मध्यएशिया तक फैल गये। वहाँसे एक शाखा कुछ उत्तरकी ओर जा बसी, दूसरी पश्चिमकी ओर यूरोपके यूनान आदिमें और तीसरी ईरानमें बस गई। किन्तु इन सभी शाखाओंका परस्पर यातायात एवं सम्पर्क चिरकाल तक बना रहा, जबतक कि वे विभिन्न भूभागोंमें स्थायी रूपसे बसकर अपनी-अपनी स्वतन्त्र सभ्यताके विकासमें संलग्न न हुईं। अपने देश-काल, रहन-सहन, जीवन-व्यापार आदि परिस्थितियोंके कारण ये लोग सामान्यतया भौतिकवादी, प्रकृति या प्राकृतिक शक्तियोंके उपासक, मांसाहारी, हिंसक एवं प्रवृत्ति प्रधान रहे। ये ही लोग कालान्तरमें आर्य अथवा 'इण्डोआर्य' नामसे प्रसिद्ध हुए। ये न तो मध्यदेशीय मानव आर्योंकी भाँति आत्मज्ञानरत थे और न विद्याधरोंकी भाँति विज्ञान एवं कला-कुशल। अतएव इनकी सभ्यताके विकासका आरंभ उन दोनोंसे पीछे हुआ।

अस्तु अयोध्या प्रदेशके नाभिसुत ऋषभदेवने पाषाणकालीन प्रकृत्याश्रित असभ्य युगका अन्त करके ज्ञान-विज्ञान संयुक्त कर्मप्रधान मानवी

सभ्यताका भूतलपर सर्वप्रथम ॐ नमः किया। अयोध्यासे हस्तिनापुर पर्यन्त प्रदेश इस नवीन सभ्यताका प्रधान केन्द्र था। उन्होंने असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्यारूप लौकिक षट्कर्मोका तथा देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप धार्मिक षट्कर्मोंका मानवों को उपदेश दिया। राज्यव्यवस्था की, समाज संगठन किया और नागरिक सभ्यताके विकासके बीज वपन किये। कर्माश्रयसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रके रूपमें श्रमविभाजनका भी निर्देश किया। वे स्वयं इक्ष्वाकु कहलाये इससे उन्हींसे भारतीय क्षत्रियोंके प्राचीनतम इक्ष्वाकुवंशका प्रारम्भ हुआ। लोकको लौकिक एवं पारलौकिक उपदेश देकर उन्होंने निःस्पृह निरीह योगमार्ग अपनाया और कैलाश पर्वतसे निर्वाण लाभ किया।

उनके पुत्र सम्राट् भरत चक्रवर्तीने सर्वप्रथम सम्पूर्ण भारतको राजनैतिक एकसूत्रतामें बाँधनेका प्रयत्न किया। उन्हींके नामसे यह देश भारतवर्ष कहलाया और प्राचीन आर्योंका भरतवंश चला। ऋषभके ही एक अन्य पुत्रका नाम द्रविड था जिन्हे उत्तरकालीन-द्राविडोंका पूर्वज कहा जाता है। संभव है किसी विद्याधर कन्यासे विवाह करके ये विद्याधरोंमे ही जा बसे हों और उनके नेता बने हों, जिससे वे लोग कालान्तरमें द्राविड कहलाये। भरतके पुत्र अर्ककीर्तिसे सूर्यवंश, उनके भतीजे सोमयशसे चन्द्रवंश तथा एक अन्य वंशज कुरुसे कुरुवंश चला, ऐसी ही अनुश्रुतियाँ हैं।

ऋषभदेव द्वारा उपदेशित यह अहिंसामयी सरल आत्मधर्म उस कालमें संभवतः ऋषभधर्म, आर्हत्धर्म, मग्ग या मार्ग अर्थात् मुक्ति और सुखका मार्ग कहलाता था। इसके द्वारा अनुप्राणित संस्कृति ही श्रमण संस्कृति कहलाई। ऋषभके उपरान्त आनेवाले अजितनाथ आदि विभिन्न तीर्थङ्करोंने इस संस्कृतिका पोषण किया और उक्त सदाचार प्रधान योगधर्मका पुनः पुनः प्रचार किया।

सिन्धु घाटी सभ्यता—जिस कालमें मध्यदेशमें उपरोक्त श्रमण संस्कृति धीरे-धीरे विकसित हो रही थी प्रायः उसी कालमें उक्त ऋषभधर्म एवं श्रमण संस्कृतिसे कथंचित् प्रभावित विद्याधरोंकी लौकिकता एवं भौतिकता प्रधान उत्कृष्ट नागरिक सभ्यताका प्रारम्भ एक ओर नर्मदा नदीके काठेमें और दूसरी ओर सिन्धु नदीकी घाटीमें हो रहा था। वर्तमान शताब्दीके प्रारम्भिक दशकोंमें भारतीय पुरातत्त्व विभागकी ओरसे सिन्धु प्रान्तके लरकाना जिलेमें तथा पश्चिमी पंजाबके मान्टगुमरी ज़िलेमें जो महत्त्वपूर्ण खुदाई एवं खोज-शोध हुई है उससे भारतमें एक अत्यन्त प्राचीन एवं अत्युत्कृष्ट नागरिक सभ्यताके अस्तित्वपर आश्चर्यजनक प्रकाश पड़ा है। सिन्धु घाटीको मोहन्जोदड़ो (मुर्दोंका टीला) नाम से विख्यात उक्त सभ्यता सभ्यमानवकी अधुनाज्ञात प्राचीनतम सभ्यता मानी जाती है। पुरातत्त्वज्ञोंने एक पूरा नगर खोद निकाला है जिसकी नगर योजना, पक्की ईंटोंके सुन्दर सुचारु भवन, हाट-बाज़ार, चौरस्ते, सभाभवन, विविध अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, खेल-खिलौने, मुद्राएँ, मूर्त्तियाँ आदि विविध पुरातात्त्विक सामग्रीने जो वहाँसे प्राप्त हुई है वर्तमान संसारको आश्चर्याभिभूत कर दिया है। गेहूँकी खेती और उसका भोज्यान्न के रूपमें उपयोग, रूईकी खेती और उससे वस्त्र बनाना, स्वर्णके आभूषण आदि सिन्धु घाटीके इन प्राचीन विद्याधरोंके ही आविष्कार माने जाते हैं। विद्वानोंके मतानुसार इस सभ्यताका जीवनकाल ई० पू० ६००० से लेकर २५०० वर्ष तक रहा प्रतीत होता है। अब तक पिरेमिडों एव फैराओ बादशाहोंके पूर्ववर्ती प्राचीनतम मिस्रकी नीलघाटीकी सभ्यता तथा पश्चिमी एशियामें दजला-फ़रातकी घाटीकी सुमेर सभ्यता ही सर्व-प्राचीन समझी जाती थी। किन्तु अब उपरोक्त सिन्धु घाटीकी मोहन्जोदड़ो सभ्यता उन दोनोंसे ही पूर्ववर्ती ही नहीं, वरन् मानवकी सर्वप्रथम नागरिक एवं औद्योगिक सभ्यता अनुमान की जाती है, और प्राचीन मिस्री, सुमेरी आदि सभ्यताएँ उसके पीछेकी तथा अनेक रूपोंमें उसकी ऋणी मानी जाती है। यह

सभ्यता लोहेके आविष्कारसे पूर्वकी अर्थात् धातुपाषाण (चैल्कोलिथिक) या ताम्रयुगकी मानी जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरे तीर्थङ्कर संभवनाथके समयमें सर्वप्रथम इस प्राचीन सभ्यताका प्रारम्भ हुआ । संभवनाथका विशिष्ट लांछन अश्व है और सिन्धु देश चिरकाल तक अपने सैन्धव अश्वोंके लिए प्रख्यात रहा है। मौर्य कालतक सिन्धुमें एक सम्भूत्तर जनपद और साभव (सम्बूत्र) जातिके लोग विद्यमान थे जो बहुत सम्भव है कि सिन्धु सभ्यताके मूल प्रवर्तकों एवं तीर्थङ्कर संभवनाथके मूल अनुयायियोंकी ही वंश परम्परामें हों। यह सभ्यता अवैदिक एवं अनार्य ही नहीं वरन् प्राग्वैदिक थी तथा इसके पुरस्कर्ता ऋषभ प्रणीत योग धर्मके अनुयायी और श्रमण संस्कृतिके उपासक प्राचीन विद्याधर अर्थात् भारतीय द्रविड जातिके पूर्वज थे, ऐसा प्रतीत होता है।

सर जान मार्शलका कथन है कि "सिन्धु संस्कृति एवं वैदिक संस्कृतिके तुलनात्मक अध्ययनसे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि इन दोनों संस्कृतियोंमें परस्पर कोई सम्बन्ध या सम्पर्क नहीं था। वैदिक धर्म सामान्यतया अमूर्त्तिपूजक है जबकि मोहन्जोदड़ो एवं हड़प्पामें मूर्तिपूजा सर्वत्र स्पष्ट परिलक्षित होती है। मोहन्जोदड़ोके मकानोंमें हवनकुण्डोंका सर्वथा अभाव है।" इन अवशेषोंमें नग्न पुरुषोंकी आकृतियोंसे अंकित मुद्राएँ बहुसंख्यामें मिली हैं। जान मार्शलके अनुसार वे प्राचीन योगियों की मूर्त्तियाँ हैं। एक अन्य विद्वान्का कथन है कि "ये मूर्त्तियां स्पष्टतया सूचित करती है कि धातुपाषाण कालमें सिन्धु घाटीके निवासी न केवल योगाभ्यास ही करते थे बल्कि योगियोंकी मूर्त्तियोंकी पूजा भी करते थे।" रामप्रसाद चाँदाका कथन है कि "सिन्धु घाटीकी अनेक मुद्राओंमें अङ्कित न केवल बैठी हुई देवमूर्त्तियाँ योगमुद्रामें है और उस सुदूर अतीतमें सिन्धुघाटीमें योग मार्गके प्रचारको सिद्ध करती है बल्कि खड्गासन देव-मूर्त्तियाँ भी योगकी कायोत्सर्ग मुद्रामें है। और यह कायोत्सर्ग ध्यान

मुद्रा विशिष्टतया जैन हैं। आदि पुराण आदिमें इस कायोत्सर्ग मुद्राका उल्लेख ऋषभ या वृषभदेवके तपश्चरणके सम्बन्धमें बहुधा हुआ है। जैन ऋषभकी इस कायोत्सर्ग मुद्रामें खड्गासन प्राचीन मूत्तियाँ ईस्वी सन्के प्रारम्भ कालकी मिलती हैं। प्राचीन मिस्रमें प्रारम्भिक राज्यवंशोंके समयकी दोनों हाथ लटकाये खड़ी मूत्तियाँ मिलती हैं। किन्तु यद्यपि इन प्राचीन मिस्री मूत्तियों तथा प्राचीन यूनानी कुरोइ नामक मूत्तियोंमें प्राय: वही आकृति है तथापि उनमें उस देहोत्सर्ग-निस्संग भावका अभाव है जो सिन्धु घाटीकी मुद्राओंपर अंकित मूत्तियोंमें तथा कायोत्सर्ग मुद्रासे युक्त जिन मूत्तियोंमें पाया जाता है। ऋषभ शब्दका अर्थ वृषभ है और वृषभ जैन ऋषभदेवका लांछन है।" वस्तुत: सिन्धु घाटीकी अनेक मुद्राओंमें वृषभ युक्त कायोत्सर्ग योगियोंकी मूत्तियाँ अंकित मिली हैं जिससे यह अनुमान होता है कि वे वृषभ लांछन युक्त योगीश्वर ऋषभकी मूत्तियाँ हैं। ऋषभ या वृषभका अर्थ धर्म भी है शायद इसीलिए कि लोकमें धर्म सर्वप्रथम तीर्थङ्कर ऋषभके रूपमें ही प्रत्यक्ष हुआ। प्रो० रानाडेके मतानुसार 'ऋषभदेव ऐसे योगी थे जिनका देहके प्रति पूर्ण निर्ममत्व उनकी आत्मोपलब्धिका सर्वोपरि लक्षण था।' उत्तरकालीन भारतीय सन्तोंके योगमार्गमें भी ऋषभदेवको उक्त मार्गका मूल प्रवर्तक माना गया है। प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार न केवल सिन्धु घाटीके धर्मको जैन धर्मसे सम्बन्धित मानते हैं वरन् वहाँसे प्राप्त एक मुद्रा (नं० ४४९) पर तो उन्होंने 'जिनेश्वर' (जिन इइसरह) शब्द भी अंकित रहा बताया है और जैन आम्नायकी श्री,ह्री,क्लि आदि देवियोंकी मान्यता भी वहाँ रही बताई है। वहासे नागफणके छत्रसे युक्त योगी मूत्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वकी हो सकती हैं। इनका लांछन स्वस्तिक है और तत्कालीन सिन्धु घाटीमें स्वस्तिक एक अत्यन्त लोकप्रिय चिह्न दृष्टिगोचर होता है, सड़कें और गलियाँ तक स्वस्तिकाकार मिलती हैं।

कुछ विद्वान् मोहन्जोदड़ो सभ्यताके प्रागआर्यकालीन होनेमें सन्देह

करते हैं। इनके अनुसार आर्योका मूल निवास स्थान भारतवर्ष ही है और सिन्धु सभ्यता आर्य सभ्यताकी ही एक प्राथमिक अवस्था है। किन्तु मतबाहुल्य इसी पक्षमें है कि सिन्धु सभ्यता अनार्य ही नहीं थी वरन् वह निश्चयतः द्रविड़ थी। उसकी भाषा, धर्म, संस्कृति इत्यादि सब द्रविड़ीय थे। डा० हेरासके अनुसार 'मोहन्जोदड़ोका प्राचीन नाम नन्दूर अर्थात् मकरदेश था। और नन्दूर लिपि मनुष्यकी सर्वप्रथम लिपि तथा यह सभ्यता मनुष्यकी भूतलपर सर्वप्रथम सभ्यता थी।' डा० हेरास इस सभ्यताको द्रविड़ीय ही मानते है। इस सम्बन्धमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'मकर' नौवें तीर्थङ्कर पुष्पदन्तका लांछन है। जान मार्शल इस सिन्धु सभ्यताकी जननी उत्तर भारतके मध्यदेशमें उदित एवं विकसित संस्कृतिको मानते हैं। प्रो० एस० श्रीकण्ठशास्त्रीका कहना है कि "अपने दिगम्बर धर्म, योग मार्ग, वृषभ आदि विभिन्न लाछनोंकी पूजा आदि बातोंके कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता जैन धर्मके साथ अद्भुत सादृश्य रखती है अतः वह मूलतः अनार्य अथवा कमसे कम अवैदिक तो है ही।"

अस्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त प्राचीन सिन्धु सभ्यताके पुरस्कर्त्ता प्राचीन विद्याधर जातिके लोग थे जिन्हे द्रविड़ोका पूर्वज कहा जा सकता है। किन्तु साथ ही उनके प्रेरक एवं धार्मिक मार्गदर्शक मध्यदेशके वे मानववंशी मूल आर्य थे जो तीर्थङ्करोंके आत्मधर्म और श्रमण संस्कृतिके उपासक थे। तीसरे तीर्थङ्कर संभवनाथसे लेकर नौवें तीर्थङ्कर पुष्पदन्त तकका काल सिन्धु सभ्यताके विकासका काल है। सुपार्श्वसे पुष्पदन्त पर्यन्त का काल उसका उत्कर्ष काल रहा।* प्रायः इसी समय पंजाबके वर्तमान मान्टगुमरी ज़िलेमें हड़प्पा नामसे सूचित प्रदेश में लघुभगिनीके रूपमें एक अन्य सभ्यता विकसित होनी शुरू हुई। इसका काल ई० पू० ३००० से २००० वर्ष माना जाता है। हड़प्पावाले भी अनार्य और अवैदिक थे, किन्तु इनमें उन पश्चिमी आर्योका जो कालान्तरमें वैदिक संस्कृतिको जन्म

देनेवाले थे कुछ मिश्रण रहा हो सकता है। कम-से-कम नवोदित वैदिक आर्योंका हड़प्पा वालोंके साथ ही सर्वप्रथम एवं सबसे भीषण संघर्ष हुआ। वैदिक साहित्यके दस्यु, असुर आदि यही थे। पश्चिमी एशियामें एकके बाद एक आनेवाले सुमेर, अस्सुर, बाबुली आदि सभ्यताओंका सम्पर्क उत्तर-कालीन मोहेन्जोदड़ो एवं समकालीन हड़प्पा सभ्यताके साथ विशेष रहा। मिश्रकी प्राचीनतम सभ्यता भी प्रायः इसी कालकी है। ई० पू० २३५० के लगभग हड़प्पावालोंके साथ पश्चिमी एशियाकी सुमेरी सभ्यताका सम्पर्क निश्चित रूपसे रहा प्रतीत होता है। तत्कालीन कालगणनामें यह तिथि महत्त्वपूर्ण है। हड़प्पा सभ्यताकी उत्तराधिकारिणी झुन्कर सभ्यता मानी जाती है, और तदुपरान्त आर्यों (इन्डो आर्यनों) का तथा उनकी वैदिक सभ्यताका उदय हुआ माना जाता है।

वैदिक सभ्यता—आर्योंके मूल निवासस्थानके विषयमें बड़ा मत-भेद है, किन्तु अधिक संगत यही प्रतीत होता है कि वे मूलतः भारतके ही निवासी हैं और मध्यदेशके प्राचीन मानववंशी आर्योंकी ही उस शाखासे संबन्धित हैं जो ऋषभदेवके समयमें होनेवाले मानवी सभ्यताके उदयके कुछ पूर्व ही पश्चिमोत्तर प्रदेशकी ओर विचरण करके मूलशाखासे प्रायः पृथक् हो गई थी और चिरकाल पर्यन्त पृथक् ही रही। इसका एक कारण यह भी रहा प्रतीत होता है कि उनका प्रवाह और विचरण पूर्वकी ओर अपने मूल जातिबन्धुओंकी ओर न होकर पश्चिमकी ओर अर्थात् पश्चिमी एशियाई देशोंकी ओर हुआ। वहाँसे वे उत्तरी एशिया और पूर्वी एवं उत्तरी युरोप आदिकी ओर भी फैले। इनका प्रधान केन्द्र पश्चिमी एशिया रहा। उनकी एक शाखा जब ईरानमें बस गई तो एक अन्य शाखा फिरसे भारतमें आई और उनके जो जातिबन्धु यहाँ पहिलेसे ही पश्चिमोत्तर प्रदेशमें बसे थे उनमें नवीन प्रोत्साहन फूँककर इन्होंने सरस्वती नदीके तटपर अपनी स्थायी बस्तियाँ बनाईं, ऋग्वेदके मन्त्रोंकी रचना की और पशुहिंसा युक्त याज्ञिक वैदिक संस्कृतिको जन्म दिया। प्रो० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्रीके

मतानुसार भारतका वैदिक युग भारतीय-ईरानी सभ्यताके विकासका ही एक पहलू है। प्राचीन ईरानी और वैदिक संस्कृतिके अनेकविध सादृश्यसे यह बात सिद्ध है।

वैदिक युगके प्रारम्भकाल एवं ऋग्वेदके प्रारम्भिक मन्त्रोंकी रचनाकी तिथिके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। जबकि मेक्समूलर आदि उसे ई० पू० १२००-१००० पर्यन्त निश्चित करते हैं तो तिलक और जैकोबी गणित ज्योतिषके आधारपर उसे ई० पू० ६००० व ४००० के बीच अनुमान करते हैं। किन्तु ये दोनों ही मत अतिशयोक्तिपूर्ण माने जाते हैं। बहुमत इस समयको ई० पू० २००० के लगभग स्थिर करता है। और लगभग २०००-१००० ई० पू० उक्त वैदिक सभ्यताका विकासकाल एवं चरमोत्कर्ष काल मानता है। इसी बीच प्राचीन मिश्रकी वंशानुक्रमिक सभ्यता, प्राचीन ईरानी सभ्यता, प्राचीन चीनी सभ्यता, पश्चिमी एशियाकी असुर, बाबुली, खिल्दियन आदि सभ्यताएँ, भूमध्यसागरवर्ती हित्ती, मितानी आदि सभ्यताएँ तथा अमेरिकाकी माया सभ्यता आदि विश्वकी अन्य प्राचीनकालीन सभ्यताओंका आगे-पीछे उदय एवं विकास हुआ।

वैदिक सभ्यताके प्रारम्भिक विकासके स्वरूपकी जानकारीके एकमात्र किन्तु पर्याप्त सफल साधन उस कालमें रचे गये ऋग्वेदके मन्त्र हैं। ये मन्त्र इन्द्र, वरुण, अग्नि, द्यौ आदि देवताओंके रूपमें कल्पित प्रकृतिकी विभिन्न शक्तियोंकी स्तुतिके रूपमें है। इन मन्त्रोंके अध्ययनसे उक्त वैदिक आर्योंके धार्मिक विश्वासों, क्रियाकाण्ड, आचार-विचार, रहन-सहन, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संगठन, लौकिक इतिहास आदि विषयोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो जाती है। याज्ञिक क्रिया-काण्ड, पशुबलि, समाजमें पुरोहित, यजमान और राजाकी स्थिति, कुटुम्बमें पिताका सर्वोपरि स्थान, विश या जनपद, ग्राम या बस्तीकी व्यवस्था, समाजमें स्त्रियोंका सम्माननीय स्थान, बहुपत्नीत्व, और बहुपतित्व, वर्ण-व्यवस्थाका प्रारम्भिक रूप, अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, मांसाहार, सुरापान, द्यूतव्यसन

आदि तत्कालीन संस्थाओं, प्रथाओं एवं लोकदशाकी रोचक सूचनाएँ मिलती है,। ऋग्वेदसे ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक वैदिक आर्योका यज्ञविरोधी हड़प्पा-वालोंके साथ सांस्कृतिक एवं राजनैतिक संघर्ष हुआ, युद्ध हुआ और सुलह हुई। उन लोगोंको आर्योने दस्यु और दास आदि संज्ञाएं दीं। इस कालकी प्रमुख घटना दाशराज्ञ युद्ध है। भारतके प्राचीन भारतोंका भी इस वेदमें उल्लेख मिलता है। मानवी सभ्यताके मूलप्रवर्तक योगीश्वर ऋषभकी स्तुतिमें भी कुछ मन्त्र है। किन्तु साथ ही लिंगेश्वरको इन्द्रका शत्रु भी कहा गया है। कालान्तर में ऋक्संहिताके रूपमे संकलित इस प्रथम वेदमें दश मंडलोंमे विभाजित कुल १०१७ मन्त्र है। जैन अनुश्रुतिके अध्ययनसे पता चलता है कि दसवें तीर्थङ्कर शीतलनाथके उपरान्त सर्वप्रथम ब्राह्मणोंने श्रमण परम्परासे अपना संबंध निच्छेद करके अपनी पृथक् ब्राह्मण संस्कृति एवं वैदिक धर्मको जन्म दिया था। हो सकता है कि वैदिक आर्योके समाजमे ब्राह्मण वर्गका सर्वोपरि स्थान देखकर मध्यदेशीय मानववंशी ब्राह्मण उनकी ओर आकृष्ट हुए हो। वेदोंकी भाषापर मध्यदेशकी अर्धमागध प्राकृतका तथा ईरानी आदि पश्चिमी भाषाओंका द्विविध प्रभाव रहा प्रतीत होता है। लिपि जो उन्होंने अपनायी वह भारतके मानववंशियों द्वारा आविष्कृत ब्राह्मी लिपी थी।

उत्कर्षकाल-रामायणसे महाभारत पर्यन्त—शनैः-शनैः वैदिक आर्योने भारतके आदिम निवासी मानवों और विद्याधरोंसे सुलह कर ली और उनका उनके साथ रक्तमिश्रण भी होने लगा। उन्होंने पूर्वकी ओर फैलना प्रारंभ कर दिया और पंजाबसे लेकर समस्त पश्चिमी उत्तरप्रदेश उनका केन्द्र बन गया। उनकी राज्य शक्तियोंका भी विकास हुआ जिनमें कुरु-पांचालके राज्य सर्व प्रमुख थे। वैदिकोंके नवीन उत्साहसे पूर्ण द्रुतवेगसे वृद्धिगत प्रभाव, प्रसार एवं लौकिक शक्तिके सम्मुख उत्तर पश्चिमकी नाग आदि विद्याधर जातियाँ पराभूत होकर सुदूर उत्तरमें तक्षशिला और

सिन्धु नदीके मुहानेके निकट पातालपुरी आदिमें संकुचित हो गई। दक्षिणमें वे पूर्ववत् सबल बनी रहीं। पूर्वके श्रमणोपासक मध्यदेशीय मानव अंग-मगध तथा पूर्वी उत्तरप्रदेशमें सीमित होते चले गये। बीसवें तीर्थङ्कर मुनि-सुव्रतके समय तक वैदिक धर्म एवं ब्राह्मण संस्कृतिकी उत्तरोत्तर प्रगति होती गई। मुनिसुव्रतनाथके तीर्थमें अयोध्यापति तथा इक्ष्वाकुके सूर्य वंशमें उत्पन्न रामचन्द्र द्वारा दोनों संस्कृतियोंके समन्वयका भागीरथ प्रयत्न हुआ। अतएव श्रीराम यदि श्रमण परम्परामें एक महान् पुराण पुरुष तथा उसी भवमें मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्ध परमात्मा हुए तो दूसरीमें ईश्वरके अवतार माने गये। एकमें वे परम अहिंसक आत्मोपासक हैं तो दूसरीमें वे यज्ञ एवं याज्ञिकोंके रक्षक हैं। उन्हींके द्वारा इस समन्वयात्मक उत्तर भारतीय संस्कृतिका प्रकाश सुदूर दक्षिणके देशोंमें पहुँचा और वैदिकोंके उदयके कारण कुछ कालके लिए विच्छिन्न हो जानेवाली मानव-विद्याधर मैत्री अब आर्य-द्रविड़ सम्पर्कके रूपमें फिरसे पुनरुज्जीवित हुई।

ऋग्वेदके उपरान्त यजुष्, साम और अथर्व नामक शेष तीन वेदोंमें ब्राह्मण अथवा वैदिक संस्कृतिके साथ श्रमण अथवा आध्यात्मिक आर्हत संस्कृतिके समन्वय एवं आदान-प्रदानके उपरोक्त प्रयत्नोंका पर्याप्त आभास मिलता है। वेदोंमें 'मुनयो वातवसना' के रूपमें तत्कालीन दिगम्बर मुनियोंका स्पष्ट उल्लेख है। वैदिक आर्य व्रतादिमें विश्वास करनेवाले श्रमणोपासक पूर्वी आर्योंको व्रात्य कहते थे। प्रारंभ कालीन मन्त्रोंमें इन व्रात्योंकी पर्याप्त निन्दा है, किन्तु अथर्व वेदमें व्रात्यस्तोमके रूपमें उनकी प्रायः स्तुति ही है। इसी प्रकार श्रमण क्षत्रियोंको भी वैदिक साहित्यमें निन्दाकी दृष्टिसे क्षात्रबंधु कहा गया है। किन्तु वैदिक क्षत्री राजे उन पूर्वी क्षत्रियोंसे विवाह मैत्री आदि सम्बन्ध करनेमें तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। इस समन्वय या समझौतेका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि रामायण एवं महाभारतकी घटनाओंके मध्यवर्ती कालमें वैदिक आर्य समाजमें क्षत्रियोंकी शक्ति और प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया था—उनकी बलवती

राज्यसत्ताएँ यत्र-तत्र फैल गई थीं, ब्राह्मण मन्त्री और पुरोहित मात्र ही रह गये थे। और इसी युगमे क्योंकि वैदिक क्षत्रियोंकी राजनैतिक शक्ति सर्वोपरि थी यह काल वैदिक सभ्यताका चरमोत्कर्ष काल है। महाभारतके विनाशकारी युद्धने वैदिक युगका ही अन्त नही किया, वैदिक क्षत्रियोंकी राज्यसत्ताको भी अत्यन्त अवनत कर दिया।

जिस प्रकार इस युगके प्रारंभमें अयोध्याके रामने दोनों संस्कृतियोंके समन्वयका स्तुत्य प्रयत्न किया था उसी प्रकार इस युगके अन्त में यदुवंशी कृष्णने वैसा ही प्रयत्न किया, ये दोनों ही महापुरुष भारतकी मौलिक सांस्कृतिक एकताके प्रतीक हैं—दोनो ही प्राचीन श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृतियोंके बीचकी सुदृढ़ कड़ियाँ हैं। कृष्ण भी दोनों ही परम्पराओंमे प्रायः समान रूपमे सम्माननीय हैं। उनके ताऊजात भाई बाईसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि भी यजुर्वेदमे स्मृत हुए है। कृष्ण स्वयं प्राचीन मानववंशकी हरिवंश नामक शाखामें उत्पन्न थे और उन्होंने कुरु-पांचालके वैदिक आर्य क्षत्रियोंके साथ विवाह एवं मैत्री आदि सम्बंध स्थापित करके तथा अपनी विलक्षण कूटनीति द्वारा भारतकी समस्त तत्कालीन राजसत्ताओंको मिलाकर, लड़ाकर और प्रभावित करके उन सबका ही नेतृत्व किया तथा उनके वंशजों द्वारा कालान्तरमें ईश्वरके अवतारके रूपमें पूजे गये। साथ ही श्रमण अथवा जैन परम्परामें भी वे नारायण, अर्धचक्री, त्रिखंडी, श्रावकोत्तम, अपने समयके सर्वप्रतापी सर्वशक्तिमान आदर्श नरेश एवं धर्मात्माके रूपमें स्तुत्य हुए हैं। स्वयं पांडव बंधु भी जैनधर्मके उपासक तथा अन्तमें जैन मुनियोंके रूपमे तप करते बताये गये है।

रामायण एवं महाभारतकी घटनाएँ बहुत थोड़ेसे अन्तरोंको लिये हुए ब्राह्मण एवं जैन दोनों ही परम्पराओंमें प्रायः एक-सी पाई जाती हैं और समान रूपसे लोकप्रिय हैं। वस्तुतः दोनों धाराओंके ये कथानक एक दूसरेके पूरक हैं और नियमित इतिहासके प्रारंभसे पूर्वके अनुश्रुतिगम्य कालके लिए ब्राह्मण परम्पराका वैदिक साहित्य, रामायण एवं महाभारत काव्य तथा

पुराण ग्रन्थ जितने उपयोगी हैं उतने ही जैन पुराण साहित्य तथा धार्मिक अनुश्रुतियाँ भी हैं। जैसा कि प्रो० जयचन्द्र विद्यालङ्कारका कथन है भारतका प्राचीन इतिहास जितना वेदोंको मान्य करनेवालोंका है उतना ही वेद विरोधी जैनोंका है। जैनोंके प्राचीन तीर्थङ्कर भी वैसे ही वास्तविक ऐतिहासिक पुरुष हैं जैसे कि वेदोंके रचयिता ऋषिगण तथा ब्राह्मण परम्पराके अन्य प्राचीन महापुरुष। वस्तुतः जैन पुराण कथानकोंके उस काल संबंधी चित्रण कहीं अधिक बुद्धिगम्य, युक्तियुक्त एवं वास्तविकताके निकट हैं। श्रमण संस्कृति भी शुद्ध भारतीय प्राचीन मानव संस्कृति है जो वैदिक धर्म और ब्राह्मण संस्कृतिके उदयके संभवतया कुछ पूर्व ही अस्तित्वमें आ चुकी थी और विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मण वैदिक संस्कृतिके उदयके उपरान्त वह उसके साथ संघर्ष करती, समन्वय करती, आदान-प्रदान करती तथा अपनी पृथक् सत्ता भी बनाये रखती हुई फलती-फूलती और विकसित होती रही।

विनाशकारी महाभारत युद्धके अन्तके साथ-साथ भारतीय इतिहासके सुदीर्घ प्रागैतिहासिक एवं अनुश्रुतिगम्य इतिहास कालका अन्त और नियमित इतिहासका प्रारम्भ होता है।

अध्याय २

प्राचीन युग–प्रथम पाद

[महाभारतसे महावीर पर्यन्त]

बहुत समयतक भारतीय इतिहासका नियमित प्रारम्भ छठी शताब्दी ई० पू० में महावीर और बुद्ध द्वारा क्रमशः जैन एवं बौद्धधर्मके प्रचार तथा मगध साम्राज्यके उदयसे माना जाता रहा। इसके बादका काल ऐतिहासिक तथा पूर्वका प्रागैतिहासिक कहा जाता था। किन्तु इधर कुछ दशकोंसे भारतीय इतिहासकारोंका झुकाव भारतवर्षके नियमित इतिहासको महाभारत युद्धके ठीक उपरान्त प्रारम्भ करनेकी ओर बढ़ता जा रहा है। अस्तु भारतवर्षका विधिवत् इतिहास अब गत लगभग तीन साढ़े तीन सहस्र वर्षका इतिहास माना जाता है। इसका प्राचीन युग महाभारत युद्धके ठीक बाद प्रारम्भ होकर मुसलमानों द्वारा भारतकी विजयके साथ समाप्त होता है। इस ढाई सहस्र वर्षके सुदीर्घ प्राचीन युगका पूर्वार्ध प्रधानतया उत्तर भारतके इतिहाससे ही सम्बन्धित है, दक्षिण भारतके सम्बन्धमें इस युगमें कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

महाभारत युद्धको एक ऐतिहासिक घटना माननेमें अब प्रायः किसीको कोई शंका नहीं है यद्यपि महाभारतमें कथित उसके वर्णनको जैसा-का-तैसा माननेमें प्रायः सभी संकोच करते हैं। इतिहासकाल अथवा भारतीय इतिहासके प्राचीन युगके आदिकालका सूचन करनेके लिए उक्त घटनाकी तिथिका निर्णय करना आवश्यक है किन्तु इसके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। प्रो० पार्जीटरके अनुसार महाभारतकी तिथि ई० पू० ९५० है, डा० रमेशचन्द्र मजूमदार, प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री आदिके

अनुसार लगभग १००० ई० पू०, कर्नल टाडके अनुसार ई० पू० ११२०, रायचौधरीके अनुसार ई० पू० १३७६, जयचन्द्र विद्यालङ्कारके अनुसार ई० पू० १४२४, डा० काशीप्रसाद जायसवालके अनुसार ई० पू० १४५०, इत्यादि, कुछ पुराणोंके अनुसार ई० पू० १४१४ कुछके ई० पू० २४४९ और शेषके ई० पू० ३१०२; किन्तु बहुमान्य मत उसे १५ वीं शताब्दी ई० पू० के लगभग हुआ मानता है। हमारी गणनाके अनुसार भी वह ई० पू० १४४३के लगभग बैठता है। इस घटनाके ३६ वर्ष बाद अर्जुनका पौत्र परीक्षित् हस्तिनापुर साम्राज्यका अधिपति हुआ। अतएव ई० पू० १४०० के लगभग भारतीय इतिहासका प्राचीन युग प्रारम्भ होता है।

ब्राह्मण परम्पराके अनुसार इसी समय द्वापरका अन्त हुआ और कलियुगका प्रवेश हुआ। स्पष्ट है कि महाभारतके समय जो वैदिक सभ्यता अपने चरमोत्कर्षको प्राप्त हो चुकी थी उसकी अब अवनति प्रारम्भ हो गई थी। १४ वींसे ९ वीं शती ई० पू०का काल उत्तर वैदिककाल कहलाता है और वस्तुतः यह श्रमण पुनरुद्धार युग था। एक ओर वैदिक धर्म, ब्राह्मण संस्कृति एवं वेदानुयायी क्षत्रिय राजसत्ताओंका ह्रास एवं रूपान्तर प्रारम्भ हुआ तो दूसरी ओर तीर्थङ्करोंके धर्म, श्रमण संस्कृति एवं उसके अनुयायी व्रात्य क्षत्रियों एवं नाग आदि द्रविड़ वंशियोंका आश्चर्य-जनक पुनरुत्थान हुआ।

राजनैतिक क्षेत्रमें महाभारतके उपरान्त उत्तर भारतमें वैदिक क्षत्रियोंके बारह राज्य थे—वत्स, कुरु, पांचाल, शूरसेन, कोसल, काशी, पूर्व-विदेह, मगध, कलिंग, अवन्ति, महिष्मती और अश्मक। इनमें भी कुरु (राजधानी हस्तिनापुर), पांचाल (राजधानी कम्पिला), कोसल (राजधानी अयोध्या), विदेह (राजधानी मिथिला) और काशी (राजधानी वाराणसी) नामक पाँच राज्य प्रमुख थे। इन सभी राज्योंके नरेश पुरु, इक्ष्वाकु और मागध इन तीन प्राचीन राज्य वंशोंमें से ही किसी-न-किसीके साथ सम्बन्धित थे। ये सभी राज्य उस समय प्रायः वेदानुयायी

आर्यक्षत्रियोंके ही थे। इनके अतिरिक्त जो अन्य राज्य पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणमें स्थित थे वे प्रायः श्रमणोपासक क्षत्रियों के थे।

उपरोक्त १२ राज्य वंशोंमें भी सर्वप्रधान राज्य कुरुदेशमें हस्तिनापुरके पुरु, कुरु अथवा पांडववंशियोंका था। अर्जुनका पौत्र परीक्षित् उनका अधीश्वर था। किन्तु उसके समयमें ही वैदिक आर्योंकी बढ़ती हुई शक्तिके सम्मुख चिरकालसे दबी रही नाग आदि द्रविड़ जातियाँ फिरसे यत्र-तत्र सिर उठाने लगी। पश्चिमोत्तर प्रदेशकी तक्षशिला और सिन्धु मुखकी पातालपुरीके नाग विशेष प्रबल हो उठे। नवीन उत्साहसे जागृत, विशेषकर तक्षशिलाके नागोंने कुरु राज्यके ऊपर भीषण आक्रमण शुरू कर दिये। उनके साथ युद्धमें ही परीक्षित्की मृत्यु हुई। उसके बेटे जनमेजयका भी सारा जीवन नागोंके साथ युद्ध करते ही बीता। उसने उनका भरसक संहार भी किया किन्तु उनके बढ़ते हुए वेगको रोकनेमें वह भी असमर्थ रहा और हस्तिनापुर राज्य उत्तरोत्तर क्षीण होता चला गया। जनमेजयके पश्चात् शतानीक, अश्वमेघदत्त और अधिसीम कृष्ण क्रमशः गद्दीपर बैठे। अधिसीमके समय अयोध्यामें दिवाकर, मगधमें सेनजित् एवं विदेहमें जनक उग्रसेन राज्य करते थे और पंजाबमें प्रवाहण जैबलिका प्रभाव था। अधिसीमके बेटे निचक्षुके समयमें नागोंके निरन्तर आक्रमणोंके अतिरिक्त कुरु देशपर लाल टिड्डीका भयङ्कर प्रकोप हुआ, भीषण दुर्भिक्ष पड़ा और स्वयं राजधानी हस्तिनापुर गङ्गाकी बाढ़में बह गयी। कुरुवंशी राजे देशका परित्याग करके वत्स देशकी कौशाम्बी नगरीमें जा बसे। इस प्रकार उत्तरापथकी सर्वप्रधान वेदानुयायी क्षत्रिय राज्य शक्तिका कम-से-कम कुरु प्रदेशसे अन्त होगया। तदनन्तर नागोंने उसपर अधिकार कर लिया। तभीसे गजपुर या हस्तिनापुरका नाम नागपुर या हस्तिनागपुर भी प्रचलित हुआ। यह घटना लगभग ९–१० वी शताब्दी ई० पू० की है।

प्रायः इसी समयके लगभग विदेहमें क्रान्ति हुई। वहाँका राजा कराल जनक बड़ा कामी था अतः प्रजाने उसे मार डाला और साथ ही विदेहके

जनकोंकी राज्यसत्ताका अन्त होगया और वहाँ संघ राज्य स्थापित होगया। उसीके पड़ोसमें वैशालीके लिच्छवियोंका संघराज्य विकसित हो रहा था। विदेहका संघराज्य भी उसीमें मिल गया और फलस्वरूप सुप्रसिद्ध वृजि या वज्जिगणकी स्थापना हुई। ये लोग श्रमणोपासक व्रात्य क्षत्रिय थे। काशीमें भी उरग या नागवंशी व्रात्य क्षत्रियोंका राज्य स्थापित हो गया। इस वंशमें ब्रह्मदत्त नामका बड़ा प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट हुआ। इस समय काशी राज्यकी बड़ी सत्ता था, मध्य देशमें वही मुख्य साम्राज्य शक्ति थी। कोसल कई बार उसके अधीन हुआ। एक बार गोदावरी काँठेके अश्मक राज्यकी राजधानी पोतन (पोदनपुर) भी उसमे सम्मिलित थी। ब्रह्मदत्त जैन परम्पराका अन्तिम चक्रवर्ती था। उसका उल्लेख अथर्व वेदादि तथा बौद्ध साहित्यमें भी आया है। डा० रायचौधरी प्रभृति विद्वान इसकी ऐतिहासिकतामें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं बताते। इसी वंशमें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथका जन्म हुआ। प्रायः इसी कालमें दक्षिणके तेरापुर नामक स्थानमें करकण्डु नामका एक प्रतापी जैन राजा हुआ, जिसकी ऐतिहासिकतामें अब विद्वानोंको प्रायः कोई सन्देह नहीं है। ८ वीं शती ई० पू० में मगधमें भी राज्य विप्लव हुआ। वसुचैद्योपरिचरके वंशज बार्हद्रथोंका पतन हुआ और काशीनरेश शिशुनागको मगधवालोंने राजा होनेके लिए आमंत्रित किया। वह काशीका राज्य अपने पुत्रको देकर मगधका राजा बना। अवन्तिमें भी राज्यविप्लव और वंश परिवर्तन हुआ। हस्तिनापुरके कुरुवंशकी अवनतिके कालमें प्रारम्भमें कोसलने कुछ उन्नति की थी किन्तु बादमें काशी और फिर मगधके बढ़ते हुए प्रभावके सम्मुख कोसल दबता चला गया। इस प्रकार छठीं शती ई० पू० के कुछ पूर्व ही महाभारतकालीन समस्त वैदिक क्षत्रिय राज्यसत्ताओंका प्रायः अन्त हो गया था और उनके स्थानमें एक ओर नागादि विद्याधर वंशियोंकी राज्य सत्ताएँ तक्षशिला, पातालपुरी, उद्यानपुरी, पद्मावती, भोगपुरी, नागपुर, अंग या चम्पा तथा दक्षिणके भिन्न-भिन्न भागोंमें स्थापित हो चुकी थीं।

दूसरी ओर लिच्छवि, मल्ल, मोरिय आदि व्रात्य क्षत्रियोंके अनेक गण या संघराज्य यत्र-तत्र स्थापित हो चुके थे, साथ ही पुरानी राज्यसत्ताओंके स्थानमें काशी और मगध आदिमें इन्हीं व्रात्यों अथवा तथाकथित क्षात्र-बन्धुओंकी कई ऐसी प्रतापी राजतन्त्रीय शक्तियाँ प्रबल हो चुकी थीं जो साम्राज्य पदकी पोषक थीं। काशीके ब्रह्मदत्तोंने साम्राज्य स्थापित किया ही था। उनके उपरान्त मगध साम्राज्यका उदय हुआ।

ब्राह्मण परम्पराकी अनुश्रुतियोंमें लिच्छवि, मल्ल, मोरिय आदि जातियोंको व्रात्य कहा है। शैशुनाक वंशको भी क्षत्रिय नहीं वरन् क्षात्रबंधु कहा है। प्रो० जयचन्द्र विद्यालङ्कारके अनुसार,इस शब्दका प्रयोग हीनताका भाव सूचित करनेके लिए किया गया है क्योंकि वे व्रात्य लोगोंके क्षत्रिय थे, और व्रात्य वे आर्य जातियाँ थी जो मध्यदेशके पूर्व या उत्तर पश्चिममें रहती थीं। वे मध्यदेशके कुलीन ब्राह्मण क्षत्रियोंके आचारका अनुसरण न करती थीं। उनकी शिक्षा-दीक्षाकी भाषा प्राकृत थी और वेशभूषा (आर्योंकी दृष्टिमें) परिष्कृत न थी। वे मध्यदेशके ब्राह्मणोंके संस्कार न करते थे और ब्राह्मणोंके बजाय अर्हन्तोंको मानते थे तथा चेतियों (चैत्यों) की पूजा करते थे।' वस्तुतः इस कालमें वैदिक आर्योंकी शुद्ध सन्तति अवशिष्ट ही नहीं रह गई थी। रक्तमिश्रण, सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं बहुधा धर्म परिवर्तनादिके कारण एक नवीन भारतीय जाति उदयमें आ रही थी जिसमें श्रमणोपासक चातुर्वर्णके व्रात्यों अथवा नाग आदि द्रविड़ जातियोंका बाहुल्य था। आर्य द्रविड़ोंमें भी धीरे-धीरे रक्तमिश्रण हो रहा था और परस्पर जातीय भेद-भाव मिटता जा रहा था। व्यवसाय कर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णोंमें समस्त भारतीय समाज बँटता जा रहा था। क्षात्र धर्म पालन करनेवाले चाहे वे वैदिक आर्योंकी सन्तान हों, चाहे मानववंशी आर्यों और व्रात्योंकी और चाहे नाग आदि विद्याधर वंशियों अथवा द्रविड़ोंकी—सब अपने आपको क्षत्रिय ही कहते थे और परस्पर विवाह सम्बन्ध भी उन्मुक्त रूपसे करते थे। वर्ण भी

कर्मतः थे, जन्मतः नहीं और वर्ण परिवर्तन करनेमें किसीके लिए कोई बाधा नहीं थी।

अस्तु, ई० पू० १४०० से ६०० के मध्यवर्ती कालका राजनैतिक इतिहास जैसा कि ऊपर संक्षेपमे वर्णन किया गया है उसके अतिरिक्त विशेष कुछ नहीं प्राप्त होता। राज्यानुक्रमसे शृंखलाबद्ध इतिहास छठी शताब्दी ई० पू० से ही मिलना प्रारंभ होता है। प्राचीन जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण अनुश्रुतियोंमें ७–६ ठी शताब्दी ई० पू० के लगभग भारतके विभिन्न भागोमें जिन विभिन्न राजनैतिक सत्ताओंके विद्यमान रहनेका उल्लेख मिलता है वे निम्न प्रकार हैं :—

ब्राह्मण अनुश्रुतिमें उपरोक्त महाभारत कालीन १२ राज्योंका ही उल्लेख मिलता है। बौद्ध अंगुत्तर निकायमें—काशी कोसल, अग मगध, चेतिय (चेदि) वश (वत्स), कुरु पाञ्चाल, मच्छ (मत्स्य) सूरसेन, अस्सक (अश्मक), अवन्ति, गांधार, कम्बोज—इन आठ युगलोंके रूपमें सोलह महाजनपदोंका उल्लेख है। एक अन्य सूचीमें कलिंग (दन्तपुर), अश्मक (पोदनपुर), अवन्ति (महिष्मती), सौवीर (रोरुक), विदेह (मिथिला), अंग (चम्पा), और काशी (वाराणसी)–इन सात राज्यों व राजधानियोंके नाम मिलते हैं। जैन भगवती सूत्रमें—अंग, बंग, मगह (मगध), मलय, मालव, अच्छ (अश्मक), वच्छ (वत्स), कच्छ, पाढ़ (पाड्य), लाढ़ (राधा), बज्जी, मल्ल, काशी, कोसल, आवाह और सम्भूत्तर इन १६ प्रान्तों या जनपदोंका उल्लेख है। इसी प्रकार जैन *हरिवंश पुराणमे* १८ राज्योंका, *महापुराणमें* ५३ देशोंका, *प्रज्ञापना सूत्र* आदिमें २५½ आर्य देशोंका तथा निशीथ चूर्णि आदिमें दश महाराजधानियोंके उल्लेख मिलते हैं। इन सूचियोंके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि जैन सूचियाँ अन्य सूचियोंकी अपेक्षा अधिक बहुक्षेत्रव्यापी और सभवतया अधिककालव्यापी हैं। दूसरी बात यह है कि विभिन्न अनुश्रुतियोंकी सूचियोंमें उन्हीं देशोंका उल्लेख विशेष रूपसे है जिसके साथ उनके अपने-अपने

धर्मोंका अधिक संबंध रहा। उपरोक्त नामोंमें भी उस काल (६ठी शताब्दी ई० पू०) में मगध, कोसल, वत्स और अवन्ति ही प्रमुख राज्य थे तथा वज्जियोंका गणतन्त्र गणतन्त्रोंमें प्रमुख था।

इस श्रमण पुनरुत्थान युग या उत्तर वैदिक काल (१४००–६०० ई० पू०) में एक ओर तो वैदिक यज्ञोंका कर्मकाण्ड बढ़ा और दूसरी ओर ज्ञान व तत्त्व-चिन्तनकी एक नई लहर लक्षित हुई। वैदिक मन्त्रोंको ऋक्, यजुष् साम, और अथर्व नामक चार संहिताओंमें संकलित किया गया। उन-पर जटिल गद्य भाष्य बनाये गये जिन्हें ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं। एक दूसरे प्रकारके भी भाष्य बने जो आरण्यक कहलाते हैं क्योंकि वे वनोंमें ऋषियों द्वारा रचे गये बनाये जाते हैं। वेदोंके ही कथञ्चित् आश्रयसे एक दूसरे प्रकारका आध्यात्मिक साहित्य उदयमें आया जो रहस्यवादी होने अथवा बैठकर कहा जानेके कारण उपनिषद् कहलाया। शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प नामके छः वेदाङ्गोंका भी विकास हुआ। इस शान्ति युगमें यज्ञोंके पूजा-पाठ एवं क्रियाकाण्डको खूब विस्तार दिया गया और सीधे सरल वेद मन्त्रोंके अर्थोंको अत्यन्त दुरूह एवं जटिल बना दिया गया। कहा जाता है कि इसी कालमें परीक्षित्की पाँचवी पीढ़ीमें हस्तिनापुरके राजा अधिसोम कृष्णके समयमें नैमिषारण्यमें जब मुनि लोग यज्ञ कर रहे थे तो वहाँ व्यास रचित प्राचीन ब्राह्मणीय अनुश्रुतिके संग्रह या पुराणको सूतोंने सर्व प्रथम गाकर सुनाया था। इसीके आधारपर ईस्वी सन्के प्रारंभके लगभग रामायण, महाभारत आदिकी तथा गुप्त कालमें प्रमुख हिन्दू पुराणोंकी रचना हुई।

दूसरी ओर यज्ञोंके कर्मकाण्ड और आडम्बरके विरुद्ध देशव्यापी विद्रोह हो रहा था। इसका मूल कारण अहिंसाप्रधान एवं आध्यात्मिक श्रमण संस्कृतिका उत्तरोत्तर वृद्धिगत प्रभाव था। वैदिककालके अन्तिम भागमें ही पशुबलिके विरोधमें एक लहर चल पड़ी थी। मगधनरेश चैद्योपरिचरके समयमें पर्वत-नारद विवाद उसी प्रश्नको लेकर हुआ था। इस घटनाके

विषयमें जैन एवं ब्राह्मण दोनों अनुश्रुतियाँ एकमत हैं। अपने बन्धु तीर्थङ्कर अरिष्टनेमिके विचारोंसे प्रभावित कृष्ण वासुदेव और उनके भाई बलराम भक्तिप्रधान अहिंसाधर्मकी इस लहरके अनुयायी एवं सबल पोषक थे। महाभारतके उपरान्त कालमें कुछ वैदिक ब्राह्मणोंको छोड़कर शेष बहुभाग समाज इसी लहरका अनुयायी होता चला गया। इसके नेता प्रमुखतः क्षत्रिय लोग थे। जो प्रत्यक्षतः श्रमणपरम्पराके अनुयायी नहीं थे या नहीं हुए वे वैदिक परम्परामेंसे ही वैदिक कर्मकाण्ड और याज्ञिक हिंसाका विरोध तथा अध्यात्मके बीज खोजने लगे। इन्होंने औपनिषदिक रहस्य-वादको जन्म दिया। विदेह इनका केन्द्र था। इन्द्र आदि वैदिक देवताओंके स्थानमें अखिल विश्वमें सञ्चरित चेतनपुञ्ज रूप निराकार-निर्विकार अजर-अमर ब्रह्मकी स्थापना हुई। वैदिक यज्ञोंको फूटी नावकी उपमा दी गई। आत्मदर्शन या आत्मानुभूतिको परम प्राप्तव्य बनाया गया, दुश्चरितका त्याग, इन्द्रियोंका निग्रह, मनस्कता, शुचिता, मन-वाणी-कर्मका नियमन, तप-ध्यान, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा-शान्ति, सम्यक्ज्ञान, विज्ञान, समाधि या आत्मलीनतासे परमपद प्राप्त करनेका उपदेश दिया जाने लगा। वस्तुतः औपनिषदिक विचारधाराका जैन अध्यात्मके साथ इतना विलक्षण सादृश्य है कि बहुधा एकमें दूसरेका भ्रम हो जाता है। अनेक उपनिषदोंमें तो विशिष्ट जैन शब्दावली तक प्रयुक्त हुई मिलती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्तर वैदिककालीन औपनिषदिक विचारधारा उस युगमें श्रमण संस्कृतिके पुनरुत्थानकी ही सूचक है और वैदिक एवं श्रमण-संस्कृतिके समन्वयका एक सुन्दर प्रयत्न है। इस कालमें किसी राजा द्वारा भी किसी वैदिक यज्ञके किये जानेके प्रायः कोई प्रमाण नहीं मिलते। जनसाधारणको याज्ञिकहिंसासे अरुचि हो गई थी। वैदिकधर्म इतना जटिल एवं आडम्बर पूर्ण बना डाला गया था कि वह लोकग्राह्य ही नहीं रह गया था। वह शनैः-शनैः कतिपय वेदानुयायी ब्राह्मण विद्वानोंमें ही सीमित होता चला गया। जनसाधारण या तो श्रमणोपासक था या ब्रह्मवादी

जनकोंके उपनिषद् धर्मका अथवा इन दोनोंके समन्वयसे जो सदाचार एवं भक्ति प्रधान एक नवीन लोकधर्म सामान्यत: अलक्ष्यरूपमें उदित हो रहा था, उसीसे सन्तुष्ट था। वर्णाश्रम व्यवस्था इस युगकी इस धाराकी एक एक प्रमुख विशेषता थी।

इस युगके उक्त श्रमणधर्म-पुनरुत्थानके सर्वप्रथम पुरस्कर्त्ता बाइसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ या अरिष्टनेमि थे। उनका जन्म यदुवंशियोंके शूरसेनजनपदकी राजधानी शौरीपुर नगरमें हुआ था। किन्तु उनकी बाल्यावस्थामें ही यादवगण शौरीपुरका परित्याग करके पश्चिमी समुद्रतटपर द्वारिका नगरीमें जा बसे थे। वासुदेव कृष्ण इनके चचेरे भाई थे। कृष्णने प्रवृत्तिका मार्ग अपनाया और नेमिनाथने निवृत्तिका। चिरकालतक अहिंसाधर्मका प्रचार करनेके उपरान्त काठियावाड़के गिरनार या ऊर्जयन्त पर्वतसे नेमिनाथने निर्वाण प्राप्त किया था।

तीर्थङ्कर नेमिनाथका प्रभाव विशेषकर पश्चिमी एवं दक्षिणी भारतपर हुआ। दक्षिण भारतके विभिन्न भागोंसे प्राप्त जैन तीर्थङ्करोंकी प्राचीन मूर्त्तियोंमें नेमिनाथकी प्रतिमाओंका बाहुल्य है, जो अकारण नहीं है। उत्तरापथके मध्यदेशमें उस समय वैदिक धर्म एवं वैदिक क्षत्रियोंकी राज्यसत्ताएँ ही सबल थीं। किन्तु महाभारतके विनाशकारी युद्धने उक्त राज्यसत्ताओंके साथ-ही-साथ वैदिक धर्मको भी वहाँ निस्तेज कर दिया था। स्वयं पाण्डवबन्धु अन्त समयमें नेमिनाथके भक्त हुए और उन्होंने दक्षिण भारतमें जाकर जैन मुनियोंके रूपमें तप करके सद्गति लाभ की बताई जाती है। महाराज कृष्ण और बलराम जो तत्कालीन राजनैतिक जगत्के प्रधान एवं प्रभावशाली नेता थे, तीर्थङ्कर नेमिनाथके श्रावकोत्तम और अनुयायी थे। इन महानुभावोंके प्रभावसे उत्तरापथ और मध्यदेशमें भी पशुबलि संयुक्त याज्ञिक वैदिक धर्म निष्प्रभाव हो गया। उत्तरकालमें होने वाली राज्यक्रान्तियों एवं राजनैतिक परिवर्तनोंने तीर्थङ्कर नेमिनाथ द्वारा पुरस्कृत

इस श्रमण पुनरुत्थानको किस प्रकार सहायता पहुँचाई यह ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

अबसे कुछ दशक पूर्व भी इतिहासज्ञ विद्वान् नेमिनाथकी ऐतिहासिकतामें अविश्वास करते थे। किन्तु अब जब कि इतिहासकालकी प्रारम्भिक सीमा ६ठी शती ई० पू० से पीछे हटकर महाभारत युद्धके समयतक पहुँचा दी गई है और जब कि महाराज कृष्णकी ऐतिहासिकतामें कोई सन्देह नहीं किया जाता तब स्वयं उन्हीं कृष्णके ताऊजात भाई तीर्थङ्कर अरिष्टनेमिको ऐतिहासिक व्यक्ति न माननेका कोई कारण नहीं रह जाता। वस्तुतः प्रसिद्ध कोषकार डा० नगेन्द्रनाथ वसु, पुरातत्त्वज्ञ डा० फुहरर, प्रो० बारनेट, कर्नल टाड, मि० कर्वा, डा० हरिसत्य भट्टाचार्य, डा० प्राणनाथ विद्यालंकार, डा० राधाकृष्णन् आदि अनेक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक विद्वान् नेमिनाथकी ऐतिहासिकतामें सन्देह नहीं करते। स्वयं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण, यास्क निरुक्त, सर्वानुक्रमणिका टीका, वेदार्थ दीपिका, सायणभाष्य, महाभारत, भागवत, स्कन्द एवं मार्कण्डेय पुराण आदि प्रसिद्ध प्राचीन ब्राह्मणीय ग्रन्थोंमें उनके उल्लेख मिलते हैं।

इतना ही नहीं, तीर्थङ्कर नेमिनाथका प्रभाव भारतके बाहर विदेशोंमें भी पहुँचा प्रतीत होता है। कर्नल टाड अपने 'राजस्थान' में लिखते हैं कि "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकालमें चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। इनमें पहिले आदिनाथ या ऋषभदेव थे। दूसरे नेमिनाथ थे। ये नेमिनाथ ही स्कैंडिनेविया निवासियोंके प्रथम ओडिन तथा चीनियोंके प्रथम फ़ो नामक देवता थे।" डा० प्राणनाथ विद्यालंकारने १९ मार्च सन् १९३५ के साप्ताहिक 'टाइम्स आफ़ इण्डिया'में काठियावाड़से प्राप्त एक प्राचीन ताम्रशासन प्रकाशित किया था। उनके अनुसार उक्त दान-पत्रपर जो लेख अंकित था उसका भाव यह है "कि सुमेरजातिमें उत्पन्न बाबुलके खिल्दियन सम्राट नेबु चेदनज़रने जो रेवानगर (काठियावाड़) का अधिपति· है यदुराजकी इस भूमि (द्वारका) में आकर रैवताचल

(गिरनार) के स्वामी नेमिनाथकी भक्ति की तथा उनकी सेवामें दान अर्पित किया।" दान-पत्रपर उक्त पश्चिमी एशियाई नरेशकी मुद्रा भी अंकित है और उसका काल ई० पू० ११४० के लगभग अनुमान किया जाता है।

नेमिनाथके उपरान्त उक्त श्रमण पुनरुत्थान आन्दोलनके दूसरे महान् नेता तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे। ये काशीके राजकुमार थे और उरगवंशमे इनका जन्म हुआ था। यह वही वंश था जिसमें इसी युगका ऐतिहासिक चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त हुआ था। डा० रायचौधरीके अनुसार काशी इस कालमें भारतका सर्वप्रमुख राज्य था और शतपथ ब्राह्मणके अनुसार काशीके ये राजे वैदिकधर्म और यज्ञोंके विरोधी थे। तीर्थङ्कर पार्श्वकी माताका नाम वामादेवी था और उनके पिता काशीनरेश महाराज अश्वसेन थे। प्राचीन बौद्ध अनुश्रुतिमें इनका 'असभ' नामसे उल्लेख हुआ है तथा महाभारत आदिमें भी अश्वसेन नामक एक प्रसिद्ध तत्कालीन नाग नरेशका उल्लेख मिलता है। पार्श्वका जन्म ई० पू० ८७७ मे हुआ था। ये बालब्रह्मचारी रहे।

बाल्यावस्थासे ही इनके हृदयमें संसार एवं भोगोंके प्रति विराग तथा जीवमात्रके प्रति करुणाका भाव था। तीस वर्षकी अवस्थामें ही इन्होंने घरका त्याग करके वनकी राह ली। कुछ काल दुर्द्धर तपश्चरण करनेके फलस्वरूप इन्हें केवलज्ञान एवं अर्हन्त पदकी प्राप्ति हुई। तदनन्तर शेष जीवन इन्होंने देश-देशान्तरमे विहार करके धर्मका प्रचार करनेमें बिताया। अन्तमें एक सौ वर्षकी आयुमें ई० पू० ७७७ में इन्होंने बिहार प्रदेशमें स्थित सम्मेदशिखर पर्वतसे निर्वाण लाभ किया। वह पर्वत आज पर्यन्त पारसनाथ पर्वतके नामसे विख्यात है। बरेली जिलेका प्राचीन अहिच्छत्र नामक स्थान पार्श्वनाथकी विशिष्ट तपस्याभूमि रही थी। पार्श्वनाथका विशिष्ट लाँछन नाग है। इनका वर्ण श्याम रहा बताया जाता है। अत: इनकी अधिकांश प्रतिमाएँ श्याम वर्ण एवं शिरके ऊपर छत्राकार

नागफणसे युक्त पाई जाती हैं। इनकी ऐतिहासिकतामें अब किसी भी विद्वान्‌को कोई सन्देह नहीं है, यद्यपि कुछ एकका यह आग्रह बना हुआ है कि पार्श्व ही जैनधर्मके प्रवर्तक थे अथवा कम-से-कम यह कि उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर ऐतिहासिक परिधिसे बाहर हैं अतः उनके अस्तित्वके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता।

तीर्थङ्कर पार्श्वका जन्म उत्तर वैदिककाल, उपनिषद्‌युग, श्रमण पुनरुद्धार युग अथवा नाग-पुनरुत्थान युग आदि विभिन्न नामोंसे सूचित महाभारत एवं महावीर और बुद्धके मध्यवर्ती (१४००—६०० ई० पू०) कालके प्रायः मध्यसमयमें हुआ था। अतः उस युगके सांस्कृतिक इतिहासमें उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म स्वयं उरगवंशमें हुआ था जो नाग जातिकी ही एक शाखा थी अतः उस कालमें पुनः जागृत नाग लोगोंमें उनके धर्मका प्रचार अत्यधिक रहा। उनके समयमें पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण, समस्त भारतके अनेक विभिन्न भागोंमें प्रबल नागसत्ताएँ राजतन्त्र अथवा गणतन्त्रोंके रूपमें उदित हो चुकी थीं और इन लोगोंके इष्ट देवता पार्श्वनाथ ही रहे प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशोंके अधिकांश व्रात्य क्षत्रिय भी इन्हींके उपासक थे। लिच्छवि आदि आठ कुलोंमें विभाजित वैशाली और विदेहके शक्तिशाली वज्जिगणमें तो पार्श्वका धर्म ही लोकधर्म था।

करकंडु चरितके नायक कलिंगके शक्तिशाली नरेश करकंडु भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। ये तीर्थङ्कर पार्श्वके तीर्थमें ही उत्पन्न हुए थे और उन्हींके उपासक तथा उस युगके आदर्श नरेश थे। राजपाटका त्यागकर जैन मुनिके रूपमें इन्होंने तपस्या की और सद्‌गति प्राप्त की बताई जाती है। तेरापुर आदिकी गुफाओंमें प्राप्त पुरातात्त्विक चिह्नोंसे तत्सम्बन्धी जैन अनुश्रुति प्रमाणित होती है। इनके अतिरिक्त पाञ्चाल नरेश दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम और गांधार नरेश नागजित या नागाति, तीर्थङ्कर पार्श्वके अनुयायी अन्य तत्कालीन नरेश थे।

डा० जार्ल चारपेन्टियरके अनुसार 'जैनधर्मके मूलसिद्धान्तोंके प्रमुख तत्त्व महावीरसे बहुत पूर्व पार्श्वनाथके समयसे ही व्यवस्थित रहे आये प्रतीत होते हैं।' प्रो० हर्म्सवर्थके अनुसार गौतमबुद्धके समयसे पूर्व ही पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित जैनसंघ जो निर्ग्रन्थ संघ कहलाता था, एक विधिवत् सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदाय था। प्रो० रामप्रसाद चाँदाका कथन है कि 'यह आमतौरपर विश्वास किया जाता है कि महावीरसे पहले भी जैन साधु विद्यमान थे जो कि पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित संघसे सम्बन्धित थे। उनके अपने चैत्य भी थे।' डा० विमलचरण लाहा भी इस तथ्यकी पुष्टि करते हैं और कहते हैं कि 'महावीरके उदयके पूर्व भी वह धर्म जिसके कि वे अन्तिम उपदेशक थे वैशाली तथा उसके आस-पासके प्रदेशोंमें अपने किसी पूर्वरूपमें प्रचलित रहता रहा प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी एवं पूर्वी भारतके कम-से-कम कितने ही क्षत्रिय जन, जिनमें कि वैशाली निवासियोंकी प्रमुखता थी, पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित एवं प्रचारित धर्मके अनुयायी थे। आचारांग सूत्र आदिसे पता चलता है कि महावीरके माता-पिता पार्श्वके उपासक एवं श्रमणोंके अनुयायी थे।' इसी प्रकार प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकारका भी कथन है कि 'अथर्व वेदमें भी जिन व्रात्योंका उल्लेख है वे अर्हतों और चैत्योंके उपासक थे। ये अर्हत और उनके चैत्य बुद्धके समयके बहुत पहलेसे विद्यमान थे। अभी तक आधुनिक पर्यालोचकोंने केवल तीर्थङ्कर पार्श्वकी ही ऐतिहासिकता स्वीकार की है। अन्य पूर्ववर्ती तीर्थङ्करोंके वृत्तान्त पौराणिक गाथाओंमें इतने उलझे हुए हैं कि उनका अभी तक पुनर्निर्माण नहीं हो पाया। तथापि इस बातके निश्चित प्रमाण हैं कि महावीर और बुद्धके पहले भी भारतवर्षमें वैदिक धर्मसे सर्वथा भिन्न धर्म विद्यमान थे।'

यही नहीं, अपितु इस बातके भी प्रमाण मिलते हैं कि पार्श्वकी मान्यता विदेशोंमें भी पहुँची। प्रो० बीलने सन् १८८५ ई० में रायल एशियाटिक

सोसाइटीके समक्ष अपने एक कथनमें बताया था कि शाक्यमुनि गौतमद्वारा बौद्ध धर्म प्रवर्तनके बहुत पूर्व मध्यएशियामें उससे मिलता जुलता धर्म प्रचलित था। सर हेनरी रालिन्सनके अनुसार मध्यएशियाके बलख नगरका नव्यविहार तथा ईंटोंसे बने अन्य स्मारकीय अवशेष वहाँ 'काश्यप' का जाना सूचित करते हैं। काश्यप एक प्रसिद्ध प्राचीन जैन मुनिका नाम तथा कई प्राचीन तीर्थङ्करोंका गोत्र तो था ही वह स्वयं पार्श्वनाथका भी गोत्र नाम था। आदिपुराणके अनुसार जिस उरगवंशमें पार्श्वनाथका जन्म हुआ था उसका संस्थापक कश्यप अपर नाम मघवा था। अतः तीर्थङ्कर पार्श्व काश्यप गोत्री थे और संभवतः अपने गोत्र नाम 'काश्यप' से भी प्रसिद्ध थे। मध्यएशियाका कियापिशि नगर कैस्पिया भी कहलाता था और संभवतया इसी आधारपर। ७ वीं शती ई० में चीनी यात्री ह्वेनसांगने तथा उसके भी लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व सिकन्दरके यूनानी साथियोंने इस नगरमें बहुसंख्यक निर्ग्रन्थ साधु देखे थे। अतएव इसकी पूरी संभावना है कि महावीरके पूर्व भी मध्यएशियाके कैस्पिया, अमन, समरकन्द, बल्ख आदि नगरोंमें जैनधर्म प्रचलित था। ६–५ वीं शती ई० पू० में होने वाले यूनानी इतिहासके जनक हेरोदोतसने अपने ग्रन्थमें एक ऐसे भारतीय धर्मका उल्लेख किया है जिसमें सर्व प्रकारका मांसाहार वर्जित था और जिसके अनुयायी मात्र अन्नभोजी थे। ई० पू० ५८० में उत्पन्न यूनानी दार्शनिक पैथेगोरस जो स्वयं महावीर और बुद्धका समकालीन था, जीवात्माके पुनर्जन्म एवं आवागमनमें तथा कर्मसिद्धान्तमें विश्वास करता था, सर्व प्रकारकी जीवहिंसा तथा मांसाहारसे विरत रहनेका उपदेश देता था, यहाँ तक कि कतिपय वनस्पतियोंको भी धार्मिक दृष्टिसे अभक्ष्य मानता था। उसका यह भी दावा था कि वह अपने पूर्व जन्मोंका वृत्तान्त भी स्मृतिसे बता सकता था। लघुएशियाके इस सम्प्रदायके विचारक आयोनियन या आरफ़िक दार्शनिक कहलाते थे। आत्माके समक्ष ये देहको हेय और नाशवान समझते थे। उपरोक्त विचारोंका बौद्ध या ब्राह्मण धर्मसे कोई सादृश्य नहीं है

जब कि वे जैन धर्मके साथ अद्भुत सादृश्य रखते हैं। और क्योंकि ये मान्यताएँ सुदूर यूनान एवं एशिया माइनरमें उस कालमें प्रचलित थीं जब कि महावीर और बुद्ध अपने-अपने धर्मोंका प्रचार प्रारम्भ ही कर रहे थे अतः पैथेगोरस आदि पार्श्वनाथके उपदेशोंसे प्रभावित रहे प्रतीत होते हैं।

मेजर जनरल फ़र्लांगका कथन है कि 'लगभग १५०० से ८०० ई० पू० पर्यन्त, बल्कि उसके बहुत पूर्व अनिश्चित कालसे सम्पूर्ण उत्तर, पश्चिम तथा मध्यभारतमें तूरानियोंका जिन्हें सुविधाके लिए द्रविड़ कहा जाता है, प्रभुत्व रहता रहा था। उनमें वृक्ष, नाग, लिंग आदिकी पूजा प्रचलित थी, किन्तु उसके साथ ही साथ उस कालमें सम्पूर्ण उत्तर भारतमें एक ऐसा अति व्यवस्थित, दार्शनिक, सदाचार एवं तप प्रधान धर्म, अर्थात् जैनधर्म, अवस्थित था जिसके आधारसे ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्मोंके सन्यास-मार्ग बादमें विकसित हुए। आर्योंके गंगा तट क्या सरस्वती तटपर पहुँचनेके पूर्व ही लगभग बाईस प्रमुख सन्त अथवा तीर्थङ्कर जैनोंको धर्मोपदेश दे चुके थे। उनके उपरान्त ८–९ वीं शती ई० पू० में २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्व हुए और उन्हें अपने उन समस्त पूर्व तीर्थङ्करोंका अथवा पवित्र ऋषियोंका ज्ञान था जो बड़े-बड़े समयान्तरोंको लिये हुए पहले हो चुके थे, उन्हें उन अनेक धर्मशास्त्रोंका भी ज्ञान था जो प्राचीन होनेके कारण पूर्व या पुराण कहलाते थे और जो सुदीर्घ कालसे मान्य मुनियों, वानप्रस्थों या बनवासी साधुओंकी परम्परामें मौखिक द्वारसे प्रवाहित होते आ रहे थे।'

कुछ लोग पार्श्वनाथके धर्मको चातुर्याम धर्म भी कहते हैं और इसका कारण यह बताया जाता है कि उनके द्वारा उपदेशित महाव्रतोंमें ब्रह्मचर्य व्रतकी गणना नहीं थी, केवल अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह ही थे और भगवान् महावीरने उनमें ब्रह्मचर्यको सम्मिलित करके व्रतोंकी संख्या पाँच कर दी। कुछ आधुनिक विद्वान् भ्रमवश यह भी कथन कर देते हैं कि वर्तमान श्वेताम्बर सम्प्रदाय मूलमें पार्श्वकी शिष्यपरम्पराके विचारोंसे प्रभावित है

जब कि दिगम्बर सम्प्रदाय महावीरकी आम्नाय है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पार्श्वकी शिष्यपरम्पराके साधु महावीर एवं बुद्धके समय तक विद्यमान थे। गौतम-केशी संवादकी घटना इस बातकी सूचक है कि पार्श्वपरम्पराके महावीर कालीन साधु कतिपय बातोंमें महावीरके उपदेशसे मतभेद रखते थे अतः उनके नेता केशिका महावीरके प्रधान शिष्य गौतम गणधरके साथ विचार-विमर्श हुआ और फलस्वरूप वे मतभेद परित्याग कर दिये गये। एक ऐसी भी अनुश्रुति है कि बौद्ध धर्मके मूल प्रवर्तक बुद्धकीर्ति तथा उनके साथी सारिपुत्त एवं मौद्गलायन आदि प्रारम्भमे पार्श्वकी परम्पराके ही साधु थे, ये बुद्धकीर्ति स्वयं गौतम बुद्ध थे अथवा उनके कोई जैन गुरु, यह कहना कठिन है।

महाभारतोत्तर कालका श्रमण पुनरुद्धार आन्दोलन अपने चरमोत्कर्षको छठी शताब्दी ई० पू० में पहुँचा और इस समय उसके सर्वप्रमुख नेता २४ वें तीर्थङ्कर निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र वर्धमान महावीर थे। महावीरयुग धार्मिक जगत्‌मे एक अद्भुत क्रान्ति, तत्त्वचिन्तन एवं दार्शनिक विचार बाहुल्यका युग था। भारतवर्षमें ही नहीं समस्त सभ्य संसारमें ज्ञान जागृति एवं नवचेतनाकी लहर व्याप्त थी। चीनमें कनफ़ूशस और लाओत्से, ईरानमें जरथुस्त, यूनानमे पैथेगोरस, फिलस्तीनमें मूसा इत्यादि अनेक प्रख्यात विचारक, दार्शनिक एवं धर्मप्रवर्तक तत्कालीन सभ्य जगत्‌के विभिन्न भागोंमें अपने-अपने धर्म एवं विचारोंका प्रचार कर रहे थे और अज्ञानी जनसाधारणको ज्ञान दान कर रहे थे। इन सबके उपदेशकी एक सामान्य विशेषता यह थी कि मानवके महत्त्व और सदाचारपर अधिक बल दिया जाता था जो कि श्रमण संस्कृतिकी जन्मजात विशेषताएँ थीं। स्वयं भारतवर्षमें श्वेतकेतु, उद्दालक, याज्ञवल्क्य आदि पूर्वी ब्राह्मण ऋषि एवं क्षत्रिय विद्वान् औपनिषदिक अध्यात्मवादका प्रचार कर रहे थे। पश्चिमी क्रियाकाण्डी ऋषि गृह्य, श्रौत एवं धर्म भेदोंसे सूत्र साहित्यकी रचना कर रहे थे। वेदोंपर निर्युक्त आदि टीकाएँ भी रची जा रही थीं।

साथ ही कपिल, कणाद, गौतम, जैमिनी आदि ऋषि सांख्य, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, योग आदि षड्दर्शनोंका विकास कर रहे थे। षड्वेदांगों-को भी व्यवस्थित रूप दिया जा रहा था और उनके अन्तर्गत तर्क, छन्द, व्याकरण, अलङ्कार, ज्योतिष आदि तथा उपांगके रूपमें आयुर्वेद प्रभृति लौकिक विद्याओंका सृजन भी प्रारभ हो रहा था। वानप्रस्थ आश्रम एवं प्रव्रज्याका तथा विद्याभ्यास, साहित्य साधना, तपश्चर्या एवं तत्त्वचिन्तनका जोर वेदानुयायी समाजमें भी बढ़ रहा था। दूसरी ओर श्रमण परम्परामें यह लोकश्रुति जोरोंपर थी कि इस कालमे अन्तिम तीर्थङ्करके रूपमें एक महापुरुप जन्म लेगा। अतएव उक्त परम्पराके अनेक विचारक एवं सुधारक अपने-आपको तीर्थङ्कर घोषित करके अपने-अपने मन्तव्योंका प्रचार करने लगे। मक्खलिगोशाल, पूरण कश्यप, पकुध कात्यायन, अजित केशकम्बलिन, संजय वेलट्टिपुत्त, शाक्यमुनि गौतमबुद्ध, निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर इत्यादि अनेक व्यक्तियोंने यह दावा किया। बौद्ध अनुश्रुतिमें उपरोक्त (बुद्धके अतिरिक्त) छः तत्कालीन तीर्थकोंका उल्लेख है। जैन अनुश्रुतिमें भी इन विभिन्न एकान्तिक विचारकोंका उल्लेख है। उससे तो यह भी पता चलता है कि उस कालमें छोटे-बड़े मिलाकर कुल ३६३ 'पाषंड' या धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हो रहे थे जिनमें उपर्युल्लिखित ब्राह्मण एवं श्रमण विचारक और उनके मन्तव्य प्रमुख थे। सदाचारकी इस प्रबल लहरकी प्रतिक्रियाके रूपमे उच्छृङ्खल एवं नास्तिक चार्वाक मत जैसे वाम मार्गका प्रचार भी प्रायः उसी कालमें हुआ जो अनेक तथा अधिक विकृत रूपों एवं गुप्त सम्प्रदायोंके रूपमें चिरकाल तक बना रहा। गोशालका आजीविक सम्प्रदाय भी मध्यकालके प्रारम्भके कुछ पूर्व तक चलता रहा। ब्राह्मण परम्पराके षड्दर्शन, वैदिक एवं उपनिषदिक अन्य विचारधाराएँ भी स्वतत्र सम्प्रदायोंका रूप न ले सकीं, किन्तु उन सबके समन्वयसे तथा श्रमण विचारों एवं मान्यताओंको भी आंशिक रूपसे आत्म-सात् करते हुए कालान्तरमें एक ऐसे सामान्य हिन्दू धर्मका उदय एवं विकास

हुआ जो अपनी अनेकविध, बहुधा परस्पर विरोधी मान्यताओं, विश्वासों, विचारों, प्रथाओं एवं उपरूपों आदिके कारण लोकप्रिय एवं व्यापक होता चला गया, यहाँ तक कि भारतवासियोंके बहुभागका वह अन्ततः प्रधान धर्म बन गया।

तत्कालीन धर्मोमें विशेष उल्लेखनीय गौतम बुद्ध द्वारा संस्थापित एवं प्रचारित बौद्ध धर्म है। श्रमणोंके अनुयायी कपिलवस्तुके शाक्यवंशी व्रात्योंमें उत्पन्न राजा शुद्धोदनके पुत्र सिद्धार्थ गौतम ऐसी महान् विभूति थे कि जिनकी छाप संसारपर गहरी पड़ी। बाल्यावस्थासे ही उनका हृदय संसारके दुःखसे द्रवीभूत था। घरवालोंके आग्रहसे उन्होंने यशोधरा नामक एक सुन्दरीके साथ विवाह भी किया और उनके राहुल नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। किन्तु अन्ततः स्त्री, पुत्र, राज-पाट आदिका मोह उन्हें बाँधकर न रख सका और एक रात्रिको वे घरबारका त्याग करके सत्यकी खोजमें चल दिये। श्रमण परम्परामें उनका जन्म हुआ था, किन्तु उसमें भी उस समय जैनधर्मके अतिरिक्त अन्य अनेक विभिन्न विचार-धाराएँ एवं उपसम्प्रदाय प्रचलित हो रहे थे। राजकुमार गौतमने एकके बाद एक कई मार्गोंका प्रयोग रूपमें अवलम्बन किया। कुछ दिन वे पार्श्वकी आम्नायके एक जैन साधुके भी शिष्य रहे और स्वयं मज्झिम निकाय आदि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंसे स्पष्ट है कि उन्होंने जैनाचार एवं तपश्चरण-का अभ्यास किया था। ब्राह्मण परम्पराके भी कई प्रकारके साधुओंका संसर्ग एवं अनुसरण किया। किन्तु किसीसे भी उनकी सन्तुष्टि न हुई। कोई मार्ग उन्हें कठिन जँचा तो कोई अति सरल अथवा ध्येयके प्रतिकूल। अन्तमें गया नगरके बाहर एक पीपलके वृक्षके नीचे बैठे हुए उन्हें बोधिप्राप्त हुई और उन्होंने अपने-आपको बुद्ध घोषित कर दिया। वे तथागत, शाक्यमुनि आदि नामोंसे भी प्रसिद्ध हुए। अपने द्वारा खोज निकाले गये इस मार्गको उन्होंने अष्टाङ्गिक मार्ग या मध्यम मार्गका नाम दिया। दार्शनिक एवं तात्त्विक उलझनोंमें उन्होंने उलझना नहीं चाहा। जो

उन्हें उचित जँचा ऐसे सदाचारके उपदेश द्वारा उन्होंने संसारी मनुष्योंके दुःख निवारणका उपदेश दिया। बोधि प्राप्त होनेके उपरान्त उन्होंने सारिपुत्र, मौद्गलायन, आनन्द आदि कुछ व्यक्तियोंको अपना शिष्य और साथी बनाया। बनारसके निकट सारनाथ (ऋषिपत्तन) के मृगदावमें उन्होंने पहिले-पहल अपना उपदेश दिया। कुछ तत्कालीन राजाओंने भी उन्हें आश्रय दिया।

उनकी मृत्युके उपरान्त उनके भिक्षुसंघमें मतभेद उत्पन्न हुए। उनके मौखिक उपदेशका शिष्योंने त्रिपिटकोंके रूपमें वर्गीकरण भी किया। उनके कुछ उत्साही शिष्य उनके धर्मका प्रचार दृढ़ता एवं कुशलताके साथ करते रहे। फिर भी सम्राट् अशोकके समय तक बुद्ध धर्मकी स्थिति डाँवाडोल ही रही। अशोकने बुद्ध धर्म अंगीकार किया या नहीं, इसमें मतभेद है, किन्तु कालान्तरकी विदेशी बौद्ध अनुश्रुति उसे बौद्धधर्मका सर्व महान् संरक्षक घोषित करती है। कमसे कम इस बातमें कोई सन्देह नहीं कि अशोकके शासन कालमें ही बौद्ध संघका पाटलिपुत्रमें जो सम्मेलन हुआ उसीमें यह निर्णय किया गया कि बौद्ध धर्मके रक्षार्थ एवं प्रचारार्थ बौद्ध भिक्षुओंको विदेशोंमें भी जाना चाहिए। अस्तु, अनेक बौद्ध प्रचारक तिब्बत, बर्मा, सिंहल तथा मध्य एशिया आदिकी ओर बिना किसी बाधा और कष्टकी परवा किये चले गये और उन्होंने वहाँ बौद्ध धर्मका प्रचार किया। चीन और तदनन्तर जापानमें भी थोड़े समय पश्चात् वे पहुँच गये। स्वयं भारतमें आनेवाले यूनानी, शक, पह्लव, कुशाण, हूण आदि विदेशी राजाओंमेंसे भी अनेकने इस धर्मको प्रोत्साहन दिया। भारतीय यवन मिनेन्डर और कुषाण सम्राट् कनिष्कका नाम बौद्ध धर्मके प्रसिद्ध समर्थकोंमें लिया जाता है। बादके भारतीय नरेशोंमें हर्षवर्धन और बंगालके पालवंशी नरेश बौद्ध धर्मके अनुयायी एवं प्रबल पोषक थे। किन्तु हर्ष (७ वीं शताब्दी) के उपरान्त ही बौद्धधर्म भारतवर्षसे द्रुत वेगके साथ तिरोहित होने लगा और ११–१२ वीं शताब्दी तक इस

देशमें उसका प्रायः नाम शेष हो गया। किन्तु साथ ही चीन, जापान, बर्मा, लंका, हिन्द एशिया, पूर्वी द्वीपसमूह आदि अनेक विदेशोंमें यह धर्म शनैःशनैः लोक धर्म हो गया। आज संसारकी जनसंख्याका सबसे बड़ा भाग इसी धर्मका अनुयायी है और इसी कारण महात्मा बुद्धकी गणना संसारके सर्वकालीन प्रमुख महापुरुषों एवं धर्म-प्रवर्तकोंमें की जाती है। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि मूल बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ अर्थात् पाली त्रिपिटकोंका संग्रह, संकलन और लिपिबद्धीकरण भारतमें न होकर सर्व-प्रथम लंका और फिर बर्मा आदि भारतेतर देशोंमें ही हुआ। स्वयं भारतमें बुद्ध एवं बौद्धधर्मके इतिहास सम्बन्धी जो अनुश्रुतियाँ हैं वे भी विदेशी द्वारोंसे ही प्राप्त होती हैं। बुद्धकी तिथिका निर्णय करनेके लिए भी हमारे पास कोई भी भारतीय साधन नहीं है; उसके लिए हमें सिंहली, तिब्बती, बर्मी और चीनी (कैन्टोनी) अनुश्रुतियोंपर ही निर्भर होना पड़ता है और उन सबमें परस्पर बहुत मतभेद है। अतः आधुनिक विद्वानोंमें भी तत्संबंधी बहुत मतभेद रहे हैं। बुद्ध निर्वाणकी तिथिके लिए आधुनिकतम बहुमान्य मत सन् ई० पू० ४८३ के पक्षमें है। बुद्धकी आयु ८० वर्षकी थी अतः उनका जन्म ई० पू० ५६३ में माना जाता है। लगभग ३० वर्षकी आयुमें उन्होंने घर छोड़ा था, उसके लगभग ६ वर्ष बाद उन्हें बोधि प्राप्त हुई और जीवनके शेष ४४ वर्ष उन्होंने धर्म प्रचारमें बिताये।

इस युगके महापुरुषोंमें सर्वाधिक उल्लेखनीय स्थान बुद्धके ज्येष्ठ समकालीन वर्धमान महावीरका था। स्वयं बुद्ध उनके तेजसे प्रभावित थे और उनका समादर करते थे। श्रमण परम्परामें जिस अन्तिम तीर्थङ्करके होनेकी भविष्यवाणी थी वह वर्धमान महावीर ही थे। ऋषभादि पार्श्वनाथ पर्यन्त जो श्रमण परम्पराके २३ तीर्थङ्कर अतीतकालमें हो चुके थे उन्हींकी परम्परामें उसी धर्मका पुनः उद्धार, प्रचार एवं संस्कार करनेके लिए अन्तिम तीर्थङ्करके रूपमें महावीरका जन्म हुआ था। यह बात उस

समय कुछ कालके लिए भले ही कुछ विवादग्रस्त रही हो किन्तु महावीर द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तनके उपरान्त उसमे किसीको कोई सन्देह नहीं रहा। उन्होंने न किसी नवीन धर्मका प्रचार करनेका दावा किया, न कोई नवीन मार्ग खोज निकाला, उन्होंने न किसी देवी-देवता या दैवी अथवा गुप्त शक्तिका आश्रय लिया और न किसी राजा-महाराजाकी सहायता चाही। उनकी जो सबसे बड़ी विशेषता थी वह यह थी कि उन्होंने एक सामान्य मनुष्यके रूपमें जन्म लिया। एक सामान्य संसारी मनुष्यके रूपमें बाल्यावस्था एवं कुमारकाल व्यतीत किये। और स्व पुरुषार्थ द्वारा उन्होंने अपनी आत्माको उन्नतिके चरम शिखरपर पहुँचा दिया। आत्म-कल्याणके चिर-प्रचलित एवं तीर्थङ्करों-द्वारा प्रणीत मार्गका उन्होंने अपने जीवनमें शुद्धतम एवं श्रेष्ठतम रूपमें अवलम्बन करके उसका औचित्य चरितार्थ किया था और लोक-कल्याणार्थ उसका उपदेश दिया था। यही महावीरकी सबसे बड़ी विशेषता थी और इसीके कारण विश्वके महापुरुषोंके उस महायुगमें भी वे अपना विशिष्ट स्थान रखते थे। और आज भी न केवल वे जैनधर्मके इतिहासके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं वरन् प्राचीन भारतके इतिहासमें तथा विश्वके धर्मोके इतिहासमें भी उनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्मका तो जो कुछ वर्तमान रूप है तथा उसके गत ढाई सहस्र वर्षोंका जो कुछ इतिहास एवं संस्कृति है, उस सबका सर्वाधिक श्रेय अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरको ही है।

चैत्र शुक्ल १३ (३० मार्च सन् ईस्वी पूर्व ५९९) के दिन प्राचीन भारतके व्रात्य क्षत्रियोंके प्रसिद्ध वज्जिसंघ नामक गणतन्त्रके अन्तर्गत कुण्डग्राम (क्षत्रिय कुण्ड) के ज्ञातृक वंशी काश्यप गोत्री क्षत्रिय नेता सिद्धार्थकी पत्नी त्रिशला देवीने वर्धमान महावीरको जन्म दिया था। यह कुण्डग्राम उक्त वज्जिसंघकी प्रधान राजधानी वैशाली (जिसकी पहचान बिहार प्रदेशमें मुजफ्फरपुर जिलेके बसाढ़ नामक स्थानसे की गई है) के निकट स्थित था। उक्त संघके अधिपति वैशालीके लिच्छवि राजा

चेटक महावीरके नाना★ थे। पितृकुलकी अपेक्षासे महावीर ज्ञातृक पुत्र अथवा नातपुत्त और काश्यप भी कहलाते थे जबकि मातृकुलकी अपेक्षासे वे लिच्छविक एवं वैशालिय कहलाये। इनकी माता त्रिशला अपरनाम प्रियकारिणी, विदेहदत्ता भी कहलाती थीं इस कारण ये विदेह या विदेहदिन्न भी कहलाये। वीर, अतिवीर, सन्मतिवीर, महावीर, वर्धमान आदि भिन्न-भिन्न नाम या उपाधियाँ इन्हें समय-समयपर भिन्न-भिन्न कारणोंसे प्राप्त हुईं। महाराज चेटकके दस पुत्र थे जिनमेंसे ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जिगणके प्रसिद्ध प्रधान सेनापति थे। महाराज चेटककी शेष सात पुत्रियोंमेंसे चेलना मगधनरेश श्रेणिक बिम्बसारके साथ विवाही थी, दूसरी कौशाम्बीनरेश शतानीकके साथ, तीसरी दशार्ण देशके राजा दशरथके साथ, चौथी सिंधुसौवीरके महाराज उदयनके साथ और पाँचवीं अवन्ती नरेश चण्डप्रद्योतके साथ विवाही थी। अन्य दो, ज्येष्ठा और चन्दना बाल-ब्रह्मचारिणी कुमारी रहीं और महावीरके उपदेशसे आर्यिका बनीं। चेटकका समस्त परिवार महावीरका भक्त था। उसके विभिन्न जामाता भी जो अपने समयके प्रसिद्ध नरेश थे महावीरके भक्त रहे। उनके अतिरिक्त चम्पाके राजा दधिवाहन, कलिंग नरेश जितशत्रु जो महावीरके फूफा भी थे, श्रावस्ती नरेश प्रसेनजित्, मथुराके राजा उदितोदय, हेमाङ्गदनरेश जीवंधर, पोदनपुर नरेश विद्रदाज, पलाशपुरके राजा विजयसेन, पांचाल-नरेश जय तथा हस्तिनापुरका राजा इत्यादि अनेक तत्कालीन राजे-महराजे महावीरके उपदेशसे प्रभावित हुए बताये जाते हैं।

कलिंगनरेश जितशत्रुकी कन्या यशोदाके साथ महावीरके विवाहकी बात चली थी किन्तु उनका चित्त प्रारम्भसे ही संसार-देह-भोगोंसे विरक्त था और लोकका कल्याण करनेकी उनकी उत्कट भावना थी। अतएव घर-

---

★ एक अन्य अनुश्रुतिके अनुसार चेटक महावीरके मामा थे।

वालोंके आग्रहको उन्होंने अमान्य किया और तीस वर्षकी आयुमें मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी (११ नवम्बर सन् ई० पू० ५७०) के दिन इस बाल-ब्रह्मचारी राजकुमारने समस्त सांसारिक वैभवको लात मार वनकी राह ली। बारह वर्ष पर्यन्त उन्होंने दुर्द्धर तपश्चरण किया और इस प्रकार अपनी आत्माको सर्व प्रकारकी कर्म-कालिमासे शुद्ध एवं पवित्र बना लिया। इस बीचमें न उन्होंने उपदेश दिया और न शिष्य बनाये। अनेक उपसर्ग एवं परीषह सहन किये और अन्तमें बयालीस वर्षकी आयुमें वैशाख शुक्ला दशमी (२६ अप्रैल सन् ई० पू० ५४७) के दिन बिहार प्रान्तके जृम्भक ग्रामके बाहर ऋजुकूला नदीके तटपर एक शालवृक्षके नीचे ध्यानस्थ बैठे हुए महावीरको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई—और वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हत् परमात्मा हो गये। वहाँसे चलकर वे राजगृही अपरनाम पञ्चशैलपुरके बाहर स्थित विपुलाचल पर्वतपर पहुँचे और उसी वर्षकी श्रावण कृष्ण प्रतिपदाके दिन प्रातःकाल उक्त पर्वतपर उनकी समवशरण सभा जुड़ी और उनका सर्वप्रथम उपदेश सर्वग्राह्य अर्ध-मागधी नामक लोकभाषामें हुआ, यही उनका धर्मचक्रप्रवर्तन था। मगध सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक उनका सर्वप्रमुख श्रोता था। इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त, सुधर्म, मण्डिकपुत्र, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल, मैत्रेय और कौण्डिन्यगोत्री प्रभास उनके ग्यारह गणधर या प्रधान शिष्य थे जिनकी अध्यक्षतामें अनेक श्रमण मुनियोंके गण या संघ संगठित हुए। महासती चन्दना उनके आर्यिका संघकी अध्यक्षा थीं और मगधकी साम्राज्ञी चेलना श्राविका संघकी नेत्री थीं। इस प्रकार मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध संघके रूपमें सुव्यवस्थित जनसमुदायको बिना किसी वर्ण, वर्ग, जाति, लिंग आदिके भेदभावके महावीरने अपना उपदेश दिया। तीस वर्ष पर्यन्त विभिन्न देश-विदेशोंमें विहार करके लोकको मुक्तिका मार्ग दिखाया। पूर्वोक्त सभी प्रसिद्ध राज्यों और उनकी राजधानियोंमें उनका विहार हुआ और तत्कालीन प्रसिद्ध राजा-महाराजाओंमेंसे अधि-

कांश उनके उपदेशसे प्रभावित हुए। उनमेंसे अनेकोंने जैन मुनि बनकर आत्मसाधन किया। उनके उपदेशोंका सार गौतमादि गणधरोंने द्वादशांग श्रुतके रूपमें गूँथा और वही विपुल जैन धार्मिक साहित्यका मूलाधार बना। अन्तमें कार्तिक कृष्ण अमावस्या मंगलवार, १५ अक्तूबर ई० पू० ५२७ या विक्रमपूर्व ४७० तथा शकपूर्व ६०५, के प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व मध्यम पावाके कमल-सरोवरके मध्य स्थित द्वीपाकार स्थल प्रदेशसे भ० महावीरने निर्वाण लाभ किया। पावाका तत्कालीन राजा मल्लवंशी व्रात्यक्षत्री हस्तिपाल था। कहा जाता है कि उस समय अनेक स्त्री-पुरुषों और राजा-महाराजाओंने जिनमें नौ मल्ल एवं नौ लिच्छवि नरेश प्रमुख थे, भगवान्‌का निर्वाणोत्सव मनाया और रात्रिको दीपोत्सव किया। तभीसे दीपावलीके त्यौहारकी लोकमें प्रवृत्ति हुई बताई जाती है। महावीरके प्रधान शिष्य गौतमगणेशकी उसी समय केवलज्ञान लक्ष्मीकी उपलब्धि हुई, अतः इसी उपलक्षमें गणेश एवं लक्ष्मीके पूजनका इस पर्वपर प्रचलन हुआ कहा जाता है। लोकमें महावीर निर्वाण संवत्‌की प्रवृत्ति इसी समयसे हुई। भगवान् महावीरका विशिष्ट लांछन सिंह था। एक अन्य मंगल प्रतीक उनके ही नामसे वर्धमानक्य कहलाया।

महावीरके जीवनकालमें ही उनके लगभग पाँच लाख भक्त अनुयायी हो गये थे जो उनके द्वारा सुव्यवस्थित चतुर्विध संघके सदस्य थे। मुनिसंघ ग्यारह गणधरोंकी अध्यक्षतामें नौ गणों या वृन्दोंमे विभक्त था। श्रावक-श्राविकाओंमें सभी वर्गों एवं जातियोंके स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे। भारतवर्षके प्रायः प्रत्येक भागमें महावीरके अनुयायी थे, भारतके बाहर भी गान्धार, कपिशा, पारसीक आदि देशोंमें उनके भक्त थे। इनके अतिरिक्त अनेक व्यक्ति पार्श्व आदि पूर्व तीर्थङ्करोंके ही उपासक बने रहे।

महावीरके उपदेशोंका सार अहिंसावाद, कर्मवाद, साम्यवाद एवं स्याद्वाद रूप चतुष्टय धर्म था। अहिंसा तत्त्वको जितना अधिक विशद, स्पष्ट, ऊँचा एवं व्यापक रूप, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही

दृष्टियोंसे महावीरने दिया उतना संभवतया अन्य किसी धर्मोपदेष्टाने नहीं दिया। जैन धर्मको उसका अन्तिम विकसित रूप देनेका श्रेय अन्तिम तीर्थङ्कर महावीरको ही है।

महावीरके निर्वाणोपरान्त जैन संघका नायकत्व उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतमको प्राप्त हुआ। महावीरका शिष्य होनेके पूर्व वह एक महान् वेदशास्त्रज्ञ प्रकाण्ड ब्राह्मण पण्डित थे। महावीरके उपदेशोंको श्रृंखला-बद्ध, व्यवस्थित एवं वर्गीकृत रूपमें संकलित करनेका श्रेय इन्हींको है। ये बौद्धधर्म प्रवर्तक गौतम बुद्ध एवं न्यायसूत्रकार अक्षयपाद गौतमके समसामयिक होते हुए भी उन दोनोंसे भिन्न व्यक्ति हैं। ये भी अर्हत केवली थे और महावीर संवत् १२ (ई०पू० ५१५) में निर्वाणको प्राप्त हुए। इनके पश्चात् सुधर्माचार्य संघनायक हुए। यह भी अर्हत केवली थे और म० सं० २४ (ई० पू० ५०३) में निर्वाणको प्राप्त हुए। तत्पश्चात जम्बू स्वामी जैनसंघके नायक हुए। ये चम्पाके एक कोट्याधीश श्रेष्ठिके पुत्र थे और महावीरके प्रभावसे उनके शिष्य हो गये थे। जैन मुनिके रूपमें मथुरानगरके चौरासी नामक स्थानपर इन्होंने तपश्चरण किया था। म० सं० ६२ (ई० पू० ४६५) में जम्बू स्वामीको मोक्ष हुआ। एक अनुश्रुतिके अनुसार मथुराके चौरासी क्षेत्रसे ही इनका निर्वाण हुआ किन्तु एक अन्य मान्यताके अनुसार राजगृहीके विपुलाचल से ये मुक्त हुए थे। महावीरकी शिष्य-परम्परामें जम्बू स्वामी अन्तिम केवली थे। मथुरा और शूरसेन देशमें इनके द्वारा जैन धर्मका अत्यधिक प्रचार हुआ। इनके पश्चात् विष्णुकुमार, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहुने क्रमशः संघका नेतृत्व किया। ये पाँचों ही श्रुतकेवलि थे अर्थात् इन्हें संपूर्ण श्रुतका यथावत् ज्ञान था। इनमेंसे अंतिम श्रुतकेवलि भद्रबाहुकी मृत्यु म० सं० १६२ (ई० पू० ३६५) मे हुई। जैनधर्मके इतिहासमें इन आचार्यका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके समयतक जैन संघ अखण्ड अविभक्त रहा था, किन्तु इनकी मृत्युके उपरान्त उसके

साधुओंमें मतभेद, संघभेद, देशभेद, आचारभेद आदि उत्पन्न होने शुरू हो गये। महावीर द्वारा उपदेशित अंग-पूर्वोंका जो पूर्णज्ञान उनके समयतक अविच्छिन्न था वह भी धीरे-धीरे विच्छिन्न होने लगा। यह ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परामें मौखिक द्वारसे चलता आया था और उसी प्रकार उनके कई सौ वर्ष बाद तक चलता रहा। यह भी एक कारण था कि उसका शनैः शनैः अधिकाधिक ह्रास होता गया। उपरोक्त मतभेदादिका एक सबसे बड़ा बाह्य निमित्त मध्य देशको ग्रसने वाला वह द्वादशवर्षीय महादुर्भिक्ष था जिसकी अपने ज्ञान द्वारा पूर्व सूचना पाकर आचार्य भद्रबाहु अपने सहस्रों शिष्योंके साथ दक्षिण देशको विहार कर गये थे। दुर्भिक्षकी उपशान्तिके उपरान्त भी इन साधुओंका मूल एवं बहुभाग दक्षिण देशमें ही स्थायी रूपसे रह गया। जैनधर्म वहाँ पहलेसे ही प्रचलित था और इस मुनिसंघके नव्यागमसे वह और अधिक सप्राण हो उठा। कर्णाटक देशके श्रवणबेलगोल नामक स्थान को अपना प्रधान केन्द्र बनाकर यह दक्षिणीय निर्ग्रन्थ श्रमणसंघ दक्षिण भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें तथा भारतीय महासागरवर्ती द्वीपादिकोंमें जैन धर्मका प्रचार एवं प्रसार करनेमें संलग्न हो गया। इस संघका विकास भी शनैः शनैः देशकालकी परिस्थितियोंके अनुसार चालू हो गया। उधर कितने ही साधु ऐसे भी थे जो दुर्भिक्षके समय मगधमें ही रह गये थे किन्तु दुर्भिक्षके दुर्दिनोंमें वे अपने कठोर नियम संयम आचार-विचारको आगमानुकूल सुरक्षित न रख सके। उनमें नाना प्रकारके शिथिलाचारके बीज वपन होगये। आचार्य स्थूलभद्रने उनका नेतृत्व किया किन्तु वे भी बढ़ते हुए शिथिलाचार एवं ज्ञानके ह्रासको रोकनेमें समर्थ न हो सके। कालान्तरमें इस मागधी शाखाके साधुओंने पाटलिपुत्रका परित्याग करके उज्जैनीको अपना केन्द्र बनाया और तदनन्तर वहाँसे भी और अधिक पश्चिमकी ओर हटकर सौराष्ट्रके वल्लभीपुरको अपना स्थायी केन्द्र बनाया। इसी शाखाके साधु सन् ईस्वीकी प्रथम शताब्दीके अन्तमें श्वेताम्बर

सम्प्रदायके जनक बने। इन दोनों शाखाओंके अतिरिक्त उत्तरापथके विभिन्न भागोंमें और भी अन्य अनेक जैन साधु थे। इनमेंसे अधिकतरने कालान्तरमें मथुरा नगरको अपना प्रमुख केन्द्र बनाया और इनका विकास भी स्वतन्त्र रूपसे हुआ। मथुरा आदिके जैन साधु महावीरोत्तर सहस्राब्दमें कर्णाटकी एवं मागधी या पश्चिमी साधुओंके बीचकी एक महत्त्वपूर्ण कड़ी सिद्ध हुए। इस प्रकार महावीरके निर्वाणके उपरान्त जैनसंघ निरन्तर प्रगति एवं विकासकी ओर अग्रसर होता गया और अनेक कालदोष, विकार एवं भेदादिके उत्पन्न होते रहने पर भी तीर्थङ्करोंके मौलिक सिद्धान्तोंका प्रचार देश-देशान्तरमें बढ़ता गया।

अध्याय ३

प्राचीन युग–द्वितीय पाद

मगध साम्राज्य

हम देख चुके है कि सातवीं शताब्दी ई०पू० के मध्यके लगभग भारतमें सोलह महाजनपद या अठारह राज्य अथवा २५।। आर्य देश रहे बताये जाते हैं। उसी समय मगधमें एक राज्य-क्रान्ति हुई थी और वहाँके अन्तिम बृहद्रथवंशी नरेशको गद्दीसे उतारकर उसके स्थानमें काशीके नागवंशी राजाको मगधके सिंहासन पर बैठाया गया था। इस प्रकार मगधके इस नवीन वंशके अधीन काशी और मगध, ये दो शक्तिशाली राज्य प्रारम्भसे ही संयुक्त हो गये और मगधकी भावी साम्राज्य वृद्धिका बीज वपन हो गया। यहींसे भारतवर्षका व्यवस्थित राजनैतिक इतिहास मिलना प्रारम्भ होता है। मगध साम्राज्यकी उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास ही आनेवाली शताब्दियोंमें इतिहासकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसीके द्वारा ऐतिहासिक कालमें सर्वप्रथम भारतकी साम्राज्यिक एकता प्रतिफलित हुई मिलती है।

डा० काशीप्रसाद जायसवालके अनुसार काशीसे आनेवाला मगधका उपरोक्त प्रथम नरेश शिशुनाक था और इसी कारण मगधका यह ऐतिहासिक राजवंश शिशुनाक वंश कहलाता है। यह राजा उसी वंशमें उत्पन्न हुआ था जिसमे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती एवं तीर्थङ्कर पार्श्वका जन्म हुआ था, अत: मगधके इस व्रात्य क्षत्रिय नागवंशका कुलधर्म प्रारम्भसे ही जैनधर्म रहा प्रतीत होता है। राज्यक्रान्तिके उपरान्त इस वंशके प्रारम्भिक नरेशोंमें सर्वप्रसिद्ध राजा श्रेणिक बिम्बिसार था। हिन्दु पुराणोंमें उसके

पिताका नाम शिशुनाग या शैशुनाक, बौद्धसाहित्यमें भट्टि और जैन अनुश्रुतिमें उपश्रेणिक मिलता है। श्रेणिकके कुमारकालमें ही उसके पिताने किसी कारण कुपित होकर उसे राज्यसे निर्वासित कर दिया था और अपने दूसरे पुत्र चिलातिपुत्रको अपना उत्तराधिकार सौंप दिया था। अपने निर्वासन कालमे श्रेणिकने देश-देशान्तरोंका भ्रमण करके अनुभव प्राप्त किया। इसी कालमें वह कतिपय जैनेतर श्रमण साधुओंके सम्पर्कमें आया और उनका भक्त हो गया तथा जैनधर्मसे विद्वेष भी करने लगा। कुछ अनुश्रुतियोंके अनुसार वह बौद्ध हो गया था किन्तु यह बात असम्भव प्रतीत होती है क्योंकि महावीरके केवलज्ञान प्राप्ति (ई० पू० ५५७) के पूर्व ही वह फिरसे जैनधर्मका अनुयायी बन चुका था और उस समयतक किसी भी मतके अनुसार बुद्धने अपने धर्मका प्रचार प्रारम्भ नहीं किया था। श्रेणिकका भाई चिलातिपुत्र राज्यकार्यसे विरक्त था और उसने दत्त नामक जैन मुनिसे वैभार पर्वतपर मुनि-दीक्षा ले ली। फलस्वरूप सन् ई० पू० ५८७ के लगभग बिम्बिसार श्रेणिक मगधके सिंहासनपर बैठा। उसने राजधानी राजगृहका जिसे गिरिवृज या पञ्चशैलपुर भी कहते थे, पुनः निर्माण किया एवं राज्यका संगठन और शासनकी सुव्यवस्था की। उसके तथा उसके वंशजोंके प्रयत्नसे यह सुन्दर महानगरी मगध साम्राज्यकी ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतवर्षकी प्रधान राजधानी बन गई। उसके सिंहासनारूढ़ होनेके समय मगधका राज्य न विशेष बड़ा था और न बलवान। कोसलराज्य एवं वैशालीके वज्जिसंघकी सीमाएँ इससे सटी हुई थीं। श्रेणिककी महत्त्वाकांक्षाका आभास पाकर वैशाली-नरेश चेटकके नेतृत्वमें कोसल तथा वज्जिसंघकी सेनाओंने मगधपर आक्रमण कर दिया, किन्तु चतुर श्रेणिकने अवसर देखकर सन्धि कर ली। इतना ही नहीं, उसने चेटककी पुत्री चेलना और कोसलकी राजकुमारी कौशलादेवीके साथ विवाह करके उन दोनों शक्तिशाली पड़ोसी राज्योंको स्थायी मैत्रीके सूत्रमें भी बांध लिया। उसने मद्रकी राजकुमारी खेमाके साथ भी विवाह किया।

अनुश्रुतियोंमें उसके और भी कई राजकन्याओं तथा एक ब्राह्मण कन्याके साथ विवाह करनेके उल्लेख हैं, किन्तु यही तीन उसकी प्रमुख रानियाँ थीं और इनमें भी चेटक सुता चेलना ही उसकी पटरानी बनी। विवाह एवं मैत्री सम्बन्धों द्वारा इस प्रकार अपनी स्थितिको सुरक्षित करके श्रेणिकने छोटे-छोटे राज्योंको जीतकर अपना राज्यविस्तार करना आरम्भ कर दिया और अन्तमें अंग जैसे बड़े राज्यको भी जीतकर उसने अपने राज्यमें मिला लिया। कई छोटे-मोटे राज्योंके अतिरिक्त काशी और अंगसे संयुक्त मगध साम्राज्य अब उत्तरी भारतका सबसे अधिक विस्तृत एवं शक्तिशाली राज्य बन गया था। महाराज प्रसेनजित्का कोसल राज्य भी बलवान था और चेटकके अधिनायकत्वमें वैशाली एवं विदेहका संयुक्त वज्जिसंघ और भी अधिक बलशाली था, किन्तु ये दोनों ही श्रेणिकके सम्बन्धी एवं मित्र थे, उसके प्रतिद्वन्दी नहीं, अतएव वे उसकी उन्नतिमें बाधक नहीं हुए। केवल अवन्ति-नरेश चंडप्रद्योत उसका एकमात्र प्रबल प्रतिद्वन्दी था, किन्तु वह दूर था और मगधकी बढ़ती हुई शक्तिको रोकनेका उसमें भी साहस न हुआ। पारस्य (ईरान) के शाहके साथ भी श्रेणिकने राजनैतिक आदान-प्रदान किया प्रतीत होता है। ५२ वर्ष पर्यन्त राज्य करनेके उपरान्त सन् ई० पू० ५३५ में श्रेणिककी मृत्यु हुई।

श्रेणिक केवल एक विजयी एवं प्रतापी नरेश ही नहीं था, वह एक कुशल शासक भी था। जैन साहित्यसे पता चलता है कि उसके राज्यमें न तो किसी प्रकारकी अनीति थी और न किसी प्रकारका भय ही था। प्रजा भले प्रकार सुखानुभव करती थी। देशकी समृद्धिकी ओर भी उसका ध्यान था। विभिन्न व्यवसायों, व्यापारों एवं उद्योगोंका उसको आश्रय एवं संरक्षणसे श्रेणियों एवं निगमोंमें संगठन हुआ, इसी कारण उसे श्रेणिक नाम प्राप्त हुआ बताया जाता है। सर्वप्रकारकी आन्तरिक स्वातन्त्र्य सत्तासे युक्त इन जनतन्त्रात्मक संस्थाओं द्वारा उसने साम्राज्यके उद्योग-धन्धों, व्यवसाय और व्यापारको भारी प्रोत्साहन दिया। ये श्रेणियाँ ही आगे

चलकर वर्तमान जातियोंके रूपमें धीरे-धीरे परिणत हो गईं। सम्राट् श्रेणिक जनपदोंका पालक एवं पिता कहा गया है। वह दयाशील एवं मर्यादाशील था, साथ ही दानवीर एवं निर्माता भी था। राजधानीके पुर्निर्माणके अतिरिक्त सम्मेदशिखर पर्वतपर जैन निषिद्यकाएँ तथा अन्यत्र जिनमन्दिर, स्तूप, चैत्यादि उसने बनवाये बताये जाते हैं। राजगृहके प्राचीन भग्नावशेषोंमें उसके समयकी मूर्त्तियाँ आदि भी मिली बताई जाती हैं। अपनी अग्रमहिषी एवं प्रिय पत्नी चेलनाके प्रभावसे श्रेणिक जैनधर्मका भक्त हो गया था। चेलना स्वयं महावीरकी मौसी (या ममेरी बहिन) थी। महावीरका प्रथम समवशरण श्रेणिककी राजधानीके ही एक महत्त्वपूर्ण भाग, विपुलाचल पर्वतपर जुडा था और वहीं ई० पू० ५५७ की श्रावण कृष्ण प्रतिपदाको उनका सर्वप्रथम धर्मोपदेश हुआ था। महाराज श्रेणिक सपरिवार एवं सपरिकर उक्त समवशरण सभामें उपस्थित हुआ था और वह श्रावकोत्तम तथा महावीरके श्रावक संघका नेता बना था। कहा जाता है कि श्रेणिकने भगवान्से एक-एक करके साठ हजार प्रश्न किये थे और उन्होंने उन सबका समाधान किया था। इन प्रश्नोंके उत्तरोंके आधारपर ही विपुल जैन साहित्यकी रचना हुई। उसकी साम्राज्ञी चेलना श्राविका संघकी नेत्री हुई। उसने अपनी समस्त सपत्नियों सहित महासती चन्दना आर्याके निकट धर्मका अध्ययन किया बताया जाता है। श्रेणिकके अभयकुमार, मेघकुमार, वारिषेण, कुणिक आदि कई पुत्र थे। इन सबमें अभयकुमार जेठे थे। यह अत्यन्त मेधावी, राजनीति निपुण एवं धर्मात्मा थे। श्रेणिकके जीवन कालमें ही वह अपने कई भाइयोंके साथ जैन मुनि हो गये थे। अतएव श्रेणिकने कुणिक अपरनाम अजातशत्रुको जो कि महारानी चेलनासे उत्पन्न हुआ था, राजपाट सौंपकर एकान्तमें धर्मध्यानपूर्वक शेष जीवन बितानेका निश्चय किया। राज्याधिकार पानेपर कुणिकने देवदत्तके बहकानेसे अपने पिता श्रेणिकको बन्दीगृहमें डाल दिया। किन्तु माताके भर्त्सना करनेपर उसे

पश्चात्ताप हुआ और वह पितासे क्षमा माँगने और उसे बन्धन मुक्त करनेके लिये गया। श्रेणिक उससे अत्यधिक स्नेह करता था, किन्तु उसे इस प्रकार आता देखकर वह यह समझा कि वह उसे मारनेके लिए आया है। अतः बन्दीगृहकी दीवारोंसे सिर फोड़कर श्रेणिकने आत्महत्या कर ली। इस प्रकार इस महान् प्रतापी एवं धर्मात्मा नरेश तथा मगधके प्रथम ऐतिहासिक सम्राट्का दुःखान्त हुआ। शाक्यपुत्र सिद्धार्थ गौतम भी जब गृहत्याग करके सर्वप्रथम राजगृह आये तो श्रेणिकने स्नेहपूर्वक उन्हें तप मार्गसे विरत करनेका प्रयत्न किया था।

अजातशत्रु कुणिक—अपने पिताके जीवनकालमें ही (ई० पू० ५३५ में) मगधके सिंहासनपर आसीन हो गया था। उसके पूर्व आठ वर्ष से वह अंगदेशकी राजधानी चम्पाका शासक रहता आया था। ३२ वर्ष राज्य करनेके उपरान्त ई० पू० ५०३ में अजातशत्रुकी मृत्यु हुई। यह एक महान् प्रतापी शासक था और शैशुनाक अथवा बिम्बिसारका वंश उसके शासनकालमें अपनी उन्नतिके चरमशिखरपर पहुँच गया था। इसने छल-बल-कौशलसे अपने राज्यका अत्यधिक विस्तार किया। कौशल और बज्जिसंघकी संयुक्त शक्ति ही मगधके लिए सबसे बड़े भयका कारण थी और उसकी उन्नतिमें प्रधान बाधक थी अतएव अजातशत्रुने बल और युक्तिसे उन दोनों राज्योंकी शक्तिको छिन्न-भिन्न करनेका निश्चय किया। कोसलकी राजधानी इस समय श्रावस्ती थी और इसका इक्ष्वाकुवंशी नरेश प्रसेनजित् अपने समयका महाप्रतापी एवं प्रसिद्ध शासक था। तक्षशिला विश्वविद्यालयमें उसने शिक्षा पाई थी अतः वह स्वयं विद्वान् था और विद्वानोंका आदर करता था। पार्श्वपरम्पराके जैन मुनि आचार्य केशी उसके गुरु थे। वैद्य जीवक तथा वैयाकरण पाणिनि इसी समय हुए बताये जाते हैं। प्रसेनजित् महावीरका भक्त था और महात्मा बुद्धका भी अत्यधिक आदर करता था। बिम्बिसार और चेटकका वह मित्र था, किन्तु अब उसकी वृद्धावस्था थी और उसके पुत्र अयोग्य थे। उसके पुत्र युवराज विडुडभने

पिताकी इच्छाके विरुद्ध स्वयं गौतमबुद्धके जीवनकालमें ही उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तुपर भयङ्कर आक्रमण करके उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। अजातशत्रुने अवसर देख कोसलपर आक्रमण कर दिया और उसे पराजित करके उसका बहुभाग अपने साम्राज्यमें मिला लिया। अब उसने वैशालीकी ओर ध्यान दिया। लिच्छवि क्षत्रियोंका यह प्रसिद्ध वज्जिसंघ एक आदर्श गणतन्त्र राष्ट्र था। उसका विधि-विधान आजकी जनतन्त्रीय प्रणालीसे बहुत कुछ सादृश्य रखता था। जनता या नागरिकोंके प्रतिनिधि राजा कहलाते थे। इन राजाओंकी संख्या सहस्रों थी और वे वैशालीके संथागारमें बैठकर शुद्ध जनतन्त्रीय पद्धतिसे राजनैतिक तथा अन्य लौकिक एवं धार्मिक विषयों-पर विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद करते थे जिनका निर्णय बहुमत द्वारा होता था। मतदानमें शलाका (बैलट) का भी प्रयोग किया जाता था। उस राष्ट्रकी तथा लिच्छवियों अथवा वज्जियोंके चरित्रकी स्वयं महात्मा बुद्धने प्रशंसा की है और उन्होंने अपने संघके संगठनमें भी लिच्छवियोंकी अनेक विधियोंका अनुकरण किया। बुद्धघोष आदि प्राचीन बौद्धाचार्योंने भी उनके आचार-विचार एवं प्रथाओंके सुन्दर वर्णन किये हैं। महाराज चेटककी अब मृत्यु हो चुकी थी और उसका मित्र कोसल राज्य पराजित हो चुका था। फिर भी वैशालीपर खुले रूपसे आक्रमण करनेका अजातशत्रुको साहस न हुआ। अतः उसने वस्सकार नामक एक धूर्त ब्राह्मणको वैशाली भेजा। वहाँ उसने अपने छल कौशल एवं विश्वासघात द्वारा वज्जिसंघकी एकता एवं शक्तिको निर्बल कर दिया और अजातशत्रुको वैशाली विजय करनेका सुअवसर प्रदान किया। कई एक छोटे-मोटे राज्य भी उसने जीतकर अपने साम्राज्यमें और मिलाये और इस प्रकार अवन्ति नरेश पालकको जिसने कि कौशाम्बी नरेश उदयनके वत्सराज्यको विजय करके अपनी शक्ति और अधिक बढ़ा ली थी, छोड़कर सम्पूर्ण भारतमें मगध साम्राज्यका कोई प्रबल प्रतिद्वन्दी नहीं रह गया था। अजातशत्रुने पारस्य देशके अखमानीवंशी शाहोंसे भी राजनैतिक आदान-प्रदान किया। ईरानी सम्राट् कुरुष

(ई० पू० ५५८–५३०) बिम्बिसारका समकालीन था। उसका एक पुत्र आर्द्रकुमार राजकुमार अभयका मित्र था और उसके निमन्त्रणपर मगधमें आकर महावीरका शिष्य हो गया था। कुरुषके बाद उसका पौत्र दारा प्रथम (ई० पू० ५२२–४८६) ईरानका सम्राट् हुआ। उसके परसोपोलिस शिलालेख तथा नक्शेरुस्तममें प्राप्त उसके समाधिलेखसे ज्ञात होता है कि ई० पू० ५२०–५१८ में उसने भारतके उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेशको तथा सिन्धुघाटीके कुछ भागको अपने राज्यमें मिला लिया था। उसके उत्तराधिकारी खर्षयार्श (ई० पू० ४८६–४६५) ने जब यूनानपर आक्रमण किया था तो उसकी सेनामें एक भारतीय सैन्य विभाग भी था। यूनानी इतिहासकार हेरोदोतस भी भारतके एक भागको दाराकी बीसवी क्षत्रपी लिखता है। यूनानी यात्री स्काईलेक्स (ई० पू० ५१७) ने भी यह उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि श्रेणिक और कुणिकके शासनकालोंमें भारतसे ईरानके सम्पर्क रहे थे और उसी द्वारसे भारतकी श्रमण विचार-धाराएँ मध्यएशिया होती हुई यूनान तक पहुँची थीं। अजातशत्रुके साम्राज्यकी सीमाओंसे सिन्धुघाटी बहुत दूर थी, यही कारण है कि ईरानियोंको उसका कुछ भाग हस्तगत कर लेनेमें कोई बाधा नहीं हुई। मगधके साथ उन्होंने आदरपूर्ण मैत्री सम्बन्ध ही बनाये रक्खे। अजातशत्रु शासन कार्यमें भी अति निपुण था। अपनी शक्तिको सुदृढ़ करनेके लिए उसने गंगा और सोनके संगमपर एक सुदृढ़ विशाल दुर्ग बनाया जहाँ बादमें पाटलिपुत्र नगर बसा। यह स्थान अजातशत्रुकी छावनी (स्कंधावार) थी। साम्राज्यके उद्योग व्यवसाय एवं व्यापार और समृद्धिकी ओर अपने पिताकी भाँति ही उसने भी ध्यान दिया और उसीकी नीतिको अपनाया। कुणिक अजातशत्रु महावीरका भक्त था और अपने कुल-धर्म जैन धर्मका ही अनुयायी था। कैम्ब्रिज हिस्ट्रीके मतानुसार उसने जैन श्रावकके व्रत धारण किये थे। वह बुद्धका भी आदर करता था किन्तु उनका अनुयायी नहीं हुआ प्रतीत होता। बौद्ध साहित्यमें उसकी बड़ी निन्दा की गई है और उसे पितृहन्ता

कहा गया है। किन्तु जैन अनुश्रुतिमें उसकी प्रशंसा मिलती है। उसने मूर्ति-निर्माण कलाको भी प्रोत्साहन दिया। महावीर आदि तीर्थङ्करोंकी मूर्तियोंके अतिरिक्त स्वयं अपनी मूर्तियाँ भी उसने बनवाई प्रतीत होती हैं। परखम नामक स्थानसे मिली एक राजाकी मूर्तिको डा० काशीप्रसाद जायसवालने स्वयं अजातशत्रुकी मूर्तिके रूपमें चीन्हा है और उनके मता-नुसार वह उसीके कालमें निर्मित हुई प्रतीत होती है। अजातशत्रुने कई अभूतपूर्व युद्ध-यंत्रोंका भी आविष्कार किया था।

अजातशत्रुके पश्चात् ई० पू० ५०३ में उसका पुत्र उदयिन, उदयी, अजउदयी अथवा उदयीभट मगधके सिंहासनपर बैठा और विभिन्न मतोंके अनुसार उसने १६, २४, २५ या ३५ वर्ष राज्य किया। वह भी राज्य प्राप्त करनेके पूर्व अपने पिता कुणिककी भाँति अंगदेशका शासक रहा था। जैन साहित्यमें उसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है और वहाँ उसका वर्णन एक महान् जैन नरेशके रूपमें हुआ है। उसने पाटलिपुत्र नगरका जिसे कुसुमपुर भी कहते थे और जिसके भग्नावशेष वर्तमान पटना नगरके निकट मिले हैं, निर्माण किया तथा राजधानीको राजगृहसे उठाकर पाटलिपुत्रमें ही स्थापित किया। इस राजाकी भी एक प्रस्तर मूर्ति मिली है। इसने मगधके एक मात्र प्रतिद्वन्दी अवन्तिको भी पराजित किया और उस महा-राज्यका बहुभाग अपने साम्राज्यमें सम्मिलित कर लिया। अब प्रायः समस्त उत्तरी भारत मगध साम्राज्यके अन्तर्गत था। कुछ अनुश्रुतियोंमें उदयीके पश्चात् अनुरुद्ध, मुण्ड, नागदशक या दर्शक आदि अन्य राजे भी इस वंशमें हुए बताये जाते हैं। किन्तु यह निश्चित है कि महावीर सं० ६० (ई० पू० ४६७) में मगधमें एक नये वंशका प्रारंभ हुआ जिसे नंदवंश कहते हैं और जो लगभग १५० या १५५ वर्ष पर्यन्त सत्तारूढ़ रहा। इसी वर्ष प्रजा-पीड़क पालकके साथ-साथ अवन्तिके राज्य वंशका भी अन्त हो गया और उज्जैनी मगध साम्राज्यकी ही एक उपराजधानी बन गई।

इस नवीन वंशके प्रथम सम्राट्का नाम भिन्न-भिन्न अनुश्रुतियोंमें शिशुनाग, काकवर्ण, कालाशोक, नंदिवर्धन, अवंतिवर्धन, व्रात्यनंदि, महानंदि आदि मिलता है, जिसमें कई एक विभिन्न नामोंका समीकरण कर दिया गया प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका नाम व्रात्यनंदि शिशुनाग था, वह पूर्वनरेशका पुत्र आदि न होकर कोई दूरका सम्बन्धी था किन्तु था मूल शैशुनाक वंशसे ही सम्बन्धित। डा० काशीप्रसाद जायसवालको पटनाके निकट उसकी एक मूर्ति भी मिली थी जिसपर उन्होंने 'वात्ता' या 'व्रात्यनंदि' शब्द पढ़ा था। यह नाम उसके व्रात्य क्षत्रिय होनेका समर्थक है और शिशुनाग नाम 'श्रेणिकके वंशसे उसके संबंधित होने का। न्याय्य उत्तराधिकारी न होनेसे नंदि नाम वंश परिवर्तन सूचक हुआ। वह और उसके कुछ वंशज पूर्व-नन्दोंके नामसे भी प्रसिद्ध हैं। उसने १८ वर्ष पर्यन्त (ई० पू० ४४९ तक) राज्य किया प्रतीत होता हैं। मगध साम्राज्यकी एकता, विस्तार एवं शक्ति उसके समयमें पूर्ववत् बनी रही।

इसका उत्तराधिकारी नन्दिवर्धन काकवर्ण कालाशोक था। ई० पू० ४४९–४०७ तक ४२ वर्ष उसने राज्य किया। वह इस वंशका सर्वमहान् और प्रतापी नरेश था। म० सं० १०३ (ई० पू० ४२४) में उसने कलिंगकी विजय की थी और उस राष्ट्रके इष्ट देवता कलिंग-जिन (या अग्रजिन अर्थात् तीर्थङ्कर ऋषभदेव) की मूर्तिको वह वहाँसे उठा लाया और उसे अपनी राजधानीमें स्थापित किया। खारवेलके हाथीगुफा शिलालेख-से यह तथ्य प्रकट है। उसने इक्ष्वाकुओं, शौरसेनों आदिको भी पराजित किया और उक्त राजवंशोंका अन्त कर दिया। म० सं० ८४ (ई० पू० ४४३) के बड़ली शिलालेखसे विदित है कि उसके शासनकालमें राजपूतानेकी माध्यमिका नामक प्रसिद्ध नगरी जैनधर्मका प्रमुख केन्द्र थी, जैनोंकी वहाँ अच्छी बस्ती थी और न केवल वहाँ महावीरकी पुष्कल मान्यता थी वरन् लोक-व्यवहारमें महावीर संवत्का ही प्रचलन था। भारतमें सन्-संवतोंके

प्रचलनका यह सर्व प्राचीन उल्लेख है। नंदिवर्धनकी मृत्यु कटार द्वारा की गई बताई जाती है। उसके उपरान्त उसका पुत्र महानन्दिन (ई० पू० ४०४–३६४) राजा हुआ। इसने ४० वर्ष राज्य किया। यह भी अपने पिताके समान शक्तिशाली एवं प्रतापी नरेश था। इसीके शासन कालमें म० सं० १६२ (ई० पू० ३६५) में अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु की मृत्यु हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी नरेशके शासनकालके अन्तिम वर्षोंमें वह अनुश्रुति प्रसिद्ध द्वादश वर्षीय भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा था जिसकी पूर्वसूचना पाकर आचार्य भद्रबाहु कई सहस्र शिष्य मुनियोंके साथ दक्षिण देशको विहार कर गये थे। सम्भवतः यह राजा भी उनका भक्त एवं शिष्य था और उन्हींके साथ मुनि होकर दक्षिणको चला गया था। इस दुर्भिक्ष कालमें जैनसंघमें प्रथम बार फूट पड़नेके बीज पड़े। दुर्भिक्षकी उपशान्तिके पश्चात स्थूलभद्रके नेतृत्वमें श्वेताम्बर अनुश्रुतिका पहला जैन सम्मेलन एवं आगमोंकी बाँचना पाटलिपुत्र नगरमें इसी कालमें हुई और इसी कालमें बौद्धोंकी द्वितीय संगीति भी पाटलिपुत्रमें हुई।

महानन्दिनके उपरान्त मगधमें फिर एक घरेलू राज्यक्रान्ति हुई। उसके राज्यकालके अन्तिम वर्षोंमें देश भयङ्कर दुर्भिक्षसे पीड़ित रहा था, इस संकटकालमें शासन भी अव्यवस्थित हो गया था। स्वयं वृद्ध राजा राज्यका परित्याग कर मुनि हो गया था और दक्षिणको चला गया था। इस परिस्थितिका लाभ उठाकर एक साहसी एवं चतुर युवक महापद्मने राज्य सिंहासन हस्तगत कर लिया। उसके अन्य नाम सर्वार्थसिद्धि और उग्रसेन (यूनानी लेखकोंका एग्रेमेज) मिलते हैं, कुछ लोग भ्रमसे उसे घनानन्द या धनानन्द भी कह देते हैं किन्तु यह नाम उसका नहीं वरन् उसके ज्येष्ठ पुत्र युवराज हिरण्यगुप्त या हरिगुप्तका अपर नाम रहा प्रतीत होता है। महापद्मनन्दके जन्मके विषयमें विभिन्न किंवदन्तियाँ हैं, कुछ लोग उसे राजाका दासी पुत्र या गणिका पुत्र कहते हैं और कुछ उसे दिवा-कीर्ति नामक नाईके सम्बन्धसे राजाकी एक रानी द्वारा उत्पन्न हुआ बताते

है। ब्राह्मणीय साहित्यमें उसे शूद्र या शूद्रजात कहा है, किन्तु जैन साहित्यमे उसे तथा उसके वंशजोंको सर्वत्र क्षत्रिय कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि वह यद्यपि राजवंशसे ही सम्बन्धित था, पूर्व राजाका न्याय उत्तराधिकारी नहीं था और उसने छलसे ही राज्यपर अधिकार किया था।

इसका वंश उत्तरनन्द या नवनन्द वंश कहलाता है। उसके आठ पुत्र थे और क्योंकि अपने अन्तिम वर्षोंमें उसने राज्यकार्य अपने उन धनानन्द आदि पुत्रोंको ही सौंप दिया था इस कारण भी इस वंशके लिए नवनन्द नाम प्रयुक्त होता है। महापद्मने राज्याधिकार चाहे जिस तरह प्राप्त किया और उसके जन्मके सम्बन्धमें चाहे जैसे अपवाद रहे किन्तु वह एक चतुर राजनीतिज्ञ, कुशल शासक और विजेता था। उसने शीघ्र ही शासनको सुव्यवस्थित कर लिया, साम्राज्यकी स्थिति सर्व प्रकार सुदृढ़ एवं सुरक्षित कर ली और दक्षिण भारतपर आक्रमण करके उसके भी अनेक प्रदेशोंको साम्राज्यमें सम्मिलित कर लिया। आचार्य भद्रबाहु संघसहित दक्षिण देश-को विहार कर गये थे और स्वयं राजा महानन्दिन भी मुनि बनकर वहीं चले गये थे, संभवतः इन बातोंने ही महापद्मको दक्षिणापथपर भी अपना साम्राज्य विस्तार करनेकी प्रेरणा दी। तामिल भाषाके प्राचीन संगम साहित्य, दक्षिणी अनुश्रुतियों एवं नवनंददेहरा आदि नामोंसे दक्षिणमें नन्दोंका आगमन समर्थित होता है। वह अब सम्पूर्ण भारतका एकच्छत्र सम्राट् था और उसने 'सर्व क्षत्रान्तक एकराट्' की उपाधि धारण की थी। उत्तरमें कोसल और दक्षिणमें कुन्तल जैसे विशाल प्रदेश उसके साम्राज्यके अंग थे। उज्जैनी उसकी उपराजधानी थी। सिकन्दरके साथ आनेवाले यूनानी लेखकोंका कथन है कि व्यास नदीके उस पार (पूर्व ओर) का सम्पूर्ण देश पाटलि-पुत्र (पालिबोथ्रा) के इस अत्यन्त शक्तिशाली नन्दराजाके आधीन था। उसके पास विपुल सैन्यशक्ति थी और उसका कोश अटूट धनसे पूर्ण था। उसके बलका इतना आतंक था कि सर्व प्रकारसे प्रयत्न करनेपर भी सिकन्दर महान् (ई० पू० ३२६) अपनी विश्वविजयी सेनाको नन्दके

साम्राज्यकी सीमामें प्रवेश करनेके लिए प्रेरित न कर सका। नन्दका धन-वैभव देश-विदेशकी ईर्ष्याका पात्र था और उसका अतुल बल सबके हृदयमें भयका सञ्चार करता था। दुर्भिक्षके परिणामसे प्रभावित होकर उसने गंगा नदीसे कृषिकी सिंचाईके लिए एक नहर निकाली जो संभवतया भारतवर्षकी सर्व-प्रथम नहर थी। राजधानीके निकट गंगाके गर्भमें उसका विशाल कोषागार था। उसने पाँच स्तूप भी निर्माण कराये थे और उनके गर्भमें भी विपुल धनराशि सुरक्षित रक्खी गई थी। तोलनेके बाँट व नापों आदिके व्यवस्थीकरणका श्रेय भी इसी नन्दराजाको है। वह दानी भी बड़ा था। एक विद्वान् संघ-ब्राह्मणकी अध्यक्षतामें उसका दान विभाग संचालित होता था और उसकी दानशालामें प्रतिदिन ब्राह्मणादि विभिन्न याचकोंको विपुल द्रव्य दान किया जाता था। नन्दीश्वर विधानके उपरान्त कार्तिकी अष्टाह्निकाके अन्तिम दिन अर्थात् प्रत्येक कार्तिकी पूर्णिमाको सबसे अधिक द्रव्य दान किया जाता था। उसका प्रधान मन्त्री प्रसिद्ध राजनीति पटु शकटाल था। राजाका कोपभाजन होनेपर उसने अपने पुत्र द्वारा अपनी हत्या करा ली थी। उसके उपरान्त स्वामिभक्त राक्षस प्रधान अमात्य हुआ। महापद्म विद्वानोंका भी आदर करता था, अनेक विद्वान् उसके दरबारमे आश्रय पाते थे, शास्त्रार्थमें भी वह रस लेता था। उसके समयमें मगधदेशीय जैन संघके नायक आचार्य स्थूलभद्र थे जो स्वयं नन्दके एक मंत्रीके पुत्र थे। अन्य पूर्व नन्दोंकी भाँति यह राजा और इसके पुत्र भी जैन धर्मके अनुयायी थे इस विषयमें विद्वानोंको प्राय: कोई सन्देह नहीं है। ई० पू० ३६३ में महापद्मने राज्य हस्तगत किया था और लगभग ३४ वर्ष राज्य करनेके उपरान्त ई० पू० ३२९ में उसने राज्य कार्यसे प्राय: अवकाश ले लिया था और राज्यकार्य अपने धननन्द आदि आठ पुत्रोंको संयुक्त रूपमें सौंप दिया था, किन्तु नामसे उसके ही सर्व कार्य चलता था। बारह वर्ष पर्यन्त यह व्यवस्था चालू रही, अन्तमें ई० पू० ३१७ में चाणक्य और चन्द्रगुप्तके कौशलसे नन्द वंशका पतन हुआ एवं मौर्य वंशकी स्थापना हुई।

नवनन्दोंके शासन कालकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना यूनानी सिकन्दरका आक्रमण है। सुदूर यूनानके मक़दूनिया नामक एक छोटेसे राज्यके नायक फ़िलिपका बेटा सिकन्दर संसारका सर्व प्रथम महान् विजेता बना। युवावस्थामें ही उसके चमत्कारी उत्कर्षको देखकर लोगोंने उसे देवपुत्र कहना शुरू कर दिया। ई० पू० ३५७ में उसका जन्म हुआ, बीस वर्ष की आयुमें ही उसने सम्पूर्ण यूनान देशपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और आस-पासके छोटे-छोटे पड़ोसी देशोंको जीत कर अपने राज्यका विस्तार एवं शक्तिका संग्रह किया। एक सुदृढ़ विपुल सेना लेकर वह विश्व विजयके लिए निकल पड़ा। लघु एशिया, मध्य एशिया, सीरिया, ईराक़, बाबुल आदि प्रदेशोंको जीतता हुआ वह ईरानपर चढ़ दौड़ा और उसने अखमनी वंशके विस्तृत एवं शक्तिशाली साम्राज्यको छिन्न-भिन्न कर अपने साम्राज्यका अंग बना लिया। भारतके अनुपमेय धन वैभवके लोभ एवं विजय लिप्सासे प्रेरित होकर उसने ई० पू० ३२७ में खैबर घाटीसे भारतमें प्रवेश किया, तक्षशिला नरेश अम्भीको प्रभावित कर अपना करद राजा बनाया और फिर एक-एक करके सिंधुघाटी एवं पंजाबमें बिखरे हुए छोटे-छोटे राज्यों एवं गणतंत्रोंको विजय करना आरम्भ किया, किन्तु पग-पगपर उसे भीषण विरोधका सामना करना पड़ा। झेलम और चिनाबके दोआबेका राजा पुरु बड़ी वीरता पूर्वक लड़ा और कौशल द्वारा ही हराया जा सका। वापसीमें अग्रोहेके अग्रश्रेणी गणतन्त्रसे सिकन्दरकी मुठभेड़ हुई। वर्तमान अग्रवालोंके पूर्वज, अग्रोहेके ये स्वतन्त्रता प्रेमी निवासी अद्भुत वीरताके साथ लड़े और उन्होंने सिकन्दरके दुर्द्धर्ष यूनानी सैनिकोंके दाँत खट्टे कर दिये। किन्तु आक्रान्ताओंकी विपुल सैन्य शक्तिके सन्मुख अग्रोहेकी छोटी-सी सेना कबतक ठहरती, अन्ततः उसका पतन हुआ और बीस हजार स्त्री-बच्चोंने जौहर द्वारा अपना अन्त किया। लिखित इतिहासमें जौहरका यह सर्व-प्रथम उदाहरण है। अपने लगभग डेढ़ वर्षके प्रवास कालमें सिकन्दर और उसकी सर्वविजयी सेना पूरे पंजाब

और सिन्धको भी विजय न कर पाई। नंदके प्राची साम्राज्यकी सीमामें तो प्रवेश करनेका उसे साहस ही नहीं हुआ। ई० पू० ३२५ के प्रारंभमें ही वह निराश होकर वापस लौट गया और ई० पू० ३२३ में बाबुल नगरमें उसकी मृत्यु हो गई। पुरु और अम्भीको अपना करद प्रतिनिधि नियुक्त करके और थोड़ी-सी यूनानी सेना छोड़ कर वह भारतसे चला गया था। यदि पंजाब, सिंध एवं पश्चिमोत्तर प्रान्तके ये अनगिनत छोटे-छोटे राजतन्त्र एवं गणतन्त्र संगठित होकर एवं मिलकर एक साथ यूनानियोंके विरुद्ध खड़े हो जाते तो वे निस्सन्देह सिकन्दरको पलक मारते ही बुरी तरह हराकर भारतकी सीमासे खदेड़ बाहर करते। सिकन्दरके मुड़ते ही उसके द्वारा जीता हुआ भारतका अंश शीघ्र ही पूर्ववत् हो गया और अधिकांश भाग अवशिष्ट भारतको तो पश्चिमी जगत्के इतिहासकी इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाका भान भी न हुआ। भारतवासियोंके लिए वह इतिहासकी एक शीघ्र ही विस्मृत कर दी जाने वाली गौण एवं क्षुद्र घटना थी।

किन्तु सिकन्दरके भारत आक्रमणके कुछ सुपरिणाम भी हुए। भारतके बाहर पश्चिमी देशोंके साथ भारतवर्षके सम्पर्क और अधिक उन्मुक्त एवं दृढ़ हो गये। पश्चिमोत्तर प्रदेशकी छोटी-छोटी शक्तियोंके छिन्न-भिन्न होनेसे शीघ्र ही मौर्य साम्राज्यका विस्तार अफ़गानिस्तान पर्यन्त फैल जानेके लिए भूमि तैयार हो गई। भारतीय धर्म, दर्शन, ज्ञान और विज्ञानके समस्त सभ्य पश्चिमी जगत्में प्रसारित होनेका द्वार बन गया। यूनानी कलाका भारतीय कला, विशेषकर मूर्त्तिकला, पर प्रभाव पड़ा। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सिकन्दरके साथ आनेवाले कई यूनानी लेखकोंने भारतके वर्णन लिखे जिनके आधारपर उत्तरवर्ती यूनानी इतिहासकारोंने सिकन्दरकालीन भारतकी राजनैतिक, भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक दशाके वर्णन किये, जो तत्कालीन भारतीय इतिहासके प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण साधन बने। साथ ही यूनानी लेखकोंके सेन्ड्रोकोटसका समीकरण चन्द्रगुप्त मौर्यसे किया जाकर प्राचीन भारतकी राज-

नैतिक कालानुक्रमणिका निश्चित रूपसे व्यवस्थित की जा सकी जिसका समर्थन अन्य नामादिके समीकरणों-द्वारा भी हुआ।

सिकन्दर और उसके यूनानियोंको पश्चिमोत्तर प्रदेशवर्ती गांधार, तक्षशिला आदिके निकटवर्ती वन्य प्रदेशोंमें ही नहीं वरन् सम्पूर्ण पंजाब और सिन्धमें यत्र-तत्र अनेकों नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधु मिले थे। इनका यूनानियोंने जिम्नोसोफ़िस्ट या जिम्नेटाइ नामोंसे उल्लेख किया है और उनके वर्णनोंसे इस विषयमें प्रायः कोई मतभेद नहीं है कि इन शब्दोंसे आशय तत्कालीन दिगम्बर जैन साधुओंका है। सिन्धुघाटीके ऐसे ही कुछ साधुओंका उन्होंने ओरेटाइ एवं वैरिटाइ नामोंसे भी उल्लेख किया है। इनमें प्रथम शब्द 'आरातीय' शब्दका यूनानी रूप है। जैन साहित्यमें जैन मुनियोंका एक प्राचीन वर्ग 'आरातीय' नामसे सूचित किया गया है। वैरिटाइ एक जातिके लिए प्रयुक्त हुआ है जो व्रात्यका यूनानीरूप प्रतीत होता है। यूनानी लेखकोंने श्रमणों और ब्राह्मणोंका पृथक्-पृथक् स्पष्ट वर्णन किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि श्रमणोंसे उनका अभिप्राय जैन साधुओंका है। बौद्ध भिक्षुओंके जो दो-एक पृथक् उल्लेख इन वृत्तान्तोंमें मिलते हैं उनसे ही यह स्पष्ट है कि श्रमणोंसे बौद्धोंका अभिप्राय नहीं था। वस्तुतः आधुनिक विद्वानोंको यह आश्चर्य होता है कि इन यूनानी लेखकोंने बुद्ध, बौद्धधर्म और बौद्ध भिक्षुओंका प्रायः कुछ भी उल्लेख क्यों नहीं किया। ऐसा लगता है कि उस कालमें कम-से-कम पश्चिमोत्तर भारतमें बौद्धधर्म एक गौण सम्प्रदाय था। उपरोक्त जिम्नोसोफ़िस्ट या श्रमण साधुओंके सम्बन्धमें यूनानी लेखकोंका कथन है कि उनमें कुछ तो वनवासी (हिलोबाइ) थे जो नितान्त निष्परिग्रह, निस्पृह नग्न तपस्वी थे, वनोंमें रहते थे, अल्पभोजी और विशुद्ध शाकाहारी थे, हाथमें लेकर ही भोजन करते और जल पीते थे, मृत्युके उपरान्त शवको जीव-जन्तुओं द्वारा भक्षण किये जानेके लिए वनमें ही छोड़ देते थे और मृत्यु निकट जानकर विविध उपायोंसे जीवनका अन्त

कर देते थे, अर्थात् समाधिमरण करते थे। वे देह और भोगोंकी चिन्तासे सर्वथा मुक्त थे, ज्ञान-ध्यान और तपमें लीन रहते थे। यह सब वर्णन जैन मुनियोंके अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदायके साधुओंपर पूर्णतया लागू नहीं होता।" तक्षशिलाके निकट ऐसे ही मण्डन नामक एक प्रसिद्ध मुनिसे सिकन्दरने साक्षात्कार चाहा। मुनिने उसके निमन्त्रणका तिरस्कार कर दिया, इसपर सम्राट् स्वयं मुनिके पास गया। प्रश्न करनेपर मुनिने कहा कि यदि हमसे कुछ पूछना और लेना चाहता है तो पहले हमारी ही तरह अन्तर-बाह्यसे नग्न हो जा। और फिर उन्होंने राज्यतृष्णा एवं भोगलिप्साका त्याग करके आत्माकी चिन्ता करनेका उसे उपदेश दिया। एक दूसरा साधु जिसका नाम कल्याण था सिकन्दरके साथ ही बाबुल चला गया। बाबुलमें जाकर उसने समाधिमरण पूर्वक चितारोहण किया। अपनी तथा स्वयं सिकन्दरकी निकट मृत्युकी सूचना इस मुनिने सम्राट्को पहले ही दे दी थी। उसकी मृत्युके पश्चात् साम्राज्यकी क्या दशा होगी, यह भी बता दिया था। इन वनवासी श्रमणोंके अतिरिक्त ऐसे भी खण्डवस्त्रधारी त्यागी श्रमण श्रावक थे जो बस्तियोंमें रहते थे और धर्मोपदेश, शिक्षा, ज्योतिष, चिकित्सा आदिके द्वारा लोकोपकारमें रत रहते थे। इन त्यागी गृहस्थों (ऐल्लक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि व्रती श्रावकों) का लोग बड़ा आदर करते थे। इन यूनानी लेखकोंने तीर्थङ्कर ऋषभदेव एवं उनके पुत्र भरत चक्रवर्तीसे सम्बन्धित लोकप्रचलित अनुश्रुतियोंका भी उल्लेख किया है। नन्द, उग्रसेन, चन्द्रगुप्त मौर्य, अमित्रघात बिन्दुसार आदिके सम्बन्धमें उनके वृतान्त जैन अनुश्रुतिसे जितने समर्थित होते हैं उतने किसी अन्य अनुश्रुतिसे नहीं। यहाँतक कि चन्द्रगुप्तके सिंहासनारोहणकी जो तिथि (अर्थात् ई० पू० ३१२) प्राचीन यूनानी इतिहासकारोंने दी है वह प्रो० टार्न आदि आधुनिक विद्वानोंके अनुसार उन्हें जैनोंसे ही प्राप्त हुई थी। जैन आचार-विचारका उस समय इतना प्रभाव एवं प्रसार बढ़ चुका था कि स्वयं ब्राह्मण मुनियों एवं पण्डितोंके

विषयमें भी यूनानी लेखकोंने यह लिखा है कि वे भी शाकाहारी ही थे। याज्ञिक हिंसाका भी कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया।

सिकन्दरके आक्रमणके कुछ वर्षोंके पश्चात् भारतमें एक महत्त्वपूर्ण राज्य-क्रान्ति हुई। नन्दवंशका पतन हुआ, मौर्यवंशकी उसके स्थानमें स्थापना हुई और फलस्वरूप मगधसाम्राज्य अपने चरमोत्कर्षको प्राप्त हुआ। इस राज्य-क्रान्तिके प्रधान नायक क्षत्रिय वीर चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके सहायक राजनीतिके विचक्षण पण्डित ब्राह्मण चाणक्य थे। चाणक्य अथवा उसके अर्थशास्त्रके विषयमें तत्कालीन यूनानी लेखक सर्वथा मौन हैं, मगधकी राजसभामें आकर कुछ समयके लिए रहनेवाला यूनानी राजदूत मेगेस्थनीज भी उनका कोई उल्लेख नहीं करता। चाणक्यके अर्थशास्त्रके जो संस्करण उपलब्ध हैं वे क्षेपकों आदिसे पर्याप्त विकृत एवं त्रुटित हैं और उनकी प्राचीनता स्वयं चाणक्यके समय से कई सौ वर्ष बाद तक ही अधिक-से-अधिक पहुँचती है। बहुत पीछेके लिखे गये मुद्राराक्षस नाटक, कथा सरित्सागर आदि कथात्मक ग्रन्थोंसे इतना ही पता चलता है कि कूटनीति-विशारद चाणक्य, जो विष्णुगुप्त और कौटिल्य भी कहलाता था, एक वेदानुयायी दरिद्र ब्राह्मण था। राजा नन्दने उसका अपमान किया जिसका बदला लेनेके लिए नन्दके वंशका समूल उन्मूलन करनेकी उसने प्रतिज्ञा की और अपनी कुटिलता तथा चन्द्रगुप्तकी सहायतासे वह उसमें सफल हुआ और उसने चन्द्रगुप्तको मगधके सिंहासनपर बैठा दिया। बौद्ध अनुश्रुतिमें भी अपमान, प्रतिज्ञा, नन्दनाश और चन्द्रगुप्तकी राज्य प्राप्तिके उल्लेख मिलते हैं। इन उपरोक्त भिन्न कथाओंमें परस्पर बहुतसे अन्तर भी हैं। ब्राह्मण साहित्यमें चन्द्रगुप्तको नन्दका मुरा नामक शूद्रा दासीसे उत्पन्न पुत्र बताया है, बौद्ध अनुश्रुतिमें उसे मोरिय नामक व्रात्यक्षत्रिय जातिका युवक बताया है। किन्तु बौद्ध तथा ब्राह्मण अनुश्रुतियोंमें चाणक्य और चन्द्रगुप्तका जन्मसे मृत्यु पर्यन्त पूर्ण जीवन-वृत्त नहीं मिलता। हाँ जैन अनुश्रुतिमें इन महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तियोंके सम्बन्धमें अथसे अन्ततक

पूर्ण वर्णन मिलते हैं और वे भी कई विभिन्न द्वारोंसे। अतः विभिन्न अनुश्रुतियों, ऐतिहासिक आधारों और मान्यताओंके समन्वय द्वारा हमें उक्त कालकी ऐतिहासिक घटनाओंका बहुत कुछ प्रामाणिक विवरण उपलब्ध हो जाता है।

आचार्य चाणक्य मौर्यवंशकी स्थापनामें मूल निमित्त एवं मौर्यसाम्राज्य के प्रधान स्तम्भ थे। वे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके राजनैतिक गुरु, समर्थ सहायक, उसके राज्यके कुशल व्यवस्थापक एवं नियामक थे। राजनीतिके ये महान् गुरु और इनका प्रसिद्ध अर्थशास्त्र अपने समयमें ही नहीं वरन् तदुत्तरकालीन भारतीय राजनीति एवं राजनीतिज्ञोंके सफल मार्गदर्शक रहे हैं। प्राचीन जैन अनुश्रुतियोंके अनुसार आचार्य चाणक्यका जन्म ई० पू० ३७५के लगभग गोल्लविषयके अन्तर्गत चणय नामक ग्राममें हुआ था। इस स्थानकी ठीक स्थिति अज्ञात है, कुछ अनुश्रुतियोंमें उन्हे पाटलिपुत्र और कुछमें तक्षशिलाका निवासी भी बताया है। इनकी माताका नाम चणेश्वरी और पिताका नाम चणक था जो जन्मसे ब्राह्मण और धर्मसे श्रावक (जैन) थे। जन्मसमयमें ही चाणक्यके मुँहमें दाँत थे जिससे सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसी समय कुछ जैन साधु चाणक्यके पित्रालयमें आये और उसके पिताने उनसे इस बातका उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि यह बालक बड़ा होनेपर कोई भारी राजा होगा। किन्तु ब्राह्मण चणक सन्तोषी वृत्तिका धर्मात्मा व्यक्ति था, राज्य वैभवको वह पाप समझता था अतः उसने बच्चेके दाँत उखाड़ डाले, इसपर उन साधुओंने यह भविष्यवाणी की कि अब यह बालक स्वयं तो राजा न हो सकेगा किन्तु किसी अन्य व्यक्तिके उपलक्षसे राज्य करेगा। वय प्राप्त होनेपर तक्षशिला तथा उसके निकटवर्ती स्थानोंमें रहनेवाले आचार्योंके निकट चाणक्यने चौदह विद्यास्थानों (छः अंग, चतुरानुयोग, दर्शन, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र) की शिक्षा प्राप्त की, और सभी विद्याओं एवं शास्त्रोंमें वह पारगंत हो गया। यशोमति नामक एक श्यामा सुन्दरीके

साथ उसका विवाह हुआ और वह ब्राह्मणोचित शिक्षकवृत्तिसे दरिद्रताके साथ जीवन व्यतीत करने लगा। एक बार उसकी स्त्री अपने भाईके विवाहमें मायके गई। वहाँ उसकी निर्धनताका लोगोंने उपहास किया जिससे वह बड़ी दुःखी हुई। चाणक्यको जब यह बात मालूम हुई तो वह धनोपार्जनके लिए घरसे निकल पडा। महाराज सर्वार्थसिद्धि महापद्मनन्द विद्वानोंका बड़ा आदर करता है और उन्हें पुष्कल दानादिसे सन्तुष्ट करता है यह बात सर्वप्रसिद्ध थी। अतः चाणक्य पाटलिपुत्र पहुँचा। वहाँ उसने राजसभाके समस्त पण्डितोंको शास्त्रार्थमें पराजित करके संघब्राह्मण (दानविभागके अध्यक्ष) का पद प्राप्त कर लिया। किन्तु उसकी कुरूपता, अभिमानी प्रकृति एवं उद्धत स्वभावके कारण युवराज सिद्धपुत्र हिरण्यगुप्त अपरनाम धननन्द उससे रुष्ट हो गया और उसने चाणक्यका अपमान किया। फलस्वरूप चाणक्यने क्रुद्ध होकर नन्दके वंशको समूल नष्ट करनेकी भीषण प्रतिज्ञा की। अपने जन्मसमयमे साधुओं द्वारा की गई भविष्यवाणीका स्मरण करके परिव्राजकके वेषमे वह एक ऐसे व्यक्तिकी खोजमें निकल पड़ा जो राजा होनेके उपयुक्त हो।

तराई प्रदेशमें पिप्पलीवनके मोरियोंका गणतन्त्र था। ये लोग व्रात्य क्षत्रिय थे। स्वयं महावीरके एक गणधर मोरियपुत्त इसी जातिके थे और इस जातिमें जैन धर्मकी प्रवृत्ति थी। इनका एक पूरा ग्राम मयूर-पोषकोंका ही था। मुनि, ऐल्लक, क्षुल्लक आदि समस्त जैन साधु विशेषकर दिगम्बर परम्पराके, अनिवार्यतः मयूरपिच्छधारी होते हैं। उस कालमें इन साधुओंकी संख्या सहस्रोंमें थी अतः मयूर-पोषण एवं मयूरपिच्छी निर्माणका व्यवसाय पर्याप्त महत्त्वपूर्ण था। घूमते-घूमते चाणक्य एक दिन इसी गाँवमें पहुँचा और गाँवके मोरियवंशी मुखियाके घर ठहरा। मुखियाकी पुत्री गर्भवती थी और उसे उसी समय चन्द्रपान करनेका विचित्र दोहला उत्पन्न हुआ था। किन्तु चाणक्यने इस शर्तपर कि उत्पन्न होने वाले शिशुपर उसका स्वयंका अधिकार रहेगा युक्तिसे वह दोहला

शान्त कर दिया। तदनन्तर वह वहाँसे चल दिया। कुछ ही मास उपरान्त उस लड़कीने एक सुन्दर तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया और उस दोहलेके आधारसे उसका नाम चन्द्रगुप्त रक्खा गया तथा परिव्राजक चाणक्यसे की गई प्रतिज्ञाके अनुसार उसे परिव्राजकका ही पुत्र कहा जाने लगा। नन्द द्वारा चाणक्यका अपमान और चन्द्रगुप्तका जन्म आदि उपरोक्त घटनाएँ ई० पू० ३४५ के लगभग हुई।

विशाल साम्राज्यके अधिपति पराक्रमी नन्दोंका समूल नाश करना कोई हँसी खेल नहीं था, चाणक्य इस बातको भली प्रकार जानता था, किन्तु वह दृढ़प्रतिज्ञ भी था अतः धैर्यके साथ वह अपनी तैयारीमें संलग्न हो-गया। अगले कई वर्ष उसने धातुविद्याकी सिद्धि एवं स्वर्ण आदि धन एकत्र करनेमें व्यतीत किये बताये जाते हैं। ८–१० वर्ष बाद फिर वह उसी ग्राममें आ निकला। ग्रामके बाहर वनमे कुछ बालक खेल रहे थे। एक तेजस्वी बालक राजा बना हुआ था और अन्य बालकों पर शासन कर रहा था। कुछ देरतक चाणक्य बालकोंके इस कौतुकको देखता रहा। तदनन्तर उसने उस बालकसे वार्तालाप किया और उसकी तुरतबुद्धि, वीरता, साहस एवं तेजस्विताको देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ, वह सामुद्रिक शास्त्रका भी ज्ञाता था और उस बालकके सामुद्रिक चिह्नोंमें उसे चक्रवर्ती सम्राट्के सब लक्षण दीख पड़े। पूछ-ताछ करनेपर मालूम हुआ कि यह वही बालक है जिसकी माताका दोहला उसने स्वयं शान्त किया था, अतएव वह उस बालकको साथ लेकर चल पड़ा। कई वर्ष पर्यन्त उसने उसे विभिन्न अस्त्र-शस्त्र, विद्याओं एवं शास्त्रोंकी राज्योचित उत्तम शिक्षा दी। उसके लिए बहुतसे साहसी युवक साथी भी धीरे-धीरे जुटा दिये। ई० पू० ३२६ में सिकन्दरका आक्रमण हुआ। भारतभूमिपर विदेशी यवनोंके प्रवेश एवं आधिपत्यने चाणक्यके देशभक्त हृदयको दुःखित किया। किन्तु विश्व-विजेता सिकन्दरकी प्रसिद्धिसे भी वह प्रभावित हुआ। अतः उसने शिष्य चन्द्रगुप्तको सलाह दी कि वह

यूनानियोंकी सैनिक पद्धति, सैन्यसंचालन एवं युद्ध कौशलका जाकर प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करे। चन्द्रगुप्त यूनानी शिविरमें पहुँचा। गुप्तचर होनेके सन्देहमें बन्दी करके वह सम्राट्के सम्मुख उपस्थित किया गया किन्तु उसकी निर्भीकतासे प्रसन्न होकर सिकन्दरने उसे मुक्त कर दिया और पुरस्कार दिया। चन्द्रगुप्तने अभीष्ट जानकारी प्राप्त की और सिकन्दरके भारतसे बाहर निकलते ही पंजाबके बाह्लीकोंको उभाड़कर यूनानी सत्ताके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस प्रकार उसने बहुत-सा प्रदेश यूनानियोंके आधिपत्यसे स्वतन्त्र कर लिया और ई० पू० ३२३ के लगभग चाणक्यके निर्देशमें अपना एक छोटा-सा राज्य मगधसाम्राज्यकी सीमापर स्थापित कर लिया। ई० पू० ३२१ के लगभग चन्द्रगुप्त और चाणक्यने एक छोटी-सी सेनाके साथ छद्मवेषमें पाटलिपुत्र पहुँचकर राजधानीपर आक्रमण कर दिया, किन्तु चाणक्यके कूट-कौशलके बावजूद भी नन्दकी असीम सैन्य शक्तिके सम्मुख ये बुरी तरह हारे और प्राण बचाकर भाग निकले। नन्दकी सेनाने इनका दूर तक पीछा किया। दो बार ये पकड़े जानेसे बाल-बाल बचे। चाणक्यकी तुरतबुद्धि और चन्द्रगुप्तके साहस एवं गुरुके प्रति पूर्ण विश्वासने ही इनकी रक्षा की। इस भागदौड़में एक बार चन्द्रगुप्त भूखसे मरणासन्न हो गया था, उस अवसरपर भी चाणक्यने उसकी रक्षा की। एक दिन एक वृद्धाके झोपड़ेके बाहर खड़े हुए इन्होंने उक्त वृद्धाको अपनी सन्तानको डाँटनेके मिस यह कहते सुना कि चाणक्य अधीर एवं मूर्ख है, उसने सीमा प्रान्तोंको हस्तगत किये बिना ही एकदम साम्राज्यके केन्द्रपर धावा बोलकर भारी भूल की है। चाणक्यको अपनी भूल मालूम हो गई और उन दोनोंने अब नवीन उत्साह एवं कौशलसे तैयारी प्रारम्भ कर दी। विन्ध्यअटवीमें पूर्वसंचित किये हुए विपुल धनकी सहायतासे उसने एक सुदृढ़ एवं विशाल सैन्यसंग्रह करना शुरू किया। पश्चिमोत्तर प्रदेशके यवन, काम्बोज, पारसीक, खस, पुलात, शबर आदि म्लेच्छ जातियों की एक बलवान सेना तैयार की। बाह्लीक उनके अधीन थे ही। पंजाबके

मल्लि या मालव गणतन्त्रको अपना सहायक बनाया और हिमवतकूट अर्थात् गोकर्ण (नैपाल) के किरातवंशके ग्यारहवें राजा पंचम उपनाम पर्वत या पर्वतेश्वरको विजित साम्राज्यका आधा भाग दे देनेका लोभ देकर अपना सहयोगी बनाया, और फिर मगध साम्राज्यके सीमावर्ती प्रदेशोंको जीतना शुरू किया। एकके पश्चात् एक नगर, ग्राम, दुर्ग और गढ़ छल-बल-कौशलसे जैसे भी बना इनके हाथमें आते चले गये; और ये विजित प्रदेशोंको सुसंगठित एवं अनुशासित करते हुए तथा अपनी शक्तिमें उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए राजधानी तक पहुँच गये और उसका घेरा डाल दिया। पर्वतकी दुस्साहस पूर्ण बर्बर युद्धप्रियता, चन्द्रगुप्तकी अद्भुत सैन्य-संचालन शक्ति एवं रणकौशल और चाणक्यकी कूटनीति—तीनोंका संयोग था। पाटलिपुत्रपर भीषण आक्रमण हुए तथा उसके अन्दर फूट और षड्यन्त्र रचाये गये। नन्द भी वीरतासे लड़े, धननन्द आदि समस्त नन्दकुमार लड़ते-लड़ते वीरगतिको प्राप्त हुए। अन्ततः वृद्ध राजा महापद्मने भी कोई आशा न देखकर धर्मद्वार नामक प्रमुख नगरद्वारके निकट हथियार डाल दिये और आत्मसमर्पण कर दिया। उसने चाणक्यको धर्मकी दुहाई देकर सुरक्षित चला जानेकी याचना की। चाणक्यकी अभीष्ट सिद्धि हो चुकी थी, वह भी दयाधर्मका पालक था अतः द्रवित होकर उसने नन्दराजको सपरिवार नगर एवं राज्यका त्याग करके अन्यत्र चले जानेकी अनुमति दे दी और यह भी कह दिया कि अपने साथ रथमें जितना धन वह ले जा सके वह भी ले जाय। अस्तु वृद्ध नन्दने अपनी दो पत्नियों तथा एक पुत्रीके साथ कुछ धन लेकर और रथमें सवार हो नगरका परित्याग किया। जाते हुए मार्गमें नन्दकन्या दुर्धरा अपरनाम सुप्रभाने विजयी शत्रु सैन्यके नायक वीर चन्द्रगुप्तके सुदर्शन रूपको जो देखा तो प्रथम दृष्टिमें ही उसपर मोहित हो गई। इधर चन्द्रगुप्तकी भी वही दशा हुई। इन दोनोंकी दशाको लक्ष्य करके नन्द एवं चाणक्य दोनोंने ही उन्हें विवाह करनेकी अनुमति दे दी। सुप्रभा पिताके रथसे कूदकर चन्द्रगुप्तके रथपर

आ चढ़ी। किन्तु इस रथपर उसके पग धरते ही उसके पहियेके नौ आरे तड़ातड़ टूट गये। सबने समझा यह अपशकुन है किन्तु चाणक्यने समझाया कि यह शुभ शकुन है, इसका अर्थ है कि चन्द्रगुप्तका वंश उसके बाद नौ पीढ़ी तक और चलेगा।

अब चन्द्रगुप्त मौर्य नन्दराजकुमारी सुप्रभाको अग्रमहिषी बनाकर मगधके राज्यसिंहासनपर आरूढ़ हुआ और नन्दके धन-जनपूर्ण शक्तिशाली साम्राज्यका अधिपति हुआ। नन्दवंशका पतन और इस प्रकार लगभग चार वर्षके युद्धों एवं प्रयत्नोंके बाद पाटलिपुत्रमें मौर्यवंशकी स्थापना ई० पू० ३१७ में हुई। चन्द्रगुप्तको सम्राट् घोषित करनेके पूर्व चाणक्यने नन्दके स्वामिभक्त मन्त्री राक्षसके षड्यन्त्रोंको विफल किया और उसे चन्द्रगुप्तकी सेवा करनेके लिए राजी कर लिया। उसने किरातराज पर्वतको भी राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्तकी हत्या करनेके लिए भेजी गई विषकन्याके प्रयोगसे मरवा डाला और चन्द्रगुप्तका मार्ग निष्कण्टक कर दिया। अन्य पुराने मन्त्रियों, राजपुरुषों आदिको भी उसने चन्द्रगुप्तके पक्षमें कर लिया। वह स्वयं सम्राट्का प्रधान मन्त्री एवं अमात्य रहा। चाणक्यके सहयोगसे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यने साम्राज्यका संगठन एवं शासनकी अत्यन्त सुचारु व्यवस्था की। साम्राज्यका विस्तार, शक्ति और समृद्धि उसके शासनकालमें उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती गई। ई० पू० ३१२ में उसने अवन्तिको विजय करके उज्जैनीको फिरसे साम्राज्यकी उपराजधानी बनाया। ई० पू० ३१७ में मगधमें नन्दोंका पतन होनेपर भी उज्जैनीमें नन्दोंके कुछ वंशज या सम्बन्धी स्वतन्त्र बने रहे प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि कुछ जैन अनुश्रुतियोंमें नन्द वंशका अन्त म० स० २१० (ई० पू० ३१७) में और कुछमें म० स० २१५ (ई० पू० ३१२) में कथन किया गया है। उज्जैनीको अधिकारमें करनेके उपरान्त उसने दक्षिण देशकी दिग्विजय करनेके लिए यात्रा की। सुराष्ट्रके मार्गसे उसने महाराष्ट्रमें प्रवेश किया। सुराष्ट्रमें गिरिनगरके

नेमिनाथकी वन्दना की और उक्त पर्वतकी तलहटीमें सुदर्शन झील नामक विशाल सरोवरका निर्माण अपने राज्यपाल वैश्य पुष्यगुप्तकी देख-रेखमें कराया। इसीके तटपर निर्ग्रन्थ मुनियोंके निवासके लिए चन्द्रगुफा आदि गुफाएँ बनवाई। महाराष्ट्र, कोंकण, कर्णाटक तथा तामिल देश पर्यन्त प्रायः समस्त दक्षिण भारतपर उसने अपना आधिपत्य स्थापित किया। प्राचीन तामिल साहित्य, अनुश्रुतियों एवं कतिपय शिलालेखोंसे मौर्योंका दक्षिण देशपर अधिकार होना पाया जाता है। दक्षिणकी इस विजयमें एक और भी प्रेरक कारण था। चन्द्रगुप्तका पितृकुल मोरिय आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवलिका भक्त था। द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके समय इन आचार्यके ससंघ दक्षिण देशको विहार कर जानेपर भी वे लोग उन्हींकी परम्पराके अनुयायी रहे और मगधमें रह जानेवाले साधुओं तथा उनकी परम्पराको उन्होंने मान्य नहीं किया। भद्रबाहुकी शिष्य-परम्परामें जो आचार्य इस बीचमें हुए वे दक्षिण देशमे ही रहे अतः उनसे उत्तर भारतके निवासियोंका कोई सम्पर्क नहीं हुआ और वे यथा चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि अपने-आपको आचार्य भद्रबाहुका ही अनुयायी कहते एवं मानते रहे। अतएव अपने परम्परागुरु आचार्य भद्रबाहुने कर्णाटक देशके जिस कटवप्र या कुमारी पर्वतपर तपस्या की थी और समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग किया था तीर्थरूपमें उसकी बन्दना करना तथा उनकी शिष्य-परम्पराके मुनियोंसे धर्मलाभ लेना और उनकी सुविधा आदिकी व्यवस्था करना भी ऐसे कारण थे जो सम्राट्की दक्षिण यात्रामें प्रेरक हुए प्रतीत होते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्यके शासनकालकी एक अति महत्त्वपूर्ण घटना मध्य-एशियाके यूनानी सम्राट् सिल्युकस निकेतरका भारत आक्रमण तथा चन्द्रगुप्त द्वारा उसकी पराजय है। सिल्युकस सिकन्दरका विश्वासी सेनानी एवं कृपापात्र था। उसकी मृत्युके उपरान्त यूनानी साम्राज्यका जो बँटवारा हुआ उसमें समस्त मध्य एवं पूर्व एशियाई भाग, जिसमें भारतका विजित अंश भी सम्मिलित था, सिल्युकसके हिस्सेमें आया था। प्रारंभमें वह

आन्तरिक विद्रोहों आदिके कारण अपनी स्थिति न संभाल सका और ई० पू० ३१७ में जब मगधमें राज्यक्रान्ति हुई उस समय सेल्युकसकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। किन्तु शनैः शनैः उसने अपनी स्थिति संभाल ली और ई० पू० ३१२—१० तक वह इतना शक्तिशाली हो गया कि सिकन्दरके अन्य सब उत्तराधिकारी उसके सम्मुख दब गये। अब वह दिग्विजयका स्वप्न देखने लगा और सिकन्दरसे भी जो न हो सका उसे करने अर्थात् भारतवर्षको विजय करनेकी उसे तीव्र अभिलाषा हुई। नन्द वंशके अन्तका समाचार सुनकर उसका साहस बढ़ गया था। पश्चिमोत्तर प्रान्त व काबुल और गांधार तो उसके राज्यमें थे ही, किन्तु पंजाब और सिंधपर उसका अधिकार शिथिल था, उसे दृढ़ करते हुए मौर्य साम्राज्यपर आक्रमण कर देना उसका लक्ष्य था। एक भारी सेना लेकर ई० पू० ३०५ में उसने भारतमें प्रवेश किया। किन्तु चन्द्रगुप्त और उसके चाणक्य जैसे मन्त्री असावधान नहीं थे। तुरन्त आगे बढ़कर मौर्य सेनाने आक्रमणकारीकी गतिको रोका। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्तने सैन्य सञ्चालन किया, वह यूनानियोंकी युद्ध-प्रणालीसे पूर्णतया परिचित था, उनके गुणोंको भी जानता था और दोषोंको भी। भीषण युद्ध हुआ और अन्तमे यूनानी सेना बुरी तरह पराजित हुई, स्वयं सिल्युकस बन्दी हुआ। उसने याचना करके चन्द्रगुप्तसे सन्धि कर ली और समस्त पंजाब और सिन्धको ही नहीं अफ़गानिस्तान और कन्दहारको भी खाली करके मौर्य सम्राट् को समर्पण कर दिया। जो चार प्रान्त सिल्युकसने चन्द्रगुप्तको इस प्रकार दिये उनके नाम परोपनिसडाइ अरिया, अर्खोशिया और गदरोशिया (काबुल, हिरात, कन्दहार और बलुचिस्तान) थे। इसके अतिरिक्त कम्बोज (बदख्शाँ) और पामीर भी मौर्य सम्राट्के आधीन हुए। सिल्युकसने अपनी पुत्री हेलेनका विवाह भी मौर्य नरेश (या उसके युवराजके साथ) कर दिया। चन्द्रगुप्तने भी मैत्रीके चिह्न स्वरूप उसे पाँच सौ हाथी भेंट किये। इस प्रकार अपनी वीरता और पराक्रमसे चन्द्रगुप्तने अपनी स्वभावसिद्ध प्राकृतिक सीमाओंसे

बद्ध प्राय: सम्पूर्ण भारतपर अपना एकच्छत्र आधिपत्य स्थापित कर लिया। इतनी पूर्णताके साथ समग्र भारतवर्षपर संभवतया आज तक अन्य किसी सम्राट्का, अंग्रेजोंका भी अधिकार नहीं हुआ।

इसी युद्धके परिणाम स्वरूप सिल्युकसका मेगेस्थनीज़ नामक एक यूनानी राजदूत ई० पू० ३०३ में पाटलिपुत्रके दरबारमें आया, कुछ दिन यहाँ रहा और उसने राजा, उसकी दिनचर्या, राजधानी, शासनव्यवस्था, लोकदशा, रीति-रिवाजों आदिका वर्णन किया जो कि भारतके तत्कालीन इतिहासका सर्वाधिक मूल्यवान साधन बना। दुर्भाग्यसे मेगेस्थनीजके वृत्तान्त मूलत: नष्ट हो गये, किन्तु उसके दो तीन सौ वर्ष बाद जिन यूनानी इतिहासकारोंने भारतके सिकन्दर-सेल्युकसकालीन इतिहास लिखे उन्हें वह प्राप्त थे, उन्हींके आधारपर और बहुधा उनके उद्धरणोंसहित ये इतिहास लिखे गये हैं अत: मेगेस्थनीज़की साक्षी बहुत कुछ अंशोंमें आधुनिक इतिहासकारोंको भी प्राप्त हो गई। मेगेस्थनीजने भारतवर्षके भूगोल, जातियों, प्राचीन अनुश्रुतियों, रीतिरिवाजों, जनताके उच्च चरित्र एवं ईमानदारी, राजधानीकी सुन्दरता एवं सुदृढ़ता, सम्राट्के चरित्र एवं दिनचर्या, उसकी न्यायप्रियता, राजनैतिक पटुता एवं शासन-कुशलता, विपुल चतुरंगिणी सैन्यशक्ति जिसमें चार लाख वीर सैनिक, नौ हज़ार हाथी तथा अनेक अश्व, रथ आदि थे और जिसका अनुशासन आदर्श था, प्रजाके दार्शनिक या पंडित, कृषक, शिल्पी, व्यवसायी एवं व्यापारी, व्याध एवं पशुपालक, सिपाही, राज्यकर्मचारी, गुप्तचर व निरीक्षक, मन्त्री एवं अमात्य आदि सात वर्गोंका, सेनाके विभिन्न विभागोंका, नागरिक शासनके लिए छ: समितियोंका, विभिन्न प्रकारके गुप्तचरों, आदि अनेक उपयोगी बातोंका वर्णन किया है। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि भारतवर्षमें दासप्रथाका सर्वथा अभाव है। उसने यह भी लिखा है कि भारतीयोंमें लेखनकलाका विशेष प्रचार नहीं है और वे अपने धर्मशास्त्रों, अनुश्रुतियों तथा अन्य बातोंके लिए अधिकांशत: मौखिक परंपरा एवं स्मृतिपर ही

निर्भर रहते हैं। मेगेस्थनीजके वृत्तान्त, कौटिल्यके अर्थशास्त्र, अशोक व संप्रति आदिके शिलालेखों तथा जैनाजैन भारतीय अनुश्रुतियोंसे चन्द्रगुप्त और चाणक्य द्वारा स्थापित एवं सञ्चालित मौर्य साम्राज्य की उत्तम शासन व्यवस्थाका बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। प्रजाकी जन्म मृत्यु गणनाका ब्यौरा रखना, विदेशियोंके गमनागमनकी सूचनाएँ प्राप्त करना, नाप तौल एवं बाज़ारका नियन्त्रण, अतिथिशाला, धर्मशालाएँ, राजपथ आदि सभी बातों की व्यवस्था थी। देशका देशी विदेशी व्यापार बहुत उन्नत था, अनेक प्रकारके उद्योगधंधे यहाँ होते थे और राजा प्रजा दोनों ही अत्यन्त धन-वैभव संपन्न थे। विद्वानोंका राज्यमें आदर था। स्वयं सम्राट् श्रमणों एवं ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके या उनके पास जाकर आवश्यक परामर्श लेता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें सम्पूर्ण भारतके रूपमें चक्रवर्ती क्षेत्रकी जो परिभाषा है वही समुद्रसे समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण क्षेत्र मौर्य सम्राट्के आधीन था। विजित, अंत और अपरान्तके भेदसे यह क्षेत्र तीन विभागोंमें विभक्त था। सीधे केन्द्रीय शासनके अन्तर्गत जो क्षेत्र था वह विजित कहलाता था और अनेक चक्रोंमें विभाजित था। त्रिरत्न, चैत्य एवं दीक्षा वृक्ष आदि जैन धार्मिक प्रतीकोंसे युक्त सिक्के भी इस सम्राट्के प्राप्त हुए हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य धर्मात्मा भी था और साधुओंका विशेष रूपसे आदर करता था। जैन अनुश्रुतियोंमें ब्राह्मण साहित्यकी भाँति उसे वृषल या शूद्र नहीं कहा वरन् शुद्ध क्षत्रियकुलोत्पन्न कहा है। अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ तिलोयपण्णत्तिमें उसे उन मुकुटबद्ध मांडलिक सम्राटोंमें अन्तिम कहा गया है जिन्होंने जिन दीक्षा लेकर अन्तिम जीवन जैन मुनिके रूपमें व्यतीत किया था। वह आचार्य भद्रबाहुकी परम्पराका अनुयायी था और उनका ही पदानुसरण करनेका इच्छुक था। अतः ई० पू० २९८ में लगभग २५ वर्ष राज्य करनेके उपरान्त अपने पुत्र बिन्दुसारको राज्य देकर वह मुनि हो गया और दक्षिणकी ओर चला गया। संभवतया सुराष्ट्रके गिरि-नगरकी जिस गुफामें उसने कुछ दिन निवास किया था उसे चन्द्रगुफा कहा

जाने लगा। वहाँसे वह कर्णाटक देशके श्रवणबेलगोल स्थानमें पहुँचा। इसी स्थानपर भद्रबाहु श्रुतकेवलिने देह त्याग किया था। अतः इस स्थानके एक पर्वतपर चन्द्रगुप्त मुनिने भी तपस्या की और ई० पू० २९० के लगभग सल्लेखना पूर्वक देह त्याग किया। उनकी स्मृतिमें उसी समयसे वह पर्वत चन्द्रगिरि नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसके ऊपर जिस गुफा (चन्द्रगुप्त बसति) में उन्होंने समाधिमरण किया था उसमें उनके चरण चिह्न बने हुए हैं। वहाँ कई एक लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष प्राचीन शिलालेख भी अङ्कित हैं जो इस सम्राट्के जीवनकी उक्त महान् अन्तिम घटनाका उल्लेख करते हैं। इस नरेशके समयमें इतिहासकालमें प्रथम बार भारतवर्ष अपनी राजनैतिक पूर्णता एवं साम्राज्यिक एकताको प्राप्त हुआ और मगध साम्राज्य अपने चरमोत्कर्षपर पहुँचा था।

चन्द्रगुप्तके पश्चात् नन्दसुता सुप्रभासे उत्पन्न उसका पुत्र बिन्दुसार अमित्रघात (यूनानी लेखकोंका अमिट्रोचेटिस) सिंहासनारूढ़ हुआ। ई० पू० २९८–२७३ पर्यन्त लगभग २५ वर्ष उसने राज्य किया। अपने पिता और माताके समान वह भी जैन धर्मावलम्बी रहा प्रतीत होता है। वह अपने प्रतापी पिताका योग्य उत्तराधिकारी था और उसके राज्य-कालमें साम्राज्यका विस्तार, शक्ति, समृद्धि एवं प्रताप पूर्ववत् ही बना रहा। प्रारंभमें महामन्त्री चाणक्य ही उसके भी पथ प्रदर्शक रहे। ये इस समय पर्याप्त वृद्ध हो चुके थे और राज्यकार्यसे विरत हो कर आत्मकल्याण करनेके इच्छुक थे। किन्तु महाराज चन्द्रगुप्तके अत्यन्त आग्रहसे उसके पुत्रकी देख-रेख करनेके लिए कुछ दिन और ठहर गये। बिन्दुसार युवक था, चाणक्यका आदर तो करता था किन्तु उनके प्रभावसे असन्तुष्ट था। राज्यकार्यमें तो वे अब कोई सक्रिय भाग नहीं लेते थे परन्तु उनके अधिकार अभी भी सब पूर्ववत् थे। युवक सम्राट्का यह असन्तोष चाणक्यसे छुपा न रहा अतः ई० पू० २९५ के लगभग वे संसार त्याग मुनि हो गये।

भगवतीआराधना आदि अत्यन्त प्राचीन जैन ग्रन्थोंमे मुनीश्वर चाणक्यके दुर्द्धर तपस्या करने और घोर उपसर्ग सहते हुए सल्लेखना पूर्वक देह त्याग करनेके उल्लेख मिलते हैं। चाणक्यका निजी धर्म जो भी रहा हो एक शासक, मन्त्री एवं राजनीतिज्ञके रूपमें उनकी नीति एव व्यवहार सर्वथा धर्मनिरपेक्ष थे। साम्राज्यकी उन्नति और प्रजाका मंगल जैसे बने वैसे करना उनका ध्येय था। एक राजपुरुप एवं गृहस्थ संसारीके रूपमे उनका समस्त लोकव्यवहार व्यावहारिक, नीतिपूर्ण एवं सर्वथा असाम्प्रदायिक था, किन्तु अन्त समयमे एक साधुके रूपमें वे पक्के जैन थे। उनके प्रसिद्ध अर्थशास्त्रके जो भी उपलब्ध सस्करण प्राप्त हैं उनके आधारपर उनके स्वयंके धर्मका निर्णय करनेमे भूल होनेकी संभावना है। प्रथम तो वह एक लौकिक शास्त्र है, दूसरे मूल रूपमे उपलब्ध नहीं है, जो है वह न जाने उनके कितना पीछेका, क्षेपकपूर्ण एवं विकृत संस्करण है, तीसरे जो उपलब्ध है उसमें भी जैनधर्म और जैनोंका उल्लेख है, उनके प्रति विरोध या विद्वेष कहीं प्रदर्शित नहीं होता और न्यायसम्पन्न वैभवकी प्राप्तिके उपाय आदि अनेक प्रकरणोंमें जैनधर्मका प्रभाव प्रत्यक्ष लक्षित होता है। कौटिल्य–चाणक्यका यह अर्थशास्त्र निस्सन्देह भारतीय राजनीतिका सर्व महान् एवं सर्वप्राचीन उपलब्ध एवं ज्ञात आर्ष ग्रन्थ है। लगभग ५० वर्ष पूर्व डा० आर० शामा शास्त्रीको उसकी एकमात्र प्रति प्राप्त हुई थी, तदुपरान्त ही विद्वानोंने उसके सम्बन्धमें विशेष ऊहापोह प्रारम्भ की और उक्त प्रतिके आधारपर उसके मूलका समय ईस्वी सन् की दूसरी तीसरी शती निर्धारित किया। स्पष्ट है कि वह चाणक्यका मूल अर्थशास्त्र न था। लगभग ८२ वर्षकी आयुमें ई०पू० २९३ के लगभग महामति चाणक्यकी मृत्यु हुई। बिन्दुसार अब स्वच्छन्द था किन्तु चन्द्रगुप्त और चाणक्यके अभिभावकत्वमें जिसकी शिक्षा-दीक्षा हुई हो वह निकम्मा या अशक्त शासक नहीं हो सकता था। उसका शासनकाल शान्तिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित रहा। मध्यएशियाके भारतीय यूनानी सम्राटोंसे भी उसके राजनैतिक

आदान-प्रदान हुए। मिस्र, सीरिया आदिके यूनानी नरेशोंसे उसने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रक्खे। सिल्युकसके उत्तराधिकारी अन्तियोकस सोतरने उसकी राजसभामें डेइमेकस नामक यूनानी राजदूत भेजा था। मिस्र देशके राजा टालेमीने भी डायनिसयो नामक दूत भेजा था। इन राजाओंने नानाविध उपहार एवं भेंटोंका भी आदान-प्रदान किया। उसने यूनानी दार्शनिकोंको भारत आनेका निमंत्रण दिया था। चन्द्रगुप्तने दक्षिणकी विजय की थी किन्तु उसे सुसंगठित और स्थायी करनेका अवसर उसे नहीं मिला था। बिन्दुसारने भी दक्षिण यात्रा की। अपने कुलगुरु भद्रबाहुके समाधिस्थान तथा अपने पिता मुनि चन्द्रगु के दर्शन करने या सम्भव है उसकी मृत्युके उपरान्त उसकी तपोभूमि एवं समाधिका दर्शन करनेके लिए दक्षिण देशकी यात्रा करने जाना उसके व्यक्तिगत उद्देश्य थे, और विजित प्रदेशोंपर मौर्य आधिपत्य स्थायी करना तथा पहली विजयसे छूट गये देशोंको भी विजय करके सागरसे सागर पर्यन्त सम्पूर्ण दक्षिणपर अधिकार करना उसके राजनैतिक लक्ष्य थे। और इन दोनोंमें ही वह सफल हुआ। भद्रबाहु एवं चन्द्रगुप्तकी तपोभूमि श्रवणबेलगोलमें उसने कई एक जैन मन्दिर आदि भी निर्माण कराये बताये जाते हैं। तिब्बती इतिहासकार तारानाथके अनुसार उसने सोलह राजधानियों एवं उनके मंत्रियोंका उच्छेद किया था। उसका साम्राज्य सम्पूर्ण भारतवर्षपर निष्कण्टक था। चाणक्यके उपरान्त उसका प्रधान अमात्य राधागुप्त था जो बहुत कुशल और योग्य था। वह भी चाणक्यका ही शिष्य था। बिन्दुसारके अन्तिम दिनोंमें तक्षशिलामें विद्रोह हुआ। उसने अपने पुत्र राजकुमार अशोकको उसका दमन करनेके लिए भेजा। अशोकके पहुँचते ही समस्त नागरिकोंने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया और आत्म-समर्पण कर दिया। उन्होंने कहा कि उन्हें न सम्राट्से कोई विरोध है और न राजकुमारसे किन्तु तक्षशिलाका जो तत्कालीन शासक है उसके अत्याचारसे वे विद्रोही हो उठे हैं। राजकुमारने सहानुभूतिपूर्वक उनकी बात सुनी,

शासकको उचित दण्ड दिया और अपने चातुर्यसे सहज ही विद्रोह शान्त कर दिया। ई० पू० २७३ के लगभग सम्राट् बिन्दुसार अमित्रघातकी मृत्यु हुई। बौद्धग्रन्थ दिव्यावदानमें इस प्रतापी सम्राट्को क्षत्रियमूर्धाभिषिक्त कहा है।

बिन्दुसारके उपरान्त उसका पुत्र अशोक मौर्यसाम्राज्यका अधिपति हुआ। आधुनिक इतिहासकारोंके अनुसार उसकी गणना भारतवर्षके ही नहीं संसारके सर्वमहान् सम्राटोंमें है। यह भी आमतौरसे माना जाता है कि वह बौद्धधर्मका अनुयायी था। बौद्ध साहित्य और अनुश्रुतियोंमें इस नरेशसे सम्बन्धित अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनमेंसे अधिकांशको अतिरंजित या कपोलकल्पित माना जाता है। ब्राह्मण अनुश्रुति उसके सम्बन्धमें प्रायः मौन है। जैन अनुश्रुतियोंमें अवश्य कुछ विवरण मिलते हैं किन्तु उनसे बौद्ध अनुश्रुतियोंका बहुत कम समर्थन होता है। अशोकके सम्बन्धमें सबसे बड़ा ऐतिहासिक आधार वे शिलालेख हैं जो उसके नामसे प्रसिद्ध हो रहे हैं। इन अभिलेखोंमें आठ विभिन्न स्थानोंमें बृहद् शिला खण्डोंपर उत्कीर्ण १४ प्रज्ञापन हैं जो सर्वत्र प्रायः समान हैं, सात प्रधान स्तम्भ लेख हैं, दो लघु शिलालेख हैं, दो लेख कलिंगाभिलेखोंके नामसे प्रसिद्ध हैं, पाँच लघु स्तम्भ लेख हैं और तीन गुहाभिलेख हैं। गत लगभग सौ वर्षोंमें इन विभिन्न शिलालेखोंके ऊपर पाश्चात्य एवं पौर्वात्य प्राच्यविदों तथा इतिहासकारोंने बहुत कुछ ऊहापोह किया है और उनके आधारपर सम्राट् अशोकके चरित्र, व्यक्तित्व, विचारों, धर्म, राज्यकाल एवं शासन व्यवस्था आदिका निर्माण और उसकी महत्ताका मूल्याङ्कन किया है। किन्तु इन शिलालेखोंमेंसे सिवाय एक मास्की शि०ले० को छोड़कर अन्यत्र कहीं स्वयं अशोकका नामोल्लेख नहीं मिलता। केवल 'देवानांप्रिय' या 'प्रियदर्शी' या 'देवानांप्रियस्य प्रियदर्शिन् राजा' आदि पद ही उसके सूचक मिलते हैं। जिस शिला-लेखमें, सो भी केवल एक ही बार, उसके मूल नामका उल्लेख है भी वह सम्बन्ध कारक (अशोकस्स) में है और उसके

आगे कुछ स्थान त्रुटित है जो पढ़ा नहीं जाता। ऐसे भी कई विद्वान् हैं जो इन सब शिला-लेखोंको केवल अशोक द्वारा ही लिखाये गये नहीं मानते बल्कि उनमेसे कुछका श्रेय उसके उत्तराधिकारी सम्प्रतिको देते हैं। शिला-लेखोंसे अशोकको बौद्ध धर्मका सर्वमहान् प्रतिपालक एवं भक्त चित्रित करनेवाली बौद्ध अनुश्रुतियोंका भी विशेष समर्थन नहीं होता। वस्तुतः शिलालेखोंके आधारपर अशोकके धर्मको लेकर विद्वानोंमे सर्वाधिक मतभेद है। कुछ विद्वानोंके अनुसार वह बौद्ध था और बौद्ध धर्मका प्रचार करनेके उद्देश्यसे ही उसने ये लेख लिखवाये, कुछ अन्य विद्वानोंके अनुसार इन लेखोंके भाव और विचार बौद्धधर्मकी अपेक्षा जैनधर्मके अधिक निकट हैं, उसका कुल-धर्म भी जैन था अतः वह भी यदि पूरे जीवन भर नहीं तो कम-से-कम उसके पूर्वार्धमें अवश्य जैन था। ऐसे भी विद्वान् हैं और उन्हींकी बहुलता होती जाती है, जो यह मानते हैं कि वह न मुख्यतः बौद्ध था न जैन वरन् एक नीतिपरायण महान् प्रजापालक सम्राट् था जिसने अपनी प्रजाका नैतिक उत्कर्ष करनेके हेतु अपना एक नवीन समन्वयात्मक, असाम्प्रदायिक एवं व्यावहारिक धर्म लोकके सम्मुख प्रस्तुत किया था। इनमेसे एक शिलालेखमे सीरियाके अन्तियोक थियो द्वितीय (ई० पू० २६१–२४६) जो सिल्युकसका पोता था, मिस्रके तालेमी फिलेडेल्फस (ई० पू० २८५–२४७), उत्तरी अफ्रीकामें किरीनके मगस (ई० पू० २९५–२५८),मकदुनियाके अन्तिगोनस (ई०पू० २७७–२३९) और एपिरस के अलिकमुन्दर (ई० पू० २७७–२५५) आदि पश्चिमी यूनानी नरेशोंका नामोल्लेख किया गया है जिससे उसका स्वयंका समय भी प्रायः निश्चित हो जाता है। अन्य अनेक राजनैतिक एवं प्रशासकीय तथ्य, राजाके लोक-कल्याणकारी कार्य तथा लोकदशा सूचक ज्ञातव्य भी इन शिलालेखोंमें प्राप्त होते हैं।

अस्तु उपरोक्त शिलालेखोंमेंसे बहुभागका कर्त्ता अशोकको मानते हुए और उनसे प्राप्त तथ्योंका जैन एवं बौद्ध अनुश्रुतियों तथा आधुनिक

विद्वानोंके मतोंके साथ समन्वय करते हुए इस नरेशके सम्बन्धमें जो आवश्यक सूचनाएँ प्रकाशमें आती हैं उनसे पता चलता है कि उसका नाम अशोक, श्री अशोक, चण्डाशोक, अशोकचन्द्र या अशोकवर्धन था। देवानांप्रिय या प्रियदर्शी उसकी उपाधियाँ थीं। बिन्दुसार आदि उसके पूर्वजोंने तथा अन्य भी कई एक भारतीय नरेशोंने ये उपाधियाँ धारण की प्रतीत होती हैं। अपने पिताके शासन कालमें वह उज्जैनीका शासक रहा था और उसी समय निकटस्थ विदिशाके एक जैनधर्मानुयायी श्रेष्ठिकी कन्यासे उसने विवाह किया था जिससे कुणाल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। बिन्दुसारके अन्तिम दिनोंमें अशोकने तक्षशिलाके भयङ्कर विद्रोहका भी दमन किया था और उस प्रदेशका शासन-भार भी सँभाला था। इन्हीं कारणोंसे वह बिन्दुसारके सुसीम, सुमन आदि कई पुत्रोंमें सर्वाधिक योग्य समझा जाता था अतः ज्येष्ठ पुत्र न होते हुए भी पिताने उसे ही युवराज बनाया और उत्तराधिकार सौंपा। बिन्दुसारकी मृत्युके उपरान्त इन अन्य भाइयोंने विद्रोह किया किन्तु अशोकने दृढ़ताके साथ उनका दमन किया, मन्त्रीवर्ग और जनता भी उसके अनुकूल थी अतः वही सम्राट् बना। फिर भी बिन्दुसारकी मृत्यु (ई० पू० २७४-७३) के तीन-चार वर्ष बाद ही वह अपना राज्याभिषेक करानेमें समर्थ हुआ। उसके एक शिलालेखमें २५६ संख्याका उल्लेख है जिसके विद्वानोंने अनेक अर्थ किये हैं। ऐसा माननेवालोंकी भी कमी नहीं है कि यह संख्या संवत् सूचक है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संख्या द्वारा उसने अपने राज्यारोहणकी तिथि उस समयमें प्रचलित महावीर संवत् में ही दी है जिसके अनुसार वह ई० पू० २७१-७० में पड़ती है। बौद्ध कथाओंका तो कहना है कि उसने अपने ९९ भाइयोंकी हत्या करके अपना चण्ड-अशोक नाम सार्थक किया था और राज्य प्राप्त किया था। किन्तु यह कथन अतिशयोक्ति पूर्ण ही नहीं प्रायः असत्य समझा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भमें वह उग्र प्रकृतिका दृढ़ निश्चयी एवं कठोर शासक था। अपने स्वयंके भाइयोंका तथा अन्य

विरोधियोंको उसने दृढतासे दमन किया था, किन्तु तथोक्त क़त्लेआम नही। उसने कुशलता और कठोरतासे शासन किया, अपने शासनाधिकारियों एव आधीन राजाओंपर पूरा नियन्त्रण रक्खा, जिसने सिर उठाया उसे ही कुचल दिया। कलिंग देशकी विजय नन्दिवर्धनने ई० पू० ४२४ मे की थी, तभीसे वह राज्य मगधके आधीन रहता आया था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दराज्यक्रान्तिके समय मगधमें आन्तरिक कलहको देखकर कलिङ्गके राजे स्वतन्त्र हो गये। सभवतः चन्द्रगुप्त और बिन्दुसारके शासनकालोंमे उन्होंने खुले रूपमें सिर नही उठाया, किन्तु बिन्दुसारकी मृत्युके उपरान्त होनेवाले गृह-युद्धका लाभ उठाकर उन्होंने मगधके विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता खुल्लम-खुल्ला घोषित कर दी। अतः ई० पू० २६२ के लगभग अपने राज्यके ८वें वर्षमें एक भारी सेना लेकर अशोकने कलिंगपर आक्रमण कर दिया। भीषण युद्ध हुआ जिसमें लाखों व्यक्ति मृत्युके घाट उतर गये। सर्वत्र प्रचण्ड अशोक महान्का दबदबा बैठ गया, अब भविष्यमे पचासों वर्षों पर्यन्त कही कोई मौर्य सम्राट्के विरुद्ध सिर उठानेका साहस नहीं कर सकता था। किन्तु साथ ही इस भयंकर नर-संहारको देखकर दयामूलक जैन धर्मके संस्कारोंमें पला मौर्य अशोककी आत्मा तिलमिला उठी। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि भविष्यमें वह युद्धोंसे सर्वथा विरत रहेगा। उसकी आवश्यकता भी न थी। सम्पूर्ण भारतवर्षपर ही नहीं उसके बाहर सीमान्त प्रदेशोंपर भी उसका निष्कण्टक एकाधिपत्य था। शासन-व्यवस्था सुचारु थी, साम्राज्यमें सर्वत्र शान्ति और समृद्धि थी अतः अब सम्राट्ने अपना ध्यान शान्तिपूर्ण कार्योकी ओर दिया। मनुष्यों और पशुओंके लिए चिकित्सालय खुलवाये, पुराने राजपथोंकी मरम्मत और नयोंका निर्माण कराया, सड़कोंके किनारे वृक्ष लगवाये, विश्रामशालाएँ बनवाई, इत्यादि अनेक लोकोपकारी कार्य किये। उसे इतनेसे ही सन्तोष न हुआ, उसने जनताके नैतिक चरित्रको उन्नत करनेका भी प्रयत्न किया और उनमें असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति पैदा करनेके लिए उसने

एक ऐसे राष्ट्र-धर्मका प्रचार किया जो व्यावहारिक एवं सर्वग्राह्य था। उसने श्रमणों और ब्राह्मणों दोनों ही वर्गोंके विद्वानोंका आदर किया, उनसे विचार-विमर्श किया और उनका सत्संग किया। उसने धर्मयात्राओं और धर्मोत्सवोंकी भी योजना की। साम्राज्यके विभिन्न स्थानोंकी उसने यात्रा की और जैन, बौद्ध और संभवतया ब्राह्मण परम्पराके भी तीर्थो एवं दर्शनीय स्थानोंको देखा। विभिन्न धर्मो एवं सम्प्रदायोंसे सम्बन्धित संस्थाओं, आश्रमों, मठों और संघोंका भी निरीक्षण किया। जिसमें जहाँ जो सुधारकी आवश्यकता देखी उसे प्रेरणा द्वारा अथवा कानून द्वारा करानेका प्रयत्न किया। जीवदया और व्यावहारिक अहिंसाको उसने अपना मूलमन्त्र बनाया और अपने धर्मका जनतामें प्रचार करनेके लिए प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों एवं केन्द्रोंमें उसने अपनी प्रज्ञप्तियाँ शिलाखण्डों एवं स्तम्भोंपर उत्कीर्ण करवाई। ये अभिलेख उसने ई० पू० २५५ के उप-रान्त भिन्न-भिन्न समयोंमे लिखवाये प्रतीत होते हैं। उसने मक्खलि-गोशालके सम्प्रदायके आजीवक साधुओंके लिए भी गयाके निकट 'बराबर' नामक पहाड़ियोंपर गुफाएँ बनवाई थीं। गिरिनगरकी तलहटीमे अपने पितामह चन्द्रगुप्त द्वारा बनवाये गये सुदर्शन तालका भी अपने यवन अधिकारी तुहषास्फकी देख-रेखमें जीर्णोद्धार कराया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि कलिंग युद्धके आस-पास अशोकने एक बौद्ध सुन्दरीके साथ जिसका नाम संभवतया तिष्यरक्षिता था, विवाह कर लिया था। वह स्वयं इस समय अधेड वयका था। इस बौद्ध रानीके प्रभावमें कुछ अधिक आया और उसको प्रसन्न करनेके लिए संभवत: बौद्ध धर्ममें भी कुछ विशेष दिलचस्पी लेने लगा जिसके कारण बौद्ध लोग यह समझने लगे कि वह बौद्ध धर्मका अनुयायी हो गया। सम्प्रतिकथा आदि कथाओंसे पता चलता है कि उसका ज्येष्ठ पुत्र युवराज कुणाल बहुत ही सुन्दर था और उसकी आँखें कुणाल पक्षीके समान अत्यधिक आकर्षक थीं। उसकी विमाता तिष्यरक्षिता उसपर मोहित हो गई किन्तु राजकुमार सदाचारी

था अतः रानी अपनी कुचेष्टाओंमें विफल हुई। प्रतिहिंसासे दग्ध रानीने षड्यन्त्र करके सम्राट्की मुद्रासे अंकित एक आज्ञा भिजवाकर कुणालको अन्धा करवा दिया। कुणाल कुशल संगीतज्ञ भी था अतः वह भिखारीके वेषमें राजधानीमें आया और सम्राट्के महलके नीचे गाने लगा। गीतके मिस उसने अपना परिचय और स्वयंपर किये गये अत्याचारका भी संकेत किया। सम्राट्ने उसे पहचानकर तुरत बुलाया, सब हाल जानकर तिष्यरक्षिताको जीते जी जलवा दिया, उसके साथियों एवं सहयोगियोंको भी कठोर दंड दिया, उसे स्वयं बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने कुणालके नवजात शिशु संप्रतिको अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। इसी समयके लगभग पाटलिपुत्रमें बौद्धाचार्य मौग्गलायन तिस्सकी अध्यक्षतामें तीसरा बौद्ध सम्मेलन एवं त्रिपिटककी संगीति हुई। सम्मेलनके नेताओंने यह निर्णय किया कि बौद्ध धर्मका प्रचार करनेके लिए बौद्ध भिक्षुओंको विदेशोंमें जाना चाहिए। अतः बर्मा, तिब्बत, मध्यएशिया, लंका आदिमें बौद्ध प्रचारक गये। लंका (सिंहल) में उस समय विजयवंशी नरेश देवानां प्रिय तिष्य राज्य करता था। वह सम्राट् अशोकके साथ भेंट आदिके आदान-प्रदान द्वारा मैत्री संबंध बनाये हुए था। उसने मगधसे आये हुए बौद्ध प्रचारकोंका जिनके नेता स्वयं सम्राट्के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघरक्षिता थे, सादर स्वागत किया। महेन्द्र और संघरक्षिता संभवतया अशोकके उसकी बौद्ध पत्नीसे उत्पन्न पुत्र-पुत्री थे। इसी समयसे विदेशोंमें बौद्ध धर्मका प्रचार प्रारंभ हुआ। सम्राट्को स्वयं इस प्रचारमें कोई आपत्ति न थी, वरन् इसके बहाने भारतीय संस्कृतिका विदेशोंमें प्रसार होनेकी भावनासे उसने यथावश्यक सहयोग और सहायता भी दी प्रतीत होती है। किन्तु बौद्ध साहित्यमें जो उसे एक कट्टर बौद्ध चित्रित किया गया है और उसके द्वारा ८४००० स्तूप निर्माण कराये जाने आदिका वर्णन है वह अतिशयोक्ति पूर्ण है। अशोकके समय तक बुद्ध जन्मस्थानपर राज्य-कर लगा हुआ था जिसे उस सहिष्णु नरेशने माफ़ कर दिया।

सारनाथ आदिके बौद्ध विहारोंके साधुओंका उसने अनुशासन किया। ये बातें उसे बौद्ध नहीं बतातीं वरन् उसकी समदर्शिताकी सूचक है।

वस्तुतः अशोक सम्बन्धी बौद्ध कथानकोंको विन्सेन्ट स्मिथ जैसे इतिहासकार शेखचिल्लीकी कहानियोंसे अधिक महत्त्व नहीं देते। डा० भण्डारकर भी उनमें ऐतिहासिक सत्य नहींके बराबर मानते है। प्रो० कर्न आदि विद्वानोंका भी ऐसा ही मत है। अन्य अनेक विद्वान् अशोकके बौद्ध धर्मी होनेकी बात अस्वीकार करते हैं और कथन करते हैं कि उसके शिलालेखोंमें कोई ऐसी बात नहीं है जिसका बौद्धधर्मके साथ विशेष रूपमें सम्बन्ध हो, वरन् उन प्रज्ञप्तियोंका भाव जैनधर्मकी मान्यताओंके साथ अधिक सादृश्य रखता है। प्रो० राइस और डा० थामस प्रभृति विद्वान् तो कम-से-कम उसके जीवनके पूर्वार्धमें उसका निश्चयसे जैन होना सिद्ध करते हैं। उसने पशुवधका निवारण करने और मांसाहारका निषेध करनेके लिए कड़े नियम बनाये थे। वर्षके जिन ५६ दिनोंमें उसने जीवहिंसा सर्वथा एवं सर्वत्र बन्द रखनेकी राजाज्ञा जारी की थी वे दिन कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें दिये गये पवित्र दिनों एवं जैन परम्पराके पर्व दिनोंसे प्रायः पूरी तरह मेल खाते हैं। शिलालेखोंमें उसके द्वारा निर्ग्रन्थों (नग्न जैन मुनियों) का विशेष रूपसे आदर करनेके उल्लेख हैं। ये उल्लेख अल्पसंख्यक इस कारणसे हैं कि उत्तर भारतके मगध आदि देशोंमें इन नग्न दिगम्बर मुनियोंका विहार अशोकके समयमें अपेक्षाकृत विरल था, दक्षिण देशमें उनका बाहुल्य था। मगधका जो जैन संघ इस कालमें प्रबल होता जा रहा था वह स्थूलभद्रकी परम्पराका था और खंडवस्त्रधारी हो चला था। सामान्य श्रमण शब्दसे सब प्रकारके जैन साधुओंका बोध होता ही था। राजतरंगिणी एवं आइनेअकबरीके अनुसार अशोकने कश्मीरमें जैन धर्मका प्रवेश किया था और इस कार्यमें उसने अपने पिता बिन्दुसार तथा पितामह चन्द्रगुप्तका अनुकरण किया था। कश्मीरके श्रीनगरको बसानेका श्रेय भी अशोकको ही दिया जाता है। वह

नैपाल भी गया था और वहाँ उसने ललितपट्टन नामक नगर बसाया था। उसकी पुत्री चारुमती एवं जामाता देवपाल वहीं बस गये। कर्णाटकके श्रवण-बेल्गोलमें उसने जैन मन्दिरोंका निर्माण कराया बताया जाता है। इस विषयमें अनेक विद्वानोंको सन्देह नहीं है कि अशोक जैनधर्मके दयामूलक उपदेशोंसे प्रभावित था। उसका कुल परम्परा धर्म जैनधर्म था ही। अपने जीवनके अन्तिम कुछ वर्षोंमें उसने राज्य कार्यसे विरत होकर एक त्यागी गृहस्थ या व्रती श्रावककी भाँति जीवन बिताया प्रतीत होता है। इस कालमें उसकी दानशीलता अतिशयको पहुँच गई बताई जाती है जिसके कारण अमात्योंने उसपर प्रतिबन्ध लगा दिये। राज्यकार्य कुणाल करता था। ई० पू० २३४ या २३२ में लगभग ४० वर्ष राज्य करनेके उपरान्त उसकी मृत्यु हुई। कुछ लोग उसकी मृत्यु तक्षशिलामें हुई बताते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि सम्राट् अशोक विश्वके सर्वमहान् नरेशोंमेंसे एक है। उसका साम्राज्य अतिविस्तृत एवं अत्यन्त समृद्ध, उसका शासनकाल सुख शान्ति पूर्ण, उसका व्यक्तित्व महान् और उसकी प्रतिभा एवं प्रताप अप्रतिम थे। वह सभी धर्मोंका समान भावसे समादर करता था और एक नितान्त असाम्प्रदायिक किन्तु धर्मभाव पूर्ण, प्रजा वत्सल, लोकोपकारक नीतिमान नरेन्द्र था। सीरिया, मिस्र, यूनान, बर्मा, सिंहल आदि विदेशोंपर भी उसके आदर्शों एवं भारतीय संस्कृतिका प्रभाव पड़ा। मिस्रके टालेमी ने अपना प्रसिद्ध पुस्तकालय स्थापित किया और वह भारतीय ग्रन्थोंका अनुवाद करानेका इच्छुक था। श्रमणोंके आदर्शपर अनेक साधु सम्प्रदाय भी पश्चिमी देशोंमें प्रचलित हुए।

अशोककी मृत्युके उपरान्त उसका पुत्र कुणाल अपरनाम सुयश साम्राज्यका उत्तराधिकारी हुआ, किन्तु वह नेत्र-विहीन था अतः उसकी पत्नी कञ्चनमालासे उत्पन्न उसका पुत्र सम्प्रति प्रारम्भमें पिताके नामसे और कालान्तरमें स्वतंत्र राज्य करने लगा। सम्राट् सम्प्रतिने उज्जैनीको अपनी प्रधान राजधानी बनाया और अशोकका एक अन्य पौत्र बन्धुपालित

दशरथ मगधका शासक हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि वह नाम मात्रके लिए ही सम्प्रतिके आधीन था और इस समयसे मौर्यवंशकी दो शाखाएँ एक जो प्रधान थी उज्जैनीमें और दूसरी मगधमें एक दूसरेसे प्रायः स्वतंत्र प्रारम्भ हुईं। दशरथ आजीवक साधुओंका विशेष भक्त था और उसने उनके लिए 'बराबर' नामक पर्वतपर कई गुफाएँ बनवाईं जिनमें उसके शिलालेख भी मिलते हैं।

सम्राट् सम्प्रति उपनाम इन्द्रपालित, संगत एवं विगताशोकने ई०पू० २३२से १९०तक लगभग ४२ वर्ष राज्य किया। वह अपने पितामह अशोकके समान ही एक महान्, प्रजावत्सल, शान्तिप्रिय एवं प्रतापी सम्राट् था। जैनसंघकी मागधी शाखाके नेता आचार्य सुहस्ति उसके धर्मगुरु थे। उनके उपदेशसे सम्प्रतिने एक आदर्श जैन नरेशकी भाँति जीवन व्यतीत किया। जैन संघकी इस शाखाने भी अब मगधका परित्याग करके उज्जैनीको अपना प्रधान केन्द्र बनाया। सम्प्रतिने जैन धर्मकी प्रभावना एवं प्रचारके लिए अथक प्रयत्न किया। बौद्धजनश्रुतिमें बौद्धधर्मके लिए अशोकने जो कुछ किया बताया जाता है जैन अनुश्रुतिके अनुसार सम्प्रतिने जैन धर्मके लिए उससे कुछ अधिक ही किया बताया जाता है। अनेक तीर्थोंकी वन्दना, जीर्णोद्धार, अनगिनत नवीन जिन मंदिरों एवं मूर्तियोंका विभिन्न स्थानोंमें निर्माण तथा प्रतिष्ठा, विदेशोंमें जैन धर्मके प्रचारके लिए प्रचारक भेजना, धर्मोत्सवोंका मनाना, साम्राज्यभरमें अहिंसा प्रधान जैनाचारका प्रसार करना इत्यादि अनेक कार्योंका श्रेय इस सम्राट्को दिया जाता है। विन्सेन्ट स्मिथके अनुसार उसने अरब और ईरानमें भी जैन संस्कृतिके केन्द्र स्थापित किये थे। प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकारके अनुसार "चाहे चन्द्रगुप्तके चाहे सम्प्रतिके समयमें जैन धर्मकी बुनियाद तामिल भारतके नये राज्योंमें भी जा जमी, इसमें सन्देह नहीं। उत्तर पश्चिमके अनार्य देशोंमें भी सम्प्रतिके समयमें जैन प्रचारक भेजे गये और वहाँ जैन साधुओंके लिए अनेक विहार स्थापित किये गये। अशोक और सम्प्रति दोनोंके कार्यसे आर्य संस्कृति एक विश्व संस्कृति बन गई और

आर्यावर्तका प्रभाव भारतकी सीमाओंके बाहरतक पहुँच गया । अशोककी तरह उसके इस पोतेने भी अनेक इमारतें बनवाईं । राजपूतानेकी कई जैन कलाकृतियाँ उसके समयकी कही जाती हैं । जैन लेखकोंके अनुसार सम्प्रति समूचे भारतका स्वामी था ।" कई विद्वानोंका यह भी मत है कि अशोकके नामसे प्रचलित शिलालेखोंमेंसे अनेक सम्प्रति द्वारा उत्कीर्ण कराये गये, हो सकते हैं । अशोकको अपने इस पौत्रसे अत्यधिक स्नेह था, इसी कारण उसने इसे अपना उत्तराधिकारी भी बनाया था । उनका कहना है कि अशोककी उपाधि देवानांप्रिय थी और संप्रतिको वह प्रियदर्शिन् कहता था अतः जिन शिलालेखोंमें 'देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिन राजा' द्वारा उनके लिखाये जानेका उल्लेख है वे संभवतया सम्प्रतिके हैं, विशेष कर उनमेंसे भी वे शिलालेख जिनमें जीवहिंसा निषेध एवं धर्मोत्सवों आदिका वर्णन है । जैन साहित्य, विशेषकर श्वेताम्बर परंपराके ग्रन्थों यथा परिशिष्टपर्व, सम्प्रतिकथा आदिमें,सम्राट् सम्प्रतिके विषयमें बहुत कुछ लिखा मिलता है । इस नरेशके कई रानियाँ और पुत्र-पुत्रियाँ थीं । बौद्ध अनुश्रुतिमें भी इस नरेशका उल्लेख मिलता है । प्रियदर्शी राजाके नामसे प्रचलित शिलालेखों के आधारपर उनके कर्त्ता नरेशके द्वारा धर्मराज्यके सर्वोच्च आदर्शोंके अनुसार एक सदाचारपूर्ण राज्य स्थापित करनेके प्रयत्नोंके लिए उस राजाकी तुलना गौरवके सर्वोच्च शिखरको प्राप्त इज़राइलके सम्राट् दाऊद एवं सुलेमानसे की जाती है, निजधर्मको इस प्रकारका प्रश्रय देनेके लिए जो उसे एक स्थानीय धर्मकी स्थितिसे उठाकर विश्वधर्म बननेमें सहायक हो उसकी तुलना ईसाई मतके लिए किये गये सम्राट् कान्स्टेन्टाइन-के प्रयत्नोंसे की जाती है, अपनी दार्शनिकता एवं पवित्र विचारोंके लिए वह रोमन सम्राट् मारकस ओरेलियसका स्मरण दिलाता है, अपने साम्राज्य विस्तार एवं शासन प्रणालीमें वह शार्लमेन महान्के समकक्ष है, उसकी सीधी सरल पुनरावृत्तियोंसे पूर्ण प्रस्तराङ्कित प्रज्ञप्तियोंमें क्रामवेलकी शैली ध्वनित होती है, अनेक बातोंमें वह खलीफ़ा उमर और मुग़ल सम्राट्

अकबरके समान था। विश्वके सर्वकालीन महान् नरेशोंकी कोटिमें इस प्रकार परिगणित यह भारतीय सम्राट्, चाहे वह अशोक हो या सम्प्रति अथवा दादा पोते दोनों ही समान रूपसे हों, भारतीय इतिहासके गौरव हैं और रहेंगे। ई० पू० १९० के लगभग ६० वर्षकी आयुमें सम्प्रतिकी मृत्यु हुई। लगभग ४० वर्ष उसने स्वतंत्र राज्य किया। उसमें उसके यौव-राज्य कालको जो उसकी शैशवावस्थामें ही प्रारम्भ हो गया था, कम-से-कम अशोकके अन्तिम वर्षोंको जबसे कुणालके साथ-साथ वह राज्य-कार्य कर रहा था, सम्मिलित कर दिया जाय तो उसका राज्यकाल ५० वर्षके लगभग होता है जो जैन अनुश्रुतिमें समर्थित है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ उसका राज्यकाल ५४ वर्ष बताता है।

सम्प्रतिके उपरान्त उसका पुत्र शालिशुक उज्जैनीके सिंहासनपर बैठा। वह भी अपने पिता एवं अन्य पूर्वजोंकी भांति जैन धर्मका भक्त था। इसने भी दूर-दूर तक जैन धर्मका प्रचार किया बताया जाता है। इसने अल्पकाल ही राज्य किया। इसके उपरान्त वृषसेन, पुष्यधर्मन् आदि कुछ अन्य राजे हुए और उज्जैनीमें १४८ वर्षके उपरान्त ई० पू० १६४ में मौर्य वंशका अन्त हो गया।

मगधमें दशरथके पश्चात् देववर्मन्, सतधनुष और बृहद्रथ आदि राजे हुए। इनमेंसे एक-आध राजा प्रजापीड़क भी था। अन्तिम नरेश बृहद्रथ की उसके ब्राह्मण मन्त्री पुष्यमित्र शुङ्गने धोखेमें हत्या करके राज्यसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया, और इस प्रकार मगधमें लगभग १३७ या १३३ वर्ष बाद ई०पू० १८४ में मौर्य वंशका अन्त हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रतिके शासन कालमें ही ई०पू० २०४के लगभग मौर्य साम्राज्यकी एकता भङ्ग होने लगी थी और कम-से-कम वे प्रदेश जिनपर मौर्यवंशके ही राजपुरुष प्रान्तीय शासक थे, स्वतन्त्र होने लगे थे। यही कारण है कि कुछ जैन अनुश्रुतियोंमें मौर्यवंशका काल १०८ वर्ष भी दिया है। कश्मीरमें सम्प्रतिका भाई या चाचा जालक स्वतंत्र हुआ, कुछके अनुसार वह जैनी था और

कुछके अनुसार शैव। उसने म्लेच्छोंके जो संभवतया यूनानी थे, आक्रमणसे देशको मुक्त किया बताया जाता है। कान्यकुब्ज पर्यन्त उसने अपने राज्यका विस्तार कर लिया था। गांधारपर वीरसेनका राज्य था जिसका उत्तराधिकारी सुभगसेन था। इसने यूनानी नरेश अन्तियोक महान्के साथ पूर्ववर्ती मौर्योंकी भाँति मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये थे। यूनानी यूथीडेमस और उसके उत्तराधिकारियोंने इस शाखाका अन्त किया। कुछ छोटे-छोटे मौर्य राजे मगध, पश्चिमी भारत, राजस्थान, खानदेश, कोंकण आदिके कुछ भागोंमें बहुत पीछे तक राज्य करते रहे। कलिंगमें चैत्र या चेदिवंशका उदय हो चुका था। दूसरी शती ई० पू० के पूर्वार्धमें कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारवेलके कालमें उसका चरमोत्कर्ष हुआ। दक्षिणमें आन्ध्रवंशका उत्थान हुआ। इस प्रकार मौर्य वंशके साथ ही साथ मगध साम्राज्यका भी अवसान हो गया।

मगधमें ई० पू० १८४ से ७२ तक लगभग ११२ वर्ष पर्यन्त शुङ्ग वंशका शासन रहा किन्तु उज्जैनीपर उनका अधिकार ई०पू०१६४ से ७४ तक लगभग ९० वर्ष पर्यन्त ही रहा। इस वंशका संस्थापक पुष्यमित्र कट्टर ब्राह्मण था। उसने बौद्धों आदि श्रमणोंपर बड़े अत्याचार किये बताये जाते हैं। शुङ्गकाल ब्राह्मण-धर्म-पुनरुद्धार युग भी कहलाता है। पतञ्जलि ऋषि द्वारा पाणिनिकी अष्टाध्यायीपर महाभाष्य और योगसूत्रोंकी रचना इसी कालमें शुङ्गोंके आश्रयमें हुई। वाल्मीकि रामायणका रचना काल भी यही निर्धारित किया जाता है। इसी कालमें शिव और विष्णुकी पूजा तथा पौराणिक हिन्दू धर्मका विकास प्रारंभ हुआ प्रतीत होता है। इस नरेशने अश्वमेधयज्ञ भी किया बताया जाता है किन्तु वह उसमे कितना सफल हुआ इस विषयमे मतभेद है। एक ओर यूथीडेमस (मृत्यु ई० पू० १९०) के पुत्र एवं उत्तराधिकारी यूनानी नरेश दिमित्रने आर्यावर्तपर आक्रमण किया और माध्यमिका एवं साकेत पर्यन्त प्रदेशपर अधिकार कर लिया। दूसरी ओर कलिङ्ग नरेश खारवेलने मगधपर आक्रमण किया। वह शुङ्ग नरेशके जैन

विद्वेषसे क्षुब्ध था, उसका अश्वमेध करना भी उसे सह्य न था। अतः खारवेलने मगध नरेशको पराजित किया और नन्द कलिंगकी विजय करके वहाँसे आदिजिनकी जिस प्रतिमाको पाटलिपुत्र ले आया था उसे वापस ले गया। उसने यूनानी दिमित्रको भी बुरी तरह पराजित किया और उसे मध्यदेशसे निकाल बाहर किया। संभवतया इन संकटोंके कारण ही उज्जैनीके निकट विदिशामे शुङ्ग वंशकी एक शाखा स्थापित हो गई। बृहस्पतिमित्र (ई०पू० १६४–१३४) उज्जैनी प्रदेशका इस वंशका प्रथम शासक था। उसके उपरान्त बलमित्र या वसुमित्र और भानुमित्रने ६० वर्ष (ई० पू० १३४–७४) पर्यन्त वहाँ राज्य किया। ये नरेश ब्राह्मण धर्मके ही अनुयायी एवं पोषक थे। किन्तु उज्जैनी शाखाके शासक जैन-धर्मके प्रति सहिष्णु ही रहे प्रतीत होते हैं। मगधमें भी ई० पू० ७३–७२ के लगभग अन्तिम शुङ्ग नरेशके ब्राह्मण मन्त्री वसुदेव कन्वने अपने स्वामीका वध करके राज्य हस्तगत किया। ४५ वर्ष तक (ई० पू० २८ तक) कन्व वंशका मगधपर अधिकार रहा। ये एक गौण स्थितिके राजे रहे। शुङ्ग वशमें दस और कण्व वंशमे चार राजे हुए बताये जाते हैं। अपने मालविकाग्निमित्र नाटकमें महाकवि कालिदासने शुङ्गवंशी अग्निमित्र को अमर बना दिया है। शुङ्ग-कन्वकालमें मगध हतप्रभ था और विदेशी यूनानी, पह्लव, शक आदिको भारतमें राज्य स्थापन करनेका अवसर मिल गया। डेढ़ सौ वर्षके इस युगकी सबसे बड़ी देन यही है कि वर्तमान हिन्दुधर्मकी रूप-रेखा इसी कालमें बनी, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणोंका संकलन प्रारम्भ हुआ और हिन्दुओंकी धार्मिक अनुश्रुति एवं प्राचीन रचनाएँ लिपिबद्ध होने लगीं तथा नवीन साहित्य रचा जाने लगा। श्रमण संस्कृति तथा उसके जैन, बौद्धादि धर्मोंके साथ समन्वय करके हिन्दूधर्म एक नवीन रूपमे उदय हुआ। देवी-देवताओंकी भक्ति एवं उपासना, मूर्ति पूजा, जीव दया आदि इसके प्रधान अंग थे। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंके द्वारा सामाजिक जीवनका नियमन करना भी इस युगके

ब्राह्मण सुधारकोंने प्रारंभ किया । इस ब्राह्मण पुनरुद्धार आन्दोलनके परिणाम स्वरूप मगध एवं मध्यदेशमें बौद्ध और जैनधर्म भी शक्तिहीन एवं अवनत हो गये । जैनधर्मके तो सुदृढ़ केन्द्र कर्णाटक, मध्यभारत, सौराष्ट्र, कलिंग, मथुरा आदिमें स्थापित हो चुके थे और वह वहाँ फलता-फूलता सप्राण बना रहा, किन्तु बौद्ध धर्मको विदेशों अथवा यवन, शक, कुषाण, हूण आदि विदेशी शासकों और उनके द्वारा शासित प्रदेशोंका ही प्रधान आश्रय रह गया ।

अध्याय ४

प्राचीन युग–तृतीय पाद

उत्तर भारत (ई० पू० २००–ई० सन् २००)

मौर्य साम्राज्यके पतनके साथ-ही-साथ, विशेषकर शुङ्ग-कण्व युगमें तीन साम्राज्य शक्तियाँ एक साथ उदयमें आईं यथा पूर्व-दक्षिणमें कलिंगका चैत्र वंश,उत्तरी दक्षिणापथमें आन्ध्रजातिका सातवाहन वंश और उत्तर-पश्चिम में यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि विदेशी जातियाँ। इनके अतिरिक्त सुदूर दक्षिणमें चोल, पाड्य, केरल, सत्यपुत्र आदि छोटे-छोटे राज्य थे और पूर्वी भारत एवं मध्यदेशमें शुङ्ग, कण्व वंशोंके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-छोटे राज्य तथा गणतंत्र थे। ये गणतंत्र यौधेय, अर्जुनायन, उदुम्बर, कुलूत, कुनिन्द आदि थे। पंजाब-सिंधके प्रसिद्ध मालव एवं आग्रेय-गण वहाँसे विस्थापित होकर राजस्थानकी ओर चले आये थे। मालव लोग तो शीघ्र ही राजस्थानसे भी आगे बढ़कर मध्यभारतके उज्जैनी प्रदेशमें जम गये और फलस्वरूप वह प्रदेश मालवा कहलाने लगा। आग्रेय-गणकी राजनैतिक शक्ति क्षीण हो चली और इसके सदस्य अधिकतर व्यापार एवं व्यवसायोंमें संलग्न होते चले गये।

उपरोक्त तीन साम्राज्य शक्तियोंमें से कलिंगके चैत्र वंशका चरम उत्कर्ष जैन सम्राट् महामेघवाहन खारवेलके समयमें ई० पू० २००–१५० के लगभग रहा। कलिंगकी उदयगिरि-खंडगिरि पहाड़ियोंपर हाथीगुम्फा आदि शिलालेखों एवं पुरातात्त्विक अवशेषोंसे इस सम्राट्के क्रिया-कलापोंका पता चलता है। उसका विशेष विवरण सातवें अध्यायमें दिया जायगा।

आन्ध्र-सातवाहन—दूसरी शक्ति आन्ध्र जातिके सातवाहन वंशकी थी। आन्ध्रोंका सर्वप्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मणमें मिलता है। वहाँ इनकी गणना पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मुतिब आदि जाति-बाह्य नीच व्यक्तियों या दस्युओंमें की गई है और इन्हे अनार्य कहा गया है। किन्तु प्रथम शती ई० का रोमन इतिहासकार प्लिनि आन्ध्रोंका एक शक्तिशाली जातिके रूपमें उल्लेख करता है जिसका विस्तृत साम्राज्य दक्षिणापथपर था और जिसके पास एक लाख पैदल, दो हज़ार अश्वारोही और एक हज़ार हाथियोंकी भारी सेना थी। प्रतिष्ठानपुर या पैठन इनकी राजधानी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि शुङ्गकालके प्रारंभमें ही प्रियदर्शीके शिलालेखोंमे उल्लिखित दक्षिण देशवासी भोजक, पैतिनिक, रिट्ठक, पुलिन्द आदि जातियाँ आन्ध्र जातिके सातवाहन कुलकी अधीनतामे संगठित हो गई थी। ये सातवाहन ब्राह्मण एवं नाग रक्तमिश्रणसे उत्पन्न हुए थे यद्यपि वे अपने-आपको ब्राह्मण ही कहते थे और अपने लिए 'एक ब्राह्मण', 'खत्तियदपमानमदन' आदि विशेषण प्रयुक्त करते थे। मत्स्यपुराणमे इस कुलमे ३० राजा हुए बताये हैं जिन्होंने ४६० वर्ष राज्य किया। अन्य पुराणोंमें १७, १८ या १९ राजा तथा उनका राज्यकाल ३०० वर्ष बताया है। सिमुक इस वंशका प्रथम राजा बताया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी शती ई० पू० के अन्तके लगभग सिमुकने पैठनमें अपना राज्य स्थापित कर लिया था। सम्प्रतिकी मृत्युके उपरान्त इस राज्यकी शक्ति बढ़ने लगी। जैन अनुश्रुतिके अनुसार सिमुकने २३ वर्ष राज्य किया किन्तु अपने अंतिम वर्षोंमें वह दुष्ट और दुराचारी हो गया था जिसके कारण उसे गद्दीसे उतार कर उसका वध कर दिया गया और उसका भाई कन्ह राजा हुआ। उसने नासिक पर्यन्त अपने राज्यका विस्तार कर लिया। तीसरा राजा शातकर्णी प्रथम बहुत महत्त्वाकांक्षी था, नानाघाटपर उसने अपनी मूर्ति स्थापित की थी, पश्चिमी मालवाकी विजय कर ली थी और शुङ्गोंसे युद्ध किया था। उसने राजसूय और अश्वमेध यज्ञ भी किये थे।

कलिंग चक्रवर्ती खारवेलने उसे पराजित करके उसकी महत्त्वाकांक्षामें बाधा दी और उसकी 'दक्षिणापथप्रभु' एवं 'अप्रतिहतरथ' आदि विरुदोंको व्यर्थ किया। उसकी विधवा पत्नी नागनिका* द्वारा लिखाये गये शिला लेख से उसके राज्यकालका कुछ पता चलता है। छठा राजा शातकर्णी द्वितीय था जिसने ५६ वर्ष राज्य किया बताया जाता है। उसने कण्व वंशका अन्त कर दिया और पूर्वी मालवा अर्थात् विदिशा प्रान्तको विजय कर लिया। सातवाँ राजा सुप्रसिद्ध सतसईका रचयिता हाल या शालिवाहन था। उसके समयसे शक-क्षहरात भूमक, नहपान आदि सातवाहनोंके प्रतिद्वन्द्वी हुए और उन्होंने सातवाहन शक्तिके बढ़नेमें बाधा दी। हालका समय २०–२४ ई० के लगभग समझा जाता है। हालके बाद चार-पाँच अल्पकालीन निर्बल राजे हुए और फिर गौतमीपुत्र शातकर्णी गद्दीपर बैठा। यह इस वंशका सर्वाधिक प्रतापी नरेश था। शक-क्षहरात नहपान उसका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। गौतमीपुत्रने उसे बुरी तरह पराजित किया। किन्तु नहपान-के उपरान्त उसके भृत्यों यशोमतिक और चष्टनने सौराष्ट्रके क्षत्रप वंशकी नींव डाली और सातवाहनोंके साथ युद्ध जारी रक्खा। सातवाहनों और क्षत्रपोंका यह प्रतिद्वन्द्व लगभग एक सौ वर्ष पर्यन्त चला जिसके फलस्वरूप पहले सातवाहन वंश और फिर क्षत्रप वंश, दोनों ही समाप्त हो गये। गौतमीपुत्रका समय प्रथम शताब्दी ई० का उत्तरार्ध है। उसकी मृत्युके उपरान्त उसका पुत्र श्री पुलुमयी राजा हुआ जिसके राज्यके १९ वें वर्षमें उसकी पितामही गौतमी बलश्रीने नासिकमें बृहत् शिलालेख लिखवाया था। यह लेख गौतमीपुत्र शातकर्णीकी प्रशस्ति कहलाता है और इसमें उसे शक-पह्लव-यवनोंका संहारकर्त्ता बताया है एवं उसके प्रताप और विजयोंका उल्लेख किया है। पुलुमयीके समयमें भद्रचष्टन वंशी क्षत्रपोंने

* कुछ विद्वान् नागनिकाके लेखकी तिथि प्रथम शती ई० पू० का उत्तरार्ध निश्चित करते हैं। उस अवस्थामें वह शातकर्णी द्वितीयकी पत्नी होगी।

मालवा एवं पश्चिमी राजस्थानपर भी अधिकार कर लिया था। उसके उत्तराधिकारी शातकर्णी तृतीयके साथ क्षत्रप रुद्रदामन्की कन्याका विवाह हुआ था, किन्तु क्षत्रप-सातवाहन संघर्षका अन्त नहीं हुआ। अन्तिम नरेशोंमें यज्ञश्री शातकर्णी अधिक प्रसिद्ध है। उसके चाँदीके सिक्के प्राप्त हुए हैं जिनमें क्षत्रपोंका अनुकरण पाया जाता है। इस वंशका अन्तिम ज्ञात नरेश श्री पुलुमयी द्वितीय था। तीसरी शती ई० के प्रारम्भके लगभग इस सातवाहन वंशका अन्त हो गया। इसके अनेक महारथी पदवीधारी सरदार जो अधिकांशतः नाग जातीय थे और मूलतः आन्ध्रोंके सेवक होनेसे आन्ध्रभृत्य भी कहलाते थे, दक्षिण एवं मध्य भारतके विभिन्न भागोंमें स्वतंत्र हो गये।

पैठनके ये सातवाहन राजे अधिकांशतः ब्राह्मण धर्मानुयायी थे किन्तु वे अन्य धर्मोंके प्रति भी सहिष्णु थे। प्राचीन जैन साहित्यमें सातवाहन राजाओंके अनेक उल्लेख मिलते हैं और उनमेंसे कई एकका जैन होना भी सूचित होता है। किन्तु क्योंकि यह उल्लेख 'पैठनका शालिवाहन राजा' करके ही प्रायः पाये जाते है अतः ऐतिहासिक नाम-सूचीमें उन्हें चीन्हना दुष्कर है। इन जैनराजाओंमें सतसईके रचयिता हालके होनेकी सम्भावना है। यह प्रसिद्ध ग्रन्थ महाराष्ट्री प्राकृतमें आर्याछन्दोंमें लिखा गया है और जैन विचारोंका प्रभाव उसपर लक्षित होता है। सातवाहन राज्यमें प्राकृत भाषाका ही प्रचार था। ये राजा स्वय तो विद्वान् या विशेष विद्यारसिक नहीं थे किन्तु विद्वानोंका आदर करते थे। जैनाचार्य शर्ववर्म द्वारा कातन्त्र व्याकरणकी रचना तथा एक अन्य जैनाचार्य काणभिक्षु या काणभूति द्वारा प्राकृतके मूल कथा ग्रन्थकी रचना तथा उसके आधारपर गुणाढ्यकी बृहत्कथाकी रचना इन्हींके प्रश्रयमें हुई प्रतीत होती है। इनके राज्यमें जैन मुनियोंका स्वच्छन्द विहार था। इन्हींके कालमें जैनसंघ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें विभक्त हुआ और

इनका राज्य उन दोनों सम्प्रदायोंके साधुओंका संधिस्थल था। दिगम्बर परम्पराके जैन आगमोंका सर्वप्रथम संकलन एवं लिपिबद्धीकरण भी इन्हींके कालमें और संभवतया इन्हींके राज्यमें हुआ था।

पश्चिमोत्तर प्रदेशके विदेशी शासक—(१) यूनानी या यवन—सिकन्दरकी मृत्युके उपरान्त मध्यएशियामें उसके सेनापति सिल्युकसने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था जिसकी सीमाएँ भारतवर्षको स्पर्श करती थी। सिल्युकसके वंशने लगभग १०० वर्ष राज्य किया। मौर्य सम्राटोंके भयसे इन्होंने भारतमें प्रवेश करनेका साहस नहीं किया, वरन् उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध ही रक्खे। यूनानियोंकी कुछ छोटी-मोटी बस्तियाँ भारतवर्षमें अवश्य बन गई। अशोकके समयमें सिल्युकस वंशका सम्राट् अन्तियोक द्वितीय राज्य कर रहा था। ई० पू० के लगभग जब वह मिस्रके राजाके साथ प्रतिद्वन्द्विताम फँसा था, तो अवसर देख उसके बैक्ट्रियाँ प्रान्तका शासक दियोदोतस स्वतन्त्र हो गया और इस प्रकार इन्डो और बैक्ट्रियन वंशका प्रारंभ हुआ। ई० पू० २०७ के लगभग उसके उत्तराधिकारी यूथोडेमसके साथ सम्राट् अन्तियोक तृतीयने सन्धि कर ली और अपनी कन्या यूथोडेमसके पुत्र डिमिट्रियस (दिमित्र) के साथ ब्याह दी तथा बैक्ट्रियाकी स्वतंत्रता स्वीकार कर ली। काबुल घाटीमें इस समय सुभगसेनका शासन था जो संभवतया एक मौर्यवंशी राजकुमार था। लगभग ई०पू० १९० में दिमित्र बैक्ट्रियाका शासक हुआ। भारतवर्षमें यवन शक्तिके विस्तारका श्रेय उसे ही दिया जाता है। उसने ई० पू० १७१ के लगभग भारतपर आक्रमण किया और पाटलिपुत्र तक बढ़ता चला गया और शुङ्गपुष्यमित्रको भी पराजित कर दिया। पांचाल देश, माध्यमिका, मथुरा, साकेत आदिपर उसने अपना अधिकार कर लिया। मगध एवं मध्यदेशसे तो खारवेलने उसे निकाल बाहर किया, किन्तु मथुरा पर्यन्त उसका अधिकार बना ही रहा। सागल (स्यालकोट) को जिसका नाम अपने पिताकी स्मृतिमें उसने यूथीडेमिया रक्खा था, उसने अपनी भारतीय राजधानी बनाया।

उसके वापस चले जानेपर उसका वायसराय मिनेन्डर (मिलिन्द) जो संभवतया उसका उत्तराधिकारी भी हुआ, ई० पू० १६०—१४० तक सागलमें शासन करता रहा। यह शासक जैन और बौद्धोंके सम्पर्कमें आया और उनका भक्त हुआ। बौद्धाचार्य नागसेनका उसपर विशेष प्रभाव था। मिलिन्दपञ्हो (मिलिन्दके प्रश्न) नामक ग्रन्थका नायक यही यवन राज बताया जाता है। इस ग्रन्थमें जैनों और उनके सिद्धान्तोंका भी उल्लेख है और इस धर्मके विषयमें राजा तथा उसके साथी अन्य यूनानियोंकी जिज्ञासा सूचित होती है। बैक्ट्रियाके यूनानियोंका राज्य तो प्रथम शताब्दी ई० पू० के प्रारंभके लगभग समाप्त हो गया किन्तु अनेक यूनानी भारतमें बस गये। उन्होंने जैन, बौद्ध, भागवत आदि भारतीय धर्मोंको ही अपना लिया और शनैः-शनैः भारतीय जनतामें ही समा गये। विदिशाके राजा भागदत्तके दरबारमें हिलियोदर नामक यूनानी राजदूत आया था और उसने वहाँ गरुड़ध्वज बनवाया था जिसपर अंकित लेखसे उसका भागवत धर्मानुयायी होना सूचित होता है। मिनेन्डर संभवतया बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था। इसी कालके एक यूनानी इतिहासकार ट्रोगसने अपने एक पूर्ववर्ती लेखकका और प्रमाण रूपमें उसके लेखोंका उल्लेख किया है। प्रो० टार्न आदि विद्वानोंका मत है कि ये यूनानी इतिहासकार भारतवर्षमे रहे और वहाँ जैनोंके विशेष सम्पर्कमें आये प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके लेखोंसे पता चलता है कि वे जैनोंसे, उनके आचार-विचारोंसे और उनकी ऐतिहासिक अनुश्रुतियोंसे भली-भाँति परिचित थे और उन्हें ही उन्होंने अपना आधार बनाया था। सम्भव है इन भारतीय यवनोंमें-से अनेक जैन साधुओंसे प्रभावित होकर जैन धर्मके अनुयायी हुए हों। यूनानी लेखक हिरोडोटसको उत्तरी अफ्रीकाके इथियोपियामें जैन साधु विचरते मिले थे। एक श्रमणाचार्य (जैन साधु) प्रथम शती ई० में भड़ौचसे यात्रा करके रोम (या एथेन्स) भी पहुँचे थे। वहाँ उनकी समाधि विद्यमान रही बताई जाती है।

(२) इण्डोपार्थियन या पह्लव—बैक्ट्रियाकी भाँति पार्थिया भी जिसके अन्तर्गत बहुभाग ईरान था और जिसकी राजधानी संभवतया क़न्दहार थी, सिल्युकस वंशी यूनानियोंके साम्राज्यका एक प्रान्त था। बैक्ट्रियाके ही प्रायः साथ-साथ यह भी स्वतन्त्र हो गया था किन्तु प्रारम्भमें बैक्ट्रियासे दबा रहा। इसका राजवंश पह्लव जातिका था। दिमित्र और मिलिन्दके समय पार्थियाका राजा मिथ्रेडेटस प्रथम (ई० पू० १७१–१३६) था। दिमित्र जब भारतकी विजयमें संलग्न था तब यह राजा स्वतंत्र हो गया था। शनैः-शनैः इसने अपनी शक्ति बढ़ा ली और ई० पू० १३८ के लगभग सिन्धु-व्यासके बीच सम्पूर्ण तक्षशिला प्रदेशपर उसने अधिकार कर लिया। इसके उत्तराधिकारी मिथ्रेडेटस द्वि० (ई० पू० १२३–८८) के समयमें शकोंका आक्रमण हुआ। पहले वे हारे और पार्थियनोंके आधीन हो गये, किन्तु शीघ्र ही फिर स्वतन्त्र होकर भारतके पश्चिमोत्तर प्रदेशपर छा गये और उन्होंने पार्थियन सत्ताको दबा दिया। ई० पू० प्रथम शताब्दीमें वोनोन नामके दो पार्थियन राजा हुए। कुछके अनुसार अजेस, एज़िलिस आदि राजे भी पार्थियन ही थे। इस वंशके अन्तिम नरेशोंमें सर्वप्रसिद्ध गोन्डोफ़रनिस (बिन्दुफ़र्न) है जिसने सन् १९–४५ ई० पर्यन्त राज्य किया। इसके कुछ अभिलेख और सिक्के भी मिले हैं। इसीके समय सेंट थामस नामक पादरी भारतमें आया और उसने दक्षिण-भारतमें सर्वप्रथम ईसाई मतका प्रचार किया बताया जाता है। पार्थियन जातिके अनेक व्यक्ति भी यूनानियोंकी भाँति ही उत्तरीभारतके विभिन्न स्थानोंमें बस गये थे। विशेषकर मथुरावासी पार्थियनोंके विषयमें डॉ० लूडरका कथन है कि क्षत्रपकालमें वे वहाँ आकर बसे थे और जैन-धर्ममें दीक्षित हो गये थे यद्यपि अपनी जन्मभूमिके बहुतसे संस्कार उन्होंने बनाये रक्खे।

(३) इण्डोसीथियन या शक—चीनी आधारोंसे पता चलता है कि ई० पू० १७५–१६५ के लगभग बर्बर हूणोंका उत्थान हुआ जिन्होंने

पश्चिमी चीनसे तुरुष्कोंको खदेड़ बाहर किया। तुरुष्क या तुखारी लोग पश्चिमकी ओर बढ़ गये और सीर नदीके तटपर उन्हें उन्हीं जैसी एक अन्य भ्रमणकारी जाति मिली जो शक थी। तुरुष्कोंने शकोंको उनकी जन्मभूमिसे खदेड़ा अतः वे भारतके सीमान्त प्रदेशोंकी ओर बढ़ आये और यवनों एवं पह्लवोंके राज्योंके विभिन्न प्रान्तोंपर टूट पड़े। मिथ्रेडेटस द्वि० (ई० पू० १२३–८८) ने उनको पराजित करके अपने आधीन कर लिया, किन्तु प्रथम शती ई० पू० के प्रारम्भमें (ई० पू० ८५–७५ के लगभग) वे बोलनकी घाटी और बिलोचिस्तानके मार्गसे भारतमें घुस आये और समस्त सिन्धु घाटीपर छा गये। पुष्कलावतीको उन्होंने अपनी प्रधान राजधानी बनाया। अपने मूलस्थान सीथिया (शकस्तान) की स्मृतिमें उन्होंने अपने इस नवीन वासस्थानका नाम भी इण्डोसीथिया (शकस्थान या शककुल) रक्खा। इनका सबसे बड़ा सरदार शाहानुशाही कहलाता था और उसके आधीन अनेक शाही (शक सरदार) थे। ई० पू० ७० के लगभग आचार्य कालक द्वितीय उज्जैनके दुराचारी राजा गर्दभिल्लके अत्याचारोंसे पीड़ित हो और अन्य सब उपायोंसे हारकर, इन शकशाहियोंके पास सिन्धुवर्ती शकस्थानमें पहुँचा। वहाँ वह एक शाहीका अतिथि हुआ। कालकके ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान और बुद्धिमत्तासे शाही बहुत प्रभावित हुआ। उसी समय वृद्ध शाहानुशाहीका एक दूत एक छुरा और कटोरा लेकर शाहीके पास आया जिसे देखते ही वह थर-थर काँपने लगा। कालकके पूछनेपर शाहीने कहा कि उसका स्वामी उससे नाराज़ हो गया है और इन वस्तुओंको भेजनेका अर्थ है कि वह अपना सिर उस छुरेसे काटकर उसी कटोरेमें रखकर शाहानुशाहीके पास भेज दे अन्यथा उसका सकुटुम्ब अन्त करा दिया जायगा। यह भी मालूम हुआ कि ९५ अन्य शाहियोंके पास भी वैसा ही भयंकर सन्देशा आया था। कालकने अवसर देख उन ९६ शाहियोंको एकत्र किया और उनसे कहा कि यदि वे उसकी बात मानकर मालवेपर आक्रमण करें और दुष्ट गर्दभिल्लका दमन करें तो

उन्हें बहुत-सा धन एवं नवीन प्रदेश मिल जायगा और शाहानुशाहीके भयसे भी वे मुक्त हो जायेंगे। अतएव वे सब शाही कालकके साथ चल पड़े और सौराष्ट्रके मार्गसे मालवामें प्रविष्ट हुए। मार्गमें कालकने अन्य कई राजाओंको भी सहायतार्थ साथ ले लिया। ई० पू० ६६ में इन शक शाहियोंने गर्दभिल्लके राज्यके बहुभागको विजय करके उज्जैनी नगरका घेरा डाला और अपनी इस सफलताको मनानेके लिए एक संवत् स्थापित किया जो पूर्व या प्राचीन शक संवत् कहलाता है। उस कालमे कार्त्तिक शुक्ल प्रतिपदासे प्रारंभ होनेवाला महावीर संवत् वहाँ प्रचलित रहा प्रतीत होता है अतएव उसीकी गणनाके अनुसार महावीर निर्वाणसे ४६१ वर्ष बाद इस प्रथम शक संवत्की प्रवृत्ति हुई। घिर जानेपर भी चार वर्ष तक गर्दभिल्ल वीरता पूर्वक लड़ता रहा। अन्ततः ई० पू० ६१ में उसने पराजित होकर आत्म-समर्पण कर दिया और कालकके कहनेसे उसे देशसे निर्वासित कर दिया गया। अब उज्जैनीपर शकोंका राज्य हो गया और उन्होंने वहीं जमे रहना चाहा। मालवगण स्वतन्त्रताप्रेमी थे और उनकी शासन प्रणाली गणतन्त्रीय थी, विदेशी शकोंके निरङ्कुश शासनको वे सहन नहीं कर सकते थे। अतः स्वयं कालक भी उनके व्यवहारसे रुष्ट था। अतः गर्दभिल्लके पुत्र वीर विक्रमादित्यके नेतृत्वमें मालवगण उठ खड़े हुए और ई० पू० ५७मे उन्होंने शकोंको उज्जैनीसे निकाल बाहर किया। अब ये शकशाही कुछ तो वापस सिन्ध देशको लौट गये, कुछ सौराष्ट्रमें ही जम गये, कुछ मथुरामे जा जमे और कुछ वाराणसी तक जा पहुँचे। अब इन्होंने पुष्कलावतीके अपने शकशाहानुशाहीको भी प्रसन्न कर लिया और नाममात्रके लिए उसकी आधीनतामें उसके क्षत्रपोंके रूपमें विभिन्न प्रदेशों पर राज्य करने लगे। भारतीय धर्मों, रीति-रिवाजों, नामादिकोंको अपनाकर और भारतीयोंके साथ विवाह-सम्बन्ध आदि करके ये भारतीय नरेशोंकी भाँति ही यहाँ बस गये। इस प्रकार ई० पू० ५० के लगभगसे सन् ई० ५० के लगभग तक जो विभिन्न शक शक्तियाँ भारतके विभिन्न

भागोंमें सत्तारूढ़ रहीं वे निम्न प्रकार हैं—(क) पुष्कलावतीके प्रधान शक नरेश–शाहानुशाही—जिनमें सर्व-प्रसिद्ध महार्य भोगा था। उसके सिक्कोंपर कतिपय भारतीय तथा यूनानी देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ अंकित मिलती हैं। सं० ४२ और ७८ के दो पुराभिलेखोंमें उसका नामोल्लेख मिलता है जो ई० पू० ६६ में स्थापित पूर्व शक संवत्में होनेसे ई० पू० २४ तथा सन् १२ ई० के निर्धारित होते हैं। उसके अतिरिक्त अजेस प्रथम और द्वितीयके होनेका और पता चलता है जो संभवतया उसके उत्तराधिकारी थे। इन शक शाहानुशाहियोंके उपरान्त पुष्कलावतीपर पह्लवोंका अधिकार हो गया प्रतीत होता है। बिन्दुफ़र्न (गोन्डोफ़रनीज़) जिसका समय १९–४५ ई० निश्चित होता है. इस कालका प्रसिद्ध पह्लव नरेश था। उसका सं० १०३ का अभिलेख भी पूर्वशक सं० में होनेसे सन् ३७ई० का है। विभिन्न प्रान्तोंके शक क्षत्रप इन पह्लवोंको भी शक शाहानुशाही-की भाँति अपना अधिपति मानने लगे।

(ख) उपरोक्त शक क्षत्रपोंमेंसे एक शाखा तक्षशिलामें स्थापित हुई थी जिसमें लिअक, कुशलक, पतिक आदि क्षत्रप हुए। इनका उल्लेख सं० ७२ (सन् १२ ई०) के अभिलेखमें मिलता है।

(ग) एक शाखा सुदूर वाराणसीमें स्थापित हुई जिसमें सेवकि आदि नाम मिलते है।

(घ) एक शाखा मथुरामें स्थापित हुई, इसमें हगन, रज्जुबल, सोदास आदि नाम मिलते हैं। मथुराके ये शक महाक्षत्रप अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके, विशेषकर क्षत्रप सोदासके, मथुरासे अनेक शिलोलख प्राप्त हुए हैं जिनमें कई यथा सं० ४२ (ई० पू० २४), सं० ७२ (सन् ६ ई०) आदिके, तिथियुक्त भी है। इन शिलालेखोंसे पता चलता है कि ये क्षत्रप प्रायः स्वाधीन, पर्याप्त शक्तिशाली एवं प्रतापी नरेश थे। इनका प्रायः पूर्णतः भारतीयकरण हो चुका था और ये सभी भारतीय धर्मोंका आदर करते थे। जैनधर्मकी ओर इनका विशेष आकर्षण रहा प्रतीत होता है और उसके ये पोषक रहे प्रतीत होते हैं।

मथुरासे प्राप्त क्षत्रपकालीन शिलालेखोंमें जैन शिलालेखोंकी ही संख्या सबसे अधिक है। उस कालमें मथुरा जैनधर्मका गढ़ एवं प्रमुख केन्द्र था। इन क्षत्रपोंके कालमें मथुराके जैनसंघके नेतृत्वमे सञ्चालित सरस्वती आन्दोलन सफलीभूत होने लगा था और निर्ग्रन्थ जैन साधु भी ग्रन्थ प्रणयन करने लगे थे।

(ङ) शक शाहियोंकी एक शाखा सौराष्ट्रमें ही स्थापित हो गई थी। घटक, भूमक, नहपान, उषवदात आदि राजे इस शाखामे हुए। ये क्षहरात कहलाते थे जो क्षत्रपका ही अपभ्रष्ट रूप है। जिस शकशाहीका कालकाचार्य मूलतः अतिथि हुआ था और जिसके नेतृत्वमें अन्य सब शाहियोंने मालवापर आक्रमण किया था वह संभवतया घटक या भूमक था। विक्रमादित्यने जब शकोंको पराजित करके मालवेसे निकाल दिया और तितर-बितर कर दिया तो इस शाहीने सौराष्ट्र एवं गुजरातपर अधिकार करके अपना राज्य स्थापित कर लिया। एक ओर मालवेके विक्रमादित्य और दूसरी ओर पैठनके शालिवाहनके कारण इन क्षहरातोंकी शक्ति सीमित बनी रही, किन्तु प्रथम शताब्दी ईस्वीके मध्यमें वे बहुत शक्तिशाली हो गये। नहपान इस वंशका सर्वप्रसिद्ध, प्रतापी एवं महत्त्वपूर्ण नरेश था। जैन अनुश्रुतिमे उसके नहवाण, नरवाहन, नभोवाहन, नभसेन या नरसेन आदि नाम मिलते है और उसे बम्मिदेशका नरेश बताया है। उसकी रानीका नाम सुरूपा था और राजधानीका नाम वसुंधरा था जो सम्भवतया भृगुकच्छका ही अपरनाम था। उसका ४० वर्षका राज्यकाल गर्द-भिल्ल वंश एवं भद्रचष्टन वंशके मध्य पड़ता है जो लगभग सन् २६–६६ ई० निश्चित होता है। यूनानी भूगोलवेत्ता टालेमीने भी इस नरेशका उल्लेख किया है। नहपानके अपने तथा उसके जामाता उषवदात या ऋषभदत्त और कुशल-मंत्री अयमके कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं जो वर्ष ४१ से ४६ तकके हैं। सम्भ-वतया नहपानके पूर्वज भूमकने अपने अन्तिम दिनोंमें अथवा स्वयं नहपानने अपने राज्यारम्भमें ही मालवा देशके बहुभागपर अधिकार करके यह नवीन

वर्षगणना चालू की थी। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं उज्जैनीपर उसका अधिकार नहीं हो पाया और इस महानगरीको प्राप्त करनेके लिए पैठनके सातवाहन नरेशोंके साथ उसकी प्रतिद्वन्दिता एवं संघर्ष बराबर चलता रहा। अन्ततः सन् ६५ ई० के लगभग गौतमीपुत्र शातकर्णीने भृगुकच्छपर आक्रमण किया, घोर युद्धके उपरान्त नहपानकी पराजय हुई और उसने सन्धि कर ली। सातवाहन नरेशने अपनी विजयके उपलक्ष्यमें नहपानके अनेक सिक्कोंको हस्तगत करके और उनपर अपनी भी मुहर लगाकर अपने राज्यमें चालू किया। नहपानने राज्यभार अपने जामाता उषवदात, मंत्री अयम और सेनापति यशोमतिकको सौंप कर स्वयं जिनदीक्षा ले ली प्रतीत होती है। इस समय तक इन शकोंका प्रायः पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था, इन्होंने भारतीय आचार-विचारों, भाषा और नाम, वेष-भूषा और प्रथाएँ, धर्म और संस्कृति अपना लिये थे। एक जैन अनुश्रुतिके अनुसार इस महाराज नरवाहनने अपने मित्र मगधनरेशको मुनिरूपमें देखकर उनकी प्रेरणासे अपने राज्यश्रेष्ठि एवं मित्र सुबुद्धिके साथ मुनिदीक्षा ले ली थी। इस समय दाक्षिणात्य जैन संघके नेता संघाचार्य अर्हद्बलि थे, वही सम्भवतया इसके दीक्षा गुरु थे। सन् ६६ ई० मे उन्होंने महिमा नगरीमें एक महामुनि सम्मेलन किया था। इसी सम्मेलनमें सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ दिगम्बर संघमें नन्दि, सेन, सिंह, देव, भद्र आदि उपसंघ उत्पन्न हुए थे। इसी कालमें गिरिनगरकी पूर्वोक्त चन्द्रगुफामें अवशिष्ट आगम ज्ञानके धारक एवं अष्टांग निमित्तके ज्ञाता धरसेनाचार्य तपस्या करते थे। अपना अन्त समय निकट जानकर और आगम परम्पराके विच्छिन्न हो जानेकी आशंकासे प्रेरित होकर उन्होंने महिमाके मुनि-सम्मेलनसे दो सुयोग्य शिष्य माँगे। सर्वसम्मतिसे सुबुद्धि और नरवाहनको जो क्रमशः पुष्पदन्त एवं भूतबलि आचार्योंके नामसे प्रसिद्ध हुए, आचार्यके पास भेजा गया। उन्होंने शिष्योंकी भलीभाँति परीक्षा करके उन्हें षट्खंडागम सिद्धान्तका जो परम्परा ज्ञान उन्हें स्वयं साक्षात् था, पढ़ा दिया और उसे लिपिबद्ध

करनेका आदेश दिया। इस प्रकार धरसेनाचार्य, पुष्पदन्त एवं भूतबलि द्वारा सन् ५७ ई० के लगभग दिगम्बर परम्परामें सुरक्षित महावीर द्वारा उपदेशित तत्त्वज्ञानका एक महत्त्वपूर्ण अंश सर्वप्रथम संकलित एवं लिपिबद्ध हुआ। इसके उपरान्त ही सन् ७९–८२ ई० में महावीरका जैन संघ सदाके लिए खुले रूपमें दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो प्रधान सम्प्रदायोंमें बँट गया।

भद्रचष्टन वंश—नहपानके राज्य त्याग करनेके पश्चात् कुछ ही वर्षोंमें उसके सेनानायक यशोमतिकका बल और प्रभाव बहुत बढ़ गया और क्षहरात राज्यकी वह प्रधान शक्ति बन गया। उसका पुत्र चष्टन और भी अधिक महत्त्वाकांक्षी, वीर एवं युद्धकुशल था। सन् ७८ ई० में उसने मालवगणको पराजित करके महानगरी उज्जैनीपर अधिकार कर लिया और इस उपलक्ष्यमें अपना एक नवीन शक संवत् प्रचलित किया। इसी समयसे उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित की और एक नवीन राज्यवंशकी स्थापना की जो सौराष्ट्रका पश्चिमी क्षत्रपवंश कहलाया। जैन अनुश्रुतिके अनुसार महावीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् इस वंशका संस्थापक शक नरेन्द्र भद्रचष्टन ही प्रचलित शक संवत्का प्रवर्तक है। यह भारतवर्षका प्रथम चैत्रादि संवत् था और दक्षिण एवं पश्चिम भारतमें सामान्यतया और जैनोंमें विशेषतया सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ। चष्टनकी उज्जैन विजयको देखकर गौतमीपुत्र शातकर्णिके उत्तराधिकारी पुलुमयी प्रथमने भी मालवाके कुछ भागपर अधिकार कर लिया और संभवतया शकोंपर भी किसी युद्धमें आंशिक विजय प्राप्त की। सातवाहनोंने शकोंके नवप्रचलित संवत्को भी अपना लेनेका प्रयत्न किया, इसी कारण वह कालान्तरमें शक-शालिवाहन संवत्के नामसे भी प्रसिद्ध हुआ। क्षत्रपकालके प्रथम सौ वर्षोंमें शक-सातवाहन प्रतिद्वन्दिता और भी अधिक तीव्र हो गई और सातवाहन साम्राज्यके अन्तके साथ ही उसका अन्त हुआ। चष्टनका पुत्र जयदामन् था। उसने अपने पिताके साथ कुछ वर्ष राज्य किया किन्तु

पिताके जीवनकालमें ही उसकी मृत्यु हो गई प्रतीत होती है। उसके उपरान्त उसका पुत्र महाक्षत्रप रुद्रदामन् प्रथम राजा हुआ। उसके राज्यारम्भके कुछ वर्ष बाद ही उसके पितामह चष्टनकी मृत्यु हुई। रुद्रदामन्के सन् १३० ई० के शिलालेखके समय तक चष्टन जीवित था। रुद्रदामन् इस वंशका सर्वाधिक प्रतापी नरेश था, उसके समयमें क्षत्रप साम्राज्य उन्नतिके चरम शिखरपर था। इस राजाके सन् १५० ई० के एक बृहत् शिलालेखसे जो कि जूनागढ प्रशस्तिके नामसे प्रसिद्ध है, उसकी अनेक विजयों, पराक्रमों, लोकहितके कार्यों आदिका पता चलता है। यह शिलालेख ऐतिहासिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और गिरिनगरके सुप्रसिद्ध सुदर्शन तालके तटपर ही अंकित है। रुद्रदामन्ने भी उस ऐतिहासिक सरोवरका जीर्णोद्धार कराया था। रुद्रदामन्का पुत्र दामजदश्री था जिसने गिरिनगरकी पूर्वोक्त चन्द्रगुफामें आगमोद्धारक आचार्य धरसेनके स्वर्गवासकी स्मृतिमें एक शिलालेख उत्कीर्ण कराया था। उसके उपरान्त रुद्रसिंह प्रथम गद्दीपर बैठा वह भी जैनधर्मका अनुयायी रहा प्रतीत होता है। प्रायः इसी कालमें इस वंशकी एक राजमहिलाने महावीरकी जन्मभूमि वैशालीकी तीर्थ-यात्रा की थी जैसा कि वहाँसे प्राप्त उक्त महिलाकी कतिपय मुद्राओंसे विदित होता है। पश्चिमी शकोंका यह महाक्षत्रप वंश २४२ वर्ष पर्यन्त उज्जैनी राजधानीसे एक विस्तृत प्रदेशपर राज्य करता रहा। दूसरी-तीसरी शताब्दीमें तो दक्षिण भारतके भी अनेक भाग उसके आधीन थे। ३२० ई० में गुप्तराज्यकी स्थापनाके साथ-साथ उज्जैनपर इस वंशका अधिकार समाप्त हुआ। उस समयतक इस वंशकी कई शाखाएँ एवं उप-शाखाएँ बन चुकी थीं और छोटे-मोटे शक राज्योंका अस्तित्व ४ थी शताब्दीके अन्ततक बना रहा जब कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने उनका प्रायः पूर्णतया उच्छेद कर दिया। उज्जैनीके इन शकोंका प्रायः पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था और धीरे-धीरे वे भारतीय जनतामें ही समा गये।

कुषाण वंश—जिस यू-ची जातिके दबावके कारण दूसरी शती ई० पू० में शक लोग अपने मूल शकस्थानका परित्याग करके भारतवर्षकी ओर आये थे वहीं यू-ची अब शनैः-शनैः भारतके सीमान्तपर छा गये। यहाँ ये कुषाण नामसे प्रसिद्ध हुए। सन् ४० ई० के लगभग उनके नेता कुजुल कडफिसमने हिन्दुकुशको पार करके काबुल, क़न्दहार और पश्चिमी सिन्धपर अधिकार कर लिया। इसके जो सिक्के मिले हैं उनपर रोमन प्रभाव प्रतीत होता है और राजाकी उपाधियोंपर भारतीय संस्कृतिका प्रभाव है। सन् ६४ ई० के लगभग ८० वर्षकी आयुमें कुजुलकी मृत्यु हुई। उसके पुत्र व उत्तराधिकारी विमकडफिससने सिन्धु नदीको पार करके तक्षशिला, पंजाब तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेशके कुछ भागपर अधिकार कर लिया। प्रथम शक सं० १३६ (सन् ७० ई०) का उसका एक अभिलेख मिला है। अनेक विविध सिक्के भी मिले हैं जो व्यापारके द्रुत विकासके द्योतक हैं। वह शैवधर्मका अनुयायी रहा प्रतीत होता है। उसका उत्तराधिकारी और संभवतया पुत्र कनिष्क था जो भारतमें कुषाण वंशका सर्वमहान् नरेश और कुषाण साम्राज्यका संस्थापक था। पुरुषपुर (पेशावर) उसकी प्रधान राजधानी थी और संभवतः मथुरा उपराजधानी। पूर्वमें पटना तक उसके राज्यका विस्तार था। उसने उत्तर-पश्चिममें शकों और पह्लवोंकी सत्ताका अन्त कर दिया, काश्मीर उसके राज्यका अंग था और पामीरको पार करके उसने काशगर, यारक़न्द, खोतान आदि चीनी प्रदेशोंको भी विजय किया था। बौद्ध अनुश्रुतिमें उसे अशोकके समान ही बौद्ध धर्मका भक्त और प्रश्रयदाता कहा गया है और उसके द्वारा पेशावरमें एक बौद्ध स्तूप बनवाने, कश्मीरमें चतुर्थ बौद्ध सम्मेलन बुलाने और बुद्धचरितके कर्त्ता प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोषको प्रश्रय देनेके उल्लेख मिलते हैं। वह बौद्ध धर्मके हीनयान सम्प्रदायका पोषक रहा बताया जाता है। किन्तु विद्वानोंका मत है कि उसके साम्राज्यमें सभी धर्म प्रचलित थे और वह धर्मसहिष्णु नरेश सभीका आदर करता था। मथुराके अनेक जैन शिलालेखोंपर उसका

नाम अंकित है। थामस आदि विद्वानोंके अनुसार कमसे कम अपने राज्य कालके पूर्व भागमें उसका झुकाव जैन धर्मकी ओर अधिक रहा प्रतीत होता है। कहा जाता है कि एक प्राचीन जैन स्तूपका भी उसने जीर्णोद्धार कराया था। कनिष्ककी मूर्तियाँ भी मिली हैं। उसके समयमें बौद्ध साहित्यका सर्वप्रथम प्रणयन प्रारंभ हुआ। कनिष्ककी राज्यारोहण तिथि सन् ७८ ई० मानी जाती है और कुछ विद्वानोंके अनुसार वही प्रचलित शक संवत्का प्रवर्तक था। किन्तु जैसा हम देख चुके हैं शक संवत्की स्थापना भद्रचष्टन वंशके संस्थापक चष्टन द्वारा उज्जैनीकी विजयके उपलक्षमें हुई थी। संभव है संयोगसे कनिष्कका राज्यारम्भ भी उत्तर पश्चिममें उसी वर्ष प्रारंभ हुआ हो। उसके तथा उसके उत्तराधिकारियोंके लेखोंमें जो वर्षसंख्या मिलती है वह उसके राज्यके प्रथम वर्षसे चालू हुई प्रतीत होती है, बादमें उन्होंने एक संवत्का रूप ले लिया जो संयोगसे शक संवत्के अनुरूप होनेसे उत्तरापथमें भी लोकप्रिय हो गया। कनिष्ककी हत्या उसके सेनानियोंने सोते समय कर दी थी। उसके उपरान्त क्रमशः हुविष्क (१०७–१३८ ई०), कनिष्क द्वि० (११९ ई०), वशिष्क, वासुदेव (१५२–१७६ ई०) इत्यादि कई राजे हुए। इन राजाओंके अनेक जैनाजैन शिलालेख मथुरा आदिसे प्राप्त हुए हैं। ये सभी धर्मोंके प्रति सहिष्णु रहे प्रतीत होते हैं। जैनधर्मकी, विशेषकर मथुरामें, इनके कालमें विशेष उन्नति हुई। वासुदेवके उपरान्त कुषाण साम्राज्यकी अवनति प्रारम्भ हो गई। भारतके मध्य भागसे इनका अधिकार धीरे-धीरे उठ गया और ये ईरानकी ओर दबते चले गये जहाँ ये ईरानी रंगमें रंग गये। सासानी वंशके उदय से वहाँ भी इनकी सत्ताका अन्त हो गया। वैसे हूणोंके आक्रमणके समय तक काबुलमें कुषाण सत्ता बनी रही। तीसरी शतीमें पाटलिपुत्रके मुरुण्डोंके साथ भी इनके मैत्री सम्बन्ध रहे थे।

मालवा—अवन्ति जनपद महावीरकालीन प्रसिद्ध प्राचीन महाराज्यों एवं महाजनपदोंमेंसे एक था। उस समय प्रद्योत वंशका उसपर अधिकार

था। तत्कालीन अवन्तिनरेश चण्डप्रद्योत महावीरके मौसा थे। जिस दिन महावीरका निर्वाण हुआ उसी दिन अवन्तिमें प्रद्योतके पुत्र पालकका राज्याभिषेक हुआ था। अवन्ति राज्यकी प्रधान राजधानी उज्जैनी थी। प्रद्योत वंशके उपरान्त नन्दों और फिर मौर्योंका उसपर अधिकार रहा और वह उनके साम्राज्यकी उपराजधानी बनी रही। मौर्य सम्राट् सम्प्रति तो प्रायः उज्जैनीमें ही रहता था और उसी समयसे जैन संघकी उत्तरी शाखाने जो कालान्तरमें श्वेताम्बर सम्प्रदायमें परिणत हो गई, उज्जैनीको अपना केन्द्र बना लिया था। सम्भवतया इसी कारण ब्राह्मण धर्म पुनरुत्थानके पुरस्कर्त्ता शुङ्गवंशी ब्राह्मण नरेशोंने उज्जैनीको न अपनाकर उसके स्थानमें विदिशा, अपरनाम बेसनगर या भद्दिलपुर (भेलसा), को अपनी प्रिय नगरी बनाया था। एक और भी कारण रहा प्रतीत होता है। यूनानी सम्राट् सिकन्दरके भारत-आक्रमणके समय उत्तरी सिन्धु और पंजाबमें जो आग्रेय, मालव, अर्जुनायन, उदुम्बर आदि अनेक शक्तिशाली गणतन्त्र थे उनको उक्त आक्रमणने छिन्न-भिन्न कर दिया था। परिणामस्वरूप मालवगण और उनके पड़ौसी आग्रेयगण स्वदेशका परित्याग करके पूर्व दक्षिणकी ओर पलायन कर गये थे। मालवगण तो राजस्थानके विराट देशमें बस गये, और आग्रेयगण मारवाड़ तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश व मध्यभारतमें इधर-उधर फैल गये। इन्होंने शनैः-शनैः क्षात्रवृत्तिका त्याग करके व्यापार वाणिज्यमें ही अपना उपयोग लगाना प्रारंभ कर दिया किन्तु अपने गणतन्त्रात्मक श्रेणी संगठनको और भी बहुत पीछेतक भंग न होने दिया। मालव लोग विराट देशमें भी अधिक स्थिर न रह सके और अन्ततः आगे बढ़कर उज्जैनी प्रदेशमें बस गये। सम्प्रतिकी मृत्युके उपरान्त इन स्वतन्त्रता-प्रेमी मालवोंने उज्जैनीको केन्द्र बनाकर अपनी गणतन्त्रात्मक सत्ता स्थापित कर ली और धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाई। वह देश भी उनके कारण मालवा कहलाने लगा। शुङ्गों और कण्वोंके राज्यकालमें मालवेके मालवगणने पर्याप्त शक्ति

संचय कर ली थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारवेलने मालवगणको भी विजय कर लिया था और संभवतया उसकी गणतन्त्रात्मक सत्ताको भी मान्य कर लिया था किन्तु उसके नायकके पदपर अपना कोई राजकुमार नियुक्त कर दिया था। यह पद उसकी वंश-परम्परामें रूढ़ हो गया। ई० पूर्व ७४ में इसी वंशका महेन्द्रादित्य गर्दभिल्ल मालवगणका अध्यक्ष और उज्जैनीका गणतन्त्रीय राजा था। वह बहुत अत्याचारी और दुराचारी शासक था। गणोंकी भी अवहेलना करता था। उस समय उज्जैनी जैनोंका प्रधान केन्द्र थी, जैन साध्वियों और साधुओंका वहाँ स्वच्छन्द विहार होता था। कालक द्वितीय उस कालके एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे, मूलतः वे एक राजकुमार थे। उनकी बहिन सरस्वती भी साध्वी थी। वह अनिन्द्य सुन्दरी भी थी। उक्त साध्वीका आगमन जब उज्जैनीमें हुआ तो उसके रूपपर गर्दभिल्ल मुग्ध हो गया। उसने ज़बरदस्ती अपहरण करके उक्त साध्वीको अपने महलमें उठवा मँगाया। सूचना पाते ही कालक वहाँ आया, उसने गर्दभिल्लको बहुत प्रकार समझाया, अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियोंसे भी कहलवाया किन्तु उस दुराचारी निरङ्कुश शासकको अपने दुष्ट अभिप्रायसे विरत करनेमें समर्थ न हो सका। गर्दभिल्लके भयसे आस-पासके राजे भी हस्तक्षेप करनेका साहस न कर सके। अतः सन्त्रस्त कालक सिन्धुकूलपर अवस्थित शकस्थानके शाहियोंके पास पहुँचा और अनेक शकशाहियोंको ससैन्य साथ लेकर, मार्गके अन्य राजाओंकी भी सहायता प्राप्त करता हुआ ई० पू० ६६ में उज्जैनी दुर्गके बाहर आ धमका। चार वर्षतक निरन्तर युद्ध चला। अन्ततः ई० पू० ६१ में कालकके कौशल और शकोंकी वीरतासे गर्दभिल्ल पराजित होकर बन्दी हुआ और सरस्वतीका तथा मालवगणका उस अत्याचारीसे उद्धार हुआ। उसकी प्रार्थनापर कालकने उसे प्राणदान देकर देशसे निर्वासित कर दिया। किन्तु अब शकशाही उज्जैनीमें जम गये। स्वतन्त्रता-प्रेमी मालवगण यह सहन न कर सके, अतः गर्दभिल्लके

सुयोग्य पुत्र वीर विक्रमादित्यके नेतृत्वमें उन्होंने ई० पू० ५७ मे शकोंको उज्जैनीसे निकाल बाहर किया और उक्त वीर पुरुषको अपना गणराजा घोषित किया। विक्रमादित्य अत्यन्त बुद्धिमान्, पराक्रमी, उदार, दानशील, धार्मिक एवं न्यायपरायण शासक था। अनगिनत भारतीय लोककथाओंका वह नायक है। जैन अनुश्रुतिके अनुसार वह जैनधर्मका भक्त था। इस बातमें कोई शंका भी प्रतीत नहीं होती क्योंकि अन्य सम्प्रदायोंकी अनुश्रुतियों एवं सामान्य इतिहासमें उसका कोई उल्लेख ही नही मिलता। विक्रमादित्यने चिरकाल पर्यन्त राज्य किया और अपने देश मालवा तथा अपनी राजधानी उज्जैनीको चिरस्मरणीय बना दिया, संवत् (ई० पू० ५७ का कृत, मालवा, या विक्रम संवत्) के प्रवर्तन द्वारा उसका स्वयंका नाम भी अमर हो गया। उसका और उसके वंशका मालवा पर सौ वर्ष पर्यन्त अधिकार रहा बताया जाता है, किन्तु विक्रमादित्यकी मृत्युके उपरान्त ही सौराष्ट्रके शक-क्षहरातों और पैठनके सातवाहन वंशी नरेशोंमें उज्जैनीपर अधिकार करनेके लिए घोर संघर्ष चलने लगा। बीच-बीचमे कुछ कालके लिए उनमेंसे एक या दूसरेके अधिकारमे भी वह नगर रहा। सन् २६–६६ ई० के मध्य उज्जैनीपर सुप्रसिद्ध क्षहरात नहपान (जैन अनुश्रुतियोंका नरवाहण या नभोवाहन) का अधिकार अवश्य रहा प्रतीत होता है। सन् ७८ ई० में क्षहरातोंके उत्तराधिकारी पश्चिमी शक क्षत्रपोंके वंश संस्थापक भद्रचष्टनने इस नगर पर स्थायी अधिकार करके शक सवत्की पुनः प्रवृत्ति की और लगभग सौ डेढ़ सौ वर्षोतक इसी वंशके अधिकारमें यह प्रदेश चला। शनैः-शनैः मालवगण भी इस पराधीनतामें क्षीणप्रभ और क्षीणशक्ति हो गये। अन्ततः ४ थी शती ई० के प्रारंभमें गुप्त साम्राज्यका उदय होनेपर इस प्रदेशपर उस वंशका अधिकार हुआ और यह गुप्तोंकी उपराजधानी बना। इस समयतक यह नगर बराबर जैनधर्मका एक प्रमुख केन्द्र बनारहा, श्वेताम्बर सम्प्रदायका तो यह प्रथम प्रधान केन्द्र था, किन्तु गुप्त

कालके उदयके पूर्व ही इस स्थानसे पश्चिमकी ओर हट कर उन्होंने सुराष्ट्रदेशकी वल्लभी नगरीको अपना प्रधान केन्द्र बना लिया था, फिर भी उज्जैनी महानगरी धर्मों और संस्कृतियोंका संधिस्थल बनी रही। भारतीय साहित्य, ज्ञान और विज्ञानके सृजनमे इस महानगरीका सर्वोपरि स्थान है। राजनैतिक राजधानी न रहने पर भी शताब्दियों पर्यन्त यह नगरी भारतवर्षकी सास्कृतिक राजधानी बनी रही और इसको वैसा बनानेमें जैन धर्मावलम्बी विद्वानों, मुनियों और श्रावकोंका भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। जैनधर्म और साहित्यके इतिहासके साथ इस महानगरी और मालवा देशका अटूट संबंध है। भारतके सर्व प्रसिद्ध एवं सर्व प्राचीन लौकिक संवतों—प्रथम शक (ई० पू० ६६), विक्रम (ई० पू० ५७) और शक-शालिवाहन (७८ ई०)—का जन्मस्थान भी उज्जैनी ही है।

मथुरा—मथुरा नगरका जैन, वैष्णव, शैव, बौद्धादि विभिन्न भारतीय धर्मोके साथ अत्यन्त प्राचीन कालसे ही घनिष्ठ संबंध रहता आया है। भागवत धर्मके परमदेव भगवान् कृष्णकी यह लीलाभूमि तथा उसके अनुयायियोंका महातीर्थ रहा है। बुद्धका भी वहाँ आगमन हुआ बताया जाता है और कुषाण कालमें यहाँ कई विशाल बौद्ध विहार विद्यमान थे। शैवोंका भी इस नगरके साथ प्राचीन संबध है और सहस्रों वर्ष पर्यन्त यह नगर उत्तरापथमें जैन संस्कृतिका भी प्रमुख केन्द्र रहा है। जैन धर्मके इतिहासमें इस नगर और निकटवर्ती प्रदेशको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आदिपुराणके अनुसार आदिकालीन ५२ देशोंमें शूरसेन देश और उसकी राजधानी मथुराकी गणना थी। महावीर कालीन महाजनपदों, प्रमुख राज्यों एवं राजधानियोंमे भी इनकी गणना हुई है। दक्षिणी जैनाचार्योंने अपने ग्रन्थोंमे पांड्य या दक्षिणी मथुरा (मदुरा) से भेद करनेके लिए इस नगरका उल्लेख प्रायः 'उत्तर मथुरा' नामसे किया है। निर्वाण भक्तिकी (मथुराए अहिछित्ते) गाथासे तथा निशीथ चूर्णिके 'उतरावहे धम्मचक्कं मथुराए देवणिम्मिओ थूभो' शब्दोंमे

मथुराका एक प्राचीन जैन तीर्थ होना सिद्ध होता है। बृहत्कल्पभाष्यकी एक अनुश्रुतिके अनुसार 'उत्तरापथमें मथुरा एक महत्त्वपूर्ण नगर था जिसके अन्तर्गत ९६ ग्रामोंमे लोग अपने घरोंके द्वारोंके ऊपर तथा चौराहों-पर जिन-मूर्तियोंकी स्थापना करते थे।' अनेक जैन पुराणों, चारित्रों, कथाओं तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थोंमे मथुरा नगरके उल्लेख पाये जाते हैं। एक प्राचीन अनुश्रुतिके अनुसार सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथके समयमें कुबेरा नामकी देवीने मथुरामें रत्नजटित स्वर्णमयी जिनस्तूप बनाया था। महाभारत कालमें इस प्रदेशपर हरिवंशमें उत्पन्न यदुवंशियोंका राज्य था। जैन परम्पराके तिरेसठ शलाकापुरुषोंमें परिगणित नारायण कृष्ण और बलरामकी बाललीला-भूमि मथुरा और उसके आस-पासका प्रदेश था। कृष्ण द्वारा संस्थापित उग्रसेनके वंशज उग्रवंशी राजे मथुरापर चिरकाल तक राज्य करते रहे। इसी वंशमें साकार नामक राजाका पुत्र राजकुमार जिनदत्तराय जैनधर्मका परम भक्त था। वह स्वदेश छोड़कर दक्षिणकी ओर चला गया था और वहाँ उसके वंशजोंने कर्णाटक देशमें कई जैन राज्य स्थापित किये जो मध्यकाल तक चलते रहे। २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथका भी मथुरामे विहार हुआ था और उनके समवसरणके स्थानपर कल्पद्रुमकी स्थापना की गई थी। उन्हीके तीर्थम, लगभग ७–८ वीं शती ई० पू० में, उपरोक्त देव निर्मित स्वर्णमयी स्तूपको ईंटोंमे ढक दिया गया था। फ़ुहरर, स्मिथ, वोगल आदि पुरातत्त्वज्ञ भी इस स्तूपके अवशेषों-को देखकर इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि यह जैन-स्तूप ईसासे कमसे-कम पाँच-छः सौ वर्ष पूर्व निर्मित हुआ था। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीरका पदार्पण भी इस नगरमें हुआ बताया जाता है। उस समय यहाँका राजा पद्मोदयका पुत्र उदितोदय था। सम्यक्त्वकौमुदी कथामालाका घटना क्षेत्र और समय यही है। महावीरकी शिष्य-परम्परामें अन्तिम केवलि जम्बूस्वामीने मथुराके चौरासी क्षेत्रपर दुर्द्धर तपश्चरण किया था। उन्हीके उपदेशसे इस नगरके महान् दस्यु अञ्जनचोरने अपने ५०० साथियों सहित दस्युवृत्ति छोड़कर

मुनिव्रत धारण किया था और घोर उपसर्ग सहन करते हुए सद्गति प्राप्त की थी। इन मुनियोंकी स्मृतिमें यहाँ ५०० के लगभग स्तूप निर्माण किये गये थे जिनके अवशेष मध्यकाल तक विद्यमान थे।

नन्द और मौर्यकालमें मथुरामें जैनधर्मकी क्या स्थिति रही निश्चयसे नहीं कहा जा सकता। ४ थी शती ई० पू० में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके कारण उत्तरापथके जैन संघका एक बड़ा भाग अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहुकी अध्यक्षतामें दक्षिण देशको विहार कर गया था। दुर्भिक्षकी समाप्तिपर भी उनमेंसे अधिकांश साधु वहीं रह गये और उनका संगठन कालान्तरमें मूल संघके नामसे प्रसिद्ध हुआ। मगधमें ही जो साधु रह गये थे उन्होंने स्थूलभद्र और उनके शिष्योंके नेतृत्वमें अपना पृथक् संगठन कर लिया। दुर्भिक्षके समय आपद्धर्मके रूपमें इन मागधी साधुओंने जो शिथिलाचार ग्रहण कर लिया था वह शनैः-शनैः रूढ़ होता गया और कालान्तरमें दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेदका कारण बना। मथुरा आदि मगधसे दूरस्थ प्रदेश दुष्कालके प्रकोपसे उतने त्रस्त नहीं हुए थे, अतः यहाँके जैन साधु कर्णाटकी (दक्षिणी) और मागधी (उत्तरी) दोनों ही धाराओंसे अपने आचार-विचारमें कुछ विलक्षण रहे। दुष्कालका यह प्रभाव अवश्य हुआ कि ४–३ री शती ई० पू० में मथुरामें बौद्ध और ब्राह्मण धर्मोंने विशेष बल पकड़ लिया और वे जैनधर्मके साथ प्रतिद्वन्द्विता करने लगे, यहाँ तक कि प्राचीन जैन स्तूपके अधिकारको लेकर उनमें परस्पर झगड़ा भी हुआ। तत्कालीन राजाने, जिसका नाम पूतिमुख था, अपनी बौद्ध रानीके प्रभावमें आकर बौद्धोंका पक्ष लिया, किन्तु उसकी जैन रानी उर्विलाके प्रयत्नोंसे अन्ततः यह निर्णय हुआ कि स्तूप जैनोंका ही है और उन्हींके अधिकारमें रहेगा। अशोकके शासनकालमें संभवतया बौद्धधर्मका मथुरामें कुछ विशेष प्रभाव बढ़ा किन्तु उसके पौत्र सम्प्रतिके शासन-कालमें जैनधर्मका प्रभाव बढ़ा। उस समय मथुराकी गणना प्रमुख जैन नगरियोंमें थी। तदुपरान्त शुङ्गोंके कालमें संभवतया ब्राह्मण धर्मने विशेष बल पकड़ा। तथापि मथुरा नगरी

की यह विलक्षणता थी कि इसने विभिन्न धर्मोंको समान रूपसे प्रश्रय दिया और यहाँ वे सब साथ-साथ परस्पर सद्भाव एव सहयोग पूर्वक फले-फूले और देशके सांस्कृतिक विकासमें साधक बने। मथुरा नगर जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव आदि धर्मोका ही संधिस्थल नहीं था वरन् आर्य, द्रविड़ (नाग, यक्ष आदि), यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण आदि विभिन्न देशी-विदेशी जातियों एवं संस्कृतियोंकी भी समन्वय भूमि थी। मथुराके जैन संघने दिगम्बर श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायोंको पूर्वज उपरोक्त दोनो धाराओंसे पृथक् रहकर प्रसिद्ध गुरुओं अथवा स्थानोंके नामपर अपने गण, शाखा, कुल, गोष्ठ आदि स्थापित करके अपना स्वतन्त्र संगठन किया। शुङ्ग-शक-कुषाण काल (लगभग ई० पू० २०० से सन् ई० २०० पर्यन्त) में मथुराके इस जैनसंघने अभूतपूर्व उन्नति की।

मथुराके विभिन्न स्थानों और विशेषकर कंकाली टीलेसे उक्त कालसे सम्बन्धित सहस्रों जैन कलाकृतियाँ तथा सैकड़ों जैन शिलालेख प्राप्त हुए हैं। उनमें विभिन्न तीर्थङ्करोंकी नाम या लांछन युक्त अनेक खंडित-अखंडित, खड्गासन वा पद्मासन प्रतिमाएँ, अनेक नाम-रहित जिनमूर्तियाँ, कई एक प्रतिमा सर्वतोभद्रिका, सरस्वती, अम्बिका, आर्यावती, नेगमेशी आदि देवी-देवताओं तथा विभिन्न यक्ष-यक्षियों एवं नागोंकी मूर्तियाँ, स्तूप, नांदि-विशाल, शिलास्तंभ, आयागपट्ट, अष्टमंगलद्रव्य, वेदिकास्तभ, तोरण, जिनालय, प्रपा (बावड़ी), उदपान आदिके अवशेष प्राप्त हुए हैं। कई प्रस्तर-खंडोंपर ऋषभ-वैराग्य, महावीर-जन्म आदिके पौराणिक दृश्य अंकित हैं। कई एकपर दिगम्बर मुनियोंकी और कुछपर खंडवस्त्रधारी अर्द्धफालक साधुओंकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। भारतीय तथा शक आदि विदेशी नर-नारियों की मूर्तियाँ भी निजी वेषभूषामें अंकित मिलती हैं। लोक-जीवनसे सम्बन्धित अनेक दृश्योंसे मथुरा-निवासियोंकी तत्कालीन वेषभूषा, अलंकार, मनोरञ्जन, कलाप्रियता आदिपर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। अपनी उत्कृष्ट कारीगरीके कारण ये अवशेष आज भी भारतीय कलाके गौरव समझे जाते हैं।

प्राप्त शिलालेखोंमेंसे डेढ़ सौसे अधिक प्रकाशित हो चुके हैं और उनमें आधेके लगभग तिथियुक्त हैं। अधिकांश वर्ष संख्या ४ से ९८ तकके हैं। कुछमें शक महाक्षत्रप रज्जुबल, शोडास, मेवकिके नाम अंकित हैं और कुछमें कनिष्क, हुविष्क, वशिष्क, वासुदेव आदि कुषाण सम्राटोंके। मथुराके इन शिलालेखोंके आधारपर ही प्रथम शती ई० पू० के शक-क्षत्रपों तथा प्रथम व द्वितीय शताब्दी ई० के कुषाण-नरेशोंका पूर्वापर एवं कालक्रम सन्तोषजनक रूपमें निश्चित करना सम्भव हुआ। इन अभिलेखोंमें भक्तों द्वारा विविध धर्मायतनों, उपकरणों, कलाकृतियों एवं लोकोपयोगी वस्तुओंके निर्माण कराने और दान देनेके उल्लेख हैं, लगभग साठ जैन गुरुओंका उनके विभिन्न कुल, शाखा, गण तथा उपाधियों सहित नामोल्लेख है, लगभग तीस तपस्विनी साध्वियोंके, लगभग एक सौ गृहस्थ श्रावकों और लगभग पचास महिला श्राविकाओंके नामोल्लेख हैं। इन लेखोंसे पता चलता है कि उस समय विभिन्न वर्णों, जातियों, वर्गों और व्यवसायोंके भारतीयजन तथा मथुरावासी यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि विदेशी भी जैनधर्मके भक्त थे। उनकी स्त्रियाँ भी स्वतन्त्रतापूर्वक पुरुषोंकी भाँति ही धर्मका पालन करती थीं, बल्कि दान देने और धर्मायतनोंका निर्माण करानेमें उनसे भी आगे ही थीं। इतना ही नहीं, वे स्वेच्छासे साध्वी भी हो सकती थीं। उस कालमें साध्वी आर्यिकाओंका संगठन भी बहुत व्यवस्थित रहा प्रतीत होता है। मथुराका जैनधर्म इस कालमें उन्नतिके चरमशिखरपर था। वह पूर्ण सहिष्णुता एवं परम उदारताकी भावनासे ओत-प्रोत था। संकीर्णता और भेद-भावका उसमें अभाव था।

यही कारण है कि जैन संघकी अपने-आपको मौलिक कहनेवाली दिगम्बरों एवं श्वेताम्बरोंकी पूर्वज पूर्वोक्त दोनों धाराएँ जब कि अपने बीच सम्प्रदाय भेदकी खाईको उत्तरोत्तर गहरा करती जा रही थीं, मथुराके जैन गुरु स्वयं इन दोनोंसे पृथक् रहकर भी समन्वयका ही प्रयत्न करते थे। अतः दोनों ही परम्पराओंमें मथुराके अनेक गुरु समान रूपसे समादृत

हुए और मथुराका तत्कालीन धर्म दोनों सम्प्रदायोंके बीचकी कड़ी सिद्ध हुआ। यहीं और इसी कालमें कन्हश्रमणके नेतृत्वमें उस अर्द्धफालक सम्प्रदायका अस्थायी उदय हुआ जो एक छोटा-सा खण्डवस्त्र ग्रहण करनेका विधान करके दोनों दलोंके बीच समझौता कराना चाहता था। जैन मुनियोंके एक संघ यापनीयोंके पूर्वज शिवार्य आदि आरातीय उपाधिधारी यतियोंने भी सभवतया इसी नगरसे ऐसे सैद्धान्तिक विचारोंका साहित्यिक प्रचार प्रारम्भ किया जो संघ भेदरूपी फूटसे जैनसंघकी रक्षा करना चाहता था। और इसी नगरके जैन गुरुओंने सर्वप्रथम वह महान् सरस्वती आन्दोलन उठाया जिसका उद्देश्य परम्परागत जैनश्रुतका संकलन कराना और जैनोंमें साहित्य-रचनाका प्रारम्भ कराना था।

दोनों ही धाराओंके नेता आगमोंको लिपिबद्ध करने और पुस्तक साहित्यका निर्माण करनेका विरोध करते थे। किन्तु समय बदल रहा था, मथुरामें यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि भौतिकवादी पश्चिमी विदेशियो का समागम हो रहा था। अशोकके समयसे ही लेखनकलाका प्रचार उत्तरोत्तर बल पकड़ता जा रहा था, जिसे इन विदेशियोंसे और अधिक प्रोत्साहन मिला। शुङ्गकालके ब्राह्मणधर्म-पुनरुद्धार आन्दोलनने पतञ्जलि, वाल्मीकि, सौति आदि विद्वानोंके नेतृत्वमें ब्राह्मणीय साहित्यके प्रणयनको भारी प्रोत्साहन दिया। उधर सिंहलद्वीपमें वहाँके राजाके आश्रयमें बौद्ध-संघ पालि त्रिपिटकको संकलित एवं लिपिबद्ध करनेका प्रयत्न कर रहा था। फलस्वरूप स्वयं भारतमें कनिष्कके आश्रयमें अश्वघोष, पार्श्व, वसुमित्र आदि बौद्ध विद्वानोंने चतुर्थ बौद्ध-संगीति बुलाई और स्वतन्त्र साहित्यका भी निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसी स्थितिमें मथुराके दूरदर्शी जैन गुरुओंने भी सरस्वती आन्दोलन-द्वारा अपने कट्टरपंथी धर्मबन्धुओंके संकोच एवं संकीर्णताको दूर करनेका प्रयत्न किया, यह स्वाभाविक ही था। ई० पू० १६० के लगभग कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारवेलने उड़ीसाके कुमारीपर्वतपर एक मुनिसम्मेलन किया था। संभवतः मथुरासंघके

प्रतिनिधियोंके प्रभावसे ही उक्त सम्मेलनमें सरस्वती आन्दोलनका प्रारम्भ हुआ जिसका कि पदक्षेप स्वयं खारवेलका जैन नमस्कार मन्त्रसे युक्त बृहद् शिलालेख था। मथुरामें इतनी बड़ी संख्यामें लिखाये गये तत्कालीन जैन-शिलालेख उक्त आन्दोलनकी प्रगतिके प्रतीक हैं। इतना ही नहीं, मथुरा संघने पुस्तकधारिणी सरस्वतीदेवीकी विशाल प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करके इस आन्दोलनमें जान ही डाल दी। दूसरी शती ई० के पूर्वार्धमें कुषाण नरेशोंके शासन-कालमें आचार्य नागहस्ति द्वारा प्रस्थापित सरस्वती-देवीकी जो खंडित मूर्त्ति मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त हुई है वह न केवल जैन सरस्वतीकी ही सर्वप्राचीन उपलब्ध मूर्त्ति है वरन् अन्य सम्प्रदायों-द्वारा निर्मित उक्त देवीकी ज्ञात मूर्त्तियोंमें भी सर्वप्राचीन मानी जाती है। मथुरामें जैन सरस्वतीकी वैसी मूर्त्तियाँ बहुत पहलेसे ही बनने लगी थीं इसमें कोई सन्देह नहीं है और इसी कारण ज्ञान-जागृतिके उस प्रथम महान् जैन आन्दोलनको सरस्वती-आन्दोलनका नाम देना उप-युक्त ही है।

मथुरासे प्रचारित इस आन्दोलनका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण एवं उत्तर भारतके कुन्दकुन्द, शिवार्य, कुमारनन्दि, विमलसूरि, उमास्वामी आदि अनेक निर्ग्रन्थाचार्य ईस्वी सन्के प्रारम्भके पूर्व ही ग्रन्थ-रचनामें संलग्न हो गये और आगमोंके संकलनकी आवाज बुलन्द करने लगे। अतः प्रथम शती ई० में ही कम-से-कम दक्षिणापथके दिगम्बराचार्योंने अपने अवशिष्ट आगमज्ञानको संकलित एवं लिपिबद्ध कर डाला तथा आगम-परम्पराके आधारसे द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमा-नुयोगके भी प्रमुख ग्रन्थ रचने प्रारंभ कर दिये, यद्यपि आगम-ज्ञानकी मौखिक परम्परा उसके बादतक भी चलती रही। इस आगम संकलनका एक परिणाम यह हुआ कि जिस संघभेदको मथुरावाले टालना चाहते थे वह न टल सका और प्रथम शती ई० के अन्तिम पादमें जैन संघ, मूलसंघ अथवा दिगम्बर आम्नाय और श्वेताम्बर सम्प्रदाय इन दो भेदोंमें

मदाके लिए विभक्त हो गया। श्वेताम्बर धाराके साधु अपनी आगम-परम्पराको भी कुछ पृथक् ही निर्धारित करने लगे और उसके संकलनका विरोध चार-पाँच सौ वर्ष बाद तक करते रहे।

यद्यपि मथुरावाले दोनों दलोंके बीच समन्वय करानेके प्रयत्नमें विफल हुए तथापि उनका सरस्वती-आन्दोलन पूर्ण सफल हुआ। संघ-विभाजनके उपरान्त भी उन्होंने अपने-आपको दोनों ही दलोंसे पृथक् रक्खा, न अपने-आपको दिगम्बरोंसे सम्बद्ध किया और न श्वेताम्बरोंसे। अपनी संघ-व्यवस्था भी उन्होंने स्वतन्त्र ही रक्खी। किन्तु एक तीसरा सम्प्रदाय भी नहीं बनाया और अन्ततक दोनोंके बीचकी कड़ी ही बने रहे। कुषाण कालके उपरान्त वर्ष ११८, १२७ एवं २९९ (संभवतया शक संवत्) के भी जैन शिलालेख मथुरासे प्राप्त हुए हैं। इस कालमें भारशिव नागोंका गण-तन्त्रात्मक संघराज्य इस प्रदेशपर रहा और वे भी जैनधर्मके प्रति सहिष्णु रहे प्रतीत होते हैं। मथुराका जैन संघ पीछे तक प्रभावक बना रहा और समन्वयका प्रयत्न भी करता रहा। सन् ३००—३१३ ई० के मध्य आर्य स्कंदिलकी अध्यक्षतामें मथुरामे ही श्वेताम्बर साधुओंका एक सम्मेलन उनके द्वारा मान्य आगम-परम्पराका संकलन करनेके लिए हुआ किन्तु वह परस्पर मतभेदके कारण विफल-प्रयत्न हुआ। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर और शायद दिगम्बर दोनों ही संघोंका कट्टर एवं बहुभाग अंश मथुरा वालोंको सन्देहकी दृष्टिसे देखता था और उन्हें दूसरे पक्षकी ओर झुका समझता था। इस प्रकार जैन धर्मका एक प्रमुख केन्द्र बने रहते हुए भी मथुरामें ८—९ वीं शती ई० पर्यन्त दिगम्बर श्वेताम्बर भेद उत्पन्न न होने पाया।

मथुरासे प्राप्त प्राचीन जैन अवशेषोंके सम्बन्धमें डॉ० फ़ुहरर, वोगल, स्मिथ, लूडर, थामस, रैप्सन, व्हूलर, रामप्रसाद चाँदा, रमेशचन्द्र मजूमदार, वासुदेवशरण अग्रवाल, कृष्णदत्त वाजपेयी आदि अनेक पुरा-तत्त्वज्ञों, कला-मर्मज्ञों, इतिहासकारों और विद्वानोंने जो अपने अभिमत

प्रकट किये हैं उनसे उक्त अवशेषोंका धार्मिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व भली प्रकार प्रकट है। उनसे भारतवर्षकी सांस्कृतिक अभिवृद्धिमें प्राचीन मथुराके जैनोंके प्रशंसनीय योगदानका मूल्याङ्कन करना भी संभव हो जाता है।

नाग वंश—जैसा कि एक पूर्व अध्यायमें उल्लेख किया जा चुका है। नाग जाति भारतकी एक आर्येतर ही नहीं वरन् प्रागार्य आदिम जाति थी। महाभारत युद्धके उपरान्त इसकी शक्ति एकबारगी प्रबल वेगसे जागृत हो उठी थी और उसने वैदिक अथवा आर्य क्षत्रिय राज्योंको प्रायः समाप्त ही कर दिया था। नाग जातिके ही काशीके उरग वंश और तदनन्तर मगधके शैशुनाक वंशने प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्यवादकी नींव डाली थी। नाग जातिके क्षत्रियोंको ब्राह्मण लोग व्रात्य-क्षत्रिय कहते थे। नागोंके अतिरिक्त वैसी ही प्रागार्य अन्य जातियोंके भी अनेक व्रात्य क्षत्रिय वंश उदयमें आ गये थे। व्रात्यक्षत्रिय मुख्यतया श्रमण परम्पराके उपासक थे, उनमेंसे वज्जि, लिच्छवि, भल्ल, मल्ल, मोरिय, शाक्य आदि अनेक वंशोंने अपने गणतंत्र स्थापित कर लिये थे। किन्तु नन्द एवं मौर्य सम्राटोंके बढ़ते हुए प्रतापके सम्मुख ये सभी गणतन्त्र हतप्रभ हो गये थे और शनैः-शनैः साम्राज्यमें समा गये थे। पंजाबमें आर्य जातियोंके भी कुछ गणतंत्र थे, किन्तु सिकन्दरके आक्रमण और तदनन्तर अन्य विदेशी शासकोंके कालमें वे सब क्षीणशक्ति और छिन्न-भिन्न हो गये थे। कुषाणोंकी अवनतिसे लाभ उठाकर नागजाति फिरसे प्रकाशमें आई। उसके साथ-ही-साथ अनेक पुराने गणराज्य भी फिरसे सत्तावान हुए। यह नागजातिका दूसरा ऐतिहासिक पुनरुत्थान था।

नाग-वकाटक युगके इतिहासके उद्धारकर्त्ता स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवालके अनुसार इस कालके प्रथम ज्ञात नागवंशका उत्थान विदिशामें हुआ था। शुङ्गोंके शासन-कालमें यह नगर उपराज या राज-प्रतिनिधिका प्रसिद्ध निवासस्थान था। ई० पू० लगभग ११० में शेष नामक नाग

राजा विदिशाका शासक नियुक्त हुआ और उसके उपरान्त भोगिन, रामचन्द्र धर्मवर्मन् और वंगरने प्रथम शती ई० पू० के मध्यके लगभग तक इस प्रदेशपर शासन किया। शुङ्गोंके पतनके बाद ये नाग राजे प्रायः स्वतन्त्र हो गये थे किन्तु उज्जैनीमें विक्रमादित्यके उत्थानके कारण तथा तदनन्तर शक-क्षहरातोंके कारण नाग लोग अपनी राजधानीको विदिशासे उठाकर ग्वालियरके निकट पद्मावतीमें ले गये थे। यहाँ लगभग ई० पू० २० से सन् ७८ ई० पर्यन्त भूतनन्दी, शिशुनन्दी, यशनन्दी, पुरुषदात, उत्तमदात, भवदात, शिवदात आदि नागराजोंने क्रमशः स्वतन्त्र शासन किया। कनिष्क द्वारा उत्तर भारतमें कुषाण शक्तिका द्रुत विस्तार होनेके कारण नागलोग मध्यप्रदेशमें चले गये और होशंगाबाद एवं जबलपुरके वन पर्वतोंमें रक्षित रहकर कई दशकों तक राज्य करते रहे। दूसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्धमें कुषाण साम्राज्यके अन्तिम दिनोंमें वे वहाँसे निकलकर बघेलखण्ड होते हुए गंगा तटपर कान्तिपुरीमें पहुँचे और उसे अपनी राजधानी बनाकर काशीके आस-पासके प्रदेशपर राज्य करने लगे। इस नव-स्थापित वंशका प्रथम शासक नव-नाग (लगभग सन् १४०–१७० ई०) था और इसी लिए यह वंश नव-नाग वंश कहलाता है। कहा जाता है कि नवनाग वंशज शिवके भक्त हो गये थे इस कारण कालान्तरमें यह वंश भारशिव वंशके नामसे भी इतिहासमें प्रसिद्ध हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाण वासुदेवके राज्यकालमें कान्तिपुरीका नव-नाग उत्तर प्रदेशके पूर्वी भागका एक स्वतन्त्र शासक था। उसका उत्तराधिकारी वीरसेन (१७०-२१० ई०) नवनागसे भी अधिक प्रतापी था। पंजाबमें यौधेयों-द्वारा कुषाणोंके विरुद्ध किये गये विद्रोहसे उत्पन्न अव्यवस्थाका लाभ उठाकर वीरसेनने अपनी शक्तिका विस्तार करना प्रारंभ किया। उसने शीघ्र ही कौशाम्बीसे मथुरापर्यन्त समस्त देशपर अधिकार कर लिया और कुषाणोंको उत्तर प्रदेशसे निकाल बाहर किया। उसने पद्मावती और मथुराको अपनी उपराजधानियाँ बनाईं और उनमें अपने

प्रतिनिधियों एवं उपशासकोंके रूपमें नाग उपराजवंश स्थापित किये। पद्मावतीका यह नागवंश टाकवंश कहलाता है और इसमें भीमनागसे गणपति नाग पर्यन्त छः शासकोंने सन् २१०-३४४ ई० पर्यन्त राज्य किया। मथुराका वश संभवतया यदुवंश भी कहलाता था। इस वशने भी प्रायः इतने ही काल राज्य किया किन्तु इसके अभी तक केवल दो राजाओं—कीर्तिषेण और नागसेनके ही नाम प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त अम्बालेके निकट स्रुघ्न नामक स्थानमें, बुलन्दशहर ज़िलेके इन्द्रपुरमें और बरेली ज़िलेके अहिच्छत्र-में भी नागराज्य स्थापित हुए। सुदूर दक्षिणमें भी एक शक्तिशाली नाग-मंडल था और राजतरंगिणीके अनुसार काश्मीरमें भी एक नाग वंशका राज्य रहा प्रतीत होता है। किन्तु उत्तर भारतका इस कालका प्रमुख और प्रधान नाग राज्यवंश कान्तिपुरीका भारशिव वंश ही था।

वीरसेनके उपरान्त हयनाग, भयनाग, बर्हिननाग, चरजनाग और भवनागने क्रमशः सन् ३१५ ई० पर्यन्त राज्य किया। इन नाग-नरेशोंने कुषाणोंको अन्ततः भारतवर्षकी सीमाओंके बाहर खदेड़ भगाया और उन्हें ईरानके सासानी शाह शापुर (३री शती ई० का मध्य) की शरण लेनी पड़ी। कुषाणोंका अन्त हो जानेके बाद भी मगधमें उनके महाक्षत्रप वनस्परके वंशजोंका शासन चलता रहा। यही वंश संभवतया मुरुण्ड वंश भी कहलाता था। काम्बुज (हिन्दचीन) के राजाका एक दूत सन् २४५ ई० के लगभग पाटलिपुत्रके मुरुण्डराजाके दरबारमें आया था। जैनाचार्य पादलिप्तसूरिसे सम्बन्धित अनुश्रुतिमें भी पाटलिपुत्रपर अत्याचारी मुरुण्डोंके शासन और उस नगरकी भीषण बाढ़ व विनाशका उल्लेख मिलता है। इस विदेशी वंशके अन्त करनेका श्रेय वकाटक विंध्यशक्तिको है जो भारशिवोंका एक महासामन्त था। इसके उपरान्त चम्पामें भी पुनः नागराज्य स्थापित हुआ। किन्तु मगधमें नागोंका राज्य स्थायी न रहा। प्राचीन लिच्छविगणने वहाँ शीघ्र ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली और पाटलिपुत्रको अपने गणराज्यका केन्द्र बना लिया।

वस्तुतः इन नागोंकी शासन-प्रणाली भी संघात्मक थी, भारशिव उसके नेता थे, उनकी अध्यक्षतामें उक्त संघमें उनके प्रतिनिधि स्वरूप अनेक नाग-राज्य तथा प्रजातन्त्र सम्मिलित थे। उस युगमें गणतन्त्र प्रणाली ही अधिक लोकप्रिय थी। पूर्वी पंजाब एवं राजस्थानमे यौधेय, अर्जुनायन, आग्रेय आदि, मध्यभारतमें मालव, बिहारमे लिच्छवि आदि अन्य जातियोके गणराज्य थे। किन्तु नाग शक्ति व्यापक थी और इन अन्य गणोंके प्रमुख व्यक्तियोंको अपनी कन्याएँ विवाहमें देकर मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके संघशक्तियोंको बढ़ानेमें तत्पर थी। धर्मके विषयमें भी वे परम उदार और सहिष्णु थे। उनकी जातिमें जैन और शैव दोनों ही धर्मोंकी प्रवृत्ति थी। विदिशा, पद्मा-वतीपुर, मथुरा, अहिच्छत्र आदि उनके प्रमुख केन्द्र जैनधर्मके भी प्रसिद्ध तीर्थ एवं प्रधान केन्द्र थे। जैन अनुश्रुतियोंमें नाग जातिको विशिष्ट स्थान प्राप्त है, वे प्राचीन विद्याधरोंके वंशज कहे गये है। स्थापत्य कलाकी नागर शैली एवं माथेबंद नागरी लिपिके आविष्कार-का श्रेय भी उन्हें ही दिया जाता है। अनेक नगर आज भी उनके नामकी स्मृति बनाये हुए हैं। जैनोंकी पद्मावतीपुरवाल आदि जातियाँ भी उक्त नागयुगके नागराजाओं द्वारा जैनधर्मके प्रश्रयको सूचित करती है। उन्होंने अपना राज्यचिह्न भी कोई साम्प्रदायिक नहीं रक्खा था वरन् गंगा यमुनाके अन्तर्वेदको विदेशी शासनसे मुक्त करनेके कारण उक्त महानदियोंको ही अपना राज्यचिह्न बनाया था। सर्प इस जातिका मौलिक लांछन था। सर्प लांछन तीर्थंकर पार्श्वकी परम्पराभक्त नागजाति नागमंडित योगिराज शिवकी ओर भी आकृष्ट हुई इसमें क्या आश्चर्य।

वकाटक वंश—नवनागवंशका अन्तिम शासक भवनाग पुत्रहीन था, उसके मात्र एक कन्या थी जिसे उसने अपने सामन्त विन्ध्यशक्ति वकाटकके पौत्र और प्रवरसेन वकाटकके पुत्र गौतमीपुत्रको विवाह दी थी। गौतमी-पुत्रकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई और उसका पुत्र रुद्रसेन बालक था, किन्तु वह अपने पितामहके छोटेसे राज्यका ही नहीं बल्कि अपने नानाके विशाल

राज्यका भी उत्तराधिकारी था। भवनागकी मृत्युके उपरान्त प्रवरसेनने अपने पोतेके संरक्षकके रूपमें भारशिव और वकाटक दोनों राज्योंको सम्मिलित करके शासन चलाया। वह बड़ा शक्तिशाली राजा था। चारों दिशाओंमें उसने दिग्विजय की, विशेषकर मालवा, गुजरात और सौराष्ट्रकी विजय करके उसने ४ थी शती ई० के प्रारंभमें उक्त देशोंमें चष्टन-वंशी शक क्षत्रपोंके शासनका प्रायः अन्त कर दिया था। अब वकाटक शक्ति भारतवर्षकी सर्वोपरि राज्य-शक्ति थी। सन् ३३५ ई० में प्रवरसेनकी मृत्यु हुई और उसका पौत्र एवं उत्तराधिकारी रुद्रसेन प्रथम (३३५—३६० ई०) गद्दीपर बैठा। उसके राज्यमें सम्पूर्ण उत्तरप्रदेश, मध्यभारत, मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र तथा दक्षिणके भी कुछ भाग शामिल थे। उसके अन्तिम दिनोंमें शकक्षत्रप रुद्रदामन द्वितीयने फिरसे सौराष्ट्र एवं गुजरात-पर अधिकार कर लिया। रुद्रसेनके पश्चात् पृथ्वीसेन वकाटक (३६०—३८५ ई०) राजा हुआ। इसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय था। इस कालमें मगधमें गुप्त साम्राज्यका उदय हो रहा था। वकाटक शक्ति अब भी प्रबल थी और पश्चिमी शक क्षत्रपोंका अन्त करनेमें विशेष रूपसे सहायक हो सकती थी। अतः गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयने अपनी कन्या प्रभावतीका विवाह रुद्रसेन द्वितीयके साथ कर दिया। विवाहके पाँच वर्ष उपरान्त ही रुद्रसेनकी मृत्यु हो गई और प्रभावतीने राज्यकार्य सँभाला। वकाटक सेनाओंकी सहायतासे गुप्तसम्राट् गुजरात सौराष्ट्र आदिसे भी शक सत्ताका उच्छेद करनेमें सफल हुए और प्रभावतीकी मृत्युके उपरान्त वकाटक राज्य भी गुप्त साम्राज्यका ही अंग हो गया।

ये वकाटकवंशी नरेश भी परधर्मसहिष्णु थे। नागोंकी भाँति इनके शासनकालमें भी जैनधर्म उत्तर भारतके विभिन्न केन्द्रोंमें फलता-फूलता रहा, किन्तु अब उसके सर्वप्रधान केन्द्र सौराष्ट्र और कर्णाटक हो गये थे। उत्तर भारतमें वह शनैः-शनैः गौण स्थितिको प्राप्त हो गया, सिवाय मध्य भारत और राजस्थानके तथा कतिपय प्राचीन केन्द्रोंके। किन्तु सम्पूर्ण

दक्षिण भारत, कलिंग और गुजरातमें उसने अभूतपूर्व प्रगति की और लगभग एक सहस्र वर्ष पर्यन्त तत्स्थानीय छोटे-बड़े राज्यों तथा जनताका प्रधान धर्म बना रहा। बौद्ध धर्म नाग-वकाटक युगसे ही भारतवर्षमें पतनोन्मुख होता चला गया। बीच-बीचमें राज्याश्रय पाकर उसने बल पकड़ा किन्तु सामान्यतः प्रमुख केन्द्रोंको छोड़कर अन्यत्र उसके चिह्न लुप्त होने लगे। इस परिस्थितिमें भागवत और शैव धर्म धीरे-धीरे समुन्नत एवं व्यापक होने लगे।

अध्याय ५

प्राचीन युग—चतुर्थ पाद

उत्तर भारत (सन् ३००-१२०० ई०)

चौथी शताब्दी ई० के पूर्वार्धमें नाग-वकाटक युगकी समाप्ति और गुप्त साम्राज्यके उदयके साथ-ही-साथ भारतीय इतिहासके प्राचीन युगका पूर्वार्ध समाप्त हो जाता है और उसके उत्तरार्धका प्रारम्भ हो जाता है। इस उपरान्त कालमें ऐतिह्य साधनोंकी विविधता एवं प्रचुरताके कारण इतिहासकारका कार्य भी पहलेकी अपेक्षा अधिक सुगम हो जाता है।

गुप्त वंश—गुप्त वंश मूलतः सम्भवतया प्राचीन व्रात्य जातिका ही एक ऐसा अंश था जिसने वैश्य वृत्ति अंगीकार कर ली थी। किन्तु प्राचीन कालमें और विशेषकर श्रमण परम्पराके अनुयायी व्रात्य आदिकोंमें वर्ण जन्मतः नहीं कर्मतः था और वर्णपरिवर्तन सहज था एवं व्यक्तिगत स्वेच्छा-पर निर्भर था। अतः प्रारम्भिक गुप्तलोग राज्याधिकारी और सामन्त आदि भी रहे प्रतीत होते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्यके शासन-कालमें उसका एक कर्मचारी जो गिरनार प्रदेशका शासक था वैश्य पुष्यगुप्त था। मथुराके एक शककालीन जैन शिलालेखमें एक गोप्तिपुत्रका उल्लेख है जो शकों और पह्लवोंके लिए 'कालव्याल' सदृश कहा गया है। उसकी जननी गुप्त वंशकी कन्या रही प्रतीत होती है। इसी प्रकार भरहुतके एक स्तम्भ लेखमें एक अन्य गोप्तिपुत्रका उल्लेख है जिसका नाम राजा विसदेव था।

ऐतिहासिक गुप्तवंशका प्रथम पुरुष राजा श्रीगुप्त था जिसने नाग-वकाटकों द्वारा मगधसे शक शासनका उच्छेद कर दिये जानेके समय नालन्दासे ४० योजन पूर्वकी ओर अपना एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया था। उस प्रदेशमें बौद्ध धर्मकी प्रवृत्ति कुछ अधिक थी, यह राजा

भी इसी धर्मका अनुयायी रहा प्रतीत होता है। मृगशिखा वनके निकट उसने चीनी बौद्ध यात्रियोंके निवासके लिए एक विहारका निर्माण भी कराया बताया जाता है। उसका उत्तराधिकारी घटोत्कचगुप्त था। इसने 'महाराज' पदवी धारण की। इसका पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम था। इसने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की। ऐतिहासिक गुप्त वंशका यही प्रथम सम्राट् था और सन् ३१९–२० ई० में इसके राज्याभिषेकसे ही गुप्त संवत्‌की प्रवृत्ति हुई मानी जाती है। उत्तरी मगधमें उस समय लिच्छविगण शक्तिशाली था। पाटलिपुत्रपर भी उसका अधिकार था। चन्द्रगुप्तने पाटलिपुत्रके लिच्छवि नरेशकी एकमात्र कन्या कुमारदेवीके साथ विवाह करके अपनी शक्तिका विस्तार किया। इस सम्बन्धके कारण पाटलिपुत्रपर भी उसका अधिकार हो गया और लिच्छविगणका सम्पूर्ण प्रदेश उसके राज्यका अंग बन गया। पश्चिमकी ओर उत्तरप्रदेशमें भी उसने अपने राज्यका विस्तार किया। लिच्छवियोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए उसने लिच्छविकन्या कुमारदेवीकी मूर्ति भी अपने साथ ही अपनी मुद्राओं-पर अंकित कराई और अन्य रानियोंके अनेक ज्येष्ठ पुत्र रहते हुए भी उसीसे उत्पन्न लिच्छवि-दौहित्र समुद्रगुप्तको अपना उत्तराधिकारी बनाया। चन्द्रगुप्त प्रथमने संभवतया सन् ३१५–३२० ई० तक राज्य किया और सन् ३१९–२० ई० में संभवतया उसने पाटलिपुत्रमें अपना राज्याभिषेक करके स्वयंको सम्राट् घोषित किया था।

सम्राट् समुद्रगुप्त (३२८–३७८ई०)—एक परम प्रतापी और महान् विजेता सम्राट् था। अपनी दिग्विजयके कारण वह भारतीय इतिहासमें स्मरणीय माना जाता है। प्रारंभमें उसे गृहकलहका सामना करना पड़ा, काचके नेतृत्वमें उसके अन्य भाइयोंने उसके विरुद्ध विद्रोह किया, किन्तु समुद्रगुप्तने शीघ्र ही विद्रोहका दमन कर दिया। तदुपरान्त वह दिग्वि-जयके लिए निकला। सर्वप्रथम उसने अहिच्छत्र नरेश अच्युत, पद्मावती नरेश भारशिव नागसेन और पूर्वी पंजाबके कोट कुल वंशी नरेशको विजय

करके अपनी आर्यावर्तकी विजय पूर्ण की। तदनन्तर उसने दक्षिणकी विजय यात्रा की और दक्षिणकोशलके राजा महेन्द्र, महाकान्तारके व्याघ्रराज, कौसलके मंटराज, पिष्टपुरके महेन्द्र गिरि, कोट्टूरके स्वामिदत्त, ऐरण्डपल्लके दमन, काञ्चीके विष्णुगोप पल्लव, अवमुक्तके नीलराज, वेंगिके हस्तिवर्मन, पाल्लकके उग्रसेन, देवराष्ट्रके कुबेर, कौस्थलपुरके धनञ्जय आदि विभिन्न छोटे-बड़े राजाओंको पराजित करके उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराई। उसकी दक्षिण यात्राका लाभ उठाकर उत्तरके अनेक नाग, वकाटक तथा अन्य राजाओंने विद्रोह कर दिया था, अतः लौटकर उसने उनका दमन किया और उनमेंसे अनेकोंके राज्यको अपने साम्राज्यमें मिला लिया। समतट, कामरूप, नेपाल, डवाक और कर्तृपुर आदि प्रत्यन्त राज्योंको अपना करद बनाया, आटविक राजाओंको परिचारक बनाया और मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर आदि गणराज्योंसे भी अपनी अधीनता स्वीकार कराई। अवशिष्ट शक, मुरुण्ड आदि राजाओंका भी दमन किया। इस प्रकार इस महान् विजेताने प्रायः सम्पूर्ण भारतमें अपनी विजय-पताका फहराई और पाटलिपुत्रके गुप्त साम्राज्यको अपने विस्तारकी चरम सीमापर पहुँचा दिया। इस उपलक्ष्यमें उसने नवीन सिक्के चलाये तथा अश्वमेध यज्ञ किये। किन्तु ये यज्ञ प्राचीन वैदिक शैलीके हिंसा-प्रधान यज्ञ नहीं थे वरन् दान-पुण्य, दीन-दरिद्रोंकी सहायता आदि ही इन सांकेतिक यज्ञोंका प्रधान अंग था। इस सम्राट्के गुणों, विजयों एवं कार्यकलापोंका सुन्दर वर्णन प्रयागके अशोक स्तंभपर उत्कीर्ण इस नरेशकी विस्तृत संस्कृत प्रशस्तिमें पाया जाता है जिसका रचयिता उसका संधिविग्रहिक महादण्डनायक हरिषेण था। सम्राट् समुद्रगुप्त विद्याव्यसनी, संगीत और कलाका प्रेमी, वीर पराक्रमी, कुशल सेनानायक, महान् योद्धा, उदार, दानी और धार्मिक नररत्न था। वह अपने युगके वैदिक धर्मका अनुयायी था किन्तु परधर्मसहिष्णु भी था। उसकी अग्रमहिषी दत्तमहादेवी थी जिसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७९–४१४ ई०)—समुद्रगुप्तकी मृत्युके उपरान्त उसके ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्तने सिंहासनपर अधिकार कर लिया, किन्तु वह निर्बल और कामुक था। साम्राज्यके अनेक सामन्तोंने विद्रोह किया, और विशेष कर गांधार काम्बोजके कुषाणों और पश्चिमके शक-क्षत्रपोंने सिर उठाया। शकोंके साथ युद्धमें रामगुप्त बन्दी हुआ और उसने इस शर्तपर अपने प्राण बचाये कि वह शक राजाको अपनी रानी ध्रुवदेवी समर्पित कर देगा। किन्तु चन्द्रगुप्तने ध्रुवदेवीका वेष बनाकर छलसे शकराजाकी हत्या कर दी और भाईको छुड़ा लिया। बादमें उसे भी मारकर सिंहासनपर अधिकार कर लिया और ध्रुवदेवीको अपनी पत्नी बनाया। अपनी पहली पत्नी कुबेरनागासे उत्पन्न कन्या प्रभावतीका विवाह उसने वकाटक रुद्रसेनके साथ कर दिया और वकाटक शक्तिकी सहायतासे गुजरातके शक महाक्षत्रप सिंहसेनको पराजित किया। वस्तुतः उसने भारतवर्षसे शकोंका उच्छेद ही कर दिया और शकारि एवं विक्रमादित्य विरुद प्राप्त किये। उज्जैनीको भी उसने अपनी राजधानी बनाया। पिता द्वारा विजित साम्राज्यका संगठन कर वह भारतवर्षका महान् प्रतापी सम्राट् हुआ। वह साहित्य रसिक और गुणियोंका अनुपम प्रश्रयदाता था। कालिदास आदि उसकी सभाके नवरत्न लोकप्रसिद्ध हैं। उसीके समयसे इस वंशमें भागवत धर्मकी प्रवृत्ति हुई और गुप्तनरेश परम भागवत परम भट्टारक परमेश्वर महाराजाधिराज कहलाने लगे। यह सम्राट् सर्व-धर्मसहिष्णु, उदार, दानशील, नीति निपुण, न्यायपरायण और पराक्रमी था। साम्राज्यमें सुख-शान्ति और समृद्धि थी, ज्ञान-विज्ञान और कलाकी अभूतपूर्व उन्नतिने इस युगको भारतीय इतिहासका स्वर्णयुग बना दिया। उसने अश्वमेध-यज्ञ भी किया बताया जाता है। उसके समयके अनेक शिलालेख मिलते हैं, महरौली स्तम्भ लेखका प्रतापी चन्द्र नरेश भी कुछ विद्वानोंके मतसे वही था। उसके सिक्के भी मिलते हैं। चीनी यात्री फ़ाह्यान (३९९–४१४ ई०) ने इसीके समयमें भारत-यात्रा की थी।

कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य (४१४–४५५ ई०) पट्ट महादेवी ध्रुवदेवीसे उत्पन्न चन्द्रगुप्तका पुत्र था। इसके समयमें विशाल गुप्त साम्राज्य अक्षुण्ण रहा, बल्खसे लेकर बंगालकी खाड़ी पर्यन्त उसका अबाधित शासन था। गुप्तशक्ति इस समय अपने चरम शिखरपर थी, सर्वत्र सुख-शान्ति और समृद्धि थी। सम्राट् परम भागवत था किन्तु जैन, बौद्ध आदि अन्य धर्म भी स्वतन्त्रतापूर्वक फल-फूल रहे थे। इसने भी अश्वमेध यज्ञ किया। मध्य भारतमें पुष्यमित्रोंने विद्रोह किया किन्तु कुमार स्कन्दगुप्तने उनका दमन किया। बर्बर श्वेत हूणोंके आक्रमण भी इस सम्राट्के अंतिम दिनोंमें प्रारंभ हुए। इसने नये सिक्के भी चलाये। नालन्दा विश्वविद्यालयका उदय भी इसीके समयमें हुआ बताया जाता है।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५–४६७ई०) का बड़ा भाई पुरुगुप्त उसका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था, किन्तु पुष्यमित्रों और हूणोंके दमनमें अद्भुत वीरता प्रदर्शित करनेके कारण स्कन्दगुप्त लोकप्रिय हो गया था और पिताकी मृत्युके बाद वही साम्राज्यका अधिपति हुआ। उसने सिंहासनपर बैठते ही समस्त प्रान्तोंमें शासक नियुक्त करके शासन-व्यवस्था ठीक की। पर्णदत्तको सुराष्ट्रका गवर्नर बनाया। इसका पुत्र चक्रपालित जूनागढ़ (गिरनार) का नगरपाल था और उसने इतिहासप्रसिद्ध सुदर्शन तालका जीर्णोद्धार कराके वहाँ शिलालेख अंकित कराया था। स्कन्दगुप्तके शासनकालमें हूणोंके आक्रमण बराबर होते रहे और उसका सारा जीवन उनके साथ युद्ध करते ही बीता। भिटारीकी विष्णुमूर्तिके लेखमें इस सम्राट् द्वारा देशको हूणोंसे त्राण दिलानेका वर्णन है। युद्धोंके कारण देशकी समृद्धि कम हो गई, राजकोष भी खाली हो गया, उसके सिक्के भी हल्के तथा मिश्रित स्वर्णके हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने साम्राज्यको अक्षुण्ण रक्खा। गुप्त वंशका वह अंतिम महान् सम्राट् था।

पुरुगुप्त (४६७-७० ई०)—स्कन्दगुप्तके कोई पुत्र नहीं था अतः उसका बड़ा भाई पुरुगुप्त जो अब वृद्ध हो चुका था सम्राट् हुआ। यह

बौद्ध धर्मका अनुयायी था और एक निर्बल शासक था। वकाटक नरेन्द्रसेन ने हूणोंके आक्रमणके समय ही अपनी शक्ति बढानी शुरू कर दी थी। अब वह स्वतंत्र हो गया और शीघ्र ही उसने सम्पूर्ण मालवे तथा दक्षिण कोसलके भी कुछ भागपर अपना अधिकार कर लिया।

नरसिंहगुप्त (४७०-७३ ई०)—पुरुगुप्तका पुत्र था। इसने 'बालादित्य' उपाधि धारण की। यह भी बौद्ध था। उसके समयमें भी गुप्त साम्राज्यका ह्रास जारी रहा।

कुमारगुप्त द्वितीय (४७३-७७ ई०) वैष्णव और परमभागवत था। इसने वकाटकोंसे मालवाको फिरसे विजय कर लिया। उसके बाद **बुधगुप्त** राजा हुआ। उसने लगभग ४९५ ई० तक राज्य किया। अब गुप्त नरेश फिरसे पाटलिपुत्रमें हो रहने लगे थे। साम्राज्यका विस्तार संकुचित होता जा रहा था। बुधगुप्त धर्मसे बौद्ध था और नालन्दा विहारको उसने बड़ी सहायता की थी। इसके पश्चात् **वैण्यगुप्त** राजा हुआ जिसने लगभग ५०७ ई० तक राज्य किया। इसने युद्धमें प्रायः कोई भाग नहीं लिया अतः इसके सिक्कोंमे स्वर्णकी मात्रा फिरसे बढ़ी हुई मिलती है। यह राजा वैष्णवधर्मी रहा प्रतीत होता है।

इसके उपरान्त गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा, उसके पश्चिमी भागपर भानुगुप्त बालादित्यका अधिकार पाया जाता है। तोरमाणके नेतृत्वमें हूणोंने फिर प्रबल आक्रमण किये। सन् ५१०-११ ई० में भानुगुप्तने उन्हें बुरी तरह पराजित भी किया, किन्तु उनका प्रसार बढ़ता ही गया। गुप्त राज्य अब बंगालसे मथुरा पर्यन्त उत्तर भारतमें ही सीमित रह गया था। हूणोंके आक्रमणोंसे उत्पन्न विषम परिस्थितिका लाभ उठाकर अनेक प्रान्तीय शासक, सामन्त एवं उपराजे स्वतंत्र हो गये थे। इनमेंसे मालवेका यशोधर्मन, कन्नौजके मौखरि, थानेश्वरके वर्धन और वल्लभीके मैत्रक नरेश प्रमुख हैं। इन्हीं शक्तियोंने अन्ततः हूणोंका उच्छेद किया। गुप्त नरेशोंका सूर्य अस्तंगत था। वंशकी कई शाखाएँ हो गई थीं। ५३५ ई०

मे भानुगुप्तकी मृत्यु हुई और कुमारगुप्त तृतीय गद्दीपर बैठा, तदनन्तर दामोदरगुप्त राजा हुआ और इसने लगभग ५५० ई० तक राज्य किया। इस कालमें कन्नौजमे ईशानवर्मन् मौखरिने स्वतंत्र होकर सम्पूर्ण मध्यदेशसे गुप्त शासनका अन्त कर दिया। दामोदरगुप्तके उपरान्त महासेन गुप्त राजा हुआ। छठी शतीके अन्त तक वह जीवित रहा। उसके समयमें गुप्त वंशकी शक्ति फिर कुछ सँभली। उसके पुत्र कुमारामात्य देवगुप्तने मालवेपर अधिकार कर लिया और वहाँ स्वतंत्र शासककी भाँति राज्य किया। यह महाराज देवगुप्त जैनधर्मानुयायी था। इसने बंगालके गुप्तवंशी शासक शशांकके साथ गृहवर्मन् मौखरिको युद्धमे पराजित किया और मार डाला। इसपर गृहवर्मन्के साले थानेश्वरके राज्यवर्धनने देवगुप्तपर आक्रमण किया और उसे पराजित किया। इस पराजयसे देवगुप्तका चित्त संसारसे विरक्त हो गया और वह अपने ही वंशके जैन मुनि हरिगुप्तसे दीक्षा लेकर जैन मुनि हो गया। उसके साथ ही मालवा व मध्य भारतमें सदाके लिए गुप्तवंशका अन्त हो गया। उसके पिता महासेन गुप्तने अपनी बहिनका विवाह थानेश्वरके आदित्यवर्धनके साथ कर दिया था और देवगुप्तका छोटा भाई माधवगुप्त अपनी बुआके पास थानेश्वरमें ही रहता था, अतः राज्यवर्धन और हर्षके साथ उसकी मैत्री रही। महासेनगुप्तके बाद पाटलिपुत्रके गुप्त राज्यका माधवगुप्त ही स्वामी हुआ। उसके उपरान्त आदित्यसेन, देवगुप्त द्वितीय, विष्णुगुप्त और जीवितगुप्त क्रमशः गुप्तोंके सिंहासनपर बैठे। ७ वीं शतीके अंतके लगभग जीवितगुप्तकी मृत्युके साथ साथ गुप्त वंश और उसके राज्यका अन्त हो गया।

यद्यपि गुप्त साम्राज्यका अभ्युदय काल समुद्रगुप्तसे लेकर स्कन्दगुप्त पर्यन्त लगभग डेढ़ सौ वर्षका ही रहा तथापि ४ थी से ६ ठी शती ई० पर्यन्त तीन सौ वर्षका काल भारतीय इतिहासका गुप्तयुग कहलाता है। यह स्वतंत्र भारतका स्वर्ण युग था। अपने चरमोत्कर्ष कालमें गुप्त सम्राट् 'आसमुद्रक्षितीश' थे, प्रान्तीय एवं नागरिक शासन सुव्यवस्थित था, न्याय-

विधान उदार और नरम था। सर्वत्र सुख-शान्ति और समृद्धि थी। विविध उद्योग धन्धे एवं व्यवसाय श्रेणियों और निगमोंमें भली प्रकार सुसंगठित अत्युन्नत दशामें थे। अन्तर्देशीय ही नही जलथल द्विविध मार्गोंसे पूर्व-पश्चिम एवं दक्षिणके बाहरी देशोंके साथ भारतका व्यापार बढ़ा-चढ़ा था। गुप्त-नरेशोंकी स्वर्णमुद्राएँ देशमें स्वर्णकी प्रचुरताकी परिचायक हैं। इस कालमें विविध उपयोगी एवं ललित कलाओंकी अभूत-पूर्व उन्नति हुई। उत्तर भारतकी आर्य, नागर या पंचरत्न शैलीके शिखर-बन्द मन्दिरोंका निर्माण इसी कालमें प्रारंभ हुआ। जैन, बौद्ध एवं वैष्णव धर्मोके आश्रित मूर्तिकलाका भी अद्भुत विकास हुआ। देवगढ़ और भिटारीके विष्णुमंदिर तथा देवगढ़ आदिके जैनमंदिर उल्लेखनीय हैं। चित्रकला एव संगीतने भी प्रशंसनीय उन्नति की। महाकवि कालिदास, भारवि, सुबन्धु, दण्डी, बाण, विशाख, शूद्रक, भट्टि, सिद्धसेन, हरिषेण, रविकीर्त्ति आदि अनेक कवियोंने भारतीके भंडारको समृद्ध किया, वराहमिहिर, आर्यभट्ट, अमरसिंह, ब्रह्मगुप्त, पूज्यपाद आदिने विज्ञानको और ईश्वर-कृष्ण, दिङ्नाग, वसुबन्धु, भर्तृहरि, पात्रकेसरि, सिद्धसेन आदिने दर्शन एवं न्याय शास्त्रको अमूल्य भेंटें प्रदान कीं। प्रमुख हिन्दू पुराणों और धर्म-शास्त्रोंकी भी रचना इसी कालमें हुई। भारतीय धर्मो और संस्कृतिका प्रसार देशकी सीमाओंको लाँघकर मध्य एशिया तक तथा दक्षिण एवं पूर्वमें बर्मा, मलाया, स्याम, हिन्द चीन, लंका, पूर्वीद्वीप समूह आदिमें भी पहुँचा और अनेक भारतीय उपनिवेश एवं भारतीय राज्य उन देशोंमे स्थापित हुए। चीनी यात्रियोंके विवरणोंसे भी उस कालकी देश-दशापर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इस स्वर्ण युगमें देशकी निश्चय ही सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

धार्मिक दृष्टिसे इस युगमें भागवत या वैष्णव, जैन और बौद्ध तीनों ही प्रधान धर्म समुन्नत दशामें सहयोग एवं सद्भावपूर्वक फले-फूले। गुप्तवंशमें प्रधानतया भागवत धर्मकी प्रवृत्ति थी और प्रमुख

सम्राटोंके समय वही राज्यधर्म था किन्तु इस वंशके कई, विशेष कर उत्तरवर्त्ती, राजे बौद्ध धर्मके अनुयायी हुए और कुछ एक जैन धर्मके भी। राज्यवंशके स्त्री-पुरुषोंमें स्वेच्छा और स्वरुचिके अनुसार इन तीनों ही धर्मोंके अनुयायी रहे पाये जाते हैं। गुप्त-नरेश सर्वधर्मसहिष्णु थे। धार्मिक अत्याचार या प्रतिबंधोंका उस कालमें कोई चिह्न नहीं मिलता। जहांतक जैनधर्मका सम्बन्ध है वह समुन्नत दशामें था। कर्णाटकको केन्द्र बनाकर प्रायः पूरे दक्षिणापथपर दिगम्बर सम्प्रदाय व्याप्त था। गुजरात, सौराष्ट्र, पश्चिमी राजस्थान और मालवेमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय प्रमुख था। उत्तरापथमें मथुरा, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, भिन्नमाल या श्रीमाल, कोल, उच्चैनगर, कौशाम्बी, देवगढ़, विदिशा, श्रावस्ती, वैशाली, वाराणसी, पाटलिपुत्र, राजगृही, चम्पा, पहाड़पुर आदि जैनधर्मके प्रसिद्ध केन्द्र थे। पंजाबसे लेकर बंगाल तक जैन मुनियोंका स्वच्छन्द विहार था। प्रधानतः दिगम्बर-श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायोंमें विभक्त तथा अनेक गण गच्छ शाखा कुल अन्वयों आदिके रूपमें सुसंगठित चतुर्विध जैनसंघ एक परिपुष्ट लोक-शक्ति थी और जन-जीवनपर उसका पर्याप्त नैतिक प्रभाव था। गुप्तकालीन उपलब्ध जैन अवशेषोंमें मथुरासे प्राप्त प्रस्तरमयी जिनमूत्तियाँ, यक्ष-यक्षियोंकी मूत्तियाँ एवं कई शिलालेख, कहाऊँ (जिला गोरखपुर) का पञ्च जिनेन्द्रकी प्रतिमाओंसे युक्त लेखाङ्कित जैन-स्तंभ, पहाड़पुर (बंगाल) से प्राप्त तथा पंचस्तूपान्वयी शाखाके दिगम्बर गुरुओं द्वारा उत्कीर्ण कराया हुआ ताम्रपत्र जिसमें वटगोहालीके जैन अधिष्ठानको किसी ब्राह्मण दम्पति द्वारा दान दिये जानेका उल्लेख है, विदिशाके निकट उदयगिरिके शिलालेख युक्त जैन गुहामंदिर, देवगढ (जिला झांसी) के प्राचीन जैनमंदिर आदि प्रमुख हैं। मगधके जिस लिच्छवि गणकी सहायतासे तथा लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवीके साथ विवाह करनेके कारण चन्द्रगुप्त प्रथमका भाग्योदय हुआ था और गुप्त साम्राज्यकी नींव पड़ी थी, वह प्राचीन व्रात्य क्षत्रियोंका कुल महावीरका ही वंश था और उसमें जैन-

धर्मकी प्रवृत्ति थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यकी सभाके सुप्रसिद्ध नवरत्नोंमें क्षपणक नामसे सूचित विद्वान्‌को आधुनिक विद्वान् एक दिगम्बराचार्य रहा मानते हैं और यह भी विश्वास करनेके पर्याप्त कारण हैं कि यह दिगम्बराचार्य सुप्रसिद्ध द्वात्रिंशिकाओंके रचयिता सिद्धसेन प्रथम थे। उज्जैनके महाकाल मंदिरमें उनके द्वारा किये गये चमत्कारोंको लेकर कई किंवदन्तियाँ प्रचलित है। कुमारगुप्तके समयमें वाराणसीके पंचस्तूपान्वयी दिगम्बराचार्य गुहनन्दीके शिष्य बंगालके पुंड्रवर्धनमें स्थित वटगोहाली नामक विशाल जैन विहारके अधिष्ठाता थे। स्कन्दगुप्तने गिरनारके शासक चक्रपालितसे अरिष्टनेमिकी तपोभूमि ऊर्जयन्तगिरिकी तलहटीमें स्थित मौर्यकालीन सुदर्शन सरोवरका जीर्णोद्धार कराया था, कहाऊँका जैनस्तंभ भी उसीके समयका है जिसमें इस नरेशकी प्रशंसा है। इसी कालमे राढ़ (बंगाल) के एक जैन मुनिने मथुरामें आकर जिनमूर्त्ति प्रतिष्ठित कराई थी। कुवलयमालाके रचयिता उद्योतनसूरि (७७८ ई०) के परम्परागुरु हरिगुप्तसूरि गुप्तवंशके ही एक राजपुरुष थे जिन्होंने गुप्तोंके परम शत्रु स्वयं हूणनरेश तोरमाणको अपने तेजसे परास्त करके उसे अपना भक्त बनाया था। इन्हीं हरिगुप्तके शिष्य राजर्षि देवगुप्त थे जो छठी शती ई० के उत्तरार्धमें मालवाके गुप्त नरेश थे। चन्द्रगुप्त द्वितीयके शासनकालमें आनेवाले चीनी यात्री फ़ाह्यानने उत्तरी भारतके विविध स्थानोंमें जिन बौद्धेतर साधुओं, सम्प्रदायों और धार्मिक संस्थानोंको देखा था उनमेंसे अनेक जैन थे, यह उक्त वर्णनोंसे भली प्रकार सूचित होता है। उसके अनुसार इस विशाल देशके बहुभाग मध्यदेशमें 'प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहारकी लिखा-पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है। लोग जहाँ चाहें जायें, जहाँ चाहें रहें। राजा न प्राणदण्ड देता है न शारीरिक दण्ड।····सारे देशमें कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन-प्याज खाता है, सिवाय चाण्डालोंके। दस्युको चाण्डाल कहते हैं। वे नगरके बाहर रहते हैं और जब नगरमें आते हैं तो सूचनाके लिए लकड़ी बजाते चलते हैं जिससे लोग जान जायें और बचकर

चलें। जनपदमें कोई भी सूअर या मुर्गी नहीं पालता, न जीवित पशुओंको बेचता है। न कहीं सूनागार और मद्यकी दुकानें हैं। केवल चाण्डाल ही मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।' चीनी यात्रीके इस वर्णनसे स्पष्ट है कि इस तरहका आचार, विचार जैनधर्मके व्यापक प्रभावका ही फल रहा होगा। मद्य-मांस, मछली, प्याज, लहसुन, मृगया आदिका सेवन न हिंदू धर्ममें वर्जित था और न बौद्धधर्ममें। इन वस्तुओंका ऐसा सर्वथा अभाव जैन प्रभावसे ही संभव हो सकता था। सारांश यह कि गुप्तकालमें उदार गुप्त-नरेशोंके प्रश्रयमें जैनधर्मका प्रभाव एवं प्रसार देशमें पर्याप्त व्यापक था, यह धर्म उस कालमे समुन्नत दशामें था और लोक जीवनका एक प्रमुख अङ्ग था। देशकी सांस्कृतिक अभिवृद्धि, कलाकृतियों, विविध साहित्य एवं विज्ञानके निर्माण विकासमें भी तत्कालीन जैनोंका योगदान कम नहीं था। श्वेताम्बर आगमोंका संकलन भी इसी युगमें (४५३ ई०) में देवर्द्धिगणि द्वारा वल्लभीमें हुआ था।

हूण—श्वेत हूण मंगोलियाकी निवासी एक अत्यन्त बर्बर, युद्धप्रिय और खानाबदोश जाति थी। इन्हीके दबावसे पीड़ित होकर २री शती ई० पू० मे यूची जाति स्वदेशसे खदेड़ी जाकर सीथियापर जा टूटी थी और परिणामस्वरूप शकोंका भारतमें प्रवेश हुआ था। एक बार फिरसे हूणोंके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर १ली शती ई० में यूचीलोग कुषाणोंके रूपमें भारतमें प्रविष्ट हुए। भारतके कुषाण साम्राज्यकी प्रबल शक्तिके कारण हूणोंने उन्हें फिर तंग नहीं किया और वे पश्चिमकी ओर यूरोपीय देशोंपर टूट पड़े और इनके दुर्दान्त आक्रमणोंने विशाल रोमन साम्राज्यको छिन्न-भिन्न कर दिया। पश्चिमी जगत्में हूण सरदार एटिल्लाका नाम चिरकालतक भयका सञ्चार करता रहा। पाँचवीं शती ईस्वीके द्वितीय पादमें इस भयङ्कर जातिने फिर भारतकी ओर रुख किया। गांधार आदि भारतके सीमान्त प्रदेशपर इन्होंने शीघ्र ही अधिकार कर लिया किन्तु गुप्त साम्राज्यकी प्रबल शक्तिके कारण देशमें सहसा घुस आनेका उन्हें साहस न हुआ। कुमारगुप्त प्रथमके अन्तिम

वर्षोंमें उन्होंने पंजाबपर आक्रमण किया, किन्तु कुमार स्कन्दगुप्तने उन्हें खदेड़ बाहर किया। स्कन्दगुप्तके शासनकालमें हूणोंके कई आक्रमण हुए और उक्त सम्राट्का प्राय: समस्त जीवन उनके साथ ही लड़ते बीता परन्तु वे उससे बराबर पराजित ही हुए। उसकी मृत्युके बाद उसके निर्बल एवं लघुकालीन उत्तराधिकारियोंके समयमें हूणोंने गाधार और उद्यान ही नहीं, समस्त पंजाबपर अपना अधिकार कर लिया। नरसिंहगुप्त बालादित्यने भी उन्हें हराया बताया जाता है किन्तु उसका कोई स्थायी परिणाम नहीं हुआ। सन् ४७३ ई० के लगभग हूण सरदार तोरमाण हूण राज्यका अधिपति बना। उसने सम्पूर्ण सीमान्त, पंजाब, मथुरा पर्यन्त पश्चिमी उत्तर प्रदेश और मध्यभारतके बहुतसे भागपर अधिकार कर लिया। चन्द्रभागाके किनारेपर पवैया नामकी नगरी उसकी राजधानी थी, ग्वालियरको उसने अपनी उप-राजधानी बनाया प्रतीत होता है। शनै:-शनै: गुप्त राजाओंको पराजित करके या गुप्त प्रदेशोंको जीतकर ही उसने इतना राज्य विस्तार किया था। कुवलयमालाके अनुसार गुप्त वंशमें ही उत्पन्न जैन मुनि हरिगुप्तने उस बर्बर हूणपर आध्यात्मिक एवं नैतिक विजय प्राप्त की थी और उसे अपना भक्त बना लिया था। उसके आग्रहपर यह मुनि उसकी राजधानीमें भी कुछ वर्ष रहे। यह राजा परधर्मसहिष्णु था। ऐसा लगता है कि इसने भारतीय धर्म और संस्कृतिको अपना लिया था। विष्णुका एक मन्दिर और बौद्धोंके लिए एक विहार भी उसने बनवाया कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने जैन, बौद्ध और वैष्णव तीनों ही प्रधान भारतीय धर्मोंको क्रमशः या एक साथ अपनाया था। पंजाबके कुर्रा और मध्यप्रदेशके एरन नामक स्थानोंसे उसके शिलालेख मिले हैं, कुछ सिक्के भी मिले हैं। सन् ५१०–११ ई० में भानु-गुप्तने उसे युद्धमें पराजित किया बताया जाता है, नहीं कहा जा सकता कि वह विजय कितनी स्थायी थी। तोरमाण या तोरराय उसके उपरान्त भी जीवित और शक्तिशाली रहा। ५१५ ई० के लगभग उसकी मृत्यु

हुई और उसका पुत्र मिहिरकुल हूणराज्यका अधिपति हुआ। वह भी भयङ्कर योद्धा था किन्तु अपने पिताकी भाँति सभ्य और उदार शासक नहीं था वरन् क्रूर और अत्याचारी था। उसके सिक्कोंसे इसका शैव होना सूचित होता है। एरन और ग्वालियरमें उसके शिलालेख भी मिले है। अपनी असहिष्णुता, क्रूरता और अत्याचारोंके कारण वह सबका अप्रिय हो गया। इसने साकल या स्यालकोटको अपनी राजधानी बनाया था और बालादित्यको भी पराजित किया था, किन्तु सन् ५२०–३१ में मालवेके यशोधर्मन्ने उसे बुरी तरह हराया। फल-स्वरूप उसने भागकर काश्मीरमें शरण ली और अपने आश्रयदाताको छलसे मारकर काश्मीरका राज्य हथियाया। ५४२ ई० मे उसकी मृत्यु हो गई, साकलका राज्य उसके भाईने हस्तगत कर लिया था। मिहिरकुलने बौद्धोंपर बहुत अत्याचार किया था जिसके लिए बालादित्यने जो बौद्ध था, उसे फिर परास्त किया कहा जाता है। इसके उपरान्त हूणोंका फिर कोई उल्लेख नहीं मिलता। काश्मीर और पश्चिमी पंजाबमे जो हूण राज्य जम गये थे तथा उत्तर प्रदेश और मध्य भारतमें जो फुटकर हूण बस गये थे धीरे-धीरे उनका भारतीयकरण हो गया और वे भारतीय समाजमें हो खिल्त-मिल्त हो गये। गुप्त साम्राज्यके पतनका प्रधान श्रेय हूणोंको ही है।

प्राचीन जैन अनुश्रुतिमें भगवान् महावीरके निर्वाणसे एक सहस्र वर्ष बाद कल्किका अन्त कहा है जिसके अर्थ हैं कि ४७३ ई० में उसका अन्त हुआ। उसने ४० वर्ष पर्यन्त अत्याचार पूर्ण राज्य किया बताया जाता है, क्रूरता, बर्बरता, धर्म, धर्मात्माओं एवं धर्मायतनोंका विध्वंस, अनीति आदि उसके राज्यकी विशेषताएँ बताई जाती हैं। उसकी मृत्युके उपरान्त उसके पुत्र अजितंजयका धर्मराज्य स्थापित हुआ कहा गया है। अतः जिस हूण सरदारने कुमारगुप्त प्रथमके समयमें सन् ४३३ ई० से लगभग भारतके सीमान्तपर सर्व प्रथम डेरा डाला, ४५० ई० के लगभग पंजाबपर आक्रमण किया, जो स्कन्दगुप्तका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी और प्रधान शत्रु बना

रहा और जो सम्भवतया नरसिंहगुप्त बालादित्यके हाथों सन् ४७३ ई० के लगभग युद्धमें मारा गया, वह बर्बर क्रूर भारतीयधर्मविरोधी विदेशी अत्याचारी ही जैन अनुश्रुतिका चतुर्मुख कल्कि रहा प्रतीत होता है। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी पवैयाका तोरमाण या तोरराय था जिसके धर्मराज्यकी प्रशंसा की गई है। उसके राज्यके प्रथम दो वर्षोका ही उल्लेख अनुश्रुतिमें मिलता है, इसके उपरान्त वह मौन है। तोरमाणके सम्बन्धमें अन्य साधनोंसे जो कुछ ज्ञात होता है उससे भी ऐसा ही लगता है कि वह एक बुद्धिमान् , दूरदर्शी, उदार, सहिष्णु और प्रजा-पालक नरेश था। अपने पूर्ववर्ती हूण सरदार या सरदारोकी नीतिसे सर्वथा विपरीत नीति अपनाने और आचरण करनेके कारण ही उसका राज्य-विस्तार इतनी सुगमतासे और इतना अधिक हो सका।

मालवा-नरेश यशोधर्मन्—पश्चिमी उत्तरापथमें प्रबल हूण शक्तिके उदयके कारण जिस समय गुप्त वंशकी जर्जरित नौका डावांडोल हो रही थी, मालवा प्रदेशने एक अद्भुत पराक्रमी वीर उत्पन्न किया। इसका नाम यशोधर्मन् था और वह मालवेके ही किसी प्राचीन राजवंशमें उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। छठी शती ई० के द्वितीय पादमें उसका अकस्मात् चकाचौंध कर देनेवाला उदय और फिर वैसा ही अकस्मात् अस्त भी हो गया। मन्दसौर या दशपुरको अपनी राजधानी बनाकर उसने द्रुतवेगसे अपनी शक्तिकी अत्यन्त वृद्धि कर ली। तत्कालीन समस्त राजे उसके प्रतापके सम्मुख झुक गये और सन् ५३०–३१ ई० में उसने दुर्दान्त हूण राजा मिहिरकुलको जो स्वयं मालवेमें घुस आया था पंजाब तक खदेड़ा और वहाँ भी युद्धमें उसे पराजित करके प्राण बचाकर काश्मीर भाग जानेपर मजबूर किया। मन्दसौरमें यशोधर्मन्की विस्तृत संस्कृत प्रशस्ति तथा ५३३–३४ ई० का शिलालेख उत्कीर्ण मिले हैं। जिनमें उसकी अनेकों विजयोंका तथा उसके द्वारा हूणोंको बुरी तरह पराजित करने आदिका वर्णन है और लिखा है कि भारतके सभी नरेशोंने

यशोधर्मन्‌के सम्मुख मस्तक झुका दिया था। इस अद्भुत वीरका पूर्वापर अभीतक ज्ञात नहीं हो सका। उसके साम्राज्यका भी उसीके साथ अन्त हो गया। हूणोंकी शक्तिका उसने अवरोध कर ही दिया किन्तु साथ ही गिरते हुए गुप्त साम्राज्यको और एक ठोकर लगा दी। अब साम्राज्यके विभिन्न सामन्त और प्रान्तीय शासक खुले रूपमे स्वतन्त्र हो उठे।

कन्नौजका मौखरि वंश—यह एक प्राचीन मागध वंश था। गुप्त साम्राज्यकी स्थापनाके उपरान्त गुप्तोंके करद सामन्तोंके रूपमें गयाके समीपवर्ती प्रदेशपर मौखरियोंका शासन था। इन सामन्तोंमें महावर्मा, शार्दूलवर्मा और अनन्तवर्माके नाम मिलते हैं। इसी वंशकी एक शाखा गुप्तोंके सामन्तों के रूपमें कन्नौजपर शासन करती थी। ६ठीं शती ई० के प्रारंभमें राजा हरिवर्माका पुत्र आदित्यवर्मा मौखरि कन्नौजका शासक था। उसकी पत्नी गुप्तवंशकी ही एक राजकन्या थी। इससे मौखरियोंकी प्रतिष्ठा और शक्ति बढ़ गई। आदित्यवर्माके पुत्र ईश्वरवर्मा (५२४–५५० ई०) ने हूणोंके आक्रमण और यशोधर्मन्‌की विजयोंसे उत्पन्न परिस्थितिका लाभ उठाकर कन्नौजमे अपना स्वतंत्र राज्य जमा लिया। यशोधर्मन्‌के साथ हूणोंकी पराजयमे भी उसका हाथ था। उसके पुत्र ईशानवर्मा (५५०–५७६ ई०) ने अपने आपको महाराजाधिराज घोषित कर दिया और पर्याप्त शक्ति बढ़ा ली। स्वयं गुप्तसम्राट् कुमारगुप्त तृतीय से उसने युद्ध किये। उसका उत्तराधिकारी शर्ववर्मा अपने पिताकी ही भाँति वीर और महत्त्वाकांक्षी था। गुप्तोंके साथ उसने निरन्तर युद्ध किये और गुप्त-नरेश दामोदर गुप्तको पराजित करके उसकी सत्ता और शक्ति अति क्षीण कर दी। अब कन्नौजका मौखरि राज्य उत्तर भारतकी सर्वप्रधान शक्ति था। उसके बाद अवंतिवर्मा और फिर गृहवर्मा कन्नौजके राजा हुए। गृहवर्माका विवाह स्थानेश्वरके वैश्य राजा प्रभाकरवर्धनकी कन्या राज्यश्रीके साथ हुआ था। बंगालके शशांक और मालवाके देवगुप्तने मिलकर गृहवर्माके राज्यपर आक्रमण किया और युद्धमें उसकी मृत्यु हो गई। गृहवर्माके साले

राज्यवर्धन और हर्षवर्धनने इन शत्रुओंसे बदला लिया। हर्षने राज्यश्रीके संरक्षक एवं प्रतिनिधिके रूपमें कन्नौजका शासन भी संभाला और इस प्रकार शनैः-शनैः मौखरिवंश समाप्त हुआ और कन्नौजका राज्य भी स्थानेश्वरके राज्यमें ही मिल गया।

स्थानेश्वरका वर्धन वंश—इसका संस्थापक पुष्यभूति नामक वैस (वैश्य) क्षत्रिय था। उसके वंशमें नरवर्धन और फिर आदित्यवर्धन हुए। ये गुप्तोंके कर सामन्त थे। आदित्यवर्धनका विवाह गुप्त राजकुमारी महासेनगुप्ताके साथ हुआ और वह अपने आपको महाराज कहने लगा। ६ठी शती ई० के मध्यके लगभग वह स्वतंत्र हो गया। इसका उत्तराधिकारी प्रभाकरवर्धन था जिसके राज्यवर्धन और हर्षवर्धन नामके दो पुत्र और राज्यश्री नामकी एक कन्या थी। वर्धन लोग मौखरियोंके प्रतिद्वन्द्वी थे किन्तु मौखरि गृहवर्माके साथ राज्यश्रीका विवाह होनेसे दोनों वंशोंमें मैत्री हो गई। किन्तु शशांक और देवगुप्त द्वारा गृहवर्माकी मृत्यु हो जानेपर ये दोनों राज्य एक हो गये। राज्यवर्धनने बहनोईकी मृत्यु तथा भगिनीके अपमानका बदला लेनेके लिए देवगुप्तपर चढ़ाई कर दी और उसे पराजित किया, किन्तु शशांकने उसे ही छलसे मार डाला। उसका बदला उसके भाई हर्षने लिया।

हर्षवर्धन (६०६–६४७ ई०) स्थानेश्वरके वर्धन वंशका सर्वप्रसिद्ध, सर्वमहान् और साथ ही अंतिम नरेश था। वह अपने कालमें उत्तर भारतका एकच्छत्र सम्राट् था। इसकी उपाधि शिलादित्य भी थी। चीनी यात्री हुएनसांग (६२९–६४३ ई०) ने उसके शासनकालमें भारतकी यात्रा की। इस यात्रीके लिखे वृत्तान्तोंसे भारतवर्षकी तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दशाका तथा सम्राट् हर्षवर्धनके चरित्रका बहुत कुछ पता चलता है। हर्ष बड़ा पराक्रमी और विजेता था। उत्तर भारतके प्रायः सब नरेशोंको उसने अपने अधीन कर लिया था, गुप्त वंशका प्रायः अन्त ही हो चुका था। अपने वंशशत्रु गौड़के शशांकके साथ उसने कई युद्ध किये

जिनमें उसके मित्र कामरूप नरेश भास्करवर्मनने भी उसकी सहायताकी किन्तु उसका पूर्णतया दमन करनेमें वह सफल नहीं हुआ। सौराष्ट्रके मैत्रक राजा ध्रुवसेनको भी उसने पराजित किया और गुजरातका कुछ भाग अपने अधीन कर लिया। इस राजाके साथ उसने अपनी कन्याका भी विवाह कर दिया बताया जाता है। चालुक्य चक्रवर्ती पुलकेशी द्वितीयके साथ भी उसने युद्ध किये किन्तु उनमें उसे सफलता न मिली। कलिंग-कोसलका राजा, जिसका नाम संभवतया हिमशीतल था, उसका मित्र था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जैनाचार्य अकलंक द्वारा उसकी सभामें बौद्धोंको पराजित कर देनेके कारण जब उसने बौद्धोंको स्वदेशसे निर्वासित कर दिया और जैनधर्मको अपनाया तो हर्षने उसपर आक्रमण कर दिया। युद्धमें हिमशीतलकी मृत्यु हो गई किन्तु चालुक्य विक्रमादित्य प्रथमकी सेनाओंके आजानेके कारण हर्षको वापस लौटना पड़ा। इस प्रकार प्रयत्न करनेपर भी उत्तर भारतसे आगे हर्ष न बढ़ सका। वह बौद्धधर्मका परम भक्त था साथ ही परधर्मसहिष्णु, उदार और दानी भी था। कन्नौज उसकी राजधानी थी। कन्नौज और प्रयागमें उसने कई महती सभाएँ कीं। प्रयागमें तो हर पाँचवें वर्ष वह एक प्रकारका महान् अनुष्ठान करता था जिसमें बौद्ध, जैन (निर्ग्रन्थ), शैव और वैष्णव साधुओंको निमन्त्रित करता और भरपूर दान देकर सबको सन्तुष्ट करता था। इन दानोंमें वह राजकोषको खाली कर देता था और अपने तनके कपड़े भी उतार कर याचकोंको दे डालता था। वह गुणियों और विद्वानोंका आदर करता था। उसका राजकवि बाण था जो हर्ष-चरित, कादम्बरी आदि रचनाओंके लिए सुप्रसिद्ध है। वीरदेव क्षपणक नामक एक जैन विद्वान् बाणका मित्र था और संभवतया हर्षकी राजसभाका एक विद्वान् था। स्वयं हर्षने भी प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द नामके तीन नाटकोंकी रचना की थी। उसके कुछ शिलालेख भी मिलते हैं। उसकी शासन-व्यवस्था गुप्तोंके जैसी ही सुव्यवस्थित थी। उसके पास विशाल सेना थी जिसमें हुएनसांगके अनुसार ६०००० हाथी और एक

लाख अश्वारोही थे। देशमें शान्ति और समृद्धि थी। इसी यात्रीके कथनानुसार कपिशा (काबुल) से लेकर बंगाल पर्यन्त और हिमालयसे लेकर कुमारी अन्तरीप पर्यन्त समस्त देशकी सभी प्रधान नगरियों और केन्द्रोंमें अत्यधिक संख्यामें निर्ग्रन्थ जैन साधु एवं उनके धर्मायतन और अधिष्ठान तथा अनुयायी विद्यमान थे। पंजाब आदिमें कहीं-कहीं उसने श्वेताम्बर यतियोंके अधिष्ठान भी देखे जिन्हें उसने बौद्ध साधुओंकी ही एक शाखा समझनेकी भूल की। उस कालमें देशमें अच्छा धार्मिक वातावरण था, विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायोंके विद्वान् प्रमुख केन्द्रों एवं राजसभाओंमें परस्पर खुलकर शास्त्रार्थ करते थे। धर्मपरिवर्तन बे-रोक-टोक सहज और सरल थे। तथापि ऐसा लगता है कि इस कालमें भारतवर्षमें बौद्ध धर्म अवनतिकी ओर अग्रसर होता जा रहा था। शैव एवं वैष्णव धर्म उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे थे और जैन धर्म अपनी स्थिति पूर्ववत् बनाये हुए था। हर्षके साथ ही उसके वंश और साम्राज्यका अन्त हो गया और उसके मन्त्री अर्जुनने कन्नौजपर अधिकार कर लिया।

अराजकता और यशोवर्मा—हर्षकी मृत्युके उपरान्त उत्तरापथमें एक प्रकारकी अराजकता और अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। अर्जुनने एक चीनी राजदूतका अपमान किया जिसका बदला लेनेके लिए वह तिब्बतके राजाको ससैन्य लिवा लाया। अर्जुन युद्धमें पराजित हुआ और हर्षका विशाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। विभिन्न प्रदेशोंके सामन्त स्वतन्त्र राजाओंके रूपमें शासन करने लगे, पाटलिपुत्रके गुप्त राजे भी स्वतन्त्र हो गये। ऐसी परिस्थितिमें ८वीं शती ई० के पूर्वार्धमें कन्नौजमें एक अन्य शक्तिका उदय हुआ। यह शक्ति महाराज यशोवर्माके रूपमें उदित हुई। इस राजाका पूर्वापर कुछ ज्ञात नहीं है। ७३१ ई० में उसने चीनके सम्राट्के पास एक दूतमंडल भेजा था। प्रसिद्ध कवि वाक्पतिराजके प्राकृतकाव्य 'गौडवहो' में यशोवर्माकी दिग्विजय का विशद वर्णन है। महावीरचरित, उत्तररामचरित, मालतीमाधव

आदि प्रसिद्ध संस्कृत नाटकोंके रचयिता महाकवि भवभूति भी महाराज यशोवर्माके ही आश्रित थे। ७४० ई० के लगभग काश्मीरके ललितादित्यने अपनी विजययात्रा आरंभ की और ७५० ई० के लगभग उसने यशोवर्माको पराजित करके कन्नौजपर अधिकार कर लिया।

आयुध वंश—७६० ई० के लगभग कन्नौज फिर स्वतन्त्र हुआ और यहाँ एक नवीन वंशके वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध नामक राजाओंने क्रमशः राज्य किया। जिनसेनके हरिवंशकी रचना (सन् ७८३ ई०)के समय उत्तरापथमें कन्नौजके इन्द्रायुधका राज्य था। किन्तु अपने उत्तरमें काश्मीर नरेशों, पूर्वमें पालवंशी राजाओं और दक्षिणमें राष्ट्रकूटोंके निरन्तर दबावके कारण आयुध वंश ८वीं शती ई० के अन्ततक ही समाप्त हो गया। भिन्नमालके गुर्जर प्रतिहारोंने इस परिस्थितिका लाभ उठाया। राजस्थानमें शक्तिसंचय करके उन्होंने कन्नौजपर अधिकार कर लिया और शीघ्र ही समस्त उत्तरापथपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

गुर्जर प्रतिहार प्रागमुसलमान कालीन राजपूत वंशोंमें प्रमुख थे और अपने आपको श्रीरामके प्रतिहार लक्ष्मणका वंशज कहते थे। मारवाड़के भिन्नमाल अपर नाम श्रीमाल नामक स्थानको इन्होंने अपना प्रथम केन्द्र और राजधानी बनाया। हरिश्चन्द्र इस वंशका संस्थापक था। किन्तु वास्तवमें प्रथम महान् नरेश नागभट्ट प्रथम (७३०-७५६ ई०) था। ७५६ ई० के लगभग उसने सिन्धके अरबोंको हराकर बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। पश्चिमी भारतकी इस प्रकार रक्षा करनेसे उसका प्रताप एवं राज्यविस्तार बढ़ा। नान्दीपुरके गुर्जर, जोधपुरके प्रतिहार, भड़ौचके चाहमान आदि अनेक छोटे-छोटे राज्य उसके अधीन हुए। इसके उपरान्त नागभट्टके भतीजे कक्कुक और देवराज क्रमशः राजा हुए। कक्कुक जैनधर्मी था और उसने एक विशाल जैनमन्दिर बनवाया था। तदनन्तर देवराजका पुत्र वत्सराज रणहस्ति एवं 'वरभट भृकुटिभंजक' गद्दीपर बैठा। गुर्जर प्रतिहार साम्राज्यका वास्तविक संस्थापक यही नरेश था। जैनाचार्य

उद्योतन सूरिने अपनी कुवलयमाला (७७८ ई०) में तथा जिनसेन पुन्नाट-वंशीने हरिवंश (७८३ ई०) में इस नरेशका भारतवर्षके तत्कालीन सर्व-महान् नरेशोंमें उल्लेख किया है। वत्सराजने सन् ७७५-८०० ई० पर्यन्त राज्य किया प्रतीत होता है। उसकी प्रधान राजधानी भिन्नमाल ही थी और समस्त पूर्वी राजस्थान। मालवा व मध्यभारत और गुजरातके पर्याप्त भाग उसके राज्यके अन्तर्गत थे। उसने बंगालके धर्मपालको हराया और भंडी या भट्टि जातीय आयुधवंशी नरेशोंसे कन्नौज छीना। राष्ट्रकूट ध्रुव और पालवंशी धर्मपाल उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। वस्तुतः लगभग डेढ़ शताब्दी पर्यन्त गुर्जर प्रतिहारोंका बंगालके पालों और दक्षिणापथके राष्ट्रकूटोंके साथ उत्तरापथके साम्राज्यके लिए प्रबल संघर्ष चला और अनेक युद्ध हुए किन्तु वत्सराजने ही कन्नौजपर अधिकार करके उसे अपने साम्राज्यकी राजधानी बनाया। गुप्तवंशके पतनके बाद कन्नौज ही भारतवर्षकी प्रधान राजधानी बन चला था, और गुर्जर प्रतिहारोंके प्रयत्नसे कन्नौजका साम्राज्य अपनी उन्नतिके चरम शिखरको पहुँच गया। वत्सराजको जैन साहित्य और अनुश्रुतियोंमें जैनधर्मका एक बड़ा समर्थक और सहायक चित्रित किया गया है। ओसिया, श्रीमाल आदि नगरोंमें उसके द्वारा विशाल जिन-मंदिरोंका निर्माण हुआ बताया जाता है। जैन यति बप्पभट्टसूरिका वह बहुत सम्मान करता था और इसीके समय मथुरामें सर्व प्रथम श्वेताम्बर एवं दिगम्बर मंदिर पृथक्-पृथक् बने और उभय सम्प्रदायोंके पृथक्-पृथक् केन्द्र स्थापित हुए प्रतीत होते हैं। इसी नरेशके राज्यमें दिगम्बराचार्य जिनसेनने अपना सुप्रसिद्ध हरिवंश पुराण वर्धमानपुर (मध्यभारतमें इन्दौरके निकट बदनावर) में रचा, उद्योतनसूरिने राजस्थानके जाबालिपुरमें अपनी कुवलयमाला रची और संभवतया चित्तौड़में सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् हरिभद्र सूरिने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। इस नरेशने कन्नौज, मथुरा, अनहिलवाड़, मोधरा आदि स्थानोंमें अनेक जैन मंदिर बनवाये बताये जाते हैं। कन्नौजका

मंदिर १०० हाथ ऊँचा था और उसमें भगवान् महावीरको स्वर्णमयी प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। ग्वालियरमें भी इस राजाने एक २३ हाथ ऊँची तीर्थङ्कर प्रतिमा स्थापित की थी।

वत्सराजका पुत्र नागभट्ट द्वितीय नागावलोक आम (८००-८३३ ई०) अपने पिताके समान ही प्रतापी और विजेता था। पालों और राष्ट्रकूटोंके कारण कन्नौज फिर गुर्जर प्रतिहारोंके हाथसे निकल गया था किन्तु नागावलोकने अन्ततः चक्रायुधका अन्त करके कन्नौजपर ८१६ ई० के लगभग स्थायी अधिकार कर लिया और उसे ही अपनी प्रधान राजधानी बनाया। इस नरेशने आन्ध्र, सैन्धव, विदर्भ और कलिंगके राजाओंको अपने अधीन किया, बंगालके पाल-नरेशको पराजित किया और आनर्त, मालवा, किरात, तुरुष्क, वत्स, मत्स्य आदि राज्योंके अनेक भाग छीन कर अपने साम्राज्यमें मिला लिये। राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय (७९४-८१४ ई०) से उसके कई युद्ध हुए और ये दोनों परस्पर प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बने रहे। नागभट्ट द्वितीय गुर्जरेश्वर पति भी कहलाता था। यह नरेश भी जैनधर्मका बड़ा प्रश्रयदाता था। जैन साहित्य और अनुश्रुतियोंमें उसकी प्रशंसा पाई जाती है। जैनाचार्य जिनप्रभसूरिके प्रभावक चरित्रके अनुसार ८३३ ई० में उसकी मृत्यु गंगामें समाधि लेकर हुई। वह भी जैनाचार्य बप्पभट्टसूरिका बहुत आदर करता था। मथुराके प्राचीन जैनस्तूपका जीर्णोद्धार इसीके आश्रयमें हुआ बताया जाता है। वह एक धर्मात्मा राजा था, जिनेन्द्रकी भाँति विष्णु, शिव, भगवती और सूर्यका भी भक्त था। उसके पुत्र रामदेव या रामभद्रने केवल तीन वर्ष (८३३-८३६ ई०) राज्य किया और उसके अल्पकालीन शासन कालमें राज्यकी क्षति हुई। किन्तु उसका पुत्र भोज इस वंशका सर्वमहान् नरेश हुआ। प्रभास, आदिवराह, मिहिर आदि विरुद प्राप्त परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर भोजदेवने लगभग ५० वर्ष (८३६-८८५ ई०) तक राज्य किया। इस प्रतापी नरेशके समयमें राजधानी कन्नौज(महोदय)और उत्तरापथके इस गुर्जर प्रतिहार साम्राज्यका

वैभव चरम सीमाको पहुँच गया। पाल 'राष्ट्रकूट और कलचुरि' नरेशोंसे उसके निरन्तर युद्ध चलते रहे। काश्मीरके शंकरवर्मन्‌से भी युद्ध हुआ। कभी विजय हुई और कभी पराजय, किन्तु इन युद्धोंसे उसके साम्राज्यकी शक्ति और समृद्धिमें कोई कमी नहीं आई। मालवा भी उसने विजय किया, जेजाकभुक्ति (बुन्देलखंड) के चंदेले और ग्वालियरके कच्छपघट राजे उसके सामन्त थे। वह एक महान् सेनानी और साम्राज्य निर्माता था। सन् ८५१ ई० मे भारत आनेवाले अरब सौदागर सुलेमानने उसे अरबोंका सबसे बड़ा शत्रु कहा है और उसकी शक्ति एवं वैभवकी बड़ी प्रशंसा की है। यह सम्राट् बड़ा उदार और सहिष्णु था। अपनी कुलदेवी भगवतीका उपासक था किन्तु जैनधर्म का भी भारी प्रश्रयदाता था। उसीके शासनकालमें सन् ८६२ ई० में देवसंघके आचार्य कमलदेवके शिष्य श्रीदेवने देवगढ़ (लुअच्छगिरि) के दुर्गके भीतर स्थित शान्तिनाथ तीर्थङ्करके प्राचीन मंदिरके सम्मुख मानस्तंभ प्रतिष्ठापित किया था। संभव है कि जिस कलापूर्ण स्तंभोंपर आधारित खुले सभामंडपमें यह शिलालेख युक्त मानस्तंभ स्थित है उसका पूरा निर्माण ही इसी समय हुआ हो। देवगढ़के तत्कालीन शासक पंच महाशब्द प्राप्त महासामंत श्री विष्णुरामकी सहायतासे यह कार्य सम्पन्न हुआ था और उसके निर्माणमें गोष्ठिक जाजु (या बाजु) और गगा (गंगा) नामके दो श्रावक भाइयोंने विपुल द्रव्य व्यय किया था। देवगढ़, खजुराहो आदिके अन्य कई सुन्दर जैन मन्दिर इसी कालके हैं। भोजके समयके अन्य कई शिलालेख और ताम्रशासन मिलते हैं।

मिहिर भोजका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम (८८५–९०८ ई०) भी एक महान् शासक था। महेन्द्रायुध और निर्भयराज उसकी उपाधियाँ थीं। उसके समयमें साम्राज्यको शक्ति एवं विस्तार और राजधानी कन्नौजका वैभव अक्षुण्ण रहे। वह विद्वानोंका आश्रयदाता और साहित्यका प्रेमी था। कर्पूरमञ्जरी, काव्यमीमांसा, बालरामायण, बालभारत आदि ग्रन्थोंके रचयिता महाकवि राजशेखर उसके गुरु थे। उसके बाद उसका

ज्येष्ठ पुत्र भोज द्वितीय गद्दीपर बैठा किन्तु उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई अतः कनिष्ठ पुत्र महीपाल (९१०—९४० ई०) राजा हुआ। यह सूर्योपासक था। राजशेखर इसका भी राजकवि था, चंडकौशिक नाटकका कर्त्ता क्षेमेश्वर भी उसका आश्रित था। ९१५ ई० में अरब लेखक अल-मसूदीने इस गुर्जर नेरशको बहुत धनी और शक्तिशाली वर्णित किया है। किन्तु ९१५—१८ ई० में ही राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय ने कन्नौजपर चढ़ाई की और उसका बहुत विध्वंस किया। कन्नडके जैन महाकवि पंप द्वारा रचित पंपभारतके अनुसार इन्द्रके सामन्त नरसिंह चालुक्यने महीपालको बुरी तरह हराया और अपने घोड़ोंको गंगाके संगममें नहलाया! वस्तुतः महीपाल के समयसे ही गुर्जर प्रतिहार वंशकी अवनति प्रारंभ हो गई। उसका उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल द्वितीय भी भारी विद्याप्रेमी था, जैनाचार्य सोमदेव सूरिने इसी नरेशके लिए अपने राजनीतिके महान् ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत और महेन्द्रमातलिसंजल्पकी रचना की थी। तदनन्तर क्रमशः देवपाल (९४६—६० ई०), विनायकपाल, महीपाल द्वितीय, विजयपाल, राज्यपाल, त्रिलोचनपाल और यशपाल राजा हुए। यशपालके समय १०२३ ई० में मथुरामें एक नवीन जैन मन्दिरका निर्माण हुआ। ११ वीं शताब्दी ई० के मध्यके लगभग यशपालकी मृत्युके साथ इस वंशका अन्त हो गया, इस बीचमें ९४६ ई० के लगभग मालवा स्वतंत्र हुआ, ९६२ ई० में गंगनरेश मारसिंह ने प्रतिहारोंपर आक्रमण किया और उन्हें पराजित किया। शनैः-शनैः खजुराहोके चन्देले, ग्वालियरके कच्छपघट, धाराके परमार, मध्य भारतके कलचुरि, गुजरातके सोलंकी आदि स्वतन्त्र हो गये और कन्नौजका गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। कन्नौजके अंतिम राजाओंने सुबुक्तगीन और महमूद गजनीके विरुद्ध भंटिडेके साही राजाओंकी भी सहायता की। वस्तुतः लगभग ३०० वर्ष पर्यन्त प्रतिहारोंने भारतवर्षमें मुसलमानोंके प्रसारको सफलतापूर्वक रोके रक्खा। प्रतिहारोंके साथ ही साथ कन्नौज का भी उत्तरापथके भारतीय साम्राज्यकी राजधानीके रूपमें अन्त हो गया।

यशपालके उपरान्त कुछ समय तक राष्ट्रकूटोंको एक शाखाका कन्नौजपर राज्य रहा। सन् १०९० ई० के लगभग चन्द्रदेवने कन्नौजमें गहड़वाल वंशकी स्थापना की।

१०-१२ वीं शताब्दीके राजपूत राज्य—गुर्जर प्रतिहारोंके साथ ही साथ दक्षिणके राष्ट्रकूटों और बंगालके पालोंका भी पतन हो गया था। काश्मीरका नागकर्कोटक वंश पहले ही समाप्त हो चुका था और उसके स्थानमें उत्पल वंश राज्य कर रहा था। भारतकी पश्चिमोत्तर सीमापर तुर्क मुसलमानोंके आक्रमण शुरू हो गये थे। सम्पूर्ण भारतवर्षमें इस काल में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। उत्तर दक्षिण पूर्व पश्चिम, कहीं भी एक साम्राज्य शक्ति न रह गई थी। इस कालके ये अनगिनत राजवंश राजपूत नामसे सूचित किये जाते हैं और यह युग राजपूत युग कहलाता है।

प्राचीन क्षत्रियोंके दो वर्ग थे, एक आर्य और दूसरा व्रात्य। इन दोनों ही वर्गोंके क्षत्रिय कभीके समाप्त हो चुके थे। महावीर और बुद्धके समय से ही जो राज्यशक्तियाँ उदयमें आईं वे या तो प्राचीन नाग, ऋक्ष, यक्ष आदि अनार्य एवं प्रागार्य भारतीय जातियोंकी थीं, या व्रात्य क्षत्रियोंके राज्यतन्त्र और गणतन्त्र थे, कुछ एक राज्यवंशोंके संस्थापक वैश्यवर्णके थे यथा गुप्त, वर्धन आदि, कुछ एकके ब्राह्मण थे यथा कदम्ब आदि, कुछ नाग आर्य या नाग द्रविड़ मिश्रणसे उत्पन्न थे जैसे पल्लव, चोल आदि। इस बीचमें यवन, पह्लव, शक, कुषाण, हूण आदि अनेक विदेशी जातियाँ भी भारतमें आईं, यहाँ बसीं और भारतीय समाजमें समा गईं। इस प्रकार विविध मिश्रणके फलस्वरूप एक नवीन युद्धप्रिय जातिका निर्माण और विकास हुआ जो राजपूत कहलाने लगी। यह जाति अनेक कुलों एवं वंशों में विभक्त थी। इनमेंसे अधिकांश अपना सम्बन्ध प्राचीन क्षत्रियोंके सूर्य एवं चन्द्रवंशोंसे जोड़ते थे। एक अनुश्रुतिके अनुसार आबू पर्वतपर यज्ञाग्नि द्वारा इन मिश्रित लोगोंकी शुद्धि करके उन्हें राजपूत संज्ञा दी

गई थी। जो भी हो, इस कालकी भारतीय राजनीति विभिन्न राजपूतवंशों के हाथमें थी। परस्पर फूट, द्वेष, कुल और जातिका दुरभिमान, तुच्छातितुच्छ बातोंके लिए परस्पर युद्धोंमें संलग्न रहना, रूढ़िवादिता, अति साहस आदि इन राजपूतोंकी विशेषताएँ थीं जिनका लाभ उठाकर मुसलमानोंने सहज ही भारतवर्षमें अपने राज्य जमा लिये।

इस कालके इन अनगिनत विभिन्न राज्योंमेंसे कलिंग, गुजरात, काश्मीर, सिन्ध, बंगाल, दक्षिणापथ, तामिल और कर्णाटक देशके राज्योंका वर्णन आगामी अध्यायोंमें किया जायगा। उनके अतिरिक्त उत्तर भारतमें इस कालमें जो प्रमुख राज्यवंश उदित हुए वे निम्न प्रकार हैं :—

कन्नौजके गहडवाल—गुर्जर प्रतिहारोंके उपरान्त कुछ वर्षों तक कन्नौजके शासक गज़नीके सुल्तानोंके अधीन रहे। तदनन्तर किन्हीं राष्ट्रकूट वंशी गोपाल आदि राजाओंके यहाँ होनेका उल्लेख मिलता है। सन् १०९० ई० में चन्द्रदेवने कन्नौजपर अधिकार करके गहड़वाल वंशकी नींव डाली जिसने ११९४ ई० तक वहाँ राज्य किया। इस वंशका सर्व-महान् नरेश गोविन्दचन्द्र (११०४-११५५ ई०) था। वह स्वयं हिन्दू था किन्तु उसकी रानी कुमारी देवी बौद्ध थी, जिसकी प्रेरणापर राजाने उत्कलके शाक्यरक्षित नामक बौद्ध-विहारको दान दिया बताया जाता है। गोविन्दचन्द्रका पोता जयचन्द्र इस वंशका अन्तिम राजा था। उसकी पुत्री संयोक्ता और दिल्ली-अजमेरके राय पिथौराकी प्रेमगाथा लोक-प्रसिद्ध है। ११९४ ई० मुहम्मद गोरीने चन्दवाडके युद्धमें जयचन्द्रको पराजित करके कन्नौजपर गहडवाल वंशके राज्यका अन्त कर दिया। कुछ काल तक महोबेके चन्देलोंका भी कन्नौजपर अधिकार रहा, तदनन्तर वह गुलाम वंशी मुसलमानोंके शासनमें आया। गहडवालोंकी उप-राजधानी वाराणसी थी, उसपर भी गोरीका अधिकार हुआ। जयचन्द्रके वंशजोंने भागकर राजस्थानके मारवाड़ देशमें शरण ली और वहाँ जोधपुरके राठौर वंशकी

नींव डाली। १३वीं शतीमें इस वंशके रामपाल, मोहनजी, सम्पत्तिसेन आदि राजे जैन थे।

साँभरके चाहमान—अजमेरके निकट साँभर या शाकंभरीमे चाहमान या चौहान राजपूतोंका राज्य था। लगभग ७०० ई० में इस वंशका उदय हुआ था। धौलपुर, नाडोल, आबू, रणथंभौर, परतापगढ़ आदिमे भी इसी वंशकी शाखाएँ राज्य कर रही थीं। इटावाके निकट यमुना तटपर चन्दवाड़मे भी चौहानोंका राज्य था। किन्तु इन चौहान राजवंशोंमें अजमेर (साँभर) का वंश ही सर्व प्रमुख था। वसुदेव इस वंशका संस्थापक था। इस वंशमें अनेक राजा हुए जिनमें पृथ्वीराज प्रथम और द्वितीय जैनधर्मके परम भक्त थे। प्रथमने रणथंभौरके जैन मंदिरके शिखरपर स्वर्णकलश चढ़ाया था और द्वितीयने एक जैन मंदिरके लिए मोरकुटी आदि ग्राम दान दिये थे। वह बिजोलिया पार्श्वनाथ तीर्थके जैन गुरुओंका भक्त था। कन्नौजके प्रतिहारोंसे उनके विवाह सम्बन्ध भी थे और प्रतिहारोंके उत्कर्षकालमें चौहान उनके अधीनस्थ राजे रहे। १० वीं शताब्दी ई० के अन्तमें विग्रहराज द्वितीय और तदनन्तर दुर्लभराज द्वितीयने साँभर राज्यको स्वतंत्र कर लिया और इसकी शक्ति बढ़ने लगी। १२ शती ई० के मध्यमे विग्रहराज चतुर्थ एक प्रतापी और विद्यानुरागी नरेश था। उसने दो नाटक पत्थरपर अंकित कराये थे। उसका भाई सोमेश्वर भी बड़ा वीर और पराक्रमी नरेश था। वह प्रतापलंकेश्वर कहलाता था। वह जैन धर्मका भी भक्त था, पार्श्वनाथके मंदिरके लिए उसने रेणुका नामक गाँव भेंटमें दिया था। बिजोलिया पार्श्वनाथका प्रसिद्ध मंदिर भी सोमेश्वर चाहमानका ही बनवाया हुआ है। गुजरातके इतिहासमें वह चाहड नामसे प्रसिद्ध है। वह अन्हिलवाड़के सोलङ्की सम्राट् जयसिंह सिद्धराजका दौहित्र और दत्तक पुत्र तथा कुमारपाल सोलङ्कीका प्रतिद्वन्द्वी था और उसकी पत्नी दिल्लीके अनंगपाल तोमरकी कन्या थी। इन दोनोंका पुत्र इतिहास प्रसिद्ध पृथ्वीराज तृतीय रायपिथौरा था। चन्दबरदाई

भाट उसका मित्र और राजकवि था, ऐसा प्रसिद्ध है। पृथ्वीराज एक महान् योद्धा एवं वीर नरेश था। कन्नौजके जयचन्द्र और महोबेके चन्देलोंके साथ उसकी प्रबल प्रतिद्वन्दिता थी। पृथ्वीराज द्वारा कन्नौजकी राजकन्या संयोक्ताके हरणकी घटना लगभग ११७५ ई० की है। ११८२ ई० मे उसने परमाल चन्देलको पराजित किया था। मोहम्मद गोरीके हमलेको उसने वीरतापूर्वक रोका और ११९१ ई० में तराइनके प्रथम युद्धमे गोरीको बुरी तरह हराकर भारतवर्षसे खदेड़ दिया। किन्तु परस्परकी फूटके कारण ११९३ ई० में तराइनके दूसरे युद्धमे गोरीकी विजय हुई। पृथ्वीराज बन्दी हुआ और मार डाला गया। फलस्वरूप दिल्ली और अजमेरपर मुसलमानोंका अधिकार हो गया।

अन्य चौहान राजाओंमें धवलपुरीका चंडमहासेन (९४२ ई०) अधिक प्रसिद्ध है। अजमेर, नाडौल, दिल्ली तथा अन्य सभी स्थानोंके तत्कालीन चाहमान नरेश जैनधर्मी न होते हुए भी जैन धर्मके पोषक थे और जैन गुरुओंका आदर करते थे। उनमेंसे अनेक राजपुरुष जैनी भी रहे। नाडौलमे चौहान राज्य ९६० से १२५२ ई० तक रहा। इस वंशका अश्वराज चौहान जिनभक्त था और उसने अपने राज्यमें पशु-हिंसा पर प्रतिबंध लगाया था। उसका पुत्र अन्हलदेव अपने पितासे भी अधिक उत्साही जैन था। यह राजा भी महावीरका परम भक्त था, उसने ११६२ ई० में उक्त तीर्थङ्करका एक विशाल मंदिर नादरामें बनवाया था और उसके लिए सुन्दर गृहके श्रावकों एवं साधुओंकी सुरक्षामें बहुत-सी सम्पत्ति दान कर दी थी। सन् १२२८ ई० के एक ताम्रशासनसे इस दानका पता चलता है। यह राजा अन्तमें राज्य त्याग करके जैन साधु हो गया था। उसके पूर्वज लाखा और दादराव तथा वंशज कल्हण, गर्जेसिह, कृतिपाल आदि अन्य राजे भी जैन थे।

दिल्लीके तोमर—दिल्लीकी कतिपय राजावलियोंके अनुसार जो कि जैन ग्रंथ भंडारोंमें पाई गई हैं, दिल्ली राज्यका संस्थापक राणा जाजू था

जो ८ वीं शती ई० के उत्तरार्धमें हुआ था। यह वंश तोमर राजपूतोंका था, १२वीं शती ई० के मध्यमे इस वंशमें अनंगपाल तोमर नामका प्रसिद्ध राजा हुआ था। किन्तु उसके कोई पुत्र नहीं था, अतः उसकी मृत्युके उपरान्त उसका दौहित्र पृथ्वीराज चौहान दिल्ली और अजमेर दोनोंका राजा हुआ और पृथ्वीराजके साथ ही साथ दिल्लीके स्वतंत्र राजपूत राज्यका अन्त हो गया। दिल्लीके राजाओंकी जो वंशावली मिलती है उनसे प्रतीत होता है कि वे सर्वधर्मसहिष्णु थे। कुतुब मस्जिद आदि गुलाम शासन-कालीन मुसल्मानी इमारतोंके भग्नावशेषोंसे प्रकट है कि १३ वीं शती ई० मे मुसलमानोंने जिन विशाल भव्य मंदिरोंको तोड़कर अपनी मस्जिदें आदि बनाई थीं वे अधिकांशतः जैन मंदिर थे। चन्दके रासोमें भी दिगम्बर साधुओं और जैनोंके सूचक उल्लेख हैं।

भटिंडे (पंजाब) का साही वंश—इसका संस्थापक कल्लर या लल्लिमा साही था। इस वंशके राजा जयपाल और उसके पुत्र अनंगपालने सुबुक्तगीन और महमूद गजनवीके आक्रमणोंको रोकनेकी भरसक चेष्टा की थी। कन्नौजके विजयपाल और राज्यपालने भटिंडेके साही राजाओंकी इस कार्यमें सहायता की थी। किन्तु दुर्दान्त यवनोंके आक्रमणोंके सम्मुख साही नरेशोंकी वीरता कुछ काम न आई और वे स्वदेश रक्षामे स्वयं विनष्ट हो गये।

धाराके परमार—मालवा देशकी धारा नगरीमें ८-९ वीं शती ई० मे उपेन्द्र अपरनाम गजराज या कृष्णराज परमार वंशका वास्तविक संस्थापक था। ९१५ ई० में राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीयने उसे हराकर अपने अधीन किया था। प्रारंभिक परमार राजे राष्ट्रकूटोंके अधीन थे। तदनन्तर गुर्जर प्रतिहारोंके आधीन रहे। इस वंशका ६टा राजा उक्त उपेन्द्रका उत्तराधिकारी सीयक द्वितीय उपनाम हर्ष था। यह बड़ा प्रतापी नरेश था। उसने राष्ट्रकूट राजा खोट्टिग नित्यवर्षको युद्धमे हराया। प्रतिहार राजे भी इस समय निर्बल हो चुके थे। अतः सीयकने एक स्वतंत्र शासककी नाई

राज्य किया, महाराजाधिराजकी उपाधि धारण की और अपने राज्यका विस्तार किया। अपने पोषित पुत्र मुञ्जको राज देकर सन् ९७४ ई० के लगभग उसने एक जैनाचार्यसे मुनि दीक्षा ले ली और शेष जीवन एक जैन तपस्वीके रूपमें व्यतीत किया बताया जाता है। उसका उत्तराधिकारी मुञ्ज वाक्पतिराज एवं उत्पलराज भी कहलाता था। वह बड़ा वीर, पराक्रमी, कवि और विद्याप्रेमी था। कल्याणीके चालुक्य सम्राट् तैलप द्वितीयपर उसने छः बार आक्रमण किया और कई बार उसे पराजित किया। सातवीं बारके आक्रमणमें वह स्वयं तैलपका बन्दी हो गया। बन्दी दशामें ही मुञ्जका तैलपकी बहिन मृणालवतीसे प्रेम हो गया और इस प्रकार वह एक प्रसिद्ध भारतीय प्रेमगाथाका नायक हुआ। मृणालवतीकी सहायतासे वह बन्दीखानेसे भाग निकला, किन्तु पकड़ा गया और उसकी हत्या करवा दो गई। यह घटना लगभग ९९५ ई० को है। मुञ्जके सम्बन्धमे प्रबन्धचिन्तामणि आदि जैन ग्रन्थोंमें अनेक कथाएँ मिलती है। नवसाहसांकचरितके लेखक पद्मगुप्त, दशरूपकके लेखक धनञ्जय, उसके भाई धनिक, जैन कवि धनपाल आदि अनेक कवियोंका वह आश्रयदाता था। जैनाचार्य महासेन और अमितगतिका यह राजा बहुत सम्मान करता था। इन जैनाचार्योंने उसके प्रश्रयमें अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। मुञ्ज स्वयं जैनी था या नहीं यह नहीं कहा जा सकता किन्तु वह जैन धर्मका प्रबल पोषक था इसमें सन्देह नहीं है। उसका उत्तराधिकारी और भाई सिन्धुल या सिन्धुराज कुमार नारायण नवसाहसांक (९९६–१००९ ई०) भी जैनधर्मका पोषक था। प्रद्युम्नचरितके कर्त्ता मुनि महासेनका वह गुरुवत् आदर करता था। अभिनव कालिदास कवि परिमलका नवसाहसांक चरित्र इसी राजाकी प्रशंसामें लिखा गया है। हूणों एवं लाट नरेशोंके साथ इसके कई युद्ध हुए। चालुक्योंसे भी अपने भाईका बदला लेनेके लिए इसने युद्ध किये। किन्तु सोलंकी चामुंडराजने धारापर आक्रमण कर उसका घेरा डाल दिया और सिन्धुराजको पराजित

किया। इसका पुत्र भोज (१०१०–१०५३ ई०) भारतीय लोक-कथाओंमें प्राचीन वीर विक्रमादित्यकी भाँति ही प्रसिद्ध है। उसने राजधानी धाराको सुन्दर भवनोंसे अलंकृत किया और बेतवा नदीसे काटकर प्रसिद्ध भोजसागर का निर्माण कराया था। वह बड़ा विचारशील पराक्रमी और वीर था। अपने चाचा मुञ्ज और पिता सिन्धुलकी मृत्युका बदला लेनेके लिए उसने सोलंकियों और चालुक्योंसे अनेक युद्ध किये और उन्हें पराजित किया। गुजरात और चेदिके आक्रमणमें उसकी मृत्यु हुई। भोज भी जैन धर्मका प्रबल पोषक था। उसके समयमें धारा नगरी दिगम्बर जैन धर्मका एक प्रमुख केन्द्र थी और राजा जैन विद्वानों एवं मुनियोंका बड़ा आदर करता था। सरस्वती मंदिरके नामसे एक विशाल विद्यापीठकी उसने स्थापना की थी। उसने जैन मंदिरोंका भी निर्माण कराया बताया जाता है। अमितगति, माणिक्यनंदी, नयनंदि, प्रभाचन्द्र आदि, अनेक ग्रन्थोंके रचयिता दिग्गज जैनाचार्योंने राजासे आश्रय एवं सम्मान प्राप्त किया था। आचार्य शान्तिसेनने उसकी राजसभामें अनेक अजैन विद्वानोंको शास्त्रार्थमें पराजित किया था। भोजका सेनापति कुलचन्द्र भी जैनी था। धनञ्जय, धनपाल, धनिक आदि गृहस्थ जैन कवियोंने तथा माघ, अभिनव कालिदास, परिमल आदि अन्य प्रसिद्ध संस्कृत कवियोंने भी इस राजाके आश्रयमें काव्य साधना की थी। भोजके उपरान्त जयसिंह प्रथम (१०५३–६०) राजा हुआ। उसके उत्तराधिकारी निर्बल शासक रहे। उनमें नरवर्मदेव (११०४–११०७ ई०) महान् योद्धा और जैनधर्मका अनुरागी था। उज्जैनके महाकाल मंदिरमें जैनाचार्य रत्नदेवका शैवाचार्य विद्याशिववादीके साथ शास्त्रार्थ उसीके समयमें हुआ। इस राजाने जैनगुरु समुद्रघोष और श्री वल्लभसूरिका भी सम्मान किया था। उसके पुत्र यशोवर्मदेवने भी जैनधर्म और जैन गुरुओंका आदर किया। जिनचन्द्र नामक एक जैनीको उसने गुजरात प्रान्तका शासक नियुक्त किया था। १२–१३ वीं शताब्दीमें धाराके परमारनरेश विन्ध्यवर्म और उसके उत्तराधिकारियों सुभटवर्मा, अर्जुनवर्मा, देवपाल और जैतुगदेवने पं० आशा-

धर आदि अनेक जैन विद्वानोंका आदर किया था। आशाधरने अपने विविध-विषयक सैकड़ों ग्रन्थोंकी रचना उन्हीं नरेशोंके आश्रयमें की थी। बिल्हण कवीश, मदनोपाध्याय आदि अनेक संस्कृत कवि इनके प्रश्रयमें रहे थे। १३वीं शती ईस्वीके अन्त तक परमार राज्यका अन्त हो गया और मालवेपर मुसलमानोंका शासन हो गया। किन्तु फिर भी मालवा और उसके उज्जैन, धार, मांडू आदि प्रमुख नगर जैन एवं हिन्दूधर्म और संस्कृतिके प्रसिद्ध केन्द्र बने रहे।

मेवाड़के गुहिलौत—मेवाड़ राजस्थानका स्यात् सर्व-प्राचीन राज्य है और उसकी प्राचीन राजधानी चित्तौड़ (चित्रकूटपुर) प्राचीन कालमें भी एक प्रसिद्ध नगर था। ८वीं शताब्दी ई०के मध्य तक यहाँ मौर्यवंशकी एक शाखाका राज्य था। उक्त शताब्दीके प्रारम्भमें जिस मोरिय राजाका यहाँ शासन था उसका उपनाम सम्भवतया धवलप्पदेव था। श्रीवल्लभ उसकी उपाधि थी और श्वेतच्छत्र उसका राज्य-चिह्न था। उसके उत्तराधिकारी राहप्पदेवको पराजित करके राष्ट्रकूट दंतिदुर्ग ने उपरोक्त उपाधि और चिह्न स्वयं ग्रहण कर लिये थे। धवलप्पदेवके कनिष्ठ पुत्र सम्भवतया वीरप्पदेव थे जो आगे चलकर प्रसिद्ध जैनाचार्य वीरसेन स्वामीके नामसे प्रख्यात हुए और जिन्होंने दिगम्बर आगमोंकी विशालकाय टीकाओंकी रचना करके उन्हें धवल नामांकित किया। इसी चित्रकूटपुर (चित्तौड़) में जैनगुरु एलाचार्य निवास करते थे। वे ही वीर-सेन स्वामीके विद्यागुरु थे। राहप्पके राजा होने पर ही सम्भवतया वीर-सेनने दीक्षा ले ली थी और ७५० ई० के लगभग राष्ट्रकूटों द्वारा राहप्प की पराजयके उपरान्त वे राष्ट्रकूटोंकी राजधानीके निकट वाटनगरमें चले गये थे और वहाँ अपना विद्यापीठ स्थापित करके उन्होंने धवलादि महान् ग्रन्थोंकी रचना की थी। राहप्पके कोई पुत्र नहीं था अतः उसके पश्चात् उसका भानजा, बप्पारावल कालभोज उपनाम खोम्मण प्रथम, चित्तौड़का राजा हुआ और उसने वहाँ गुहिलौत वंशकी स्थापना की।

गुहिलौत राजपूत अपने आपको सूर्यवंशी कहते थे और यह वंश सीसोदिया नामसे भी प्रसिद्ध हुआ। इसी समय चित्तौड़के एक राजमान्य ब्राह्मण विद्वान् श्वेताम्बर आर्यिका याकिनी महत्तराके उपदेशसे प्रभावित होकर साधु हो गये और ये ही प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि हुए। इन्होंने अनेक संस्कृत प्राकृत विविधविषयक ग्रन्थोंकी रचना की। १०वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें गुहिलौत वंशका प्रसिद्ध राजा शक्तिकुमार हुआ। इसीके समयमें चित्तौड़का सर्वप्रसिद्ध जैन कीर्त्तिस्तम्भ बना जिसका जीर्णोद्धार १५वीं शतीमें एक दिगम्बर जैन सेठ साहजीजाने विपुल द्रव्य व्यय करके कराया था। चित्तौड़ राजस्थानमें सदासे शैव और जैनधर्मका एक प्रमुख केन्द्र रहा था। गुहिलौत वंशका राज्य एवं कुल-धर्म शैव था किन्तु इस वंशके राजे जैन-धर्मके प्रति बड़े उदार और सहिष्णु रहे। कई राजे और राजवंशके कितने ही स्त्री-पुरुष तथा प्रधान अमात्य, मन्त्री, दीवान, भंडारी, सामन्त, सरदार, सेनापति, दण्डनायक और अन्य पदस्थ राज्य-कर्मचारियोंमें से भी अनेक जैनी होते रहे। कहा जाता है कि मेवाड़ राज्यमें जब-जब दुर्गकी वृद्धिके लिए उसकी नींव रक्खी जाती थी तब-तब राज्यकी ओरसे जैनमन्दिर बनवानेकी प्रथा थी। गौरीशंकर हीराचन्द ओझाके अनुसार सूर्यास्तके उपरान्त भोजन करना राज्यभरमें राजाज्ञा-द्वारा मना था। केसरिया नाथ-जैसे प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थ और उसकी ऋषभदेव तीर्थङ्करकी मूर्त्तिको जैन ही नहीं शैव, वैष्णव और भील भी आज तक पूजते चले आते हैं। अनेक जैनमन्दिर मेवाड़नरेशोंने स्वयं या अपनी अनुमतिसे बनवाये और कितने ही जैन मन्दिरोंके लिए दान दिये। स्वयं चित्तौड़के प्राचीन महलोंके निकट प्राचीन जैनमन्दिर बने हुए हैं। और यही मेवाड़ राज्य अपने स्वातन्त्र्य-प्रेम एवं स्वदेश-भक्तिके लिए इतिहासमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसके वीर राणाओंने १७वीं शताब्दी पर्यन्त मुसलमानोंकी अधीनता स्वीकार नहीं की। राणाओंकी इस आनको निभानेमें मेवाड़का जैनधर्म तथा उसके जैन वीर सदैव सहायक रहे। घोडमें भी गुहिलोंकी एकशाखाका राज्य था।

हस्तिकुण्डिका या हथूँडीके राठौड़—१०वीं शती ई० में राजस्थानके हथूंडी नगरमे राठौड़ वंशी राजपूतोंका प्राचीन राज्य था। इन राठौड़ोंका सम्बन्ध सम्भवतया दक्षिणके राष्ट्रकूट वंशसे था। कन्नौजके गहड़वालोंसे भी इनका कोई सम्बन्ध था या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है जोधपुर-मारवाड़के राठौड़ हथूँडीके वंशसे ही सम्बन्धित हों। हथूँडीका राठौड़वंश जैनधर्मका अनुयायी था। ९१६ ई० मे इस वंशका राजा विदग्धराज जैनधर्मका परम भक्त था। उसने अपनी राजधानी हथूँडीमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवका विशाल मन्दिर बनवाया था और उस मन्दिरके लिए बहुत-सी भूमि प्रदान की थी। उसके गुरु वासुदेवसूरि या बलभद्र थे। राजाने स्वयंको स्वर्णके साथ तुलवाकर उसे मन्दिर और गुरुको दान कर दिया था। सन् ९३९ ई० में विग्दधराजके पुत्र एवं उत्तराधिकारी मम्मटने भी उक्त मन्दिरके लिए विपुल द्रव्य दान किया था और अपने पिताके दान-पत्रकी भी पुनरावृत्ति की थी। यह राजा भी परम जैन था। इसका पुत्र महाराज धवल भी परम जिन-भक्त था, उसने ९९७ ई० मे उपरोक्त मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया, दान दिया और ऋषभदेवकी एक नवीन प्रतिमा स्थापित कराई। इस राजाके गुरु वासुदेवसूरिके शिष्य शान्तिभद्रसूरि थे और सूराचार्य ने वह दान-प्रशस्ति लिखी थी। जैनधर्मकी प्रभावनाके लिए इस नरेश ने अनेक कार्य किये। १२वीं शती ई० के उपरान्त हथूँडी राज्य सम्भवतया जोधपुरके ही अधीन हो गया अथवा एक छोटा-सा उपराज्य रह गया।

श्रावस्तीके ध्वजवंशी नरेश—उत्तर प्रदेशके पूर्वी भागमे ज़िला बहराइचमें श्रावस्ती (वर्तमान सहेटमहेट) एक प्राचीन महानगरी थी। उत्तरकोसल देशके सूर्यवंशी राजाओंकी यह राजधानी थी। महावीर एवं बुद्धके समयमें सम्राट् प्रसेनजित यहाँ का प्रसिद्ध सम्राट् था। गुप्तकाल के उदय तक वह कोसलराज्यकी राजधानी बनी रही, किन्तु गुप्तकाल से ही इसकी अवनति प्रारम्भ हो गई। फ़ाह्यान और हुएनसांग नामक

चीनी यात्रियोंने उसे उजड़ी हुई अवस्थामें पाया था। किन्तु हर्षवर्धनके एक ताम्रपत्रसे सूचित होता है कि उसके समयमे यह प्रदेश उसके राज्य की एक भुक्ति (प्रान्त) था। ९-१०वीं शती ई० मे श्रावस्तीकी पुनः उन्नति हुई और यहाँ एक जैनवंशका राज्य था जिसमें जनरल कनिघमके अनुसार सुधन्वध्वज, मकरध्वज, हंसध्वज और मोरध्वज नामके राजा क्रमशः हुए। यह वंश सम्भवतया सरयूपारवर्ती कलचुरियोंकी एक शाखा थी। कलचुरीवंशको विभिन्न शाखाओंमे सामान्यतया जैनधर्मकी प्रवृत्ति थी। क्या आश्चर्य जो श्रावस्तीके इस जैनवंशका कलचुरियोंसे ही सम्बन्ध हो, विशेषकर जब कि इस कालमें और इसी प्रदेशमें कलचुरियोंके एक सरयू-पारीवंशका राज्य होने का इतिहाससे पता चलता है। उपरोक्त मोरध्वजके उपरान्त श्रावस्तीका राजा सुहिलध्वज हुआ जो बड़ा वीर और पराक्रमी होने के साथ ही साथ जैनधर्मका भी अनुयायी था। ११वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें इसका शासनकाल निश्चित होता है। उसने महमूद ग़ज़नवीके बेटेके सिपहसालार सैयद सालार मसऊद ग़ाज़ीको बहराइचके प्रसिद्ध युद्धमें बुरी तरह पराजित किया बताया जाता है। सुहिलध्वज या सुहिलदेवके पश्चात् उसका पोता हरसिंहदेव श्रावस्तीका राजा हुआ। सन् ११३४ ई० में कन्नौजके गोविन्दचन्द्र गहडवालने श्रावस्तीपर आक्रमण करके उसे तहस-नहस कर दिया। हरसिंहने भागकर सुहेलवा वनमें गढ़ी बना ली और फिर वहाँसे उसके वंशज नैपालमें जा बसे और पालिया भू-खंड राज्यके स्वामी बने।

चन्देलवंश—उत्तर भारतमें पूर्वमुसलमान युगका सबसे अधिक प्रसिद्ध और शक्तिशाली वंश जेजाकभुक्तिके चन्देले राजपूतोंका था। वर्तमान विन्ध्यप्रदेश (बुन्देलखंड) गुप्तकालमें गुप्त साम्राज्यकी एक प्रसिद्ध भुक्ति था। देवगढ़ और खजुराहो आदि उसके प्रमुख नगर थे। सन् ८३१ ई० में नन्नुक चन्देलने इस वंशकी स्थापना की और खर्जुरवाहक या खजु-राहोको अपनी राजधानी बनाया। चन्देलोंका मूल सम्बन्ध चेदिसे रहा प्रतीत

होता है और इनका उद्‌गम भार एवं गोंड जातियोंसे हुआ अनुमान किया जाता है। किन्तु उनकी अपनी अनुश्रुतियोंके अनुसार उनका पूर्वपुरुष ब्राह्मण था। वे अपने आपको आत्रेय ऋषि और चन्द्रकी सन्तान बताते हैं। नन्नुकने कन्नौजके प्रतिहारोंके सामन्तके रूपमें ही चन्देल राज्यकी स्थापना की थी अतएव प्रारम्भिक चन्देल राजे प्रतिहारोंके अधीनस्थ राजाओंके रूपमें ही रहे। नन्नुकके पश्चात् वाक्पति राजा हुआ, उसके दो पुत्र जेजा (जयशक्ति) और बेजा (विजयशक्ति) थे जिन्होंने क्रमशः राज्य किया। जेजाके नामपर यह प्रदेश जेजाकभुक्ति नामसे प्रसिद्ध हुआ बताया जाता है। कालान्तरमें इसी शब्दका विकृत रूप जुझौती हुआ। जेजाकी पुत्री नट्टाका विवाह त्रिपुरीके कलचुरि-नरेश कोक्कल प्रथम (८४५-८८० ई०) के साथ हुआ था। बेजाके बाद राहिल और फिर हर्ष चन्देल गद्दी पर बैठा। इसने ९०० से ९२५ ई० तक राज्य किया। इसके समयसे चन्देलोंका उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। हर्षका पुत्र यशोवर्मन या लक्षवर्मन (९२५-९५४ ई०) और अधिक प्रतापी था। कन्नौजके महीपाल प्रतिहार से उसके मित्रवत् सम्बन्ध थे और उससे उसने एक प्रसिद्ध विष्णुमूर्त्ति प्राप्त की थी। इसका पुत्र धंग (९५४-१००२ ई०) बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। उसके समयमें चन्देल राज्य एक सर्वथा स्वतंत्र राज्य था और धंग अपने समयके सर्वाधिक शक्तिशाली नरेशोंमेंसे था। ९९० ई० में उसने सुबुक्तगीन गजनवीके विरुद्ध भटिंडेके जयपालकी सहायता की थी और युद्धमें स्वयं भाग लिया था। खजुराहोके सर्वप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ जैन एवं वैष्णवमन्दिरोंमेंसे कई इसी उदार नरेशके समयमें और उसके प्रश्रयमें निर्मित हुए थे। वहाँका भव्य पार्श्वनाथ-मन्दिर इस राजाके शासनके प्रथम वर्षमें ही निर्मित हुआ था। सन् ९५४ ई० के उक्त शिलालेखमें महाराज धंगके कृपापात्र पाहिल नामक प्रसिद्ध जैन श्रेष्ठि एवं राजपुरुष द्वारा अनेक दान दिये जानेका उल्लेख है। उसने कई मन्दिर और मूर्त्तियाँ निर्माण कराई थीं। उसके गुरु मुनि वासवचन्द्रका राजा भी आदर करता

था। धंगका पुत्र गंड भी प्रतापी और शक्तिशाली नरेश था। १००८ ई० में उसने अनन्दपाल साही द्वारा महमूद ग़ज़नवीके विरुद्ध नियोजित संघमें महत्त्वपूर्ण भाग लिया और महमूदका कड़ा मुक़ाबला किया। खजुराहोके शान्तिनाथ-मन्दिरमें आदिनाथकी विशाल प्रतिमाकी प्रतिष्ठा इसी नरेशके पुत्र विद्याधरदेवके शासनकालमें सन् १०२८ ई० में हुई थी। सन् १०२३ मे महमूद ग़ज़नवीके साथ युद्धमे विद्याधर पराजित हुआ था, उसी समयसे चन्देलोंकी शक्तिका ह्रास प्रारम्भ हुआ। ११वीं शतीके उत्तरार्धमें १३वें राजा कीर्त्तिवर्मनने राज्य किया। उसके समयमे चन्देल राज्यकी स्थिति फिरसे सँभल गई। अब लगभग एक शताब्दीके लिए मुसलमानोंके आक्रमणोंसे भी भारतवर्षको त्राण मिला और चन्देलोंने इस स्थितिसे पूरा लाभ उठाया। कीर्त्तिवर्मनके मंत्री वत्सराजने सन् १०९७ ई० में देवगढ़में नवीन दुर्ग बनवाकर उसका नाम कीर्त्तिगिरि रक्खा, राज्यमें कई वैष्णव, जैन आदि मन्दिर भी बने। इसी राजाके शासनकालमें १०६५ ई० के लगभग कृष्ण-मिश्रने अपना प्रबोधचन्द्रोदय नाटक लिखा जो राज-सभामें खेला भी गया था। १०६६ ई० मे अहार मदनपुरामें एक जैनमन्दिरका भी निर्माण हुआ। १२वीं शतीके मध्यमें चन्देल-नरेश मदनवर्मा भारी निर्माता था। उसने अनेक नगर, सरोवर तथा जैन एवं वैष्णव-मन्दिरोंका निर्माण कराया। सन् ११४५, ११५४, ११५५, ११५८, ११६३ आदिकी अनेक जैन मूर्त्तियाँ इस राजाके शासनकालमें प्रतिष्ठित हुई मिलती हैं। ११५५ की मूर्त्तिपर उसके निर्माता शिल्पी कुमारसिंहका नाम भी अंकित है। सन् ११६६ से १२०३ ई० पर्यन्त चन्देल-नरेश परमार्दिदेव या परमालका राज्य रहा। यह इस वंशका अंतिम महान् नरेश था। दिल्ली-अजमेरका पृथ्वीराज चौहान और कन्नौजका जयचन्द्र गहड़वाल उसके प्रबल प्रतिद्वन्दी थे। महोबेके लोकप्रसिद्ध योद्धा आल्हा और ऊदल परमाल चन्देलके ही आश्रित एवं सेनानायक थे। जगनिकके आल्हखंडने उस कालकी उन अनेक वीरगाथाओंको सजीव बनाये रक्खा जिसमें महोबेके ये वीर नायक थे।

सन् १२०३ ई० में परमाल चन्देलने कुतुबुद्दीन ऐबकसे पराजित होकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। परमार्दिदेव भी निर्माता था, अनेक मन्दिर उसके कालमें बने। अहारके शान्तिनाथ तीर्थङ्करकी सुन्दर विशाल खड्गासन मूर्तिको इसीके राज्यमें सन् ११८० ई० में रूपकार पापटने बनाया था। १३वीं शतीके उत्तरार्धमें चन्देलराज वीरवर्मनदेव भी अजयगढ़के तथा अनेक देव-मन्दिरोंके निर्माणके लिए प्रसिद्ध है। उसके समयकी सन् ११७४-७८ की मूर्तियाँ एवं लेख मिलते हैं। सन् १३१० ई० में चन्देल राज्यका अन्त हुआ और वह मुसलमानी साम्राज्यमें अलाउद्दीन खिलजी द्वारा मिला लिया गया। लगभग ४०० वर्षके दीर्घकालमें चन्देल नरेशोंने भारतीय कलाका अभूतपूर्व पोषण किया। उनका निज का धर्म जैन न होते हुए भी वे जैनधर्मके प्रति अत्यन्त सहिष्णु और उसके प्रबल पोषक रहे। देवगढ़, खजुराहो, महोबा, अजयगढ़, अहार मदनपुरा, मदनसागरपुर, बानपुर, पपौरा, चंदेरी, दूदाही, छंदपुरा, छतरपुर, टीकमगढ़ आदि चन्देल प्रदेशके प्रायः सभी प्रमुख नगरोंमें समृद्ध जैनोंकी बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं, उनके श्रीदेव, वासवचन्द्र, कुमुदचन्द्र आदि अनेक निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओं एवं विद्वान् आचार्योंका राज्यमें उन्मुक्त विहार था और अनेक भव्य विशाल जिनमन्दिरों एवं जैन कलाकृतियोंका उन स्थानोंमें निर्माण हुआ। जैनकलाके ये चन्देलकालीन उदाहरण भारतीय कलाके सर्वोत्कृष्ट नमूनोंमेंसे हैं और पूर्व मध्यकालीन भारतीय कलाशैलीका सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। उक्त राज्यके जैनियोंने भी राज्यकी सर्वतोमुखी उन्नतिमें पूर्णतया योगदान दिया। शिव और विष्णुके भी अनेक कलापूर्ण मन्दिर उस कालके विद्यमान हैं यथा खजुराहोके कंदरिया महादेव और केशवदेव।

ग्वालियरके कच्छपघट राजे—१०वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें कच्छपघटवंशी राजपूतोंका ग्वालियर प्रदेशपर शासन था। ये राजे कन्नौजके प्रतिहारोंके सामन्त थे। प्रारम्भिक राजाओंमें महाराज माधो प्रसिद्ध

था। उसका पुत्र महेन्द्रचन्द्र अर्धस्वतन्त्र राजा था। सन् ९५६ ई०में उसने ग्वालियरके निकट सोहनियामें विपुल द्रव्य व्यय करके एक जैनमन्दिर बनवाया था। ९७७ई० में महाराज वज्रदामन सर्वथा स्वतन्त्र नरेश हुआ। उसने भी उसी वर्ष सोहनियाके जिन-मन्दिरमें एक मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी। सन् १०८८ ई० में इसी वंशके विक्रमसिंह कच्छपघटने दूबकुण्ड नामक स्थानके सुप्रसिद्ध जैनमन्दिर बनवाये और उनके लिए दान दिये। किन्तु ११वीं शताब्दीमें चन्देलोंका उत्कर्ष होनेपर ग्वालियरके कच्छपघट उनके अधीन हो गये। १२वीं शताब्दीके मध्यतक इस वंशका राज्य ग्वालियरमें चलता रहा। इस वंशकी एक शाखाका राज्य नरवरमें था। २३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ इस वंशके इष्टदेव थे। स्वयं ग्वालियरके क़िलेमें इस वंशके राजाओं द्वारा १२वीं शताब्दीमें प्रतिष्ठित पार्श्वनाथकी विशाल प्रतिमा अभीतक विद्यमान है। कच्छपघट ही कालान्तरमें कछवाहे नामसे प्रसिद्ध हुए और सम्भवतया १२वीं शताब्दीके मध्यके लगभग ग्वालियरमें उनका अधिकार समाप्त होनेके कुछ काल उपरान्त उन्होंने राजस्थानके आमेर नगरको अपनी राजधानी बनाकर अम्बर प्रदेशपर अपना राज्य स्थापित किया। इस कालके उत्तर भारतके अन्य राजपूत राज्योंमें श्रीपथ (बयाना, जिला भरतपुर) के यदुवंशी, जिनकी एक राजधानी त्रिभुवनगिरि या ताहनगढ़ भी थी और चन्द्रवाड़ (जिला फ़िरोज़ाबाद) के चौहान राज्य भी उल्लेखनीय हैं। यह दोनों राज्यवंश भी जैनधर्मके पोषक थे।

उपरोक्त राजपूत राज्योंके अतिरिक्त कितने ही और भी छोटे-छोटे राजपूत राज्य सम्भवतया उस कालमें उत्पन्न हो गये थे। उनके अतिरिक्त तिब्बत, नैपाल, कुमायूँ, गढ़वाल, आसाम आदिमें भी स्वतंत्र या अर्धस्वतंत्र राज्य थे। हिन्दुओंकी अनुश्रुतिके अनुसार इस कालके परिहार, परमार, सोलंकी, राठौड़, चौहान, कछवाहे आदि अधिकांश राजपूतवंश अग्निकुलके कहे जाते हैं और कर्नल टाडके मतानुसार उनके अग्निकुली कहलानेका कारण

यह भी हो सकता है कि वे जैनधर्ममें दीक्षित हो गये थे। कम-से-कम उस कालके विभिन्न छोटे-बड़े राज्यवंशोंका जो इतिहास प्राप्त है उससे इस विषयमें तो सन्देह नहीं है कि इन राज्यवंशोंमें अल्पाधिक काल तक जैनधर्मकी प्रवृत्ति अवश्य रही थी। इन सब ही राज्योंमें जैनधर्म और उसके अनुयायी सुखपूर्वक फले-फूले। राजागण जैनधर्मके यदि अनुयायी नहीं होते थे तो उसके प्रति उदार एवं सहिष्णु अवश्य रहते थे। साथ ही जैनधर्म और उसके आचार-विचारके प्रभावसे उनकी वीरता, युद्धप्रियता और स्वातन्त्र्य-प्रेममें कोई कमी नहीं आई थी। उनके पतनका वास्तविक कारण उनकी परस्परकी फूट, जाति और कुलका दुरभिमान, उनमें परस्पर एकता और एकसूत्रताका अभाव और दूसरी ओर धन एवं राज्यके लोभसे प्रेरित धर्मान्ध एवं क्रूर मुसलमान जातियोंके अनवरत आक्रमण, छल, बल और कौशल थे जिन्होंने सहज और शीघ्र ही देशको विधर्मी विदेशियोंकी पराधीनतामें जकड़ दिया।

सूर्य, शक्ति तथा विष्णुके विभिन्न अवतारोंको लेकर अनेक सम्प्रदाय चल पड़े थे। तान्त्रिक और वाममार्गी सम्प्रदाय भी उत्पन्न हो गये, वीर शैव या लिंगायत जैसे नये-नये सम्प्रदाय तथा जोगियों और साधुओं द्वारा चलाये गये नये-नये पन्थ नित्य पैदा हो रहे थे। इन समस्त विभिन्न एवं बहुधा परस्पर विरोधी सम्प्रदायों और पन्थोंको सामूहिक रूपसे हिन्दूधर्म कहा जाने लगा, उन सबका अन्तर्भाव इस एक ही नाममें सामान्यतः किया जाने लगा और इनमेंसे किसी भी सम्प्रदाय या पन्थका माननेवाला अपनेको हिन्दू कह सकता था। इस प्रकार तथाकथित हिन्दुओंमें बहुभाग जनसाधारण तथा राजे-महाराजोंकी गणना होने लगी। उक्त विभिन्न सम्प्रदायोंके अनुयायियोंमें परस्पर वैमनस्य, कलह और प्रतिद्वन्दिता भी कभी-कभी अत्यन्त कटु हो उठती थी, तथापि भारतीयता, हिन्दू नाम, तीर्थ रूपमें भारतकी कतिपय नदियों, पर्वतों और प्राचीन स्थानोंको समान रूपसे मान्यता, रामायण एवं महाभारत जैसी प्राचीन अनुश्रुतियोंकी समान रूपसे

लोकप्रियता, वेदोंके अर्थोंको बिलकुल न समझते हुए भी अथवा उनके मन्तव्योंसे बहुधा स्पष्ट विरोध रखते हुए भी उन्हें ईश्वरोक्त मानना इत्यादि बातोंने उपरोक्त विविधता एवं वैषम्यके बीच भी हिन्दू जातिको बाह्यत: एक सूत्रमें बांधे रक्खा। जैनधर्म भी बाह्य व्यवहारमें अब उक्त तथाकथित हिन्दूधर्मका एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय-जैसा ही बन चला। आनेवाले मध्यकालमें राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिसे जैनी और हिन्दुओंमें प्राय: कोई अन्तर नहीं दीख पड़ने लगा। अब भी गंगमार सिंह, बिज्जल कलचुरी, बिष्णुवर्धन होयसल, चालुक्य आहवमल्ल, कुमारपाल सोलङ्की जैसे कई सम्राट्, अनेक राजे-उपराजे, सामन्त-सरदार, सेनापति और दीवान जैनी होते रहे। अनेक हिन्दू तथा मुसलमान सम्राट् जैनधर्मके पृष्ठपोषक और आश्रय-दाता बने रहे, कितने ही देशोंमे जन-साधारण राजपूत ठाकुर और ब्राह्मण तथा शूद्र जातियोंमे भी जैनधर्मके अनुयायी पाये जाते थे। इम्पीरियल गजेटियरके अनुसार सन् १०००–१२०० ई० के मध्य जैनधर्म मध्य-भारतकी उच्च जातियोंका प्रधान धर्म था। किन्तु शनै:-शनै: यह धर्म व्यापार-व्यवसायप्रधान वणिक् जातिमें ही सीमित होता चला गया। इससे इसकी संख्या एवं लोकप्रियता तो घटी किन्तु समृद्धि, शक्ति और सांस्कृतिक निर्माणोंमें विशेष अन्तर नहीं आया। कई एक सम्प्रदायों एवं प्रादेशिक भेदों अथवा संघ गण गच्छ आदिकोंमें विभक्त हो जाने पर भी जैनधर्मकी संस्कृति और मौलिकता पूर्ववत् अक्षुण्ण बनी रहीं। बाह्य आचार-विचार, पूजा-पद्धति, त्यौहार-उत्सव आदिमें हिन्दू सम्प्रदायोंके साथ उसका बहुत कुछ आदान-प्रदान हुआ तथापि उसकी सैद्धान्तिक मूल-भित्ति अडिग रही, उसके मौलिक विश्वास और परम्पराएँ स्थिर रहे और इनके कारण वह भारतका एक स्वतन्त्र एवं प्रमुख धर्म बना रहा। उसके प्रेरक तत्त्व सजीव बने रहे और उनके कारण उसके अनुयायियोंका धार्मिक उत्साह सजग रहा। इन्हीं कारणोंने जैनधर्मको तथाकथित हिन्दूधर्ममें आत्म-सात् होनेसे रक्षा की और साथ ही उसे बौद्धधर्मकी जो गति हुई उससे भी

बचा लिया। भारतवर्षकी मौलिक धार्मिक सहिष्णुताने इस देशमें धार्मिक विद्वेष, अत्याचार एवं साम्प्रदायिक वैमनस्य पर बहुत कुछ सफल नियन्त्रण रक्खा। यही कारण है कि मुस्लिम युगके पूर्व एवं अनेक अंशोंमें उसके प्रारम्भके उपरान्त भी विभिन्न भारतीय धर्म बहुत कुछ परस्पर सहयोग एवं सद्भावपूर्वक साथ-साथ फलते-फूलते रहे। आनेवाले मध्यकालके विदेशी विधर्मी मुसलमान शासनकालमें जैनधर्मकी प्रायः वही दशा और स्थिति रही जो अन्य हिन्दू धर्मोंकी थी। उसके शान्तिप्रिय एवं धनी व्यापारी अनुयायियोंके कारण मुसलमान शासकोंने भी उस पर अत्यधिक अत्याचार नहीं किया प्रतीत होता।

अध्याय ६

कलिंग, गुजरात, बंगाल, सिंध, काश्मीर, सिंहल और बृहत्तर भारत

कलिंग—कलिंग राज्य पूर्वी समुद्रतटपर तामलुकसे गंजम पर्यन्त फैला हुआ था। उसकी उत्तरी सीमा गंगानदीको स्पर्श करती थी, दक्षिणमे मध्य गंजमके उपरान्त घने वन फैले हुए थे, पूर्वमें भारतीय महासागर था और पश्चिमी सीमा मध्यप्रान्तकी अमरकण्टक पर्वतमालातक पहुँचती थी। दक्षिण कोसल या महाकोसल देश भी बहुधा उसके भीतर ही पड़ता था। कलिंग (वर्तमान उड़ीसा) को त्रिकलिंग देश भी कहा गया है क्योंकि उसमें उत्कल, कन्गोद और कोसल (दक्षिणी गंजम), ये तीन देश सम्मिलित थे। वैदिक साहित्यमें कलिंगका कोई उल्लेख नहीं है। महाभारतमें उसका वर्णन एक वन्य प्रदेशके रूपमें हुआ है जिसका राजा चित्रांगद था। अर्थशास्त्रके अनुसार वहाँ एक विशेष प्रकारका सूती वस्त्र बनता था। धर्मसूत्रोंमें इसे म्लेच्छ देश कहा है और वहाँ जानेवालेको पातकी कहा है। इस प्रकार ब्राह्मण परम्परामें कलिंग देश चिरकाल तक एक अनार्य, अवैदिक देश बना रहा। बौद्धग्रन्थोंमें कलिंगदेश और उसको राजधानी दन्तपुरके अनेक उल्लेख हैं किन्तु बौद्ध अनुश्रुतिके सोलह महाजनपदोंमें उसका उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत जैन साहित्य और अनुश्रुतियोंमें कलिंग देशके अनेक उल्लेख मिलते हैं। कलिंगके सर्व-प्राचीन उपलब्ध पुरातत्त्वावशेष जैन हैं और इस देशमें अत्यन्त प्राचीन कालसे ही जैन तीर्थङ्करोंकी प्रतिष्ठा रही प्रतीत होती है। इस देश और राज्यके इष्टदेव 'कलिंग जिन' कहलाते थे। विद्वानोंमें इस विषयमें

मतभेद है कि ये 'कलिंग जिन' आदि या अग्रजिन प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव थे, या भद्दलपुर (कलिंगदेशस्य भद्राचलम् या भद्रपुरम्) में उत्पन्न दसवें तीर्थङ्कर शीतलनाथ थे अथवा २३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे। किन्तु महावीरके जन्मके पूर्व भी इस जनपदमें उक्त कलिंग-जिनकी प्रतिष्ठा थी इसमें सन्देह नहीं है। तीर्थङ्कर पार्श्वका विहार कलिंग देशमें हुआ था। भगवान् महावीर भी वहाँ पधारे थे और राजधानी कलिंग नगरके निकट कुमारी पर्वतपर उनका समवसरण लगा था। उपरोक्त घटनाओंकी स्मृतिमें उक्त स्थानपर स्तूपादि स्मारक बने थे और मुनियोंके निवासके लिए गुफाएँ भी निर्मित हुई थीं जो खारवेलके समयके बहुत पहिलेसे वहाँ विद्यमान थीं। इन सब बातोंसे विदित होता है, जैसा कि प्रो० राखालदास बनर्जीका भी मत है, कि उड़ीसा प्रारम्भसे ही जैनधर्मका एक प्रमुख गढ़ था। वस्तुतः इस प्रदेशमें आर्यसभ्यता और संस्कृतिके प्रवेशका श्रेय जैनधर्मको है।

छठी शताब्दी ई० पू० में कलिंग देशपर जितशत्रु नामक राजाका राज्य था जो महावीरके पिता राजा सिद्धार्थका मित्र और बहनोई था। इसकी कन्या यशोदाके साथ महावीरके विवाहकी बात चली थी किन्तु महावीरने आजन्म ब्रह्मचारी रहनेका ही दृढ़ निश्चय कर लिया था अतः वह विवाह न हो सका। जितशत्रु सम्भवतया किसी प्राचीन विद्याधर वंशसे सम्बन्धित था। उसके वंशजोंने नन्दकाल-पर्यन्त इस देशपर निर्बाध शासन किया प्रतीत होता है। महावीर निर्वाण संवत् १०३ (ई० पू० ४२४) में मगधनरेश नन्दिवर्धनने कलिंगपर आक्रमण किया और उस राज्यको अपने साम्राज्यका अंग बनाया। सम्भवतया वह स्वयं जैनी था अतः कलिंगकी राजधानीमें प्रतिष्ठित कलिंगजिनकी भव्य मूर्त्तिको अपने साथ लिवा लाने और अपनी राजधानी पाटलिपुत्रमें प्रतिष्ठित करनेका लोभ संवरण न कर सका। मगधनरेश महानन्दिनके उपरान्त ई० पू० ३६४ में जो राज्यक्रान्ति हुई उसका लाभ उठाकर कलिंग राज्य फिर स्वतन्त्र हो गया प्रतीत होता है। इस समय सम्भवतया कोई वंश-परिवर्तन भी हुआ, किन्तु यह नहीं

कहा जा सकता कि यह नवीन वंश प्राचीन राज्यवंशसे ही सम्बन्धित था अथवा कोई नवीन वंश था। यूनानी लेखकोंने भारतके पूर्वभागमें प्राचीके साथ-साथ गेंगराइडिस राज्यका जो उल्लेख किया है उससे कुछ विद्वानोंका अनुमान है कि वह तत्कालीन कलिंग राज्यका ही सूचक है और सम्भवतया वहाँ उस समय उन गंगलोगोंका राज्य था जिनके वंशजोंने कालान्तरमें कर्णाटकके गंगवाड़ि राज्यकी स्थापना की थी और कलिंग देशपर भी कई शताब्दियों पर्यन्त राज्य किया था। महापद्म आदि नवनन्दोंने कलिंगको नहीं छेड़ा। चन्द्रगुप्त मौर्यको भी उत्तरापथमे अपने साम्राज्यको सुव्यवस्थित करने और यूनानियोंसे लोहा लेते रहनेके कारण कलिंगकी ओर ध्यान देनेका अवकाश नहीं मिला। बिन्दुसारने भी कलिंग राज्यसे मित्रता ही रक्खी, किन्तु उसके पुत्र अशोकने चक्रवर्ती बननेकी लालसामें कलिंगपर आक्रमण किया। उस समय वह एक शक्तिशाली राज्य था, उसका साम्राज्य समुद्र-पार पूर्वी देशोंतक फैला था, सुदूर पूर्वमें उसके अनेक उपनिवेश भी रहे प्रतीत होते हैं और उसका व्यापार भी बढ़ा-चढ़ा था। ई० पू० २६१ के लगभग अपने राज्यके ८वें वर्षमें एक भारी सेना लेकर अशोकने कलिंगपर आक्रमण किया, भीषण युद्ध हुआ जिसमें लगभग डेढ़ लाख व्यक्ति बन्दी हुए, एक लाख मारे गये और उससे कई गुने युद्धके परिणामसे मर गये। इस भीषण नरसंहारने अशोकको विचलित कर दिया, उसकी मनोवृत्तिमें भारी परिवर्तन हुआ और वह आगेसे एक शान्तिप्रिय धर्मात्मा नरेश बना। किन्तु मगध साम्राज्यका विस्तार भी चरम सीमापर पहुँच गया। तथापि कलिंगके धन-जन एवं स्वातन्त्र्यकी असीम क्षति हुई इसमें सन्देह नहीं है।

तीसरी शताब्दी ई० पू० के अन्तके लगभग सम्राट् सम्प्रति मौर्यके शासनकालके अन्तिम वर्षोंमें कलिंग फिरसे स्वतन्त्र हो गया और वहाँ एक नवीन राज्यवंशका उदय हुआ। यह नवीन वंश भी जैनधर्मानुयायी था। प्राचीन राज्यवंशसे इसका कोई सम्बन्ध था या नहीं यह नहीं कहा जा

सकता। सम्भावना यही है कि यह कलिंगके किसी प्राचीन राज्यवंशकी ही शाखा थी। खारवेलके शिलालेखके अनुसार इस वंशका नाम ऐल था और यह चेदि या चैत्रवंशकी एक शाखा थी। तत्कालीन राजाका नाम सम्भवतया क्षेमराज था। कुछ विद्वानोंके अनुसार क्षेमराजका पुत्र वृद्धिराज था और उसका पुत्र भिक्षुराज खारवेल था, किन्तु कुछका मत है कि ये सब खारवेलकी ही अपनी उपाधियाँ थीं। जो भी हो इसमें सन्देह नहीं है कि खारवेलके पितामहने ही सम्प्रतिके समयमें इस राज्यवंशकी स्थापना की थी और कलिंगको स्वतन्त्र किया था। खारवेलके पिताकी मृत्यु अपने पिताके जीवनकालमें ही हो गई थी अतएव उक्त वृद्धिराजका उत्तराधिकारी उसका पोता खारवेल हुआ। कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन राजर्षि खारवेल का जन्म लगभग १६० ई० पू० में हुआ, १५ वर्षकी आयुमें (ई० पू० १७५ में) उसे युवराजपद प्राप्त हुआ और २४ वर्षकी आयुमें ई० पू० १६६ के लगभग उसका राज्याभिषेक हुआ। उसके उपरान्त कम-से-कम १३ वर्ष पर्यन्त उसने राज्य किया जिसका विशद वर्णन उसके स्वयंके शिलालेखमें प्राप्त है। उसके (ई० पू० १५२ के) उपरान्त वह कितने वर्ष जीवित रहा और उसने क्या-क्या किया इसके जानने का वर्तमानमें कोई साधन नहीं है। सम्राट् खारवेलका यह इतिहास-प्रसिद्ध शिलालेख उड़ीसा प्रदेशके पुरी जिलेमें स्थित भुवनेश्वरसे तीन मीलकी दूरीपर विद्यमान खण्डगिरि पर्वतके उत्तरी भागपर जो कि उदयगिरि कहलाता है बने हुए हाथीगुम्फा नामके एक विशाल एवं प्राचीन कृत्रिम गुफामन्दिरके मुख एवं छत पर उत्कीर्ण है। १७ पंक्तियोंका यह महत्त्वपूर्ण लेख ८४ वर्गफ़ीट क्षेत्रमें लिखा हुआ है। लेखकी भाषा अर्द्ध-मागधी तथा जैनप्राकृत मिश्रित अपभ्रंश है। लेखके साथमें मुकुट, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, अशोक वृक्ष आदि जैन सांस्कृतिक मंगल प्रतीक भी उकेरे हुए हैं। लेख—"अरहंतों एवं सर्व सिद्धोंको नमस्कार करके चैत्र-राज्यवंशकी प्रतिष्ठाके प्रसारक, प्रशस्त एवं शुभ लक्षणोंसे युक्त, चारों

दिशाओं (विश्व) के आधार स्तम्भ, अनेक गुणोंसे विभूषित कलिंगदेशके अधिपति ऐलवंशी (या आर्य) महाराज महामेघवाहन श्री खारवेल द्वारा यह लेख उत्कीर्ण कराया गया, जिन्होंने अपने कान्त प्रतापी पिङ्गलवर्ण किशोर शरीर द्वारा पन्द्रह वर्ष पर्यन्त कुमार-क्रीडाएँ कीं। तदनन्तर लेखन, मुद्रा या चित्रकला, गणित, व्यवहार धर्म, राजनीति और शासन-व्यवस्था आदि समस्त विद्याओंमें पारंगत होकर नौ वर्ष तक युवराज-पदसे शासन किया। उसकी आयुका २४वाँ वर्ष समाप्त होनेपर पूरे यौवनकालमें उस उत्तरोत्तर वृद्धिमान महान् विजेताका कलिंगके तृतीय राजवंशमें आजीवन के लिए महाराज्याभिषेक हुआ। अभिषेक होते ही अपने राज्यके प्रथम वर्षमें उसने आँधी-तूफ़ान आदि दैवी प्रकोपोंसे नष्ट हुए राजधानी कलिंग-नगरके गोपुर, प्राकार, प्रासादों आदिका जीर्णोद्धार कराया, शीतल जलके सरोवरों एवं झरनों आदिके बाँध बँधवाये और उद्यानोंका पुनः निर्माण कराया और अपने पैंतीस लाख प्रजाजनोंको रंजायमान किया—सुखी किया। द्वितीय वर्षमें शातकर्णि (दक्षिणापथका सातवाहन सम्राट् शातकर्णि प्रथम) की परवा न करके घुड़सवार, हाथी, पैदल और रथोंकी विशाल सेना पश्चिम दिशामें भेजी तथा काश्यप क्षत्रियोंकी सहायतार्थ मूषिकोंकी राजधानीका विध्वंस कराया। तीसरे वर्षमें इस गंधर्वविद्याविशारद नृपतिने नृत्य संगीत वादित्रके प्रदर्शनों तथा अनेक उत्सवों एवं समाजों (नाटक, खेल, आदि) के आयोजनों द्वारा अपने राज्यके नागरिकोंका मनोरञ्जन किया। चौथे वर्षमें उसने अपने पूर्ववर्ती कलिंग युवराजोंके निवासके लिए निर्मित उस विद्याधर-निवासमें जो इस समय भी अक्षुण्ण था (तनिक भी जीर्ण-शीर्ण नहीं हुआ था) निवास करते हुए उन रट्ठिक और भोजक राजाओंसे जिनके राजमुकुट और राजछत्र नष्ट कर दिये, रत्नोंकी भेंट लेकर अपने चरणोंमें नमस्कार कराया। पाँचवे वर्षमें राजा उस नहरको राजधानी (तोशलि या कलिंग नगर) तक लिवा लाया जिसे महावीर संवत् १०३ (ई० पू० ४२४) में नन्द राजाने सर्वप्रथम खुद-

वाया था। छठे वर्षमें उसने राजसूय यज्ञ किया, प्रजाजनोंके कर आदि माफ़ किये, दीन-दुखियोंपर कृपा दिखाई, उन्हें सन्तुष्ट सुखी किया और पौरजानपदों (जनतन्त्रात्मक संस्थाओं, नगरपालिकाओं, ग्रामपंचायतों, व्यावसायिक निगमों, श्रेणियों आदि) पर सैकड़ों हजारों विविध प्रकारके अनुग्रह किये। सातवें वर्षमें उसकी रानीने जो वंगदेशस्थ वज्रधर राज्यकी राजकुमारी थी एक पुत्र प्रसव किया। आठवें वर्षमें खारवेलने विशाल सेनाके साथ उत्तरापथको विजय-यात्रा की, मगधपर आक्रमण किया, गोरथगिरि (गया ज़िलेका बराबर पर्वत) पर भीषण युद्ध करके राजगृह-नरेशको त्रस्त किया और उसके भयसे यवनराज दिमित्र भी अपनी समस्त सेना, वाहनों आदिको यत्र-तत्र छोड़कर मथुरासे भाग गया। नौवें वर्षमें सबके लिए पुष्पित-पल्लवित कल्पवृक्ष समान उस राजाने याचकोंको चालकयुक्त घोड़े, हाथी, रथ, मकान, शरणालय आदि दान किये, ब्राह्मणोंको भरपेट भोजन कराया और अरहन्तोंकी पूजा की। उसने प्राचीन नदीके दोनों तटोंपर अड़तीस लाख मुद्रा व्यय करके महाविजयप्रासाद नामका सुन्दर एवं विशाल राजमहल बनवाया। दसवें वर्षमे अपनी सेनाओं को विजय-यात्राके लिए पुनः भारतवर्ष (उत्तरापथ) की ओर भेजा और फलस्वरूप उसके सब मनोरथ पूर्ण हुए। ग्यारहवें वर्षमें उसने दक्षिण-देशको विजय किया, पिथुंड नगर (पृथुदकदर्भपुरी) का ध्वंस किया और ११३ वर्ष पहलेसे संगठित चले आये तामिल राज्योंके संघको छिन्न-भिन्न किया। (पाठान्तर—श्री केतुभद्रकी उस १३०० वर्ष प्राचीन निम्बकाष्ठ निर्मित प्रतिमाका जुलूस निकाला जिसकी कि स्थापना पूर्ववर्ती राजाओंने पृथुदकदर्भनगरमे की थी तथा जो समस्त जनके लिए आह्लादकारी थी)। बारहवें वर्षमें उसने उत्तरापथके राजाओंमें अपने आक्रमणों द्वारा आतङ्क उत्पन्न किया, उन्हें अस्त-व्यस्त कर दिया, मगधकी जनतामें भारी भयका संचार किया, अपने हाथियोंको (पाटलिपुत्रके) गांगेय नामक राज-प्रासाद में प्रविष्ट किया और मगधराज बृहस्पतिमित्र (पुष्यमित्रशुङ्ग ?) से अपने

चरणोंमें प्रणाम करवाया। पूर्वकालमें नन्दराजा द्वारा अपहृत कलिंगजिन *या अग्र जिनकी प्रतिमाको तथा अंग-मगध* राज्योंके *बहुमूल्य* रत्नों एवं धन-सम्पत्तिको विजित सम्पत्तिके रूपमें अपने घर वापस लाया। उपायन तथा विजित धनके रूपमें प्राप्त सम्पत्तिसे उसने अपनी समृद्ध विजयके चिह्न स्वरूप ऐसे अनेक शिखर (मन्दिरोंपर) बनवाये जिनमें रत्नादि सैकड़ों बहुमूल्य पदार्थोंसे पच्चीकारी की गई थी। उसी वर्ष उसने सुदूर दक्षिणके पाण्ड्य राजासे अभूतपूर्व एवं आश्चर्यजनक जलपोतोंमें भरे हुए उपायन, घोड़े, हाथी, सेवक, मणि-माणिक्य-मुक्ता आदि कर अथवा भेंट रूपमें प्राप्त *किये। इस प्रकार यह महान् नरेश अपनी राजधानीमें निवास करता हुआ,* सर्व प्रजाजनों और अधीन राजाओंको वशीभूत करता हुआ और अपने विजय-चक्र द्वारा साम्राज्यका विस्तार करता हुआ निवास करता था। अन्तमें अपने राज्यके तेरहवें वर्षमें इस राजाने सुपर्वतविजय-चक्र (प्रान्त) में स्थित कुमारीपर्वत पर अपने राजभक्त प्रजाजनों द्वारा पूजे जानेके लिए उन अर्हन्तोंकी स्मृतिमें निषद्यकाएँ निर्माण कराईं जो निर्वाण लाभ कर चुके थे। तपस्वी मुनियोंके निवास करनेके लिए गुफाएँ बनवाईं, स्वयं उपासक (श्रावक) के व्रत ग्रहण किये और अर्हन्मन्दिरके निकट उसने एक सुन्दर विशाल सभामण्डप (अर्कासन गुफा) बनवाया जिसके मध्यमें एक बहुमूल्य रत्नजटित मानस्तम्भ स्थापित किया गया। उक्त सभामण्डपमें उसने उन समस्त श्रमणों (जैन मुनियों) का सम्मेलन किया जो चारों दिशाओंसे दूर-दूरसे उसमें सम्मिलित होने के लिए आये थे। इस मुनि-सम्मेलनमें राजाने भगवान्की दिव्य ध्वनिमें उच्चरित उस शान्तिदायी द्वादशांग श्रुतका पाठ कराया, जो कि महावीर संवत् १६५ (ई० पू० ३६२—भद्रबाहु श्रुत-केवलिके समय) से निरन्तर ह्रासको प्राप्त होती आ रही थी, (तथा उसके उद्धारका प्रयत्न किया) और इस प्रकार उस क्षेमराज, वृद्धिराज, भिक्षुराज (राजर्षि), धर्मराज नरेशने भगवान्की उक्त कल्याणकारी वाणीके सम्बन्धमें प्रश्न करते हुए, उसका श्रवण और चिन्तवन करते हुए समय बिताया।

विशिष्ट गुणोंके कारण दक्ष, समस्त धर्मोंका आदर करनेवाला, धर्म संस्थाओंका उद्धार, सुधार एवं संस्कार करनेवाला, अप्रतिहत–चक्रवाहन (जिसके रथ, ध्वजा, सेनाकी गतिको कोई नहीं रोक सका), साम्राज्यों का सतत विजयी एवं साम्राज्य-सञ्चालक और संरक्षक, राजर्षियोंके वंशमें उत्पन्न महाविजयी राजचक्री ऐसा राजा खारवेल श्री था।'

उपरोक्त शिलालेखका महत्त्व स्पष्ट है। समयकी दृष्टिसे सम्राट् प्रियदर्शीके अभिलेखोंके पश्चात् इसी शिलालेखका नम्बर आता है। ऐतिहासिक महत्त्वकी दृष्टिसे यह लेख प्राचीन भारतके समस्त उपलब्ध शिलालेखोंमें अधिक महत्त्वपूर्ण है। उस कालका यही एक-मात्र ऐसा लेख है जिसमें वंश, वर्ष, सख्या, तत्कालीन जनसंख्या, देश और जाति, पद-नाम इत्यादि अनेक बहुमूल्य ऐतिहासिक तथ्योंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। प्रो० राखालदास बनर्जीके मतसे यह लेख पौराणिक वंशावलियोंकी पुष्टि करता है और ऐतिहासिक काल-गणनाको ५वीं शती ई० पू० के मध्यके लगभग तक पहुँचा देता है। देशके लिए भारतवर्ष नामका सर्वप्रथम शिला-लेखीय उल्लेख इसीमें मिलता है। कलिंग देशकी तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दशा, राजाकी योग्यता, राजकुमारोंकी शिक्षा-दीक्षा और प्रजाके प्रति राजाके कर्त्तव्योंका यह सुन्दर दिग्दर्शन कराता है। बिहार और उड़ीसाके सम्बन्धकी ऐतिहासिकताको २००० वर्ष पूर्व तक ले जाता है। इसमें तो किसीको भी कोई सन्देह नहीं कि इस लेखको उत्कीर्ण करानेवाला नरेश जैन था, अतः जैनधर्मके तत्कालीन इतिहासके लिए भी यह लेख अमूल्य है। कई जैन अनुश्रुतियोंकी पुष्टि भी इस लेखसे होती है। भद्रबाहु श्रुतकेवलिके उपरान्त आगमज्ञानका ह्रास, खारवेल द्वारा उसके उद्धारका प्रयत्न, मुनि-सम्मेलन और सरस्वती आन्दोलनका प्रारम्भ इत्यादि तथ्योंका इस लेख द्वारा समर्थन होता है। साथ ही यह लेख खारवेलके जीवन, प्रताप, दिग्विजयों, चरित्र, लोकोपकार एवं लोक-रञ्जनके कार्य, प्रजावत्सलता, धार्मिकता एवं धर्म-कार्य इत्यादि विविध

कार्य-कलापोंका दर्पण है। खारवेलको वह न केवल अपने समयका ही आसमुद्रक्षितीश, महान् चक्रवर्ती सम्राट् सूचित करता है, वरन् सर्वकालीन महान् नरेशों एवं सम्राटोंमें उसकी गणना करा देता है। धर्म, व्यवहार, राजनीति, शासन विधि, युद्धविद्या, साहित्य, कला—इत्यादि एक महान् सम्राट्के योग्य समस्त अंगोंसे उसका व्यक्तित्व परिपुष्ट था और आश्चर्य है कि मात्र १३ वर्षके राज्यकालमें उसने यह सब सम्पादन कर लिया तथा कलिंग साम्राज्यको अपनी सर्वतोमुखी उन्नतिके परम शिखर पर पहुँचा दिया। उसके उपरान्त भी वह अवश्य ही कुछ समय तक जीवित रहा होगा किन्तु उसके शेष जीवनके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनेके कोई साधन अभी उपलब्ध नहीं हुए। उपरोक्त शिलालेखपर सन् १८२५ ई० में सर्व-प्रथम स्टर्लिंग नामक अंग्रेज विद्वान्की दृष्टि पड़ी थी और तबसे गत सवा-सौ वर्षोंमें अनेक पश्चिमी एवं भारतीय विद्वानोंने इसके सम्बन्धमें ऊहापोह की है। खारवेल द्वारा निर्मापित गुहामन्दिरोंके स्थापत्य और मूर्त्तिपटोंको भी कला-मर्मज्ञोंने सुन्दर और निराला अनुभव किया है।

खारवेलके उपरोक्त अभिलेखके अतिरिक्त उन्हीं शताब्दियोंके अन्य कई शिलालेख खण्डगिरि-उदयगिरिकी विभिन्न गुफाओंमें पाये गये हैं। एक लेख जो उदयगिरिकी स्वर्गपुरी या वैकुण्ठपुर गुफामें अंकित है, सूचित करता है कि अर्हत् प्रासादके निकट कलिंगके श्रमणोंके निवासके लिए कलिंगचक्रवर्ती श्री खारवेलकी अग्रमहिषीने जो राजन् ललाकहत्थिसिंहकी कन्या थी, यह लेण निर्मित कराई थी। मञ्चपुरी गुफाके निचले भागमें स्थित पातालपुरी नामक गुफाको महाराज ऐल महामेघवाहनके वंशज (सम्भवतया पुत्र) कलिंगाधिपति महाराज कुदेपश्रीने निर्मित कराया था। यमपुरी लेणके लेखसे ज्ञात होता है कि वह राजकुमार वडुखने निर्मित कराई थी, सम्भव है कि उसने स्वयं भी वहाँ धर्म साधन किया हो। व्याघ्र गुफाको नगरन्यायाधीश भूतिने निर्मित कराया था।

इस गुफाके निकट ही सर्पगुफामें कम्म, हलखिण और चूलकम्प नामक व्यक्तियोंके लेख हैं जिनसे विदित होता है कि गुफाके प्रासादको प्रथम दो ने और अंतर्गृहको तीसरे व्यक्तिने बनवाया था। जम्बेश्वर गुफामें महाबारिया और नाकियके नाम अंकित हैं। छोटी हाथी गुफा किसी आत्म-सुद्धि द्वारा प्रदत्त की गई थी। तत्त्वगुफा कुसुम नामके किसी राज्य-कर्मचारी (पादमूलिक) द्वारा निर्माण कराई गई थी। अनन्तगुफाका लेख भी उस श्रमणोंकी गुफा सूचित करता है। इन विभिन्न गुफा मन्दिरों, लेणों और शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि खारवेलके बाद भी कई शताब्दियों तक खण्डगिरि-उदयगिरिकी गुफाएँ जैनोंका पवित्र तीर्थ और जैन श्रमणोंका प्रिय आवास बनी रहीं तथा कलिंगके राजवंशमें, राज्य-कर्मचारियोंमें और जनसाधारणमें जैनधर्मकी प्रवृत्ति बनी रही। ऐसा प्रतीत होता है कि कम-से-कम प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध तक जबतक कि सातवाहन नरेशोंने कलिंग देशके बहुभागको विजय नहीं कर लिया, कलिंग देशपर खारवेलका वंश शान्तिके साथ शासन करता रहा, किन्तु अन्तरदेशीय राजनीतिमें वह नहीं उलझा।

प्रथम शताब्दी ई० पूर्वके पूर्वार्धमे (सन् ७४ ई० पू० के लगभग) खारवेलके एक वंशज, वक्रदेवके पुत्र महेन्द्रादित्य गन्धर्वसेन गर्द्दभिल्ल (या खरभिल्ल) ने मालवेके नवस्थापित गणराज्यका नायकत्व प्राप्त करके उज्जैनीमें गर्द्दभिल्ल वंशकी स्थापना की थी। गर्द्दभिल्लके अत्याचारों और अनाचारोंने उसे कालकाचार्यके प्रयत्नसे शकों द्वारा ई० पू० ६१ में राज्य-च्युत एवं देशसे निर्वासित कराया, किन्तु ई० पू० ५७ में उसके पराक्रमी पुत्र वीर विक्रमादित्यने शकोंको मार भगाया, मालवगणको स्वतन्त्र किया और दीर्घकालतक न्यायपूर्वक राज्य किया। अपने पूर्वजोंके धर्ममें विक्रमा-दित्यकी विशेष आस्था रही। एक सौ वर्ष पर्यन्त उज्जैनीपर गर्दभिल्ल वंशका राज्य रहा।

प्राचीन तामिल साहित्यसे विदित होता है कि कालान्तरमें खारवेलके

वंशजोंकी दो शाखाएँ हो गई, एक कपिलपुरमें और दूसरी सिंहपुरमें, और उनमें परस्पर आत्मविनाशी संघर्ष चला। सम्भवतया इसी गृह-फूटका लाभ उठाकर दक्षिणका सातवाहन-नरेश गौतमीपुत्र सातकर्णि (प्रथम शती ई० का उत्तरार्ध) कलिंग विजय करनेमें सफल हुआ। दूसरी शती ई० के अन्तमें आन्ध्र सातवाहनोंका पतन होनेपर अयोध्याके निवासी तथा इक्ष्वाकु वंशमें अपनेको उत्पन्न कहनेवाले श्रीवीरपुरुषदत्त नामक व्यक्तिने कलिंग राज्यको हस्तगत किया। गुप्त साम्राज्यमें भी कलिंगका कुछ भाग सम्मिलित रहा प्रतीत होता है। गंजम ज़िलेमें गुप्त संवत्का प्रयोग भी इसी बातका सूचक है। जैनधर्म तो कलिंगमें पहिलेसे ही प्रचलित था, २–३री शती ई०में बौद्धाचार्य नागार्जुन द्वारा बौद्ध मतका भी इस प्रदेशमें प्रसार शुरू हो गया। ब्राह्मण धर्म भी धीरे-धीरे प्रविष्ट हो गया था। अतः गुप्तकालसे ही इस देशमें उक्त तीनों धर्मोंकी प्रवृत्ति साथ-साथ पाई जाती है। समुद्रगुप्तके आक्रमणके फलस्वरूप कुछ कालके लिए कलिंग के कुछ भागपर वाराणसीसे भागे हुए शक-क्षत्रपोंका भी राज्य रहा प्रतीत होता है तथा उसी कालमें प्राचीन राज्य वंशके कुछ लोग सिंहल (लंका) में भी जा बसे।

५वीं–६ठी शती ई०में कलिंग देशमें चार राज-वंशोंका उदय हुआ प्रतीत होता है —(१) कर्णाटकके गंगवंशकी एक शाखाने कलिंग देशमें दन्तपुर या श्वेतकको अपनी राजधानी बनाकर पूर्वी-गंगवंशकी स्थापना की और अपना गंगसंवत् (प्रारम्भ ४९७ ई०) भी प्रचलित किया। उड़ीसा देशके दक्षिणी भाग (सम्भवतया गंजम ज़िले) पर इनका अधिकार था। इस वंशके इन्द्रवर्म प्रथम, हस्तिवर्म, इन्द्रवर्म द्वितीय, दानार्णव, इन्द्रवर्म तृतीय आदि राजाओंके अभिलेख गंग-संवत् २८ से १४४ पर्यन्त (५२५–६५१ ई० तक) के मिलते हैं। इन नरेशोंके मूल कर्णाटकी वंशका कुल-धर्म जैनधर्म था अतः ये भी उसीके अनुयायी अथवा कम-से-कम उसके उदार प्रश्रयदाता रहे प्रतीत होते हैं। ७वीं शतीके प्रारम्भ तक यह वंश

अवनत एवं गौण दशामें रहा। किन्तु वज्रहस्तदेव (१०३८-६८ ई०) ने इस वंशका पुनरुद्धार किया, कलिंगनगरको राजधानी बनाया और देशके बहुभागको विजय करके त्रिकलिंगाधिपतिकी उपाधि धारण की। उसके उत्तराधिकारी राजराजा, चोडगंग और नरसिंहदेवके समय यह वंश उन्नतिके शिखरपर था। तदुपरान्त फिर अवनत हुआ। अन्तिम राजाकी पुत्रीका विवाह एक नागवंशी सरदारके साथ होनेसे यह राज्य नागवंशके अधिकारमें चला गया, जो मुसलमानों और फिर मराठोंकी अधीनतामें रहता हुआ १८वीं शती तक चलता रहा।

(२) दूसरा वंश तोशलिके भौमकरोंका था। इस वंशका संस्थापक खारवेलके किसी सामन्तका वंशज रहा प्रतीत होता है। मौर्यकालीन प्राचीन महानगरी तोशलिको ही इस वंशने केन्द्र बनाया था। ३री शतीसे ५वीं–६ठी शती ई० पर्यन्त इस राज्यका अभ्युदय रहा। उसके उपरान्त इसका ह्रास हुआ और सम्भवतया गौण सामन्तों-जैसी अवस्था हो गई। वर्तमान कियोंझर राज्य प्रायः इसी प्रदेशमें है। इसका शासक भंजी वंश उड़ीसाके सर्वप्राचीन वंशोंमें समझा जाता है, सम्भव है कि वर्तमान भंजो राजे प्राचीन भौमकरोंके ही वंशज हों। इस राज्यके आनन्दपुर तालुकेमें उस नगरसे १० मील दूर वनमें पोडा सिंगडि और बदखिया नामकी प्राचीन बस्तियाँ हैं। उनके आस-पास वनों और पहाड़ियोंमें जैन तीर्थङ्करों एवं देवी-देवताओंकी अनगिनत प्राचीन खण्डित अखण्डित मूर्तियाँ,और विशाल मन्दिर, देवायतन, स्मारकों, सरोवरों आदिके खण्डहर हालमें ही दृष्टिगोचर हुए हैं। कुछ मूर्त्तियोंपर ब्राह्मी लिपिमें लेख भी उत्कीर्ण मिले हैं। अभिधानराजेन्द्रमें तोशलि जिलेमें स्थित जिस ऋषितड़ागका और उसपर आठ दिनके वार्षिक उत्सववाली प्राचीन अनुश्रुतिका वर्णन है वह यही स्थान प्रतीत होता है और इन अवशेषोंसे विदित होता है कि खारवेलके उपरान्त भी भौमकरों आदिके राज्यकालमें गुप्तकालके अन्ततक इस प्रदेश में जैनधर्म पूर्ववत् फलता-फूलता और राजमान्य बना रहा था। ऐसा प्रतीत

होता है कि ८वीं शताब्दीसे वाममार्ग, शैव और वैष्णव धर्मोंके बढ़ते हुए प्रभावने इस केन्द्रको धीरे-धीरे उजाड़ दिया।

(३) तीसरा वंश कोंगदका शैलोद्भव वंश था। इसका उद्गम महेन्द्र पर्वतसे बताया जाता है और अनुमान किया जाता है कि यह कोई पार्वतीय वंश था। कुछ विद्वानोंके मतसे इसका सम्बन्ध गंग-वंशसे ही था। इस वंशका संस्थापक पुलिन्दसेनका पुत्र शैलोद्भव था। उसके उपरान्त अरण-भीत, सैन्यभीत प्रथम, अयशभीत प्रथम, सैन्यभीत द्वितीय, अयशभीत माध्यमराज शशांकधवल, महाभीत धर्मराज, माध्यमराज द्वितीय, रणक्षोभ, अल्लपराज, माध्यमराज तृतीय आदि नरेशोंने ५वीं शतीके मध्यसे ८वीं शती पर्यन्त राज्य किया। प्रारम्भमें ये राजे गुप्तोंके अधीन रहे। हर्ष और शशांकके द्वन्दमें भी इस वंशने भाग लिया। ये राजे प्रायः शैव धर्मके अनुयायी थे।

(४) चौथा वंश सोमवंश था, इसका सम्बन्ध कलिंग देशके कोसल प्रान्तसे था। इसकी दो शाखाएँ थीं, एक पूर्ववर्ती और दूसरी उत्तरवर्ती। प्रथम शाखाने ४थी से ६ठी शती पर्यन्त राज्य किया। इस वंशके राजे बौद्धधर्मके प्रश्रयदाता रहे प्रतीत होते हैं। दूसरी शाखाका उदय ६ठी शताब्दीमें हुआ और उसके वंशजोंका राज्य १२वीं शताब्दी पर्यन्त चलता रहा। चीनी यात्री हुएगमांग (६२९-४३ ई०) ने भी कलिंगयात्रा की थी, कलिंगके उत्कल, कंगोद, कोसल, गंजम आदि भागोंका, देशकी सामाजिक एवं राजनैतिक दशाका तथा तत्कालीन कलिंग-नरेशका भी उसने वर्णन किया है। उस समय त्रिकलिंगाधिपति कौन था इस विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। किन्तु ऐसा लगता है कि हुएनसांगके समय कोसल और त्रिकलिंगका अधिपति कोई वह सोमवंशी राजा था जो भट्टाकलंकदेव सम्बन्धी जैन अनुश्रुतिका कलिंग-नरेश हिमशीतल है। यह गौड़के बौद्ध विद्वेषी शशांकका प्रतिद्वन्दी और कन्नौजके हर्षवर्धनका मित्र था, तथा

स्वयं भी महायानी बौद्ध सम्प्रदायका अनुयायी था। उसकी राजमहिषी जैनधर्मकी भक्त थी। एक समय वह उड़ीसाके हीरक तटपर स्थित अपनी उपराजधानी रत्नसञ्चयपुरमें निवास कर रहा था। कार्त्तिकी अष्टाह्निकका पर्व निकट था। रानीने उस अवसरपर जिनेन्द्रके रथोत्सव द्वारा पर्व मनानेका विचार किया किन्तु राजाके बौद्ध गुरु इसमें बाधक हुए। अन्ततः राजाने निर्णय दिया कि यदि जैनाचार्य बौद्ध विद्वानोंको शास्त्रार्थमें हरा देंगे तो जैन रथ निकलनेको अनुमति दे दी जायेगी। रानी तथा अन्य जैनी जन बड़े चिन्तित हुए। उनके सौभाग्यसे उसी समय नगरके बाहर उद्यानमें महाराष्ट्रके दिग्गज जैनाचार्य अकलंकदेव तभी आकर ठहरे थे। उन्होंने तुरन्त बौद्धोंकी चुनौती स्वीकार कर ली। ६ महीने तक विवाद हुआ। बौद्ध लोग तारादेवीकी सहायतासे शास्त्रार्थ कर रहे थे। अन्ततः अकलंकदेवने घटमें स्थापित ताराका विस्फोट करके बौद्धोंको पराजित किया। राजा बड़ा प्रभावित हुआ और उसने जैन-धर्म अंगीकार कर लिया तथा बौद्धोंको देशसे निष्कासित होकर सुदूर पूर्वके भारतीय राज्यों एवं उपनिवेशोंमें चला जाना पड़ा। हर्ष इस समाचारको सुनकर क्रुद्ध हुआ। वह दक्षिणके चालुक्योंपर भी विजय प्राप्त करना चाहता था अतः उसने कलिंगके मार्गसे ससैन्य प्रयाण किया। हिमशीतलके साथ घोर युद्ध हुआ जिसमें वह मारा गया। किन्तु उधर अकलंकदेवने चालुक्य राजधानी वातापीमें जाकर अपने भक्त चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य प्रथम साहस तुंग (६४३–८० ई०) को इस वादका समाचार सुनाया। अतः हर्षके आक्रमणकी सूचना पाते ही वह तुरन्त हिमशीतलकी सहायताको पहुँचा। हिमशीतलकी रक्षा तो वह न कर सका किन्तु हर्ष पराजित होकर वापस लौट गया और कोसल राज्यकी भी रक्षा हो गई। ये घटनाएं सन् ६४२–४४ ई० की हैं। उत्तरवर्ती सोमवंशी शनैः-शनैः शैव और वैष्णव धर्मके अनुयायी हो गये। किन्तु चीनी यात्रीके विवरणों तथा पुरातत्त्व, जैन अनुश्रुतियों आदि अन्य ऐतिह्य साधनोंसे पता

चलता है कि ८वीं शती ई० पर्यन्त सम्पूर्ण कलिंग देशमें जैनधर्म अच्छी अवस्थामें था।

(५) देशके इन विभिन्न राज्यों और राजवंशोंके अतिरिक्त विदर्भ-महाकोसलके कलचुरि और वेंगिके पूर्वी चालुक्य भी कलिंगकी राजनीतिमें ७वीं शती ई० से महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे थे। कालान्तरमें चोल सम्राटों ने भी कलिंग तक अपने साम्राज्यका विस्तार किया। मुसलमानी कालमें बंगालके शासक और दक्षिणके बहमनी नरेश इस देशपर छीना-झपटी करते रहे। मुग़लोंके साम्राज्यका वह एक सूबा ही बन गया। १८वीं शतीमें मराठोंने आक्रमण किया और नागपुरके राघोजी भोंसलेने वहाँ अपना राज्य जमाया।

धार्मिक दृष्टिसे जैसा कि वर्णन किया जा चुका है इस विशाल देशका राज्यधर्म एवं लोकधर्म प्रारम्भमें जैनधर्म था और महावीर कालसे लेकर २री शती ई० पर्यन्त वही रहा। उसके उपरान्त महायानी बौद्धधर्म तथा शैवधर्मका भी वहाँ प्रवेश हुआ। बौद्धधर्म वहाँ ३री से ८वीं शती पर्यन्त बना रहा। तदुपरान्त बौद्ध और शैवधर्मके विकृत रूप तन्त्रयान वाममार्ग आदिका भी यहाँ प्रचार हुआ। जैनधर्मका इस देशमें इस समय बहुत ह्रास हो चुका था। तथापि १२वीं शतीमें राजा उद्योतकेसरीके समय जैनाचार्यों और जैन केन्द्रोंके विद्यमान रहनेके प्रमाण यहाँके शिला-लेखोंमें मिलते हैं। १०वीं शतीमें वैष्णवधर्मका भी प्रवेश हुआ। १२वीं शतीमें भुवनेश्वर ज़िलेके पुरी स्थानमें जगन्नाथकी प्रतिष्ठा होनेके उपरान्त जगन्नाथकी उपासना ही इस प्रदेशका प्रधान धर्म हो गया। कोणार्कका सुप्रसिद्ध सूर्यमन्दिर सूर्योपासनाकी विद्यमानताको भी सूचित करता है। उड़ीसा गज़ेटियरके लेखक डब्ल्यू० एच० हन्टरके अनुसार इस देशके आदिम वासियोंका धर्म भी जैनधर्म ही था, यहाँके यवन राज्योंने भी इसी धर्मको अपनाया। १०–११वीं शतीके उपरान्त यहाँके जैनोंने द्रुत वेगसे

स्वधर्म छोड़ा। जो फिर भी अडिग रहे उनके वंशज सराकोंके रूपमें आज भी विद्यमान हैं।

महाकोसलके कलचुरि—कलिंग देशके पश्चिमी भाग (जो दक्षिण कोसल कहलाता था), विदर्भ (बरार) और मध्य प्रान्तके कुछ भागोंसे महाकोसल राज्यका निर्माण हुआ था। मगधके नन्द मौर्य आदि सम्राटोंके पश्चात् कलिंगचक्रवर्ती खारवेलका और फिर आन्ध्र सातवाहनोंका इस प्रदेशपर अधिकार रहा। तदुपरान्त वकाटकोंका राज्य हुआ जो ५वीं शती ई० पर्यन्त चला। वकाटकोंके सामन्तोंके रूपमें ही सम्भवतया कलचुरि वंशका, जिसे चेदि या हैहय वंश भी कहा गया है और जो सम्भव है चैत्रवंशी खारवेलके वंशजोंकी ही शाखा थी, तीसरी शती ई० में उदय हुआ था। गुप्तोंने वकाटकोंको समाप्त किया अतएव उनके समयमें महाकोसलके कलचुरि गुप्तोंके करद राजाओंके रूपमें चलते रहे। डाहडमण्डलमें त्रिपुरी इनकी प्रधान राजधानी थी। दक्षिण चेदि या दक्षिण कोसलके कलचुरियोंकी राजधानी रतनपुर (विलासपुर) थी। कलचुरियोंकी एक शाखा सरयूपारी नामसे भी प्रसिद्ध हुई जिसका राज गोंडा बहराइचमें था। कलचुरि वंश एक अत्यन्त प्रतिष्ठित वंश था। विभिन्न राजवंशोंके नरेश कलचुरियोंके साथ विवाह सम्बन्ध करनेमें गौरव मानते थे। कलचुरि या त्रैकुटक संवत् २४९ ई० में प्रारम्भ हुआ अतः यही तिथि कलचुरि वंशकी स्थापनाकी मानी जाती है। किन्तु कलचुरि वंशका उत्कर्षकाल ८वीं से १२वीं शती ई० पर्यन्त रहा। कलचुरि वंशमें ७वीं शतीका शंकरगण एक प्रसिद्ध राजा हुआ। ८वीं शतीमें लक्ष्मणराज राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीयका सामन्त था। उसके पुत्र कोक्कल प्रथम का विवाह चन्देल राजकुमारीके साथ हुआ था और इसी समयसे कलचुरियोंकी शक्ति अधिक बढ़ी। शंकरगण द्वितीय या शंकिल (८७८–९०० ई०) एक प्रतापी नरेश था, मुग्धतुङ्ग, प्रसिद्धधवल और रणविग्रह उसके विरुद थे, उसने कलिंग

कोसलके सोमवंशियोंको पराजित किया था। उसके बाद बालहर्ष और फिर युवराज केयूरवर्ष राजा हुआ। कविराज शेखरका विद्धशालभंजिका नाटक सर्व-प्रथम उसी राजाके दरबारमें खेला गया था। ९२५–९५० ई० तक इसने राज्य किया। यह नरेश भारी निर्माता और विजेता था। उसने रत्नपुर नगरका निर्माण करके उसे अपनी राजधानी बनाया था। इसकी पुत्री कुणालदेवी राष्ट्रकूट अमोघवर्ष तृतीय को विवाही थी। केयूरवर्षका उत्तराधिकारी लक्ष्मणराज द्वितीय था, इसका भी सोमवंशियोंसे द्वन्द्व रहा। इसकी पुत्री बोन्थादेवी चालुक्य विक्रमादित्यकी पत्नी और तैलप द्वितीय की माँ थी। तदुपरान्त शंकरगण, युवराज द्वितीय और कोक्कल द्वितीय क्रमशः राजा हुए। अन्तिम व्यक्ति इस वंशका ११वाँ राजा था, उसके समयमें मुञ्ज परमारने त्रिपुरीपर अधिकार कर लिया था। किन्तु उसका उत्तराधिकारी गांगेयदेव विक्रमादित्य (१०१५–४१ ई०) योग्य और महत्त्वाकांक्षी था। उसका पुत्र कर्णदेव (१०४१–७० ई०) और भी अधिक प्रतापी था, हूण राजकुमारी आवल्लदेवीसे उसने विवाह किया, अनेक युद्ध किये और विजय प्राप्त की। कलिंग कोसलके बहुभागको विजय करके उसने त्रिकलिंगाधिपतिकी उपाधि भी धारण की थी। उसका पुत्र यशःकर्ण (१०७१–११२५ ई०) और फिर जयकर्णदेव (११२५–५४ ई०) राजा हुए। १२वीं शतीके अन्तमें विजयसिंहदेव (११९५ ई०) इस वंशका अन्तिम महान् नरेश था। उसके उत्तराधिकारीके समयमें इस प्रदेशको मुसलमानोंने विजय कर लिया और कलचुरि वंशका अन्त हुआ।

कलचुरि वंशमें सामान्यतः शैवधर्मकी प्रवृत्ति थी किन्तु इस वंशके कई नरेश तथा राजवंशके अनेक स्त्री पुरुष, राज्य-कर्मचारी, सामन्त सरदार और उपराजे जैनधर्मके अनुयायी हुए। अन्य नरेश अजैन होते हुए भी जैनधर्मके प्रति सहिष्णु और उदार रहे और इस धर्मको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। प्रारम्भिक नरेशोंमें महाराज शंकरगणने वि० स० ६८० (६२३ ई०) में जैनतीर्थ कुल्पाक क्षेत्रकी स्थापना की थी और उसके

लिए बारह ग्राम प्रदान किये थे। कलचुरि-नरेश गयकर्णदेव (११२५-५४ ई०) भी जैनधर्मका आदर करता था उसके महासामन्ताधिपति गोल्हणदेव राठौरने जो जैनधर्मका अनुयायी था जबलपुरसे ४२ मील उत्तरमें स्थित बहुरीबंदके खनुवादेव नामक प्रसिद्ध जैनतीर्थकी जिनमूर्त्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी। विजयसिंहदेव कलचुरि (११९५ ई०) तो निश्चित रूपसे परम जैन था और उसके समयमें राज्य एवं प्रजाका प्रधान धर्म जैन ही था।

सम्पूर्ण महाकोसल देशमें प्राचीन जैन-मन्दिरों, मूर्त्तियों एवं अन्य धार्मिक कलाकृतियोंके अवशेष यत्र-तत्र सर्वत्र इतने बिखरे हुए मिलते हैं कि जिससे इस तथ्यमें सन्देह नहीं रहता कि पूर्व-मुस्लिम कालमें यह प्रदेश शताब्दियों पर्यन्त जैनधर्मका एक प्रमुख गढ़ रहा है। कलचुरियोंके शासन कालमें जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्यकलाका इस प्रदेशमें अभूतपूर्व विकास हुआ। कोई-कोई जैन कृतियाँ तो तत्कालीन सम्पूर्ण भारतीय कलाकी उत्कृष्टताका प्रतिनिधित्व करनेकी क्षमता रखती हैं। अनेक जैनतीर्थ एवं सांस्कृतिक केन्द्र इस प्रदेशमें स्थापित हुए : यथा कुल्पाक क्षेत्र, खनुवादेव, रामगिरि, अचलपुर, जोगीमारा, कुण्डलपुर, कारंजा, आरंग, इलौरा, धाराशिव आदि। कारंजा प्राचीन कालसे ही एक प्रसिद्ध दिगम्बर जैन केन्द्र रहता आया है। सुप्रसिद्ध महिम्नस्तोत्रके रचयिता जैन महाकवि पुष्पदन्त रोहराखेडके निवासी थे। रायपुर जिलेके आरंग स्थानमें एक प्राचीन जैन-मन्दिर है और उसके निर्माता तत्कालीन राजे राजर्षि तुल्य कहे जाते थे। डॉ० हीरालालका मत है कि ये राजे महामेघवाहन खारवेलके वंशज रहे प्रतीत होते हैं। सम्भव है कालान्तरमें ये कलचुरियोंके सामन्त-रूपमें रहे हों। महाकोसल-विदर्भका अचलपुर नगर भी प्राचीन जैन केन्द्र था। ७वीं शती ई० का एक जैन ताम्रपत्र यहाँसे प्राप्त हुआ है। ८५८ ई० में श्वेताम्बराचार्य जयसिंह सूरिने अपनी धर्मोपदेशमाला वृत्तिमें लिखा है कि 'इस अचलपुरमें दिगम्बर जैन आम्नायका भक्त अरिकेसरि नामक

राजा राज्य करता है जिसने अनेक महाप्रासाद निर्माण कराके उनमें तीर्थङ्कर प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा कराई है।' इसी नगरमें ९८७ ई० में जैन कवि धनपालने अपना 'धर्मपरीक्षा' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा था। १०८५ ई० में विदर्भनरेश ईल या ऐल जैनधर्मानुयायी था और आचार्य अभयदेव सूरिका शिष्य था। उपरोक्त धर्मोपदेशमाला (८३८ ई०) में ही यह भी लिखा है कि समयज्ञ नामक मुनि भृगुकच्छसे चलकर एलउर (इलौरा) नगर आये और वहाँकी दिगम्बर वसही (वसति या संस्थान) में ठहरे। इससे सूचित होता है कि ८-९वीं शतीमें भी इलौरा एक प्रसिद्ध दिगम्बर केन्द्र था और दूर-दूर तक इसकी प्रसिद्धि थी। १२वीं शतीमें और उसके बाद भी यात्रार्थ इस स्थानमें जैन गृहस्थों एवं साधुओंके आनेके उल्लेख मिलते हैं। इस प्रकार मुसलमानोंके शासनकाल पर्यन्त कलचुरि नरेशों और उनके अधीनस्थ राजाओं, सामन्त सरदारों आदि द्वारा पोषित जैनधर्म महाकोसल प्रदेशके विभिन्न भागोंमें फलता-फूलता भारतीय कला और संस्कृतिका संवर्धन करता रहा।

गुजरात—से आशय सुराष्ट्र-काठियावाड़से युक्त उस पश्चिमी समुद्रतटवर्ती सम्पूर्ण देशका है जिसकी उत्तरी सीमा सिन्धुप्रान्तको स्पर्श करती है, पूर्वी सीमा मेवाड़-राजस्थान और मालवाको तथा दक्षिणी महाराष्ट्र एवं कोंकणको। सुराष्ट्र या सौराष्ट्र, सौरमण्डल, लाट, कच्छ, काठियावाड़, गुर्जरदेश, गुजरात आदि नाम इस देशके विभिन्न भागों और कभी कभी पूरे देशके लिए प्रयुक्त हुए हैं। अति प्राचीन कालसे ही यह देश जैन संस्कृतिका एक प्रमुख केन्द्र रहता आया है।

प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवके प्रधान गणधर पुण्डरीकने इस प्रदेशके शत्रुञ्जय पर्वतसे निर्वाण लाभ किया बताया जाता है। तदनन्तर अन्य अनेक तीर्थङ्करोंने इस प्रदेशमें विहार किया। महाभारत-कालमें श्रीकृष्णके ताऊजात भाई २२वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमिका तो यह प्रान्त प्रधान विहारक्षेत्र था। स्वयं कृष्ण, बलराम आदि हरिवंशी यादवोंने शौरसेन देशके

शौरीपुरका परित्याग करके सौराष्ट्रके समुद्रतट पर द्वारका-जैसी मनोरम नगरीका निर्माण करके उसे अपनी राजधानी बनाया था। उसीके निकट जूनागढ़के राजा उग्रसेनकी कन्या राजुलदेवीके साथ नेमिकुमारका विवाह रचानेके लिए यादवोंकी बारात चढ़ी थी। किन्तु दीन पशुओंकी पुकार सुन, मुकुट और कङ्कणको तोड़कर धर्मवीर नेमिकुमार संसार, देह और भोगोंसे विरक्त हुए तथा निकटवर्ती ऊर्जयन्त अपरनाम गिरनार पर्वत पर जाकर तपस्यामें लीन हो गये। महासती राजुलने भी उन्हींका अनुकरण किया। इसी पर्वतपर नेमिनाथको केवलज्ञान प्राप्त हुआ और अन्तमें इसी पर्वतके शिखरसे उन्होंने निर्वाण लाभ किया।

सन् ई० के प्रारम्भसे लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व मध्य-एशियाके प्रसिद्ध प्रागैतिहासिक साम्राज्य बाबुलके अधिपति खिल्दियन वंशी सम्राट् नेबुचेड-नजरने इस गिरिराजकी वन्दना की थी और इसके प्रभु अरिष्टनेमिकी सेवामें बृहत् दान समर्पित किया था, जैसा कि इस स्थानसे प्राप्त उक्त नरेश की लेखांकित मुद्रासे प्रमाणित होता है। इस प्रकार तीर्थङ्कर महावीरसे ही नहीं, तीर्थङ्कर पार्श्वनाथसे पूर्व भी इस प्रदेशमें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमिकी उपासना, गिरनार पर्वतकी तीर्थ रूपमें मान्यता और जैनधर्मका प्रभाव विद्यमान थे। बौद्ध अनुश्रुतिके सोलह महाजनपदोंमें इस देशकी गणना नहीं है किन्तु जैन अनुश्रुतिके प्राचीन राज्यों एवं आर्य देशोंमें कच्छ नामसे इसकी गणना स्पष्ट मिलती है। चन्द्रगुप्त मौर्यने इस प्रदेशको विजय करके उसे अपने साम्राज्यमें मिला लिया था। उसने स्वयं गिरनारकी यात्रा की तथा उसकी तलहटीमें अपने कर्मचारी वैश्य पुष्यगुप्तकी देख-रेखमें एक विशाल एवं सुन्दर सरोवरका निर्माण कराया जो सुदर्शन झीलके नामसे विख्यात है। चन्द्रगुप्तने इसी सरोवरके निकट मुनियोंके निवासके लिए एक लेण भी बनवाई थी जो चन्द्रगुफाके नामसे प्रसिद्ध हुई। सम्भवतः इसी गुफामें उक्त सम्राट्ने स्वयं जैन मुनिके रूपमें कुछ दिन निवास किया था। उसके पौत्र अशोकने भी सुदर्शन झीलका अपने यवन कर्मचारी तुहशास्प

द्वारा जीर्णोद्धार कराया था। अशोकके पौत्र सम्प्रतिने भी इस प्रदेशके गिरनार, शत्रुञ्जय आदि जैन तीर्थोंकी वन्दना की और अनेक मन्दिरोंका निर्माण कराया। जूनागढ़के निकट ही सम्राट् प्रियदर्शीका एक प्रधान शिलालेख भी विद्यमान है जो अशोक या सम्प्रति, दोनोंमेंसे किसी एकका हो सकता है।

सन् ई० पू० ५७ में उज्जैनके वीर विक्रमादित्य द्वारा शक शाहियोंके मालवा देशसे निकाल बाहर किये जानेपर उनके एक सरदारने सौराष्ट्र देशपर अधिकार कर लिया और क्षहरात वंशकी स्थापना की। इस वंशमें भूमक, घटक, नहपान, उषवदात आदि प्रसिद्ध हुए, किन्तु इन शक-क्षहरातोंमें सर्वाधिक प्रसिद्ध नरेश नहपान (नरवाहन या नभोवाहन) था जिसका राज्य-काल २६—६६ ई० पाया जाता है। इसी समय गिरिनगरकी उपरोक्त चन्द्रगुफामें अंगपूर्वज्ञानके अन्तिम देशज्ञाता धरसेनाचार्य निवास करते थे, यहीं उन्होंने आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलिको उक्त आगमज्ञानका अध्ययन कराके उसे लिपिबद्ध करनेका आदेश दिया था। एक अनुश्रुतिके अनुसार स्वयं क्षहरातवंशी सम्राट् नहपान ही राज्यका त्याग करके जैन मुनि हो गया था और उपरोक्त जैनाचार्य भूतबलिसे अभिन्न था। क्षहरातों के उपरान्त शक जातिकी ही एक अन्य शाखा चष्टनवंशी महाक्षत्रपोंके रूपमें सौराष्ट्र देशकी अधिपति हुई। उज्जैनी विजयके उपलक्षमें इस भद्र-चष्टन वंशके संस्थापक महाक्षत्रप चष्टनने ही ७८ ई०में प्रचलित शक-संवत्की स्थापना की थी। इस वंशके नरेशोंमेंसे कई एक तथा राजवंशके स्त्री-पुरुषों तथा राजपुरुषोंमेंसे अनेक जैनधर्मके अनुयायी या पोषक रहे। इस वंशका सर्वमहान् और प्रतापी नरेश महाक्षत्रप रुद्रदामन था जिसने २री शती ई० के मध्यमें गिरिनगरकी उपरोक्त सुदर्शन झीलका पुनः जीर्णोद्धार कराया तथा वहाँ अपनी महत्त्वपूर्ण प्रशस्ति अंकित कराई थी। उसके पुत्र दामजदश्रीने उपरोक्त चन्द्रगुफामें एक शिलालेख अंकित कराया था जिससे उस नरेशके जैनी होनेमें कोई सन्देह नहीं है, साथ ही वह लेख आचार्य

धरसेनकी मृत्युकी स्मृतिको अमर बनाये रखनेके लिए अंकित कराया गया प्रतीत होता है। इसी वंशकी एक राजमहिषीकी नामांकित मुद्रा भी महावीरकी जन्मभूमि सुदूर वैशालीके खण्डहरोंमें मिली है जिससे विदित होता है कि वह रानी वहाँ तीर्थ-यात्रार्थ गई होगी। इस प्रदेशपर शक-क्षत्रपोंका राज्य ४थी शती ई० के अन्त तक चलता रहा। ४थी शताब्दी ई० के अन्तमें गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यने वकाटकोंकी सहायतासे शकोंकी राज्यशक्तिका उन्मूलन किया और यह देश गुप्त साम्राज्यका अंग बन गया। सन् ३००–३१३ ई० में आर्य स्कदिलकी अध्यक्षतामें मथुरामें श्वेताम्बर साधुओंका एक सम्मेलन हुआ था, प्रायः उसी समय नागार्जुन सूरिने वल्लभीमें एक वैसा ही सम्मेलन बुलाया था और उसमें आगमोंके संकलनकी चर्चा उठाई थी। इससे विदित होता है कि ३री शतीके अन्त या ४थी के प्रारम्भके लगभग ही सौराष्ट्र और विशेषकर उसकी राजधानी वल्लभी श्वेताम्बर सम्प्रदायका केन्द्र बन गयी थी। गुप्तोंके कालमें यह प्रदेश साम्राज्यकी एक भुक्ति था और सम्राट् स्कन्दगुप्तने पर्णदत्तको इस भुक्तिका प्रान्तीय शासक नियुक्त किया था। इस पर्णदत्तके पुत्र चक्रपालितने जो गिरिनगरका कोटपाल था, सुदर्शन झीलका पुनः जीर्णोद्धार कराया और स्कन्दगुप्तके नामसे वहाँ एक शिला-लेख भी अंकित कराया था।

गुप्तकालमें ही गुजरातमें मैत्रक वंशका उदय हुआ। वल्लभीको इस वंशने अपनी राजधानी बनाया। कुमारगुप्त प्रथमके समयमें ही इस वंशकी स्थापना हो गई प्रतीत होती है और गुप्त सम्राटोंके करद राजाओं या सामन्तोंके रूपमें ही इस वंशका प्रारम्भ हुआ। यही कारण है कि इस वंशके नरेशोंके समस्त अभिलेख गुप्त संवत्में ही मिलते हैं। मैत्रक राजाओंके द्वारा प्रयुक्त होनेके कारण उसे वल्लभी संवत् भी कहते हैं। गुप्त नरेशोंकी ओरसे सौराष्ट्रका राज्यपाल मैत्रकवंशी सेनापति भटार्क (लगभग ४६५–७५ ई०) था। यही उस वंशका संस्थापक प्रतीत

होता है। उसके उपरान्त उसके तीन पुत्रों—धरसेन प्रथम, द्रोणसिंह और ध्रुवसेन प्रथम (५२५–५४५ ई०) ने क्रमश: राज्य किया। ये प्रारम्भिक मैत्रक-राजे जैनधर्मानुयायी तथा आचार्य देवर्षिगणीके भक्त रहे प्रतीत होते हैं। महावीर सं० ९८० या ९९३ (४५३ ई०, मतान्तरसे ४६६ ई०) में उनकी राजधानी वल्लभी नगरीमें ही देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणकी अध्यक्षतामें श्वेताम्बर जैन साधुओंका एक महान् सम्मेलन हुआ। यह वल्लभीका दूसरा जैन सम्मेलन था और इसीमें अन्ततः श्वेताम्बर परम्परामें मान्य एवं उसके द्वारा सुरक्षित जैन आगम सूत्र संकलित एवं लिपिबद्ध कर डाले गये। दिगम्बर परम्पराके आगम इसके लगभग ४०० वर्ष पूर्व ही संकलित एवं लिपिबद्ध हो चुके थे। श्वेताम्बर आगमोंके इस संकलनने जहाँ दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेदको सदाके लिए पुष्ट और स्थायी कर दिया वहाँ श्वेताम्बर परम्पराके साधुओंको साहित्यिक सृजनके लिए अभूतपूर्व प्रेरणा एवं प्रोत्साहन दिया, और इसी समयसे वस्तुतः श्वेताम्बर पुस्तक साहित्यके प्रणयनका प्रारम्भ हुआ। मैत्रक-नरेश गुहसेनके अभिलेखोंमें ही सब प्रथम अपभ्रंश भाषाका उल्लेख है। ये वल्लभी-नरेश प्राकृत अपभ्रंशोंके पोषक और विद्वानोंके आश्रयदाता थे। सन् ५९५–६१५ ई० में वल्लभी-नरेश शिलादित्य प्रथम अथवा धर्मादित्य प्रथम बड़ा प्रतापी था। यह राजा धरसेन द्वितीयका पुत्र और उत्तराधिकारी था। ६ठी शतीमें गुप्तोंके पतन से लाभ उठाकर मैत्रक-नरेश स्वतन्त्र हो गये थे और उन्होंने शकों एवं हूणोंको नष्ट करनेमें पर्याप्त योग दिया था। शिलादित्यके समयमें वल्लभी में प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण हुए जिन्होंने विशेषावश्यकभाष्य, विशेषणवती तथा गणित-विषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की थी। सन् ६०९ ई० में समाप्त होनेवाले अपने आवश्यकभाष्यके अन्तमें उन्होंने अपने आश्रयदाता शिलादित्यका भी उल्लेख किया है। यह राजा बौद्धोंका भी समान रूपसे आदर करता था। चीनी यात्री हुएनसांगने भी उसका उल्लेख किया है। बौद्धग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्पमें इस राजाके राज्यका

विस्तार उज्जैनीसे लेकर समुद्रतटवर्ती लाट देश पर्यन्त बताया है। शिलादित्यका भतीजा ध्रुवभट्ट या ध्रुवसेन द्वितीय था जिसे हर्षवर्धनने युद्धमें पराजित किया किन्तु अपनी पुत्रीका विवाह उसके साथ करके उसने मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। सम्भवतया हर्षका जामाता होनेके कारण ही यह राजा महायानी बौद्धधर्मका भक्त हुआ। हर्षकी मृत्युके बाद वह स्वतन्त्र हो गया। उसका पुत्र धरसेन चतुर्थ भी महायानी बौद्ध था, उसने अपने लिए चक्रवर्ती शब्दका भी प्रयोग किया है जिससे सूचित होता है कि उसने विजयों-द्वारा अपने राज्यका विस्तार भी किया था। ६९५ ई० के लगभग भारतमें आनेवाला चीना यात्री इत्सिंग लिखता है कि वल्लभी नालन्दाकी भाँति ही बौद्ध धर्मका प्रमुख ज्ञान-केन्द्र था। इस शताब्दीमें गुणमति, स्थिरमति, जयसेन आदि वल्लभीके प्रमुख बौद्धाचार्य थे। बौद्धों के इस उत्कर्षने वल्लभीमें जैनधर्मको सौ-डेढ़ सौ वर्षके लिए गौणता प्रदान कर दी प्रतीत होती है। ७१५–४३ ई० के बीच अरब सरदार हाशमके सेनानी जुनैदने वल्लभीपर आक्रमण करके उसे लूटा था। मैत्रकवंश अब अवनत हो चुका था और शिलादित्य सप्तम (७६६ ई०) सम्भवतः इस वंशका अन्तिम राजा था।

८वीं शतीके उत्तरार्धमें गुजरात देश सौराष्ट्रके सैन्धव, भड़ौचके गुर्जर, लाटके चालुक्य, सौरमण्डलके वराह, अन्हिलवाड़ेके चावड़े (चापोत्कट) आदि अनेक छोटे-छोटे राज्योंमें बँटा हुआ था। जैनाचार्य जिनसेनके हरिवंश (७८३ ई०) के अनुसार इन सबमें सौरमण्डलके वराह प्रमुख थे और वहाँ महावराहका पुत्र या पौत्र जयवीर वराह राज्य कर रहा था। किन्तु इसी समय भिन्नमालके गुर्जर-प्रतिहार और दक्षिणके राष्ट्रकूट दोनों ही गुजरातको हस्तगत करनेके लिए उतावले हो रहे थे। प्रतिहार वत्सराजने उसे विजय भी कर लिया किन्तु राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीयने सन् ८०० ई० के लगभग उसे गुर्जरोंसे छीनकर अपने राज्यमें मिला लिया और अपने भाई इन्द्रको गुजरातका प्रान्तीय

शासक बना दिया। राष्ट्रकूटोंकी इस गुजराती शाखामें इन्द्रके उपरान्त कर्क सुवर्णवर्ष, ध्रुव धारावर्ष, कृष्ण अकालवर्ष, ध्रुव द्वितीय, दन्तिवर्मन और कृष्णराज, क्रमशः राजा हुए। गुजरातके ये राष्ट्रकूट नामके लिए अपने मूलवंश मान्यखेटके राष्ट्रकूट सम्राटोंके प्रतिनिधि एवं सामन्त थे, वस्तुतः वे प्रायः स्वतन्त्र शासक थे। राष्ट्रकूटोंकी विजयके उपरान्त गुजरातसे बौद्धधर्म शीघ्र ही विलीन हो गया और जैनधर्म फिरसे उन्नत दशामें हो गया। मान्यखेटके राष्ट्रकूट सम्राट् स्वयं जैनधर्मके प्रति बड़े उदार थे, विशेषकर सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम। उसका चचेरा भाई कर्क सुवर्णवर्ष भी, जो उसकी ओरसे गुजरातका प्रान्तीय शासक था, जैनधर्मका भक्त था। उसके समयमें नवसारिका (नवसारी) नामक स्थानमें एक जैनविद्यापीठ की स्थापना हुई थी। दिगम्बराचार्य परवादिमल्लके प्रशिष्य इस ज्ञान केन्द्रके अध्यक्ष थे, और कर्कराजके गुरु थे। सन् ८२१ ई० के सूरत ताम्रशासन पत्रसे विदित होता है कि उक्त कर्कराजने नवसारीके इस दिगम्बर जैन विद्यापीठके लिए उक्त दिगम्बराचार्यको भूमि आदिका प्रभूत दान दिया था। उस समय राष्ट्रकूट-सम्राट् अमोघवर्ष अल्पवयस्क था। अतः कर्कराज ही उसका अभिभावक, संरक्षक और इस प्रकार विशाल राष्ट्रकूट साम्राज्य का वास्तविक शासक था। इस कालमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय गुजरातमें साथ-साथ फल-फूल रहे थे। कर्कके उत्तराधिकारी भी जैनधर्मके प्रति उदार और सहिष्णु रहे। १०वीं शतीके प्रारम्भमें इस वंश का अन्त हुआ।

राष्ट्रकूटोंकी गुजरात-विजयके पूर्व ही और अन्तिम मैत्रक-नरेशके शासनकालमें ही सुराष्ट्रमें एक अन्य राजवंशका उदय हो गया था, जो चूडासमास, चाप, चापोत्कट या चावडा वंश कहलाता है। सन् ७४५ ई० में जयशेखर चापोत्कटके पुत्र वनराजने इस वंशकी स्थापना की थी। अपने गुरु श्वेताम्बराचार्य शीलगुण सूरिके उपदेश, आशीर्वाद और सहायतासे वनराज राज्य स्थापित करनेमें समर्थ हुआ। उसने वल्लभी और

उसके मैत्रकोंका अन्त किया और अन्हिलपाटन नामक नवीन नगर बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया। इस वंशके समयमें जैनधर्म ही प्रायः राजधर्म रहा यद्यपि शैव और शाक्तधर्म भी राज्यमान्य बने रहे। राज्यके अधिकांश प्रभावशाली वर्ग, धनिक महाजन, राजमन्त्री आदि जैन थे। वनराजका प्रधान मन्त्री चम्पा नामक जैन वणिक् था जिसने चम्पानेर नगर बसाया। निन्नय नामक एक धनवान जैन श्रेष्टिने जिसे वनराज पिता तुल्य मानता था, अन्हिलवाडेमें ऋषभदेवका मन्दिर बनवाया। निन्नयका पुत्र लहीर वनराजका सेनापति था। गुरुदक्षिणाके रूपमें वनराज शीलगुण सूरिको अपना राज्य समर्पित करना चाहता था किन्तु उन्होंने उसके बदलेमें उससे एक मन्दिर बनवानेके लिए कहा, अतः राजाने राजधानीमें पञ्चासर पार्श्वनाथ नामका प्रसिद्ध जिनालय बनवाया। इस जिनालयमें पार्श्व प्रतिमा पञ्चासरसे लाकर स्थापित की गई थी। वनराजने और भी कई जिन-मन्दिर बनवाये। उसके बाद योगराज, रत्नादित्य, क्षेमराज, आकडदेव और भूयडदेव या सामन्तसिंह नामके राजा इस वंशमें क्रमशः हुए। ९७४ ई० में मूलराज सोलङ्कीने इस वंशका अन्त किया। वर्धमान नगरमें भी चापवंशकी एक शाखाका राज्य था जिसमें विक्रमार्क, अड्डक, पुलकेशी, ध्रुवभट्ट और धरणीवराह नामके राजे हुए। ये भी जैन धर्मके पोषक थे। गिरनार-जूनागढ़के चूड़ासमास १०वीं से १६वीं शती तक वहाँ राज्य करते रहे। सोमनाथके मूल निर्माता इसी वंशके प्रारम्भिक नरेश थे। ये जैन धर्मके प्रति भी सहिष्णु रहे।

गुजरात-अन्हिलपाटनका सोलङ्कीवंश दक्षिणके प्राचीन चालुक्यवंशकी एक शाखा थी। सौराष्ट्र, मत्तमयूर और लाटमें भी चालुक्योंके छोटे-छोटे वंश स्थापित थे। किन्तु गुजरातके इतिहासमें अन्हिलवाड़ेके चालुक्यों अपरनाम सोलङ्कियोंका स्थान ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इनके शासन-कालमें ही यह देश उन्नतिके चरम शिखरपर पहुँचा और एक विशाल शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करनेमें समर्थ हुआ। सन् ९४१–४२ ई०

में मूलराज सोलङ्कीने इस वंशकी स्थापना की और ९७४ ई० के लगभग वह सम्पूर्ण गुजरात देशका प्रायः एकाधिपति हो गया। अन्हिलपाटनको ही उसने अपनी राजधानी बनाया। चौहान-नरेश विग्रहराज द्वितीयके साथ युद्धमें ९९४ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। उसके पुत्र चामुण्डराज (९९५–१०१० ई०) ने धारके सिन्धुराज परमारको पराजित किया। उसका पुत्र दुर्लभराज था जिसका पुत्र भीमदेव प्रथम (१०१०–६२ ई०) था। इसके समयमें महमूद ग़जनवीने सोमनाथका विध्वंस किया। भीमने मन्दिरको पुनः बनवाया। भोज परमारका वह शत्रु था। भीमदेवके समयमें ही श्रीमालवंशी पोरवाड विमलशाह अन्हिलवाड़ेका प्रथम नगरसेठ बनाया गया। आबूका विश्वविख्यात कलाधाम आदिनाथका मन्दिर इसी विमलशाहने सन् १०३२ ई०में विपुल द्रव्य व्यय करके निर्माण कराया था। विमल-शाह मात्र एक धनी बनिया और धर्मात्मा जैनो श्रावक ही नहीं था वह राजाका एक प्रमुख मन्त्री भी था और साथ ही ऐसा प्रचण्ड सेनानायक था कि उसने गुजराजकी सेनाको सिन्धु नदीके नीरमें तैराकर ग़ज़नीकी भी सीमाको पददलित किया था। भीमका पुत्र उदयवराह कर्ण (१०६३–९३ ई०) था जिसका प्रधान मन्त्री मुञ्जाल नामक जैनी था। कर्णका पुत्र और उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध जयसिंह सिद्धराज (१०९४–११४३ ई०) था। वह बड़ा शक्तिशाली धर्मात्मा एवं दानी नरेश था। वह सर्वधर्मसहिष्णु था, महादेवका उपासक था तो महावीरका भी भक्त था। उसने रुद्रमाल शिवालय बनवाया तो महावीर जिनालय भी बनवाया, सोमनाथका वह रक्षक था तो शत्रुञ्जय तीर्थकी यात्रा करके वहाँके आदिनाथको भी उसने १२ ग्राम भेंट किये। वह मन्त्र-शास्त्रका भी ज्ञाता था और सिद्ध चक्रवर्ती कहलाता था। उसने अपना संवत् भी चलाया। रायविहार नामक आदिनाथका सुन्दर जिनालय और गिरनार पर्वतपर नेमिनाथके मुख्य मन्दिरको बनवानेका श्रेय भी इसी

राजाको है। मुञ्जाल, शान्तनु, उदयन, आलिग, पृथ्वीपाल आदि उसके अनेक राजमन्त्री जैनी थे। पृथ्वीपालने आबूके एक मन्दिरमें अपने सात पूर्वजोंकी हाथीनशीन मूर्तियाँ बनवाई थीं। राजा जयसिंहने १२ वर्ष तक मालवाके परमारोंके साथ युद्ध करके विजय प्राप्त की और वह अवन्तिनाथ कहलाया। उसने बर्बरोंका दमन किया और महोबेके चन्देलोंको सन्धि करनेपर विवश किया। उसकी नीति प्रधानतया आक्रमणात्मक थी और उसके समयमें गुर्जर साम्राज्यकी अभूतपूर्व उन्नति एवं विस्तार हुआ। उसके प्रसिद्ध मन्त्री उदयनने सोरठके दुर्द्धर राजा खेंगारको पराजित करके सिद्धराजको चक्रवर्ती पद दिलाया था और इसी उदयनने कर्णावती (अहमदाबाद) में एक जिनालय निर्माण कराकर उसमें ७२ बहुमूल्य देव-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराई थीं। उदयनके पुत्र आहड, बाहड, अम्बड, सोल्ला आदि भी विचक्षण राजमन्त्री और प्रचण्ड सेनानायक थे। स्वयं महाराज जयसिंह ज्ञान और कलाका बड़ा प्रेमी था और विद्वानोंका भारी आदर करता था। भोजकी उज्जैनीकी भाँति ही उसने अन्हिलपाटनको ज्ञानका अनुपम केन्द्र बनानेका निश्चय किया और वहाँ एक विशाल विद्यापीठकी स्थापना की। सुप्रसिद्ध दिग्गज जैनाचार्य हेमचन्द्रको उसने अपने आश्रयमें होनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियोंके नेतृत्वका भार सौंपा। लगभग २० नवीन ग्रन्थोंका निर्माण हुआ, स्वयं हेमचन्द्रने द्व्याश्रयकाव्य और सिद्धहेम व्याकरण की रचना की, उनके शिष्य रामचन्द्रने अनेक नाटक रचे, कक्कल कायस्थ व्याकरणके आचार्य नियुक्त हुए, वाग्भट्टने अलंकार ग्रन्थकी रचना की, तथा गुणचन्द्र, महेन्द्रसूरि, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, वर्धमानगणि, यशश्चन्द्र, बालचन्द्र, आनन्दसूरि, अमरचन्द्र आदि अनेक जैन विद्वानों एवं साधुओंने राजासे सम्मान प्राप्त किया। राजाको दार्शनिक शास्त्रार्थ सुननेका भी शौक था, स्याद्वादरत्नाकरके कर्त्ता श्वेताम्बराचार्य देवसूरिके साथ उसने अपनी राजसभामें ही कल्याणमन्दिरस्तोत्रके रचयिता कर्णाटकके दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्रका महत्त्वपूर्ण वाद कराया था। चालुक्य-चक्रवर्ती सिद्धराज

जयसिंहका शासनकाल गुजरातके इतिहासका स्वर्णयुग था।

जयसिंहके कोई पुत्र नहीं था, केवल एक कन्या काञ्चनदेवी थी जो अजमेर (सपादलक्ष) के चौहान-नरेश अर्णोराजसे विवाही थी। इनका पुत्र सोमेश्वर उपनाम चाहड था जिसे जयसिंहने अपनी मृत्युके समय अपना दत्तकपुत्र एवं उत्तराधिकारी घोषित किया। किन्तु राजमंत्रियोंने भीमदेवकी उपपत्नीसे उत्पन्न क्षेमराजके प्रपौत्र कुमारपालको ही सिंहासनपर बैठाया और सम्भवतया उन्होंने इसमें बुद्धिमानीसे ही काम लिया। कई सामन्त सरदार, आचार्य हेमचन्द्र और राजपुरोहित देवश्री भी कुमारपालके ही समर्थक थे। कुमारपालने अपने तीस वर्ष (११४३–११७३ ई०) के राज्यकालमें गुर्जर साम्राज्यकी न केवल उसके विभिन्न आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओंसे रक्षा की वरन् उसकी सर्वतोमुखी उन्नति एवं अभिवृद्धि भी की। उसके समयमें गुर्जर साम्राज्य उन्नतिके चरम शिखरको पहुँच गया था, उसमें १८ देश सम्मिलित थे और उसकी सीमाएँ उत्तरमें तुरुष्क देश, पूर्वमें गंगा तट, दक्षिणमें विन्ध्याचल और पश्चिममें समुद्र तट पर्यन्त थीं। उसके राज्यकालमें देशने अभूतपूर्व समृद्धि एवं प्रजाने अद्वितीय शान्ति और सुखका उपभोग किया, लक्ष्मीके समान प्रकृति भी देशपर प्रसन्न थी, पूरे राजकालमें स्वचक्र या परचक्रका न कोई उपद्रव हुआ न कोई दुर्भिक्ष पड़ा। ज्ञान-विज्ञान और कलाकी महती अभिवृद्धि हुई और धार्मिकताके प्रवाहमें राजा व जनताने सुखपूर्वक निमज्जन किया। यह राजा निर्विवाद रूपसे जैनधर्मका कट्टर अनुयायी था और इस बातमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि इस चालुक्य चक्रवर्ती कुमारपाल सोलङ्कीके समयमें गुर्जर साम्राज्य भारतवर्षका सर्वाधिक समृद्ध, शक्तिशाली, उदार एवं सुसंस्कृत साम्राज्य था। राजाके प्रिय गुरु सुप्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्य स्वयं थे। उन्हींके पथ-प्रदर्शनमें उसने राज्य सञ्चालन किया, उसके मंत्री, सेनानायक एवं अन्य उच्च पदस्थ कर्मचारी भी अधिकांशतः जैन थे और सब ही कुशल सुयोग्य एवं विश्वस्त थे। थोड़े ही समयमें उसने बाह्य एवं

अभ्यन्तर शत्रुओंका दमन कर अपनी स्थिति सुरक्षित एवं सुदृढ़ कर ली और शासन-व्यवस्था सुचारु कर दी। तदनन्तर शेष १५-२० वर्ष उसने कला, ज्ञान और धर्मकी सेवा-साधनामें व्यतीत किये। श्रावकके व्रत धारण करके परम आर्हत विरुद प्राप्त किया, राज्यमें पशुहिंसा, बलि, शिकार, मद्यपान, जुआ आदिका निषेध किया, मृत्यु-दण्ड बन्द किया, युद्धोंसे विराम लिया, राज्य भरमें अमारि घोषणा करवा दी, दीन-दुखियोंका पालन किया, निस्सन्तान विधवाओंके स्वत्वकी रक्षा की, चतुर्विध संघके साथ शत्रुञ्जय, गिरनार तथा अन्य तीर्थ क्षेत्रोंकी यात्रा की, सोमनाथके मन्दिरको भी विस्मरण नहीं किया। यह राजा भारी निर्माता भी था, कहा जाता है कि उसने १४४० नवीन मन्दिर बनवाये और १६०० का जीर्णोद्धार कराया, स्वयं राजधानीमें अनेक सुन्दर जिनालय निर्माण कराये। प्रारम्भमें वह निरक्षर था किन्तु राजा होनेके उपरान्त सत्संगसे शीघ्र ही उसने लिखना-पढ़ना सीख लिया, विद्वानोंकी संगति एवं वाद-विवादमें उसे आनन्द आता था; कवि, पण्डित, चारण, जैनाजैन विद्वान्, साधु तपस्वी सभी उसके राज्य और दरबारकी शोभा बढ़ाते थे। राजा पूर्ण चारित्रवान् और एकपत्नीव्रत का पालक था, ब्राह्मण विद्वानों और कवियोंने भी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वास्तवमें कुमारपाल एक आदर्श नरेश था। ११७२ ई० मे हेमचन्द्रकी मृत्यु हुई, गुरु-वियोगसे सन्तप्त राजा कुमारपाल भी ६ मास पश्चात् ११७३ ई० में मर गया।

कुमारपालके कोई पुत्र नहीं था, उसका दौहित्र प्रतापमल्ल उसका उत्तराधिकारी था, किन्तु उसके भतीजे अजयपालने चालाकीसे सिंहासन हस्तगत कर लिया। वह शैवधर्मका अनुयायी था और बड़ा असहिष्णु था, उसने पुराने मन्त्रियों और सरदारोंको अपमानित किया, उन्हे नष्ट किया। जैन विद्वानों और साधुओंपर भी घोर अत्याचार किये, उनकी हत्या करवाई और मन्दिरोंको भी नष्ट करवाया, उसके जैन मन्त्री यशःपाल, आभड़ आदि भी उसकी मति फेरनेमें समर्थ न हुए। सन् ११७७ ई० में एक

द्वारपालने पीठमें छुरा भोंककर अजयपालकी हत्या कर दी। उसके पश्चात् भीम द्वितीय गद्दीपर बैठा, वह बालक ही था किन्तु उसका संरक्षक और सेनापति सज्जन नामक जैनी था। सज्जन अपने धर्मका भी पक्का था और युद्ध करनेमें भी प्रचण्ड था। आबूकी तलहटीमें उसने शहाबुद्दीन ग़ोरीको करारी हार दी थी। ११९५ ई०में कुतुबुद्दीन ऐबकको भी भीम द्वितीय ने हराया, किन्तु ११९७ ई० मे वह स्वयं पराजित हुआ और ऐबककी अधीनता स्वीकार की। उसके पश्चात् मूलराज द्वितीय, और फिर त्रिभुवन पाल राजा हुए। कुमारपालके बाद ही सोलङ्की वंशका पतन आरम्भ हो गया था। इस अवनत कालमें भी गुजरातके गौरव और प्रतिष्ठा तथा धन-जनकी भरसक रक्षा उसके जैन राज्याधिकारियोंने ही की। भीम द्वितीयका अन्तःपुर-रक्षक लवणप्रसाद नामक जैनी था, अन्तिम नरेशोंके समयमें यही सर्व-सर्वा था। उनके मन्त्री वस्तुपाल और तेजपाल नामके दो जैन भ्राता थे। मन्त्रीश्वर वस्तुपालने गुजरातके स्वराज्यको नष्ट होनेसे बचानेके लिए अपने जीवनमें ६३ बार युद्ध-भूमिमें गुर्जर सैन्यका संचालन किया था। आबू (देलवाड़े) के विश्व-विश्रुत अत्यन्त कलापूर्ण जैन-मन्दिरका विशेषकर नेमिनाथ-मन्दिरका निर्माण इसी वस्तुपालने सन् १२३२ ई० में कराया था। अन्यत्र भी अनेक जैन मन्दिरोंका उसने निर्माण कराया और शैव एव वैष्णव तीर्थोंके लिए भी दान दिये। इस युद्धवीर, दानवीर एवं धर्मवीरने अनेक लोकोपयोगी कार्य किये। १२४३ ई० में धोलकाके सामन्त बीसलदेवने जो एक मतके अनुसार उपरोक्त लवणप्रसादका ही वंशज था, अन्तिम सोलङ्की-नरेश त्रिभुवनपालको गद्दीसे उतारकर राज्य हस्तगत किया और व्याघ्रपत या बघेला वंशकी नींव डाली। इसके समयमें भी मन्त्रीपदपर वस्तुपाल ही बना रहा। १२५७ ई०में देशमें घोर दुर्भिक्ष पड़ा, उस अवसरपर जगडू शाह नामक जैन धनिकने अन्न और धनसे दुष्कालसे पीड़ित असंख्य गुजरातियोंको जीवन-दान दिया। १२९८ ई० तक

गुजरातपर बघेलोंका शासन रहा। अन्ततः अलाउद्दीन खिलजीके सेनानी उलुगखाँ और नसरत खाँने कर्ण बघेलेको पराजित करके गुजरातकी स्वतन्त्रताका नाश किया। दूसरे आक्रमणमें बघेल वंशका भी अन्त हुआ और गुजरातपर मुसलमानोंका शासन हो गया। इन आक्रमणोंके समय भी पाटनके जैन बन्धु शाह समरा और सालिगने जनताकी बड़ी सेवा और रक्षा की।

इस प्रकार अपने दीर्घकालीन इतिहासमें गुजरात जैनधर्मका एक प्रधान गढ़ बना रहा। देश और इसके नरेशोंके उत्कर्षके साथ ही जैनधर्म और संस्कृतिका भी उत्कर्ष हुआ और जैन मन्त्रियों, सेनापतियों, अन्य राज्य-कर्मचारियों, धनिकों, व्यापारियों, व्यवसायियों, विद्वानों, कलाकारों, साधु-तपस्वियों, सभीने देशकी सर्वतोमुखी उन्नति, सांस्कृतिक अभिवृद्धि एवं सुख-शान्तिके सम्पादनमे अभूतपूर्व योग दान किया। मुसलमानोंका शासन हो जानेके उपरान्त भी गुजरातका जैनधर्म और जैनी गुजरातके व्यापार एवं नागरिक जीवनके महत्त्वपूर्ण अङ्ग बने रहे।

सिन्ध देश—सिन्धुनदीके उभय तटवर्ती उत्तरमें मुल्तानसे लेकर दक्षिणमें समुद्रतट पर्यन्त विशाल देश है। इसकी राजधानी पातालपुरी (पाटल) थी और इस देशपर प्राचीन विद्याधरवंशी नाग जातिका राज्य था। मोहन्जोदड़ोके प्रागैतिहासिक अवशेषोंसे ज्ञात अत्यन्त प्राचीन कालमें सर्वप्राचीन मानवी सभ्यताओंका उदय जहाँ-जहाँ हुआ उसमें इस देशका प्रमुख स्थान है। उस प्राग्-आर्यकालमें भी यहाँकी अत्युच्च नागरिक सभ्यता, श्रमण संस्कृति और ऋषभ, सम्भव आदि जैन तीर्थङ्करोंके अहिंसा एवं योगप्रधान धर्मोंसे प्रभावित रही प्रतीत होती है। तदुपरान्त नागोंके राज्य यहाँ रहे। सिकन्दरके आक्रमणके समय सिन्धु देशमें अनेक छोटे-छोटे गणराज्य थे जिन्होंने उस विश्वविजयी यूनानी सम्राट्को पर्याप्त छकाया था। कुछ काल पर्यन्त मौर्योंका, फिर यूनानियों और पह्लवोंका इस प्रदेशपर अधिकार रहा। प्रथम शती ई० पू० के प्रथम पादसे ही

शकोंने आक्रमण करके यहाँ शकस्थानकी स्थापना की। शककुलके इन शकोंने सिन्धुसे फैलकर ही उत्तर और पश्चिम भारतमें अपने राज्य बिछाये थे। शकोंके उपरान्त हूणोंका अधिकार हुआ और कालान्तरमें इन विदेशियोंका भारतीयकरण हो जानेपर इस देशमें कई एक छोटे-छोटे राज्य चलते रहे। कालकाचार्यने सिन्धके शकोंमें जैनधर्मका प्रचार किया था और उसीके लगभग लोहाचार्यने अग्रोहेके अग्रवालोंको जैनधर्ममें दीक्षित किया था। गुप्तकालमें हरिगुप्तने पंजाब-सिन्धके हूणोंको जैनधर्मका उपदेश दिया था। यूनानियोंके समयमें भी इस प्रदेशमें अनेक दिगम्बर जैन साधु विचरण करते और वनोंमें निवास करते थे। कालान्तरमें, सम्भवतया कुषाणोंके समयसे, महायानी बौद्धधर्म एवं शैव और शाक्त धर्मोंका भी इस देशमें प्रचार हो गया था। इस प्रकार ये सब ही विभिन्न भारतीय धर्म इस प्रदेशमें फैले हुए थे। जैनधर्म अवश्य ही अपेक्षाकृत गौण स्थितिमें रहा। ६ठीं शती ई० के अन्तमें एक शूद्रजातीय व्यक्तिने सम्पूर्ण सिन्धपर अधिकार करके अपना राज्य जमाया। वह महायानी बौद्धधर्मका अनुयायी था। उसके वंशमें सिहरसराय प्रसिद्ध हुआ है। वह भी उसी धर्मका अनुयायी था। उसके समयमें लगभग १०,००० बौद्ध भिक्षु सिन्ध देशमें आलस्य और ऐशका जीवन बिताते थे और वे राज्यके लिए विघ्नरूप थे। सन् ६४४ ई० में मकराना और बलुचिस्तानके मार्गसे अरबोंने सिन्धपर आक्रमण किया, इन बौद्ध भिक्षुओंके कारण राजा सिहरसरायकी हार हुई और वह मारा गया। उसका पुत्र साहसी था किन्तु ६४६ ई० में उसकी भी वही गति हुई जो उसके पिताकी हुई थी। उसके उपरान्त उसके ब्राह्मण मन्त्री छछने राज्य हस्तगत कर लिया और लगभग ४० वर्ष राज्य किया। बौद्धोंका उसने दमन किया किन्तु उनका अन्त न कर सका। साथ ही ब्राह्मणों और उनके धर्मका बोलबाला हुआ। छछके पुत्र दाहिरके समय ७१२ ई० में अरब सेनानी मुहम्मद बिन क़ासिमने सिन्धपर भयंकर आक्रमण

किया। दाहिर वीरतापूर्वक लड़ते हुए मारा गया और सिन्धपर हिन्दूराज्यका अन्त तथा मुसलमानी शासनका प्रारम्भ हुआ। कुछ विद्वानोंके मतसे सिन्धके इस पतनका श्रेय अरबोंकी वीरतासे अधिक सिन्धके बौद्धों और ब्राह्मणोंके विश्वासघातको है। अरबोंने प्रारम्भिक अत्याचारोंके बाद बहुत कुछ सहिष्णुता पूर्वक शासन किया। बौद्धधर्म तो शनैः-शनैः तिरोहित हो गया और उसके विकृत अवशिष्टांश तथा शाक्त धर्मके संमिश्रणसे सिन्धमे वाममार्गका प्रचार हुआ। शैवधर्म पनपता रहा, शनैः-शनैः वैष्णवधर्म भी प्रविष्ट हुआ और जैनधर्म भी व्यापारी वर्गमे बना रहा। कवि श्रीहर्षके नैषधचरितसे विदित होता है कि ८वीं शताब्दीमे भी सिन्धमें जैनधर्म अच्छी दशामे था। मुल्तान नगर तो मध्यकालमे भी इस प्रदेशमें जैनधर्मका प्रमुख केन्द्र बना रहा। गौड़ी पार्श्वनाथकी सुप्रसिद्ध मूर्तिसे सम्बन्धित अनुश्रुतियाँ भी प्राचीन कालमें सिन्ध देशमें जैनधर्मके अस्तित्वका समर्थन करती हैं। मध्यकालमें पार्श्व-जिनकी इस प्राचीन ऐतिहासिक प्रतिमाके संरक्षक सिन्ध देशान्तर्गत पीरनगर (पारकर) के सोडवंशी राजपूत राजे रहे, और वे इसे अपना कुल-देवता मानते रहे।

काश्मीर—पंजाब और मध्य एशियाके बीच स्थित सुरम्य पार्वतीय देश है और हिमालय पर्वत-मालाओंमें ही होकर तिब्बत और नैपालसे भी सम्बन्धित है। यह एक प्राचीन राज्य है। आर्योंने ही इसे सर्वप्रथम सभ्यता प्रदान की। सिकन्दरके आक्रमणके समय यह विद्यमान था और चन्द्रगुप्त मौर्यने भी उसे अपने साम्राज्यका अंग बना लिया था। सम्राट् अशोकके पुत्र जलौकने वहाँ स्वतन्त्र राज्य किया। कल्हणकी राजतरंगिणी और अबुल-फ़जलकी आइने अकबरीके अनुसार जलौकने ही इस देशमें जैनधर्मकी प्रतिष्ठा की थी। तदुपरान्त कनिष्क आदि कुषाणोंका वहाँ राज्य रहा, इसी समय महायान बौद्धधर्मका काश्मीरमें प्रवेश हुआ। ६ठीं शतीके मध्यमें यशोधर्मन्से हारकर मिहिरकुल हूणने काश्मीरके राजाको मारकर उसपर अधिकार किया। किन्तु ७वीं शतीके प्रारम्भमें नाग जातिके

कर्कोटक वंशका उदय हुआ और इस वंशके शासनकालमें काश्मीर राज्यने अभूतपूर्व उन्नति की। कर्कोटक राजे सूर्यपूजक थे और शैव धर्मावलम्बी थे। अतः आगामी शताब्दियोंमें शनैः-शनैः बौद्धधर्म काश्मीरसे तिरोहित हो गया और जैनधर्म वणिक् वर्गके कुछ लोगोंमें सीमित रह गया। फिर भी ८वीं शती तक काश्मीर बौद्ध विद्याका केन्द्र बना रहा। प्रसिद्ध सार्वभौमिक बौद्ध विद्वान् कुमारजीवने काश्मीरमें ही शिक्षा प्राप्त की थी। कर्कोटक वंशके प्रारम्भिक नरेशोंमें दुर्लभवर्मन जो लगभग ६३१–३३ ई० में गद्दीपर बैठा, प्रसिद्ध है। इसीके समयसे काश्मीरका व्यवस्थित इतिहास मिलना शुरू होता है। यह राजा हर्षवर्धन और हुएनसांगका समकालीन था। उसका पोता ललितादित्य मुक्तापीड (७३३–७६९ ई०) बड़ा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था, उसने ७४० ई० में कन्नौजके यशोवर्मनको हराया, तिब्बत, भोट और तुर्कोंको भी हराया। वह सूर्यका उपासक था और उसने प्रसिद्ध मार्त्तण्ड-मन्दिर बनवाया था। उसका पोता विनयादित्य जयापीड था। वह बड़ा निर्दयी और लालची था। ८वीं शतीके उत्तरार्धमें उसने कन्नौजके वज्रायुधको हराया। ९वीं शतीके मध्यमें इस कर्कोटक वंशका अन्त हुआ और उसके स्थानमें अवन्तिवर्मन (८५५–८३ ई०) ने उत्पल वंशकी स्थापना की। इस राजा तथा इसके वंशजोंने साहित्य और साहित्यकारोंको अभूतपूर्व प्रोत्साहन दिया और लोकहितके अनेक कार्य किये। उसका पुत्र शंकरवर्मन (८८३–९०२ ई०) भी एक प्रतापी नरेश था। इस वंशका अन्तिम राजा हर्ष (१०८९–११०१ ई०) था। यह बड़ा अत्याचारी और धर्मविरोधी राजा था। इसके पश्चात् काश्मीरमें कोई शक्तिशाली राज्यसत्ता न रह गई और १३३९–४० ई० में मुसलमानोंका इस देशपर अधिकार हो गया। उत्पल वंशके समयमें बौद्धधर्म काश्मीरसे नामशेष हो गया और शैवधर्म इस देशका प्रधान धर्म हो गया। इन नरेशोंने संस्कृत साहित्यको भारी प्रोत्साहन दिया। मेंथा, भौमक, शिव-स्वामिन, रत्नाकर, अभिनन्द, क्षेमेन्द्र, सोमदेव (कथासरित्सागरका लेखक,

१०६३ ई०), बिल्हण (१०६४ ई०), कल्हण (११०० ई०) आदि अनेक संस्कृत कवियों एवं विद्वानोंने इन नरेशोंके आश्रयमें भारतीके भण्डार को भरा। कल्हणकी राजतरंगिणी काश्मीरके इतिहासका अपूर्व ग्रन्थ है और सम्पूर्ण संस्कृत साहित्यमें इतिहास विषयकी बेजोड़ रचना है। इससे पता चलता है कि काश्मीरका तत्कालीन इतिहास गृह षड्यन्त्रों, हत्याओं और दुराचारोंसे पूरित था।

नैपाल में अनार्य लोगोंका निवास था। प्राचीनकालमें लिच्छवि क्षत्रियोंने यहाँ भारतीय राज्य स्थापित किया जो ७वीं शती ई० के मध्य तक चलता रहा। समुद्रगुप्तके शिलालेखमें भी नैपाल राज्यका उल्लेख है। हर्षके समयमें नैपाल राज्य हर्षके राज्य और तिब्बतके बीच स्थित था। लिच्छवियोंके द्वारा ही इस देशमें आर्यसभ्यता और बौद्ध, जैन आदि धर्मोंका प्रवेश हुआ। किन्तु तान्त्रिक बौद्धधर्मकी ही वहाँ प्रधानता हुई। ६४२ ई० में अंशुवर्मनने नैपालमें ठाकुरिवंश नामक एक नवीन राजवंशकी स्थापना की। ७२४ ई० में इस वंशके राजा गुणकामदेवने काठमाडु नगरका निर्माण किया और उसे राजधानी बनाया। ८७९ ई० से नैपाली संवत्का प्रचलन हुआ। १३२४ ई० में हीरासिंहदेवके समयसे नैपालमें बौद्धधर्मका अन्त हुआ और शैवधर्मको स्थापना हुई। तबसे वही इस देशका प्रधान धर्म चला आता है। जैन धर्मके भी कतिपय चिह्न नेपालमें मिले हैं। जैनियोंका आवागमन इस देशमें प्राचीनकालमें था, इसके कई प्रमाण मिलते हैं।

कुलुकी घाटी में कुलूत लोगोंका एक छोटा-सा राज्य था। इसके राजे बौद्ध थे। चंवामें भी कुलूतोंका एक अन्य राज्य था किन्तु ये लोग शैव थे।

तिब्बत राज्य अनार्य था। बौद्धधर्मका यह एक प्रमुख गढ़ बन गया था। चीन देशसे भारत आनेका प्रधान मार्ग तिब्बत होकर ही था। तिब्बत के राजाओंके चीनके राजघरानेके साथ विवाह-सम्बन्ध भी हुए। कभी-कभी किन्तु बहुत कम तिब्बतवालोंने उत्तर भारतीय राजनीतिमें भी

हस्तक्षेप किया, किन्तु तिब्बतका अधिक सम्बन्ध चीनके साथ ही रहा। तिब्बतमें बौद्ध लामाओंका धर्मराज्य वर्तमान काल तक चलता रहा। कहा जाता है कि तिब्बतमें जैनधर्मके भी कुछ चिह्न मिले हैं, हो सकता है कभी-कभी कोई जैन विद्वान् धर्म-प्रचारार्थ वहाँ जा पहुँचे हों, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली प्रतीत होती।

आसाम अथवा कामरूप राज्यकी राजधानी प्राग्ज्योतिष थी। मंगोलों और उनके प्रभावके लिए यह भारतका प्रवेश द्वार था, किन्तु बाह्य आक्रमणोंसे इस द्वारने देशकी सदैव सफल रक्षा की। इस देशमें तन्त्रयान बौद्धधर्म, वाममार्ग और जोगियोंके जादू-टोनेका ही प्रचार रहा। हर्षके समय यहाँका राजा भास्करवर्मन पर्याप्त शक्तिशाली था और हर्षका मित्र था। गौड़के शशांकके विरुद्ध उसने हर्षकी सहायता भी की थी। उसके उपरान्त उसके वंशजोंका राज्य रहा। ९वीं शतीमें बंगालके पालोंने इस देशपर अधिकार कर लिया। मुसलमानोंकी बंगाल विजयके उपरान्त १२२८ से १८२५ ई० तक आसामपर शान जातिकी अहोम शाखाका प्रभुत्व रहा। प्राचीन साहित्यमें आसाम किरात देश कहलाता है और इसके निवासी किरात। भारतवर्षकी यह पूर्वी सीमा समझी जाती थी।

बंगाल—प्राचीन कालमें, जो आजकल बिहार-बंगाल कहलाता है वह प्राची या प्राच्य देशके नामसे प्रसिद्ध था। अंग, मगध और कोसल वर्तमान बिहार प्रान्तके भाग थे। सम्पूर्ण पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पाकिस्तान, कूच-बिहार और टिपरा पहाड़ी बंगाल या बंग देश था, पुण्ड्र, राधा (लाढ़) और सुम्ह नामोंसे भी इसकी प्रसिद्धि थी, टिपरा और कोमिल्लाके जिलोंसे युक्त समतट भी इसीका एक भाग था। पुण्ड्रवर्धन, पुण्ड्रनगर या महास्थान-गढ़, ताम्रलिप्ति (तामलुक), कोटिवर्ष, वर्द्धमान (बर्दवान) आदि इसकी प्राचीन नगरियाँ थीं। जैन अनुश्रुतिके २५½ आर्य देशों तथा १८ राज्योंमें बंगदेश और उसकी राजधानी ताम्रलिप्तिकी गणना है, किन्तु बौद्ध अनुश्रुति के सोलह महाजनपदोंमें इसका उल्लेख नहीं है। वेदोंके आर्य भी बंगदेशसे

सर्वथा अपरिचित थे। उत्तर वैदिक-कालीन साहित्यमें उसे अनार्य-देश कहा है, ५वीं-६ठी शती ई० पू० के धर्मसूत्रोंमें तो इस म्लेच्छ देशमें जाने वाला आर्य महापातकी समझा जाता था। डा० भण्डारकरका मत है कि इस प्राच्य देशके लोग जैनों द्वारा ही सर्वप्रथम आर्य बनाये गये थे। अतः आर्य-सभ्यता और धर्मका वंग देशमें प्रवेश श्रमण संस्कृति और जैनधर्मके रूपमें ही सर्वप्रथम हुआ। प्रो० राखालदास बनर्जीके अनुसार भी प्राचीन कालमें गंगाके दक्षिणी भागमें जैनधर्मका काफ़ी प्रचार और प्रसार था। दक्षिण बिहारके हज़ारीबाग ज़िलेमें स्थित सम्मेद-शिखर पर्वत जैनियोंका सर्वमहान् सिद्धक्षेत्र है। इस तीर्थसे ही चौबीसमें से बीस तीर्थङ्करोंने निर्वाण लाभ किया था। यह पर्वत पारस-नाथ नामसे भी प्रसिद्ध है, तीर्थङ्कर पार्श्व इस स्थानसे मुक्ति लाभ करनेवाले अन्तिम तीर्थङ्कर थे। उन्होंने इस प्रदेशमें जैनधर्मका विशेष प्रचार किया था। आचारांग सूत्रके अनुसार वर्द्धमान महावीर भी बज्जभूमि, सुम्हभूमि और राढ़देशमें धर्मप्रचारार्थ गये थे और वर्द्धमान नगरकी प्रसिद्धि उन्हींके नामसे हुई। अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु पुण्ड्रवर्धन के निवासी थे। जैनस्थविरोंकी गोदासगण शाखाके पोण्ड्रवर्धनियागणका नाम भी इसी नगरके नामपर रखा गया था। कोटिवर्ष और ताम्रलिप्ति शाखाएँ भी बंगदेशके तन्नाम नगरोंके नामसे ही प्रसिद्ध हुईं। बौद्धग्रन्थ बोधिसत्त्वावदानके सुमगधावदानमें वर्णित अनाथपिण्डककी पुत्री सुमगधा की कथा प्रमाणित करती है कि ईसाके जन्मसे बहुत पहिले ही, स्वयं बुद्धके समयमें पुण्ड्रवर्धन जैनधर्मका प्रसिद्ध केन्द्र था। एक अन्य बौद्धग्रन्थ-दिव्यावदानके अनुसार तो अशोकने वहाँ बहुतसे निर्ग्रन्थोंकी हत्या इसलिए करा दी थी क्योंकि उन्होंने बुद्धकी मूर्तिका निरादर किया था।

शैशुनाक-नन्द-मौर्योंके समयमें बंग जनपद मगध साम्राज्यका अंग बना रहा, तदुपरान्त लिच्छवि आदि व्रात्य क्षत्रियों एवं नागोंके छोटे-छोटे राज्य

वहाँ चलते रहे, अन्ततः गुप्त-नरेशोंने विजय करके उसे अपने साम्राज्यमें मिला लिया। महावीरके समयसे लेकर गुप्तोंके समयतक ताम्रलिप्ति ही इस देशकी प्रधान राजधानी, प्रमुख व्यापारिक नगर और सबसे बड़ा बन्दरगाह बनी रही। सुदूर पूर्वके देशोंके साथ भारतके सांस्कृतिक, राजनैतिक, औपनिवेशिक एवं व्यापारिक सम्बन्धोंको बनानेमें इस बन्दरगाहका प्रमुख स्थान था। जैनकथा साहित्यमें इस नगरसे जलमार्ग द्वारा विदेशोंको जानेवाले अनेक जैन व्यापारियों एवं साहसिक व्यक्तियोंके उल्लेख भरे पड़े हैं। इस कालमें बंगदेशके विभिन्न भागोंमें जैनधर्मकी ही प्रधानता थी। सभी प्रमुख नगरोंमें बड़ी-बड़ी जैन बस्तियाँ थीं, अन्य अनेक स्थानोंमें जैन-केन्द्र, विहार, विद्यापीठ और जिनमन्दिर थे। अनगिनत निर्ग्रन्थ साधुओंका वहाँ विहार होता रहता था और इन साधुओंके द्वारा बंगालके जैनधर्मका उत्तर, दक्षिण पूर्व एवं पश्चिम भारतवर्षके सभी भागोंके जैनकेन्द्रोंसे सम्बन्ध बना हुआ था। मथुराके जैनस्तूपके अवशेषोंसे प्राप्त सन् ६२ ई० के एक शिलालेखसे पता चलता है कि राढ़ (राधा - बंगाल) के एक जैनमुनिने मथुरामें आकर एक तीर्थङ्कर-मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी। गुप्तकालमें वर्तमान राजशाही ज़िलेके पहाड़पुर स्थान (प्राचीन नाम सोमपुर) के निकट वट गोहाली नामक एक प्रसिद्ध एवं विशाल जैन विहार था। दिगम्बर साधुओंकी पञ्चस्तूपान्वयी शाखाके मुनि इस अधिष्ठानके अध्यक्ष थे। गुप्तसंवत् १५९ (सन् ४७८ ई०) के एक ताम्रशासनसे विदित होता है कि इस संस्थानमें एक ब्राह्मण दम्पतिने जिन मूर्तिकी स्थापना करवायी थी और अर्हतोंकी पूजाके लिए दान दिया था। उस समय पञ्चस्तूप शाखाके वाराणसी-निवासी आचार्य गुहनन्दीके शिष्य प्रशिष्य उक्त विहारके अध्यक्ष थे। इस शाखाका प्रसार नदसौर, मथुरा, हस्तिनापुर, चित्रकूट (चित्तौड़), वाटनगर (महाराष्ट्रमें नासिकके निकट), कर्णाटक और तामिल देश पर्यन्त था। सम्भवतया हस्तिनापुरके

पञ्चस्तूपोंसे इसका निकास हुआ था। बंगालमें भी पंचस्थूपी नामक स्थान अपने मूलकी स्मृतिमें इस शाखा-द्वारा निर्मित स्मारककी याद दिलाता है। ७वीं शताब्दीमें चीनी यात्री हुएनसांगने बंग देशके समतट या व्याघ्रतटी राज्यमें, पुण्ड्रवर्धन और ताम्रलिप्तिमें तथा अन्य स्थानोंमें अनेक जैन मन्दिर और निर्ग्रन्थ साधु देखे थे। वस्तुतः पुण्ड्रवर्धनसे प्राप्त प्राचीन खण्डित जैनमूर्ति, चटगाँव जिलेके सीताकुण्डके निकट चन्द्रनाथ और सम्भवनाथके प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर, टिपरा जिलेमें कमिल्लाके निकट स्थित मैनामती और लालमाईकी पहाड़ियोंमें स्थित प्राचीन जैन मन्दिरोंके खँडहर, बाँकुड़ा जिलेमें बर्द्वान और आसनसोलके मध्य प्राचीन जैनस्तूपोंके ऊपर निर्मित ईंटोंके बने एक सुन्दर प्राचीन मन्दिर जिसमें शिवके साथ तीर्थङ्कर पार्श्वकी प्राचीन मूर्ति अब भी विद्यमान है, छोटा नागपुरमें दुलमी, देवली, सुइसा, पकवीरा आदि स्थानोंमें और उनके आस-पास भी अनेक प्राचीन जैन मन्दिर, तीर्थङ्कर प्रतिमाएँ, यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियाँ आदि अनेक जैन अवशेष मिले हैं। राखालदास बनर्जी, विमलचरण लाहा, अद्रीस बनर्जी आदि अनेक पुरातत्त्वज्ञो एवं इतिहासज्ञों का मत है कि बंगदेशके विभिन्न भागोंमें बिखरे हुए उपरोक्त जैन कलावशेष जो ईस्वी सन् के प्रारम्भसे लेकर १०वीं-११वी शताब्दी पर्यन्तके हैं प्राचीनकालमें इस देशमें जैनधर्मके व्यापक प्रभाव एवं प्रसारके द्योतक हैं।

छठीं शताब्दी ई० के अन्तमें सम्भवतया गुप्त वंशमें ही उत्पन्न समाचार नामका गुप्तोंका एक सामन्त उनकी ओरसे बंग देशपर शासन करता था। गुप्त वंशकी अवनतिसे लाभ उठाकर उसने अपनी शक्ति बढ़ाई। उसका पुत्र वा पौत्र सुप्रसिद्ध गौड़का शशाङ्क था, वह स्वयं पहले कर्णसुवर्णका महासामन्त ही था किन्तु शीघ्र ही वह स्वतन्त्र हो गया और उसने अपने राज्यका विस्तार आसामसे उड़ीसा पर्यन्त कर लिया। उसने महाराजाधिराजकी उपाधि धारण की, वाराणसी तक

धावे किये और कंगोद (गंजम) के शैलोद्भवनरेशको अधीन किया। शशाङ्क शैवधर्मका कट्टर अनुयायी था और बौद्धोंका परम शत्रु, उसने गयाको लूटा और बोधिवृक्षको नष्ट किया एवं बौद्धोंपर बड़े-बड़े अत्याचार किये। हर्षके बहनोई गृहवर्मन मौखरि और भाई राज्य-वर्धनकी मृत्युका भी वही प्रधान कारण था। अतएव हर्षका वह परम शत्रु था। हर्षने उसके दमनका बहुत प्रयत्न किया किन्तु विशेष सफलता नहीं मिली। कलिंग-कोसलके तत्कालीन राजाको भी हर्षने शशाङ्कके विरुद्ध अपना मित्र बनाया। ६१९ ई० के लगभग शशाङ्ककी मृत्यु हुई और सम्भवतया उसके साथ ही उसके राज्यका भी अन्त हो गया। बौद्ध धर्मका प्रवेश बंगदेशमें अशोकके समयमें ही हो गया था, किन्तु वह एक गौण स्थितिमें ही रहता आया था, शशाङ्कने उसको भी नष्ट करनेका प्रायः सफल प्रयत्न किया। गुप्त-कालमें भागवत धर्मका भी बंगदेशमें कुछ प्रचार हुआ किन्तु वह वहाँ अधिक पनप न सका। शशाङ्कके समयसे शैव धर्म भी इस देशमें स्थापित हुआ। सन् ७०० ई० के लगभग गौड़ नरेश आदिसूरने कन्नौजसे पाँच ब्राह्मण और पाँच कायस्थ बुलाकर बंगालमें बसाये। कहा जाता है कि वर्तमान बंगाली ब्राह्मण और कायस्थ उन्हींके वंशज हैं।

८वीं शतीके पूर्वार्धमें बंगालमें घोर अराजकता रही। अतएव ७५०ई० में गोपाल नामक एक व्यक्तिने उस अराजकताका अन्त करके पालवंशकी स्थापना की। पालवंश बंगालका सर्वप्रसिद्ध राजवंश रहा और इसके प्रायः सब नरेश बौद्धधर्मी थे, उनके समयमें ही इस देशमें बौद्धधर्म भली प्रकार फला-फूला। स्वयं गोपालने उद्दण्डपुरमें एक विहार बनवाया। इसी समय प्रज्ञा नामक एक बौद्ध विद्वान हुआ जो कपिशामें जन्मा, नालन्दामें पढ़ा, उड़ीसामें बसा और योगाभ्यास सीखाता रहा और फिर चीन चला गया। वत्सराज प्रतिहारने गोपालको युद्धमें पराजित भी

किया था। दूसरा राजा धर्मपाल था। उसने ६४ वर्ष राज्य किया। मगध उसके साम्राज्यका अंग था और उड़ीसाके भौमकर राजे उसके अधीन थे। राष्ट्रकूट ध्रुव और गोविन्द तृतीय तथा प्रतिहार वत्सराज, नागावलोक और भोज उसके प्रतिद्वन्द्वी थे। धर्मपालने कन्नौज विजय करके एक बार इन्द्रायुधको गद्दीसे उतारा और चक्रायुधको उसके स्थानमें बिठाया। इसी राजाने विक्रमशील विद्यापीठकी स्थापना की थी तथा सोमपुर (पहाड़पुर) के जैन अधिष्ठानको नष्ट करके उसके स्थानमे बौद्ध विहार और मन्दिर बनवाये। इसने अपने सिक्कोंपर भी धर्मचक्र आदि बौद्ध चिन्ह अंकित कराये। ८२४ ई० मे उसकी मृत्यु हुई और उसका पुत्र देवपाल (८२४-८७२ई०) राजा हुआ। यह पालवंशका सर्वाधिक शक्तिशाली नरेश था और कट्टर बौद्ध था। मुद्गगिरि (मुंगेर) को उसने अपनी राजधानी बनाया। बौद्धेतर जैनादि धर्मोंके लगभग चालीस बड़े-बड़े केन्द्रोंको उसने नष्ट किया कहा जाता है। उसने अनेक बौद्ध मन्दिर और विहार बनवाये। धीमन और वीतपाल नामके शिल्पी उसके आश्रयभाजन थे। उसने आसाम और उड़ीसाको भी विजय की और श्रीविजय एवं स्वर्णद्वीपके सुदूरपूर्वी राज्योंसे सम्बन्ध बनाये। उसका नालन्दा ताम्रशासन प्रसिद्ध है। इस वंशका आठवाँ राजा राज्यपाल था जिसने एक राष्ट्रकूट राज-कन्यासे विवाह किया था। १०वीं शतीके प्रारम्भसे पालवंश अवनत होने लगा था। ९५० ई० के पश्चात काम्बोजोंने बंगालपर अधिकार कर लिया जिन्हें महीपाल (९७८-१०३० ई०) ने निकाल बाहर किया। किन्तु राजेन्द्र-चोलने उसपर आक्रमण करके उसे पराजित किया। यह पाल-नरेश लोक-कथाओं और लोक-गीतोंमें बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसका उत्तराधिकारी नयपाल था। इसने बौद्ध भिक्षु धर्मपालको और फिर अत्तिसको धर्म-प्रचारार्थ तिब्बत भेजा था जिन्होंने वहाँ जाकर तिब्बत देशको फिरसे बौद्धधर्ममें दृढ़ किया। तदुपरान्त विग्रहपाल, रामपाल, कुमारपाल, इन्द्रद्युम्नपाल आदि क्रमशः राजा हुए। ये सब निर्बल शासक थे। १२वीं शतीके अन्तमें

पालवंशका अन्त हो गया। पालोंने बौद्ध कलाको बहुत प्रोत्साहन दिया और उसका प्रभाव सुदूरपूर्वमें भी पहुँचा।

पालोंके उपरान्त सेनवंश प्रबल हुआ। कर्णाटकके ब्रह्म-क्षत्रिय सामन्त-सेनने (जो सम्भवतया सेनसंघी जैनाचार्य वीरसेनकी आम्नायमें से था) इस वंशकी स्थापना की। उसका पुत्र हेमन्तसेन मयूरभंज प्रान्तमें कासीपुरका शासक था। ११वीं शतीके मध्य तक सेन-राजे पाल-नरेशोंके सामन्त रहे। तदुपरान्त सेन-नरेश विजयसेन स्वतन्त्र हुआ, पालोंके हाथसे बंगालका बहु भाग छीनकर उसने अपनी शक्ति बढ़ाई और ४० वर्ष राज्य किया। वह कलिंगके अनन्तवर्मन चोडगंगका मित्र था। उसके उत्तराधिकारी बल्लाल सेन (११०८-१९ ई०) ने बंगालमें कुलीन प्रथाको जन्म दिया। तदनन्तर लक्ष्मणसेन प्रथम राजा हुआ, वह गीतगोविंदके रचयिता जयदेव और पवनदूतके लेखक कवि धोयीका आश्रयदाता था। उसके पोते लक्ष्मणसेन द्वितीय को ११९९ ई० में मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजीने भगाकर बंगालपर अधिकार कर लिया। सेन-वंशके राजे कट्टर हिन्दू थे। उनके समयमें बौद्धधर्म बंगालसे शनैः-शनैः तिरोहित हो गया और वहाँ शैव एव शाक्त धर्मोंकी स्थापना हो गई। वज्रयान, तन्त्रयान, वाममार्ग आदिका भी प्रचार रहा। वंग देशका भावी धर्म इन सबके सम्मिश्रणसे बना। जैनधर्मका अस्तित्व भी ११वीं-१२वीं शती तक बना रहा, किन्तु उसके उपरान्त केवल थोड़ेसे पश्चिम-भारतीय सेठों और व्यापारियोंके रूपमें ही बंगालमें जैनी सीमित रह गये और रहते चले आये। किन्तु बंग देशके विभिन्न भागोंमें विद्यमान सराक लोग आज भी प्राचीन बंगाली श्रावकों (जैनों) का स्मरण दिलाते हैं।

वृहत्तर भारत—विभाजनके उपरान्त भारतीय राष्ट्रकी सीमाएँ देशकी नैसर्गिक एवं प्राकृतिक सीमाओंसे बहुत अधिक संकुचित हो गई हैं। अंग्रेजी शासन-कालमें भारतने अपनी वैज्ञानिक सीमाएँ प्राप्त कर ली थीं किन्तु उस समय भी अफ़ग़ानिस्तान और क़न्दहार भारतवर्षमें सम्मिलित

नहीं थे, जबकि मध्यकालमें मुग़लोंके शासन-कालमें वे भारतीय साम्राज्यके ही अंग थे। उसके भी बहुत पूर्व यदि मौर्य युगसे लेकर गुप्तकाल पर्यन्तके भारतीय इतिहासपर दृष्टिपात किया जाय तो उस समय भी कपिशा (अफ़ग़ानिस्तान) और गांधार (क़न्दहार तथा ईरानका पूर्वीभाग) भारतके ही अंग थे। इतना ही नहीं, प्राचीन कालमें बिलोचिस्तान, सीमान्तदेश, काश्मीर, तिब्बत, नैपाल, भूटान, आसाम, अराकान तो भारतवर्षके अंग समझे ही जाते थे, बर्मा (ब्रह्मदेश या सुवर्णभूमि) और लंका (सिंहल) भी भारतके ही अंग थे। इनके अतिरिक्त मध्य एशियाके विभिन्न भागोंमें यथा काशगर, खोतान, यारकन्द आदिमें भारतीय राज्य एवं उपनिवेश स्थापित हुए थे। उसी प्रकार सुदूर पूर्वमें बर्मा, मलाया, स्याम, हिन्दचीन, जावा, बाली, बोर्निओ आदि प्रदेशों एवं द्वीपोंमें भारतीय राज्य एवं उपनिवेश स्थापित थे। भारतीयों द्वारा अनेक प्रदेशोंके आदिम निवासियोंका पूर्णतया भारतीयकरण हो गया था। भारतीय राज्यों और उपनिवेशोंके अतिरिक्त चीन, ईरान, अरब, मिस्र, यूनान, रोम आदि प्राचीन सभ्य देशोंमें भारतीय धर्म और संस्कृतिका प्रकाश अभूतपूर्व रूपमें फैला था। समस्त संसारके लिए भारतवर्ष धर्म, संस्कृति, विद्या और ज्ञानका प्रकाश स्तम्भ था। दूर-दूर देशोंसे सैकड़ों-हज़ारोंकी संख्यामें विद्यार्थी भारतीय विश्वविद्यालयोंमें विद्या-प्राप्तिके लिए आते थे। अनेक विदेशी तीर्थयात्राके मिस आते थे और स्वयं भारतसे अनगिनत वणिक व्यापारी, साहसी वीर, विद्वान और धर्मोपदेशक दूर-दूर विदेशोंको जल और थलके मार्गोंसे जाते थे। इस प्रकार उन्होंने भारतवर्षके व्यापार, व्यवसाय, धन-समृद्धि, शक्ति और प्रभावको बढ़ाकर बृहत्तर भारतका निर्माण किया था।

बृहत्तर भारतका यह निर्माण प्राग्ऐतिहासिक कालमें ही हो गया था। सिन्धुघाटीकी विद्याधर सभ्यता ही मध्यएशियाकी सुमेर, अस्सुर एवं बाबुली सभ्यताओंकी तथा नीलघाटीकी मिस्री सभ्यताकी जननी और प्रेरक थी। सिन्धुघाटी-सभ्यताके अन्त होनेपर भारतमें वैदिक सभ्यताका उदय और

वैदिक आर्योंका प्रसार हुआ। उस समय अनेक प्रागार्य भारतीय जातियाँ यथा नाग, ऋक्ष, यक्ष आदि सुदूर पूर्वके प्रदेशों एवं द्वीपोंमें जा बसीं किन्तु भारतवर्षसे उन्होंने अपना सम्बन्ध बनाये रखा। इतिहास कालमें बृहत्तर भारतके निर्माणका युग महावीर एवं बुद्धके कालसे लेकर गुप्तकाल पर्यन्त रहा किन्तु इस प्रकार निर्मित बृहत्तर भारत—विदेशोंमे स्थापित भारतीय राज्य और उपनिवेश-मध्यकाल पर्यन्त विद्यमान रहे और उनके साथ भारतके राजनैतिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध बराबर बने रहे। ५वीं-६टी शती ई० पू० से लेकर मुसलमानोंके आक्रमण पर्यन्त लगभग डेढ़ सहस्र वर्षके सुदीर्घ कालमे भारतवर्षमें ब्राह्मण, जैन और बौद्ध, ये तीन धर्म ही प्रधान थे। देशका कोई भाग और देशकी जनताका कोई भी वर्ण या वर्ग ऐसा न था जिसमें इन तीनों ही धर्मोंके अनुयायी पर्याप्त संख्यामें न पाये जाते थे। अस्तु जिन व्यापारियों, साहसी वीरों, विद्वानों और धर्मोपदेशकोंने उपरोक्त बृहत्तर भारतका निर्माण, विकास एवं संरक्षण किया उनमें उक्त तीनों ही धर्मोंके व्यक्ति सम्मिलित थे। अतएव भारतवर्षके बाहर जहाँ-जहाँ भी भारतका प्रभाव और प्रकाश जिस रूपमें भी पहुँचा वहाँ-वहाँ इन तीनों धर्मों एवं उनकी संस्कृतियोंका ही अल्पाधिक रूपमें प्रकाश एवं प्रभाव पहुँचा। यही कारण है कि आज भी जब सुदूर पूर्वके विभिन्न प्रदेशों, द्वीपों तथा मध्य एशियाके विभिन्न भागोंमें उक्त बृहत्तर भारतके अवशेषोंका अनुसन्धान किया जाता है अथवा प्राचीन मिस्र, चीन, ईरान, यूनान, अरब आदिके साहित्यमें भारतीय प्रभावकी खोज की जाती है तो भले ही अपेक्षाकृत अल्पाधिक मात्रामें हो ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—इन तीनों ही धर्मों और उनकी संस्कृतियोंके चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बृहत्तर भारतके विभिन्न भागोंमें अन्ततः बौद्ध प्रभाव ही सर्वाधिक लक्षित होता है किन्तु इसका कारण यही है कि यद्यपि बृहत्तर भारतके प्रारम्भिक निर्माणमें सर्वत्र ही बौद्धोंकी अपेक्षा जैन और शैव वैष्णवादि कुछ आगे ही थे, किन्तु कालान्तरमें

धार्मिक बन्धनोंको संकुचित और अनुदार बना देनेके कारण उनका प्रयास इस दिशामें शिथिल हो गया। गुप्तकालके उपरान्त जिन छह-सात सौ वर्षोंमें भारतीय शैव, वैष्णव और जैनधर्मोमें धर्मशास्त्रों, पुराणों आदिके कारण उपरोक्त धार्मिक प्रतिबन्धोंसे समाजको जकड़ा जा रहा था उसी कालमें यहाँ बौद्धधर्म द्रुतवेगसे पतनशील था और बौद्ध लोग स्वदेशको छोड़-छोड़ कर बृहत्तर भारतके उक्त प्रदेशोंमें जा-जाकर बस रहे थे। मध्यकालके भारतीयोंने तो अपने देशके इन बाह्य अंगोंको सर्वथा भुला दिया। अतः बौद्धधर्मको ही वहाँ सर्वत्र प्रधानता हो गई तथा चीन, जापान आदि बौद्ध देशोंसे ही उनका सम्पर्क रह गया।

मध्य एशियाकी फ़रात नदीकी घाटीके ऊपरी भागमें एक भारतीय उपनिवेश २री शती ई० पू०में ही विद्यमान था। लगभग ५०० वर्ष बाद पोप ग्रेगरीने भयानक आक्रमण करके इस उपनिवेशका ध्वंस किया था। एक अनुश्रुतिके अनुसार खोतानमें भारतीय उपनिवेश स्थापित करनेका श्रेय अशोकके पुत्र और सम्प्रतिके पिता राजकुमार कुणालको है। सम्भवतया मध्य एशियामें यही सर्वप्रथम भारतीय उपनिवेश था। ४थी शती ई० के प्रारम्भ तक काशगरसे लेकर चीनकी सीमा पर्यन्त समस्त पूर्वी तुर्किस्तानका पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था। उसके दक्षिणी भागमें शैलदेश (काशगर), चोक्कुक (यारकन्द), खोतम्न (खोतान) और चलन्द (शानशान) नामके भारतीय राज्य थे। उत्तरी भागमें भरूक, कुचि, अग्निदेश और काओचंग नामके राज्य थे। इन सबमें उत्तर का कुचि और दक्षिणका खोतम्न ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं भारतीय संस्कृतिके सर्वमहान् प्रसार-केन्द्र थे। दक्षिणी राज्योंमें भारतीयोंकी संख्या अधिक थी। इन उपनिवेशों-को प्रारम्भ करनेमें निर्ग्रन्थ साधुओं और बौद्ध भिक्षुओंका ही हाथ सर्वाधिक था। बादमें निर्ग्रन्थोंका विहार शिथिल होता गया और बौद्धोंका सम्पर्क एवं आवागमन बढ़ता गया। इन राज्योंकी लोकभाषा प्राकृत थी, भद्रजनोंमें संस्कृतका भी प्रचार था, वहाँ भारतीय लिपिका ही प्रयोग होता था तथा

भारतीय नाम, वेषभूषा और आचार-विचार अपनाये जाने लगे थे। गुप्त-कालके उपरान्त बौद्धधर्म ही वहांका प्रधान धर्म हो गया और प्रमुख नगरोंके विहारोंमें काश्मीर आदिके बौद्ध विद्यार्थी ही धर्माध्यक्ष होने लगे। कुमार-जीव नामक ऐसे एक सार्वभौमिक बौद्ध विद्वान्का नाम इस कालमें अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। खोतानका गोमती विहार उसका प्रमुख केन्द्र था। इन राज्योंके विहारों एवं विद्यापीठोंमें भारतीय आयुर्वेद, ज्योतिष, साहित्य आदि विषयोंके ग्रन्थ पठन-क्रममे रहते थे। खोतानके निकट राजाका नव्य विहार एक अत्यन्त उत्तुङ्ग एवं विशाल भवन था। फ़ाह्यान, हुएनसांग आदि चीनी यात्रियोंने इस विहार तथा उसके रीति-रिवाजों, उत्सवों आदिका सुन्दर वर्णन किया है। ये राज्य और इनका बौद्धधर्म ८वीं शती ई० तक अच्छी दशामें विद्यमान थे। राजा लोग और राजवंशके स्त्री-पुरुष भी धार्मिक थे, वे भिक्षु-भिक्षुणी भी हो जाते थे। ये लोग भारतीय संगीत, चित्र, मूर्त्ति, स्थापत्य आदि कलाओंके प्रेमी और प्रश्रयदाता भी थे। बौद्ध-धर्मकी प्रधानता और प्रमुखता होते हुए भी चीनी यात्रियोंके वृत्तान्तोंसे उस कालमें इन प्रदेशोंमें निर्ग्रन्थ जैन साधुओंका अस्तित्व भी रहा सूचित होता है। कुछ जैन मूर्त्तियाँ तथा अन्य जैन अवशेष भी यत्र-तत्र पाये जाते है। काश्यपके रूपमें पार्श्वनाथका गमन उधर हुआ प्रतीत होता है। अनेक पुरातत्त्वज्ञोंका मत है कि जैनधर्म भी प्राचीनकालमें इन प्रदेशोंमें अवश्य पहुँचा था। तिब्बत, कपिशा (अफ़गानिस्तान), गान्धार (तक्षशिला और क़न्दहार), ईरान, अरब, मध्यएशिया आदिमें जैनधर्मके किसी-न-किसी रूपमें किसी-न-किसी समय पहुँचनेके चिह्न पाये जाते हैं। चीनदेश के ताओ आदि प्राचीन धर्मोपर तथा उत्तरकालीन बौद्ध साहित्यमें अनेक जैनसूचक संकेत मिलते हैं। जैनोंकी छोटी–मोटी बस्तियाँ भी इन देशोंमें मध्यकालके उपरान्ततक रही प्रतीत होती हैं।

सिंहलद्वीप और रत्नद्वीप—सिंहलद्वीप या लङ्कामें विद्याधर-वंशकी ऋक्ष जातिका निवास था। भरत चक्रवर्तीने इस द्वीपकी विजय

करके वहाँ जैनधर्म और श्रमण संस्कृतिका प्रवेश किया बताया जाता है। एक अनुश्रुतिके अनुसार भारतके पूर्वी भागसे वररोज नामक असुर सरदार ऋक्ष, यक्ष, नाग आदि विद्याधर जातियोंके व्यक्तियोंको लेकर लङ्का गया था और उसने उस द्वीपको बसाया था। रामायण-कालमें ऋक्षवंशी रावण लङ्काका महापराक्रमी नरेश था। जैन अनुश्रुतिके अनुसार रावण और उसका वंश जैनधर्मी था। महाभारत-कालमें श्रीकृष्ण सिंहल जाकर वहाँके राजा श्लक्ष्णरोमकी कन्या लक्ष्मणाको हर लाये थे और उन्होंने उसे अपनी पत्नी बनाया था। पार्श्वनाथके तीर्थमें करकण्डु-नरेशने भी सिंहलकी यात्रा की थी। महावीरके समयमें उड़ीसाके सिंहपुरसे विजय नामक एक राजकुमार लङ्का पहुँचा था और वहाँ उसने एक नये राजवंशकी स्थापना की थी। बौद्धग्रन्थ महावंशसे पता चलता है कि ४थी शती ई० पू० में इसी वंशमें उत्पन्न सिंहल-नरेश पाण्डुकाभयने अपनी राजधानी अनुराधापुरमें एक विशाल जैन विहार और भव्य जैन-मन्दिर बनवाया था। सम्राट् अशोकके समयमे लगभग २३६ ई० पू० से लङ्कामें बौद्धधर्मका प्रचार प्रारम्भ हुआ और प्रथम शती ई० पू० से लङ्का बौद्धधर्मका एक प्रमुख गढ़ हो गई। इसका श्रेय लङ्काके राजा वट्टगामिनीको है जिसने सन् ३८ ई० पू० मे उपरोक्त जैन मन्दिरों एवं विहारोंको जो उसके पूर्ववर्त्ती २१ राजाओंके राज्यकालमें अक्षुण्ण बने रहे थे, नष्ट करवाकर उनके स्थानमें बौद्ध मन्दिर और विहार बनवाये। उसीके समयमें सिंहलमें बौद्ध त्रिपिटकके सङ्कलन एवं लिपिबद्ध करनेका सर्व-प्रथम प्रयत्न किया गया। सिंहल द्वीपका भारतीयकरण इस प्रकार अति प्राचीन कालमें हो चुका था और बादमें भी निरन्तर भारतवासी वहाँ जा-जाकर बसते रहे। जैन पुराणों एवं कथा-ग्रन्थोंमें सिंहल द्वीपके, उसके निकटवर्ती रत्नद्वीपके तथा इन द्वीपोंमें जैन व्यापारियोंके व्यापारके लिए जाने-आनेके, सिंहलके कतिपय राजाओं एवं भारतीय राजाओंके परस्पर सम्बन्धों आदिके अनेक उल्लेख भरे पड़े हैं।

७वीं ८वीं शती ई० में भी जैन धर्म व जैनियोंका अस्तित्व सिंहलद्वीपमें था, इस बातके स्पष्ट निर्देश मिलते हैं। इतना ही नहीं मध्यकालके प्रारम्भमें भी आचार्य यशःकीर्त्ति सम्बन्धी एक शिलालेखसे पता चलता है कि सिंहलके तत्कालीन राजासे उस जैनाचार्यने सम्मान प्राप्त किया था। तथापि लङ्काद्वीप प्रधानतया बौद्धधर्मानुयायी ही रहा है और अंग्रेज़ोंके आनेसे पूर्व तक उसकी स्वतन्त्र राज्य सत्ता बनी रही। भारतके तामिल राज्योंके साथ भी सिंहलराज्यके सम्बन्ध बराबर बने रहे।

बर्मा—बर्मा या ब्रह्मदेशका जो प्राचीन कालमें सुवर्णभूमि कहलाता था, भारतीयकरण भी अति प्राचीन कालमें हो चुका था। श्रीक्षेत्र (प्रोम) उसका प्रधान नगर था। अन्य अनेक नगरोंके नाम भारतीय थे। इस देशमें इस्वी सन् के प्रारम्भके लगभग बौद्धधर्मका प्रचार हुआ और वर्तमान पर्यन्त वही उसका प्रधान धर्म बना रहा है। किन्तु वहाँ अन्य भारतीय व्यापारियोंका भी आवागमन बना रहा और छोटी-मोटी जैन बस्तियाँ भी बनी रहीं, ऐसा १८वी शती ई० के एक यात्रा-विवरणसे विदित होता है। इसी प्रकार शैव-वैष्णवादि भी बने रहे। १९वीं शतीमें अंग्रेज़ोंने बर्माके राजाको पराजित करके इस देशको भारतमें मिला लिया था।

सुदूर पूर्वके मलाया (द्वीपान्तर), स्याम (द्वारावती), हिन्द चीनके कम्बोडिया (काम्बुज), चम्पा (अनाम), तथा श्री विजय (सुमात्रा), केदरि एवं सिंहसारि (यवद्वीप या जावा), सुवर्णद्वीप, नारिकेलद्वीप, इलाद्वीप, कर्पूरद्वीप आदि प्रदेशों एवं द्वीपोंके साथ जलमार्गसे भारतवर्षका सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतया महाभारतोत्तर कालमें विद्याधरोंकी नाग, ऋक्ष, यक्ष आदि जातियोंके लोग भारतमें वैदिक आर्योंके प्रसारके कारण देशको छोड़-छोडकर वहाँ जाकर बसने लगे थे। किन्तु अपने सजातीय भारतवासियोंसे भी उनका सम्पर्क बना रहा। कालान्तरमें व्यापारके उद्देश्यसे भारतीय वणिक् जिनमें-से अनेक जैन भी थे इन देशों एवं द्वीपोंके साथ व्यापार करते थे और अपने जलपोतोंमें वहाँ जाते-आते थे। इस बातके

अनेक उल्लेख जैन-साहित्यमें पाये जाते हैं। कुछ भारतीय साहसी वीर अपनी भाग्य-परीक्षाके लिए भी वहाँ जा पहुँचते थे, इनमें राजवंशों या सामन्तवंशोंके क्षत्रिय ही अधिक होते थे। कभी-कभी कोई ब्राह्मण-पण्डित या बौद्धभिक्षु अथवा जैन ब्रह्मचारी, श्रावक आदि भी वहाँ जा पहुँचते थे और अपने-अपने धर्म और संस्कृतिका वहाँ जाने-अनजाने प्रसार करते थे। सन् ईस्वीके प्रारम्भके उपरान्त ही हम इन देशों एवं द्वीपोंमें नये-नये सुव्यवस्थित राज्य स्थापित होते पाते हैं और उन राजवंशोंके नरेशोंने जो अनुपम कलापूर्ण भवन, देवमन्दिर, नगर आदि बनाये, अपनी स्वयंकी तथा देवी-देवताओंकी मूर्त्तियाँ निर्माण करायी, शिलालेख अंकित कराये—उन सबके प्राप्त अवशेषोंसे और इन प्रदेशोंमें प्रचलित अनुश्रुतियोंसे बृहत्तर भारतके इन महत्त्वपूर्ण अंगोंके इतिहासका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस बातमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन प्रदेशोंका पूर्णतया भारतीय-करण हो गया था। व्यक्तियोंके नाम व उपाधियाँ, नगरों एवं पर्वों आदि के नाम, वेष-भूषा, आचार-विचार, भाषा, लिपि, धर्म और संस्कार सब भारतीय थे। भारतीय विद्याओं और साहित्यका वहाँ पठन-पाठन होता था। भारतीय पौराणिक अनुश्रुतियाँ ही उन देशोंकी पौराणिक अनुश्रुतियाँ थीं। वहाँकी कला भारतीय कलासे ही प्रभावित थी। अस्तु भारतके साथ इन देशोंका स्पष्ट राजनैतिक सम्बन्ध कोई न रहते हुए भी उनका उसके साथ सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध अबाध बना रहा। इन देशोंमें जो धर्म और संस्कृति प्रचलित हुई वह शैव, वैष्णव, जैन और बौद्ध चारोंका ही अद्भुत मिश्रण थी। कालान्तरमें वहाँ सर्वत्र बौद्धधर्मकी प्रधानता हो गई और अन्वेषकोंने इन स्थानोंके पुरातत्त्व एवं इतिहासका जो भी अध्ययन किया है वह बौद्ध अथवा हिन्दू दृष्टियोंसे ही किया है, जैनदृष्टिसे भी उक्त साधनोंका अध्ययन हो सकता है इस पर अभी तक किसीका ध्यान नहीं गया है। किन्तु कुछ ऐसे स्पष्ट संकेत मिलते हैं जो उक्त देशोंमें जैन संस्कृति के प्रभावके सूचक हैं—यथा काम्बुज, चम्पा आदिके प्राथमिक भारतीय

राजवंशोंके मूलमें नाग-नागी सम्बन्धोंका पाया जाना, काम्बुजकी भारतीय संस्कृतिके संस्थापक कौण्डिन्योंका जैन-साहित्य, इतिहास और अनुश्रुतिमें जैनोंके रूपसे उल्लेख पाया जाना, बृहत्तर भारतके प्रायः सभी उक्त पूर्वी देशोंमें मद्य-मासके प्रचारका अभाव तथा पशुबलि आदिका भी अभाव पाया जाना, देव या बुद्धके लिए जिन शब्दका प्रचलन, अनेक मूर्त्तियोंका तीर्थङ्कर मूर्त्तियोंके साथ विलक्षण सादृश्य, कतिपय शिलालेखोंमें पार्श्व-नाथ प्रभृति तीर्थङ्करों एवं कल्याणकारक आदि जैनग्रन्थोंका उल्लेख तथा जैन आध्यात्मिक विचारों एवं पदावलिका प्रयोग, रामायण और महाभारतके कथानकोंके उक्त देशोंमें प्रचलित रूपोंका ब्राह्मण परम्पराकी अपेक्षा जैन परम्पराके कथानकोंके साथ अधिक निकट सादृश्य, राजनीतिमें प्रायः मनुस्मृति आदिका प्रभाव होते हुए भी स्त्रियोंके विशेषाधिकारोंमें जैन नीतिका प्रभाव, वर्षारम्भ महावीर निर्वाण वर्षकी भाँति कार्त्तिक माससे होना, दीपावली उत्सवका समारोहपूर्वक मनाया जाना आदि। उन देशोंमें बहुमान्य तीन प्राचीन वर्गोंमें एक बौद्धभिक्षु थे दूसरे शैवाचार्य या ब्राह्मण विद्वान् थे और तीसरे पंथी या पण्डित थे जो बड़े विद्वान्, व्यवहार-कुशल एवं राज्यमें उच्च पदोंपर भी आसीन होते थे। यह तीसरा वर्ग सम्भवतया जैनोंका ही था। इस प्रकार बृहत्तर भारतके निर्माण, विकास एवं सरक्षणमें ब्राह्मणों और बौद्धोंके साथ-साथ प्राचीन भारतके जैनोंने भी भरसक योग-दान दिया प्रतीत होता है।

अध्याय ७

दक्षिण भारत [१]

भारतवर्ष प्राचीन कालसे ही उत्तरापथ और दक्षिणापथ नामक दो विभागोंमें विभक्त रहता आया है। उत्तरमें विन्ध्यपर्वतमालाकी सतपुड़ा, महादेव एवं मेकल नामक पहाड़ियों तथा नर्मदा और महानदी नामक नदियोंके द्वारा उत्तरापथसे विभक्त एवं दक्षिणमें तीन ओर भारतीय महासागरसे वेष्टित प्रायद्वीपाकार पठार दक्षिणापथ कहलाता है। प्राग्-ऐतिहासिक कालसे ही मध्यकाल पर्यन्त भारतका यह विशाल भू-भाग भौगोलिक ही नहीं, राजनैतिक एवं अनेक अंशोंमें सांस्कृतिक दृष्टिसे भी उत्तर भारतसे प्रायः पृथक् रहता रहा। विदर्भ, महाराष्ट्र, कोंकण, आन्ध्र, कर्णाटक, तामिल, तेलगु और मलयालम दक्षिणापथके प्रमुख भाग रहे हैं।

वैदिक आर्योंकी दृष्टिमें यह समस्त भू-भाग ईस्वी सन्के प्रारम्भके भी बाद तक एक अनार्य अवैदिक देश रहा है जहाँ असुर एवं राक्षस आदिकोंका निवास था। किन्तु जैन अनुश्रुतिके अनुसार मानवी सभ्यताके प्रारम्भसे ही इस प्रदेशमें सभ्य विद्याधरोंकी नाग, ऋक्ष, यक्ष, वानर, किन्नर आदि जातियोंका निवास रहा है जो कि श्रमण संस्कृतिकी उपासक थीं। ब्राह्मणीय अनुश्रुतिके अनुसार अगस्त्य सर्वप्रथम आर्य ऋषि थे जो विन्ध्याचलको पार करके दक्षिण भारतमें पहुँचे थे, परशुराम भी वहाँ गये कहे जाते हैं। अपने वनवास-कालमें रामचन्द्र उधर गये थे और वानरोंकी सहायतासे लंकाके राक्षसराज रावणका अन्त करनेमें सफल हुए थे। इससे प्रतीत होता है कि रामायण-कालके लगभग वैदिक आर्योंके

दो एक छोटे-छोटे उपनिवेश दक्षिणापथमें स्थापित हो गये थे, किन्तु इस कार्यमें सन् ईस्वीके प्रारम्भ तक कोई विशेष प्रगति नही हुई और दक्षिणापथ अधिकांशतः अवैदिक एवं अनार्य ही बना रहा। दूसरी ओर जैन अनुश्रुतिके अनुसार रामायण-कालके भी बहुत पूर्वसे मध्यदेशके मानवों और दक्षिणापथके विद्याधरोंमे अबाध सम्पर्क रहे थे। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवने विजयार्धके दक्षिणमें स्थित नमि, विनमि आदि विद्याधर-नरेशोंके साथ विवाह एवं मैत्री सम्बन्ध भी किये थे और उनमें उत्तरापथके मानवोंके साथ ही साथ जैनधर्मका प्रचार किया था। भरत चक्रवर्तीने अपनी दिग्विजयमे दक्षिणके भी समस्त देशोंको विजय किया था। भरतके छोटे भाई बाहुबलिको पोदनपुरका राज्य मिला था जो एक अनुश्रुतिके अनुसार दक्षिणमे ही स्थित था। बाहुबलिकी विशाल मूर्त्तियोंका निर्माण और उनकी उपासना सम्भवतया इसी कारणसे दक्षिण भारतमें इतनी अधिक रहती आयी है। रामायण-कालमे अयोध्याके सूर्यवंशी दशरथ, राम, लक्ष्मण आदि, दक्षिणापथके पवनजय, हनुमान और बालि, सुग्रीव, नल, नील आदि वानरवंशी विद्याधर तथा लंकाके ऋक्षवंशी रावण, मेघनाद आदि, सब ही जैन धर्मके उपासक बताये गये हैं। ये विद्याधर लोग वैज्ञानिक आविष्कारों, लौकिक विद्याओं एवं कलाओं तथा धन और भौतिक शक्तिमें उत्तरापथके मानवों अथवा वैदिक आर्योंसे कहीं अधिक बढ़े-चढ़े थे किन्तु आध्यात्मिक उन्नति, धर्म, दर्शन और चिन्तनमें उन्होंने मानवोंके गुरु तीर्थङ्करोंके सन्मुख अपना मस्तक झुकाया था और उनके शिष्य एवं अनुयायी बने थे। उक्त विद्याधरोंके वंशजोंके लिए ही आधुनिक इतिहासकार द्राविड़ शब्दका प्रयोग करते हैं और द्राविड़ लोगोंको अनार्य और अवैदिक ही नहीं भारतवर्षके प्रागार्य और प्राग्वैदिक निवासी मानते हैं, और इस बातकी सम्भावनाको भी स्वीकार करते हैं कि द्राविड़ जाति ब्राह्मण परम्पराके शैव वैष्णवादि धर्मोंको अपनानेसे पहले जैन धर्मानुयायी थी। वस्तुतः रामायणके उपरान्त महाभारत कालमें गिरनारके

तीर्थङ्कर अरिष्टनेमिने दक्षिणापथमें स्वधर्मका विशेष प्रचार किया था। उनके भक्त हस्तिनापुरके कुरुवंशी पञ्चपाण्डव अन्ततः राज्यका परित्याग करके दक्षिणकी ओर चले गये थे और वहाँ जैन मुनियोंके रूपमें उन्होंने दुर्द्धर तपस्या की थी। उसी समयसे सुदूर दक्षिणके पाण्ड्य देश, पञ्च-पाण्डवमलय, मदुरा आदि स्थान प्रसिद्ध हुए। पार्श्वनाथके तीर्थमें प्रसिद्ध जिनभक्त करकंडु दक्षिणापथके ही एक प्रमुख नरेश थे। तेरापुरकी गुफाओंमे प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेषोंसे करकंडु चरित्रकी कथाका समर्थन होता है जिसके कारण करकंडुको एक ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाने लगा है। महावीरने भी दक्षिण देशमें धर्म-प्रचारार्थ विहार किया था और दक्षिणापथके हेमाङ्गद देशका जीवन्धर नरेश उनका भक्त हुआ था। इसी प्रकार यशोधर, नागकुमार आदि भी प्रसिद्ध जैनधर्म भक्त दक्षिणी राजपुरुष थे। इन लोगोंकी चरित्रगाथाओंका तामिल, कन्नड, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंमें दक्षिणापथमें प्राचीन कालसे ही प्रचार रहता आया है।

महावीरकी शिष्य-परम्परामें उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरके आठवें पट्टधर अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु प्रथम थे। अपने समयमें वही जैनसंघके अधिपति थे। उत्तरापथमें द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष पड़नेकी बात उन्होंने अपने निमित्तज्ञानसे दुर्भिक्षके पूर्व ही जान ली थी। अतः अपने बारह हज़ार शिष्य साधुओंके साथ उज्जैनी एवं गिरिनगर होते हुए उन्होंने ई० पू० ३६६ मे दक्षिण देशको विहार किया और कर्णाटक देशके कटवप्र नामक पर्वतपर म० स० १६२ (ई० पू० ३६५) में उन्होंने शरीर त्याग किया था। इसके लगभग ५० वर्ष पूर्व ही मगध-नरेश नंदिवर्धनने दक्षिणदेशके इस भाग (नागरखण्ड) को विजय करके मगध साम्राज्यमे मिला लिया था। भद्रबाहुके इतने बड़े संघको लेकर वहाँ जानेसे यह बात स्वतः प्रमाणित है कि उक्त प्रदेशमें जैनधर्मकी प्रवृत्ति और जैनोंका निवास उसके पूर्वसे ही था। यदि ऐसा न होता तो इतने जैनमुनि एक साथ उस ओर

प्रयाण न करते। इस युक्तिके औचित्यको प्रायः सभी आधुनिक विद्वान् मानने लगे हैं। भद्रबाहुकी मृत्युके उपरान्त संघने उसी स्थानको अपना प्रधान केन्द्र बनानेका और वहींसे दक्षिणापथके समस्त भागोंमे धर्म-प्रचार करनेका निश्चय किया। विशाखाचार्य संघके अधिपतिके रूपमें आचार्य भद्रबाहुके उत्तराधिकारी हुए। तदनन्तर मुनिरूपमें चन्द्रगुप्त मौर्यने भी संघकी अध्यक्षता की। दुर्भिक्षकी उपशान्तिके उपरान्त भी इस संघके मुनियोंने मगध वापिस न जाना चाहा, वैसे व्यक्तिगत रूपसे इन दक्षिणी जैनमुनियों का उत्तरापथकी ओर विहार होता रहता था और वहांके विभिन्न भागोंमें अवस्थित जैनसंघोंसे सम्पर्क भी बना रहता था। कर्णाटक देशका उक्त कटवप्र पर्वत जहाँ स्थित था वह स्थान कालान्तरमें श्रवणबेलगोल (श्रमणोंका श्वेत सरोवर) नामसे प्रसिद्ध हुआ और भद्रबाहु श्रुतकेवलिका समाधि-स्थान तथा मूलसंघका प्रधान केन्द्र होनेके कारण सम्पूर्ण भारतवर्षके जैनोंके लिए उसी समयसे एक प्रधान धर्मतीर्थ बन गया।

भद्रबाहु श्रुतकेवलि महावीर-द्वारा उपदेशित द्वादशांग श्रुतके पूर्ण ज्ञानी थे। उनके समय तक ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्वोका सम्पूर्ण ज्ञान अक्षुण्ण था, किन्तु उनके पश्चात् उक्त ज्ञानमे ह्रास होने लगा। निस्पृह तपस्वी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु आगमोंके संकलन और साहित्य सृजनकी आवश्यकता नहीं समझते थे और उसके लिए साधन समारम्भ परिग्रह मानते थे, उसे अपने नियम, संयम और पदके लिए बाधक समझते थे, अतः गुरु-शिष्य परम्परामें मौखिक द्वारसे ही संघने आगम संरक्षणकी व्यवस्था आचार्य, उपाध्याय, वाचकाचार्य, उच्चारणाचार्य, पृच्छकाचार्य इत्यादि साधुवर्गों द्वारा की। किन्तु इस व्यवस्थासे भी कालदोषसे होनेवाला ह्रास न रुक सका। भद्रबाहुके विशाखाचार्य आदि क्रमशः ११ पट्टधर ई० पू० ३६५-१८४ के बीच हुए। उनके समयमे बारहवें अंगके १४ पूर्वोमें से १० पूर्वोका ज्ञान ही पूर्ण रहा, शेष चार पूर्वोका एकदेश ही ज्ञान रहा। तदनन्तर ५ आचार्य १८४-६१ ई० पू० में हुए, उनके समयमें सभी पूर्वोका ज्ञान

एकदेश रह गया। भद्रबाहुकी परम्पराके ये मुनि निर्ग्रन्थ दिगम्बर थे और अपने संघको मूलसंघ कहते थे। महानन्दिन, चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार और अशोकके साम्राज्यमें दक्षिण भारतका बहुत-सा भाग सम्मिलित था। इन नरेशोंने राजनैतिक वा अन्य कारणोंसे दक्षिणकी यात्राएँ भी की प्रतीत होती हैं। चन्द्रगुप्तके विषयमें तो यह अनुश्रुति है ही कि उसने अपने आम्नायगुरु भद्रबाहुके समाधि-स्थान—श्रवण-बेल्गोलमें जाकर तपस्या की थी और आचार्यके रूपमें जैनसंघका नेतृत्व भी किया था। अशोकके शिला-लेख भी कर्णाटक देशस्थ मस्की आदि स्थानोंमें मिले हैं। अशोकके समयमें ही कुछ बौद्ध प्रचारक दक्षिण देशोंमें सर्वप्रथम पहुँचे और तबसे वहाँ बौद्धधर्मका भी धीरे-धीरे प्रचार होने लगा। इसी समयके लगभग दक्षिणमें शैवधर्मका भी उदय हुआ प्रतीत होता है। सम्राट् खारवेलका दक्षिणके अनेक राज्योंसे राज-नैतिक सम्बन्ध था। उसने दक्षिणापथकी भी दिग्विजय की थी और मूषिक, राष्ट्रिक, भोजक आदि राज्योंको अपने अधीन किया था। पैठनके सात-वाहन सातकर्णीको भी उसने हराया था और पाण्ड्य देशका राजा उसका मित्र था। खारवेलके समयसे ही वस्तुतः दक्षिण भारतका आधुनिक राजनैतिक इतिहास प्रारम्भ होता है और उसी समयसे उस देशका साहित्यिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भी। इस इतिहासके प्रारम्भमें हम यही पाते हैं कि सम्पूर्ण दक्षिण भारतकी प्रधान संस्कृति श्रमण संस्कृति थी। सर्व-प्राचीन साहित्य तामिल भाषाका संगम साहित्य था जिसके प्राथमिक सृजक अधिकतर जैन विद्वान् थे। उसीके साथ-साथ, प्रथम शती ई० पू० से ही, मथुराके सरस्वती आन्दोलनसे प्रभावित होकर दक्षिणके ही जैनाचार्योंने प्राकृत भाषामें भी आगमिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक साहित्यका सृजन करना प्रारम्भ कर दिया था। सुदूर दक्षिणके विभिन्न भागोंमें सित्तनवासल (सिद्धोंका स्थान) आदि स्थानोंमें

२री–३री शती ई० पू० के ब्राह्मी लेखोंसे युक्त प्राचीन जैन गुफाएँ जैन धर्मके उपरोक्त प्रसार एव प्रभावकी सूचक हैं।

सम्राट् खारवेलके उपरान्त दक्षिणापथमे पैठनके सातवाहनोंका उत्कर्ष हुआ जिसका वर्णन पूर्व अध्यायमे किया जा चुका है। दूसरी शती ई० के अन्त तक सातवाहन शक्ति सर्वोपरि रही। इस बीचमें दक्षिण भारतके विशेषकर जैन इतिहासमे कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो गयी थीं। ई० पू० ३७–१४ में आचार्य भद्रबाहु द्वितीय द्वादशागके नव अंगोंके पूर्ण ज्ञाता तथा शेष अंगों एवं पूर्वोके एक-देशज्ञाता भगवान् महावीरकी शिष्य-परम्परामें २७वें पट्टधर थे और दाक्षिणात्य मूलसंघके अधिपति थे। उनके समय तक सरस्वती आन्दोलनके बावजूद जैन मुनियोंमे साहित्य प्रणयनकी प्रवृत्ति प्रारम्भ नहीं हुई थी और न आगमोंका संकलन ही हुआ था। इन आचार्यने सर्वप्रथम अपने शिष्योंको उक्त कार्योंके लिए छूट दे दी। उनके पट्टशिष्य लोहाचार्य (१४ ई० पू०–३८ ई०) भारी धर्म-प्रचारक थे। पंजाब और सिन्धकी ओर भी उन्होंने धर्म-प्रचारार्थ विहार किया था। आग्रोतक (आग्रोहे) जनपदके गणतन्त्री अग्रवालोंमे जैन धर्मका प्रचार करनेमें उन्हे विशेष सफलता मिली। इन्हीं आचार्यने तीर्थङ्करोंकी काष्ठ-मूर्त्तियाँ निर्माण करनेकी भी अनुमति दे दी जिसके कारण कालान्तरमें उत्पन्न होनेवाले काष्ठासंघने लोहाचार्यको ही उक्त संघका मूल प्रवर्तक माना। इन्हींके समकालीन दक्षिण भारतके कन्नड देशमें कुन्दकुन्दाचार्य नामके आचार्य थे। भद्रबाहु द्वितीयको ये अपना गुरु मानते थे किन्तु पट्ट परम्परासे इनका साक्षात् सम्बन्ध नहीं था। मथुराके आचार्य कुमारनन्दि अपर नाम स्वामी कुमारको भी कुन्दकुन्द अपना गुरु मानते थे। सम्भवतया इन स्वामी कुमारने ही कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा नामक प्राकृत ग्रन्थकी रचना की थी। सन् २१ ई० तक इन आचार्यका अस्तित्व पाया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्दने सम्पूर्ण भारतमें भ्रमण किया और धर्म प्रचार किया, इन्होंने ही परम्परागमके आधारपर ८४ पाहुड ग्रन्थोंकी स्वतन्त्र रचना की। इनके ग्रन्थ प्राकृत

भाषामें हैं और अध्यात्म-प्रधान हैं, और सम्भवतया जैन साहित्यकी सर्व-प्रथम लिखित कृतियाँ हैं। तामिल भाषाके संगम साहित्यके भी ये प्राथमिक प्रेरकोंमें से थे। तामिल देशमें ये एलाचार्यके नामसे प्रसिद्ध थे और तिरुवल्लुवर-द्वारा संकलित तामिल भाषाके विश्वविख्यात नैतिक ग्रन्थ कुरल काव्यके मूल प्रणेता थे। ये कन्नड देशके कोंडकुण्ड नामक स्थानके मूल निवासी थे। गुण्टकल रेलवे स्टेशनसे ४–५ मीलकी दूरीपर स्थित इस नामका गाँव अभीतक विद्यमान है और उसके निकटकी पहाड़ियोंपर बनी प्राचीन जैन-गुफाओंमें इन्होंने तपस्या की थी, ऐसा अनुमान किया जाता है। नन्दी पर्वतकी गुफाओंमें इन आचार्यका निवास रहा प्रतीत होता है। इन आचार्यका मुनि-जीवन सन् ८ ई० पू० से ४४ ई० पर्यन्त ५२ वर्ष रहा। दिगम्बर आम्नायमें कुन्दकुन्दका नाम भगवान् महावीर और गौतम गणधरके साथ-साथ लिया जाता है। प्रो० रामकृष्ण गोविन्द भण्डारकर, पीटर्सन आदि अनेक प्राच्यविदोंके मतसे ये आचार्य अत्यन्त प्राचीन एवं सर्व-महान् जैनाचार्योंमें प्रमुख हैं। अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा इन्होंने सरस्वती आन्दोलनको सफल किया। इन्हींके समकालीन आरातीय यति शिवार्यने 'भगवती-आराधना' नामक महान् ग्रन्थकी रचना की, विमलसूरिने सन् ३ ई० में प्राकृत पउमचरिउ (जैन रामायण) की रचना की, सन् २५ ई० के लगभग आचार्य गुणधरने कसायपाहुड नामक आगम ग्रन्थका उद्धार, संकलन एवं लिपि-बद्धीकरण किया, इसी समय (४०–७५ ई०) में गिरिनगरकी चन्द्र गुफामें आचार्य धरसेन निवास करते थे जिन्हें महाकर्मप्रकृतिपाहुड नामक आगमका पूर्ण ज्ञान था। इस समय मूलसंघके विधिवत् अधिपति एवं पट्टधर आचार्य अर्हद्बलि अपर नाम गुप्ति-गुप्त (३८–६६ ई०) थे और क्षहरातवंशी महाराज नहपान उज्जैन एवं सुराष्ट्रका अधिपति था तथा गौतमीपुत्र सातकर्णी पैठनका सातवाहन नरेश था। ६५ ई० के लगभग युद्धमें गौतमीपुत्र सातकर्णीसे पराजित होकर नहपान जैन मुनि हो गये थे और भूतबलि

नामसे प्रसिद्ध हुए। सन् ६६ ई० के लगभग संघनायक अर्हद्बलिने वेण्या नदीके तटपर स्थित महिमानगरी (वर्तमान कोल्हापुर राज्यका महिमान-गढ़) में एक विशाल मुनि सम्मेलन किया और सुविधाके लिए मूलसंघको नंदि, देव, सेन, सिंह, भद्र आदि उपसंघोंमें विभाजित कर दिया। इसी सम्मेलनसे आचार्य धरसेनकी प्रार्थनापर आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिको उनके पास गिरिनगर भेजा गया और उन्होंने इन शिष्यद्वयको जो आगम ज्ञान उन्हें साक्षात् था प्रदान किया और उसे लिपिबद्ध करनेका आदेश दिया। इस प्रकार लगभग ७५ ई० में उक्त दोनों गुरुओं द्वारा षट्खंडा-गम सिद्धान्तके रूपमें महावीर-द्वारा उपदेशित आगमोंके इस महत्त्वपूर्ण अंशका भी उद्धार एवं संकलन हो गया। ७३ ई० में आचार्य धरसेनने स्वयं जोनिपाहुड नामक मन्त्रशास्त्रकी रचना की। कुन्दकुन्दके शिष्य उमा-स्वामिने (४०—९० ई०) संस्कृत भाषामें सूत्र शैलीमें तत्त्वार्थाधिगमसूत्र नामक महान् एवं सुप्रसिद्ध ग्रन्थकी रचना की। दक्षिण देशस्थ मूलसंघके गुरुओंकी इन प्रवृत्तियोंने जिनमें मथुराके तथा मालवा और गुजरातके सिवाय अन्य प्रदेशोंके निर्ग्रन्थ गुरुओंका भी पूर्ण समर्थन और सहयोग था जैनसंघको सदाके लिए दो सम्प्रदायोंमें विभक्त कर दिया। सन् ७९—८२ ई० में स्थूलभद्रकी शिष्य-परम्पराके मागधी साधुओंने जो अब उज्जैन एवं सुराष्ट्रमें केन्द्रित थे श्वेताम्बर सम्प्रदायका रूप लेकर अपने आपको मूलसंघ से पृथक् कर लिया और शेष संघको बोटिकमत, अचेलक सम्प्रदाय या दिगम्बर आम्नाय नाम दिया। ७८ ई० में ही पश्चिम भारतमें भद्रचष्टन वंशकी स्थापना हो चुकी थी और महाक्षत्रप चष्टनने उज्जैनपर अधिकार करके शक संवत्का प्रवर्तन कर दिया था। इसी समयके लगभग प्रसिद्ध सतसईका लेखक नृप हाल शालिवाहन या सातवाहन वंशमें एक प्रसिद्ध नरेश हुआ। ९१ ई० में श्रीकलश नामक जैनाचार्यने जो कि आरातीय आचार्य शिवार्यकी शिष्य-परम्परामें से थे यापनीय संघकी स्थापना की। शिवार्य आदि आचार्य दिगम्बर श्वेताम्बर संघभेदका निवारण करनेके लिए

प्रयत्नशील रहे थे और समझौतेके पक्षमें थे। प्रयत्न विफल होनेपर उनके अनुयायियोंने नया सम्प्रदाय स्थापित कर दिया। सन् १०० ई० के लगभग आचार्य कुन्दकीर्त्तिने संकलित आगमोंपर सर्व-प्रथम टीका लिखी। सम्भवतया इनके विद्यागुरु स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द थे किन्तु दीक्षागुरु माघनन्दिके पट्टधर जिनचन्द्र थे। इन कुन्दकीर्त्तिका ही अपर नाम पद्मनन्दि रहा प्रतीत होता है और ये ही नन्दिसंघकी पट्टावलिमें जिनचन्द्रके पश्चात् उल्लिखित हुए है। उपरोक्त विवरण तथा उसमें उल्लिखित जैनगुरुओंके इतिहाससे यह स्पष्ट है कि ई० सन् के आगे-पीछेकी दो-तीन शताब्दियोंमें कलिंगसे गुजरात-सुराष्ट्र पर्यन्त और मध्य भारतसे लंका पर्यन्त सर्वत्र जैनधर्म और जैनगुरुओंका प्रसार था। गिरिनगर, अंकुलेश्वर (भड़ौच), महिमानगरी, वेण्यातट, बनवास देश, द्रविड देश, कर्णाटक आदि विभिन्न भौगोलिक नाम उस सम्बन्धमें बार-बार आते है।

इन शताब्दियोंमे दक्षिणापथमें सर्वमहान् शक्ति आन्ध्र सातवाहनोंकी थी, पश्चिमी भागमें चष्टनवंशी शक क्षत्रपोंका अभ्युदय था और सुदूर दक्षिण में चोल, चेर, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरल आदि छोटे-छोटे आदिम राज्य थे। तामिल-भाषाका प्रथम संगम (संघ) इसी कालमे हुआ और उसके प्रेरक द्रविडदेशके कुन्दकुन्द आदि जैनगुरु ही रहे प्रतीत होते हैं। ये तामिलराज्य समृद्ध और शान्तिपूर्ण थे, रोम आदि सुदूर देशोंके साथ भी उनका समुद्री व्यापार बढ़ा-चढ़ा था। प्रथम शती ई० के उत्तरार्धमें एक पाण्ड्य नरेशने रोमन सम्राट् ऑगस्टसके दरबारमे राजदूत भेजा था। उसी कालमे चोलराज्यमें पाण्डुचेरीके निकट एक रोमन व्यापारी कोठी भी स्थापित हुई थी। तामिल देशोंके राज्यवंशोंमें नाग प्रभाव अधिक रहा प्रतीत होता है। दूसरी शतीमें सातवाहनोंकी शक्तिका उत्तरोत्तर ह्रास होता गया और दक्षिणापथके दक्षिणार्धमें सातवाहनोंके प्रतिनिधि कतिपय नागमहारथी शासक थे, एवं कुछ स्वतन्त्र नाग-सत्ताएँ थीं। इन नागराज्योंने मिलकर एक फणिमण्डल (नागमण्डल) की स्थापना की थी। दक्षिणी नागराज्योंका यह शक्तिशाली

संघ था। पेरिप्लसके समय (८० ई०) तक पूर्वोत्तरका नागराज्य अविभक्त था किन्तु टॉलेमी (१५० ई०) के समय तोण्डेयमण्डलम् चोलराज्यसे पृथक् हो गया था। २री शतीके प्रारम्भमें उरैयूर (उरगपुर—वर्तमान त्रिचिरापल्ली) का नागनरेश कीलिकवर्मन चोल था। यह राजा शक्तिशाली था। उसका कनिष्ठ पुत्र शान्तिवर्मन था जिसका जन्म १२० ई० के लगभग हुआ था। कुमारावस्थामें ही बलाकपिच्छ नामक जैनाचार्यसे दीक्षा लेकर वह जैनमुनि हो गया और समन्तभद्र नामसे विख्यात हुआ। समन्तभद्रकी युवावस्थामें ही तोण्डेयमण्डल चोल राज्यसे पृथक् हो चुका था और समन्तभद्रका प्रारम्भिक मुनिजीवन कांचीमें ही बीता इसीलिए वे अपने आपको कांचीका नग्न तपस्वी कहते थे। कांचीके महारथी स्कंदनाग की कन्या चुटुपल्लवसे विवाही थी। अतः नागराजकी मृत्युके बाद पल्लवके पुत्र विरुकुरुचने कांचीमें पल्लव वंशकी स्थापना की। सम्भवतया इसी का नाम तोण्डमान इलन्दिरैयन भी था। पाण्ड्य देशके राजा इस कालमें नेन्दुजालियान और तलैयालमकानम् थे। चेरराज्यका स्वामी सेगुंभुवन था जो बड़ा शक्तिशाली था। चोल देशपर कारिकल चोलका राज्य था, यह राजा भी युद्ध और शान्ति दोनोंमें ही महान् था। इस कालमें लंकामें गजबाहु प्रथमका शासन था। बनवास देशकी करहाटक नगरीमें सातवाहनों के एक अन्य सामन्तने कदम्ब वंशकी नींव डाली थी। प्रथम कदम्ब नरेशका उत्तराधिकारी १५० ई० के लगभग शिवस्कंदश्री था। आचार्य समन्तभद्र से सम्बन्धित जैन अनुश्रुतिका राजा शिवकोटि यही व्यक्ति था। भस्मक रोग हो जानेपर इसी राजाके शिवालयमें आचार्यने रोगकी उपशान्ति की थी और स्वयंभूस्तोत्रकी रचना द्वारा अपने योगबल एवं गाढ़ भक्तिका चमत्कार दिखाया था। फलस्वरूप राजा शिवकोटि और उसका भाई शिवायन आचार्यके शिष्य हो गये और जैनमुनि हो गये। मुनि शिवकोटिने ही तत्त्वार्थसूत्रपर रत्नमाला नामकी सर्वप्रथम टीका लिखी थी। शिवकोटिके पश्चात् उसका पुत्र श्रीकण्ठ राजा हुआ, तदनन्तर

शिवस्कंद वर्मन और फिर २५८ ई० के लगभग चन्द्रवल्ली अभिलेखका राजन् मयूरवर्मन हुआ। कदम्बोंकी अनुश्रुतिके अनुसार वे हारीतकी सन्तान मानव्य गोत्री ब्राह्मण थे। सम्भवतया नाग-ब्राह्मण मिश्रणसे उत्पन्न वे ब्रह्म क्षत्रिय थे। मयूरवर्मनके समयसे ही कदम्ब वंशका उत्कर्ष हुआ।

इस कालमें जैनसंघमें स्वामी समन्तभद्र (१२०–१८५ ई०) महान् वादी, वाग्मी, तपस्वी, योगी, धर्म-प्रचारक तथा ग्रन्थ-प्रणेता थे, दक्षिणी फणिमण्डलमें स्थित उरगपुरके चोलवंशी नाग नरेशके वे पुत्र थे, काञ्चीके नाग महारथी और प्रथम पल्लव राजे तथा करहाटकके प्रारम्भिक कदम्ब राजे उनके भक्त थे। ये आचार्य द्रविड संघके मूल प्रवर्तकोंमें से थे। उन्होंने पुण्ड्रवर्धन, पाटलिपुत्र, वाराणसी, ठक्क, सिन्ध, मालवा, विदिशा, दशपुर, काञ्ची, करहाट आदि सम्पूर्ण भारतवर्षके तत्कालीन सभी ज्ञान केन्द्रोंमें भ्रमण किया और अन्य धर्मोंके विभिन्न विद्वानोंके साथ सैकड़ों सफल शास्त्रार्थ किये थे। बौद्धाचार्य नागार्जुन उनके समकालीन एवं प्रतिस्पर्धी थे। इन्हीके समकालीन मथुरा संघके प्रसिद्ध आचार्य नागहस्ति और उनके शिष्य यतिवृषभाचार्य थे जिन्होंने कसायपाहुड आगमपर चूर्णिसूत्र रचे और १७६ ई० में तिलोयपण्णत्ति नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की। इन्हींके जीवनमें सन् १५६ ई० में महावीरकी उस शिष्य-परम्पराका अन्त हुआ जो परम्परागमके साक्षात् ज्ञानकी मौखिक द्वारसे संरक्षक थी। समन्तभद्रके ही एक शिष्य आचार्य सिंहनन्दिको सन् १८८ ई० में दद्दिग और माधव भ्रातृद्वयके हाथों कर्णाटकके प्रसिद्ध गगवंश और गंगवाडि राज्यकी स्थापनाका श्रेय है।

इस प्रकार दूसरी शताब्दीके अन्त तक दक्षिण भारतमें पाण्ड्य, चोल और चेर नामक प्राचीन छोटे-छोटे तीन तामिल राज्योंके अतिरिक्त पूर्वी तटपर तोण्डेयमण्डलमें काञ्चीका पल्लव राज्य, बनवास देशमें करहाट और तदनन्तर वैजयन्तीका कदम्ब राज्य और कर्णाटकमें गंगवाडिका गंग-राज्य—ये तीन प्रसिद्ध नये राज्यवंश स्थापित हो गये थे। इनके अतिरिक्त

दक्षिणापथमें सातवाहन शक्तिके पतनसे लाभ उठाकर दक्षिणके विभिन्न भागोंमें चुटु और नाग लोगोंके जो कि आन्ध्रभृत्य भी कहलाते थे, छोटे-छोटे शक्तिशाली किन्तु अल्पस्थायी राज्य स्थापित हो गये थे। पश्चिमी भाग में शकक्षत्रप शक्तिशाली थे। आन्ध्रदेशमें इक्ष्वाकुओंका राज्य था। नासिक और खानदेशपर लगभग ७० वर्ष आभीरोंका राज्य रहा। तदनन्तर वहाँ प्राचीन रट्टिक एवं भोजोंके वंशजों—राष्ट्रिकोंका आधिपत्य हुआ और ३रीसे ६ठी शती पर्यन्त वे वहाँ राज्य करते रहे। ५वीं शतीमें चालुक्योंके उदयके कारण राष्ट्रिक गौणताको प्राप्त हुए और फिर ८वी शतीमें राष्ट्रकूटोंके रूपमे उनका उत्थान हुआ। अब आगे ३रीसे १०वी शती पर्यन्त दक्षिण भारतका इतिहास कदम्ब, पल्लव, गंग, चालुक्य और राष्ट्रकूट राजवंशोंका ही इतिहास है।

पल्लव वंश—पूर्वी तटपर दक्षिण भारतके तामिल प्रदेश (वर्तमान मद्रास प्रान्त) मे २री शती ई० के उत्तरार्धमे पल्लव वंशकी स्थापना हुई थी। काञ्जीवरम् (काञ्ची या दक्षिण काशी) इस राज्यकी राजधानी थी। यह प्रदेश उस कालमे तोण्डेयमण्डलम् या तोण्डेयनाड कहलाता था। कहा जाता है कि कौलिकवर्मन चोलके एक पुत्रके साथ मणिपल्लवम् द्वीपकी नागी राजकन्याके विवाह सम्बन्धसे उत्पन्न चुटुपल्लव नामक व्यक्ति इस वंशका मूल संस्थापक था। आन्ध्रोंके करद सामन्त महारथी स्कन्द नागसे उत्तराधिकारके रूपमे उसे इस प्रदेशका राज्य मिला था। उसका पुत्र विरुकुरुच पल्लव वंशका प्रथम महत्त्वपूर्ण राजा था। उसके बाद स्कन्द वर्मन राजा हुआ, यह युवराज और धर्ममहाधिराज भी कहलाता था। प्रारम्भिक पल्लव राजे आन्ध्रोंके सामन्तोंके रूपमें ही रहे किन्तु ३री शतीमें आन्ध्रोंका ह्रास होनेपर वे स्वतन्त्र हो गये और आन्ध्र साम्राज्यके कृष्णा नदीसे लेकर अरब सागर पर्यन्त समस्त दक्षिणी भागपर उन्होंने अधिकार कर लिया। पल्लवोंके मूल पुरुषकी भाँति ही स्वामी समन्तभद्र भी कौलिकवर्मन चोलके ही एक पुत्र थे और स्वयंको काञ्चीका निवासी ही घोषित करते

थे। अतः प्रारम्भिक पल्लव राजाओंपर स्वामी समन्तभद्र और उनके धर्मका प्रभाव रहा प्रतीत होता है। प्रारम्भिक पल्लव राजाओंके, विशेष-कर शिवस्कन्दवर्मनके उत्तराधिकारी सिंहवर्मन प्रथमके प्राकृत अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं। शिवस्कन्दवर्मन स्वयं आगमोंके टीकाकार जैनगुरु बप्पदेवका शिष्य था। पल्लवोंका राज्यचिह्न वृषभ था इसीलिए ये वृषध्वज भी कहलाये। सिंहवर्मनके उपरान्त बुद्धवर्मन और फिर कुमारविष्णु (३२५-५० ई०) राजा हुआ। तदनन्तर विष्णुगोप गद्दीपर बैठा जो समुद्र-गुप्तका समकालीन था और जिसका उल्लेख उक्त गुप्त सम्राट्की प्रयाग प्रशस्तिमें काञ्चेयक विष्णुगोप नामसे हुआ है। विष्णुगोपके उपरान्त इस वंशका प्रसिद्ध नरेश सिंहवर्मन द्वितीय था जिसके राज्यके २२वें वर्षमें शक सं० ३८० (सन् ४५८ ई०) में पाणराष्ट्रके पाटलिक ग्रामके जिनालयमें जैनाचार्य सर्वनन्दिने अपना प्राकृत लोकविभाग ग्रन्थ पूर्ण किया था। यही सर्वप्रथम सुनिश्चित तिथि है जो पल्लवोंके इतिहासमें अबतक मिली है। यह राजा जैनधर्म और जैनगुरुओंका आश्रयदाता था। उसके उपरान्त दो-तीन राजा और हुए और सन् ५५० ई० के लगभग कुमारविष्णुसे प्रारम्भ होनेवाली पल्लव वंशकी इस दूसरी शाखाका अन्त हुआ। सिंहविष्णु पल्लव (५५०-६०० ई०) से पल्लवोंकी तीसरी शाखाका प्रारम्भ हुआ और इस शाखाके समयमें ही पल्लव राज्यका चरम उत्कर्ष हुआ। सिंहविष्णुके आश्रयमें महाकवि भारविने अपने जीवनके कुछ अन्तिम वर्ष बिताये थे। सिंहविष्णुका उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन प्रथम (६००-६३० ई०) था। वह जैनधर्मका अनुयायी था। कई जैनमन्दिर और सित्तनवासलकी गुफाएँ उसने बनवायी थीं। सुदूर दक्षिणमें पार्वतीय गुफा मन्दिरोंका निर्माण करानेवाला वही प्रथम नरेश था। इन जैन-गुफाओंमें भित्तिचित्र भी मिले हैं। इन चैत्यालयोंके निर्माणके कारण उसे चैत्यकन्दर्प उपाधि प्राप्त हुई थी। शैव-सन्त अप्परके जो पहिले स्वयं जैन ही था, प्रभावमे आकर यह राजा शैव हो गया था और तब इसने जैनोंपर अत्याचार भी किये और कई जैन देवालयों

को भी शैवालयोंमें परिवर्तित किया। जैनोंके स्थानमें शैवनयनारोंको उसने प्रोत्साहन दिया। वह साहित्यरसिक भी था और मत्तगयन्द प्रहसनका लेखक था। उसके समयमें चालुक्य पुलकेशी द्वितीयने पल्लव राज्यपर आक्रमण किया था। उसका उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन प्रथम (६३०-६८ ई०) प्रतापी नरेश था। उसने केरल, चोल, पाण्ड्य, चालुक्य और सिंहलके नरेशोंको युद्धमें पराजित किया था किन्तु चालुक्य विक्रमादित्यने उसे बुरी तरह पराजित किया। उसके पास एक जहाज़ी बेड़ा भी था। यह राजा भी शैवनयनारोंका समर्थक था। उसीके शासनकालमें चीनीयात्री हुएनसांग काञ्ची आया था किन्तु बावजूद शैवनयनारोंके उत्थान एवं राज्याश्रयके उस समय भी वहाँ जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मोंके साधु, देवालय, मठ और अनुयायी पर्याप्त संख्यामें थे। यह राजा निर्माता भी था और उसके राज्यमें व्यापार, समृद्धि, सुख और शान्ति थी। उसके उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन द्वितीय का राज्य अल्पस्थायी और घटना-शून्य था। तदनन्तर नरसिंहवर्मन द्वितीय (६९०-७१५ ई०) शैवधर्मका बड़ा समर्थक हुआ, पाषाणके कई शैवमन्दिर भी उसने बनवाये। परमेश्वरवर्मन प्रथम और द्वितीय इस शाखाके अन्तिम नरेश थे। सन् ७५० ई० के लगभग नन्दिवर्मन पल्लवमल्लने सिंहासन हस्तगत किया और ७९५ ई० तक राज्य किया। यह राजा बड़ा पराक्रमी था, चालुक्यों, राष्ट्रकूटों और गंगोंसे उसके अनेक युद्ध हुए। उसके समयमें वैष्णव सन्त अलवर हुआ, राजा भी उसका अनुयायी हुआ और शैवनयनारोंके साथ अब वैष्णव अलवर भी जैन और बौद्धधर्मोंके प्रतिद्वन्द्वी बने। इसीके शासनकालमें सन् ७८८ ई० में शङ्कराचार्यके प्रभावसे काञ्ची प्रदेशके बौद्धोंका लङ्काके कैण्डी प्रदेशको निर्वासन हुआ प्रतीत होता है। इस राजाने काञ्चीका विष्णुमन्दिर बनवाया। वह विद्वानोंका भी आदर करता था। उसके पुत्र दन्तिवर्मनने ७९५ से ८४५ ई० तक राज्य किया। उसकी माता राष्ट्रकूट राजकुमारी रेवा थी तथापि उत्तरकी ओरसे राष्ट्रकूटोंका और दक्षिणकी ओरसे पाण्ड्य नरेशोंका दबाव उसे निरन्तर सहना पड़ा

जिससे राज्यकी पर्याप्त क्षति हुई। उसका उत्तराधिकारी नन्दिवर्मन तृतीय (८४४-६० ई०) था। पाण्डय नरेश कौमार श्रीवल्लभके विरुद्ध उसने गंग, चोल, राष्ट्रकूट और सिंहल नरेशोंसे मैत्रीसम्बन्ध स्थापित किये और तेल्लारुके प्रसिद्ध युद्धमें वह पाण्ड्य राजाको हराकर उसके राज्यमे घुस गया किन्तु कुम्बकोनमके निकट स्वयं हारकर वापस लौट आया। इसकी नौ-सेना भी शक्तिशाली थी। उसके पुत्र नृपतुङ्ग-वर्मनने जो अमोघवर्ष प्रथम की पुत्री शंखासे उत्पन्न हुआ था, पिताका बदला लेनेके लिए पाण्डय राजाको हराया। यह नरेश अपने नानाकी भाँति जैनधर्मका समर्थक था। इस वंशका अन्तिम नरेश अपराजित था। १०वीं शताब्दीमें चोल सम्राटोंके अभ्युत्थानने पल्लव राज्यका अन्त किया। पल्लवोंकी ही एक शाखा नोलम्बबाडीके नोलम्ब थे। नोलम्बवंशमें जैन धर्मकी प्रवृत्ति प्रायः निरन्तर बनी रही। पल्लववंशके प्रायः सभी नरेश विद्याओं और कलाओंके पोषक थे और विद्वानोंका आदर करते थे। उनकी राजधानी एक प्रसिद्ध ज्ञान-केन्द्रके रूपमे उत्तरापथकी काशीसे होड़ करती थी। इस नगरीमें विभिन्न धर्मोंके विद्वान् परस्पर शास्त्रार्थ करते थे जिनमे राजा और प्रजा सभी रस लेते थे। प्राकृत, संस्कृत और तामिल तीनों ही भाषाओंमें श्रेष्ठ धार्मिक एवं लौकिक साहित्यका पल्लव नरेशोंके आश्रयमें सृजन हुआ। ७वीं शती ई० के पूर्व पल्लव राज्यमें जैन और बौद्ध धर्मोंकी ही प्रधानता थी, तदुपरान्त शैव और वैष्णव धर्मोंका प्रसार हुआ। जैन, बौद्ध, शैव, और वैष्णव, चारो ही धर्म इस राज्यमें साथ-ही-साथ फलते-फूलते रहे और इस वशके कुछ-न-कुछ नरेश इनमें-से प्रत्येक धर्मके अनुयायी रहे। ७वीं-८ वीं शताब्दीसे शैव और वैष्णवोंने जैनों और बौद्धोंपर भीषण अत्याचार करने प्रारम्भ कर दिये। फलस्वरूप बौद्धधर्म तो इस देशसे शीघ्र ही तिरोहित हो गया किन्तु दक्षिणके विद्वान् जैनगुरुओं, उनके संघोंके संगठन, अनेक पड़ोसी राजाओं तथा सामन्त सरदारोंकी जैनधर्ममें आस्था आदि कारणोंसे जैनधर्म पल्लव राज्यमें अन्त तक बना रहा और

उक्त प्रदेशमें तो मध्यकालके अन्त तक बना रहा। हुएनसांग आदिके विवरणों, जैन पुरातात्त्विक अवशेषों, तथा जैनों-द्वारा निर्मित तामिल साहित्यके आधारपर प्रायः सभी विद्वानोंका यह मत है कि पल्लवोंके राज्यमें जैन बहुसंख्यक थे और यह धर्म अच्छी अवस्थामें था।

पाण्डय राज्य—जैसा कि वर्णन किया जा चुका है पाण्डय देश और राज्य तथा उसकी राजधानी मदुरा (मधुरा या दक्षिण मथुरा) अत्यन्त प्राचीन हैं। ईस्वी सन्के बहुत पूर्वसे इनकी अवस्थिति थी। ईस्वी सन्के प्रारम्भके लगभग पाण्डय राज्य अत्युन्नत अवस्थामें था। रोमके सम्राटों तकसे उसके राजनैतिक सम्बन्ध थे। ई० पू० २५ में तत्कालीन पाण्डय नरेशने एक जैन श्रमणाचार्यको सुदूर रोमके सम्राट् ऑगस्टसके दरबारमें अपना राजदूत बनाकर भेजा था। भड़ौचके बन्दरगाहसे जलपोत-द्वारा यह विदेशी यात्रा प्रारम्भ हुई थी। उक्त मुनिने अपना अन्त निकट जानकर रोम नगरमें सल्लेखना-द्वारा देहत्याग की थी, और वहाँ उनकी समाधि बनी थी। राजधानी मदुरामें ही सर्व-प्रथम तामिल भाषाके संगम साहित्यका प्रणयन हुआ। एलाचार्य (कुन्दकुन्द) आदि जैनगुरु संगम-साहित्यकी प्रवृत्तिके नेता थे। उक्त साहित्यके आद्य ग्रन्थ तिरुकुरल, तोलकप्पियम, नलादियर आदिका प्रणेता जैनोंको माना जाता है। कुन्दकुन्दके पश्चात् बलाकपिच्छ, समन्तभद्र आदि आचार्योंने द्रविड़ देशमें जैनधर्मका पोषण किया। २री से ७वीं शती तक पाण्डय देशकी राज्यशक्ति क्षीण रही और वह एक गौण राज्य बना रहा किन्तु व्यापार-व्यवसाय और साहित्य-सृजनमें वह अन्य तामिल राज्योंसे आगे रहा। ५वीं शतीमें आचार्य देवनन्दी पूज्यपादने द्रविड़ देशमें विहार किया। उनके प्रशिष्य वज्रनन्दिने सन् ६०४ ई० में द्रविड़ संघको पुनः संगठित करके उसकी विधिवत् स्थापना की और मदुराको उक्त संघका केन्द्र बनाया। अस्तु ५वीं से ७वीं शती पर्यन्त पाण्डय देशमें जैनधर्मका अत्युत्कर्ष हुआ। वज्रनन्दि और उनके सहयोगी गुणनन्दि, वक्रग्रीव, पात्रकेसरि, सुमतिदेव, श्रीवर्धदेव आदि जैना-

चार्योंने उक्त द्रमिल संघको एक सजीव शक्ति बना दिया। इन विद्वानोंने अनेक ग्रन्थोंका संस्कृत, प्राकृत और तामिल भाषाओंमें स्वयं प्रणयन किया तथा अपने भक्तों और शिष्योंसे कराया। तामिल साहित्यके कई महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ इसी कालमें लिखे गये। इस संघकी प्रवृत्तियोंके फलस्वरूप ही ६ठीं शतीके अन्तके लगभग कडुंग नामक राजाने पाण्डय देशकी राज्य शक्तिका पुनरुत्थान किया, वह अपने पूर्वजोंकी भाँति ही जैनधर्मका अनुयायी था, उसके क्रमशः चार वंशज भी जैनी थे। इनमेंसे अन्तिम नेन्दुमारन (कुन अथवा सुन्दर पाण्डय) के समय (६५०–६८० ई०) में गुणसम्बन्दर नामक व्यक्तिने जो स्वयं जैन था, जैनधर्मका परित्याग करके शैव धर्मको अपनाया और राजाको भी शैव बना लिया। सम्बन्दरके प्रभावसे उस राजाने पाण्डय देशके जैनियोंपर अमानुषिक अत्याचार किये बताये जाते हैं जिनके दृश्य मदुराके प्रसिद्ध मीनाक्षी मन्दिरकी दीवारोंके प्रस्तराङ्कनोंमें आज भी विद्यमान है। कडुंगसे लेकर नेन्दुमारनके समय तक पुनरुत्थापित पाण्डय राज्यकी शक्ति और प्रभाव बढ़ता आ रहा था किन्तु इन धार्मिक अत्याचारोंके कारण फिर लगभग एक शताब्दीके लिए उसकी उन्नति पिछड़ गयी। ९वीं शताब्दीमें श्रीमारन श्रीवल्लभ (८३०–६२ ई०) इस देशका प्रसिद्ध राजा हुआ। महावंशमें भी उसका उल्लेख है और सिंहलपर भी उसने आक्रमण किया था। पल्लव नरेश दन्तिवर्मन और नन्दिवर्मन दोनोंको उसने हराया और अपना राज्य बढ़ाया था। किन्तु उसके अन्तिम वर्षोंमें सिंहलके सेन द्वितीय ने तथा काञ्चीके नृपतुङ्गवर्मनने उसपर आक्रमण करके उसे बुरी तरह पराजित किया और मदुराको लूटा। श्रीमारनकी भी उसी समय आहत अवस्थामें मृत्यु हुई। उसके पुत्र वरगुणवर्मन द्वितीय को सिंहली सेनापतिने गद्दीपर बिठाया। वह लंका-नरेश और पल्लवों, दोनोंके ही अधीन रहा। उसके बाद ३–४ और निर्बल शासक हुए और अन्तमें १०वीं शतीके प्रारम्भमें चोलोंने पाण्डय देशको विजय करके अपने साम्राज्यमें मिला लिया।

१२वीं शतीमें पाण्ड्योंने फिरसे शक्ति पकड़ी और दूसरा पाण्ड्य साम्राज्य उदयमें आया। इस कालमें पाण्ड्य नरेश मारवर्मन कुलशेखर (१२६८–१३११ ई०) के समयमें मार्कोपोलो नामक वेनिस निवासी यात्री इस देश में आया था। उसके वृत्तान्तसे यह भी विदित होता है कि उस समय पाण्ड्य देशमें अनेक जैन मठ और जैनी विद्यमान थे। मारवर्मनने १२८४ ई० में लंकाकी भी विजय की थी। १३१० ई० में अलाउद्दीन खिलजीके आक्रमणने मदुराके पाण्ड्य राज्यका अन्त कर दिया।

चोलराज्य—ईस्वी सन्की प्रारम्भिक शताब्दियोंमें उरगपुरका चोल राज्य एक उन्नत राज्य था। नागोंसे उसका सम्बन्ध था और जैनधर्मकी उस राज्यमें प्रवृत्ति थी। किन्तु ३री शती ई० से ही पल्लवोंके उत्थानके कारण चोल राज्यका सूर्य कई शताब्दियों तक अस्त रहा और वह एक अत्यन्त गौणराज्यके रूपमें सम्भवतया चलता रहा। ९वीं शती ई० में चोल देशके तंचाऊर नगरमें विजयालय चोलने चोलराज्यका पुनरुत्थान और अपने वंशकी स्थापना की। उसका उत्तराधिकारी आदित्य चोल था और फिर परान्तक चोल (९०७–४३ ई०) राजा हुआ। इसने पाण्ड्य देशको विजय करके राज्य विस्तार किया। उसके कतिपय उत्तराधिकारी महत्त्वपूर्ण नहीं थे। किन्तु तदुपरान्त राजराजा चोल (९८५–१०१६ ई०) इस वंशका सर्वमहान् नरेश था, वह भारी विजेता था और सम्पूर्ण तामिलदेश और मद्रास प्रान्तका एकाधिपति हुआ। कर्णाटक (मैसूर) और लंकाके भी बड़े भाग विजय करके उसने अपने राज्यमें मिला लिये। वह भारी निर्माता भी था—तंचाऊरका प्रसिद्ध शैवमन्दिर उसीने बनवाया था। उसके शिलालेख भी मिले हैं जिनमें उसकी युद्धयात्राओंके विवरण भी मिलते हैं। जैन महाकवि धनपालके तिलकमंजरी नामक काव्यमें समरकेतुकी समुद्रयात्राका वर्णन अनेक विद्वानोंके मतानुसार राजराजा चोलके ही सुदूरपूर्वके किसी द्वीप या देशपर किये गये समुद्री आक्रमणकी तैयारीका सजीव वर्णन है। कवि धनपाल इसी कालमें हुए हैं, मालवेके परमारों, कन्नौजके प्रतिहारों

और कल्याणीके चालुक्योंसे उन्होंने सम्मान प्राप्त किया था, क्या आश्चर्य है कि वे राजराजा द्वारा भी सम्मानित हुए हों। राजराजा सामान्यत: शैवधर्मका अनुयायी था किन्तु वह एक बहुत उदार और सहिष्णु नरेश था। उसके राज्यमें जैनोंके ऊपर कोई अत्याचार नहीं हुआ बरन् विद्वानों का तो यह मत है कि उसके समयमें जैनियोंको शैवोंके समान ही राज्याश्रय प्राप्त था और उसके साम्राज्यमें जैनधर्म उन्नत अवस्थामे था। उसका पुत्र राजेन्द्र चोल (१०१६–४२ ई०) सुयोग्य पिताका सुयोग्य पुत्र था। उसने अपनी विजयवाहिनीको उत्तरमे गंगातट तक पहुँचा दिया और समुद्रपारके देशोंको भी विजय किया। किन्तु वह जैनधर्मका विद्वेषी था, मैसूर प्रान्तके अनेक जिन-मन्दिरोंको उसने जलवा दिया था। उसका उत्तराधिकारी राजाधिराज (१०४५–५४ ई०) था। तदनन्तर अधिराजेन्द्र राजा हुआ वह भी शैव था। सन् १०७४ ई० मे उसके भानजे कोलुत्तुग चालुक्यने उसे मारकर चोल और पूर्वी चालुक्य राज्योंको सम्मिलित कर लिया। उसने ११२३ ई० तक राज्य किया। यह राजा भी बड़ा पराक्रमी था और उसने कलिंग देशको पुन: विजय किया। इस विजय-यात्राका सजीव वर्णन तामिल के प्रसिद्ध महाकाव्य कलिंगट्टुपरनिमे मिलता है। इस काव्यके लेखक कोलुत्तुग चोलके प्रधान राजकवि जयंगोदन्न थे जो जैनी थे। यह सम्राट् जैनधर्मका अनुयायी था और उसके आश्रयमें अनेक धार्मिक एवं साहित्यिक कार्य हुए। उसने राजेन्द्र द्वारा नष्ट किये गये जिन-मन्दिरोंका भी जीर्णोद्धार कराया। कोलुत्तुगके भयसे भागकर ही रामानुजाचार्यने होयसल नरेश विट्टिवर्धनकी शरण ली थी। कोलुत्तुंगके आश्रयमे अनेक जैन विद्वानोंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की थी। इस नरेशने अपने राज्यमें समस्त निषिद्ध पदार्थोंका आयात बन्द कर दिया था, प्राचीन भारतके चरित्रवान् नरेशों मे उसकी गणना की जाती है। उसके बाद उसका चतुर्थ पुत्र अकलंक (विक्रम या त्रियग्समुद्र) सिंहासनपर बैठा। उसने भी अपने पिताका ही पदानुसरण किया और उसकी राजसभा भी विद्वानों एवं गुणियोंसे भर-

पूर रही। इस वंशका अन्तिम महान् नरेश राजराजा तृतीय (१२१६–४८ ई०) था। उसके उपरान्त चोल शक्तिकी अवनति होने लगी। गृह-युद्धों, निर्बल शासकों और नवोत्थित पाण्डय नरेशोंके आक्रमणोंके कारण १३ वीं शतीके अन्तमें यह चोलसाम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। चोल साम्राज्यकी शासन-व्यवस्था बड़ी सुन्दर थी, ग्राम पंचायतों और उनके स्वायत्त शासन के जो विवरण प्राप्त हुए हैं वे उन्हे प्रजातन्त्र पद्धतिकी आदर्श संस्थाएँ सिद्ध करते हैं। देवमन्दिर और विहार सजीव संस्थाएँ थीं, शिक्षा और लोकोपकारके समस्त कार्य उन्हीके हाथमें थे। चोल साम्राज्यमें जैन संस्कृति अपने उन्नत रूपमे थी और हिन्दूधर्मके साथ निर्विरोध सद्भावपूर्वक लोक-कल्याणमें रत थी। इस कालमे बौद्धधर्मका वहाँ कोई चिह्न नहीं मिलता।

चेर राज्य—तामिल देशका तीसरा प्राचीन राज्य चेरोंका था। प्रथम शताब्दी ई० में चेर नरेश अथन प्रथमके समयसे इस राज्यका उत्कर्ष हुआ। उसका उत्तराधिकारी अथन द्वितीय था जो कवियों और विद्वानोंका बड़ा आदर करता था। प्रारम्भिक संगम साहित्यको इस राजाने बहुत प्रोत्साहन दिया। २री शती ई० के उत्तरार्धमें सेंगुत्थवन इस वंशका सर्व-प्रसिद्ध एवं सर्वमहान् शासक हुआ। उसने चेर राज्यको साम्राज्य बना दिया, चोल-सिंहासनपर उसने अपने चचेरे भाईको स्थापित किया, सम्पूर्ण तामिलनाडपर उसका आधिपत्य था, समुद्री मार्ग-द्वारा उसने कदम्बों-पर आक्रमण किया और उन्हें पराजित किया। उसने उत्तरमें हिमालय पर्यन्त अपनी विजयवाहिनीको पहुँचाया और वहाँ एक शिलापर अपने धनुर्ध्वजको अंकित कराया। इस वंशमें बराबर जैनधर्मकी ही प्रवृत्ति रही। सम्राट् सेंगुत्थवन स्वयं जैन था और उसका भाई राजकुमार इल्लिवलवन तो दीक्षा लेकर जैनमुनि हो गया था—तामिल भाषाके सुप्रसिद्ध प्राचीन महाकाव्य शिलप्पदिकरम्की रचना इसी राजर्षिने की थी। ३री–४थी शती ई० से चेरोंकी अवनति होने लगी और चेरराज्य एक छोटा-सा गौण राज्य रह गया। इस प्राचीन चेरवंशका संस्थापक चेरमान पेरुमल

था। ८वीं शतीके अन्तमें इस वंशका अन्त हो गया। ९वीं शतीमें वैष्णव अलवर मतके अनुयायी कुलशेखरने अपना वंश स्थापित किया और उसीके साथ-साथ चेर प्रदेशमें जैनधर्मके स्थानमे वैष्णव मतको प्रधानता हो गयी। इस प्रदेशके मलबार तटपर शरणार्थी यहूदियों और नवागत ईसाइयोंकी बस्तियाँ भी बहुत प्राचीन कालमें ही स्थापित हो गयी थीं। प्राचीन कालमें केरल भी चेर राज्यका ही अंग था। सन् १३१० ई० में मदुरापर मुसलमानोंके प्रथम आक्रमणके उपरान्त कुछ कालके लिए केरल राज्य एक स्वतन्त्र और शक्तिशाली राज्य हो गया था। चेर, केरल एवं सत्यपुत्र प्रदेशोंमें अनेक प्राचीन जैन पुरातत्त्वावशेष पाये जाते हैं। चेरोंकी राजधानी कावेरीपट्टन थी। पाण्डय, चोल, चेर नामक प्राचीन अथवा आदिम तामिल राज्यों एवं पल्लव नामक नवस्थापित राज्यके साथ सुदूर दक्षिणके तामिल प्रदेशका इतिहास समाप्त हो जाता है। उपरोक्त विवरण से यह भी विदित होता है कि ३री से ६ठी शती ई० पर्यन्त सम्पूर्ण तामिल देशका इतिहास अन्धकाराच्छन्न रहा। इस बीचमें वहाँ कलभ्र (कलिअरसन = सभ्यताके शत्रु) नामक जातिका प्रभुत्व रहा प्रतीत होता है। अच्युत विक्रान्त कलभ्र इस वंशका प्रसिद्ध राजा था और बौद्धधर्मका समर्थक था। किन्तु ६ठी शतीके अन्तमें पाण्डयों और पल्लवोंने कलभ्रोंका अन्त कर दिया था। १०वीं शतीके जैनाचार्य अमितसागरने भी अपने तामिल व्याकरणमें उक्त कलभ्र नरेशके अत्याचारोंसे सम्बन्धित कुछ प्राचीन गीतोंको उद्धृत किया है।

कदम्ब वंश का संस्थापक कदम्ब आन्ध्र सातवाहनोंका सामन्त था जिसने कदम्ब नामक वृक्षविशेषके नामपर अपने वंश और राज्यको दक्षिणके बनवास देशमें २री शती ई० के मध्यके लगभग स्थापना की थी और करहाटक (वर्तमान करहद) नगरको अपनी राजधानी बनाया था। कदम्ब लोग अपने-आपको हारीतका वंशज मानव्यगोत्री ब्राह्मण कहते थे, मधुकेश्वरको अपना कुलदेवता मानते थे और स्वामी महासेनको कुलगुरु।

सम्भवतया कदम्बोंके मूलमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं नाग रक्तका मिश्रण था। इस वंशका दूसरा राजा शिवस्कन्द अथवा शिवकोटि अपने भाई शिवायनके साथ जैनाचार्य समन्तभद्र-द्वारा जैनधर्ममें दीक्षित हो गया था। उसी समयसे इस वंशमें जैनधर्मकी प्रवृत्ति अथवा उसके प्रति आदरभाव रहता आया। उसका पुत्र श्रीकण्ठ था और पौत्र शिवस्कन्दवर्मन् जिसके उत्तराधिकारी मयूरवर्मन् (३री शतीका उत्तरार्ध) के समय तक कदम्ब राज्य एक छोटा-सा राज्य था जो चाहे नाममात्रके ही लिए सही, एक ओर अपने-आपको आन्ध्रोंके अधीन मानता था और दूसरी ओर काञ्चीके पल्लवोंसे दबता था। मयूरवर्मन् युवावस्थामें शिक्षा-प्राप्तिके लिए काञ्चीमें रहा था। वहाँ पल्लवोंने उसका अपमान किया था। इससे उत्तेजित होकर उसने अपने राज्यकी शक्तिको बढ़ाने और पल्लवोंसे बदला लेनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा की। राज्यभार सँभालते ही उसने वैजयन्ती (बनवासी) को अपनी राजधानी बनाया और पलाशिका (हल्सी) को उपराजधानी बनाया, शासन-व्यवस्था ठीक की और सर्वप्रकार अपनी शक्ति बढ़ानेमें संलग्न हो गया। इसी कारण कदम्ब राज्यका वास्तविक संस्थापक मयूर-वर्मनको ही कहा जाता है। आन्ध्र सातवाहनोंके जिस प्रदेशपर कदम्बों-का अधिकार था उसको और अधिक विस्तृत करके वह अब एक स्वतन्त्र नरेश बन गया। वह सम्पूर्ण सातनीहरका स्वामी था। पल्लवोंको पराजित करके उसने अपने अपमानका बदला लिया और उनका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हो गया। उसने बृहद्बाण, त्रैकूट, आभीर, पारियात्र, शकस्थान, सैन्द्रक, पुन्नाट और मौखरि राजाओंको भी युद्धोंमें पराजित किया बताया जाता है। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी कंगवर्मन्ने वकाटक नरेश विन्ध्यशक्ति द्वितीय के आक्रमणका निवारण किया। उसने महपट्टिदेवके लिए एक दान भी दिया था। उसके पुत्र भागीरथके कुछ सिक्के मिले हैं। भागीरथका पुत्र रघु भारी योद्धा था। उसने पल्लवोंको पराजित करके अपने राज्यको निष्कण्टक किया। युवावस्थामें ही युद्धमें उसकी मृत्यु हो गयी और उसका उत्तराधिकारी उसका

छोटा भाई काकुत्स्थवर्मन् भी छोटी अवस्थामें ही राजा हो गया, किन्तु वह एक महान् नरेश, योग्य शासक, बड़ा नीति-निपुण और दीर्घजीवी था। उसने गंग, गुप्त और वकाटक नरेशोंका अपनी कन्याओंके साथ विवाह करके तत्कालीन भारतके प्रसिद्ध राजवंशोंसे मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। इस नरेशके हल्मी ताम्रशासनमें वर्षसंख्या ८० दी हुई है जो इस राजाकी ८०वीं वर्षगाँठका सूचक प्रतीत होती है। इस अभिलेखकी तिथि सन् ४०० ई० निश्चित की जाती है और लेखसे स्पष्ट है कि यह राजा जैनधर्मका भारी पोषक था। जैनपण्डित श्रुतकीर्त्ति भोजकको इस ताम्रशासन-द्वारा राजधानीके जैनमन्दिरके लिए दान दिया गया था। काकुत्स्थवर्मन् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका समकालीन था और सम्भवतया राजकुमार कुमारगुप्तके साथ भी एक कदम्ब राजकुमारीका विवाह हुआ था। स्वयं कवि कालिदास इस विवाह सम्बन्धको स्थिर करनेके लिए उज्जैनसे वैजयन्ती आये बताये जाते हैं। काकुत्स्थकी दूसरी कन्या गंगनरेश तदङ्गल माधवको विवाही थी और इस प्रकार गंग अविनीत इस कदम्ब नरेशका दौहित्र था। काकुत्स्थवर्मन्के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र शान्तिवर्मन् राजा हुआ। उसने कदम्ब राज्यके बनवासी, त्रिपर्वत और उच्छंगी नामक तीनों भागोंको संगठित करके केन्द्रीय शासनके भीतर ले लिया। शान्तिवर्मन् भी जैनधर्म और जैनगुरुओंका समादर करता था। उसका पुत्र मृगेशवर्मन् (४५०-४७८ ई०) जैनधर्मका अनुयायी था। उसके कई उपलब्ध ताम्रशासनोंमें इस नरेश-द्वारा जैन मन्दिरोंका निर्माण कराने, निर्ग्रन्थ जैनगुरुओं, श्वेतपट जैन साधुओं और जैनोंके कूर्चक नामक एक अन्य सम्प्रदायके साधुओंको दान देनेके उल्लेख हैं। स्वयं राजधानी पलाशिकामें उसने अपने पिता शान्तिवर्मन्की स्मृतिमें एक भव्य जिनालय बनवाया था। अभिलेखसे स्पष्ट है कि फुटकर जैनगुरुओंका ही नहीं वरन् उनके विभिन्न सुगठित संघों और सम्प्रदायोंका राज्यमें निवास था। दान प्राप्त करनेवाले जैनगुरुओंमें प्रमुख नाम दामकीर्त्ति भोजकका है जो श्रुतिकीर्त्ति भोजकके उत्तराधिकारी थे। ऐसा

प्रतीत होता है कि श्रुतकीर्ति और उनके उत्तराधिकारी गृहस्थाचार्य सरीखे थे और कदम्ब नरेशोंके राजगुरुओंके पदपर आसीन रहे। इस राजाका हाल्मडि अभिलेख कन्नड भाषाके सर्वप्राचीन अभिलेखोंमें-से है।

मृगेशवर्मन्के शासनकालमें उसके चाचा कृष्णवर्मन् प्रथमने विद्रोह किया था और त्रिपर्वत प्रदेशपर अधिकार करके अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था जहाँ उसके वंशजोंने वैजयन्तीवाली मूल शाखाके साथ-साथ स्वतन्त्र राज्य किया। यह कृष्णवर्मन् अपने भानजे अविनीत गंगसे बहुत स्नेह करता था अतः गंगनरेश उसके सहायक रहे। उसने नागोंको भी पराजित किया था। कृष्णके बाद उसका पुत्र विष्णुवर्मन् प्रथम राजा हुआ, मूलवंशमें मृगेशका ही शासन चल रहा था। इस कालमें पल्लवों, सैन्द्रकों और बाणोंके परस्पर युद्धोंके कारण अशान्ति रही। विष्णुवर्मन्की सहायतार्थ आये गंगों और पल्लवोंको मृगेशने पराजित किया, उसने अलुवोंको भी अपने अधीन किया। उसकी रानी प्रभावती कैकयवंशकी राजकन्या थी। पल्लवोंके साथ इस युद्धमें उस रानीका भाई शिवनन्दिवर्मन् कैकय मारा गया था। फिर भी पल्लव सिंहवर्मन्की सहायतासे ही विष्णु-वर्मन् अपने राज्यको स्थिर रख सका। मृगेशके पश्चात् उसका पुत्र रवि-वर्मन् जो कैकय राजकन्या प्रभावतीसे उत्पन्न हुआ था, राजा हुआ। ४७८ से ५२० ई० तक उसने राज्य किया। गद्दीपर बैठनेके समय उसकी आयु कम थी अतएव उसके चाचा मानधातृवर्मन्ने संरक्षकके रूपमें राज्य कार्य सम्हाला। उसने गंग अविनीतसे संधि कर ली और उसके उत्तराधिकारी दुर्विनीतको अपना मित्र एवं सहयोगी बना लिया। सम्हलनेपर रविवर्मन्ने राज्यकी बागडोर अपने हाथमें ली। कदम्बोंकी त्रिपर्वत शाखामें विष्णु-वर्मन्, सिंहवर्मन् और कृष्णवर्मन् द्वितीयका क्रमशः शासन इसके समयमें रहा। रविवर्मन्ने अपने इन सम्बन्धियोंको उभरने नहीं दिया और कृष्ण-वर्मन् द्वितीय तथा उसके सहायक चण्डदण्ड पल्लवको बुरी तरह पराजित किया। रविवर्मन्ने अपने भाई भानुवर्मन्को हल्सीमें अपना प्रतिनिधि

नियुक्त किया। दुर्विनीत गंग पल्लवोंके विरुद्ध रविवर्मन्का मित्र था। इस प्रकार रविवर्मन्ने अपने पिताके समय हुए राज्य और वंशके विभाजनका अन्त करके पुनः एक कर लिया। कृष्ण द्वितीयके वंशज अजयवर्मन्, भोगि और विष्णुवर्मन् कुछ कालतक और विद्रोही बने रहे किन्तु उनका भी अन्त चालुक्य पुलकेशि प्रथमके पुत्र कीर्त्तिवर्मन्ने कर दिया। रविवर्मन् एक महान् प्रतापी एवं सुयोग्य नरेश था। वह जैनधर्मका भी परम भक्त था। हल्सी, कोरमग आदि स्थानोंसे उसके कई ताम्रशासन मिले हैं जो उसकी उत्कट जिनधर्म-भक्ति, धार्मिक आचरण, जिनमन्दिरोंका निर्माण, जैनगुरुओं और विद्वानोंका सम्मान, कार्तिकी अष्टाह्निका आदि जैनपर्वों और उत्सवोंको मनाने, विविध दान देने आदिका वर्णन करते हैं।

रविवर्मन्के धर्मगुरु जैनमुनि कुमारदत्त तथा हरिदत्त थे और राजगुरु एवं प्रमुख दानपात्र बन्धुसेन भोजक थे जो दामकीर्त्ति भोजकके उत्तराधिकारी थे। महाराजके भाई भानुवर्मन्ने जो हल्सीका शासक था, प्रत्येक पूर्णिमाको जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक करनेके लिए पण्डर भोजकको दान दिया था। पण्डर सम्भवतया बन्धुसेन भोजकका उत्तराधिकारी था। इसमें सन्देह नहीं कि कदम्ब-नरेश रविवर्मन् एक प्रतापी धर्मात्मा एवं शक्तिशाली राजा था।

इसके उपरान्त इसका पुत्र हरिवर्मन् (५२०–५४० ई०) राजा हुआ। यह कदम्बवंशका अन्तिम महान् नरेश और अपने पूर्वजोंकी ही भाँति जैनधर्मका भक्त था। उसके राज्यके चौथे और पाँचवें वर्षोंमें लिखे गये ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं जिनमें इस राजाके द्वारा जैनमन्दिरों और गुरुओंको दान देने तथा जैनधर्ममें उपदेशित अन्य धार्मिक कार्योंके करानेकी व्यवस्था करनेके उल्लेख हैं। कूर्चक संघके जैनाचार्य वारिषेणका यह राजा बहुत आदर करता था। इस नरेशके अभिलेखोंसे यह भी ज्ञात होता है कि उसका चाचा शिवरथ, जो रविवर्मन्का दूसरा भाई था, तथा दूसरी शाखाके कृष्ण द्वितीयके एक भाई और उसके पुत्र राजकुमार देववर्मन् आदि कदम्ब राजकुलके अन्य अनेक व्यक्ति भी जैनधर्मके अनुयायी थे और यह कि

कदम्बोंका मित्र सैन्द्रक नरेश भानुशक्ति भी जैन था। हरिवर्मन्के पश्चात् इस वंशका अन्त हो गया। ५६६ ई० तक कृष्ण द्वितीयके वंशज सम्भवतया चलते रहे, अन्ततः चालुक्य पुलकेशी प्रथम और कीर्तिवर्मनने कदम्ब शक्तिको समाप्त करके अपने राज्यका विस्तार किया। वैसे इस वंशका अस्तित्व गौण सामन्त सरदारोंके रूपमें १३वीं-१४वीं शती ई० तक पाया जाता है, विशेषकर हांगलके कदम्ब राजे ११वीं-१२वीं शतीमें अच्छे शक्तिशाली थे।

कदम्बोंका शासन सुचारु एवं सुव्यस्थित था। यद्यपि गंगों और पल्लवोंके साथ उन्हें निरन्तर युद्ध करने पड़े और आस-पासके नाग सरदारोंसे भी उलझते रहना पड़ा तथापि उनके राज्यमें आन्तरिक शान्ति-समृद्धि और व्यवस्था बनी रही। व्यापार-व्यवसाय निगमों-द्वारा सुसंगठित थे। इन नरेशोंकी स्वर्णमुद्राएँ अति श्रेष्ठ हैं। जैनमठों, अग्राहारों और ब्रह्मपुरियों द्वारा सार्वजनिक शिक्षाका प्रबन्ध था। जैनसंघ और संस्थाएँ सजीव एवं प्रगतिशील थीं और राजा-प्रजाकी लौकिक उन्नतिमें साधक एवं सहायक थीं। कदम्बोंके प्रमुख सामन्तवंश यथा सैन्द्रक, पुन्नाट, बाण आदि भी जैनधर्मके अनुयायी थे।

गंगवंश—२री शती ई० में दक्षिण भारतमें स्थापित होनेवाले नवीन राजवंशोंमें तीसरा गंगवंश था। दक्षिणके सम्पूर्ण वंशोंमें यह सर्वाधिक स्थायी रहा और पल्लव, कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि एकके-बाद-एक उदय होनेवाली सभी प्रधान राजशक्तियोंका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बना रहा। वर्तमान मैसूर प्रदेशके अधिकांश भाग तथा कावेरी नदीकी पूरी घाटीमें व्याप्त गंगवाडि राज्य पश्चिमी गंगवंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

इस वंशके नरेशोंके शिलालेखों व ताम्रपत्रों, साहित्यिक आधारों तथा अनुश्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि अयोध्यामें तीर्थङ्कर ऋषभके इक्ष्वाकुवंशमें राजा हरिश्चन्द्र हुए जिनके पुत्र भरतकी पत्नी विजयमहादेवीसे गंगदत्त या गंगेयका जन्म हुआ। उसीके नामसे यह वंश गंगवंश कहलाया।

इसका एक वंशज, विष्णुगुप्त, अहिच्छत्रका राजा था और तीर्थङ्कर अरिष्ट-नेमिका भक्त था। उसका वंशज श्रीदत्त तीर्थङ्कर पार्श्वनाथका उपासक था। श्रीदत्तके वंशमे अहिच्छत्रका राजा कम्प हुआ जिसका पुत्र पद्मनाभ था। इसके ऊपर उज्जैनीके राजाने आक्रमण किया अतएव पद्मनाभने सुरक्षाके लिए अपने दद्दिग और माधव नामक दोनों बालक-पुत्रोंको राजचिह्नों सहित दूर विदेशमें भेज दिया। प्रवासमें ये राजकुमार धीरे-धीरे बड़े हुए और घूमते-घूमते दक्षिण भारतके कर्णाटक देशस्थ पेरूर नामक स्थानमें पहुँचे। नगरके बाहर स्थित चैत्यालयमें दोनों राजकुमार अपने कुलदेव जिनेन्द्रका दर्शन-पूजन करनेके लिए गये। वहाँ आचार्य सिंहनन्दि अपने शिष्य समूह सहित विराजमान थे, यह उस काल और प्रदेशके एक प्रमुख जैनाचार्य थे। दोनों राजकुमारोंने जब उन्हें नमस्कार किया तो उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया, उन्हे अपने पास रखकर समस्त राज्योचित विद्याओंमें पारंगत किया, अन्तमें कर्णिकार-पुष्पोंका मुकुट पहिनाकर उन राजकुमारोंका राज्याभिषेक किया, अपनी मोरपिच्छिका उन्हें राजध्वजके रूपमें प्रदान की और मत्तगयन्द उनका राजचिह्न निश्चित किया। उस समय उन्हें आचार्यने यह चेतावनी दी कि 'यदि तुम लोग कभी अपना वचन भंग करोगे, कभी जिन-शासनसे विमुख होगे, पर-स्त्रीके ऊपर कुदृष्टि डालोगे, मद्य-मांसका सेवन करोगे, नीच व्यक्तियोंकी संगति करोगे, याचक-जनोंको दान देनेसे मुँह मोड़ोगे और रणभूमिसे पीठ दिखाकर भागोगे तो तुम्हारे कुलका नाश हो जायेगा।' राजकुमारोंने गुरुवचनोंको शिरोधार्य किया और गुरुकी मन्त्रणानुसार अद्‌भुत उत्साहके साथ राज्य-निर्माणमें संलग्न हो गये। उन्होंने बाण-मंडलको विजय करके गंगवाडि ९६००० की नींव डाली। एक शिलालेखके अनुसार इस प्रकार दद्दिग और माधवने नन्दिगिरिको अपना दुर्ग, कुवलाल (कोलार) को अपनी राजनगरी, ९६००० संज्ञक देशको अपना राज्य, रणभूमिमें विजयको अपनी चिरसंगिनि, जिनेन्द्रको अपना इष्टदेव, जिनमतको अपना धर्म और आचार्य सिंहनन्दिको अपना

गुरु बनाकर इस पृथ्वीका उत्तरमें माण्डले पर्यन्त, पूर्वमें तोण्डेयमण्डलम् तक, दक्षिणमें कोंगु देश तक और पश्चिममें चेर देशकी दिशामें महासागर पर्यन्त भोग किया।'

ऐसा प्रतीत होता है कि दद्दिगकी मृत्यु राज्यनिर्माणके प्रयत्नके मध्य ही हो गयी थी अतः दक्षिणके इस पश्चिमी गंगवंशका प्रथम वास्तविक नरेश और गंगवाडि राज्यका प्रथम स्वामी उसका छोटा भाई माघव कोंगुणिवर्म प्रथम (१८९–२५० ई०) था। यह नरेश बड़ा पराक्रमी एवं धर्मात्मा था। बाणोंके साथ उसके निरन्तर युद्ध चलते रहे। गंग अभिलेखोंमें उसे 'बाणरूपी वनके लिए दावाग्नि' कहा है। उसने मण्डलि नामक स्थानमें एक भव्य जिनालय एवं जैनपीठ बनवाया जो शिक्षा और संस्कृतिका केन्द्र और निर्ग्रन्थ गुरुओंका आवास-स्थान था। यह मन्दिर काष्ठका बनवाया गया बताया जाता है। उसके उपरान्त उसका पुत्र किरियमाधव द्वितीय राजा हुआ। इसने अपने पिताका पदानुसरण किया। वह नीतिशास्त्रमें निष्णात था और दत्तककृत वैशेषिक सूत्रोंपर उसने टीका लिखी थी। इसके तीन पुत्र थे—हरिवर्मन्, आर्यवर्मन् और कृष्णवर्मन्। हरिवर्मन्को पिताका उत्तराधिकार मिला। उसने कोलारका परित्याग करके तलकाड (तालवनपुर या तालवननगर) को राजधानी बनाया। अपने भाई आर्यवर्मन्को उसने पेरूर विषयका शासक बनाया जिससे गंगवंशकी पेरूर शाखा प्रारम्भ हुई। दूसरे भाई कृष्णवर्मन्को कैवार विषयका शासक बनाया और उससे वंशकी कैवार शाखा प्रारम्भ हुई। कृष्णने कुछ समयके लिए पेरूरपर भी अधिकार कर लिया किन्तु पल्लव सिंहवर्मन् और उसका पुत्र स्कन्दवर्मन् पेरूरके गंगोंके सहायक रहे और उन्हें उन्होंने फिरसे अपने राज्यमें स्थापित कर दिया। मूलवंशमें हरिवर्मन् अपनी धनुर्विद्याके लिए प्रसिद्ध था। युद्धमें उसने हाथियोंका प्रयोग किया और राज्यको समृद्ध बनाया। उसका पुत्र विष्णुगोप नारायणका विशेष भक्त था और जैनधर्मकी ओरसे उदासीन था। उसका पुत्र पृथ्वीगंग शीघ्र ही मर गया।

पृथ्वीगंगका पुत्र तदंगल माधव या माधव तृतीय एक महान् शासक था। उसका विवाह कदम्बनरेश काकुत्स्थवर्मन्की पुत्रीके साथ हुआ था। वह त्र्यम्बक और जिनेन्द्रका समान रूपसे भक्त था। मतूर तालुकेके नोनमंगल स्थानमें एक प्राचीन जैन बसदिके भग्नावशेषोंमें प्राप्त इस नरेशके १३वें वर्षमें लिखाये गये ताम्रशासनसे प्रकट है कि उसने परङ्बोलल ग्रामके अर्हत् मन्दिरके लिए दिगम्बराचार्य वीरदेवको कुमारपुर ग्राम तथा बहुत-सी अन्य भूमि प्रदान की थी। लुइस राइसने इस दान-पत्रकी तिथि ३७० ई० निश्चित की है। सम्भवतया इन्हीं वीरदेवने बिहारके राजगिरिपर स्थित सोनभण्डार गुफामें भी जिनमूर्तियाँ प्रतिष्ठित करायी थीं जैसा कि उक्त गुफामें प्रायः उसी कालके एक शिलालेखसे सूचित होता है। इस राजाका एक दान-पत्र ३५७ ई० का तथा दूसरा ३७९ ई० का प्राप्त हुआ है। अतः इसका शासनकाल लगभग ३५५ ई० से लेकर ४०० ई० तक चला।

३री–४ थी शताब्दीमें गंगनरेशोंके शासनकालमें कई प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। उच्चारणाचार्यने कसायपाहुडके यतिवृषभ-कृत चूर्णीसूत्रोंपर वृत्ति लिखी, शामकुण्ड और बप्पदेवने भी आगमोंपर टीकाएँ लिखीं। कुचि-भट्टारक और नन्दिमुनिने पुराणग्रन्थ लिखे। ये नन्दि भट्टारक पेरूर विषयके गंगराज आर्यवर्मन् आदिके गुरु थे। इसी कालमें जैन विद्वान् शिवशर्मने कम्मपयडि और सत्तक नामक कर्मग्रन्थोंकी रचना की। यशोभद्र, प्रभाचन्द्र और श्रीदत्त (जल्पनिर्णयका कर्त्ता) आदि विद्वान् भी इसी कालमें हुए। ४०० ई० के लगभग ही कविपरमेष्ठि या कवि परमेश्वर नामके जैनाचार्य हुए जो कन्नड भाषाके प्रथम कवि माने जाते हैं और जिन्होंने संस्कृत-कन्नड मिश्रित भाषामें वागार्थसंग्रह नामका प्रथम ज्ञात जैन महापुराण (त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र) लिखा।

तदंगल माधवका पुत्र अविनीत कोंगुणि महाराजाधिराज जो काकु-त्स्थवर्मन् कदम्बका दौहित्र और शान्तिवर्मन् एवं कृष्णवर्मन् प्रथमका प्रिय

भागिनेय था, अपने पिताकी मृत्युके समय माताकी गोदमें छोटा-सा शिशु मात्र था। शिलालेखोंमें उसे शतजीवी कहा गया है और उसका शासन बहुत दीर्घकालीन सूचित किया गया है। लगभग ४००–४८२ ई० पर्यन्त उसने राज्य किया। यह नरेश बड़ा पराक्रमी और धर्मात्मा था। उसके गुरु जैनाचार्य विजयकीर्त्ति थे जिनकी देख-रेखमें इस नरेशकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। सन् ४३० ई० में उसने अपने नोनमंगलताम्रशासन-द्वारा इन विजयकीर्त्तिको मूलसंघके चन्द्र-नन्दि आदि गुरुओं-द्वारा स्थापित उरनूरके अर्हत् मन्दिर और विहारके लिए दान दिया था। ४४२ ई० मे उसने हसकोटे ताम्रशासन-द्वारा एक अन्य अर्हतायतनको दान दिया था। इस अभिलेखमें पल्लवा-धिराज सिंहवर्मनकी माताका भी उल्लेख है। यह पल्लव-नरेश जैनाचार्य सर्वनन्दिके लोक-विभाग (४५८ ई०) मे उल्लिखित सिंहवर्मन् ही प्रतीत होता है। मन् ४६६ ई० में अविनीतने राजधानी तालवन नगरकी प्रसिद्ध जैन बसदिके लिए दान दिया था जिसकी सूचना मर्करा ताम्रपत्रमें पायी जाती है। सुप्रसिद्ध दिगम्बराचार्य देवनन्दी पूज्यपाद (४६४–५२४ ई०) को उसने अपने पुत्र युवराज दुर्विनीतका शिक्षक नियुक्त किया था। अभिलेखोंमे अविनीतको 'विद्वज्जनोंमें प्रमुख, मुक्तहस्त दानी और दक्षिणापथमें जाति-व्यवस्था एवं धर्मसंस्थानोंका प्रधान संरक्षक' लिखा है। एक स्थानमें लिखा है कि 'इस नरेशके हृदयमें महान् जिनेन्द्रके चरण अचल मेरुके समान स्थिर थे।' पेरूरके जिनालय, पुन्नाटकी जैन बसदियों तथा अन्य जिनायतनोंको भी उसने दान दिये थे। पल्लव और कदम्ब प्रतिस्पर्धाके बीच भी उसने अपने राज्यकी शक्ति और समृद्धिको अक्षुण्ण रखा। उसका शासन-प्रबन्ध भी उत्तम था।

उसका पुत्र दुर्विनीत कोंगुणी (४८२–५२२ ई०) गंगवंशका एक महान् नरेश था। वह बड़ा प्रतापी, महत्त्वाकांक्षी, वीर, विद्वान्, साहित्यरसिक और गुणियोंका आदर करनेवाला था। स्वगुरु आचार्य पूज्यपादका

पदानुसरण करनेमें वह अपने आपको धन्य मानता था। महाकवि भारवि भी कुछ समय तक उसके दरबारमें रहे और उसने उनके किरातार्जुनीयके १५वें सर्गपर एक टीका भी लिखी। गुरु-द्वारा रचित पाणिनी व्याकरणकी शब्दावतार टीकाका कन्नड अनुवाद और प्राकृत बृहत्कथाका संस्कृत अनुवाद भी उसने किया बताया जाता है। कोगलि नामक स्थानमें उसने चेन्नपार्श्वनाथ बसदिका निर्माण कराया था। उसके कई ताम्रपत्र मिले हैं, गुम्मरेडिपुर ताम्रशासन उसके राज्यके ४०वें और सम्भवतया अन्तिम वर्षका है। कन्नड भाषाके प्रारम्भिक लेखकों और कवियोंमें भी दुर्विनीतकी गणना है। चालुक्यवीर विजयादित्यके साथ दुर्विनीतने अपनी कन्या विवाह दी थी किन्तु चण्डदण्ड त्रिलोचन पल्लवके साथ युद्धमें विजयादित्यकी मृत्यु हो जानेपर दुर्विनीतने उक्त पल्लव-नरेशको बुरी तरह पराजित करके बदला लिया और अपने दौहित्र जयसिंह रणराग विष्णुवर्धनको उसके पिताके सिंहासनपर स्थापित किया। भुजग पुन्नाटकी पौत्री और स्कन्द पुन्नाटकी पुत्रीके साथ अपना विवाह करके दुर्विनीतने पुन्नाट प्रदेशको दहेजमें प्राप्त किया था। अपने पराक्रम और विजयोंके द्वारा उसने पूर्व पश्चिम दोनों दिशाओंमें राज्यका विस्तार करके साम्राज्यकी स्थापना की। वस्तुतः अपने समयमें दुर्विनीत गंग दक्षिणापथका सर्वाधिक शक्तिशाली सम्राट् था। पुन्नाट देश जो उसके राज्यका अंग हो गया था, जैनधर्मका प्राचीन कालसे ही एक प्रमुख केन्द्र था। जैनाचार्योंका एक प्रसिद्ध संघ, जिसमें हरिवंशकार जिनसेन हुए हैं, पुन्नाट संघके नामसे ही प्रसिद्ध था। दुर्विनीतके प्रधान धर्म एवं विद्यागुरु पूज्यपाद देवनन्दि जैनधर्मके सर्व-महान् आचार्योंमें-से हैं। जैनेन्द्रव्याकरण, कल्याणकारक, शब्दावतार, सर्वार्थसिद्धि, समाधितंत्र आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी उन्होंने रचना की। सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, काव्य, आयुर्वेद, छन्दशास्त्र आदि विभिन्न विषयोंमें वे निष्णात थे। गंगराजधानी तलकाडकी प्रधान जैन बसदिके वे अध्यक्ष थे और यह संस्थान उस कालमें दक्षिण भारतमें

ज्ञानका प्रमुख केन्द्र, एक महान् विद्यापीठ और सांस्कृतिक अधिष्ठान था। अन्य धर्मोंके प्रति भी यह राजा सहिष्णु था।

दुर्विनीतके दो पुत्र थे—पोलवीर और मुष्कर। दुर्विनीतके पश्चात् कुछ समय तक पोलवीरने राज्य किया प्रतीत होता है। तदुपरान्त मुष्कर (मोक्कर) राजा हुआ। इसने ५५० ई० के लगभग बेलारीके निकट मुष्कर बसदि नामक जिनालयका निर्माण कराया था। मुष्करका पुत्र श्रीविक्रम था। इसके समयमें चालुक्योंके वृद्धिगत प्रतापके सम्मुख कदम्ब वंशका प्रायः अन्त हुआ और गंगराज भी कुछ हतप्रभ हो गया। इस राजाकी दो पत्नियाँ थीं, एक चोल राजकुमारी जिससे युवराज भूविक्रम उत्पन्न हुआ था और दूसरी सिन्धुराजकी कन्या शिवमार नवकामकी माता थी। श्रीविक्रमके समयमें गंगोंकी पेरूर और कैवार शाखाओंका अन्त हुआ और कोलालपर फिरसे तलकाड शाखाका अधिकार हुआ। इसी समय कोलालसे कुछ गंग कलिंग चले गये और उन्होंने कलिंगके गंगवंशकी स्थापना की तथा अपना गंगसंवत् चालू किया। श्रीविक्रमके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र भूविक्रम या भूवल्लभ श्रीविक्रम राजा हुआ। उसने पल्लव नरेशको पराजित करके उससे एक बहुमूल्य हार छीना जिसमें उग्रोदय नामका प्रसिद्ध रत्न जड़ा था। सन् ६३४ ई० के उसके बेदनूर दानपत्रसे उसका जिनभक्त होना सूचित होता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका सामन्त बाणवंशी राजा विक्रमादित्य गोविन्द शचीन्द्र भी जिनभक्त था। यह राजा अकलंकदेवके सधर्मा पुष्पसेन मुनिका भी भक्त रहा प्रतीत होता है। भूविक्रमका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई शिवमार प्रथम नवकाम शिष्टप्रिय पृथ्वी कोंगुणि हुआ। इसे वृद्धावस्थामें राज्य मिला था। यह राजा परम जैन था, सन् ६७० ई० में इसने जैनमन्दिरोंका निर्माण कराया था और जैनगुरु चन्द्रसेनाचार्यको दान दिया था। ये आचार्य सम्भवतया पञ्चस्तूपान्वय शाखाके थे और स्वामी वीरसेनके दादागुरु थे। सन् ७०० ई० का शिवमारका हीरेमथ ताम्रशासन मिला है जिससे

गंगोंके पूर्व इतिहासपर प्रकाश पड़ता है और जिसमें गंग दुर्विनीत और उसके गुरु देवनन्दी पूज्यपादका भी उल्लेख है। ७१३ ई० का उसका एक अन्य अभिलेख मिलता है। उसके उपरान्त उसके पुत्र राचमल्ल एरे गंगका अल्पकालीन शासन रहा प्रतीत होता है, तदनन्तर शिवमारका पौत्र श्रीपुरुष (७२६–७७६ ई०) राजा हुआ।

दुर्विनीतके उत्तराधिकारी और श्रीपुरुषके उपरोक्त पूर्वज गंगनरेश चालुक्य नरेशोंके प्रायः अधीन रहे, किन्तु उनके राज्यविस्तार एवं राज्यकी शक्ति और समृद्धिको विशेष क्षति नहीं पहुँची। चालुक्य नरेश गंग राजाओं का बहुत आदर करते थे। यह युग शान्तिपूर्ण रहा, अनेक विद्वान् जैनाचार्यों ने ६ठी ७वीं शताब्दीमे जैनधर्मकी प्रभावनाकी और महत्त्वपूर्ण साहित्यका सृजन किया। गंगराज्यमें निवास करनेवाले अथवा गंगनरेशोंसे सम्मान और प्रश्रय पानेवाले इस कालके जैनगुरुओंमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं— पूज्यपादके शिष्य गुणनन्दि शाब्दब्रह्म जिन्होंने जैनेन्द्रप्रक्रियाकी रचना की (ल० ५५० ई०), नवशब्दवाच्यके कर्त्ता वक्रग्रीव (ल० ५७५ ई०), त्रिलक्षण-कदर्थनके कर्त्ता पात्रकेसरि (५७५–६२५ ई०), नवस्तोत्रके रचयिता और मदुरामें द्रमिलसंघके संस्थापक वज्रनन्दि (५८२–६०४ ई०), सन्मतिसूत्रके टीकाकार सुमति देव (ल० ६०० ई०), कवि दण्डी द्वारा प्रशंसित तथा चूडामणि शास्त्रके कर्त्ता श्रीवर्धदेव (६००–६२५ ई०), ज्योतिषाचार्य गर्गाचार्य और ऋषिपुत्र (६५० ई०), पञ्चस्तूपान्वयके गुरु वृषभनन्दि (६५० ई०) तथा चन्द्रसेनाचार्य (६७० ई०) आदि। परमात्मप्रकाश आदिके कर्त्ता अपभ्रंशके महाकवि जोइन्दु, सुलोचनाकथाके कर्त्ता महासेन, वरांगचरित्रके रचयिता जटासिंहनन्दि, पद्मपुराणकार रविषेण, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिके कर्त्ता पद्मनन्दि, विजयोदया टीकाके कर्त्ता अपराजितसूरि, वादन्यायके कर्त्ता कुमारनन्दि, वर्द्धमानपुराणकार जिनसेन प्रथम पुन्नाटवंशी, नाममालाके कर्त्ता कवि धनञ्जय तथा वीरसेनके गुरु आर्यनन्दि इत्यादि विद्वान् भी इसी कालमें हुए। इनमें से कुछ उत्तर या मध्य भारतमें

भी रहे प्रतीत होते हैं।

गंगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरम शत्रुभयङ्कर पृथ्वी कोंगुणि परम्मानदि (७२६–७६ ई०) के दीर्घकालीन शासनकालमें गंगराज्य अपनी समृद्धि की चरम सीमाको पहुँच गया। इस समय नवोदित राष्ट्रकूट नरेश अपनी शक्ति बढ़ानेमें संलग्न थे और चालुक्य सम्राट् उनके प्रहारोंसे संत्रस्त थे, अतएव गंगोंको शान्तिके साथ अपनी शक्ति और समृद्धिके बढ़ानेका अवसर मिल गया। श्रीपुरुष योग्य, नीतिपरायण एवं धर्मात्मा शासक था। पल्लवों और राष्ट्रकूटोंसे उसे कई युद्ध भी करने पड़े। पल्लवोंको तो उसने बुरी तरह पराजित किया, युद्धमें पल्लव-नरेश मारा गया और उसका राज्यछत्र श्रीपुरुषके हाथ लगा। राष्ट्रकूटोंके प्रहारोंका भी श्रीपुरुष वीरता और बुद्धिमत्ताके साथ निवारण करता रहा। नेक्कुंडिके युद्धमें महाबली बाणरायको उसने पराजित किया, कल्वप्पनाडुका दिंडिग बाण भी उसके अधीन हुआ। चिलर्देके युद्धमें ऊपर लिखे अनुसार पल्लव-नरेश को पराजित करनेपर उसने परमाडि उपाधि प्राप्त की। श्रीवल्लभ, लोकधूर्त और राजकेसरी उसके अन्य विरुद थे और उसका राज्य श्रीराज्य कहलाया। पाण्डय-नरेश राजसिंहके पुत्रके साथ अपनी कन्याका विवाह करके श्रीपुरुषने पाण्डयोंसे मैत्री सम्बन्ध बनाया और फलस्वरूप पाण्डयराज्य में जैनोंपर जो अत्याचार पिछले दशकोंसे हो रहे थे उनका अन्त हुआ, और उसके साथ ही जैनोंकी तामिल साहित्यिक प्रवृत्तियोंका पुनरुत्थान हुआ। तामिल भाषाके कई सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ इस समयके लगभग रचे गये और उनको रचनेमें जैन विद्वानोंका हाथ विशेष रूपसे था। चिकबल्लालपुर आदि कई स्थानोंके भग्न जैनमन्दिरोंका जीर्णोद्धार हुआ। गंगोंके अधीनस्थ बाण-नरेश भी जैनधर्मके भारी भक्त थे। ७५० ई० के लगभग वल्लमलई में जैनमुनि अज्जनन्दिने आचार्य भानुनन्दिके शिष्य और बाणनरेशके गुरु देवसेनकी मूर्ति स्थापित की थी। इस समयके लगभग श्रवणबेलगोल प्रशस्ति के आचार्य प्रभाचन्द्र एक महान् धर्म प्रभावक एवं राजमान्य गुरु थे।

विमलचन्द्र, वृद्धकुमार सेन, परवादिमल्ल, तोरणाचार्य, पुष्पसेन, अनन्तकीर्त्ति प्रथम, बृहद् अनन्तवीर्य, महान् नैयायिक स्वामी विद्यानन्दि आदि इस कालमें कर्णाटक देशके प्रसिद्ध जैनगुरु थे। नरसिंहपुरा ताम्रशासनके द्वारा इस राजाने तोल्ल विषयके जिनमन्दिरको दान दिया था। ७७६ ई० मे उसने श्रीपुरके पार्श्व-जिनालयके लिए दान दिया, सम्भवतया इसी अवसरपर उक्त जिनालयमे राजाके समक्ष ही स्वामी विद्यानन्दिने अपने प्रसिद्ध श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्रकी रचना की थी। इसी वर्ष इस नरेशने निर्गुण्ड प्रदेश में स्थित पोण्णल्लिस्थानके लोकतिलक-जिनालयको कई ग्राम प्रदान किये। इस जिनमन्दिरका निर्माण कंदच्चि नामक राजमहिलाने कराया था जो पल्लवाधिराजकी पुत्री थी और निर्गुण्डराज परमगुलकी रानी थी। इस निर्गुण्डराजके पिताके गुरु विमलचन्द्राचार्य थे, इन्हींके किसी शिष्य-प्रशिष्य को वह दान दिया गया प्रतीत होता है। महान् तार्किक स्वामि विद्यानन्दि का साहित्यिक जीवन और आचार्य काल भी इसी वर्षसे प्रारम्भ होता है। श्रीपुरको ही उन्होंने अपना निवास बनाया था क्योंकि इसी समयके लगभग उस स्थानके निकट शृंगेरीमें शङ्कराचार्य और उनके शिष्य सुरेश्वर अपने वेदान्त दर्शन एवं नवीन धार्मिक आन्दोलनकी प्रधान पीठ स्थापित कर रहे थे। विद्यानन्दिके प्रभाव, प्रतिभा, सहिष्णुता एवं सौजन्यके कारण ही शङ्कराचार्य और उनके संगठनका सारा कोप बौद्धोंको सहन करना पड़ा, जैनोंके साथ उनका सौहार्द बना रहा।

सन् ७७७ ई० मे ५० वर्षसे ऊपर राज्य करनेके उपरान्त श्रीपुरुष ने राज्यका परित्याग करके और पुत्र शिवमार द्वितीय सैगोतको सिंहासन देकर अपने जैनगुरुओंके निकट उदासीन श्रावकके रूपमे धर्मसाधनमें जीवन बिताया। सम्भवतया ७८८ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। श्रीपुरुषके तीन पुत्र थे, शिवमार द्वितीय सैगोत, दुग्गमार एयरप्प और विजयादित्य। पिताके उपरान्त शिवमार द्वितीय सैगोत (७७६-८१५ ई०) राजा हुआ। वह इस समय बूढ़ा हो चला था, पिताके राज्यकालमें

७५४ ई० में ही वह कुदुम्बरका प्रान्तीय शासक था। उसके सिंहासनपर बैठते ही राष्ट्रकूटोंमें गृह-युद्ध हुआ। ध्रुवने अपने भाई गोविन्द द्वितीयको मारकर राज्य हस्तगत किया। शिवमार गोविन्दका सहायक था अतः ध्रुवने गंगराज्यपर आक्रमण किया और ७८४ ई० में शिवमारको हराकर बन्दी कर लिया। उसका अधिकांश जीवन राष्ट्रकूटोंके बन्दीगृहमें ही बीता। प्रारम्भमें ७८४–८८ ई० ध्रुवका पुत्र कम्भ गंगवाडिका शासक रहा, तदुपरान्त शिवमारका पुत्र युवराज मारसिंह अपने पिताकी ओरसे राज्य करता रहा। उसका चाचा दुग्गमार एयरप्प उसका सहायक था। ७९४ ई० मे राज्य प्राप्त करनेपर राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीयने शिवमारको मुक्त कर दिया और इस पराक्रमी गंगने वल्लभेन्द्र, राष्ट्रकूट, चालुक्य और हैहयोंके मित्र-संघको पराजित किया। वेंगिके विरुद्ध गोविन्दकी सहायता की और पल्लवोंको अपना मित्र बनाया, किन्तु राष्ट्रकूटोंने उसे फिरसे बन्दी बना लिया। ८१० ई० के लगभग वह फिर मुक्त हो गया। उसके जीवन-कालमें उसके पुत्र युवराज मारसिंह और भाई दुग्गमारकी मृत्यु हो गयी प्रतीत होती है और अन्तिम वर्षोंमें उसका तीसरा भाई विजयादित्य रणविक्रम उसका सहायक रहा। अतः ८१५ ई० में शिवमारकी मृत्युपर उसका भाई विजयादित्य राजा हुआ किन्तु तुरन्त उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (८१५–८५३ ई०) मूल गंगराज्यका स्वामी हुआ। उसके साथ-ही-साथ शिवमारका द्वितीय पुत्र और मारसिंहका छोटा भाई पृथ्वीपति प्रथम अपराजित भी राज्यके कुछ भागपर अधिकृत हुआ और गंगवंश फिर एक बार दो शाखाओंमें विभक्त हुआ।

इसमें सन्देह नहीं कि शिवमार भारी योद्धा और पराक्रमी था, जैन-धर्मका भी वह महान् संरक्षक एवं भक्त था। वह स्वामी विद्यानन्दिका आश्रयदाता था, उसका पुत्र मारसिंह और भतीजा सत्यवाक्य भी भक्त थे। इन गंगनरेशोंके नाम-संकेत विद्यानन्दिके विभिन्न ग्रन्थोंमें पाये जाते

है। शिवमारने श्रवणबेलगोलके छोटे पर्वतपर एक सुन्दर जिनालय भी बनवाया था जिसे शिवमारन बसदि कहते हैं। ७९७ ई० में युवराज मारसिंहके लोकत्रिनेत्रके सेनानायक श्रीविजयने श्रीविजय नामक सुन्दर जिनालय राजधानी मान्यपुरमें बनवाया था, उसके लिए युवराजने विपुल दान दिया था और कुन्दकुन्दान्वयके गुरु प्रभाचन्द्रका सम्मान किया था। ८०० ई० में युवराज मारसिंह और उसके चाचा दुग्गमारने अंजनेय नामक सुन्दर मन्दिर बनवाया था। गंजम दान-पत्रके द्वारा इसी समयके लगभग इस शासकने जैनगुरुओंको और भी बहुत-सा दान दिया था तथा नन्दि पर्वतपर आचार्य कुन्दकुन्दका स्मारक भी बनवाया था। शिवमारके प्रान्तीय शासक विट्टिरस और विजयशक्तिरमने भी उसी कालमें जैनमन्दिरोंका निर्माण कराया और उनके लिए दान दिया था। ८०१ ई० मे बसवहिके ईश्वर जिनालयका निर्माण हुआ। ८०२ ई० में राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्द तृतीयने गंगराज्यमें मान्यपुरकी उपरोक्त श्रीविजय बसदिके लिए मन्ने दान-पत्र-द्वारा दान दिया और उदारगणके जैनगुरुओंका सम्मान किया। ८०७ ई० में राष्ट्रकूट गोविन्दके भाई कम्भने चामराजनगर दान-पत्र द्वारा अपने पुत्र शकरगणकी प्रार्थनापर तालवन नगरकी श्रीविजयवसदिके लिए कुन्दकुन्दान्वयके कुमारनन्दिके प्रशिष्य और एलाचार्यके शिष्य वर्धमान गुरुको दान दिया था। गोविन्दके कदम्ब दान-पत्र (८१२ ई०) से विदित होता है कि उस समय गंगराज्यमें राष्ट्रकूटोंका प्रतिनिधि चाकिराज था जिसकी प्रार्थनापर राजाने शीलग्रामके जैन-मन्दिरके लिए यापनीय संघके गुरु अर्ककीर्त्तिको दान दिया था। शिवमार भारी विद्वान् और गुणी भी था, वह पातञ्जलिके फणिसूतमत प्रकरणका परिज्ञाता और गजाष्टक ग्रन्थका कर्त्ता भी था।

मूल शाखामें शिवमारका उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य था जिसके आश्रयमें आचार्य विद्यानन्दिने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की। अपने पूर्वजोंकी नाईं वह भी जैनधर्मका भक्त था। दूसरी शाखामें उसीके

समानान्तर राज्य करनेवाला पृथ्वीपति प्रथम अपराजित भी बड़ा पराक्रमी था। उसने बाणोंसे मैत्री की, राष्ट्रकूटोंसे निरन्तर युद्ध चालू रखा, उनके विरुद्ध दो बाण राजकुमारोंको शरण दी और पल्लवोंके सहयोगसे पाण्ड्य-नरेश वरगुण द्वितीयको करारी हार दी। युद्धमें ही उसकी मृत्यु हुई। इस राजाके गुरु जैनाचार्य अरिष्टनेमि थे। उनके समाधिमरणपूर्वक देहत्यागके समय पृथ्वीपति और उसकी रानी कम्पिला श्रवणबेलगोलके कटवप्र पर्वतपर स्वयं उपस्थित हुए थे। उसके पुत्र मारसिंहने ८५३ ई० में हिन्दूपुर ताम्रपत्र-द्वारा दान दिया था। उसका पुत्र पृथ्वीपति द्वितीय हस्ति-मल्ल तथा पौत्र नन्नियगंग भी जैनधर्मके भक्त थे। ये राष्ट्रकूट कृष्णके सामन्त हो गये थे। इनके उपरान्त यह शाखा समाप्त हो गयी।

मूलशाखामें राचमल्ल सत्यवाक्यके समयसे गंगवंशकी शक्ति और समृद्धिका फिरसे उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। उसके गद्दीपर बैठनेके समय गंग राज्यकी स्थिति बड़ी डाँवाडोल थी—एक ओर राष्ट्रकूटोंकी महान् शक्ति, दूसरी ओर बाण सरदार और नोलम्ब सामन्त उभड़ रहे थे। उसने बाण-नरेशको पराजित करके उनका दमन किया, नोलम्बाधिराजकी बहिनके साथ अपना और अपनी पुत्रीके साथ उसका विवाह करके पल्लव नोलम्बोंको मित्र बनाया। राष्ट्रकूटोंके साथ उसका निरन्तर युद्ध चलता रहा। किन्तु अन्यत्र उलझे रहनेके कारण अमोघवर्ष गंगोंके विरुद्ध पूरी शक्ति कभी न लगा सका। राचमल्लने उत्तरी अर्काटके चित्तूर तालुकेके वल्लमलई पर्वतपर गुफाएँ निर्माण करायीं और उनमें जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी। उसके गुरु बालचन्द्रके शिष्य आर्यनन्दि थे। सम्भवतया यही ज्वालमालिनीकल्पके रचयिता थे, राचमल्लके बाद एरगंग नीतिमार्ग प्रथम राजा हुआ। उसकी बहिन जयब्बे पल्लव नोलम्बराजसे विवाही थी और उसने अपने पुत्र युव-राज बुटुग (भुतुग) का विवाह राष्ट्रकूट अमोघवर्षकी कन्या चन्द्रबेलब्बाके साथ करके राष्ट्रकूटोंको भी मित्र बना लिया, यह मैत्री स्थायी हुई। कुडलूर शिलालेखमें इस नरेशको 'परमपूज्य अर्हद्भट्टारकके चरणकमलोंका भ्रमर'

लिखा है, उसी शिलालेखमें युवराज भुतुगेन्द्र बुत्तरस गुणतुरंगको भी परम जैन लिखा है। उसी शिलालेखके निकट राजन नीतिमार्गको जैन सल्लेखना का प्रस्तराङ्कन भी मिलता है जिसमे उनका विश्वासपात्र सेवक अगरय्य उन्हे सम्हाले हुए बैठा है और सम्मुख शोकमग्न युवराज खड़ा है। इस राजाने अनेक युद्धोंमें वीरताके साथ विजय भी प्राप्त की बतायी जाती है, सम्भवतया वे युद्ध इसने राष्ट्रकूटोंकी सहायताके लिए किये थे। नीतिमार्गने ८५३–८७० ई० तक राज्य किया। युवराज भुतुगेन्द्र सम्भवतया पिताके समाधिमरणको देखकर विरक्त हो गया था, अतः नीतिमार्गके पश्चात् उसका दूसरा पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीय (८७०–९०७ ई०) राजा हुआ। यह भी सम्भव है कि भुतुगेन्द्र राचमल्लका छोटा भाई हो और क्यों कि वह स्वयं निस्सन्तान था अतः उसके समयमें ही युवराज कहलाया हो। राचमल्लके शासनकालमें भुतुग कोंगुनाड और पुन्नाडका शासक रहा प्रतीत होता है। इस राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीयने सन् ८८७ ई० में वेलूर ताम्र-शासन-द्वारा पेन्नेकडगंके स्वनिर्मित सत्यवाक्य-जिनालयके लिए शिवनन्दि सिद्धान्त भट्टारकके शिष्य सर्वनन्दिको बारह ग्राम प्रदान किये थे। इन दोनों ही भाइयोंने वेंगिके चालुक्यों, पाण्ड्यों, पल्लवों आदिके साथ अनेक युद्ध किये और प्रशंसनीय विजय प्राप्त कीं। राचमल्लके जीवनमें ही भुतुगकी मृत्यु हो गयी अतः भुतुगका पुत्र एयरप्प ऐरेयगंग नीतिमार्ग द्वितीय सत्य-वाक्य महेन्द्रान्तक युवराज हुआ और ताऊकी मृत्युके बाद (९०७ ई०) राजा हुआ। उसका विवाह चालुक्य-राजकुमारी जाकम्बाके साथ हुआ था। पल्लवोंके विरुद्ध युद्ध करके उसने अनेक दुर्ग जीते थे। इस राजाने मुडहल्लि और तोरमबुके जिन-मन्दिरोंको दान दिये थे। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी इरिवबेडङ्ग नरसिंह सत्यवाक्य था, इसने थोड़े समय ही राज्य किया, ९२० ई० के लगभग इसकी मृत्यु हो गई। इसके गुरु द्रविड-संघी विमलचन्द्राचार्य थे। इस राजाके दो पुत्र थे, राचमल्ल सत्यवाक्य तृतीय और बुतुगगंग गंगेय। राचमल्ल सत्यवाक्य तृतीय ९२० से ९३८ ई०

तक राजा रहा। इसने बेंगिके चालुक्योंको युद्धमें पराजित किया। इसी समय राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयने पल्लव शक्तिको कुचल डाला और गंग राचमल्ल पर भी आक्रमण किया। युद्धमें राचमल्ल मारा गया। तदुपरान्त राष्ट्रकूटों की सहायतासे उसका भाई बुतुग द्वितीय गंग गंगेय राजा हुआ। ९३८–९५३ ई० तक उसने राज्य किया। बुतुगका विवाह राष्ट्रकूट अमोघवर्ष तृतीयकी पुत्री और कृष्ण तृतीयकी बड़ी बहिन रेवाके साथ हुआ था, उसका दूसरा विवाह कल्लब्बरसी नामक राजकुमारीसे हुआ था। राष्ट्रकूट राजकुमारीके साथ उसने पुलिगेरे, बेलबोला, किसुकद, बगे आदि विषय दहेजमें प्राप्त किये थे। यह राजा भी बड़ा पराक्रमी था, अनेक युद्धोंमें इसने विजय प्राप्त की थी। वह एक प्रभावशाली शासक था और जैनधर्मका परम भक्त था। जैनमन्दिरों और गुरुओंको उसने अनेक दान दिये थे। जैनसिद्धान्तका भी वह पण्डित था और परवादियोंसे शास्त्रार्थ करनेका भी उसे चाव था। एक बौद्ध विद्वान्के साथ उसके शास्त्रार्थके उल्लेख मिलते हैं। सन् ९३८ के उसके सुदी दानपत्रसे पता चलता है कि उसकी एक अन्य रानी दिवलम्बिकाने ऐसी छह जैनआर्यिकाओंके लिए जो तपस्यामें लीन थीं वह दान समर्पित किया था। उसमें जैनगुरु नागदेव पण्डितका तथा राजाके वीरतापूर्ण कार्य-कलापोंका भी उल्लेख है। उसके एक अन्य-गुरु कनकसेन वादिराज थे। सन् ९५० ई० के अतकूर दानपत्रमें बुतुग-द्वारा चोलोंकी विजय और उनके सेनापति चोल राजकुमारके मारे जानेका उल्लेख है। इस लेखसे यह भी प्रतीत होता है कि सम्भव है अपने भाई राचमल्ल तृतीय की मृत्युमें उनका भी हाथ हो। उसके कुदलूर ताम्रपत्रसे प्रकट है कि उसके परिवारके अन्य व्यक्ति भी जैनधर्मके भक्त थे। राजाकी बड़ी बहिन पमब्बेने जो बड़ी विदुषी थी और पोदियर दोरपय्यकी रानी थी और गुणचन्द्र भट्टारक तथा आर्यिका नाणब्बेकन्तिकी शिष्या थी, तीस वर्ष पर्यन्त जैन आर्यिकाके रूपमें तपस्या की थी और अन्तमें समाधिमरण-द्वारा उसकी मृत्यु हुई थी। राजाके हृदयपर इस घटनाका बड़ा प्रभाव पड़ा। बुतुगके तथा

उससे सम्बन्धित अन्य भी कई अभिलेख मिलते हैं। बुतुग द्वितीय के पश्चात् राष्ट्रकूट-राजकुमारी रेवासे उत्पन्न उसका पुत्र मरुलदेव (९५३–९६१ ई०) राजा हुआ। उसके अभिलेखोंमे उसे 'जिनपदभ्रमर' लिखा है। इसका विवाह अपनी ममेरी बहिन, राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयकी कन्या बीजब्बेके साथ हुआ था और उसके उपलक्ष्यमे मरुलको एक राजच्छत्र भी प्राप्त हुआ था। उसकी बहिन सोमिदेवीका विवाह राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयके पुत्रसे हुआ था जिससे इन्द्र चतुर्थका जन्म हुआ। राष्ट्रकूटोंके साथ कई पीढ़ियोंसे चले आते इन विवाह-सम्बन्धोंकी शृंखलाने गंगवंशकी शक्ति काफ़ी बढ़ा दी थी और इसीसे गंगनरेश वेंगिके चालुक्योंको बार-बार छका सके, पल्लवोंको दबाये रख सके और चोलोंकी बढ़ती हुई शक्तिका निवारण कर सके।

मरुलके पश्चात् उसका सौतेला भाई मारसिंह पल्लवमल्ल नोलम्ब-कुलान्तक गुत्तियगंग (९६१–९७४ ई०) राजा हुआ। उसका राज्य-विस्तार बहुत बड़ा था। यह इस वंशका अन्तिम महान् नरेश था। राष्ट्रकूट गंगोंको अपना अधीनस्थ सामन्त समझते थे किन्तु वास्तवमें इस कालमें गंगनरेश ही राष्ट्रकूट-साम्राज्यके संरक्षक हो रहे थे। मारसिंहके गगकन्दर्प, गंगविद्याधर आदि और भी अनेक विरुद थे। उसने मालवेपर आक्रमण करके सियक परमारको पराजित किया। श्रवणबेलगोलके कूगे ब्रह्मदेवस्तम्भपर उत्कीर्ण इस नरेशकी प्रशस्तिसे पता चलता है कि उसने कृष्ण तृतीयके लिए गुर्जर देशको विजय किया, कृष्णके बली शत्रु अल्ल का दमन किया, विन्ध्यप्रदेशके किरातोंको छिन्न-भिन्न किया, मान्यखेटमें चक्रवर्तीके कटकको रक्षा की, शिलाहार विज्जलसे युद्ध किया, बनवासीके राजाओंको पराजित किया, मातुरोंका दमन किया, उच्चंगीके सुदृढ़ दुर्गको हस्तगत किया, सवर राजकुमार नरगका नाश किया, चेर चोल पाण्ड्य और पल्लवोंका दमन किया, चालुक्य विजयादित्यका अन्त किया, इत्यादि। इन विजयोंका उल्लेख करते हुए लेखमें लिखा है कि मारसिंहने जैनधर्मका

अनुपम उद्योत किया था, कई स्थानोंमें दर्शनीय जिन-मन्दिर एवं मानस्तम्भ निर्माण कराये थे। इस प्रकार भक्तिपूर्वक धर्मकार्य करते हुए मृत्युसे एक वर्ष पूर्व उसने राज्यका परित्याग किया और उदासीन श्रावकके रूपमें जीवन बिताया। अन्तमें ३ दिनके सल्लेखना व्रत-द्वारा बंकापुरमें अपने गुरु अजितसेन भट्टारकके चरणोंमें समाधिमरण किया। कुडलूर दान-पत्रसे प्रकट है कि "महाराज मारसिंह परहित-साधनमें आनन्द लेता था, परधन परस्त्री त्यागी था, सज्जनोंकी निन्दा सुननेमें बधिर था, साधुओं और ब्राह्मणोंको दान तथा शरणागतोंको अभय देनेमें सदैव तत्पर रहता था।" वह स्वयं एक उच्चकोटिका विद्वान् था, नागवर्म और केशिराज-जैसे कवियोंने उसकी प्रतिभाकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। गुरुओंकी वह सदा विनय करता था। उसके श्रुतगुरु ब्राह्मण श्रीधर भट्टके पुत्र जैनाचार्य मुञ्जार्य वादिघंगलभट्ट थे। यह आचार्य सिद्धान्त, दर्शन, न्याय, व्याकरण, राजनीति आदि विविध विषयोंके महापण्डित और श्रेष्ठ कवि थे। वह वल्लभराज कृष्ण-जैसे नरेशों एवं उसके माण्डलिकों और सामन्तों-द्वारा सम्मानित हुए थे। मारसिंहने राष्ट्रकूटोंकी अन्तसमय तक सहायता की। ९७४ ई० में उसने राजत्याग किया था और ९७५ ई० में एक आदर्श जैनकी मृत्यु पायी थी।

मारसिंहके उपरान्त गंगराज्यमें गड़बड़ी फैल गयी। एक ओर उत्तरवर्ती चालुक्योंकी और दूसरी ओर चोल-सम्राटोंकी बढ़ती हुई नवोत्थित शक्तियाँ थीं, राष्ट्रकूट साम्राज्यने दम तोड़ दिया था और गंगोंमें कोई योग्य व्यक्ति दिखायी नहीं पड़ रहा था। गंग पञ्चलदेवने जो मारसिंहके अधीन सेब्बी विषयका शासक था और सम्भवतया राजवंशसे ही सम्बन्धित था। गंगराज्यके बहुभागपर अधिकार कर लिया जैसा कि उसके ९७५ ई० के मूलगुड शिलालेखसे विदित होता है, किन्तु २-३ वर्षके भीतर ही चालुक्य तैलके सेनापति नागदेवने उसे पराजित करके युद्धमें मार डाला। पञ्चलदेव मारसिंहका न्याय्य उत्तराधिकारी नहीं था वरन् राज्य-अपहर्त्ता था। मारसिंहका वास्तविक

उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई राचमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ था, पञ्चल देवने उसे आच्छादित कर लिया था किन्तु पञ्चलकी मृत्यु (९७६-७७ ई०) के बाद राचमल्ल ही वस्तुतः गंगराज्यका अधिपति हुआ। सन् ९७७ ई० के उसके दो अभिलेख नञ्जनगढ और मंदयसे प्राप्त हुए हैं। ११२२ ई० के सिद्धेश्वर शिलालेखमें इस राचमल्लको मारसिंहका पुत्र लिखा है। राचमल्लके राजत्वका अन्त ९८४ ई० में हुआ। गंग-इतिहासके सन्ध्याकालमें अव्यवस्था एवं विरक्तियोंसे भरा यह युग राचमल्लके अद्वितीय मन्त्री चामुण्डरायके कारण अमर हो गया। चामुण्डराय सम्भवतया गगवंश-में ही उत्पन्न हुआ था। वह एक महान् राजनीतिज्ञ, सुदक्ष सेनानी, वीर योद्धा, परम स्वामिभक्त, कन्नडी संस्कृत और प्राकृतका महान् विद्वान्, कवि और लेखक, विद्वानों और कलाकारोंका प्रश्रयदाता, अद्भुत निर्माणकर्त्ता और जैनधर्मके सर्वमहान् प्रभावकोंमें-से था किन्तु गंगोंको ऐसे व्यक्ति का लाभ उस समय हुआ जबकि उनका सूर्य अस्ताचलगामी था। ऐसी विरुद्ध विषम परिस्थितियोंमें भी इस द्रुत-वेगसे पतनशील वंशकी रक्षा एवं अभिभावकता चामुण्डरायने सफलतापूर्वक की और साथ ही दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी स्थिति भी सुदृढ कर दी। चामुण्डराय राचमल्ल चतुर्थका ही नहीं बल्कि उसके पूर्वज मारसिंह और उत्तराधिकारी राक्कस गंगका भी राजमन्त्री और सेनापति रहा प्रतीत होता है। अनेक युद्धोंमें सराहनीय विजय प्राप्त करके उसने वीरमार्त्तण्ड, समरकेसरी, नोलम्ब-कुलान्तक आदि अनेक विरुद प्राप्त किये थे। वह बड़ा सच्चरित्र और धर्मात्मा था। चामुण्डराय पुराण, चरित्रसार आदि ग्रन्थोंका रचयिता, रन्न आदि कवियों का प्रश्रयदाता, गुरुओंका सेवक और जिनेन्द्रदेवका परम भक्त था। उसकी स्वामिभक्ति आदर्श थी, वह चाहता तो स्वय गंगराज्यका अधिपति हो सकता था। अपनी माताकी इच्छा पूरी करनेके लिए उसने सन् ९७८ ई० में श्रवणबेलगोलमें पर्वतके ऊपर वह सुप्रसिद्ध विशाल उत्तुङ्ग खड्गासन गोम्मटेश्वर बाहुबलिकी प्रतिमा निर्माण करायो जो रूप-शिल्प और मूर्ति-

विज्ञानकी अद्वितीय कलाकृति है और अपनी मौलिकता, मनोज्ञ-शोभा, सुस्मित वीतरागध्यानस्थ मुद्रा, सादगी और विशालतामें अप्रतिम है। आचार्य अजितसेन चामुण्डरायके गुरु थे, यही मारसिंहके भी गुरु थे। चामुण्डरायकी प्रेरणापर आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने अपने गोम-ट्टसार, त्रिलोकसार आदि सुप्रसिद्ध सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी रचना की थी।

९८५ ई० मे राचमल्लके छोटे भाई गोविन्द या वासवका पुत्र राक्कस गंग राजा हुआ। किन्तु यह भी निस्सन्तान था और उसने अपनी दो भतीजियों और एक भानजे विद्याधरका पालन-पोषण किया था। उसने अपने वंश और राज्यको स्थिर रखनेका यथाशक्य प्रयत्न किया। राक्कस-गंग परमानदिके गुरु आचार्य हेमसेनके शिष्य श्रीविजयदेव थे। कन्नड कादम्बरी और छन्दाम्बुधि ग्रन्थोंके रचयिता कन्नडके सुप्रसिद्ध जैनकवि नागवर्म इस राजाके आश्रित थे। इस राजाने राजधानी तलकाडमें व अन्यत्र जैनमन्दिर बनवाये, बेलूरमें एक सरोवर बनवाया और दान दिये। राक्कस गंगका राज्य कबतक चला निश्चित नहीं कहा जा सकता। सम्भवतया १०२४ ई० तक वह जीवित रहा किन्तु १००४ ई० के लगभग ही चोलोंने आक्रमण करके गंगवाडि राज्यका अन्त कर दिया था, राजधानी तलकाड पर अधिकार कर लिया था और गंगप्रदेशको अपने साम्राज्यका अंग बना लिया था। तथापि गंगवंशका समूल नाश नहीं हुआ। मूलवंश एवं राज्य भी एक छोटे-से उपराज्यके रूपमें चलता रहा प्रतीत होता है। राक्कसके बाद नीतिमार्ग तृतीय राचमल्ल राजा रहा प्रतीत होता है। १०४० ई० के एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि इस राजाके गुरु मूलसंघ द्रविडान्वय के वज्रपाणि पण्डित थे। १०२२ ई० के एक शिलालेखसे उस समय एक गंग परमानदिका राजा होना पाया जाता है जो सम्भवतया नीतिमार्गका पूर्ववर्ती उक्त राक्कसगंग ही होगा। एक गंग राजकुमारी चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर प्रथमकी रानी और सुप्रसिद्ध विक्रमाङ्कदेव (१०७६–११२६ ई०) की जननी थी। उक्त राचमल्ल नीतिमार्गके बाद राक्कसगंग द्वितीय राजा

हुआ : उसकी पुत्री ही चालुक्य सोमेश्वरसे विवाही प्रतीत होती है। इस राक्कमगंगके गुरु जैनाचार्य अनन्तवीर्य सिद्धान्तदेव थे। उसका उत्तराधिकारी एवं छोटा भाई कलिगंग भी परम जैन था। सम्भवतया इसी गंगनरेशने सन् १११६ ई० में मैसूर प्रदेशमें चोलोंको निकाल बाहर करके अपने स्वामी होयसल-नरेश विष्णुवर्धनका साम्राज्य स्थापित किया था। इस कलिगंगके ही शासनकालमें उसका प्रधान सामन्त भुजबल गंगपरमादि बर्म्मदेव था जो जैनाचार्य मुनिचन्द्रका शिष्य था जैसा कि सन् १११५ ई० के उसके एक अभिलेखसे ज्ञात होता है। भुजबलका पुत्र नन्नियगंग आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तका शिष्य था। नन्नियगंगके सन् ११२२ ई० के शियोगा-तालुकके सिद्धेश्वर बसदि शिलालेखसे गंगोंके पूर्व इतिहासके सम्बन्धमें अनेक रोचक तथ्य प्राप्त होते हैं। शिलालेखसे यह भी ज्ञात होता है कि इस राजाने मंडलि विषयके एडेदोर तालुकके अन्तर्गत मंडलि पर्वतपर स्थित उस प्राचीन जिनालयका जीर्णोद्धार कराया जिसे गंगवंश-सस्थापक दद्दिग और माधवने बनवाया था, जिसके लिए सभी गंग-नरेश दान देते रहे और संरक्षण करते रहे, जिसे कालान्तरमें काष्ठसे निर्मित किया गया था और जिसे भुजबलके पिताने पुनः निर्मित कराया था तथा जिसे भुजबलने पट्टदइ बसदि (राज्यमौलि मन्दिर) नाम देकर उसे राज्यके समस्त मन्दिरोंमें प्रधान पद दिया था, उस बसदिको अब भुजबलके पुत्र नन्नियगंगने पाषाण-निर्मित कराकर विपुल दान दिया। नन्नियगंगने जैनधर्मकी प्रभावनाके लिए पच्चीस अन्य जिन-चैत्यालय भी बनवाये थे। उसके भाई सत्यगंगने कुरुली तीर्थपर गंग-जिनालय निर्माण कराया और अपने गुरु माधवचन्द्र देवको दान दिया।

इस प्रकार चोलों और होयसलोंके उपराजोंके रूपमें गंगनरेश तथा अन्य गंगसामन्त सरदार विजयनगर कालतक चलते रहे। इस वंशका अन्तिम प्रतिनिधि उम्मथूरका गंग राजा रहा प्रतीत होता है जिसने कावेरी के मुहानेके निकट शिवसमुद्रम् नामक टापूमें अपनी स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ कर ली थी और जिसका दमन अन्ततः विजयनगर-नरेश कृष्णदेव राय

महान्‌ने सन् १५११ ई० में किया था।

गंगवंशकी पूर्वी शाखा ५वीं शताब्दीमें ही कलिङ्ग देशपर शासन कर रही थी। इन नरेशोंने गजपति उपाधि धारण की थी, गंगसंवत् प्रचलित किया था, अनेक दानपत्र लिखाये और अनेक ऊँच-नीच देखते हुए त्रिकलिंगके प्रमुख राजवंशके रूपमें यह वंश ११वीं शतीतक चलता रहा। इस पूर्वी शाखाके राजराजा नामक अन्तिम गंगनरेशने चोल-नरेश राजेन्द्र चोल देवकी पुत्रीसे विवाह किया। उसके पुत्र अनन्तवर्मन् चोलगंग (१०७८–११४२ ई०) ने पूर्वमें उत्कलके पराभूत राजाको पुनः स्थापित किया और पश्चिममें वेंगिके पतनोन्मुख राजाको सहारा दिया। इस चोल-गंगका वंश १६वीं शतीके मध्यतक चलता रहा और अन्ततः मुसलमानोंने उसका अन्त किया। गंगोंकी यह पूर्वी शाखा भी जैनधर्मके प्रति उदार और सहिष्णु रही। पश्चिमी शाखाकी भाँति यह धर्म पूर्वी शाखाका राजधर्म और कुलधर्म तो नहीं रहा फिर भी अनेक राजे इस धर्मके अनुयायी रहे और उसके प्रति उदार एवं सहिष्णु तो प्रायः सभी रहे। गंगोंकी पार्मिण्ड शाखाके गंगराज नागवर्म आदि सामन्त भी जैन थे।

इस प्रकार दक्षिण भारतका गंगवंश एक सर्वाधिक दीर्घजीवी राजवंश था। बीच-बीचमें उसने साम्राज्य-शक्तिका रूप भी धारण किया, चिर-कालतक एक महत्त्वपूर्ण एवं बलवान् राज्यशक्ति तो वह बना ही रहा। उसकी पैरवि, कैरवि, पासिण्डि, पूर्वी या कलिंगी आदि अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ हुईं, गंगवंशमें उत्पन्न अनेक व्यक्ति गंगराज्यके तथा अन्य दक्षिणी राज्यवंशोंके सामन्त सरदार भी रहे और इस वंशका कुलधर्म एवं बहुधा राजधर्म भी जैनधर्म ही रहा जिसके संरक्षण और प्रभावनाके लिए गंगवंशके पुरुषों, स्त्रियों, सामन्त सरदारों, राज्यकर्मचारियों और जनताने निरन्तर यथाशक्य उद्योग किया। फलस्वरूप जैनाचार्योंने कन्नड, तामिल, संस्कृत, प्राकृत विभिन्न भाषाओंमें विविधविषयक विपुल साहित्यका सृजन किया, लोक-शिक्षामें प्रधान योग दिया और राजाओंका पथ-प्रदर्शन

किया, जनताके नैतिक स्तरको उन्नत बनाये रखा और अनेक लोकोपकारी कार्य किये। साथ ही देशमें रूप एवं शिल्प-स्थापत्यकी अनेक सुन्दर कलाकृतियाँ निर्मित हुई। लक्ष्मेश्वरकी राय राचमल्ल बसदि, गंगपरमादि चैत्यालय, गंगकन्दर्प चैत्यालय, तलकाड और मान्यपुरकी श्रीविजय बसदि, सत्यवाक्य जिनालय, श्रवणबेलगोलकी शिवमाल बसदि आदि अनेक भव्य मन्दिर इस तथ्यके प्रमाण हैं।

अध्याय ८

दक्षिण भारत [२]

पूर्व अध्यायमें हम देख चुके हैं कि ३री शती ई० के मध्य तक दक्षिण भारतमें न केवल आन्ध्र सातवाहनोंके प्रभुत्वका अन्त हो चुका था वरन् उनके नाग महारथी आदि आन्ध्रभृत्य सरदार सामन्तोंकी सत्ता भी समाप्त हो चुकी थी। तामिल देशके पाण्ड्य, चेर और चोल राज्य भी एकके-बाद-एक अल्पकालीन चमक दिखाकर पुनः हतप्रभ हो चुके थे। साथ ही २री शती ई० के उत्तरार्धमें पल्लव, कदम्ब और गंग नामक तीन नवीन राजवंशोंकी स्थापना हो चुकी थी और आगे ३रीसे लेकर ६ठी शताब्दी ई० पर्यन्त दक्षिण भारतका इतिहास इन्हीं ३ राज्योंके संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विताका इतिहास था। इनमें भी ३री–४थी शताब्दियोंमें काञ्चीके पल्लव राजे सर्वाधिक शक्तिशाली रहे और सम्राट् कहलाये, ४थी–५वीं शताब्दियोंमें बनवासीके कदम्बोंका वैसा ही चरमोत्कर्ष हुआ और ५वीं–६ठी शताब्दियोंमें तलकाडके गंगनरेश दक्षिण भारतके सर्वाधिक शक्तिशाली एवं प्रतापी सम्राट् थे। किन्तु ५वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें दक्षिण भारतके महाराष्ट्र प्रदेशमें एक नवीन राज्यशक्तिका उदय हुआ। जिसने ६ठी शताब्दीमें बल पकड़ा और जो ७वीं शताब्दीमें दक्षिणके ही नहीं सम्पूर्ण भारतवर्षके सर्वाधिक शक्तिशाली एवं समृद्ध साम्राज्यमें परिणत हो गयी। यह राज्यशक्ति चालुक्योंकी थी और वातापी (बदामी) के पश्चिमी चालुक्य वंशके रूपमें इसका जन्म हुआ था।

वातापीके पश्चिमी चालुक्य—इस वंशसे सम्बन्धित अनुश्रुतियोंके अनुसार चालुक्योंका मूलपुरुष अयोध्यासे दक्षिण भारतमें आया था।

चालुक्य लोग अपने-आपको सोमवंशी क्षत्रिय, मानव्यगोत्री और हारीतके पुत्र बतलाते थे। वराहको इन्होंने अपना राज्य-चिह्न बनाया। ५वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्धमें विजयादित्य चालुक्य नामका एक साहसी सैनिक रहा प्रतीत होता है जो तलवारके द्वारा अपने भाग्यका निर्माण करना चाहता था। कडप्पा ज़िलेके मुडिवेंमि नामक ग्रामको जो उस समय पल्लवोंके राज्यके अन्तर्गत था, उसने अपना केन्द्र बनाया और अपनी शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ की। किन्तु पल्लवोंके हाथों युद्धमें उसकी मृत्यु हो गयी। उसका पुत्र जयसिंह पिताकी मृत्युके पश्चात् उत्पन्न हुआ था। विष्णुभट्ट नामक एक ब्राह्मणने उसका पालन-पोषण किया इसलिए जयसिंहने विष्णु-वर्द्धन उपाधि ग्रहण की। वह भारी योद्धा था और सम्भवतया राजसिंह और रणपराक्रमाङ्क भी कहलाता था। युवावस्थामें महाकवि भारविका यह मित्र और साथी रहा था। दुर्विनीत गंगने जो उस समय युवराज ही था, जयसिंहकी वीरता और पराक्रमसे प्रसन्न होकर उसके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया था। जयसिंह पल्लवोंसे अपने पैतृक राज्यको जीतनेका प्रयत्न करता रहा, साथ ही महाराष्ट्रके राष्ट्रिकोंका कुछ प्रदेश छीनकर उसने वातापी (बदामी) को अपनी राजधानी बनाया। एहोल और अलक्तकनगर (अल्तम) उसके छोटेसे राज्यके प्रमुख नगर थे। पल्लव चण्डदण्ड त्रिलोचनके साथ युद्धमें जयसिंहकी मृत्यु हो गयी। इसपर दुर्विनीत गंगने अपने दौहित्र रणराग एरेयप्प सत्याश्रयको जो जयसिंहका एकमात्र पुत्र था और अभी नवयुवक ही था प्रश्रय दिया और उसकी ओरसे पल्लव-नरेशपर भीषण आक्रमण किया। चण्डदण्ड युद्धमें मारा गया और दुर्विनीतने अपने नाती रणरागको उनके पिताके सिंहासनपर बिठाया और उसके राज्य एवं स्थितिको सुदृढ़ किया। इस एरेयप्प सत्याश्रय रणरागके भुजगसेन्द्रकवंशी सामन्त कुन्दशक्तिके पुत्र दुर्गशक्तिने पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) के शंखतीर्थ जिनालयके लिए भूमिदान दिये थे। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी पुलकेशी प्रथम बड़ा वीर, प्रतापी और योग्य शासक था

और यद्यपि इस चालुक्यवंशका मूलपुरुष विजयादित्य था तथापि इस वंशका प्रथम वास्तविक नरेश और राज्य-संस्थापक पुलकेशी (महान् मृगराज) प्रथम ही था। उसके राज्यमें जैनधर्मका पर्याप्त प्रचार था, जैन-गुरुओंका निरन्तर विहार होता था और उसके अनेक सामन्त सरदार और कर्मचारी जैन थे। शक सं० ४६४ (सन् ५४२ ई०) में सम्भवतया अपने राज्यके ११वें वर्षमें उसने अपने सेन्द्रकवंशी सामन्त सामियारके सहयोगसे अलक्तकनगर (अल्तम) में एक जिनालयका निर्माण कराया था और उसके लिए ग्राम-दान दिया था और शिलालेख अङ्कित कराया था जिसमें कनकोयल शाखाके जैनाचार्य सिद्धनन्दि, चित्तकाचार्य, नागदेव और जिननन्दिके नामोल्लेख हैं। राजधानी वातापीमें भी उसके समयमें एक जिनालय बना प्रतीत होता है। वातापी और अलक्तकनगरके अतिरिक्त ऐहोल भी पुलकेशी प्रथमके समयमें ही एक प्रमुख जैन केन्द्र बन गया था। पुलकेशी प्रथमका शासन ५३२ से ५६५ ई० के लगभग तक रहा प्रतीत होता है। इस राजाने अश्वमेध यज्ञ भी किया बताया जाता है। उसका अधिकांश जीवन अपनी स्थितिको सुदृढ़ बनाने, अपने राज्यको सुरक्षित रखने और जब अवसर मिला राष्ट्रिकों, कदम्बों और पल्लवोंके प्रदेशोंको दबा-दबाकर अपने राज्यका विस्तार करनेमें ही बीता। उसके उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र कीर्तिवर्मन् प्रथम राजा हुआ और सन् ५६५ से ५९७ ई० तक उसने राज्य किया। इस राजाने अनेक युद्ध किये और चालुक्य राज्यका विस्तार किया। विशेषकर बनवासीके कदम्बों, कोंकणके मौर्यों, नलवाड़ीके नलों तथा गंगों और अलूवोंको पराजित करके उनके प्रदेश जीते। यह राजा भी जैनधर्मका अनुयायी था। सन् ५६७ ई० के लगभग उसने जैन-मन्दिरमें जिनेन्द्रके अभिषेक तथा अक्षत, पुष्प, धूप, दीप आदिसे जिनेन्द्रके पूजनके लिए विपुल दान दिया था। उसीके राज्यकालमें सन् ५८५ ई० में जैनाचार्य रविकीर्त्ति ने ऐहोलके निकट मेगुतीमें एक जिन-मन्दिर बनवाया था और एक विशाल

जैन विद्यापीठकी स्थापना की थी। ऐहोल (ऐविल्ल या आर्यपुर) में स्वयं एक बड़ा जैनगुहामन्दिर था जिसमें सहस्र फणयुक्त पार्श्व-प्रतिमा स्थापित थी। ५९७ ई० में कीर्त्तिवर्मन् प्रथमकी मृत्यु हुई। उस समय उसके पुलकेशिन्, विष्णुवर्धन और जयसिंह आदि पुत्र बालक थे अतएव उनके चाचा मंगलीशने राज्य-सिंहासन हस्तगत कर लिया और ५९७–६०८ ई० तक राज्य किया। मंगलीशने कलचुरि-नरेश शंकरगणके पुत्र राजकुमार बुद्धको पराजित किया और रेवती द्वीपपर अधिकार किया। सम्भवतया इसी राजाके शासनकालमें महाराष्ट्र देशके अलक्तकनगर (अल्तेम) में चालुक्योंके लघुहब्ब नामक एक उपराजाकी पत्नीने सुप्रसिद्ध जैनाचार्य भट्टाकलङ्कदेवको जन्म दिया। बदामीकी प्रसिद्ध गुफाओंका निर्माण भी इसीके समयमें प्रारम्भ हुआ।

मंगलीशके उपरान्त उसका भतीजा और कीर्त्तिवर्मन् प्रथमका ज्येष्ठ पुत्र पुलकेशिन् द्वितीय सत्याश्रय (६०८–६४२ ई०) चालुक्य राज्यका स्वामी हुआ। अपने चाचा मंगलीश-द्वारा राज्यापहरण कर लिये जानेके कारण उसे वयस्क होनेके बाद कुछ वर्ष राज्यसे निर्वासित रहकर बिताने पड़े थे। सन् ६०८ ई० के लगभग कुछ शक्ति संग्रह करके उसने मंगलीश को गद्दीसे उतार दिया और उसे तथा उसके पुत्रको राज्यसे निकाल दिया। सम्भवतया इसी समयके लगभग मंगलीशकी मृत्यु भी हो गयी। राज्यको गृह-शत्रुओंसे निष्कण्टक करके और अपनी स्थितिको सुदृढ़ एवं सुरक्षित करके उसने अपना विधिवत् राज्याभिषेक कराया। तदुपरान्त उसने बाह्य शत्रुओं तथा राज्य-विस्तारकी ओर ध्यान दिया। पूर्वमें महेन्द्रवर्मन् पल्लव कर्णाटककी ओर बढ़ रहा था, उत्तरकी ओरसे हर्ष शिलादित्य आक्रमण कर रहा था। पुलकेशीने गंगों और अलूवों को अपना मित्र और सहकारी बनाया, उसने बनवासीके अप्पायिक और गोविन्द नामक कदम्ब नरेशोंको पराजित करके कदम्बोंकी स्वतन्त्र सत्ताका अन्त किया, कोंकण एवं पुरीके मौर्यों, तथा लाट, गुर्जर और मालवेके

राजाओंका दमन किया, ६१५ ई० में ही पिष्टपुर एवं कोनाल झीलको हस्तगत करके सम्पूर्ण आन्ध्रदेशपर उसने अधिकार कर लिया और आन्ध्र की राजधानी वेंगिमें अपने छोटे भाई कुब्जविष्णुवर्धनको प्रान्तीय शासक नियुक्त किया। यही व्यक्ति वेंगिके पूर्वी चालुक्यवंशका जो कालान्तरमे वातापीके मूल वंशसे स्वतन्त्र हो गया, संस्थापक हुआ। पुलकेशीने काञ्ची के महेन्द्रवर्मन् प्रथम पल्लवका बुरी तरह दमन करके पाण्ड्य, चोल, केरल के तामिल राज्योंको पल्लवोंके त्राससे मुक्त किया और शान्ति प्रदान की। ६२५ ई० मे उसने ईरानके शाह खुसरो द्वितीयके दरबारमे अपने राजदूत भेजे। पुलकेशीका समकालीन उत्तरापथका स्वामी थानेश्वर कन्नौजका सुप्रसिद्ध हर्षवर्धन शिलादित्य था। पुलकेशी उसका सबसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। उसके भयसे ही हर्षने वल्लभीके मैत्रक राजाके साथ अपनी पुत्रीका विवाह करके उसे अपना मित्र बनाया, साथ ही कलिंग कोसलके तत्कालीन बौद्ध नरेशको भी अपना मित्र बनाया। गुजरात और कलिंग दोनों ही मार्गोंसे हर्षने दक्षिण भारतमे प्रवेश करनेका कई बार प्रयत्न किया किन्तु पुलकेशीकी शक्ति एवं पराक्रमके कारण असफल ही रहा। हर्षके ऊपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् पुलकेशीने परमेश्वर उपाधि धारण की, अब वह एक महान् सम्राट् था। यह कहना कठिन है कि हर्ष और पुलकेशीमें कौन अधिक महान् था। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि राज्यविस्तार, शक्ति, समृद्धि, प्रताप और प्रभाव आदिमें चालुक्य सम्राट् पुलकेशी सम्राट् हर्ष-वर्धनसे कम नहीं था। हर्षवर्धन यदि बौद्धधर्मका भारी समर्थक था तो पुलकेशी जैनधर्मका महान् पोषक था। किन्तु इन दोनों ही सम्राटोंके बीच एक समानता थी, वे दोनों ही अन्य सर्वधर्मोंके प्रति अत्यन्त उदार और सहिष्णु थे। इस सर्वधर्मसमदर्शितामें भी पुलकेशी हर्षसे कुछ आगे ही था। सन् ६३४ ई० में सम्राट् पुलकेशीने अपनी दिग्विजयके उपरान्त राजधानी वातापीमें प्रवेश किया। उत्तरमें उसके विशाल साम्राज्यकी सीमा रेवा नदीको स्पर्श करती थी और दक्षिणमें समुद्रसे-समुद्र पर्यन्त

उसका विस्तार था, समुद्र पारके अनेक द्वीपोंपर भी उसका अधिकार और प्रभाव था। सन् ६३४ ई० में राजधानीमें प्रवेश करनेके उपरान्त सम्राट् पुलकेशी द्वितीयका सर्वप्रथम कार्य अपने गुरु जैनाचार्य रविकीर्त्तिको उनके द्वारा निर्मित एहोलके जिनमन्दिर एवं अधिष्ठानके लिए उदार दान देकर सम्मानित करनेका था। इस समय सम्भवतया वहाँ किसी नवीन जिनालयका भी निर्माण हुआ था। रविकीर्त्ति भारी विद्वान् एवं महाकवि थे। उनकी काव्य-प्रतिभाकी तुलना महाकवि कालिदास और भारविके साथ की जाती थी। इस दानके उपलक्ष्यमें स्वयं रविकीर्त्तिने ही एहोलके जिनमन्दिरमें उत्कीर्ण सम्राट् पुलकेशीकी वह विस्तृत, भाव एवं कलापूर्ण संस्कृत प्रशस्ति रची थी जो उक्त सम्राट्के चरित्र और कार्यकलापोंके लिए हमारा सर्वप्रधान ऐतिह्य आधार है। इस कालके सर्वमहान् जैनाचार्य अकलङ्कदेव हैं जो स्वयं रविकीर्त्ति अपर नाम रविभद्रके ही शिष्य रहे प्रतीत होते हैं। सम्राट् पुलकेशीके आदरपूर्ण प्रश्रयमे ही उनकी प्रतिभा, विद्वत्ता, वाग्मिता इस समय चमकनी प्रारम्भ हुई थी। इसी कालमें बदामी और अजन्ताके उन प्रसिद्ध गुहामन्दिरोंका निर्माण हुआ जिनमें सम्राट्के प्रश्रयमें जैन एवं बौद्ध कलाकारोंने उन विश्वविश्रुत भित्तिचित्रोंका निर्माण किया जो अपने कलापूर्ण सौन्दर्यके लिए अद्वितीय हैं। इन चित्रोंमें कतिपय ऐतिहासिक दृश्य भी हैं। इसी वर्ष अडूर (धारवाड़) में नगरसेठ-द्वारा निर्मित जैनमन्दिरको सम्राट्ने दान दिया। सन् ६३८–४० ई० के लगभग चीनी यात्री हुएन-सांगने पुलकेशीके राज्य और राजधानीकी यात्रा की थी। उसके विवरणोंसे भी पुलकेशीकी शक्ति और महत्ता, राज्यका वैभव, समृद्धि और शान्ति, राजा-प्रजा दोनोंमें ही विद्याओं और कलाओंकी साधना आदि का पर्याप्त पता चल जाता है। इस चीनी यात्रीके ही विवरणोंसे इस बातमें भी सन्देह नहीं रहता कि चालुक्य-साम्राज्यमें बौद्धोंकी अपेक्षा जैनमन्दिरों, उनके निर्ग्रन्थ साधुओं और गृहस्थ अनुयायियोंकी संख्या कहीं अधिक थी। वस्तुतः चालुक्य सम्राट् पुलकेशीकी गणना मात्र दक्षिणके नहीं, सम्पूर्ण

भारतके सर्वमहान् सम्राटों एवं नरेशोंमें की जाती है। सन् ६४० ई० के लगभग उसे फिर युद्धोंमें संलग्न होना पड़ा। पल्लव नरसिंहवर्मन् प्रथम चालुक्य-नरेशके हाथों अपने पिताकी तथा स्वयं अपनी पूर्व पराजयोंके कारण अत्यन्त क्षुब्ध था। उसने चुपके-चुपके शक्ति संग्रह की। वह अवसर की ताकमें था। इधर पुलकेशी युद्धोंसे विराम लेकर शान्तिपूर्ण कार्योंमें रत था और असावधान हो गया। अस्तु, सन् ६४१–४२ ई० में पल्लव नरसिंहवर्मन्ने चालुक्योंपर भीषण आक्रमण किया। परिमल, मणिमंगल और शूरमार नामक स्थानोंमें भयङ्कर युद्ध हुए। अन्तमें पुलकेशी स्वयं युद्धमें मारा गया और युद्धका पासा पलट गया। पल्लव सेनापति शिरुत्तोंड चालुक्य राजधानी वातापी तक चढ़ दौड़ा, और उसने उसे लूटा एवं विध्वंस किया।

पुलकेशीके पुत्र चालुक्य विक्रमादित्य प्रथम साहसांक अथवा साहस-तुंग (६४२-६८० ई०) को अपने पिताकी मृत्यु-द्वारा जिस समय राज्यका उत्तराधिकार प्राप्त हुआ, उसकी स्थिति बड़ी डाँवाडोल थी। राजधानीकी भी बहुत कुछ क्षति हो चुकी थी। यद्यपि पल्लव लोग तुरन्त वापस चले गये थे किन्तु उनके आक्रमणों, युद्धों, विजय, लूट-मार, सम्राट्की मृत्यु आदि संकटोंने चालुक्य साम्राज्यको अस्त-व्यस्त कर दिया था, सर्वत्र अराजकता थी। स्वयं विक्रमादित्यके भाई चन्द्रादित्य व आदित्यवर्मन् राज्यके विभिन्न भागोंको दबा बैठे थे और स्वयंको सम्राट् घोषित कर रहे थे। किन्तु विक्रमादित्य बड़ा वीर, बुद्धिमान् एवं साहसी था। सब ओरसे स्वयंको अकेला और निस्सहाय पाकर भी उसने साहस न छोड़ा। शीघ्र ही उसने अपनी स्थितिको संभाला और भाइयों तथा अन्य आन्तरिक शत्रुओंका दमन करके सिंहासन सुरक्षित किया। पल्लवों, चेरों, चोलों, पाण्ड्यों, कलभ्रों आदि बाह्य शत्रुओंसे भी उसे अकेले ही युद्ध करने पड़े। अपने पराक्रमसे इस साहसी वीरने थोड़े ही वर्षोंमें अपने प्रतापी पिताके साम्राज्य और प्रतिष्ठाका पुनरुद्धार कर लिया और तभी (सन् ६५३ ई०के लगभग)

अपना विधिवत् राज्याभिषेक कराया। तदनन्तर भी उसे प्रायः पूरे जीवन-भर युद्धोंमें रत रहना पड़ा और शायद इसीलिए वह रणरसिक भी कहलाता था। पल्लव ही उसके सबसे बड़े शत्रु थे। उनके विरुद्ध उसने पाण्ड्य नरेश पराङ्कुश मारवर्मन्‌को मित्र बनाया, गंग चालुक्योंके पुराने मैत्री सम्बन्धको दृढ़ किया। फलस्वरूप उसने पल्लवोंको एकके बाद एक युद्धोंमे पराजित किया। गंगोंकी सहायतासे ही उसने पल्लव नरसिंहवर्मन् प्रथमको चालुक्य राज्यसे निकाल बाहर किया और उसके पुत्र महेन्द्र-वर्मन् द्वितीयको भी बुरी तरह पराजित किया। महेन्द्रवर्मन् द्वितीयके उत्तराधिकारी परमेश्वरवर्मन्‌को विलिन्देके युद्धमें चालुक्य सम्राट्‌की ओरसे भूविक्रम गंगने बुरी तरह पराजित किया और उससे उग्रोदय नामक प्रसिद्ध रत्नहार छीना। दक्षिणकी ओरसे पाण्ड्योंने पल्लवोंपर धावा किया और स्वयं विक्रमादित्य पल्लव-नरेशका पीछा करते हुए कावेरी तटपर उरेयूर तक जा पहुँचा और वहाँ अपनी छावनी डाल दी। विक्रमादित्यने अपने आज्ञाकारी भाई जयसिंहको लाट देशका शासक बनाया। विक्रमा-दित्यको युद्धोंसे इतना विराम नहीं मिला जो वह विशेष शान्तिसे कार्य कर सकता। किन्तु वह भी अपने पूर्वजोंकी भाँति जैनधर्मका पोषक था और पूज्यपाद अकलङ्कदेवको अपना गुरु मानता था।

महाराष्ट्र देश और चालुक्य राज्यके अन्तर्गत अलक्तकनगरमें सम्भ-वतया चालुक्य वंशकी ही एक शाखाके नृपति लघुहव्वके पुत्र अकलङ्कदेवने ८ वर्षकी आयुमें ही ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था, तदनन्तर रविकीर्तिके एहोल विद्यापीठमें और कन्हेरीके बौद्ध विहारमें क्रमशः जैन एवं बौद्ध दर्शनोंका गम्भीर अध्ययन किया। लगभग बीस वर्षकी आयुमें उन्होंने मुनि-दीक्षा ले ली। सम्राट् पुलकेशी और विक्रमादित्य प्रथमके आदरपूर्ण उदार प्रश्रयमें उन्होंने अपने विशाल अध्ययन, अद्वितीय प्रतिभा एवं उद्भट विद्वत्ता-द्वारा भारतीय विद्वत्समाजमें शीर्ष स्थान प्राप्त कर लिया था। जैन सिद्धान्त, दर्शन, न्यायशास्त्र, व्याकरण, विविध भारतीय दर्शनों आदि विभिन्न

विषयोंमें वे निष्णात थे। जैन न्यायके तो वे इतने भारी प्रतिपादक थे कि वह अकलङ्क न्यायके नामसे प्रसिद्ध हुआ। तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह आदि अनेक प्रसिद्ध महान् ग्रन्थोंके प्रणेता थे। बौद्धाचार्य धर्मकीर्त्ति, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि और मीमांसा दर्शनके पुरस्कर्त्ता कुमारिलभट्ट उनके समकालीन एवं प्रतिद्वन्द्वी थे। अकलङ्क देवसंघके आचार्य थे और बहुधा 'देव' नामसे भी उनका उल्लेख किया जाता था। विक्रमादित्य साहसतुङ्ग उन्हें अपना गुरु मानते थे और उन्होंने उन्हें पूज्यपाद उपाधि प्रदान की थी। अतः विक्रमादित्यके वंशज चालुक्य-नरेशोंके अभिलेखोंमें अकलङ्कका उल्लेख पूज्यपाद नामसे हुआ है। सम्भवतया ६४१-४२ ई० में जब पुलकेशी पल्लवोंके साथ युद्धोंमे उलझा हुआ था और राज्यमें अशान्ति थी, अकलङ्कदेव अन्य मतोंके विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करने और जैनधर्मका उद्योत करनेके उद्देश्यसे विदेशका भ्रमण कर रहे थे। सन् ६४३ ई० में वे कलिङ्गदेशके हीरक तटपर स्थित उस देशकी राजधानी रत्नसञ्चयपुरके उपवनमें ठहरे हुए थे। तत्कालीन त्रिकलिङ्गाधिपति हिमशीतलके बौद्ध गुरुओंकी चुनौती स्वीकार करके ६ मास पर्यन्त बौद्ध विद्वानोंके साथ वहाँ अकलङ्कने शास्त्रार्थ किया और उन्हें पराजित किया। फलस्वरूप हिमशीतल जैनी हो गया और चूँकि इसी समय पुलकेशीके पराभवका समाचार भी सर्वत्र फैल गया था, हर्षने कलिङ्गपर आक्रमण कर दिया। हिमशीतल युद्धमें मारा गया, किन्तु विक्रमादित्यकी तत्परता और उसके सहयोगी वेंगिके चालुक्योंके कारण वह दक्षिणमें फिर प्रवेश न कर सका और वापस लौट गया। उपरोक्त वाद-विजयके उपलक्षमें अकलङ्कको भट्ट उपाधि प्राप्त हुई। कुछ वर्ष उपरान्त जब वे भ्रमणसे स्वदेश लौटे तो अपने शिष्य चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य प्रथम साहसतुङ्गकी राजसभामें उन्होंने अपनी कलिङ्ग आदिकी वाद-विजयोंका विवरण सुनाया। वे इस कालके सर्व महान् जैनाचार्य थे।

६७८ या ६८० ई० में विक्रमादित्यकी मृत्युके पश्चात् उसका पुत्र विनयादित्य (६८०–६९६ ई०) गद्दीपर बैठा। उसके राजगुरु देवगणके उपरोक्त आचार्य पूज्यपाद अकलङ्कके गृही शिष्य निरवद्य पण्डित थे जो भारी विद्वान् थे। रविकीर्त्तिके उपरान्त एहोलके विद्यापीठकी अध्यक्षता अकलङ्कको प्राप्त हुई थी, उनके पश्चात् उनका शिष्य-समुदाय उक्त ज्ञान-केन्द्रका सफलतापूर्वक सञ्चालन करता रहा। विनयादित्यने पल्लव-नरेश नरसिंहवर्मन् द्वितीयको युद्धमें पराजित किया, कावेर, पारसीक और सिंहल-नरेशोंसे राज्य-कर वसूल किया और उत्तरापथके प्रभु, सम्भवतया कन्नौजके यशोवर्मन्को भी पराजित किया। अन्तिम विजयका प्रधान श्रेय युवराज विजयादित्यको है। गंग और अलूप राजे चालुक्य-सम्राट्के सहायक थे और उसे अपना अधिपति स्वीकार करते थे। तत्पश्चात् विजयादित्य द्वितीय (६९७–७३३ ई०) राजा हुआ। पल्लवोंके विरुद्ध किये गये युद्धोंमें उसने अपने पितामह और पिताकी ओरसे सराहनीय भाग लिया था। एक युद्धमें पाण्ड्य-नरेशने उसे बन्दी भी बना लिया था किन्तु वह निकल भागा और उसने अपने शत्रुओंका दमन किया। पूज्यपाद अकलङ्ककी परम्पराके उदयदेव पण्डित इस सम्राट्के राजगुरु थे। सन् ७०० ई० में इस नरेशने उक्त गुरुको शंखजिनेन्द्र मन्दिरके लिए दान दिया था। इसी समयके लगभग राजधानी वातापीमें भी एक दानसूचक कन्नडी जैन शिलालेख अङ्कित कराया गया। इस नरेशके हलगिरि शिला-लेखमें जैनतीर्थ क्षेत्र कोप्पणका उल्लेख है। अकलङ्कके सधर्मा पुष्पसेन और उनके शिष्य विमलचन्द्र तथा कुमारनन्दि और अकलङ्कके प्रथम टीकाकार वृहत् अनन्तवीर्य भी इसी कालमें और सम्भवतया इसी नरेशके प्रश्रयमें हुए थे। ७२९ ई० में उत्कीर्ण लक्ष्मेश्वरके शिलालेखसे विदित होता है कि विजयादित्यने पूज्यपाद अकलङ्ककी शिष्य-परम्पराके गुरुओंको पुलिगेरेके जिनमन्दिरके लिए ग्रामदान दिया था। उसीके शासनकालमें ७३३ ई० में विकीर्णक नामक एक राज्यमान्य व्यक्तिने पुरिगेरेके शंख

जिनालयको पुष्कल दान दिया। सम्राट्की छोटी बहिन कुंकुम महादेवीने भी एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था। इसी कालमें युवराज विक्रमादित्य ने काञ्चीके पल्लव परमेश्वरवर्मन् द्वितीयपर आक्रमण किया और उससे कर वसूल किया। पिताकी मृत्युपर वही चालुक्य-राज्यका अधिपति हुआ। विक्रमादित्य द्वितीय (७३३–७४४ ई०) भी अपने पूर्वजोंकी भाँति जैनधर्मका भक्त था और अकलङ्ककी परम्पराके विजय पण्डित उसके राजगुरु थे। ये भारी वादी और विद्वान् थे। राजाने शंखजिनालय आदि मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया और जैनगुरुओंको दान दिया। उसके समयमें सिन्धके अरबोंने दक्षिण भारतपर आक्रमण करनेका प्रयत्न किया किन्तु चालुक्य पुलकेशीने जो इस वंशकी लाट शाखाका तत्कालीन शासक था और विक्रमादित्यका सामन्त था उन्हें सफलतापूर्वक पीछे भगा दिया। इसपर सम्राट्ने उसे अवनिजनाश्रय उपाधि दी। उसने पल्लव नन्दिपोत-वर्मन्को भी पराजित किया, स्वयं काञ्चीमें प्रवेश किया और वहाँके मन्दिरोंको दान दिया। इस आक्रमणमें उसके पुत्र कीर्तिवर्मन्ने भी सराहनीय भाग लिया था। कीर्तिवर्मन् द्वितीय (७४४–७५७ ई०) इस वंशका अन्तिम नरेश था, उसके समयमें चालुक्योंके राष्ट्रकूट सामन्तोंकी शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। ७५३ ई० मे राष्ट्रकूट दन्तिदुर्गने कीर्तिवर्मन् को पराजित करके चालुक्य-साम्राज्यको छिन्न-भिन्न कर दिया और ७५७ ई० में वातापीके पश्चिमी चालुक्योंके राज्यका अन्त हुआ। कीर्तिवर्मन् निस्सन्तान था। उसके चाचा भीम पराक्रमकी सन्ततिमे क्रमशः कीर्तिवर्मन् तृतीय, तैल प्रथम, विक्रमादित्य तृतीय, अय्यन प्रथम और विक्रमादित्य चतुर्थ राष्ट्रकूटोंके अधीन गौण सामन्तों या उपराजाओंकी भाँति चलते रहे। अन्तिमके पुत्र तैल द्वितीयने १०वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें राष्ट्रकूटोंका अन्त करके चालुक्य-शक्तिका पुनरुद्धार किया और कल्याणीके उत्तरवर्ती चालुक्य-वंशकी स्थापना की। वातापीके चालुक्य जैनधर्मके विशेष पक्षपाती होते हुए भी शैव-वैष्णवादि धर्मोंके प्रति उदार और सहिष्णु थे। बौद्धधर्म

इस कालमें पतनोन्मुख था।

वेंगिके पूर्वी चालुक्य—आन्ध्र देशपर पहले इक्ष्वाकुओं फिर शालंकायनों और अन्तमें विष्णुकुण्डिनोंका शासन रहा था। सन् ६१५ ई० में चालुक्य-सम्राट् पुलकेशी द्वितीयने आन्ध्र देशकी विजय करके अपने अनुज कुब्जविष्णुवर्धनको उसका प्रान्तीय शासक नियुक्त किया था। वेंगि इस देशकी राजधानी थी। पुलकेशीके अन्तिम वर्षोंमें ही वेंगिके चालुक्य मूलशाखासे प्रायः स्वतन्त्र हो गये थे। नाममात्रके लिए वे उसके उत्तराधिकारियोंके अधीन रहे और ८वीं शतीके प्रारम्भसे ही सर्वथा स्वतन्त्र हो गये। कुब्जविष्णुवर्धनसे प्रारम्भ होनेवाले इस वंशमें लगभग २७ राजे हुए और उन्होंने लगभग ५०० वर्ष तक आन्ध्रदेशपर राज्य किया। कुब्जविष्णुवर्धन स्वयं बहुत योग्य और चतुर शासक था, उसने ही अपने वंशकी नींव भली प्रकार सुदृढ़ कर दी थी, चालुक्योंकी इस पूर्वी शाखामें भी मूलवंशको भाँति ही जैनधर्मकी प्रवृत्ति थी। कुब्जविष्णुवर्धनकी रानी अपने पतिसे भी अधिक जैनधर्मकी भक्त थी, इस धर्मकी प्रभावनाके लिए उसने कई ग्राम भेंट करवाये थे। कुब्जविष्णुवर्धनके पश्चात् जयसिंह प्रथम, विष्णुवर्धन द्वितीय, जयसिंह द्वितीय और विष्णुवर्धन तृतीय क्रमशः राजा हुए। अन्तिम नरेशने जैनाचार्य कलिभद्रका सम्मान किया और उन्हें दान दिया था। उसके पुत्र विजयादित्य प्रथमकी महारानी अय्यन महादेवीने ७६२ ई० में उक्त दानपत्रकी पुनरावृत्ति की थी। तदुपरान्त विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४–७९९ ई०) वेंगि राज्यका स्वामी हुआ। राष्ट्रकूटोंके साथ भी उसके युद्ध हुए किन्तु वह उनके अधीन नहीं हुआ। उसके विरुद्ध आक्रमणमें सहायता करनेके लिए ही राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीयने गंग शिवमार द्वितीयको बन्दीगृहसे मुक्त किया था। विष्णुवर्धन चतुर्थ जैनधर्मका बड़ा भक्त था। इस कालमें विजगापट्टम (विशाखापत्तनम्) ज़िलेकी रामतीर्थ या रामकोंड नामक पहाड़ियोंपर एक भारी जैन सांस्कृतिक केन्द्र विद्यमान था। त्रिकलिंग (आन्ध्र)

देशके वेंगि प्रदेशकी समतल भूमिमें स्थित यह रामगिरि पर्वत अनेक जैनगुहामन्दिरों, जिनालयों एवं अन्य धार्मिक कृतियोंसे सुशोभित था। अनेक विद्वान् जैनमुनि वहाँ निवास करते थे। विविध विद्याओं एवं विषयोंकी उच्च शिक्षाके लिए यह संस्थान एक महान् विद्यापीठ था। वेंगिके चालुक्य-नरेशोंके संरक्षण एवं प्रश्रयमें यह संस्थान फल-फूल रहा था। इस कालमें जैनाचार्य श्रीनन्दि इस विद्यापीठके प्रधानाचार्य थे। वह आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयोंमें निष्णात थे, स्वयं महाराज विष्णुवर्धन उनके चरणोंकी पूजा करते थे। इन आचार्यके प्रधान शिष्य उग्रादित्याचार्य थे जो आयुर्वेद एवं चिकित्साशास्त्रके उद्भट विद्वान् थे। सन् ७९९ ई० के कुछ पूर्व ही उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध वैद्यकग्रन्थ कल्याण-कारककी रचना की थी। ग्रन्थ-प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि मूल ग्रन्थको उन्होंने वेंगिनरेश विष्णुवर्धनके ही शासनकाल और प्रश्रयमें रचा था।

तदुपरान्त विजयादित्य द्वितीय गुणग (७९९–८४७ ई०), कलिविष्णु-वर्धन पञ्चम, विजयादित्य तृतीय (८४८–८९२ ई०) राजा क्रमशः हुए। राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय और उसके पुत्र सम्राट् अमोघवर्षने बार-बार वेंगि पर आक्रमण करके पूर्वी चालुक्योंको पराजित किया और उन्हें प्रायः अपने अधीन कर लिया था। तदुपरान्त चालुक्य भीम प्रथम (८९२–९२२ ई०) राजा हुआ। वह राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीयका प्रतिद्वन्द्वी था। भीमके उत्तरा-धिकारी विजयादित्य चतुर्थकी मृत्यु ६ महीनेमें ही हो गयी अतएव अम्म प्रथम (९२२–२९ ई०) राजा हुआ। तदनन्तर भीम द्वितीय और फिर अम्म द्वितीय राजा हुए। यह बड़ा प्रतापी और धर्मात्मा नरेश था। सन् ९४५ से ९७० ई० तक इसने राज्य किया। अपने पूर्वजोंकी ही भाँति वह भी जैनधर्मका पोषक और संरक्षक था, बल्कि इस दिशामें वह अन्य पूर्वी चालुक्य-नरेशोंसे कुछ आगे ही बढ़ा हुआ था। उसके शासन-कालके तीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि १०वीं शती ई० में जैनधर्म आन्ध्र देशमें अत्यधिक लोकप्रिय एवं उन्नत दशामें

था। राजा स्वयं शिव और जिनेन्द्रका समान रूपसे भक्त था। एक लेखके अनुसार इस नरेशने पट्टवर्धक घरानेकी राजमहिला माचकाम्बेके निवेदनपर जैनगुरु सकलचन्द्र सिद्धान्तके प्रशिष्य और अय्यकोटिके शिष्य अर्हनन्दीको 'सर्वलोकाश्रय जिनभवन' के लिए दान दिया था। अम्मका प्रधान सेनापति दुर्गराज था जो कटकाधिपति विजयादित्यका पुत्र था। चालुक्य-लक्ष्मीकी सुरक्षाके लिए उसकी तलवार सदैव म्यानसे बाहर रहती थी। वह पूर्वी चालुक्य राज्यका शक्ति-स्तम्भ कहा जाता था। उसके वंशने महादेश वेंगिके संरक्षणमें सदैव भारी योग दिया था। यह वंश जैनधर्मका अनुयायी था। स्वयं दुर्गराजने धर्मपुरीके निकट 'कटकाभरण' नामका भव्य जिनालय बनवाया था और उसे यापनीय संघके जैनगुरु जिननन्दिके प्रशिष्य एवं दिवाकरके शिष्य श्रीमन्दिरदेवको सौंप दिया था। स्वयं महाराज अम्म द्वितीयने मलियापूण्डि दान-पत्र-द्वारा इस मन्दिरके लिए ग्राम भेंट किये थे। अम्मके पश्चात् दानार्णव, जटाचोडभीम और शक्ति-वर्मन् क्रमशः वेंगिके राजा हुए। तदनन्तर १०२२ ई० के लगभग विमलादित्यका राज्य हुआ। यह राजा भी जैनधर्मका भारी भक्त था। देशीय-गणके आचार्य त्रिकालयोगी सिद्धान्तदेव उसके गुरु थे। अनेक जैनमन्दिरोंको इस राजाने दान दिये। उपरोक्त रामतीर्थ (रामगिरि) भी ११वीं शताब्दीके मध्य तक प्रसिद्ध एवं उन्नत जैन सांस्कृतिक-केन्द्र बना रहा जैसा कि वहाँके एक शिलालेखसे प्रमाणित होता है। विमलादित्यके भी एक कन्नडी शिलालेखसे ज्ञात होता है कि उसके गुरु त्रिकालयोगी सिद्धान्तदेव तथा सम्भवतया स्वयं राजा भी जैन तीर्थके रूपमें रामगिरिकी वन्दना करने गये थे।

विमलादित्यके उत्तराधिकारी राजराजनरेन्द्रके समयसे आन्ध्रदेशमें जैनधर्मका ह्रास होने लगा। वस्तुतः ११वीं शतीके अन्त तक वेंगिके पूर्वी चालुक्योंकी सत्ताका भी अन्त हो गया। इस प्रकार इस लगभग ५०० वर्ष पर्यन्त चलनेवाले पूर्वी चालुक्य वंशके शासनमें आन्ध्रदेशमें जैनधर्मने

पर्याप्त उन्नति की। यद्यपि ये नरेश अपने-आपको बहुधा परममाहेश्वर लिखते थे तथापि वे प्रायः सब ही जैनधर्मके प्रति अति उदार और सहिष्णु रहे और जैनधर्म और जैनगुरुओंका आदर करते थे। अनेक नरेश तो जैनधर्मके ही अनुयायी थे, साथ ही राज्यवंशके अन्य अनेक स्त्री-पुरुष, अनेक उपराजे, सामन्त-सरदार, उच्चपदस्थ राजकर्मचारी जैनधर्मके अनुयायी थे। पूर्वी चालुक्य नरेशोंके प्रश्रय और संरक्षणमें रामतीर्थ-जैसा महान् विद्याकेन्द्र एवं सांस्कृतिक अधिष्ठान समुन्नत हुआ और उसने उग्रादित्य-जैसे महान् वैद्य एवं ग्रन्थकारको उत्पन्न किया। ११वीं शताब्दीसे आन्ध्र-देशमें जैनधर्मके पतनका श्रेय विजयवाडके परिच्छदि पशुपति सामन्तोको तथा कोट और काकातीय राजाओंको है जो हिन्दूधर्मके अनुयायी ही नहीं थे वरन् जैनधर्मके कटु विरोधी हो उठे थे।

राष्ट्रकूट वंश—८वीं शती ई० में वातापीके चालुक्योंके उपरान्त दक्षिण भारतीय साम्राज्यका उत्तराधिकार राष्ट्रकूट वंशको प्राप्त हुआ। ये राष्ट्रकूट दक्षिणापथके प्राचीन रट्टिकों (राष्ट्रिकों) के वंशज थे। और अपने-आपको चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहते थे। प्रसन्नके वंशज एक अभिमन्यु राष्ट्रकूटका ५३० ई० के लगभग पता चलता है, एक अन्य शाखामें दुर्ग-राजका वंशज युद्धमूर नन्न ६३२ ई० के लगभग था। एक अन्य शाखाके जज्जटकी प्रपौत्री कन्नौजके धर्मपाल प्रतिहारसे विवाही थी, उसके पुत्र राज्य-पालकी पत्नी भाग्यदेवी भी एक राष्ट्रकूट कन्या ही थी। इन राष्ट्रकूटोंकी एक शाखा लट्टलूरमें स्थापित थी। ६२५ ई० के लगभग लट्टलूरके राष्ट्रकूट बरार प्रदेशके एलिचपुरमें आ बसे। यहींसे इस शाखाका अभ्युदय प्रारम्भ हुआ। इस शाखाका प्रथम ज्ञात राजा दन्तिवर्मन् था, उसके उत्तराधिकारी क्रमशः इन्द्र प्रथम, गोविन्द प्रथम और कर्क थे। ये सब वातापीके चालुक्योंके करद सामन्त थे। कर्कके ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र द्वितीयका विवाह चालुक्य राजकुमारी-के साथ हुआ था। इन्द्र महत्त्वाकांक्षी था और चालुक्योंकी गिरती दशाको देखकर इसने शक्तिसञ्चय करना आरम्भ किया। उसका पुत्र दन्तिदुर्ग

खण्डावलोक वैरमेघ ८वीं शतीके प्रथम पादके लगभग अपने पिताका उत्तराधिकारी हुआ। यह अत्यन्त चतुर, साहसी और महत्त्वाकांक्षी था। ७४२ ई० के लगभग उसने एलोरा (एलउर या ऐलपुर) पर अधिकार किया और उसे अपनी राजधानी बनाया। एलोरा जैन, शैव, वैष्णव और बौद्ध चारों ही धर्मों और संस्कृतियोंका संधिस्थल था। उक्त धर्मोंसे सम्बन्धित इस स्थानके पाषाणखनित गुहा-मन्दिर भारतीय कलाके अद्वितीय उदाहरण हैं। सन् ८५८ ई० में रचित धर्मोपदेशमालामें एक और अधिक पुरानी घटनाका उल्लेख है कि एक समय समयज्ञ नामक मुनि भृगुकच्छसे चलकर एलउर नगर आये थे और वहाँकी प्रसिद्ध दिगम्बर वसही (बसदि) में ठहरे थे। इससे विदित होता है कि राष्ट्रकूटोंके शासनके आरम्भसे ही एलोरा दिगम्बर जैनधर्मका प्रसिद्ध केन्द्र था। और इसका कारण यही है कि राष्ट्रकूट-नरेश प्रारम्भसे ही सर्वधर्मसमदर्शी थे और उनका व्यक्तिगत या कुलधर्म शैव वैष्णवादि होते हुए भी वे जैनधर्मके विशेष पक्षपाती और संरक्षक रहे थे। दन्तिदुर्गने एलोराको राजधानी बनाकर नासिक विषयके मयूरखण्डी दुर्गको अपनी प्रधान छावनी बनाया। ७५२ ई० में उसने चालुक्य-नरेश कीर्त्तिवर्मन्को पराजित करके महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक पृथ्वीवल्लभ खण्डावलोक वैरमेघ आदि उपाधियाँ धारण कीं और अपने आपको सम्राट् घोषित किया। अपनी मृत्युसे पूर्व, ७५७ ई० तक उसने वातापीकी चालुक्य सत्ताका प्राय: अन्त कर दिया था और अब वही दक्षिणापथका सम्राट् था। इसके अतिरिक्त उसने सिन्धुभूप, श्रीशैलके चोड, पल्लव नन्दिवर्मन्, पाण्ड्य नेदुञ्जलियन, परान्तक, श्रीहर्ष, तथा परमार, वज्रार, कोसल, मालवा, लाट, टंक आदि देशोंके राजाओंको पराजित किया था। इसने पल्लवमल्लके साथ अपनी पुत्री रेवाका विवाह करके उसे मित्र बना लिया था। चित्रकूटपुरके श्रीवल्लभ राहप्पदेवको पराजित करके उसकी उपाधि और श्वेतच्छत्र स्वयं ग्रहण किया। इसी समय सम्भवतया इसी राहप्पके अनुज

वीरप्पदेव, जो जैनमुनि हो गये थे और स्वामी वीरसेनके नामसे प्रसिद्ध हुए, राष्ट्रकूट राजधानीके निकट ही वाटनगरमें आ बसे और वहांके चन्द्रप्रभु जिनालय एवं चामरलेणके गुहामन्दिरोंमें उन्होने अपना विद्याकेन्द्र स्थापित किया। जैनाचार्य विमलचन्द्रने (७२५–७५० ई०), जो निर्गुण्ड युवराज परमगुल डुण्डुराजके राजनीति-गुरु थे और बड़े भारी वादी थे, राष्ट्रकूट दन्तिदुर्गसे तथा गंगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरस शत्रुभयङ्करसे सम्मान प्राप्त किया था।

इस प्रकार थोडेसे ही समयमें राष्ट्रकूट दन्तिदुर्गने दिग्विजय करके अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। राष्ट्रकूट वंशकी नींव सुदृढ़ कर दी और शासन-व्यवस्था ठीक करके राज्यकी स्थिति सुरक्षित कर दी। साथ ही विद्वानों और गुणियोंका आदर करने और अन्य शान्तिपूर्ण कार्योंके लिए भी अवसर निकाल लिया। ७५७ ई० में उसकी निस्सन्तान मृत्यु होनेपर उसका चाचा कृष्ण प्रथम अकालवर्ष शुभतुंग सिंहासनपर बैठा और ७७३ ई० तक उसने राज्य किया। चालुक्य सत्ताको निश्शेष करके उसने दक्षिणी कोंकणमें अपने शिलाहार सामन्तोंको नियुक्त किया। ७६३ ई० के लगभग अपने पुत्र गोविन्द द्वितीय-द्वारा वेंगिके चालुक्य विजयादित्य प्रथमको पराजित एवं अधीन कराया। ७६८ ई० में गंगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरसको पराजित करके अधीन किया। ७६९–७० ई० मे उसने एलोरामें सुप्रसिद्ध 'कैलाश मन्दिर' पहाड़में से काटकर बनवाया। उसके निकट ही इन्द्रसभा और जगन्नाथसभा आदि सुविख्यात जैनगुहा-मन्दिर भी इसी समयके लगभग बनने प्रारम्भ हुए। कुछ विद्वान् चित्तौड़के मौर्यनरेश राहप्पकी विजयका श्रय कृष्णको देते हैं। पूर्वोक्त जैनगुरु विमलचन्द्रके प्रशिष्य परवादिमल्ल थे जिन्होंने बौद्ध दिङ्नागके न्यायबिन्दु पर धर्मोत्तर-द्वारा लिखे गये टिप्पणपर भाष्य लिखा था। ये परवादिमल्ल (७७०–८०० ई०) भी बड़े भारी तार्किक और वादी थे। वे इस कृष्णराज प्रथम-द्वारा सम्मानित हुए थे। कृष्णके उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र

गोविन्द द्वितीय प्रभूतवर्ष विक्रमावलोक (७७३–७७९) राजा हुआ। वह दुराचारी और अयोग्य था उसने गंग शिवमारको उसके भाई दुग्गमार एयरप्पके विरुद्ध राज्य प्राप्त करनेमें सहायता दी थी अतः शिवमार उसका मित्र था किन्तु गोविन्दके भाई ध्रुवने जो अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी था गोविन्दका उच्छेद करके राज्य हस्तगत करनेका षड्यन्त्र किया। पल्लव, गंग, पूर्वी चालुक्य और मालवनरेश गोविन्दके सहायक थे किन्तु ध्रुवने अपने पुत्रोंकी सहायतासे युद्धमें इन सबको परास्त किया। सम्भवतया गोविन्दकी भी युद्धमें ही मृत्यु हो गयी। इस प्रकार ७७९ ई० में धारावर्ष-निरुपम-कलिवल्लभ श्रीवल्लभ-धोर धवलइय-ब्रोद्दणराय (बल्लहराय) आदि उपाधियोंसे युक्त ध्रुव राष्ट्रकूट राज्यका स्वामी हुआ। ७९३ ई० तक उसने राज्य किया। यह महापराक्रमी और वीर योद्धा था। राज्य प्राप्त करते ही उसने गोविन्द द्वितीयके सहायकोंका दमन करना प्रारम्भ किया। गंग शिवमार द्वितीय को बन्दी बनाया, नन्दिवर्मन् पल्लवको पराजित करके उससे हाथियोंके रूपमें कर वसूल किया, वेंगिके विष्णुवर्धन चतुर्थको हराया और उससे कुछ प्रदेश तथा उसकी पुत्री शीलभट्टारिकाको पत्नीरूपमें प्राप्त किया। तदनन्तर विन्ध्याचलको पार करके वह गङ्गा-यमुनाके मध्यदेश तक जा पहुँचा। वहाँ गुर्जर प्रतिहार वत्सराजको पराजित करके उसे मरुदेशकी ओर भगाया और गौडके धर्मपालको पराजित करके उसे बंगाल वापस पठाया। कन्नौजमें इन्द्रायुधको उक्त दोनों शत्रुओंसे कुछ समयके लिए सुरक्षित करके वह वापस दक्षिण लौट आया। ध्रुवने इस प्रकार राष्ट्रकूट शक्तिको सम्पूर्ण भारतवर्षमें सर्वोपरि बना दिया। वह विद्वानोंका भी बड़ा सम्मान करता था। उसकी रानी चालुक्य राजकुमारी शीलभट्टारिका जैन धर्मकी भक्त थी और एक प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ कवियित्री थी। उत्तरापथकी विजय-यात्रामें ध्रुव कन्नौजसे अपभ्रंश भाषाके जैन महाकवि स्वयम्भूको अपने साथ सपरिवार लिवा लाया था। स्वयम्भूने अपनी रामायण, हरिवंश, नागकुमार चरित, स्वयम्भू छन्द आदि महान् ग्रन्थोंकी रचना इसी नरेशके

आश्रयमें राष्ट्रकूट राजधानीमें की और ध्रुवराय धवलइय नामसे अपने इस आश्रयदाताका उल्लेख किया। स्वयम्भूकी पत्नी सामिअब्बा भी बडी विदुषी थी और सम्राट्ने अपनी राजपुत्रियोंको शिक्षा देनेके लिए उसे नियुक्त किया था। जिनसेन पुन्नाटवंशीने ७८३ ई० में अपने हरिवंश-पुराणको समाप्त करते हुए इस नरेशका उल्लेख 'कृष्णनृपका पुत्र श्रीवल्लभ जो दक्षिणापथका स्वामी था' इस रूपमें किया है। राष्ट्रकूट राजधानीके निकट ही वाटनगर (वाटग्रामपुर) में पञ्चस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेनका सुप्रसिद्ध ज्ञानकेन्द्र था। वहाँ रहते हुए ही इस महान् जैनाचार्यने ध्रुव राजके शासनकालमें सन् ७८० ई० में अपने महान् ग्रन्थ धवलको पूर्ण किया था और तदनन्तर जयधवलका एक तिहाईके लगभग अंश तथा महा-धवलकी रूपरेखा तैयार की थी। सिद्ध भूपद्धति आदि अन्य ग्रन्थ भी उन्होंने रचे थे। इस दिग्गज विद्वान्ने अकेले लगभग एक लक्ष श्लोक प्रमाण ग्रन्थ रचना की थी। दिगम्बर आगम ग्रन्थोंकी सर्वमहान् एवं सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण टीकाएँ वीरसेनाचार्यके उपरोक्त ग्रन्थ ही हैं। उनकी विद्यापीठमें एक विशाल पुस्तक-संग्रह था—उतना बड़ा जैन पुस्तकालय उस कालमें भारत-वर्षमें अन्य नहीं था। उनका शिष्य-समुदाय भी विशाल था। सन् ७९० ई० के लगभग स्वामी वीरसेनकी मृत्यु हुई। इनके अतिरिक्त स्वामी विद्यानन्दि, परवादिमल्ल और गुरुकुमारसेन उस समयमें राष्ट्रकूट राज्यके प्रसिद्ध जैनाचार्य थे।

ध्रुवका उत्तराधिकारी उसका प्रिय पुत्र गोविन्द तृतीय जगत्तुङ्ग प्रभूत-वर्ष श्रीवल्लभ जनवल्लभ कीर्तिनारायण त्रिभुवन धवल (७९३-८१४ ई०) था। ध्रुवके कम्भ, स्तम्भ और इन्द्र नामके तीन और पुत्र थे, किन्तु उन सबसे अधिक योग्य गोविन्द ही था। ध्रुवके राजा होनेके पूर्व ही उसने अपनी योग्यता एवं वीरताका पर्याप्त परिचय दे दिया था और पिताकी राज्य प्राप्तिमें तथा उसके शत्रुओंका दमन करनेमें भी वह ध्रुवका प्रधान सहायक था। अतः राज्य-सिंहासनपर बैठते ही ध्रुवने गोविन्दको युवराज

घोषित कर दिया था और फलस्वरूप मयूरखण्डीकी प्रधान छावनीका अध्यक्ष तथा उसके अन्तर्गत प्रदेश (नासिकदेश) का प्रान्तीय शासक नियुक्त कर दिया था। वाटनगर विषय उसीके शासनमें था अत: स्वामी वीरसेन ने धवलाकी प्रशस्तिमें वल्लहराय (ध्रुव) नरेन्द्रचूडामणिके साथ राजन जगत्तुङ्गदेवका भी उल्लेख किया। गोविन्द तृतीयने गद्दीपर बैठनेके उपरान्त गंग शिवमारको मुक्त कर दिया क्योंकि अपने शत्रुओंके दमनमें वह उस वीर योद्धाकी सहायता चाहता था किन्तु शिवमारने फिर विद्रोह किया और ७९९ ई० में फिरसे बन्दी बनाया गया। गोविन्दने अपने भाई कम्भदेव को गंगवाडिका राज्यपाल नियुक्त किया। वस्तुत: कम्भने ही शिवमार तथा अन्य दस-बारह राजाओंकी सहायतासे गोविन्दके विरुद्ध विद्रोह किया था क्योंकि वह स्वयं ध्रुवका ज्येष्ठ पुत्र था। परन्तु गोविन्दका राज्याभिषेक भी ध्रुवने अपने ही जीवन-कालमें कर दिया था अत: उसका अधिकार न्याय्य था। उसने अकेले ही बारह नरेशोंके उक्त शत्रु-संघका दमन किया, गंग राजको वन्दी करके भाई कम्भको सन्तुष्ट करनेके लिए गंगदेशका शासन उसे सौंप दिया। तदनन्तर उसने लाटकी विजय करके अपने आज्ञाकारी छोटे भाई इन्द्रको गुजरातका शासक बनाया और मालवाकी विजय करके उसे भी गुर्जर राज्यमे सम्मिलित कर दिया। पल्लव दन्तिवर्मन्को पराजित करके उससे कर लिया। विन्ध्याचलके निकटवर्ती प्रदेशके राजा मारशर्व को अपना करद बनाया। वेंगिनरेश उसका आज्ञाकारी बना रहा और उसीने राष्ट्रकूटोंकी नव-स्थापित राजधानी मान्यखेट (मलखेड) की बाहरी प्राचीरका निर्माण कराया बताया जाता है। गोविन्दने ही प्राचीन राजधानीको एलोरा और मयूरखण्डीसे हटाकर नवीन राजधानी मान्यखेटका एक विशाल सुन्दर एवं सुदृढ महानगरीके रूपमे निर्माण किया। उसने गुर्जर प्रतिहार नागभट्ट द्वितीयको पराजित किया तथा कन्नौजके चक्रायुध और बंगालके धर्मपालसे अधीनता स्वीकार करायी। सिंहल नरेशने भी उसके दरबारमें राजदूत भेजा और उसे अधिपति स्वीकार किया था।

उत्तरापथके एक अभियानसे लौटते हुए जब ८०३–४ ई० में गोविन्द नर्मदा तटवर्ती श्रीभवन नामक स्थानमें छावनी डाले पड़ा था, उसके पुत्र अमोघवर्षका जन्म हुआ। किन्तु पल्लव दन्तिवर्मन्के उपद्रवके कारण पुत्र-जन्मोत्सव मनानेका भी उसे अवसर न मिला और उसने तुरन्त जाकर शत्रुका दमन किया। ८०८ ई० में गद्दीपर बैठनेवाले विजयादित्य नरेन्द्र मृगराजने भी जो एक भारी योद्धा था सिर उठानेका प्रयत्न किया किन्तु वह भी परास्त हुआ। सन् ८१३–१४ ई० मे गोविन्द तृतीयकी मृत्यु हो गयी। वह इस वंशके सर्वमहान् नरेशोंमें-से था। भारतवर्षकी समस्त राज-शक्तियाँ उसका लोहा मानती थीं, अपने समयका वह निश्चय ही सर्वमहान् नरेश था। साथ ही निर्माता, दानी, विद्वानों और गुणियोंका आदर करनेवाला था। जैनधर्मके प्रति भी वह अत्यन्त सहिष्णु और उदार था। मन्ने दानपत्र-द्वारा ८०२ ई० में उसने *गंगराजधानी मान्यपुरकी श्रीविजय नामक* जैन बसदि (मन्दिर) के लिए उदारगणके जैन-गुरुओंको दान दिया था। ८०७ ई० में चामराजनगर दानपत्र-द्वारा उसके भाई एवं प्रतिनिधि कम्भदेवने ताल्वननगरकी उसी बसदिके लिए अपने पुत्र शंकरगणकी प्रार्थनापर कुन्दकुन्दान्वयके कुमारनन्दिके प्रशिष्य और एलाचार्यके शिष्य वर्धमान गुरुको ग्राम भेंट किये थे। ८१२ ई० में कदब दानपत्रके द्वारा जो मयूरखण्डीके दुर्गसे प्रचारित किया गया था, स्वयं सम्राट् गोविन्द तृतीयने शीलग्रामके जैनमन्दिरके लिए कूविलाचार्यके प्रशिष्य और विजयकीर्त्तिके शिष्य अर्ककीर्त्तिको अपने गंग सामन्त चाकिराजकी प्रार्थनापर प्रभूत दान दिया था, क्योंकि उक्त गुरुने चाकिराजके भानजे चालुक्यवंशी विमलादित्यके ऊपरसे शनिग्रहकी कुदृष्टिका निवारण किया था। वाटनगरका जैन अधिष्ठान तो सम्राट्से प्रारम्भसे ही संरक्षण पाता रहा था। वहाँ अब स्वामी वीरसेनके पट्टशिष्य स्वामी जिनसेन शान्तिपूर्वक गुरु-द्वारा अधूरे छोड़े गये कार्यकी पूर्त्तिके लिए प्रयत्नशील थे। उनके सधर्मा दशरथ गुरु, विनयसेन, पद्मसेन, वृद्धकुमारसेन तथा स्वामी विद्यानन्दि, अनन्तकीर्त्ति,

रविभद्र शिष्य अनन्तवीर्य, परवादिमल्ल आदि अनेक जैनगुरु राष्ट्रकूट राज्यको सुशोभित कर रहे थे। महाकवि स्वयम्भू भी मुनि हो गये थे और श्रीपाल नामसे प्रसिद्ध हुए। वे आचार्य जिनसेन-द्वारा जयधवलाकी पूर्तिमें उनके परम सहायक सिद्ध हुए। उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू भी महाकवि थे। पिताके मुनि हो जानेपर उनके रामायण आदि महाग्रन्थोंका सम्पादन, संशोधन, परिवर्धन आदि इन्होंने ही किया। सम्राट् गोविन्द तृतीयके ये विशेष कृपापात्र थे। उपरोक्त समस्त गुरु सम्राट्से आश्रय एवं संरक्षण प्राप्त कर रहे थे। जैनधर्म उसके शासनमें खूब फल-फूल रहा था।

सम्राट् अमोघवर्ष नृपतुंग महाराजशण्ड वीरनारायण अतिशयधवल शर्ववर्म वल्लभराय इत्यादि (८१४–८७८ ई०) जिस समय सिंहासनपर बैठा ९–१० वर्षका बालक मात्र था। अतः उसके चाचा इन्द्रका पुत्र कर्कराज जो गुर्जर देशका शासक था अमोघवर्षका अभिभावक एवं संरक्षक बना। अमोघकी बाल्यावस्थाका लाभ उठाकर साम्राज्यमें जगह-जगह विद्रोह हो गये। गंग, पल्लव, पाण्ड्य, पूर्वी चालुक्य आदि अधीन राजे भी विरुद्ध उठ खड़े हुए। ८१७ ई० में वेंगिके विजयादित्य द्वितीय और गंग-वाडिके राचमल्ल प्रथमके प्रोत्साहनसे साम्राज्यके दक्षिणी भागके अनेक सामन्तोंने भयङ्कर विद्रोह कर दिया। किन्तु कर्ककी स्वामिभक्ति, वीरता, बुद्धिमत्ता एवं तत्परताके कारण इन सब विद्रोहोंका दमन हुआ और ८२१ ई० तक स्थिति क़ाबूमें आ गयी तथा शान्ति स्थापित हो गयी। नवीन राजधानी मान्यखेटका निर्माण गोविन्द तृतीयने ही प्रारम्भ कर दिया था किन्तु उसे राजधानीको पूरी तरह स्थानान्तर करनेका समय नहीं मिला था। अब अमोघवर्ष वयस्क हो गया था, उसकी स्थिति भी अपेक्षाकृत सुरक्षित हो गयी थी अतएव ८२१ ई० में गुर्जराधिप कर्कराजने नवीन राजधानी मान्यखेटमें ही अमोघवर्षका विधिवत् राज्याभिषेक किया। अमोघके प्रधान सामन्त कर्कराज और वीर सेनापति बंकेयरसने साम्राज्यको स्वचक्र एवं परचक्रके उपद्रवोंसे सुरक्षित रखनेका सफल प्रयत्न किया और स्वयं

सम्राट्ने राजधानीको सुन्दर प्रासादों, सरोवरों, भवनों आदिसे अलंकृत करनेकी ओर ध्यान दिया। ८३० ई० में वेंगिके चालुक्योंका दमन किया तथा पाण्ड्योंको पराजित किया। अपनी पुत्री शंखाका विवाह पल्लव नन्दिवर्मन् द्वितीय (८४४–६६ ई०) के साथ करके उसने पल्लवोंको मित्र बनाया। शंखाका पुत्र नृप तुङ्गवर्मन्, नन्दिवर्मन्का उत्तराधिकारी हुआ और अपने पिताकी भाँति ही अमोघवर्षका आज्ञाकारी रहा। गंग राचमल्लके उत्तराधिकारी एरेयगंगने विद्रोह किया किन्तु सेनापति बंकेयने कैदाल और तल्काडपर अधिकार करके गंगोंका पूर्णतया दमन किया जिसके लिए सम्राट्ने उसे बनवासी १२००० प्रदेश जागीरमें दिया और वहाँ उसने बंकापुर नगर बसाया। बंकेय जब गंगोंका दमन कर रहा था तभी राजधानीमें युवराज कृष्ण और गुर्जराधिप कर्कके पुत्र ध्रुवने मिलकर षड्यन्त्र किया। बंकेयने तुरन्त मान्यखेट आकर इस विद्रोहका भी तत्परताके साथ दमन किया, ध्रुव युद्धमें मारा गया। उसके उत्तराधिकारी अकालवर्ष और ध्रुव द्वितीय कन्नौजके मिहिरभोजसे आक्रान्त थे अतः वे अमोघवर्षके प्रति स्वामिभक्त बने रहे। वेंगिके विजयादित्य तृतीय गुणगने भी सिर उठाया। वह अपने समयके सर्वश्रेष्ठ शासकोंमेंसे था और राष्ट्रकूटोंकी पराधीनतासे मुक्त होना चाहता था किन्तु युद्धमें पराजित हुआ। इस विजयका श्रेय भी बंकेयको था। अब स्वयं विजयादित्यने अमोघवर्षके लिए गंगोंका दमन किया। तदुपरान्त अमोघने अपनी पुत्री चन्द्रबेलब्बेका विवाह गंगराज कुमार भूतुगसे करके गंगोंको अपना स्थायी मित्र और स्वामिभक्त सामन्त बना लिया। ८६७ ई० के उपरान्त अमोघको पूर्णतया शान्ति मिली। उसके दीर्घकालीन शासनकालके बहुभागमें उपद्रव, विद्रोह और युद्ध चलते रहे किन्तु पहले तो उसके चचेरे भाई कर्कके कारण और तदनन्तर सेनापति बंकेयके पराक्रमसे समस्त शत्रुओंका तत्परताके साथ दमन होता रहा और साम्राज्यकी समृद्धि एवं शान्तिमें कोई उल्लेखनीय विघ्न नहीं हुआ। वस्तुतः स्वयं अमोघवर्ष एक शान्तिप्रिय एवं धर्मात्मा

नरेश था। युद्ध-कार्य उसके स्वामिभक्त सेनापति और सामन्त सरदार ही सफलता-पूर्वक सञ्चालित करते रहे। फल-स्वरूप उसकी शक्ति, वैभव एवं प्रतापमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई। ८५१ ई० में अरब सौदागर सुलेमान भारत आया था उसने 'दीर्घायु बल्हरा (वल्लभराय)' नामसे अमोघका वर्णन किया है और लिखा है कि उस समय संसार-भरमें जो सर्वमहान् चार सम्राट् थे वे भारतका वल्लभराय (अमोघवर्ष), चीनका सम्राट्, बगदादका खलीफ़ा और रूम (कुस्तुन्तुनिया) का सम्राट् थे। अलइद्रिसि, मसूरी, इब्नहौकल आदि अन्य अरब सौदागरोंने भी अमोघवर्षके प्रताप और वैभव तथा साम्राज्यकी शक्ति एवं समृद्धिकी भरपूर प्रशंसा की है। उसका शासन भी सुचारु रूपसे सुव्यवस्थित था। इसके अतिरिक्त यह नरेश विद्वानों और गुणियोंका प्रेमी, स्वयं भी भारी विद्वान् और कवि था। संस्कृत, प्राकृत, कन्नडी एवं तामिलके विविधविषयक साहित्यके सृजनमें इसने भारी प्रोत्साहन दिया। उसकी राजसभा विद्वानोंसे भरी रहती थी। सम्राट् अमोघवर्ष जैनधर्मका अनुयायी और एक आदर्श जैन-श्रावक था। इस विषयमें प्रायः कोई मतभेद नहीं है। वीरसेन स्वामीके पट्ट-शिष्य सेन-संघी आचार्य जिनसेन स्वामी उसके राजगुरु और धर्मगुरु थे। ये विभिन्न भाषाविज्ञ एवं विविध विषयपटु दिग्गज विद्वान् थे। लड़कपनसे ही उनके साथ अमोघवर्षका सम्पर्क रहा था और वह उनकी बड़ी विनय करता था। जिनसेनके सम्मुख सर्वप्रथम कार्य अपने गुरु-द्वारा अधूरे छोड़े गये जयधवल महाग्रन्थकी पूर्ति करना था। सन् ८३७ ई० में अमोघवर्षके आश्रयमें तथा उसके प्रधानामात्य गुर्जराधिप कर्कराजके संरक्षणमें गुरु-द्वारा स्थापित वाटनगरके ही अधिष्ठानमें उन्होंने ६०००० श्लोक प्रमाण उक्त ग्रन्थको समाप्त किया। श्रीपाल गुरुने उस ग्रन्थका सम्पादन किया था। तदनन्तर सम्राट्के आग्रहपर वे राजधानी मान्यखेटमें ही आकर रहने लगे और पार्श्वाभ्युदय नामक सुप्रसिद्ध महाकाव्यकी रचना की तथा महापुराण की रचना प्रारम्भ की। किन्तु उक्त अद्वितीय पुराण-ग्रन्थको वे पूरा न

कर सके और सन् ८५० ई० के लगभग उनकी मृत्यु हो गई। उनके पट्ट-शिष्य आचार्य गुणभद्र थे जिनका अमोघवर्ष तथा उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय दोनों ही सम्मान करते थे। इन्हें अमोघवर्षने अपने पुत्रका शिक्षक नियुक्त किया था। इन्होंने गुरु-द्वारा प्रारम्भ किये गये महापुराणको संक्षेपमें पूरा किया—इनके द्वारा लिखा गया भाग उत्तरपुराण कहलाता है। इसके अतिरिक्त आत्मानुशासन, जिनदत्तचरित्र आदि ग्रन्थ भी उन्होंने रचे। आचार्य उग्रादित्यने अपने कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रन्थकी रचना ८०० ई० के पूर्व ही कर ली थी किन्तु अमोघवर्षके आग्रहपर उन्होंने उसकी राजसभामें आकर अनेक वैद्यों एवं विद्वानोंके समक्ष मद्य-मांस निषेधका वैज्ञानिक विवेचन किया और इस ऐतिहासिक भाषणको 'हिताहित अध्याय'के नामसे परिशिष्ट रूपमें अपने ग्रन्थमें सम्मिलित किया। प्रसिद्ध जैन गणिताचार्य महावीराचार्यने अपना सुविदित 'गणितसार-संग्रह' इसी सम्राट्के आश्रयमें लिखा तथा उसीके आश्रयमें यापनीय-संघके आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्त्तिने अपने सुविख्यात 'शब्दा-नुशासन' व्याकरण एवं उसकी अमोघवृत्तिकी रचना की, स्वयं अमोघवर्ष ने संस्कृतमें 'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका' नामका नीति-ग्रन्थ और कन्नडोमें 'कविराज-मार्ग' नामका महत्त्वपूर्ण छन्द एवं अलंकार शास्त्र रचा। उपरोक्त विद्वानों-द्वारा अपने ग्रन्थोंमें दी गयी सूचनाओंसे सम्राट्के धर्मभाव, सदाचरण एवं श्रेष्ठ चरित्रके सम्बन्धमें बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। वह बीच-बीच में बहुधा राज्य-कार्यसे अवकाश लेकर गुरुचरणोंमें, सम्भवतया वाटग्रामके मठमें अकिञ्चन होकर धर्म-सेवन किया करता था, स्याद्वादविद्याका रसिक था और अपने जीवनके अन्तिम वर्षोंमें तो पुत्रको राज्यकार्य सौंपकर एक आदर्श त्यागी जैन श्रावकके रूपमें उसने जीवन व्यतीत किया था। सन् ८२१ ई०में ही अमोघवर्षका राज्याभिषेक करके और उसकी स्थिति सुरक्षित करके उसके प्रधान सामन्त, अभिभावक एवं चचेरे भाई गुर्जराधिप कर्कराजने जो स्वयं जिनभक्त था सूरत दानपत्रके-द्वारा जैना-

चार्य परवादिमल्लके प्रशिष्यको नवसारी (नवसारिका) के जैन विद्यापीठ के लिए भूमि प्रदान की थी। ८५९ ई० के एक शिलालेखमें राज्य-द्वारा एक जैन बसदिके लिए सिंहवरगणके आचार्य नागनन्दिको दान देनेका उल्लेख है। ८६० ई० में स्वयं सम्राट् अमोघवर्षने सेनापति बंकेयरस की प्रार्थनापर मान्यखेट राजधानीमें त्रैकालयोगीके शिष्य देवेन्द्र मुनीश्वर को दान दिया था। अन्य भी अनेक दान उसने दिये। उसके सामन्त सरदारोंमें लाट (गुजरात) के राष्ट्रकूट, नोलम्ब वाडीके नोलम्ब, सौदत्तिके रट्ट, हुम्मचके सांतार राजे, गंगनरेश, पूर्वी चालुक्य आदि अनेक जैनधर्मावलम्बी थे। उसका प्रधान सेनापति एवं राज्यका वास्तविक रक्षक चेल्लकेतन वीर बंकेय (बंकेश या बंकेयरस) महान् वीर, भीषण योद्धा, कुशल सेनाध्यक्ष और परम स्वामिभक्त था, साथ ही परम जैन भी था। उसके प्रपितामह वीर मुकुल राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथमके पितामह एरकोरि ध्रुवधारावर्षके और पिता घोर सम्राट् गोविन्द तृतीय जगत्तुंगके राजसचिव एवं सेनानायक थे। प्रारम्भसे ही बंकेयका वंश जैनधर्मका अनुयायी था। उसकी माता विजयाम्बा भी बड़ी धर्मात्मा थी। बंकेय सम्राट् अमोघवर्षका अत्यन्त कृपापात्र एवं प्रिय अनुचर था। उसकी सेवाओंसे प्रसन्न होकर सम्राट्ने उसे विशाल बनवासी प्रान्तका एकाधिपति सामन्त बना दिया था और वहाँ बंकेयने बंकापुर नगरका निर्माण करके उसे अपनी राजधानी बनाया था। अमोघवर्षका कोन्नूर शिलालेख (८६० ई०) सेनापति बंकेय की प्रार्थनापर ही लिखा गया था और उसीके द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए राष्ट्रपति जयालवके तत्त्वावधानमें भूदान किया गया था। बनवासी के जैनमठोंमें अमोघवर्ष-द्वारा प्रचारित पूजा आदिके नियम आजतक चले आते हैं। स्वयं सम्राट्की माता महारानी गामुंडब्बे, उसकी पट्टमहिषी उमादेवी, पुत्र कृष्णराज, पुत्रियाँ शंखादेवी और चन्द्रबेलब्बे, चचेरे भाई कर्क आदि राजपरिवारके प्राय: अन्य सभी व्यक्ति जैनधर्मके भक्त थे। इस प्रकार राष्ट्रकूट चक्रवर्ती सम्राट् अमोघवर्ष नृपतुंगके साम्राज्यमें

जैनधर्म ही राष्ट्रधर्म हो रहा था। तथापि सम्राट् परधर्म-सहिष्णु एवं समदर्शी था। लोकाचार और कुलाचारके अनुसार कतिपय वैष्णव देवी-देवताओंको भी मानता था, कमसे-कम अपनी कुलदेवी महालक्ष्मीमें उसकी प्रायः जिनेन्द्र-जैसी ही आस्था रही प्रतीत होती है क्योंकि इस प्रजावत्सल नरेशने एक बार अपनी प्रजाको महामारीके प्रकोपसे बचानेके लिए उक्त देवीके चरणोंमें अपनी अँगुली काट कर चढ़ा दी थी। इसमें सन्देह नहीं कि यह नरेश एक विशाल साम्राज्यका अधिपति, तत्कालीन भारतवर्षका सर्वाधिक शक्ति एवं वैभव-सम्पन्न और विश्वके सर्वमहान् नरेशोंमें परि-गणित सम्राट् था।

सन् ८७५–७६ ई० के लगभग ६० वर्ष राज्य करनेके उपरान्त अमोघवर्षने राज्यका भार युवराज कृष्ण द्वितीयको सौंपकर स्थायी रूपसे अवकाश ले लिया और एक विरक्त त्यागी श्रावकके रूपमें धर्मसाधनमें जीवनके शेष वर्ष व्यतीत किये। सन् ८८० ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। अस्तु उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय शुभतुंग अकालवर्ष (८७८–९१४ ई०) राज्यका वस्तुतः स्वामी तो ८७५ ई० में ही हो गया था, ८७८ ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ। अपने सामन्त लाटके राष्ट्रकूटोंकी सहायतासे उसने भोजप्रतिहारके आक्रमणका निवारण किया और भोजकी मृत्युके कुछ वर्ष बाद उसके पोते महीपालके राज्यपर आक्रमण किया। कृष्णके सामन्त नरसिंह चालुक्यने जो जैनी था गंगामें अपने घोड़े नहलाये और महीपालको पराजित किया। उसका एक दूसरा सेनाध्यक्ष श्रीविजय भी जैन था। कृष्णने लाट शाखाका अन्त करके उस प्रदेशको अपने प्रत्यक्ष शासनमें ले लिया। कृष्णकी पट्टरानी चेदिनरेश कोक्कल प्रथमकी कन्या थी और उसने अपनी पुत्रीका विवाह आदित्य चोलके साथ किया था। कृष्णने वेंगिके गुणग विजयादित्यपर आक्रमण किया किन्तु असफल रहा। उसके बाद चालुक्य भीमके विरुद्ध भी वह उसी प्रकार असफल रहा। अपने पिताकी भाँति कृष्ण भी जैनधर्मका भक्त था। जिनसेनके पट्टशिष्य

गुणभद्राचार्य उसके गुरु थे। ८९८ ई० में गुणभद्रके शिष्य लोकसेन ने उनकी उत्तरपुराणकी प्रशस्तिका संवर्धन करके वीर बंकेयके पुत्र और बंकापुरके स्वामी लोकादित्यकी राजसभामें उक्त महापुराणका पूजोत्सव एवं वाचन किया था। लोकादित्य अपने पूर्वजोंकी भाँति ही राष्ट्रकूट-सम्राट्का स्वामिभक्त सामन्त एवं उच्चपदाधिकारी था। ८७५ई० में कृष्णके सामन्त मौन्दत्तिके पृथ्वीरामने जैनमन्दिरोंके लिए भूमि प्रदान की थी। एक अन्य प्रमुख सामन्त तोलपुरुष विक्रम सांतारने हुमच्चमें पलियक्का नामक बसदि तथा कुन्दकुन्दान्वयके मौनी सिद्धान्त भट्टारकके लिए एक अन्य बसदि (८९७ ई०में) निर्माण करायी थी। सम्भवतया इसी राजाने हुमच्चम गुड्ड नामक बसदि बनवाकर उसमें भगवान् बाहु-बलिकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित की। विक्रमवरगुण नामक एक अन्य सामन्तने पेरियकुडीके अरिष्टनेमि भट्टारकके शिष्यको दान दिया था। कृष्णके ही राज्यकालमें कोप्पण तीर्थपर (८८१ ई० में) एक चट्ट-गदुभट्टारकके शिष्य आचार्य सर्वनन्दिका समाधिमरण हुआ था। उस कालमें कोप्पण एक उन्नत तीर्थ एवं जैन-केन्द्र था। स्वयं कृष्ण द्वितीयने मूलगुण्ड, बदनिके आदि स्थानोंके जैनमन्दिरोंको दान दिये थे। उसका सन् ९१४ ई० का बेगुमारा ताम्रशासन एक जैनदान-पत्र ही है। इसी नरेशके आश्रयमें कन्नडी भाषाके जैन महाकवि गुणवर्मने अपनी हरिवंशपुराणकी रचना की थी। एक अन्य जैन महाकवि हरिश्चन्द्र कायस्थने अपने धर्मशर्माभ्युदय काव्यकी रचना सम्भवतया इसी कालमें की थी। ९०० ई० के त्रिक्कन्नसोगे जैन बसदिके शिलालेखसे ज्ञात होता है कि कृष्णकी जक्कियब्बे नामक एक जैनधर्मभक्त सामन्त महिला अत्यन्त कुशल शासक थी।

कृष्ण द्वितीयको प्रायः वृद्धावस्थामें ही राज्यप्राप्त हुआ था और उसके पुत्र जगत्तुंगकी उसके जीवनमें ही मृत्यु हो गयी थी, अतः उसका उत्तरा-धिकारी उसका पोता इन्द्र तृतीय नित्यवर्ष रट्टकन्दर्प (९१४–२२ ई०) हुआ। इसने मालवाके उपेन्द्रको पराजित करके अपने अधीन किया,

वेंगिके चालुक्योंको भी अपनी अधीनता स्वीकार करनेपर विवश किया। कन्नौजके महीपालके विरुद्ध युद्धोंमें वह विजयी हुआ बताया जाता है। उसके दुर्द्धर सेनापति नरसिंह और श्रीविजय दोनों ही जैनधर्मके अनुयायी थे। सेनापति श्रीविजय 'अरिविनगोज' और अनुपम कवि भी कहलाता था। वह शस्त्र और शास्त्र दोनों ही विद्याओंमें अद्वितीय था। जीवनके अन्तिम भागमें संसारका त्याग करके वह जैनमुनि हो गया था। यह राजा इतना भारी दानी था कि ९१५ ई० में कुरुन्धक नामक स्थानमें जब उसका पट्टबन्धोत्सव मनाया गया तो उसने धर्मगुरुओं, धर्मायतनों और याचक गणोंको ४०० ग्राम दान दिये थे। अपने पूर्वजोंकी भाँति वह भी जिनेन्द्रका भक्त था। अपने अभीष्टकी प्राप्तिकी इच्छासे उसने अर्हत् शान्तिनाथका पाषाण-निर्मित सुन्दर पादपीठ बनवाया था। नलचम्पूके लेखक त्रिविक्रमभट्ट तथा उसके पिता नेमादित्यका भी वह प्रश्रयदाता था। उसके उपरान्त उसका पुत्र अमोघवर्ष द्वितीय (९२२–२५ ई०) राजा हुआ किन्तु वह अपने छोटे भाई गोविन्दके षड्यन्त्रका शिकार हुआ प्रतीत होता है। गोविन्द चतुर्थ सुवर्णवर्ष (९२५–३६ ई०) जो सम्भवतया अपने बड़े भाईकी हत्या करके राजा बना था एक दुराचारी और अयोग्य शासक सिद्ध हुआ, इसके समयमें ९३३ ई० में देवसेनने दर्शनसारकी रचना की थी। सामन्त सरदारोंकी प्रार्थनापर उसका चाचा अमोघवर्ष तृतीय बद्दिग (९३६–३९ ई०) गोविन्दको गद्दीसे उतारकर स्वयं राजा हुआ। यह एक शान्तिप्रिय नरेश था। उसका पुत्र युवराज कृष्ण गंगनरेश राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीयके विरुद्ध उसके भाई भूतुग द्वितीयका पक्षपाती और सहायक था, अतः अमोघवर्षने भूतुगके साथ अपनी पुत्री रेवकाका विवाह कर दिया। कृष्णराज तृतीय अकालवर्ष (९३९–६७ ई०) राष्ट्रकूट वंशके अन्तिम नरेशोंमें सर्वमहान् था। अपने बहनोई भूतुग गंगकी सहायतासे लल्लेयको पराजित करके वह पिताके सिंहासनपर बैठा। बदलेमें उसने भूतुगको अपने भाई राचमल्लका अन्त करके सिंहासन प्राप्त

करनेमे सहायता दी, भूतुगको गंगवाडि और बनवासीका राजा घोषित किया, उसके पुत्र तथा अपने भानजे मरुलदेवके साथ अपनी पुत्री विजब्बाका विवाह किया और उसकी पुत्रीके साथ अपने पुत्रका। इन विवाह-सम्बन्धों एवं मैत्री-व्यवहारोंके कारण गंगनरेश भूतुग द्वितीय, मरुलदेव, मारसिंह, आदि कृष्ण और उसके उत्तराधिकारियोंके सबसे-बड़े हितू और सहायक बन गये। उसे अपना अधिपति स्वीकार करनेमें उन्होंने अपना सम्मान ही समझा। कृष्णके लिए इन गंगोंने अनेक युद्ध किये। भूतुगने उत्तरमें चित्रकूट और कालिञ्जर तक विजय की, दक्षिणमें कृष्णके साथ चोलोंपर आक्रमण किया और परान्तक चोलके पुत्र राजादित्यको हाथीपर बैठे-बैठे ही बाणसे बेध दिया। गंगनरेशकी सहायतासे कृष्णने चोल, पाण्ड्य, केरल, कलभ्र, औच एवं सिंहलके राजाओंको पराजित किया तथा रामेश्वरम्में अपना विजय-स्तम्भ स्थापित किया। उसकी ओरसे गंग मारसिंह और उसके वीर सेनापति चामुण्डरायने बनवासी देशको विजय किया, नोलम्बों, गुर्जरों और किरातोंको पराजित किया, उच्छङ्गी-जैसे सुदृढ़ दुर्गोंको हस्तगत किया, अल्लण, वज्जवल, मुडुराचय्य आदि सामन्तों एवं उपराजाओंका दमन किया। उसने मालवापर आक्रमण किया और परमार हर्षसियकने उसकी अधीनता स्वीकार की। कृष्ण एक वीर योद्धा, दक्ष सेनानी, मित्रोंके प्रति अति उदार, धर्मात्मा और पराक्रमी नरेश था। उसने राष्ट्रकूट साम्राज्यकी प्रतिष्ठाको गिरते-गिरते बचाया। किन्तु दो-एक राजनैतिक भूलें उसने कीं, परमारोंको पराजित तो किया किन्तु उनका पूर्णतया दमन नहीं किया, दूसरे एक चालुक्य सरदार तैलपको साम्राज्यके केन्द्रिय भागमें एक महत्त्वपूर्ण जागीर सैनिक-सेवाओंके लिए प्रदान कर दी। तथापि कृष्ण तृतीय एक महान् नरेश था और अपने पूर्वजोंकी भाँति जैनधर्मका पोषक और विद्वानोंका आश्रयदाता था। जैनाचार्य वादिघंगलभट्टका वह बड़ा सम्मान करता था और उन्हें अपना गुरु मानता था। उन्हींके उपदेशसे उसने निरन्तर युद्ध किये और हर दिशामें विजय प्राप्त

की। वास्तवमें यदि वह ऐसा न करता तो दक्षिणमें चोलोंकी बढ़ती हुई शक्ति और उत्तरमें परमारोंको तथा निकट ही वेंगिके चालुक्यों एवं तैलप जैसे अन्य साहसी सामन्तोंके प्रयत्न राष्ट्रकूट साम्राज्यका बहुत पहले ही अन्त करनेमें सफल हो जाते। कृष्णने कन्नडी भाषाके जैन महाकवि पोन्नको उभयभाषाचक्रवर्तीकी उपाधि देकर सम्मानित किया था। सोम-देवने यशस्तिलक एवं नीतिवाक्यामृतकी रचना कृष्णके चालुक्य सामन्तके आश्रयमें ९५९ ई० में गंगधार नगरमें की थी। कृष्णके प्रधान मन्त्री भरत थे। ये भी जैनधर्मके अनुयायी थे और अपभ्रंशके महाकवि पुष्पदन्तके आश्रयदाता थे। उन्हीकी प्रेरणापर कविने अपने प्रसिद्ध महापुराणकी रचना की थी। महामात्य भरतके पुत्र नन्न भी राजमन्त्री थे। जैन धर्मानुयायी और पुष्पदन्तादि विद्वानों एवं कवियोंके आश्रयदाता थे। कृष्ण तृतीयकी मृत्युके बाद उसका छोटा भाई खोट्टिग नित्यवर्ष (९६७–७२ ई०) राजा हुआ। जिस समय उसके प्रधान सहायक गंग मारसिंह और उनके सेना-पति चामुण्डराय अन्यत्र युद्धोंमें उलझे हुए थे मालवेके सियक हर्ष परमारने तरदवाडि या रट्टवाडिपर आक्रमण कर दिया और ९७२ ई० में स्वयं मान्यखेट राजधानीको लूटा और भस्म किया। सम्भवतया इसी युद्धमें खोट्टिग भी मारा गया। मान्यखेटकी लूटके समय महाकवि पुष्पदन्त वहीं थे और उन्होंने उस सुन्दर नगरीके विनाशका बड़ा करुण चित्रण किया है। समाचार सुनकर गंग मारसिंह राष्ट्रकूटोंकी सहायताको पहुँचा, परमार सेना तुरन्त वापस लौट गयी और खोट्टिगका पुत्र कर्क द्वितीय (९७२–७३ ई०) राजा हुआ। यह भारी योद्धा था और थोड़े ही समयमें इसने पल्लवों, गुर्जरों, हूणों और पाण्ड्योंको युद्धमें पराजित किया। इन युद्धोंके कारण राजधानी फिर अरक्षित हो गयी और ९७३ ई० में चालुक्य सरदार तैलपने उसपर अधिकार करके कर्कको राज्यच्युत किया और सम्भवतया युद्धमें मार भी दिया। राष्ट्रकूट वंशका अन्तिम राजा इन्द्र चतुर्थ था जो कृष्ण तृतीयका पोता तथा गंग मारसिंहका भानजा था।

वह भारी वीर और योद्धा था तथा चौगान (पोलो) के खेलमें निपुण था। मारसिंहने उसे अपने पूर्वजोंका राज्य प्राप्त करनेमें भरसक सहायता दी। एक बारको मान्यखेटमें उसका राज्याभिषेक भी कर दिया। दोनोंने वीरता-पूर्वक अनेक युद्ध किये किन्तु स्थायी सफलता न मिली। ९७४ ई० में मारसिंहकी स्वगुरुचरणोंमें सल्लेखनापूर्वक मृत्यु हो गई। अतः निस्सहाय इन्द्रराज भी कुछ वर्षोंतक प्रयत्न करनेके बाद संसारसे विरक्त हो गया और श्रवणबेलगोल चला गया। कमगण्डमनहल्लि शिलालेखसे ज्ञात होता है कि अन्तमें वह जैनमुनि हो गया था और ९८२ ई० में इस 'विश्व-विख्यात इन्द्रराजने शान्त-चित्तसे सल्लेखना व्रत धारण करके देवराज इन्द्रके पदको प्राप्त किया।' इस प्रकार इन्द्र चतुर्थकी मृत्युके साथ दक्षिण भारतके महान् राष्ट्रकूट वंश और साम्राज्यका अन्त हुआ।

लगभग २५० वर्षके उपरोक्त राष्ट्रकूट युगमें जैनधर्म और विशेषकर उसका दिगम्बर सम्प्रदाय सम्पूर्ण दक्षिणापथमें सर्व-प्रधान धर्म था। डा० अल्तेकरके अनुसार साम्राज्यकी लगभग दो तिहाई जनता तथा राष्ट्रकूट नरेशों एवं उनके परिवारोंके विभिन्न स्त्री-पुरुषों, अधीनस्थ राजाओं, उपराजाओं, सामन्त-सरदारों, उच्च-पदाधिकारियों, राज्यकर्मचारियों, महाजनों और श्रेष्ठियों सभीमें अधिकतर लोग इसी धर्मके अनुयायी थे। लोक-शिक्षा भी जैन-गुरुओं और बसदियों-द्वारा सञ्चालित होती थी। वर्णमालाका प्रारम्भ जैनमन्त्र 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' से होता था जो महाराष्ट्रमें आजतक चला आता है। गुजरातसे लेकर आन्ध्रदेश पर्यन्त और नर्मदासे लेकर मदुरा पर्यन्त अनेक जैन विद्यापीठ जन-साधारणको ही नहीं राज-कुमारों एवं अन्य उच्च वंशोंके छात्र और छात्राओंको धार्मिक एवं लौकिक शिक्षा प्रदान करते थे। अनेक जैनाचार्य राजाओं और महाराजाओंके राजगुरु और पथप्रदर्शक थे। आहार, अभय, औषधि और विद्यादान-द्वारा मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध संघ लोकोपकारके कार्योंमें रत था। साथ ही शान्तिप्रिय स्याद्वादात्मक एवं सहिष्णु जैनधर्म अन्य

धर्मोंके साथ उदारता, सद्भाव और सहयोग पूर्वक उन्नति कर रहा था। शैव-वैष्णवादि-द्वारा काल-विशेषों और प्रदेश-विशेषोंमें जैनोंपर भीषण अत्याचार किये जानेपर भी और स्वयं जैनोंके इस युगमें इतना अधिक शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी उनके द्वारा अजैनोंपर धार्मिक अत्याचार किये जानेका कोई प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही जैनधर्म अपने अनुयायियोंके लौकिक कर्त्तव्यों, वीरता-पूर्वक युद्ध सञ्चालन, स्वदेश प्रेम, स्वराज्य रक्षा एवं विस्तार, शासन-प्रबन्ध आदिमें बाधक तो हुआ ही नहीं, साधक ही हुआ। जैन विद्वानोंने भारतीका भण्डार भरा और जैन-कलाकारोंने अद्वितीय कृतियोंसे देशको अलंकृत किया। अपने इस अभ्युदय कालमें जैन संस्कृतिने भारतीय संस्कृतिका सर्वतोमुखी विकास किया।

कल्याणीके उत्तरवर्त्ती चालुक्य—१०वीं शती ई० के तृतीय पादके अन्तिम वर्ष भारतीय इतिहासमें अत्यधिक घटनापूर्ण थे। अनेक राज्योंमें उलट-फेर हुई, कई नरेशोंकी मृत्यु, नवीनोंके राज्याभिषेक, कई स्थानोंमें राज्य एवं वंश-परिवर्तन हुए। वस्तुतः जैन-परम्पराके अनुसार यह युग दूसरे उपकल्किके अन्तका सूचक था। कमसे-कम दक्षिण भारतमें इस कालमें एक महान् राज्यक्रान्ति हुई। ९६७ ई० में राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय नर्मदाके दक्षिणवर्ती समस्त भू-भागका एकच्छत्र स्वामी था किन्तु दिसम्बर ९७३ ई० में उसका सम्पूर्ण राज्य उसके भतीजे कर्क द्वितीयके हाथोंसे अकस्मात् छिन गया और २५० वर्षसे चला आया विशाल एवं शक्तिशाली राष्ट्रकूट साम्राज्य एक स्मृतिमात्र रह गया। उसके स्थानमें वातापीके प्राचीन पश्चिमी चालुक्य वंशका चमत्कारी पुनरुत्थान हुआ और इसका श्रेय चालुक्य वीर तैलपको है।

तैलके पूर्वज कहाँ रहते थे या राज्य करते थे इसका कुछ पता नहीं चलता। पीछेके चालुक्य अभिलेखोंमें उसका सम्बन्ध वातापीके पश्चिमी चालुक्य-सम्राट् विजयादित्य द्वितीयके साथ जुड़ा मिलता है जिसका पौत्र कीर्त्तिवर्मन् द्वितीय (७५७ ई०) में इस वंशका अन्तिम नरेश था। उसके

चाचा भीमपराक्रमकी सन्ततिमें कीर्त्तिवर्मन् तृतीय, तैल प्रथम, विक्रमादित्य तृतीय, अय्यन प्रथम, विक्रमादित्य चतुर्थ क्रमशः हुए। अन्तिमका पुत्र यह तैल द्वितीय था। कुछ विद्वान् इस वंशक्रममें सन्देह करते हैं। ९५७ ई० में यह तैल या तैलप राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयके अधीन तरद्दवादी १००० प्रान्तका एक साधारण श्रेणीका अज्ञात कुल एवं निरुपाधि शासक था। किन्तु ९६५ ई० में वही उसी प्रान्तको एक अणुग जीवित (जागीरदार सामन्त एवं सेना-नायक) के रूपमें भोगता हुआ सत्याश्रय वंशी महासामन्ताधिपति चालुक्य राम आहवमल्ल तैलपरस बना मिलता है। सम्भवतया अपनी महत्त्वपूर्ण युद्ध सेवाओंके कारण कृष्ण तृतीयका कृपापात्र बनकर मात्र ८ वर्षमें ही उसने ऐसी अद्भुत उन्नति कर ली थी। उसकी माँ बोंथादेवी चेदिनरेश लक्ष्मणकी पुत्री थी। उसने स्वयं अपना विवाह राष्ट्रकूट सरदार बम्महाट्ट की कन्या जकब्बे अपर नाम लक्ष्मीके साथ किया। चेदियोंको कृष्णने अपने विरुद्ध कर लिया था। इस प्रकार अपने मामा चेदिनरेश युवराज द्वितीय, अपने श्वसुर बम्महाट्ट, वेंगिके पूर्वी चालुक्य बद्दिग द्वितीय, सुयेनदेशके यादवराज भिल्लम द्वितीय आदिकी मित्रता एवं सहायतासे तैलपने अपनी शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ की। राष्ट्रकूटोंका सामन्त और सेनानायक बनकर उसने उनकी आन्तरिक दुर्बलताओंको लक्ष्य किया और अवसरकी ताकमें रहा। धल्ल नामक एक ब्राह्मण सरदार कृष्णके विरुद्ध हो गया था अतः गंग मारसिंहने उसका दमन किया था। अब वह भी तैलपसे आ मिला। वाजीवंशका यह ब्राह्मण धल्ल एक महान् योद्धा एवं विचक्षण राजनीतिज्ञ था। तैलपने उसे अपने महकमे मालका अध्यक्ष नियुक्त किया और 'महा-मन्त्र अक्षयपटल अधिपति' पद दिया। धल्लको मङ्गलसिद्धि, विवेक बृहस्पति, सचिवोत्तम आदि उपाधियाँ राजासे प्राप्त हुईं। वस्तुतः धल्ल ही तैलपका प्रधानामात्य हो गया था, राज्य-व्यवस्था एवं शासन-भार उसके सुयोग्य हाथोंमें छोड़कर तैलप स्वयं शत्रुओंके दमन और राज्य-विस्तारमें संलग्न हुआ। धल्लका पुत्र महादण्डनायक नागदेव भी महान् योद्धा एवं कुशल

सेनानायक था। तैलपका सेनापति मल्लप भी अत्यन्त योग्य एवं कार्य-कुशल था। सोब्बनरस कन्ननवन्त आदि राष्ट्रकूटोंके कई अन्य सामन्त सरदारों एवं कर्मचारियोंको भी तैलपने फोड़ लिया था। उसके सौभाग्यसे ९७२ ई० में सियक परमारने मान्यखेटका विध्वंस और खोट्टिगकी हत्या करके राष्ट्रकूट शक्तिको जर्जर कर दिया था। तदनन्तर वह महान् राजधानी भीषण दुष्कालका शिकार हुई। ऐसी स्थितिमें ९७३ ई० में तैलपने मान्यखेटपर भीषण धावा बोला। राष्ट्रकूट कर्क द्वितीय भी भारी योद्धा था, भयङ्कर युद्ध हुआ जिसमें कर्क मारा गया और तैलपने राष्ट्रकूट राजधानीपर अधिकार कर लिया। गंग मारसिंहने कुछ समयके लिए मान्यखेट फिरसे छीन लिया और इन्द्र चतुर्थको राष्ट्रकूट सिंहासनपर स्थापित किया, किन्तु कुछ ही महीनों बाद तैलपने इन्द्रको निकालकर मान्यखेटमें अपना राज्याभिषेक किया। संवत्सर श्रीमुख (९७३-७४ ई०) उसके राज्यका प्रथम वर्ष था। सर्वप्रथम उसे गंगोंसे लोहा लेना था। मारसिंह और उसके सेनापति चामुण्डरायके प्रति उसके हृदयमें आदर-भाव था किन्तु वे दोनों उसके द्वारा राष्ट्रकूट राज्यका अपहरण भी सहन नहीं कर सकते थे। अतः परस्पर युद्ध चलते रहे। मारसिंहने तो विरक्त होकर समाधिमरण कर लिया। तैलपने पाञ्चालदेव, गोविन्द, मुदराचय्य आदि गंग सरदारोंका दमन करनेमें चामुण्डरायकी सहायता की और गंग सिंहासनपर राचमल्ल चतुर्थको तथा तदनन्तर रक्कसगंगको बैठानेमें साधक हुआ, अतएव ये दोनों गंग-नरेश और उनके महामन्त्री चामुण्डरायसे उसकी मैत्री हुई और वह उनकी ओरसे निश्शङ्क हुआ। तदनन्तर तैलपकी सेनाओंमें करहाट, कोङ्कण, पल्लिकोट, भद्रक आदि प्रदेशोंपर आक्रमण किया और राष्ट्रकूट साम्राज्यके अन्तर्गत जितना प्रदेश था उस सबपर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसने गुर्जरदेशको भी विजय किया और मालवा नरेशसे युद्ध किये। मुञ्ज परमारने छः बार तैलपके राज्यमें आक्रमण किया और प्रत्येक बार पीछे हटा, अन्तिम धावेमें वह स्वयं बन्दी हुआ।

कहा जाता है कि तैलपकी बहिन मृणालवतीसे उसका प्रेम हो गया था और फलस्वरूप वह भाग निकला किन्तु तैलपने उसे युद्धमें फिर पराजित किया और उसी युद्धमें मुञ्जकी मृत्यु हुई। तैलपने शिलाहार, रट्ट और नोलम्ब नरेशोंका भी दमन करके उन्हें अपने अधीन किया। गंग भी अब उसके अधीन राजे ही थे। केवल चोल सम्राट् उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे, उनका ध्यान बटानेके लिए उसने वेंगिपर आक्रमण किये, उसे पराजित किया और उसकी राजनीतिमें हस्तक्षेप करता रहा। ९९७ ई० में तैलप द्वितीयकी मृत्यु हुई। मान्यखेटका त्याग करके कल्याणीको उसने अपनी राजधानी बनाया था।

वस्तुत: जैसा कि उसके वंशजोंके अभिलेखोंमें कथन किया गया है तैलपने प्राचीन चालुक्योंके राज्यका अपहरण करनेवाले राष्ट्रकूटोंको पराजित एवं निष्कासित करके चालुक्य वंशकी साम्राज्य-लक्ष्मीको पुन: प्राप्त किया और प्रतिष्ठित किया। निस्सन्देह वह एक महान् पराक्रमी और योग्य नरेश था। विद्वान् और गुणी पुरुषोंका वह आदर करता था। सेनापति मल्लप्प, मन्त्री धल्ल, दण्डनायक नागदेव, वीर सेनानायक पोनमय्य, भूटेपदेव और पदुबेल तैल-जैसे राज्य-पदाधिकारी एवं सुयोग्य युवराज सत्याश्रय आदि महावीर योद्धाओं, राजनीति-पटु अमात्यों, कुशल शासनाधिकारियों एवं स्वामिभक्त सेवकोंकी सेवाओंका लाभ उसे प्राप्त हुआ था जिनके कारण ही उसे वैसा आश्चर्यजनक अभ्युदय सहज ही प्राप्त हुआ। देशकी सांस्कृतिक परम्पराको भी उसने प्रशस्त एवं पूर्ववत् निर्बाध जारी रखा। वह सर्व-धर्मसहिष्णु, उदार और दानी नरेश था। जैन धर्मके साथ तो उसने वैसा ही श्रद्धा एवं उदारतापूर्ण बर्ताव बनाये रखा जैसा कि पूर्ववर्ती कदम्बों, गंगों, पश्चिमी चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटोंने बनाये रखा था। बेल्लारी जिला, हडगल्लि तालुकेके कोगलि स्थानमें स्थित चेन्न पार्श्व बसदिका सन् ९९२ ई० का शिलालेख सूचित करता है कि यह राजा जैनधर्मका अनुयायी था। कन्नडीका जैन महाकवि रन्न (रत्नाकर)

उसका राजकवि था। ९९३ ई० में अपने अजितपुराण या पुराणतिलक महाकाव्यको पूर्ण करनेपर सम्राट्ने कविको 'कविचक्रवर्ती' उपाधिसे विभूषित किया था और स्वर्ण-दण्ड, चँवर-छत्र, गज आदि देकर पुरस्कृत किया था। साहस भीमार्जुन, रत्नकाण्ड आदि काव्य भी इसी कविने रचे थे। उसी वर्षके सोमसमुद्र शिलालेख-द्वारा लोकहितके लिए सम्राट्ने एक विशाल ताल निर्माण कराया था और उसके लिए 'विट्ठवृत्त' भूमि लगायी। राजाज्ञा का उल्लंघन करनेवालेको बसदि (जिनमन्दिर), काशी, अन्य देवालय आदिको हानि पहुँचानेवाले-जैसा पातकी एवं दण्डनीय घोषित किया था। महामन्त्री धल्ल, सेनापति मल्लप और नागदेव आदि भी जैनधर्मके भक्त थे। मल्लपकी पुत्री और धल्लकी पुत्र-वधू तथा नागदेवकी पत्नी और पदुबेल तैलकी जननी विदुषीरत्न अतिमब्बेकी साहित्य-सेवा, धर्म-प्रभावना शील-सदाचरण एवं धार्मिकताके उत्कृष्ट आदर्शसे तैलका शासनकाल धन्य हुआ था। उभयभाषाचक्रवर्ती महाकवि पोन्नके शान्तिपुराणकी एक सहस्र प्रतियाँ इस महिलाने अपने व्ययसे तैयार कराकर वितरित की थीं। स्वर्ण मणि माणिक्यादिकी १५०० जिनमूर्त्तियाँ बनवाकर विभिन्न मन्दिरोंमें स्थापित की थीं, अनेक मन्दिरोंका निर्माण एवं जीर्णोद्धार कराया और आहार, औषध, अभय और विद्यारूप चार प्रकारके अनवरत दान-द्वारा वह दानचिन्तामणि कहलायी। ऐसा प्रसिद्ध है कि उसके सतीत्वके प्रभावसे गोदावरीका प्रवाह रुक गया था। उसका पति नागदेव युवराज का अनन्य मित्र और सम्राट्का अतिमान्य अनुचर था। अतः इस देवीके धर्मकार्योंमें सम्राट्की अनुमति, सहायता एवं प्रसन्नता थी इसमें कोई सन्देह नहीं। किसी भी धर्मवीर महिलाके लिए आदर्श नारी-रत्न अतिमब्बेसे तुलना किया जाना परम सौभाग्य माना जाता था।

तैलप द्वितीयका उत्तराधिकारी उसका पुत्र सत्याश्रय इरिव बेदेंग (९९७–१००९ ई०) था। उसने अपने पिताकी आक्रमणकारी नीति चालू रखी। उसका प्रधान शत्रु राजराजा चोल था। राजराजा चोलने

चालुक्य राज्यपर आक्रमण किया, सत्याश्रयने उसका मुक़ाबला डटकर किया, साथ ही वेंगिपर आक्रमण कर दिया और भीमको पराजित करके शक्तिवर्मन्को राजा बनाया। चोलोंकी शक्ति इस समय द्रुत-वेगसे बढ़ रही थी अतः सत्याश्रयने उनसे सन्धि कर ली। यह नरेश भी जैनधर्मका भक्त था। उसके गुरु सम्भवतया कुन्दकुन्दान्वय पुस्तकगच्छके द्रमिलसंघी भट्टारक कनकसेन वादिराज और श्रीविजय ओडेयदेव थे। सत्याश्रयने एक जैनगुरुकी स्मृतिमें अगदि नामक स्थानमें एक भव्य निषद्या निर्माण करायी थी। उसका प्रधान राजकर्मचारी उसके मित्र नागदेव और अतिमब्बे का पुत्र पदुवेल तैल था, वह भी जैनधर्मका परमभक्त और कवि रन्नका आश्रयदाता था। सत्याश्रयके पश्चात् उसका पुत्र कुन्दमरस राजा न हो सका बल्कि उसके भाई दशवर्माका पुत्र विक्रमादित्य पञ्चम (१००९–१३ ई०) राजा हुआ। तदुपरान्त इसके भाई अय्यन द्वितीयने लगभग एक वर्ष राज्य किया और फिर तीसरा भाई जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल चालुक्यचक्री (१०१४–१०४२ ई०) राजा हुआ। इसके समय भोज परमारने अपने चाचा मुञ्जका बदला लेनेके लिए कल्याणीपर आक्रमण किया। जयसिंहने भोजका मुक़ाबला किया और दोनोंमें सन्धि हो गयी। वेंगिके साथ भी उसका युद्ध हुआ और राजेन्द्र चोलसे भी युद्ध हुए जिनमे चोल ही विजयी रहे और सन्धि हो गयी। जयसिंह द्वितीय जैनधर्मका विशेष भक्त था, अनेक जैन विद्वानों एवं गुरुओंका उसने सम्मान किया तथा साहित्य-निर्माणको प्रोत्साहन दिया। आचार्य वादिराजसूरिका वह बहुत आदर करता था। उसकी राजसभामें पर-वादियोंके साथ उन्होंने अनेक शास्त्रार्थ किये थे। उनकी विजयके उपलक्ष्यमें राजाने उन्हे स्वमुद्रा युक्त जयपत्र तथा 'जगदेकमल्लवादी' उपाधि प्रदान की थी। १०२५ ई० में इन्हीं आचार्यने अपना प्रसिद्ध काव्य 'पार्श्वचरित' रचा था। एकीभाव स्तोत्र तथा अकलंकदेवकृत न्यायविनिश्चयकी टीका (विवरण) आदि अन्य ग्रन्थ भी इन्होंने रचे। अनेक ग्रन्थोंके रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र भी

इसी समयमें हुए। उन्हें धाराके भोजका आश्रय भी प्राप्त था। चालुक्य जयसिंहका विरुद मल्लिकामोद था और उसने बलिपुरमें मल्लिकामोद शान्तीश बसदि नामक सुन्दर जिनालयका निर्माण कराया था। तदनन्तर उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२–६८ ई०) राजा हुआ। यह बड़ा पराक्रमी था। उसने चोलोंको युद्धमें पराजित किया। इसी युद्धमें उसके हाथों चोल-नरेश मारा गया। उसके उत्तराधिकारियोंके साथ सोमेश्वरका संघर्ष और युद्ध बराबर चलते रहे। उसने आक्रान्ता भोज परमारको पराजित करके पीछे हटा दिया, काञ्चीकी विजय करके उसमें प्रवेश किया और कर्णकी शक्तिका अन्त किया। वेंगिकी राजनीतिमें वह बराबर हस्तक्षेप करता रहा। वह एक निष्ठावान् जैन था। कोगलि शिलालेखमें इस राजाको स्याद्वाद मत (जैनधर्म) का अनुयायी लिखा है। उसी स्थानके एक अन्य शिलालेखमें इस नरेश-द्वारा वहाँकी चेन्न पार्श्व बसदिको भूमिदान करनेका उल्लेख है। यह बसदि तैलप द्वितीयने निर्माण करायी थी और तभीसे चालुक्य-नरेशोंके आश्रयमें एक प्रसिद्ध जैन-केन्द्र तथा विद्यापीठ बनी हुई थी। सोमेश्वर प्रथमने जैनाचार्य अजितसेनका सम्मान किया और उन्हें शब्दचतुर्मुख उपाधि प्रदान की। इस नरेशका महामात्य लक्ष्म 'राय दण्डगोपाल' जो उसका दाहिना हाथ था तथा वीर सेनापति (दण्डनाथ) शान्तिनाथ भी परम जैन थे। इन्होंने कई जैनमन्दिर बनवाये और उनके लिए दान दिये। सोमेश्वरकी पट्टरानी केतलदेवीने भी अपने सचिव चाकिराज-द्वारा सेनगण पोगरिगच्छके गुरु ब्रह्मसेनके प्रशिष्य और आर्यसेनके शिष्य महासेनको १०५४ ई० में दान दिया था, इस राजाने राजधानी कल्याणीको विस्तृत एवं अलंकृत किया। अभी तक मान्यखेट भी कल्याणीके साथ-साथ राजधानी बनी हुई थी, किन्तु अबसे कल्याणी ही चालुक्योंकी पूर्णतया राजधानी हो गई। १०६८ ई० में एक भयानक रोगसे पीड़ित होनेके कारण इस राजाने तुंगभद्रामें जल-समाधि ले ली। यह राजा इस वंशके सर्वमहान् नरेशोंमें-से था। वह जितना योद्धा था

उससे अधिक कूटनीतिज्ञ था। उसका पुत्र सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल (९६८–७६ ई०) भी चोलोंके साथ युद्ध करता रहा। अपने भाइयोंके साथ भी उसका द्वन्द्व चला और राज्यके दो टुकड़े होते-होते बचे। सोमेश्वर ने कदम्बोंका दमन किया और चोलोंपर भी विजय प्राप्त की। अपने पूर्वजोंकी भाँति वह भी जैन रहा प्रतीत होता है। उसने मूलसंघके आचार्य कुलचन्द्रदेवको शान्तिनाथ वसदिके लिए नागरखण्ड प्रदेशमें भूमि प्रदान की थी और उक्त मन्दिरमें एक नवीन मूर्त्ति प्रतिष्ठित करायी थी तथा श्रीनन्दि पण्डितको भी दान दिया था। १०७६ ई० मे उसका छोटा भाई विक्रम उसे बन्दी करके स्वयं राजा बना। यह विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल साहस-तुङ्ग (१०७६–११२८ ई०) इस वंशके अन्तिम नरेशोंमें सर्वमहान् था। उसके दीर्घकालीन राज्यकालमें चोलों, मालवाके परमारों और वेंगिके पूर्वी चालुक्योंके साथ उसके निरन्तर युद्ध चलते रहे। गौड़, कामरूप, केरल, लाट, चेदि तथा अपने साम्राज्यके अन्तर्गत छोटे-बड़े सामन्तोंसे भी युद्ध चलते रहे। यह काल विशेष रूपसे चालुक्यों और चोलोंके बीच युद्धों एवं कूटनीतिक दाव-पेंचोंसे भरपूर था। चोलोंको पराजित करके प्रारम्भमें ही उसने चोल राजकुमारीके साथ विवाह कर लिया था, किन्तु संघर्ष फिर भी चलता रहा। इसी राजाके लिए महाकवि बिल्हणने 'विक्रमाङ्कदेव चरित'की रचना की थी। इस राजाकी विद्यारसिकताकी ख्याति सुनकर ही यह कवि काश्मीरसे कर्णाटक आया था। मिताक्षरा न्यायका पुरस्कर्त्ता विज्ञानेश्वर भी इसीके समयमे हुआ। इस नरेशने अपने राज्याभिषेककी तिथिसे चालुक्य विक्रम वर्ष नामका अपना संवत् भी प्रचलित किया। इसने जैनाचार्य वासवचन्द्रका सम्मान करके उन्हें 'बालसरस्वती' उपाधि प्रदान की। राज्य प्राप्त करनेके पूर्व ही जब वह एक प्रान्तीय शासक मात्र था उसने बनवासी प्रान्तके बल्लिगवे नगरमें चालुक्य गंग परमानदि जिनालय नामका सुन्दर मन्दिर बनवाया था। सिंहासन प्राप्त करनेके उपरान्त अपने दण्डनायक वर्म्मदेवकी प्रार्थनापर राजाने उसी मन्दिरके लिए जैन-

गुरु रामसेनको दान दिया था। गुलवर्गा जिलेमें स्थित पद्मावती पार्श्वनाथ जिनालयके शिलालेखसे यही नरेश उक्त मन्दिरका भी निर्माता सिद्ध होता है। वस्तुतः स्थापत्य शिल्पकी प्रसिद्ध चालुक्य शैलीके विकासका श्रेय इसी नरेशको प्रधानतया है। बनवासीकी राजधानी उपरोक्त बल्लिगवे उस कालमें प्रमुख ज्ञान-केन्द्र थी, उसकी विभिन्न बसदियों एवं मठोंमें विभिन्न भारतीय धर्मों एवं दर्शनोंकी शिक्षा साथ-साथ दी जाती थी। इस राजाके समयमें भारतीय संस्कृतिका बहुमुखी संवर्धन हुआ। यह नरेश सर्वधर्म-सहिष्णु था और सब ही धर्मोंका प्रतिपालन करता था, यद्यपि उसका निजी एवं कुलधर्म जैनधर्म था। जैनाचार्य अर्हनन्दि जो अपने नियम-संयम एवं तपश्चरणके लिए प्रसिद्ध थे विक्रमादित्यके धर्मगुरु थे। उसकी मृत्युके पश्चात् उसका पुत्र सोमेश्वर तृतीय भूलोकमल्ल (११२८–३९ ई०) राजा हुआ। 'सर्वज्ञ' उसका विरुद था, अभिलषितार्थ-चिन्तामणि अपरनाम राजमानसोल्लास नामक ग्रन्थका वह रचयिता था। इसका शासनकाल शान्तिपूर्ण रहा, वह स्वयं युद्धप्रिय नहीं था वरन् साहित्य-रसिक था। फलस्वरूप उसके होयसल आदि सामन्त स्वतन्त्र होने लगे। उसके पुत्र जयसिंह तृतीय जगदेकमल्ल (११३९–११५१ ई०) के समयमें होयसलोंने चालुक्य राज्यका बहुभाग दबा लिया और उसके छोटे भाई एवं उत्तराधिकारी तैल तृतीय (११५१–११६३ ई०) के समयमें स्वयं राजधानी कल्याणीपर बिज्जल कलचुरिने अधिकार कर लिया। कल-चुरि, होयसल और ककातियोंके बीच चालुक्य-साम्राज्यके तीन टुकड़े हो गये। और तैल तृतीयका पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ (११६३–८४ ई०) नाम-मात्रका ही राजा रह गया।

कल्याणीके कलचुरि—कलचुरि भारतका एक प्राचीन राजवंश था। इसका सम्बन्ध मूलतः चेदि (बुन्देलखंड) प्रान्तसे था अतः यह चेदि वंश भी कहलाता है। चेदि संवत्के प्रवर्तनकाल सन् २४९ ई० से इस वंशका उदय माना जाता है। मध्यभारत-विदर्भ महाकोसल तथा सरयू-

पार आदिके कलचुरि वंशोंका वर्णन पिछले एक अध्यायमें किया जा चुका है। १२वीं शताब्दीमें इस वंशको एक शाखाका उदय दक्षिण भारतके कर्णाटक प्रदेशमें हुआ। ११२८ ई० में कल्याणीके चालुक्य-सम्राट् सोमेश्वर तृतीयने कृष्णके वंशज परम्मर्दि कलचुरिको बीजापुर विषयका शासक नियुक्त किया था। उसका पुत्र बिज्जल कलचुरि उसी पदपर उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह बड़ा वीर और महत्त्वाकांक्षी था। चालुक्य जयसिंह तृतीयने उसे महामण्डलेश्वर बना दिया और अपना सेनाध्यक्ष नियुक्त किया। चालुक्य तैल तृतीयकी अयोग्यतासे लाभ उठाकर साम्राज्यके सामन्त सरदार स्वतन्त्र होने लगे। बिज्जलने इन विद्रोही सामन्तोंका संघ बनाया और उसका स्वयं नेतृत्व किया। ११५१ ई० में उसने इस प्रकार सहज ही राज्यशक्ति अपने हाथमें कर ली। अन्य सामन्त लोग उसकी बढ़ती हुई शक्तिसे प्रसन्न नहीं हुए। अत: उसने छलसे महाराज तैल तृतीयको बन्दी कर लिया और विद्रोही सामन्तोंका दमन करके ११५६ ई० में अपने आपको कल्याणीका सम्राट् घोषित कर दिया और संवत् चलाया। उसी वर्षके एक शिलालेखमें उसका उल्लेख कलचुरि भुजबलचक्रवर्ती त्रिभुवनमल्ल विरुदके साथ हुआ है। ११६७ ई० पर्यन्त लगभग १२ वर्ष उसने राज्य किया और इतने समयमें ही उसने प्रमाणित कर दिया कि वह एक वीर योद्धा, भारी विजेता और महान् नरेश था। अपने कुलकी प्रवृत्तिके अनुसार वह जैनधर्मका अनुयायी था। राज्य-प्राप्ति एवं संरक्षणमें बिज्जलका प्रधान सहायक, उसका महामात्य एवं प्रधान सेनापति रेचिमय्य था। वसुधैकबान्धव उसका विरुद था और वह महाप्रचण्ड दण्डनायक कहलाता था। ७२ उच्च पदाधिकारी उसके अधीन कार्य करते थे। वह मन्त्र एवं नीतिकुशल, वीर योद्धा, दक्ष सेनानी, चारित्रवान और महान् दानी था, उदारतामें कल्पद्रुमसे उसकी तुलना की जाती थी। महाराज बिज्जलने प्रसन्न होकर उसे नागरखण्ड प्रान्त जागीरमें प्रदान किया था। रेचिमय्य परम जैन था और जैनधर्मकी

प्रभावनाके लिए उसने अनेक कार्य किये। बिज्जलका एक अन्य जैन मन्त्री ब्राह्मण बलदेव था, इसका जामाता बासव भी जैन था। बलदेवकी मृत्युके पश्चात् उस पदपर वासवकी नियुक्ति हुई। वह पहलेसे अपने श्वसुरके सहकारीके रूपमें कार्य कर रहा था। किन्तु बासव बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। अपने कुलधर्ममें उसे अपने लौकिक उत्कर्षकी गुञ्जाइश दिखायी नहीं दी। संयम-नियम और तपस्यासे उसे घृणा थी। अत: उसने एक नवीन मतका प्रचार करनेका निश्चय किया, उसने जैनधर्मके प्रचलित लोकतत्त्वों एवं प्रसिद्ध, तथा व्यवहृत मान्यताओंके साथ शैवधर्मकी कतिपय परम्पराओं एवं मान्यताओंका मिश्रण करके और इस मिश्रणको अपने मनोनुकूल विकृत करके लिङ्गायत या वीर शैव मतकी स्थापना की। ऐसी किंवदन्ती है कि अपने कार्यकी सिद्धिके लिए उसने राजाका ध्यान अपनी अतीव सुन्दरी भगिनी पद्मावतीकी ओर आकृष्ट किया और राजाकी इच्छाका आभास पाते ही उसके साथ राजाका विवाह कर दिया। पद्मावती अपने भाईकी इच्छानुसार बिज्जलको अपने धर्मसे विमुख और बासवके मतका पोषक तो न बना सकी किन्तु उसके मोहपाशमें बँधा राजा राज्यकार्यकी ओरसे असावधान हो गया। इसका लाभ उठाकर बासवने अपने मतके प्रचारमें सम्पूर्ण राजकोष खाली कर दिया और राज्यके विभिन्न पदोंसे जैन राज्य-कर्मचारियों और पदाधिकारियोंको अलग करके अपने साथी और सहायकोंको नियुक्त करना आरम्भ कर दिया। अन्तत: राजाकी मोहनिद्रा टूटी और बासवकी कुचेष्टाओंपर उसका ध्यान गया, वह बहुत क्रोधित हुआ। अतएव बासवने राजाको विषाक्त आम खिलाकर छलसे उसका वध कर दिया। एक मतके अनुसार बिज्जलने राज्य अपने पुत्रको सौंपकर शेष जीवन धर्म-साधनमें बिताया था। बिज्जलके पुत्र सोमेश्वर (११६७–७५ ई०) ने जो बासवके कुकृत्योंके कारण उससे अत्यन्त रुष्ट था, गद्दीपर बैठते ही उसे धर्म और राज्यका शत्रु घोषित किया। बासव भाग निकला किन्तु सोमेश्वरके सिपाहियोंने

उसका पीछा न छोड़ा, अन्ततः थककर बासवने एक कूँएमें डूबकर आत्म-हत्या कर ली। उसके अनुयायियोंने उसे शहीद घोषित किया और उसके अन्तके सम्बन्धमें अनेक चमत्कार एवं किंवदन्तियाँ प्रचलित कर दीं। बिज्जल और उसके उत्तराधिकारियोंने बासवसे चिढ़कर लिंगायतोंका क्रूरताके साथ दमन किया बताया जाता है। वीर शैव लोग ब्राह्मणोंके भी विरोधी थे, जाति-व्यवस्था, यज्ञोपवीत, वेद, बाल-विवाहको अमान्य करते थे, विधवा विवाहके पक्षपाती थे। गुरु, लिंग और जंगम (साधर्मी) इन तीन पदार्थोंको सर्वोपरि श्रद्धाका पात्र मानते थे। बासवपुराण और चेन्नबासवपुराण उनके प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ हैं। बासवके एक शिष्य पाशु-पतिने इस धर्मको खूब फैलाया। १३वीं से १७वीं शती तक दक्षिण भारतके विभिन्न भागोंमें इस धर्मका बहुत प्रचार रहा और इन वीर शैवों या लिंगायतोंका सर्वाधिक तीव्र विद्वेष जैनधर्म और जैनोंपर था। जब जहाँ इन्हें शक्ति प्राप्त हुई जैनोंपर इन्होंने भीषण अत्याचार किये जिनमें ये प्राचीन शैव नयनारों और वैष्णव अलवरोंसे भी आगे बढ़ गये। वस्तुतः दक्षिणापथमें मध्य कालमें जैनधर्मके ह्रास और अवनतिका प्रधान श्रेय लिंगायतों-द्वारा किये गये धार्मिक अत्याचारोंको है। लिंगायत मतकी उत्पत्ति और तत्कालीन इतिहासपर १२०० ई० के एक जैन शिलालेख तथा बिज्जलराय चरित्र नामक कन्नड ग्रन्थसे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

बिज्जलके उपरान्त उसके तीन पुत्रों सोमेश्वर या रायमुरारी सोविदेव (११६७–७५ ई०) संकाम या शङ्कम (११७५–७८ ई०) और आहव-मल्ल (११७८–८२ ई०) ने क्रमशः राज्य किया। इन तीनोंके एक अन्य भाईका पुत्र कन्नर इस वंशका अन्तिम राजा रहा प्रतीत होता है। इन लोगोंके शासनकालमें देवगिरिके यादवों, और द्वारसमुद्रके होयसलोंके आक्रमणोंसे कलचुरि-शक्तिका ह्रास होता रहा। ११८३ ई० में चालुक्य सोमेश्वर चतुर्थने कल्याणीपर फिरसे अधिकार कर लिया और १२१० ई० तक थोड़ेसे प्रदेशपर उसका राज्य चलता भी रहा। अन्तमें होयसलों और यादवोंने उसका भी अन्त कर दिया।

अध्याय ९

दक्षिण भारत [३]

दक्षिण भारतके इतिहासमे चोलों और कल्याणीके चालुक्य-सम्राटोंके उपरान्त देवगिरिके यादव, वारंगलके ककातीय और द्वारसमुद्रके होयसल प्रसिद्ध हैं। ११वीं शताब्दीमे इन वशोंका उदय हुआ और १२वीं, १३ वीं शताब्दियोंमे सम्पूर्ण दक्षिण देश उन्हीं तीन राज्यशक्तियोंके बीच बँटा हुआ था, इन्हींसे मुसलमानोंने उसे अन्ततः छीना। होयसलोंके अन्तके थोडे समय उपरान्त ही विजयनगर राज्यकी स्थापना हुई जो १६वीं शतीके अन्ततक चला। उपरोक्त प्रमुख राज्यवंशोंके साथ-ही-साथ कुछ छोटे-छोटे राज्यवंश प्रमुख सामन्तों और उपराजाओंके रूपमे चलते रहे। इन सभीने देशके सांस्कृतिक इतिहासके निर्माणमें भाग लिया। अतः प्रमुख राज्यवंशोंका विवरण देनेके पूर्व पूर्वमध्यकालके उपराजवंशोंके विषयमें संक्षेपसे जान लेना उचित होगा।

पूर्वमध्यकालके प्रमुख उपराजवंश—(१) पोम्बच्चपुर (हुमच्च) के सान्तर उग्रवंशी क्षत्रिय थे और सान्तलिगे १००० प्रदेशके शासक थे। ७०० ई० के लगभग पश्चिमी चालुक्य विनयादित्यके शासनकालमें इस वंशकी स्थापना हुई थी। इस वंशके अभ्युदयका श्रेय इसके वास्तविक संस्थापक जिनदत्तराय (लगभग ८०० ई०) को है। वह जैनधर्मका परम भक्त था, हुमच्चकी जैन यक्षी पद्मावती उसकी इष्टदेवी एवं कुलदेवी थी। इस देवीकी साधनासे जिनदत्तको अद्भुत मन्त्रसिद्धि हुई थी। वह और उसके वंशज राष्ट्रकूटोंके और तदनन्तर चालुक्योंके प्रमुख सामन्तोंमें-से थे। जिनदत्तका पुत्र या पौत्र तोलपुरुष विक्रम सान्तर (८७०-९०० ई०) राष्ट्रकूट अमोघवर्ष एवं कृष्ण द्वितीयका एक प्रधान सामन्त था। ८७६ ई०

के उसके अलूर शिलालेखसे उसका परम जैन होना प्रमाणित है। ८७८ ई० में उसने हुमच्चमें पलियक्क बसदिका निर्माण कराया। ८९७ ई० में उसने अपने गुरु कुन्दकुन्दान्वयके मौनी सिद्धान्त भट्टारकके लिए एक नवीन बसदि बनवायी और उसके लिए भूमिका दान किया। ८९८ ई० में उसने हुमच्चमें गुड्ड बसदि बनवायी और उसमें भगवान् बाहुबलिकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित की। राष्ट्रकूटोंका अन्त होनेपर सान्तरोंने कल्याणीके चालुक्योंकी अधीनता स्वीकार कर ली। १०६२ ई० में इस वंशके राजा तैल सान्तरके पुत्र एवं उत्तराधिकारी और राक्कसगंगके जामाता वीरदेव सान्तरने स्वगुरु दिवाकरनन्दिके शिष्य सकलचन्द्रको अपने पट्टणसामि (राज्यश्रेष्ठि) नोक्कय्यके जिनालयके लिए दान दिया था और उसकी रानी चागलदेवीने कुलदेवी पद्मावतीके मन्दिरका मकरतोरण बनवाया था। उसकी दूसरी पत्नी कञ्चलदेवी (या बीरल महादेवी) से उसके भुजबल (तैल) नन्नि (गोंगि), विक्रम (ओड्डुग) और बर्म्म नामके चार पुत्र हुए थे जिनका पालन-पोषण उनकी मौसी चट्टलदेवीने किया था। १०६५ ई० में भुजबल सान्तर चालुक्य सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्लका कृपापात्र था। उसने अपनी राजधानी पोम्बच्चमें भुजबल सान्तर जिनालयका निर्माण कराया और उसके लिए अपने गुरु कनकनन्दिदेवको एक ग्राम प्रदान किया। उसका भाई एवं उत्तराधिकारी नन्नि सान्तर चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठका कृपापात्र था। इस परिवारके सभी व्यक्ति जैन धर्मके परम भक्त थे। भुजबल और नन्नि सान्तरकी मौसी पल्लव महारानी चट्टलदेवी जो राक्कस गंगकी पुत्री थी, अपनी बहिन सान्तर रानी बीरलदेवीकी सन्तानकी संरक्षक थी। उसने हुमच्चमें ही सुप्रसिद्ध पञ्चकूट बसदि, ताल, सरोवर, कूप, वापी आदि निर्माण कराये, और भी कई जिनमन्दिर (१०७७ ई० में) निर्माण कराये। वादिघरट्ट अजितसेन पण्डित इन लोगोंके गुरु थे। सान्तर राज-महिलाओंमें पम्पादेवी, बाछलदेवी आदि भी अपनी धार्मिकता और दानशीलताके लिए प्रसिद्ध हैं। १०८१ ई० के एक लेखके अनुसार बीर

सान्तरका मन्त्री नगुलरस जैनधर्मका भारी संरक्षक था। ११०३ ई० में त्रिभुवनमल्ल सान्तरने राजधानीमें पञ्चकूट बसदिके सामने ही एक नवीन वसदि बनवायी। ११७३ ई० मे एक अन्य वीर सान्तरका विरुद 'जिनपाद भ्रमर' था। इसके उपरान्त सान्तरोंपर लिंगायत मतका प्रभाव हुआ। १३वीं शतीमें उन्होंने अपनी राजधानीको हुमच्चसे बदलकर कलश नामक स्थानमें बनाया। तदनन्तर वे तुलुवदेशस्थ कार्कलमें जाकर राज्य करने लगे प्रतीत होते है। ये उत्तरवर्ती सान्तर यद्यपि बहुधा लिंगायत मतके अनुयायी हुए तथापि जैनधर्म और जैन-गुरुओंके प्रति पूर्ववत् उदार बने रहे।

(२) **सौन्दत्तिके रट्ट** राष्ट्रकूटोंके प्रमुख सामन्त थे और सम्भवतया राष्ट्रकूट वंशकी ही किसी शाखासे सम्बन्धित थे। इस वंशमें भी प्रारम्भसे लेकर अन्त तक जैन धर्मकी प्रवृत्ति रही। रट्टवाडीके ये शासक थे और सौन्दत्ति इनकी राजधानी थी, ये महामण्डलेश्वर कहलाते थे। ८७५ ई० में राष्ट्रकूट अमोघवर्षके सामन्त मेरडके पुत्र पृथ्वीराम रट्टने सौन्दत्तिमें जिन-मन्दिर निर्माण कराके उसके लिए दान दिया था। उसके गुरु इन्द्रकीर्त्ति थे। यह राजा सम्राट् कृष्ण द्वितीयका दाहिना हाथ था। उसके पुत्र शान्तिवर्माकी रानी चन्दकब्बे बड़ी धर्मात्मा थी, अपने पतिसे उसने एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था। तदुपरान्त कलसेन, कन्नकेर, तीन कार्त्तवीर्य, कलसेन द्वितीय आदि राजा हुए। ११६५ ई० में इसी वंशका रट्ट महासामन्त महाराज कार्त्तवीर्य चतुर्थ शिलाहार-नरेशके राज्यमें स्थित एकसाम्बीके नेमीश्वर जिनालयकी प्रसिद्धि सुनकर दर्शनार्थ वहाँ गया और गुरु महा-मण्डलाचार्य विजयकीर्त्तिको उक्त मन्दिरको पूजा, संगीतवाद्य, साधुके भोजन, भवनके संरक्षण आदिके लिए उदार दान दिया। ये गुरु यापनीय संघके पुन्नाग वृक्ष मूलगणके साधु थे। इस सुन्दर जिनालयका निर्माण शिलाहार सेनापति कालनने अपने गुरु कुमारकीर्त्ति त्रैविद्यके उपदेशसे कराया था। कार्त्तवीर्य चतुर्थके मन्त्री एवं वीर सेनानायक बुचिराज और

मल्लिकार्जुन भी परम जैन थे। वुचिराजने बेलगाममें रट्ट-जिनालय बनवाया था और मल्लिकार्जुनके पुत्र केशीराजने सौन्दत्तिमें अपने पिताकी स्मृतिमें मल्लिकार्जुन-जिनालय बनवाया था। मुनि चन्द्रदेव इस राजाके धर्मगुरु और उसके युवराजके शिक्षक ही नहीं थे वरन् राजाके संकट-कालमें उन्होंने प्रधान मन्त्रीका पद ग्रहण किया और शत्रुओंके दमनके लिए शस्त्र भी धारण किये। संकटकी निवृत्तिके बाद वे फिर साधु हो गये। वे काणूर-गणके जैन मुनि थे। रट्टोंके अन्य मन्त्री, सेनापति एवं उपसामन्त भी जैन थे जिनमे शान्तिनाथ, नागदेव आदि नाम उल्लेखनीय हैं। कार्त्तवीर्य चतुर्थके बाद लक्ष्मीदेव द्वितीय राजा हुआ। १२५० ई० के लगभग इस रट्ट वंशका अन्त हुआ।

(३) **कोंकणके शिलाहार** विद्याधरवंशी क्षत्रिय थे। वे अपने आपको तगरपुर-नरेश जीमूतवाहनका वंशज मानते थे और इसीलिए अपने लिए तगरपुराधीश्वर पदका प्रयोग करते थे। वर्तमान बम्बई प्रदेशके बेलगाम और कोल्हापुर जिलोंपर उनका शासन था। उनकी प्रारम्भिक राजधानी करहद थी और बादमें क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर) को उन्होंने राजधानी बनाया। राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथमके समयमें शिलाहार सबसे पहिले प्रसिद्धिको प्राप्त हुए। दक्षिणी कोंकणकी विजय करके कृष्णने उसका शासक अपने एक शिलाहार सामन्तको बनाया था। धीरे-धीरे शिलाहार सामन्त शक्तिशाली हो गये और महामण्डलेश्वर कहलाने लगे। राष्ट्रकूटों के उपरान्त कल्याणीके चालुक्योंके अधीनस्थ सामन्तोंके रूपमें भी शिलाहार कोंकणपर शासन करते रहे। १००७-९ ई० में रट्टराज शिलाहार एक प्रसिद्ध राजा और परम जैन था। १२वीं शतीमें गण्डरादित्य (१११०-११४० ई०) इस वंशका प्रसिद्ध नरेश हुआ। वह नाम मात्रको ही चालुक्योंके अधीन था। उसने अनेक युद्ध किये, विजय प्राप्त की और शत्रुओंसे अपने राज्यको सुरक्षित रखा। वह भारी दानी और सर्व-धर्म समदर्शी था। कोल्हापुरके निकट प्रयागमें उसने एक-सहस्र ब्राह्मणोंको

भोजन कराया, उसके निकट ही अजरेना स्थानमें एक सुन्दर जिनालय बनवाया। उसने एक विशाल सरोवरके मध्य एक ऐसा देवालय भी बनवाया था जिसमे जिनेन्द्र, शिव और बुद्ध तीनों देवताओंकी मूर्त्तियाँ साथ-साथ स्थापित की थीं। इस प्रकारके धार्मिक समन्वयके प्रयत्नका यह पहला ही अथवा अकेला ही उदाहरण नही है। पूर्वमध्यकालमे अन्य कई देव-मन्दिर इस प्रकार जैन, शैव, वैष्णव, बौद्ध देवी-देवताओंकी साथ-साथ मूर्त्तियोंसे युक्त बने थे। ये उस कालके भारतीयोंकी उदाराशयता और विवेकके प्रतीक हैं। गण्डरादित्यका प्रधान सामन्त और सेनापति वीर निम्बदेव था। गण्डरादित्यके उत्तराधिकारी विजयादित्यके राज्यकालमें भी वह उस पदपर आरूढ़ रहा बल्कि शिलाहार-नरेशका दाहिना हाथ बन गया था। शिलालेखोंमें निम्बदेवकी बड़ी प्रशसा पायी जाती है। उसे 'विजय-सुन्दरीवल्लभ' 'सामन्तशिरोमणि' शत्रुसामन्तोंके संहारमें प्रचण्ड पवनके समान, सज्जनोंके लिए चिन्तामणि, गण्डरादित्य-महावक्ष-दक्षिण भुजदंड आदि कहा गया है। राजाने उसकी सेवाओंसे प्रसन्न होकर उसके नामपर निम्बसिरगाँव नामका नगर बसाया था। यह वीर इतना प्रसिद्ध हुआ कि उसके कई सौ वर्ष बाद कन्नड कवि पार्श्वदेवने निम्बदेवचरित्र बनाकर उसकी यशोगाथा गायी। साथ ही वह बड़ा धर्मात्मा था और उसकी जिनेन्द्र-भक्ति असीम थी, जिसके कारण सम्यक्त्वरत्नाकर और जिनचरणसरसिरुहमधुकर-जैसे विशेषण उसने प्राप्त किये थे। वह मन्त्रशास्त्रका भी ज्ञाता था और शासनदेवी पद्मावतीका उसे इष्ट था। वह धर्मशास्त्रका भी ज्ञाता था और श्रावकोंको धर्मानुकूल आचरण करनेके लिए सदैव प्रेरित एव उत्साहित करता रहता था। कोल्हापुरके आस-पास कोई बसदि ऐसी न थी जिसने निम्बदेवकी दानशीलतासे लाभ न उठाया हो। स्वयं कोल्हापुरमें सुप्रसिद्ध महालक्ष्मी-मन्दिरके निकट ही उसने अत्यन्त सुन्दर एवं कलापूर्ण नेमिजिनालय बनवाया था। इस मन्दिरके शिखरकी कर्णिकापर तीर्थङ्करोंकी ७२ खड्गासन मूर्त्तियाँ अंकित

हैं। वर्तमानमें यह मन्दिर वैष्णवोंके हाथमें है और नेमिनाथकी मूर्तिके स्थानमें विष्णुमूर्ति स्थापित कर दी गई है। गण्डरादित्यके उपरान्त उसका पुत्र विजयादित्य शिलाहार (११४०–११६५ ई०) राजा हुआ। उसने चालुक्योंकी पराधीनताका जुआ उतार फेंका और वह बिज्जल कलचुरिके चालुक्योंका अन्त करने और कल्याणीका राजा बननेमें प्रधान सहायक हुआ। किन्तु जब बिज्जलने शिलाहार-नरेशको भी अधीन करना चाहा तो दोनोंमे भयङ्कर युद्ध हुआ। शिलाहारोंकी ओरसे वीर सेनापति निम्बदेव युद्धका संचालन कर रहा था। उसी युद्धमे वह मारा गया किन्तु मरते-मरते भी कलचुरियोंको इतना आतंकित कर गया कि वे मैदान छोड़ भाग गये। विजयादित्य स्वयं बड़ा पराक्रमी था। अपने शत्रुओंके लिए वह यमराज कहा गया है। कलिकाल विक्रमादित्य उसका विरुद था। अपने धार्मिक उत्साहके कारण वह धर्मकबुद्धि भी कहलाता था। वह श्रावकके व्रतोंका पालन करता था और अपने जैन-गुरु माणिक्यनन्दि पण्डितदेवको बड़ी विनय करता था। कोल्हापुर तथा अन्य स्थानोंके जैनमन्दिरोंको उसने अनेक दान दिये थे। उसके प्रसिद्ध जैन सेनापति बोप्पणके सम्बन्धमें किदारपुर शिलालेखमें लिखा है कि वह विजयादित्यके लिए वैसा ही था जैसा कि हरिके लिए गरुड़, रामके लिए मारुति और कामके लिए वसन्त। युद्धभूमिमें शत्रुओंका संहार करनेमें वह अद्वितीय था। राजाके लिए एक विशाल जिनालय निर्माण करवानेका कार्य उसने हाथमें लिया था किन्तु उसे पूरा करनेके पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी। विजयादित्यका एक अन्य प्रमुख जैन-मन्त्री एवं सेनानायक लक्ष्मीधर या लक्ष्मीदेव था। वह पार्वतीय दुर्ग किलेकलके दुर्गपति गोवर्धनका पुत्र और उच्च पदाधिकारी गोपयका जामाता था। लक्ष्मीदेव राज्य-प्रबन्धमें कुशल और युद्धभूमिमें निपुण सैन्यसंचालक था। वह साहित्यरसिक और धर्मात्मा भी था और सम्यक्त्वभण्डार कहलाता था। नेमिनाथपुराणके कर्त्ता कन्नडके जैनकवि कण्णप्पार्यका

वह आश्रयदाता था और उसके धर्मगुरु नेमिचन्द्र मुनि थे। विजयादित्यके समयमें ही उसके एक अन्य धर्मात्मा सामन्त कालनने एकसम्बीनगरमे सन् ११६५ ई० में नेमीश्वर बसदि नामका सुन्दर एवं विशाल जिनालय निर्माण कराया और उसके लिए प्रभूत दान दिया था। उसके गुरु यापनीय संघके पुन्नागवृक्ष मूलगणके कुमारकीर्तिके शिष्य महामण्डलाचार्य विजयकीर्ति थे। रट्ट-नरेश कार्त्तवीर्यने भी उक्त मन्दिरके दर्शनार्थ वहाँ आकर उसके लिए उक्त गुरुको दान दिया था। यह घटना रट्टों और शिलाहारोंकी मैत्रीकी भी सूचक है। इस बसदिमें चारों दानोंकी नियमित व्यवस्था थी। उसका निर्माता सामन्त कालन धर्मात्मा और दानी ही नहीं था वरन् शास्त्रज्ञ, विद्वान् और कलामर्मज्ञ निर्माता भी था। विजयादित्यके उपरान्त भोज द्वितीय (११६५–१२०५ ई०) शिलाहार राजा हुआ। बिज्जल कलचुरि और उसके उत्तराधिकारियोंने भोजको अपने अधीन करनेका भरसक प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। अन्ततः दोनोंके बीच सन्धि हो गयी। भोजके जीवनमें ही कलचुरियोंका अन्त भी हो गया। यह राजा भी अपने पूर्वजोंकी भाँति जैनधर्मका परम भक्त था। विशालकीर्ति पण्डितदेव उसके गुरु थे। इसी वीर भोजदेवके शासनकालमें, १२०५ ई० में आचार्य सोमदेवने जैनेन्द्र-व्याकरणकी शब्दार्णवचन्द्रिका नामक प्रसिद्ध टीका रची थी। यह टीका गण्डरादित्यके बनवाये हुए अर्जुरिका ग्रामके त्रिभुवनतिलक नेमिनाथ जिनालयमें उक्त विशालकीर्तिके सहयोगसे लिखी गयी थी। राजधानी क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर) को भी इस राजाने अनेक सुन्दर जिनालयोंसे अलंकृत किया। भोजके उपरान्त इस वंशका कोई इतिहास प्राप्त नहीं होता। शिलाहारोंके शासनमें करहद, कोल्हापुर, एकसम्बी आदि प्रसिद्ध जैनकेन्द्र थे।

(४) **कोंगाल्व वंश**—इस वंशके सामन्त राजे कुर्गके उत्तर और हासन जिलेके दक्षिणमें स्थित कोंगलनाद ८००० प्रान्तके शासक थे। ८८० ई०

के लगभग गंग राजकुमार एयरप्पने उस प्रान्तमें इस वंशके प्रथम व्यक्ति को स्थापित किया था किन्तु कोंगाल्वोंका वास्तविक अभ्युदय १००४ ई० से हुआ जब सम्राट् राजराज चोलने इस वंशके पञ्चव महारायको उसकी सेवाओंसे प्रसन्न होकर 'क्षत्रियशिखामणि कोंगाल्व' विरुद दिया, मालव्वि प्रदेश दिया और अपना प्रमुख सामन्त बनाया। कोंगाल्व-नरेश, उनके सामन्त और राज्यपदाधिकारी अधिकांशतः जैन थे और उनके राज्यका यही प्रधान धर्म था। शिलालेखोंसे पता चलता है कि १०५० ई० के लगभग कोंगाल्वोंके एक सरदार मदुवंगनाडके स्वामी और किरिविके सामन्त अय्यने बारह दिनके सल्लेखनाव्रतपूर्वक चंगाल्व बसदिमें समाधिमरण किया था, बोल्यि सेट्टी नामक धनी व्यापारीने भी गुरु-चरणोंमें समाधि-मरण किया था। १०५८ ई० में राजेन्द्र कोंगाल्व अदटरादित्यने मुल्लूरमें अपने पिता-द्वारा निर्मित पार्श्वनाथ बसदिके लिए कई गाँवोंकी भूमि भेंट की थी। इस राजाके गुरु मूलसंघ क्राणूरगण तगरिगल गच्छके गंडविमुक्त सिद्धान्तदेव थे। उसने अपने नामपर अदटरादित्य चैत्यालय नामका एक जैनमन्दिर स्वयं भी बनवाया था और उसके लिए उभयसिद्धान्तरत्नाकर उपाधिधारी मुनि प्रभाचन्द्र सिद्धान्तको भूमिदान दिया था। इस राजाकी माता रानी पोचब्बरसि भी बड़ी धर्मात्मा थी। उसके गुरु नन्दिसंघ इरुंगुलान्वयके पुष्पसेनके शिष्य गुणसेन पण्डित थे। ये भारी वैयाकरण थे, १०६४ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इस रानीने भी एक बसदि बनवायी थी जिसमें अपने गुरुकी मूर्त्ति भी प्रतिष्ठित की थी और दान दिया था। चोलोंके पतनपर कोंगाल्व-नरेश होयसलोंके अधीन हो गये। ११०० ई० में कोंगाल्वराज दुद्दमल्लरसने एक जिनालयके निर्माण और संरक्षणके लिए प्रभाचन्द्रदेवको एक गाँव दान दिया था। १११५ ई० के लगभग वीर कोंगाल्वदेव देशीगण पुस्तकगच्छके माघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवका शिष्य था। इस राजाने सत्यवाक्य नामक जिनालय निर्माण कराके उसके लिए अपने गुरुको एक ग्राम दान दिया था। इसके उपरान्त

कोंगाल्वोंका कुछ इतिहास नहीं मिलता।

(५) चंगाल्व वंश—मैसूर कुर्ग प्रदेशके अन्तर्गत चंगनादके शासक थे और कोंगाल्वोंकी भाँति ही चोलोंके और फिर होयसलोंके सामन्त थे। इस वंशमें कुछ राजे जैन रहे और शेष शैव रहे प्रतीत होते हैं। १०९१ ई० में चंगाल्व राज मरियपेरगडे पिल्डुव्वयने पिल्डु ईश्वरदेवको मुनि-आहारदानके लिए क्षेत्र प्रदान किया था। इनके प्रदेशमें हनसोगे प्रसिद्ध जैन केन्द्र था। ११०० ई० के एक शिलालेखसे प्रकट होता है कि उस समय इस नगरमें ६४ प्राचीन जिनमन्दिर थे जो इक्ष्वाकुवंशी दाशरथी-सीतापति राम-द्वारा निर्मित कराये गये बताये जाते थे। इन्हींमें-से बन्द-तीर्थ नामक बसदिको गंगनरेशोंने दान दिये थे और उसी मन्दिरके लिए राजेन्द्र चोल नन्नि चंगाल्वने पूर्वोक्त दानोंकी पुनरावृत्ति की। इन बसदियों का प्रबन्ध मूलसंघ देशीगण पुस्तकान्वय होत्तजगच्छके गुरुओंके हाथमें था। इस राजाने उक्त शाखाके तत्कालीन गुरु जयकीर्त्तिको उपरोक्त दान दिया था। ये गुरु व्रत-उपवासों, विशेषकर चन्द्रायण व्रतके लिए विख्यात थे। इसी होत्तजगच्छके गुरुओंके अधिकारमें तलकावेरीकी बसदियाँ और पनसोगेकी ४ बसदियाँ भी थीं। उपरोक्त चंगाल्व नरेशने स्वयं भी १०२५ ई० और १०६० ई० के मध्य स्वयं कई जिनमन्दिर निर्माण कराये थे।

(६) अलुप या अलुव वंश भी इस कालका एक प्रसिद्ध सामन्त वंश था। ये तुलुवनाडुके शासक थे। १०वीं शतीमें इस वंशका उदय हुआ। किन्तु उनके आगमनके बहुत पहलेसे ही यह प्रदेश जैनधर्मका गढ़ रहता आया था। मूडबिद्री, गेरुसप्पे, भट्टकल, कार्कल, बिलिग, सोदे, हाडुहल्लि, होन्नावर आदि इस प्रदेशके प्रसिद्ध नगर थे जो सब ही जैनधर्मके सुदृढ़ गढ़ थे। १२वीं शतीमें भुजबल अलुपेन्द्र (१११४–५५ ई०) इस वंशका प्रसिद्ध राजा था। ११६१ ई० में राजकुमार कुमाररायने केरेवासे स्थानमें जो जैनधर्मका केन्द्र था, एक जिनमन्दिरके बनवानेमें सहायता दी

थी। कुलशेखर अलुपेन्द्र देव प्रथम (११७६–१२०० ई० लगभग) के समयमें तुलुदेशमें जिनधर्मको राजकीय सहायता प्राप्त थी। इस राजाने मलधारिदेव, माधवचन्द्र, प्रभाचन्द्र आदि जैन-गुरुओंका सम्मान किया था। पाण्डयदेव अलुपेन्द्रने १२९६ ई० में नल्लूरकी जैन बसदिके लिए दान दिया था। कुलशेखर अलुपेन्द्र तृतीय (१३८४ ई०) बड़ा वैभवशाली राजा था, वह रत्नसिंहासनपर बैठता था। वह परम जैन भी था और मूडबिद्रीके पार्श्वनाथ देवका भक्त था। उसके पौत्र वीर कुलशेखर (१४४४ ई०) के पश्चात् इस वंशके सम्बन्धमें कुछ और पता नहीं चलता।

(७) इस कालके जिन कतिपय अन्य सामन्त एवं राजा-उपराजाओंका शिलालेखोंसे पता चलता है उनमे एक हुलियेरपुरका सामन्त गोवदेव था। उसकी रानी शान्तले इतनी उदार और समदर्शी थी कि जैन होते हुए भी वह जिनधर्मके अतिरिक्त माहेश्वरागम, सद्वैष्णवाश्रित और बौद्धागम शब्दोंसे सूचित शैव, वैष्णव एवं बौद्धधर्मोको भी समान रूपसे प्रश्रय प्रदान करती थी। उसके गुरु देशीगणके जैनाचार्य चन्द्रायणदेव थे। ११६० ई० में जब शान्तलेकी सपत्नी महादेवी नायकित्तिकी मृत्यु हुई तो रानी शान्तलेने हुग्गेरेमे चेन्नपार्श्व बसदिका निर्माण कराया और उस बसदिमें पूजा-पाठ एवं आहारदानके लिए उसके पुत्र बिट्टिदेवने भूमि और राज्यकरका कुछ अंश प्रदान किया। राज्यके प्रमुख नागरिकोंने भी इस बसदिके लिए दान दिये। बिट्टिदेवके गुरु जैनाचार्य माणिक्यनन्दि सिद्धान्तदेव थे।

(८) ११९५ ई० के एक शिलालेखसे पता चलता है कि उस समय गोल्लदेशका शासक नूतनचन्दिल था। किसी कारणसे संसारसे विरक्त होकर यह राजा जैन मुनि हो गया था और गोल्लाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

(९) प्राचीन कदम्बोंकी एक उत्तरकालीन शाखा इस कालमें कर्णाटकके कुछ भागपर शासन करती रही थी। उसके सोविदेव आदि

राजे जैनधर्मके अनुयायी थे। नागरखण्ड उनके प्रदेशका प्रधान भाग था और वह जैनधर्मका केन्द्र था। कदम्बराज कीर्त्तिदेवकी पट्टरानी मालल देवीने १०७७ ई० में कुप्पटूरमें पार्श्वदेव चैत्यालय बनवाया, आचार्य पद्मनन्दि सिद्धान्तको उसका अध्यक्ष बनाया, राजासे दान दिलाया और वहांके अग्रहार ब्राह्मणोंसे मान्य कराकर उसका ब्रह्म जिनालय नाम रखा। इस प्रदेशके अनेक सामन्त जैनधर्मानुयायी थे। इन सबमें उल्लेखनीय तेवरतेप्पका नाडप्रभु लोकगावुंड था। ११७१ ई० में उसने अपने स्वामी कदम्बनरेश सोविदेवके राज्यकालमें एक सुन्दर जिनालयका निर्माण कराया और उसमें 'रत्नत्रय' की मूर्त्ति प्रतिष्ठित की और उक्त मन्दिरके साथ ही एक सरोवर और एक कूप बनवाया तथा प्याऊ और सत्रकी व्यवस्था की। मन्दिरमें नित्य अष्टद्रव्य पूजनके लिए भूमि प्रदान की। उसके गुरु मूलसंघ क्राणूरगण तिंत्रिणीगच्छके जैनाचार्य मुनि चन्द्रदेवके शिष्य भानु-कीर्त्ति सिद्धान्तदेव थे।

(१०) गंगधाराका चालुक्य वंश—प्राचीन चालुक्य वंशकी एक लघु शाखा थी, गंगधारा इसकी राजधानी थी। आर. नरसिंहाचार्यके मतानुसार इस वंशकी राजधानी पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) थी, सम्भव है इसीका अपरनाम गंगधारा भी हो। यह एक प्राचीन जैनतीर्थ भी था। इस वंशके राजे राष्ट्रकूटोंके महामण्डलेश्वर थे, और प्रायः वे सब ही जैनधर्मानुयायी थे। ९६६ ई० में इस वंशके राजा अरिकेशरी तृतीयने अपने गुरु सोमदेवको अपने पिता-द्वारा बनवाये हुए राजधानी लेंबुपाटकके शुभधाम जिनालयके लिए ग्राम-दान दिया था। इस दान-सम्बन्धी शिला-लेखसे उसके क्रमशः आठ पूर्वजोंका पता चलता है, यथा युद्धमल्ल प्रथम, अरिकेसरी प्रथम, नारसिंह प्रथम, युद्धमल्ल द्वितीय, बद्दिग प्रथम, नारसिंह द्वितीय, अरिकेसरी द्वितीय और बद्दिग द्वितीय। उसके पिता बद्दिग द्वितीयके समयमें उन्हीं सोमदेवाचार्यने सुप्रसिद्ध यशस्तिलक चम्पूकी रचना ९५९ ई० में की थी। नीतिवाक्यामृत नामक राजनीति शास्त्रकी रचना वह उसके

पूर्व ही कर चुके थे। बद्दिग द्वितीयका पिता अरिकेसरी द्वितीय कन्नडीके सर्वमहान् कवि आदिपंप (९४१ ई०) का प्रश्रयदाता था। इस क्रमसे वंशावलीके प्रथम नरेश युद्धमल्ल प्रथमका समय लगभग ८०० ई० के पहुँच जाता है। अरिकेसरी तृतीयके पश्चात् इस वंशका कुछ पता नहीं चलता। सम्भव है कल्याणीकी नवोदित पश्चिमी चालुक्य-शक्तिमें यह शाखा आत्मसात् हो गई हो।

(११) **तुलवदेशमें वंगवाडिका बंगवंश**—यह वंश आदिसे अन्त तक जैनधर्मानुयायी रहा। प्रारम्भिक बंगनरेश गंगवाडिके गंगवंशकी ही एक शाखामें से निकले प्रतीत होते हैं और वे पहले राष्ट्रकूटोंके और तदनन्तर कल्याणीके चालुक्योंके सामन्त रहे प्रतीत होते हैं। इस वंशके चन्द्रशेखर बंग प्रथमको विष्णुवर्धन होयसलने ११४० ई० के लगभग पराजित करके युद्धमें मार डाला था और उसके राज्यको हस्तगत कर लिया था। उसके स्वामिभक्त पुरोहित, मन्त्री आदिने उसके बालक पुत्र वीर नरसिंहको मलेनाडमें छुपाकर रखा। होयसल नरसिंहके समयमें वह राजकुमार भी वयस्क हो गया और उसने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। ११५७–१२०८ ई० तक उसने राज्य किया। तदनन्तर उसके ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रशेखर वंग द्वितीयने १२०८से १२२५ ई० तक, द्वितीय पुत्र पाण्डयप्प बंगने १२२५ से १२३९ ई० तक, पुत्री विट्ठलादेवीने १२४० से १२४४ तक राज्य किया। वह बड़ी धर्मात्मा और सुयोग्य शासिका थी, अपने पुत्र एवं उत्तराधिकारी कामिराय वीर नरसिंह बंगनरेन्द्र (१२४५–१२७५ ई० लगभग) को इसने समुचित शिक्षा दी थी। कामिराय बड़ा विद्यारसिक था। आचार्य अजितसेन उसके गुरु थे। इसी राजाके लिए उन्होंने शृंगारमञ्जरी और अलंकार-चिन्तामणि नामक संस्कृत ग्रन्थोंको रचना की थी। उसीके लिए विजयवर्णीने शृंगारार्णवचन्द्रिका रची थी। १६वीं शतीके अन्तमें विवाह-सम्बन्धोंके द्वारा यह वंश कार्कलके भैररस वंशसे संयुक्त हो गया। उसके उपरान्त भी सम्भवतया इसका कुछ अस्तित्व

१८वीं शती तक बना रहा।

(१२) बेजवाड़ाके परिच्छेदि पाशुपति राजे और धान्यकटकके कोत राजे आन्ध्र देशके प्रमुख सामन्त वंश थे। ये लोग शैव थे और जैनधर्मसे भारी विद्वेष रखते थे। आन्ध्र देशमे जैनधर्मके पतनका अधिक श्रेय इन्हीं सामन्त वंशोंको है।

वारंगलके ककातीय—११वीं शताब्दीके मध्यके लगभग तेलगानेमें ककातीय वंशका उदय हुआ। वारंगलको राजधानी बनाकर इन्होंने शीघ्र ही अपनी शक्ति बढ़ायी और एक अच्छा स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। १३वीं शताब्दीमें इस राज्यका अभ्युदय रहा। रुद्रका उत्तराधिकारी राजा गणपतिदेव (११९९–१२६० ई०) इस वंशका प्रसिद्ध और शक्तिशाली नरेश था। उसके समयमे तेलगु महाभारतके रचयिता टिक्कन सोमय्य नामक हिन्दू विद्वान्ने शास्त्रार्थमें जैनियोंको पराजित किया बताया जाता है। उसी समयसे इस राज्यमे जैनधर्मका पतन प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। राजा कट्टर शैव बन गया और जैनियोंपर उसने भारी अत्याचार किये। उसके उपरान्त वारंगलमे रानी रुद्रम्मा (१२६१–१२९१ ई०) का राज्य हुआ। यह इस वंशकी अन्तिम शक्तिशाली एवं महान् शासक थी, उसका उत्तराधिकारी रुद्रदेव (१२९१–१३२१ ई०) था। १३२१ ई० में मुहम्मद तुगलकने वारंगलके अन्तिम ककातीय-नरेशको पराजित करके तेलंगानेके इस हिन्दू राज्यका अन्त किया। वारंगलका प्राचीन नाम एकशैलनगर था। इस प्रान्तसे सम्बन्धित कैफ़ियतोंके आधारपर प्रो० शेषागिरि रावने प्रमाणित किया था कि वारंगल एक समय जैनधर्मका एक प्रमुख केन्द्र रहा था। इस प्रान्तमे जिला विजगापट्टम् वेंगिके चालुक्योंके समयमे जैनधर्मका गढ़ था और उसके अन्तर्गत रामतीर्थका जैन संस्थान दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। इसी जिलेके भोगपुर नगरमे पूर्वी गंग नरेश अनन्तवर्मन्के आश्रयमे राज्य-श्रेष्ठि कण्णम नायकने राज-राज जिनालय नामक बसदिका निर्माण कराया था और ११८७ ई० में उसके

नेतृत्वमें उक्त ज़िलेके व्यापार-प्रमुखोंने इस मन्दिरके लिए दान दिया था। ११९८ ई० में अनन्तपुर ज़िलेके ताडपत्रिनगरके निवासी सोमदेव और कञ्चलादेवीके पुत्र उदयादित्यने जैनमन्दिर और गुरुओंको दान दिया था। इसी कालमें उसी ज़िलेके पेनुगोंडा नगरमें सुप्रसिद्ध पार्श्वनाथ बसदि विद्यमान थी जिसके तत्कालीन अध्यक्ष जिनभूषण भट्टारक थे। बेलारी ज़िलेमें तो कई जैनकेन्द्र थे जिनमें कोगलि प्रधान था। इसकी चेन्नपार्श्वबसदिको पश्चिमी चालुक्यों और तदनन्तर होयसलोंसे भी संरक्षण प्राप्त हुआ था। सोमि, कोट्टूर आदि अन्य केन्द्र थे। अन्तिम राजा रुद्रदेवके समय जैन कवि अय्यपार्यने जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदयकी रचना की थी। ककातीयोंके वंशज इसके उपरान्त भी चलते रहे और बीच-बीचमें शक्ति पकड़ने और स्वतन्त्र होनेका उपक्रम भी करते रहे। अन्ततः १४२५ ई० में वारंगलके तेलंग राजके अन्तके साथ मुसलमानों-द्वारा इस वंशका सर्वथा अन्त हुआ।

देवगिरिके यादव—इस वंशका मूलपुरुष सुबाहु था जिसका पुत्र दृढ़प्रहार था। इसका पुत्र सुएनचन्द्र था। यह सुएन प्रथम ही इस वंशका वास्तविक संस्थापक था। उसीके नामपर यह वंश सुएनवंश भी कहलाता है। सुएन सम्भवतया राष्ट्रकूट अमोघवर्षके अधीन एक छोटा-सा सामन्त था। उसे जो प्रदेश जागीरमें मिला था उसका नाम भी सुएन देश पड़ा। उसका पौत्र भिल्लम प्रथम था जिसका प्रपौत्र भिल्लम द्वितीय ही सुएन देशका वह भिल्लम यादव था जो कल्याणीके चालुक्य वंशके संस्थापक तैलप द्वितीयका मित्र और सहायक था और जिसने तैल तथा उसके पुत्र सत्याश्रय चालुक्यकी ओरसे धारके परमारों (मुञ्ज और भोज) के साथ युद्ध किये थे। मुञ्जकी मृत्यु इसी भिल्लमके हाथसे हुई बतायी जाती है। उसका पौत्र भिल्लम तृतीय चालुक्य-सम्राट् सोमेश्वर प्रथमका महासामन्त था और उसका विवाह भी सोमेश्वरकी बहिनके साथ हुआ था। इसी समयसे इन सुएन यादवोंकी शक्ति बढ़नी प्रारम्भ

हुई। भिल्लम तृतीयकी चौथी पीढ़ीमें सुएन द्वितीय विक्रम षष्ठका उसके भाईके विरुद्ध सिंहासन प्राप्तिमें सहायक हुआ था। चालुक्योंकी अवनतिसे लाभ उठाकर यादव शक्तिशाली हो गये। सुएन द्वितीयका प्रपौत्र भिल्लम पञ्चम (११८७–९१ ई०) देवगिरिके स्वतन्त्र यादव राज्यका वास्तविक संस्थापक था। उसने कल्याणीपर भी अधिकार कर लिया था किन्तु देवगिरिको ही अपनी राजधानी बनाया। ११९० ई० में होयसल-नरेश वीर बल्लाल द्वितीयने सोरतूरके युद्धमे भिल्लमको पराजित किया और उसे कृष्णाके पार भगा दिया। भिल्लमके पुत्र जैतुगि (११९१–१२१० ई०) ने वारंगलके ककातीय राजा रुद्रको युद्धमे मारकर गणपति देवको ककातीयोंके सिंहासनपर बैठाया। उसका पुत्र सिंहन (१२१०–४७ ई०) इस वंशका सर्वमहान् और अपने समयका सर्वाधिक शक्तिशाली नरेश था। उसने होयसल बल्लालको भी पराजित किया और १२२२ ई० तक बनवासी प्रान्तको अपने अधिकारमे रखा। उसने गुजरातपर भी आक्रमण किया फलस्वरूप गुजरातके लावण्यप्रसादने १२३१ ई० में उसके साथ सन्धि कर ली। सिंहनने अर्जुन, लक्ष्मीधर, भम्भागिरिके सिंह तथा जज्जल, कक्कल, हम्मीर आदि राजाओं और सामन्तोंको भी पराजित करके अपने अधीन किया बताया जाता है। उसका पुत्र जैतुगि उसके जीवनमे ही मर गया था अत: उसके बाद उसका पौत्र कृष्ण (१२४७–६० ई०) राजा हुआ। उसने भी मालवा, गुजरात, कोंकण और चोल देशोंकी विजय की थी। कृष्णका छोटा भाई महादेवराय उसके समयमें ही राज्यकार्य संचालन करने लगा था अत: कृष्णकी मृत्युके उपरान्त उसके पुत्र रामचन्द्रको गद्दी न देकर वह स्वयं राजा बन गया और उसने (१२६०–७० ई०) राज्य किया। १२६८ ई० के लगभग होयसल नरसिंहने उसे युद्धमें पराजित किया। महादेव अपने पुत्र आमणको अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था किन्तु उसके भतीजे रामचन्द्रने आमणको अन्धा कर दिया और महादेवकी मृत्युके पश्चात् वही स्वयं राजा हुआ। रामचन्द्रराय (१२७०–

१३०९ ई०) के समयसे इस वंशका पतन प्रारम्भ हुआ। १२७६ ई० में होयसल नरसिंहने यादवोंको फिर पराजित किया किन्तु अगले ही वर्ष रामचन्द्रने होयसलोंको पराजित करके उनकी राजधानी द्वारसमुद्रपर आक्रमण कर दिया। फलस्वरूप दोनोंमें सन्धि हो गयी। १२९६ ई० में अलाउद्दीन खिलजीने एकाएक देवगिरिपर आक्रमण कर दिया। रामचन्द्र पराजित हुआ, उसने खिलजियोंकी अधीनता स्वीकार की और कर देनेका वचन दिया। किन्तु कुछ काल तक देनेके बाद बन्द कर दिया अतएव १३०७ ई० मे मलिक काफ़ूरने रामचन्द्रको पकड़कर बन्दी कर लिया और ६ मास तक बन्दी-गृहमें रखा। रामचन्द्रके पुत्र शंकर (१३०९–१२ ई०) ने भी दिल्लीके सुलतानको कर देनेसे इनकार कर दिया अतएव मलिक-काफ़ूरने उसे मार डाला। शंकरके पश्चात् उसका बहनोई हरपाल (१३१२-१८ ई०) देवगिरिका राजा हुआ। उसने मुसलमानोंको अपने राज्यसे निकाल बाहर किया, इसपर मुबारकशाह खिलजीने देवगिरिपर भयंकर आक्रमण किया और हरपालकी खाल खिंचवा ली। इस प्रकार देवगिरिके यादव-राज्यका अन्त हुआ। पश्चिमी चालुक्योंके पतनसे लाभ उठाकर दक्षिणापथके उत्तरी भागमें १३वीं शती ई० मे यादवोंने विस्तृत एवं शक्तिशाली साम्राज्यकी स्थापना कर ली थी। होयसलोंके वे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। यद्यपि सुएन देशके प्रारम्भिक यादव सामन्त उस कालकी प्रवृत्तिके अनुसार जैनधर्मके अनुयायी अथवा उसके पोषक रहे प्रतीत होते हैं किन्तु उनके वंशज देवगिरिके यादव नरेश प्रायः सब ही हिन्दूधर्मके अनुयायी थे। किन्तु साथ ही वे जैनधर्मके प्रति भी सहिष्णु थे और साहित्य एवं कलाके भी रसिक थे। सिंहन यादवके आश्रयमें ही ज्योतिषाचार्य भास्करभट्टने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणिकी रचना की थी। इस आचार्यकी ज्योतिषविद्याके शिक्षणके लिए उस नरेशने एक विद्यालय भी स्थापित किया था। महराजा संगीत विद्याका भी मर्मज्ञ था और उसने सारंगधर नामक संगीताचार्यसे संगीत-रत्नाकर नामक ग्रन्थकी रचना

करवायी। कर्णाटकीय संगीतके सैद्धान्तिक पक्षपर यह सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है। किन्तु इसी समयके लगभग जैनाचार्य पार्श्वदेवने भी सम्भवतया इसी नरेशके आश्रयमें अपना संगीत समयसार नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा था। पार्श्वदेव श्रीकान्त जातीय आदिदेव और गौरीके पुत्र तथा महादेवार्यके शिष्य थे और श्रुतिज्ञानचक्रवर्त्ती एवं संगीताकर उनकी उपाधियाँ थीं। आधुनिक विद्वान् उन्हें संगीतशास्त्रका प्रकाण्ड विद्वान् और उनके ग्रन्थको संगीत विषयकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति मानते हैं। यादव-नरेश महादेवराय एवं रामचन्द्ररायका एक प्रमुख सामन्त कूचिराज था, इसे पाण्ड्यदेशके मध्यमे वेनूर प्रदेशका शासक नियुक्त किया गया था। कूचिराजके गुरु मूलसंघ सेनगण पोगलिगच्छके पद्मसेन भट्टारक थे। उनके उपदेशसे कूचिराजने वेनूरमें लक्ष्मी-जिनालयका निर्माण कराया था और उसके संरक्षणके लिए भूमि, एक दूकान और कुछ उद्यानोंकी आय दान की थी। अपने उत्कर्षकालमें उत्तरमें गुजरातसे लेकर दक्षिणमें तुंगभद्रातक यादव-राज्यका विस्तार था।

द्वारसमुद्रका होयसल वंश—पूर्वमध्यकालमें दक्षिण भारतका यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली राज्यवंश था। पूर्व-दक्षिणमें मैसूरसे लेकर उत्तरमें तुंगभद्रा नदी पर्यन्त सम्पूर्ण प्रदेशपर होयसल-नरेशों का अधिकार था। द्वारावती (द्वारसमुद्र या दोरसमुद्र) इनकी राजधानी थी और ये द्वारावतीपुरवराधीश्वर कहलाते थे। ये लोग अपने आपको सोमकुलके यदुवंशी क्षत्रिय बताते थे। होयसलोंका मूल निवासस्थान पश्चिमीघाटपर मुदगेरे तालुकेमें स्थित अंगदि अपरनाम शशकपुर नगर था। यह स्थान पहलेसे ही जैनधर्मका एक प्रमुख केन्द्र रहता आया था। होयसलोंके पूर्वज अन्तिम राष्ट्रकूटों एवं उत्तरवर्ती चालुक्योंके साधारण श्रेणीके सामन्त मात्र थे और सम्भवतया अंगदिके ही शासक थे। ११वीं शती ई० के प्रारम्भमें इस वंशका मुखिया सल नामक एक वीर नवयुवक था। वह महत्त्वाकांक्षी और उत्साही था किन्तु निस्सहाय एवं साधन-

विहीन था। ९२५ ई० के लगभग अंगदिमें ही कुन्दकुन्दान्वय द्रविडसंघ पुस्तकगच्छके मौनी भट्टारकके शिष्य विमलचन्द्र पण्डितदेवने संन्यासमरण किया था और इस उपलक्ष्यमें गंगनरेश इरिवबेडंगने वहाँ आकर गुरुका स्मारक स्थापित किया था। सम्भवतया इन्हीं विमलचन्द्रके शिष्य या प्रशिष्य मुनीन्द्र सुदत्त वर्धमान उनके उपरान्त अंगदि जैन केन्द्रके अध्यक्ष हुए। नगरके बाहर ९वीं-१०वीं शताब्दीकी कई सुन्दर जिन-बसदियाँ थीं जिनमें मकरजिनालय और उसीके निकट जैन देवी वासन्तिका (पद्मावती) का विशाल मन्दिर था। इसी स्थानपर जैनाचार्य सुगत वर्धमानका विद्यापीठ विद्यमान था जिसमें अनेक गृहस्थ, त्यागी और मुनि शिक्षा प्राप्त करते थे। एक दिन नवयुवक सल वासन्तिदेवीके मन्दिरके निकट वनमें गुरु सुगतसे अकेले ही किसी विषयका अध्ययन कर रहा था। इतनेमें एक भयानक सिंह वनमेंसे निकलकर गुरुके ऊपर झपटा। गुरुने अपना दण्ड (या मयूरपिच्छि) सलकी ओर फेंककर कहा, 'पोयसल !' (हे सल, इसे मार)। वीर सलने तुरन्त उस दण्डके प्रहारोंसे ही सिंहको मार गिराया। कहा जाता है कि गुरुने सलके पराक्रम और वीरताकी परीक्षा करनेके लिए ही मन्त्रबलसे उस सिंहकी सृष्टि की थी। जो भी हो उसके इस कार्यसे गुरु बहुत प्रसन्न हुए, उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया, तथा अपने लिए स्वतन्त्र राज्य स्थापित करनेका आदेश दिया और सिंह ही सलका विजय-चिह्न निश्चित किया। इस घटनासे सल, पोयसल कहलाने लगा जो कालान्तरमें होयसल शब्दमें परिवर्तित हो गया और सल-द्वारा स्थापित राज्यवंशका नाम हुआ। उपरोक्त घटना लगभग १००६ ई० की है। पोयसल (१००७-१०२२ ई०) ने गुरु सुगतके उपदेश और पथप्रदर्शनमें अपनी राज्यशक्तिकी नींव डालनी प्रारम्भ की। पोयसल कर्णाटककी एक पार्वतीय जातिसे सम्बन्धित था और उसकी जननी सम्भवतया एक गंग राजकुमारी थी। इस कालमें चोलों-द्वारा गंगवाडि राज्यका अन्त कर दिये जानेसे कर्णाटक देशकी स्थिति संकटापन्न थी अतः पोयसल अपनी वीरता

एवं योग्यतासे चालुक्योंका एक महत्त्वपूर्ण सामन्त हो गया और चोलों तथा उनके कोंगाल्ववंशी सामन्तोंसे युद्धों-द्वारा शनैःशनैः प्रदेश छीनकर वह अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। उसके पुत्र विनयादित्य प्रथम (१०२२–१०४७ ई०) और पौत्र नृपकाम होयसल (१०४७–१०६० ई०) ने पोयसल-द्वारा प्रारम्भ किये कार्यको चालू रखा और वे अपनी शक्ति बढ़ाते रहे। गुरु सुगत वर्धमान ही उनके भी धर्मगुरु एवं राजगुरु थे और शासन-प्रबन्ध एवं राज्य-सञ्चालनमें उनका सक्रिय मार्ग-दर्शन करते थे। नृपकामके उत्तराधिकारी विनयादित्य द्वितीय (१०६०–११०१ई०) के गुरु शान्तिदेव थे। श्रवणबेलगोलकी पार्श्वनाथ बसदिके ११२९ई० के शिलालेखसे प्रकट है कि 'गुरु शान्तिदेवकी पादपूजाके प्रसादसे पोयसल-नरेश विनयादित्यने अपने राज्यको श्रीसम्पन्न किया था।' १०६२ ई० मे अंगदिमें ही शान्तिदेवने समाधिमरण किया और उस उपलक्ष्यमें राजा तथा उसके समस्त नागरिक जनोंने वहाँ उनका स्मारक स्थापित किया। 'इन राज-गुरुके उपदेशसे महाराज विनयादित्यने प्रसन्नतापूर्वक अनेक जिनमन्दिर, देवालय, सरोवर, ग्राम और नगर निर्माण किये।' 'इस निर्माण-कार्यमें वे बलीन्द्रसे भी आगे बढ़ गये।' उत्तरायण संक्रमणके अवसरपर १०६२ ई० मे ही इस नरेशने मेघचन्द्रके शिष्य बेलवेके जैनगुरु अभयचन्द्रका भी भूमिदान देकर सम्मान किया। इस राजाने अपने राज्यके प्रधान धानक्षेत्र मत्तावर नगरकी सिंचाईके लिए एक नहर खुदवायी थी, १०६९ ई० में नहर पूरी होनेपर वह स्वयं उसका निरीक्षण करनेके लिए गया और ग्रामके निकट पहाड़ीपर स्थित जिनमन्दिरके दर्शन किये। उस अवसरपर उसने नगरके मानिक सेट्टी आदि मुखियाओंसे पूछा कि उन्होंने नगरके अन्दर जिनमन्दिर क्यों नहीं बनवाया। नगर-प्रमुखोंने महाराजसे प्रार्थना की कि वही बनवा दें। अतः राजाने स्वयं वहाँ एक सुन्दर मन्दिर बनवाया, मानिक सेट्टी आदि मुखियाओंसे उसके लिए दान दिलवाया और स्वयं भी भूमिद्रव्य राजकर

आदिका दान दिया और नगरका नाम ऋषिहल्लि रखा। शान्तिदेवके शिष्य शब्दचतुर्मुख स्वामी अजितसेन भट्टारक नामक प्रसिद्ध जैनाचार्यका भी उसने सम्मान किया प्रतीत होता है। अपने जीवनके पिछले भागमें उसने राज्यकार्य अपने पुत्र एरेयंगको सौंपकर धर्मसाधन किया प्रतीत होता है। उस कालमें वास्तविक राजा एरेयंग ही रहा। अब होयसल राजे मेलप्पशिरोमणि (पार्वतीय राजाओंमें शिरोमणि) और महामण्डलेश्वर कहलाते थे। १०९४ ई० में इस नरेशने सुप्रसिद्ध दार्शनिक, तार्किक एवं वादी जैन विद्वान् गोपनन्दिका सम्मान किया और बेलगोल तीर्थकी बसदियोंकी मरम्मतके लिए कई गाँव दान दिये। गोपनन्दिके उपरान्त जगद्गुरु उपाधिप्राप्त प्रसिद्ध विद्वान् अजितसेन इस राजाके गुरु हुए। महाराज विनयादित्य द्वितीय और उसके पुत्र युवराज एयरंग की मृत्यु थोड़े ही समयके अन्तरसे हुई अतः तदनन्तर एयरंगका जेष्ठ पुत्र बल्लाल प्रथम (११०१-११०६ ई०) राजा हुआ। इसके राजगुरु चारुकीर्ति पण्डितदेव थे। ये महान् वादी श्रुतकीर्त्तिदेवके शिष्य थे और स्वयं विविधविद्यापारंगत थे, आयुर्वेद, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, योग एवं मन्त्रशास्त्र सभीमें निष्णात थे। जिस समय राजा बल्लाल दुर्द्धर शत्रुओंका घेरा डाले पड़ा था, और उसको अश्वारोही सेना शत्रु-सैन्यको आतंकित कर रही थी, वह स्वयं एक असाध्य रोगसे पीड़ित हो गया। उस अवसरपर गुरु चारुकीर्तिने उसे अपने अद्भुत औषधि प्रयोगसे शीघ्र ही नीरोग एवं स्वस्थ कर दिया था। ११०३ ई० मे बल्लाल प्रथमने मरयन्ने दण्डनायककी तीन सुन्दरी कन्याओंका विवाह सुयोग्य वरोंके साथ स्वयं कराया था। ११०४ ई० में उसने चंगाल्व राजाओंको पराजित करके अपने अधीन किया। जगदेव सान्तरने स्वयं बल्लालकी राजधानी पर आक्रमण किया तो उसने उसे बुरी तरह पराजित करके भगा दिया और साथ ही उसके कोष और प्रसिद्ध रत्नहारको भी हस्तगत कर लिया। इस राजाने बेलूरको अपनी राजधानी बनाया था।

उसका उत्तराधिकारी उसका अनुज सुप्रसिद्ध बिट्टिदेव (विष्णुवर्धन) होयसल*(११०६–११४१ ई०) था । यह इस वंशका सर्व प्रसिद्ध नरेश, भारी योद्धा, महान् विजेता और अत्यन्त शक्तिशाली राजा था । द्वार-समुद्रको उसने अपनी राजधानी बनाया । उसने चालुक्योंकी अधीनतासे अपने आपको प्राय: मुक्त कर लिया और चोलोंको देशसे निकाल भगाया । स्वतन्त्र होयसल-राज्यका वह वास्तविक संस्थापक था और होयसल-साम्राज्यकी नींव डालनेवाला था । उत्तरकालीन वैष्णव ग्रन्थों एवं अनुश्रुतियोंके आधारपर आधुनिक इतिहास-पुस्तकोंमें प्राय: यह लिखा पाया जाता है कि इस राजाके समयमें वैष्णवाचार्य रामानुजने जैनियोंको शास्त्रार्थमें पराजित किया फलस्वरूप राजाने जैनधर्मका परित्याग कर दिया, वैष्णवधर्म अङ्गीकार किया, अपना नाम बदलकर विष्णुवर्धन रखा, जैनियोंपर अत्याचार किये, यहाँतक कि जैनगुरुओंको घानीमें पिलवा दिया, श्रवणबेलगोलके बाहुबलिकी मूर्ति और अन्य जैन-मन्दिर तुड़वाये, वैष्णव मन्दिर बनवाये और वैष्णवधर्मके प्रचारको अपना प्रधान लक्ष्य बनाया । किन्तु वास्तवमें ये कथन मिथ्या और भ्रमपूर्ण हैं । रामानु-जाचार्य त्रिचनापल्लीके निकट श्रीरंगम्के निवासी थे, काञ्चीमें उन्होंने शिक्षा पायी थी, शङ्कराचार्यके अद्वैत वेदान्तके विरोधमें वे विशिष्टाद्वैत दर्शन और श्रीवैष्णव मतके पुरस्कर्त्ता थे । श्रीरंगम् उस कालमें अधि-राजेन्द्र चोलके शासनमें था । यह राजा कट्टर शैव था और जैन तथा वैष्णव धर्मोंका समान रूपसे विरोधी था । मैसूर प्रदेशके अनेक जैनमन्दिर उसने नष्ट करवा दिये थे, और स्वयं रामानुज उसके अत्याचारसे पीड़ित हो प्राण बचाकर कर्णाटकमें भाग आये थे । उसका उत्तराधि-कारी कोलुत्तुंग भी रामानुजसे असन्तुष्ट था । अत: इधर-उधर घूमते-घामते १११६ ई० के लगभग उन्होंने होयसल-नरेश बिट्टिवर्धन, बिट्टिग या विष्णुवर्धनकी राजधानी द्वारसमुद्रमें आकर इस राजाकी शरण ली प्रतीत होती है । यह नरेश अत्यन्त सहिष्णु और समदर्शी

था। उसने रामानुजको अभय और प्रश्रय दिया। सम्भव है उसकी राजसभामें जैन विद्वानोंके साथ रामानुजाचार्यके शास्त्रार्थ भी हुए हों और फलस्वरूप राजा इन वैष्णवाचार्यकी विद्वत्तासे भी प्रभावित हुआ हो तथा उसने इन्हें अपने मतका प्रचार अपने राज्यमें करनेकी छूट दे दी हो। उसके कालमें एक दो विष्णु-मन्दिर भी द्वारसमुद्रमें बने और सम्भवतया राजाने भी उनके निर्माणमें द्रव्य आदिसे सहायता दी हो। रामानुजके परम शत्रु अधिराजेन्द्र चोलकी मृत्यु १०७४ ई० में हो गयी थी और इस कालमें उसका उत्तराधिकारी राजेन्द्र कुलोत्तुङ्ग प्रथम (१०७४–११२३ ई०) राज्य कर रहा था। रामानुज विष्णुवर्धनके आश्रयमें १११६ ई० में आये। इससे प्रतीत होता है कि राजेन्द्र कुलोत्तुङ्ग भी अपने पूर्वजकी भाँति ही रामानुज और उनके मतका शत्रु था और होयसल-नरेशके सम्पर्कमें आनेके समय रामानुज पर्याप्त वृद्ध होंगे। किन्तु रामानुजकी विद्वत्तासे प्रभावित होने और उनका आदर करनेपर भी विष्णुवर्धनने न तो जैन-धर्मका परित्याग ही किया, न उसके ऊपरसे राज्यका संरक्षण और प्रश्रय उठाया और न वैष्णव धर्मको पूर्णतया अपनाया ही। उसके नाम विष्णु-वर्धनका भी कोई सम्बन्ध उसके धर्म-परिवर्तनसे नहीं है, यह नाम उसका पहलेसे ही था, अन्यथा स्वयं जैन शिलालेखोंमें इस नामसे उसका उल्लेख न होता। वस्तुतः कर्णाटकके राजा लोग बहुधा अपने मूल कन्नडिग नाम (यथा बिट्टिग या बिट्टिदेवके) साथ-साथ विनयादित्य, विष्णुवर्धन आदि जैसे संस्कृत उपनाम भी रख लेते थे। प्राचीन चालुक्यों, राष्ट्रकूटों आदिमें बराबर ऐसा होता था, स्वयं होयसल वंशमें दोनों प्रकारके नाम पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त ११२१ ई० में महाराज विष्णुवर्धनने अपने प्रधान सेनापति गंगराजके अनुज सोवणके हितार्थ शादिरवागिलु जैन बसदिको दान दिया। ११२५ ई० में इस नरेशने जैनगुरु श्रीपाल त्रैविद्यव्रतीका सम्मान किया। चामराजपट्टन तालुकेके शल्य नामक स्थानसे प्राप्त उसी वर्षके शिलालेखके अनुसार अदियम, पल्लव नरसिंहवर्म, कोंग, कल्पाल,

अङ्गर आदि राजाओंके विजेता इस होयसल-नरेशने भक्तिपूर्वक शल्यनगर में एक जैन विहार बनवाया और उस बसदिके लिए तथा उसमें जैन ऋषियोंके संरक्षणके लिए वादीभसिंह, वादिकोलाहल, तार्किकचक्रवर्ती आदि विरुदप्राप्त स्वगणनायक विद्वान् जैन गुरु श्रीपालदेवको वही ग्राम तथा अन्य समुचित दानादि प्रदान किये। ११२९ ई० में इस राजाने बेलूरके मल्लि जिनालयके लिए दान दिया। ११३० ई०मे उसके सेनापति गंगराजके पुत्र बोप्पने रूवारि द्रोहघरट्टाचारि कन्ने-द्वारा राज्याश्रयमें शान्तीश्वर बसदिका निर्माण कराया। इस कालमें दण्डनायक मरियाने और भरट नामक भव्योंने पाँच बसदियाँ बनवायीं जिनमे से चार देशीगणके लिए और एक काणूरगणके लिए थीं, तथा काणूरगण तित्रिणीगच्छके गुरु मुनिभद्रके शिष्य मेघचन्द्र सिद्धान्तीको दान दिया। राजधानी द्वारसमुद्र (हलेबडि) के निकट बस्तिहल्लिकी प्रसिद्ध पार्श्वनाथ बसदिका सन् ११३३ ई० का शिलालेख भी इस राजाको परम धार्मिक भव्य सूचित करता है। इस लेखमे यह भी उल्लेख है कि स्वयं राजधानी द्वारसमुद्रमें महाराजके एक महान् जैन दण्डाधिपने विजयपार्श्वदेव नामका सुप्रसिद्ध जिनालय बनवाया था और महाराज विष्णुवर्धनने उक्त जिनालयके मूल नायक विजयपार्श्वदेवके नामपर अपने नवजात राजकुमारका नाम विजयनरसिंहदेव रखा था। तथा उस अवसरपर द्वारसमुद्रके ही एक अन्य जिनालयके लिए जावगल नामका ग्राम प्रदान किया था। इस नरेशने दक्षिणचक्रवर्ती और सम्यक्त्वचूडामणि विरुद धारण किये थे जो उसकी वंश-परम्परामें तबसे चलते रहे। सम्यक्त्वचूडामणि विरुद ही जैनधर्मके प्रति होयसल-नरेशोंकी असीम निष्ठाका परिचायक है। महाराज विष्णुवर्धनकी पट्टमहिषी शान्तलदेवी अत्यन्त सुन्दरी, विदुषी, सती साध्वी और धर्मात्मा नारी-रत्न थी। उसके निपुण संगीत नृत्य वाद्य एवं सौन्दर्यकी ख्याति दूर-दूर थी। इसका पिता पेरग्गडेमारसिंगय्य कट्टर शैव था और माता मचिकब्बे उसी प्रकार परम जैन थी। रानीके गुरु प्रभाचन्द्र

सिद्धान्तदेव देशीगण पुस्तकगच्छके मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके शिष्य थे। महारानी शान्तलदेवीने जैनधर्मकी प्रभावनाके लिए स्थायी कार्य किये। उसने चतुःसमय (मुनिधर्म, आर्यिकाधर्म, श्रावकधर्म, श्राविकाधर्म) का उत्कर्ष किया, चार प्रकारके दान देने और शलाकापुरुषोंके पुराणचरित्र सुननेमें उसे बड़ा आनन्द आता था। ११२३ ई० में उसने श्रवणबेलगोल तीर्थपर शान्ति जिनेन्द्रकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित की, वहीं सवति गन्धवारण नामकी एक अन्य सुन्दर बसदि निर्माण करायी, महाराजकी अनुमति पूर्वक उसके लिए स्वगुरुको एक ग्राम भेंट दिया, तदनन्तर कुछ अन्य भूमि प्रदान की। अपने अनुज दुद्दमहादेवके साथ-साथ एक अन्य ग्राम वीर कोंगाल्व जिनालयके लिए प्रदान किया। अपने धार्मिक कार्योंके कारण यह राजमहिषी सम्यक्त्वचूडामणि और जिनमतस्तम्भ कहलायी। ११३१ ई० में उसने शिवगंगा तीर्थपर स्वगुरुकी उपस्थितिमें समाधिमरण किया। इसपर उसकी जननी माचिकब्बेने भी श्रवणबेलगोल जाकर एक मासकी सल्लेखनापूर्वक संन्यासमरण किया। उस समय वहाँ मुनि प्रभाचन्द्र, वर्धमानदेव और रविचन्द्र उपस्थित थे और उन्होंने उस साध्वीके तप-संयमकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। विष्णुवर्धनकी ज्येष्ठ पुत्री राजकुमारी हरियब्बरसि भी जो सिंह सामन्तसे विवाही थी, बड़ी धर्मात्मा थी। उसके गुरु गंडविमुक्त सिद्धान्तदेव थे। ११२९ ई० में हन्तियूरमें इस राजकुमारीने गोपुर आदिसे मण्डित एक उत्तुङ्ग सुन्दर जिनालय बनवाया था, और उसके लिए अपने पिता महाराजसे निःशुल्क भूमि प्राप्त करके स्वगुरुको दान दी थी। महाराज विष्णुवर्धनके मन्त्रियों, सेनानायकों, सामन्त सरदारों एवं राज्य-कर्मचारियोंमे-से भी अधिकांश जैनधर्मानुयायी थे। वस्तुतः विष्णुवर्धन होयसलकी महत्ता, शक्ति, समृद्धि और विजयोंका अधिक श्रेय उनके प्रचण्डवीर जैन सेनापतियोंको है। उन्होंने ही होयसलोंके दक्षिण, दक्षिणपूर्व, पूर्व और पश्चिमवर्ती समस्त दुर्द्धर शत्रुओंका संहार किया था और द्वारसमुद्रके नरेशोंको एक शक्तिशाली साम्राज्यका अधिपति

बना दिया था।

इन जैन-वीरोंमें सर्वप्रमुख महाराज विष्णुवर्धनका प्रधान सेनापति गंगराज था। यह कौण्डिन्यगोत्री द्विज था। इसका वंश पहलेसे ही जैनधर्मका परम अनुयायी रहता आया था। गंगराजके पिता एचिगंक या बुद्धिमित्र होयसल नृपकामका मन्त्री और सेनानायक था और मल्लूरके कनकनन्दि गुरुका शिष्य था। उसकी माता पोचिकव्वे भी बड़ी धर्मात्मा थी, ११२० ई० मे श्रवणबेलगोलमे इस साध्वीने संन्यासमरण किया था। अपनी वीरता, पराक्रम, राज्य-सेवाओं एवं धर्मभक्तिके कारण गंगराजने महासामन्ताधिपति, महाप्रधान, महाप्रचण्ड, द्रोहघरट्ट, दण्डनायक, होयसलनरेशको राज्याभिषिक्त करनेके लिए पूर्णकुम्भ, चार दानमें तत्पर, धर्मस्तम्भ आदि अनेक विरुद प्राप्त किये थे। शिलालेखोंसे प्रतीत होता है कि अपने बड़े भाई बल्लाल प्रथमकी मृत्युके उपरान्त एक अन्य भाई उदयादित्यके विरोध और पाण्ड्य एवं सान्तरोंकी शत्रुताके कारण विष्णुवर्धन की स्थिति बड़ी डाँवाडोल थी और यह गंगराजका ही पराक्रम था कि उसने उन सब शत्रुओंका दमन करके विष्णुवर्धनके लिए सिंहासन निष्कण्टक किया और उसका राज्याभिषेक कर दिया। वह महाराज विष्णुवर्धनका दाहिना हाथ हो गया था। महाराजके सम्मुख सर्वप्रथम महान् समस्या तलकाडसे चोलोंको निकाल बाहर करनेकी थी और यह कार्य उसने गंगराजको सौंपा जो १११७ ई० मे इसमें पूर्ण सफल हुआ। उसने कर्णाटकमें स्थित राजेन्द्र चोलके तीनों सामन्तों, अदियम, दामोदर और नरसिंहवर्मका पूर्णतया दमन कर दिया, और गंगवाडिकी राजधानी तलकाडपर अधिकार कर लिया। महाराज विष्णुवर्धनने प्रसन्न होकर उससे पुरस्कार माँगनेके लिए कहा तो उसने गंगवाडि देशको माँगा क्योंकि उस प्रान्तमें अनेक प्राचीन जैनतीर्थ और बसदियाँ थीं जिनमें-से अनेकोंको राजेन्द्र और अधिराजेन्द्र चोलने नष्ट करवा दिया था। गंगराजको उनका जीर्णोद्धार और संरक्षण कराना था जो उसने बड़ी उदारतापूर्वक किया।

गंगराजने कोंगुदेश और चेंगरिकी विजय की और कई अन्य दुर्द्धर सामन्तों का दमन किया। होयसलोंने चालुक्य विक्रम षष्ठके पाण्ड्य सामन्त त्रिभुवनमल्ल पाण्ड्यको पराजित करके उच्छंगीका प्रसिद्ध दुर्ग छीन लिया था। इसका बदला लेनेके लिए चालुक्य-सम्राट्ने स्वयं बारह दुर्द्धर सामन्तों-सहित होयसल-राज्यपर आक्रमण कर दिया। विष्णुवर्धनने तुरन्त गंगराजको दक्षिणसे बुलाकर चालुक्योंके विरुद्ध उत्तरमें भेजा और इस वीर सेनानीने चालुक्य-सम्राट् और उसके सामन्तोंको १११८ ई० में बुरी तरह पराजित किया। गंगराजकी इन चामत्कारिक विजयोंका महत्त्व असीम था, इन्होंने होयसलोंको स्वतन्त्र ही नहीं, अत्यन्त शक्तिशाली भी बना दिया, इसी कारण शिलालेखोंमें उसे 'विष्णुवर्धन पोयसल महाराजका राज्योत्कर्षकर्त्ता' कहा गया है। देशीगण पुस्तकगच्छके कुक्कुटासन मलधारीदेवके शिष्य दर्शनमहोदधि शुभचन्द्रदेव गंगराजके गुरु थे। १११८ ई० में इस गुरुको गंगराजने एक ग्राम भेंट दिया, राजधानी द्वारसमुद्रकी पार्श्वनाथ बसदिमें उसने अनेक जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायीं। गंगवाडि ९६००० प्रान्त जो उसे पुरस्कारमें प्राप्त हुआ था उसकी समस्त आय उसने श्रवणबेलगोल आदि तीर्थोंकी उन्नति, प्राचीन बसदियोंके जीर्णोद्धार, संरक्षण, नवीनोंके निर्माण और विविध रूपोंमें जिनधर्मकी प्रभावनाके हित व्यय की। शिलालेखोंमें उसकी तुलना गोमट्टप्रतिष्ठापक गंग सेनापति चामुण्डरायसे की गई है। किन्तु ऐसा धर्मात्मा एवं जिनभक्त होते हुए भी गंगराजके सम्मुख राजनीति पहले और धर्म पीछे था, उसका धर्म उसकी राजनीतिमें सहायक एवं साधक था, बाधक नहीं। वह अनन्य स्वामिभक्त था। गंगराजका पुत्र और पत्नी भी परम जिनभक्त थे। उसके पुत्र बोप्प और भतीजे एचिराज उसके जीवनमें ही प्रसिद्ध दण्डनायक थे। ११३३ ई० में गंगराजकी मृत्यु हो जानेपर एचिराजने राजधानी द्वारसमुद्रमें ही अपने पिताकी स्मृतिमें द्रोहघरट्ट जिनालयका निर्माण कराया जो अत्यन्त विशाल, सुन्दर

और कलापूर्ण था। यही जिनालय विजय पार्श्वदेवके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस मन्दिरकी प्रतिष्ठा होनेपर जब पुजारी जिनेन्द्रके अभिषेकका पवित्र गन्धोदक लेकर राजाके सम्मुख पहुँचा तो विष्णुवर्धन उस समय बंकापुर में छावनी डाले पड़ा था और वह मसण कदम्ब नामक एक दुर्द्धर शत्रु सामन्तका संहार करके निवृत्त हुआ था और तभी उसकी रानी लक्ष्मी महादेवीने पुत्र प्रसव किया था। राजाने अत्यन्त आनन्दित होकर पुजारी का स्वागत किया, खड़े होकर करबद्ध उसे नमस्कार किया और गन्धोदक को भक्तिपूर्वक मस्तकपर चढ़ाया तथा कहा कि 'भगवान् विजय पार्श्वदेव की प्रतिष्ठाके पुण्य फलसे ही मैंने आज यह विजय और पुत्र प्राप्त किये हैं।' तदनुसार ही उसने नवजात शिशुका नामकरण किया और मन्दिर को ग्राम भेंट किया। सेनापति बोप्प अपने पिता गंगराजकी भाँति उदार और वीर था। उसने शान्तीश्वर बसदि और त्रैलोक्यरञ्जन अपर नाम बोप्पन चैत्यालयका निर्माण कराया। वह भारी विद्वान् भी था। उसके गुरु नयकीर्त्ति सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। बोप्पकी माता और गंगराजकी पत्नी लक्कले या लक्ष्मीमती दण्डनायकित्ति गुरु शुभचन्द्रकी शिष्या थी, वह अपने पतिके युद्ध एवं राज्य-कार्योंमें भी उसकी सक्रिय सहायक रही थी, साथ ही बड़ी दानशीला और धर्मात्मा थी। १११८ ई० में श्रवणबेलगोल में उसने एक जिनालय बनवाया था और ११२१ ई० में वहीं उसने समाधिमरण किया था। उसकी जिठानी जक्कणब्बे भी जो गंगराजके भाई दण्डनायक बम्मकी पत्नी थी, बड़ी धर्मात्मा थी। ११२० ई०में उसने एक विशाल जिनमूर्त्ति और एक सरोवरका निर्माण कराया था।

विष्णुवर्धनका दूसरा प्रमुख जैनमन्त्री दण्डनाथ पुणिसमय्य था, वह राजाका सन्धिविग्रहिक था। उसके पूर्वज भी राजमन्त्री रहे थे, स्वयं उसके पितामह सकलशासनवाचक चक्रवर्ती पुणिसराज दण्डाधीश थे। और पिता चामराजचमूप थे। दण्डनाथ पुणिसकी विजय भी महत्त्वपूर्ण थी, नीलगिरिके युद्धोंमें चोल-नरेशके कई सामन्तोंको पराजित करके उसने

अपने स्वामीको दक्षिणको कुञ्जी ही प्रदान कर दी थी और सुदूर दक्षिणकी विजयोंके लिए उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया था, तथा मलय और केरलपर अधिकार करा दिया था। पुणिस बड़ा धर्मानुरागी और उदारचेता था। कई जिनमन्दिर उसने निर्माण कराये, अनेक निस्सहाय व्यक्तियोंकी सहायता की। उसकी परोपकारवृत्तिका लाभ जैन-अजैन सबको समान रूपसे होता था। उसकी पत्नी दण्डनायकित्ति जकणब्बे भी बड़ी धर्मात्मा थी। सीता और रुक्मिणीसे उसकी तुलना की जाती थी। १११७ ई० में उसने पाषाण-निर्मित एक जिन-मन्दिर बनवाया था। उसीके उत्तरमें उसके पति पुणिसने मूलस्थान बसदि बनवायी। यह बसदि विष्णुवर्धन पोयसल जिनालयसे सम्बद्ध थी। महाप्रधान दण्डनायक पुणिसमय्यके गुरु अजितसेन पण्डितदेव थे।

दण्डनायक बलदेवण्ण महाराज विष्णुका तीसरा सेनापति था। वह राजा आदित्य या अरसादित्य और उसकी पत्नी आचाम्बिकेका तृतीय पुत्र था और राजाके प्रधान मन्त्रियोंमें-से था तथा बड़ा वीर सेनानी था, वह जिनेन्द्रका भी परम भक्त था। इसके अन्य दो भाई पम्पराय और हरिदेव तथा भतीजे माचिराज भी जिनभक्त तथा राजाके वीर सेनानी थे।

भारद्वाजगोत्री मरियाने प्रथमके पौत्र और दाकरसके पुत्र भ्रातृद्वय मरियाने और भरतेश्वर भी महाराज विष्णुवर्धनके दण्डनायक थे। मरियाने दण्डनायककी तीन पुत्रियोंका विवाह राजा बल्लाल प्रथमने स्वयं कराया था और वह स्वयं गंगराजके जामाता थे। ये दोनों भाई महाराज विष्णुके समयमें सर्वाधिकारी, माणिकभण्डारी और प्राणाधिकारी पदोंपर आरूढ़ रहे। इनका सम्पूर्ण परिवार जिनभक्त था, अनेक जिनमन्दिरोंका इन्होंने निर्माण कराया। इनके गुरु माघनन्दिके शिष्य गण्डविमुक्तदेव थे।

गंगराजका भतीजा और दण्डनायक बम्मका पुत्र एच भी विष्णुवर्धनके समयमें ही दण्डाधीश हो गया था। वह भी बड़ा धार्मिक और वीर था किन्तु उसकी मृत्यु थोड़ी ही आयुमें हो गई प्रतीत होती है।

होयसल एयरंगके राजमन्त्री चिन्नराज दण्डाधीशका पुत्र इम्मडि दण्डनायक बिट्टिमय्य महाराज विष्णुका एक अन्य जैन वीर सेनानी था। बाल्यावस्थामें ही इसके माता-पिताकी मृत्यु हो गयी थी अतः स्वयं महाराजने उसका पालन-पोषण किया था। यह बालक इतना व्युत्पन्न था कि थोड़ी ही आयुमें अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य विविध-विद्याओंमें पारंगत हो गया। एक राजमन्त्रीकी पुत्रीके साथ राजाने उसका विवाह कर दिया। युवा होनेके पूर्व ही यह बालवीर महाप्रचण्ड दण्डनायक, सर्वाधिकारी, सकल-जनोपकारी आदि पदवियोंसे विभूषित हो गया था। एक पक्षके भीतर ही इस बाल-सेनापतिने कोंगुदेशपर भीषण आक्रमण करके शत्रुको बुरी तरह पराजित करके अधीन किया था, अपनी चमत्कारी विजयोंके कारण थोड़ी ही आयुमें यह वीर महाराजका दाहिना हाथ हो गया था। साथ ही वह परम धार्मिक भी था। श्रीपाल त्रैविद्यदेव उसके गुरु थे और स्वयं राजधानी द्वारसमुद्रमें उसने विष्णुवर्धन जिनालयका निर्माण कराया था, और जो ग्राम उसे राजासे पुरस्कार-स्वरूप मिले थे उन्हें उक्त मन्दिरके लिए तथा मुनियोंके आहार-दानके लिए समर्पित कर दिया था।

इस प्रकार अपने अष्ट प्रधान जैन राजमन्त्रियों और वीर सेनापतियोंके उत्साहपूर्ण एवं सुयोग्य सहयोगसे महाराज विष्णुवर्धन होयसलने न केवल अपने वंश और साम्राज्यकी नींव सुदृढ़ कर दी वरन् शिल्प-स्थापत्यकी होयसल शैलीके विकासको अत्यन्त बल दिया, विद्या साहित्य तथा अन्य लोकोपकारक एवं लोकोन्नायक कार्योंको भी प्रोत्साहन दिया, शासन-व्यवस्था सुचारु की और जैनधर्मका भी सर्वतोमुखी उत्कर्ष किया। उपरोक्त विवरणसे यह भी पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि रामानुजाचार्य-द्वारा इस नरेशके मत-परिवर्तन और जैनोंपर अत्याचार करनेकी बात सर्वथा भ्रमपूर्ण है।

उसकी मृत्युके पश्चात् लक्ष्मीमहादेवीसे उत्पन्न उसका पुत्र विजय नरसिंहदेव प्रथम (११४१–११७३ ई०) राजा हुआ। जन्म-समय ही

उसका राज्याभिषेक कर दिया गया था। पिताकी मृत्युके समय वह केवल ८ वर्षका बालक था। वय प्राप्त करनेपर भी वह आमोद-प्रमोदमें अधिक व्यस्त रहता था। उसके समयमें होयसल-साम्राज्यकी महत्ता और प्रतिष्ठाकी रक्षा उसके अपने युद्ध-कौशल, विजयोल्लास या राजनैतिक चतुराईसे नहीं हुई वरन् उसके प्रतापी पिताके नामके प्रभाव और उसके स्वामिभक्त, सुयोग्य एवं वीर जैन मन्त्रियों और सेनापतियोंके कारण ही हो सकी। मरियाने, भरत आदि कुछ पदाधिकारी तो उसके पिताके समयके ही थे। सौभाग्यसे देवराज हुल्ल, शान्तियण्ण और ईश्वर नामके चार अन्य स्वामिभक्त कुशल एवं वीर सेवक उसे स्वयं प्राप्त हो गये। देवराज कौशिकगोत्रीय था, उसके गुरु जैनाचार्य मुनिचन्द्र भट्टारक थे। जिन-भक्तिमें देवराजकी तुलना चामुण्डराय और गंगराजके साथ की जाती थी। राजाने इसे 'सूरनहल्लि' ग्राम पुरस्कारमें दिया, जिसे उसने वहाँ एक चैत्यालय बनवाकर अपने गुरुके नामपर उत्सर्ग कर दिया। राजा नरसिंहने चैत्यालयके दर्शन करके उस ग्रामका नाम पर्वपुर रख दिया। महाराज नरसिंहके सेनापतियोंमें सर्वप्रसिद्ध एवं सर्वमहान् हुल्ल था। वह वाजिकुलमें उत्पन्न हुआ था। उसके पिताका नाम यक्षराज, माताका लोकाम्बिके और पत्नीका पद्मावती था। लक्ष्मण और अमर नामके उसके दो भाई थे। यह पूरा परिवार जैनधर्मका परम भक्त था। स्वयं हुल्ल न केवल उदारचेता, दानशील, मन्दिरोंका निर्माता और धर्मात्मा जैन था। वरन् वह व्यवहारकुशल, राजनीतिज्ञ, योग्य प्रशासक और अपने समयका सर्वमहान् सैन्य-सञ्चालक एवं वीर योद्धा भी था। राज्यकी सेवामें वह महाराज विष्णुवर्धनके समयसे ही चला आ रहा था और अब नरसिंहके समयमें महाप्रधान, प्रधान कोषाध्यक्ष, सर्वाधिकारी एवं महाप्रचण्ड दण्डनायक आदि पदोंपर आरूढ़ था। अपने युद्धों, विजयों और सुशासनसे उसने नरसिंहदेवके साम्राज्यको अक्षुण्ण एवं सुरक्षित रखा। उसकी तुलना चामुण्डराय और गंगराजसे की जाती थी। हुल्लके

व्रतगुरु कुक्कुटासन मलधारीदेव थे। देवकीर्ति मण्डलाचार्यका भी वह भक्त था और उसके स्वगुरु नयकीर्ति सिद्धान्तदेव थे। हुल्लने श्रवणबेलगोलपर चतुर्विंशति बसदि नामका अत्यन्त सुन्दर एवं कलापूर्ण जिनालय निर्माण कराया था। ११५९ ई० में स्वयं महाराज नरसिंहदेव जब दिग्विजयके लिए निकले तो इस जिनालयका दर्शन करनेके लिए गये और प्रसन्न होकर हुल्लकी उपाधि 'सम्यक्त्वचूडामणि' के कारण इस बसदिका नाम 'भव्य चूडामणि' रखा तथा उसके लिए एक ग्राम दान दिया। राजाने उक्त स्थानकी बसदियोंकी जिनेन्द्र प्रतिमाओं, गोम्मटेश्वर और पार्श्वनाथ की भक्तिपूर्वक वन्दना एवं पूजा की। सेनापति हुल्लने केल्लंगेरे, बंकापुर और कोप्पण तीर्थके अनेक जिन-मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया, नवीन मन्दिर निर्माण कराये, मन्दिरोंके संरक्षणके लिए दान दिये और कई दानशालाएँ स्थापित कीं। नरसिंहका तीसरा प्रसिद्ध सेनापति शान्तियण्ण था। उसका पिता पारिषण्ण भी एक पराक्रमी योद्धा और राज्य कोषाध्यक्ष था। आहवमल्लको उसने पराजित किया था और उसी युद्धमें उसकी मृत्यु हुई थी। शान्तियण्णकी माता बम्मलदेवी मरियाने दण्डनायककी पुत्री थी और बड़ी धर्मात्मा थी। उसके पिताकी मृत्युके बाद नरसिंहने शान्तियण्णको दण्डनायक बनाया और एक ग्राम प्रदान किया। दण्डनायक शान्तियण्णके गुरु वासुपूज्य सिद्धान्तके शिष्य मल्लिषेण पण्डित थे। शान्तियण्णने अपनी जागीर करिगुण्डमें एक भव्य जिनालय बनाया जिसके लिए उसने स्वयं तथा उसकी समस्त प्रजाने प्रभूत दान दिया। नरसिंहका चौथा सेनापति ईश्वर चमूपति था। वह सर्वाधिकारी एवं सेनापति दण्डनायक एरेयंगमका पुत्र था। उसने मन्दारगिरिके जिनमन्दिरका जीर्णोद्धार कराया। ११६० ई० में उसकी पत्नी माचियक्केने जो साहिणी बिट्टिगकी पुत्री और गण्डविमुक्तदेवकी शिष्या थी, एक जिन-मन्दिर निर्माण कराकर दान दिया था। नरसिंहदेवके दो अन्य राजमन्त्री शिवराज और सोमेय थे जिन्होंने ११६५ ई० में माणिकबोल्लके होयसल-जिनालयको मुनि

आहारके लिए दान दिया था। नरसिंहदेवके एक अन्य मन्त्री ताम्बुलवाहक चाविमय्यकी पत्नी जकब्बेने हेरगुमे चेन्नपार्श्वनाथ बसदि बनवाकर राजाकी अनुमतिसे समस्त सरदारोंके समक्ष अपने गुरु नयकीर्ति सिद्धान्तदेवको दान दिया था। इसी कालमें नरसिंहके सामन्त गोवकी पत्नी सिरियादेवीने एक जैन-प्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराके स्वगुरु चन्द्रायणदेव को दान दिया था। इस प्रकार होयसल नरसिंहदेव भी अपने पूर्वजोंकी भाँति जिन-धर्मका भक्त और प्रश्रयदाता था और उसके जैन-मन्त्रियों, सेनापतियों एवं पदाधिकारियोंने उत्साह एवं योग्यतापूर्वक साम्राज्यका संरक्षण एवं उत्कर्ष किया।

नरसिंहका पुत्र सुप्रसिद्ध बल्लाल या वीर बल्लाल द्वितीय (११७३–१२२० ई०) अपने पितामह विष्णुवर्धनकी भाँति ही वह भारी पराक्रमी, महान् विजेता और स्याद्वादमतका पक्षपाती था। उसके गुरु नन्दिसंघ अरुंगुलान्वयके जैनाचार्य श्रीपालदेवके शिष्य वासुपूज्य व्रती थे जैसा कि ११९९ ई० के एक शिलालेखसे स्पष्ट है। इस राजाने अनेक बार जैन तीर्थोंकी यात्रा, मन्दिरोंके दर्शन और बसदियों एवं गुरुओंको दान दिया। उसके समयमें भी उसके पिताके समयके हुल्ल आदि अनेक जैन सेनापति और मन्त्री चलते रहे थे। ११७४-७५ ई० में उसने हुल्लके निवेदनपर उसके द्वारा श्रवणबेल्गोलपर निर्मित चतुर्विंशति बसदिके लिए दो गाँव दान दिये थे। ११७६ ई० में राजधानीके देवीसेट्टी नामक धनी सेठने वहाँ वीर बल्लाल-जिनालय नामका सुन्दर मन्दिर राज्याश्रयसे निर्माण कराया और उसके लिए स्वगुरु बालचन्द्र मुनिको दान दिया था। स्वयं राजाने भी कई गाँव उसके लिए प्रदान किये थे। ११९२ ई० में राजधानीके अन्य चार प्रमुख सेठोंने समस्त नागरिकों एवं अन्य नगरोंके व्यापारियोंके सहयोगसे वहाँ नगर-जिनालय नामका विशाल एवं सुन्दर मन्दिर निर्माण कराया था। इस मन्दिरका नाम अभिनव शान्तिदेव भी था। राज्यश्रेष्ठिके साथ महाराज 'प्रतापचक्रवर्ती वीर बल्लालदेव' स्वयं मन्दिरमें दर्शनार्थ

गया और उसने उसके लिए गुरु वज्रनन्दि सिद्धान्तको कई ग्राम दान दिये। सदैवकी भाँति इस समय भी होयसल-राजधानी द्वारसमुद्र जैन धर्मका गढ़ और भव्यों (जैनों) का प्रधान केन्द्र थी। जैनाचार्य श्रीपाल देव और उनके शिष्य होयसलोंके राजगुरु थे। बल्लाल द्वितीयके समयमें भी होयसलोंके शौर्य और पराक्रमकी प्रतिष्ठाके आधार उसके जैन सेनापति और मन्त्री ही थे। वृद्ध सेनापति हुल्लके अतिरिक्त वसुधैकबान्धव रेचिमय्य बल्लालका अन्य प्रसिद्ध सेनानी था। इसके पूर्व वह बिज्जल कल्चुरि का प्रधान सेनापति था, कल्चुरियोंके पतनके पश्चात् बल्लालकी सेवामे आया। वह दुर्द्धर योद्धा और कुशल सेनानी था, बल्लालकी अनेक विजयों का श्रेय उसे ही है। साथ ही वह बड़ा जिनभक्त था। उसने भागुदिके रत्नत्रय जिनालयके लिए भानुकीर्त्तिको दान दिया, नागरखण्ड देशको अपनी राजधानीमें एक अति सुन्दर सहस्रकूट चैत्यालयका निर्माण कराया, १२०० ई० में इस मन्दिरके लिए अपने गुरु सागरनन्दिको दान दिया और महाराज बल्लालने भी उस अवसरपर उन्हें एक ग्राम दान दिया। उसी वर्ष श्रवणबेलगोलमे भी उसने एक शान्तिनाथ बसदि बनवायी। मरियाने दण्डनायकके पुत्र भरत और बाहुबलि भी बल्लालके स्वामिभक्त जैन सेनानायक थे। बल्लालका एक अन्य सेनानायक बूचिराज था वह राजाका सन्धिविग्रहिक था साथ ही संस्कृत एवं कन्नडी दोनों भाषाओंका विद्वान् और कवि भी था। ११७३ ई० मे बल्लालके राज्याभिषेकके अवसरपर मारिकलिमें त्रिकूट जिनालय बनवाकर उसने स्वगुरु वासुपूज्यको उसके लिए ग्राम दान दिये थे। बल्लालका एक अन्य राजमन्त्री शम्भुदेव का पुत्र चन्द्रमौलि था जो अनेक विद्याओंमें पारंगत भारी विद्वान् था और कट्टर शैव होते हुए भी जैनधर्मके प्रति अति उदार था, उसकी पत्नी आचलदेवी तो परम जिनभक्त एवं नयकीर्त्तिकी शिष्या थी। ११८२ ई० में आचलदेवीने श्रवणबेलगोलमें पार्श्वनाथका सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था जिसके लिए उसके पति चन्द्रमौलिने राजासे प्रार्थना करके नयकीर्त्तिके

शिष्य बालचन्द्रको एक ग्राम दानमें दिलाया था। नानादेशीय व्यापारियों एवं नगर और नाडुके प्रतिनिधियोंने भी इस मन्दिरके लिए दान दिये थे, स्वयं राजाने अपनी ओरसे एक अन्य ग्राम भी दान दिया था। एक अन्य जैनमन्त्री एचणकी पत्नी सोमलदेवीने १२०७ ई० मे एक बसदि निर्माण कराकर दान दिया था। एचणने स्वयं भी १२०५ ई० मे एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था। इसी राज्यकालमें सान्तले, मालव्वे, जक्कवे आदि सम्भ्रान्त धर्मात्मा महिलाओंने धर्मकार्य और समाधिमरण किये थे। बल्लालका एक अन्य जैनमन्त्री नागदेव था जो मन्त्री बम्मदेवका पुत्र और नयकीर्त्तिका शिष्य था। वह जिनमन्दिरप्रतिपाल कहलाता था, श्रवण-बेलगोलके पार्श्वमन्दिरमे ११९५ ई० में उसने नाट्यभवन बनवाया तथा वहीं नगर जिनालय अपर नाम श्रीनिलय नामक प्रसिद्ध कलापूर्ण मन्दिर बनवाया था। एक अन्य मन्त्री महादेव दण्डनाथ था। वह उच्च राजपदा-धिकारियोंके प्रतिष्ठित कुलमे उत्पन्न हुआ था। वह और उसकी पत्नी लोकलदेवी दोनों बड़े धर्मात्मा थे और कुलभूषणके शिष्य सकलचन्द्र भट्टारकके शिष्य थे। ११९८ ई० मे इन्होंने एरग जिनालय नामका अत्यन्त भव्य जिनमन्दिर बनवाया था जिसके लिए महामण्डलेश्वर एक्कलरसके समक्ष इन्होंने दान दिया था। राज्य सेठ पट्टणस्वामी, अन्य नागरिकों, तैलव्यापारियों और स्वयं महामण्डलेश्वरने भी इस मन्दिरके लिए दान दिये। १२०० ई० मे राज्यके एक अन्य सर्वाधिकारी कम्मट माचय्यने अपने श्वसुर बल्लय्यके साथ परवादिमल्ल जिनालयके लिए एक प्रदेशकी समस्त तैलमिलोंका कर प्रदान किया था। राजाके एक दूसरा सर्वाधिकारी 'महापायसम विरुद नामोत्तदिष्टायकम' आदि पदारूढ़ दण्डनायक अमृत भी नयकीर्त्तिका शिष्य था और बल्लालकी उपराजधानी लोक्कुंडीका निवासी था तथा जाति एवं कुलसे शूद्र था। अपने तीन भाइयोंके साथ १२०३ ई० में उस स्थानमे उसने येक्कोटि जिनालयका निर्माण किया था और समस्त नगर-निवासियों एवं कृषकोंके नायकोंके

समक्ष भगवान् शान्तिनाथकी पूजा और मुनियोंके आहारके लिए भूमिदान दिया था। सेनापति अमृत इतना उदारचेता था कि उसने ब्राह्मणोंके लिए एक अग्रहार भी स्थापित किया था एवं एक शिवालय भी बनवाया था। बल्लालके राज्याभिषेकके अवसरपर उसके एक अन्य पदाधिकारी माचिराजने ११७३ ई० में बोगवदिके श्रीकरण जिनालयके पार्श्वदेवके लिए गुरु अकलङ्क सिंहासन पद्मप्रभस्वामीको एक गाँव दान दिया था। बल्लाल द्वितीयने विद्वानोंका भी आदर किया और साहित्यको प्रोत्साहन दिया। उसके पूर्वजोंके प्रश्रयमें श्रीधरने जातकतिलक और चन्द्रप्रभ-चरित (१०४९ ई०) को, नागवर्म प्रथमने चन्द्रचूडामणि शतक (१०७०-ई०) को, नागचन्द्र अभिनवपम्प (११०५ ई०) ने मल्लिनाथ एवं रामचन्द्र चरित नामक चम्पुओंकी, ब्रह्मशिवने समयपरीक्षाकी, कीर्त्तिवर्मने गोवैद्य की, नागवर्म द्वितीयने काव्यालोकन, कर्णाटक भाषा भूषण और वस्तुकोष की रचना की थी। स्वयं बल्लाल द्वितीयके राजकवि नेमिचन्द्र थे जिन्होंने लीलावती नामक प्रेमगाथा लिखी थी, राजादित्य (११९०ई०) ने व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित और लीलावती नामक गणित ग्रन्थ रचे, महाकवि जन्न (१२०९ ई०) ने यशोधरचरित, जगदल्लसोमनाथने कन्नड कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रन्थ, बन्धुवर्म वैश्यने हरिवंशाभ्यु-दय और जीवसम्बोधन, शिशुमारनने अञ्जनाचरित और त्रिपुरदहन, आन्दय्यने मदनविजय, और जन्नके भाई मल्लिकार्जुनने मूक्तिसुधार्णव (१२३५ ई०) की रचना की थी। उपरोक्त विद्वान् प्रायः सब ही जैन थे और कन्नड साहित्यके पुरस्कर्त्ता थे। उसके समयके जिनमन्दिर होयसल कालीन शिल्प और मूर्त्तिकलाके श्रेष्ठ नमूने हैं। वीर बल्लालके समयमें होयसल-साम्राज्यकी विस्तार-वृद्धि भी हुई विशेषकर उत्तर-दिशामें। ११९२ ई० में देवगिरिके यादवोंपर विजय प्राप्त करके उसने होयसल वंशको तत्कालीन दक्षिणापथका सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यवंश बना दिया था।

वीर बल्लालकी मृत्युके उपरान्त इस वंशकी अवनति प्रारम्भ हो गयी। १२२० ई० में उसका पुत्र नरसिंह द्वितीय राजा हुआ, सम्भवतया थोड़े समय पश्चात् हो उसकी मृत्यु हो गई और बल्लाल द्वितीयका पौत्र सोमेश्वर राजा हुआ और उसकी भी १२४५ ई० में मृत्यु हो गयी। सोमेश्वरकी दो रानियाँ थीं। एकका नाम बिज्जलरानी था और दूसरीका देवलदेवी। प्रथमका पुत्र नरसिंह तृतीय था और दूसरीका रामनाथ। सोमेश्वरके जीवन-कालमें ही उत्तराधिकारके प्रश्नको लेकर कलह प्रारम्भ हो गयी थी जिसके कारण राज्यमें अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गयी थी। राज्यके पुराने स्वामिभक्त सेवकोंके कारण विशेष क्षति नहीं हुई। तथापि इस बीचके न कोई शिलालेख मिलते हैं न किसी प्रसिद्ध ग्रन्थकारके उल्लेख। साहित्य और निर्माण कार्यके साथ ही साथ महत्त्वपूर्ण युद्धों और विजयोंसे भी यह काल प्रायः शून्य ही था। सोमेश्वरकी मृत्युके उपरान्त १२४५ से १२५४ ई० तक उसके दोनों सौतेले पुत्रोंके पक्षसमर्थकोंके बीच झगड़ा चलता रहा प्रतीत होता है। अन्ततः पारस्परिक समझौतेसे प्राचीन कर्णाटक साम्राज्यका पैतृक भाग और राजधानी द्वारसमुद्र नरसिंह तृतीय (१२५४–१२९१ ई०) को प्राप्त हुए और तामिल देश एवं कोलर प्रान्त रामनाथ (१२५४–१२९७ ई०) को मिले। उसने कन्ननूर या विक्रमपुरको अपनी राजधानी बनाया। ये दोनों ही राजे जिनधर्मभक्त रहे प्रतीत होते हैं। १२५४ ई० में नरसिंह राजधानीके प्रसिद्ध विजय पार्श्व जिनालयमें दर्शनार्थ गया, देव-पूजन किया, मन्दिरके पूर्ववर्ती शासनों (फर्मानों) को देखा, उन्हें स्वीकृत किया और कुछ और भूमिदान दिया। १२५५ ई० में अपने उपनयन संस्कारके अवसरपर भी इस पंचदशवर्षीय राजाने भगवान् विजय पार्श्वकी पूजाके लिए दान दिये। उस राजाके गुरु बलात्कारगणके कुमुदेन्दु योगीके शिष्य और कुमुदचन्द्र पण्डितके गुरु माघनन्दि सिद्धान्त थे जो सारचतुष्टयके रचयिता और भारी विद्वान् थे। १२६५ ई० में राजाने

राजधानीके कलि होयसल जिनालयमें उपस्थित होकर अपने महाप्रधान सोमेय दण्डनायककी सहायतासे त्रिकूट रत्नत्रय शान्तिनाथ जिनालयके संरक्षणके लिए स्वगुरुको १५ ग्राम दान दिये थे। इसी उपलक्ष्यमें वह जिनालय नरसिंह-जिनालयके नामसे भी प्रसिद्ध हुआ। १२५७ ई० में राजधानीके जैन नागरिकोंने भी द्रव्य एकत्रित करके शान्तिनाथका एक नवीन मन्दिर बनवाया था और राजाने उसके लिए दान दिया था। १२७१ ई० में नरसिंहके उसी सोमय्य दण्डनायकने राजधानीके निकट एक प्राचीन बसदिका पुनरुद्धार किया। १२८२ ई० के एक शिलालेखमें उपरोक्त मण्डलाचार्य माघनन्दिको स्पष्टतया होयसल-नरेशका राजगुरु कहा है। उस वर्ष भी राजाने गुरुको दान दिया था। १२८३ ई० में नरसिंहके माधव नामक एक अन्य दण्डनायकने कोप्पण तीर्थकी चतुर्विंशति तीर्थङ्कर बसदिमें एक नवीन जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठित की और अपने गुरु उन्हीं माघनन्दिको दान दिया। इसी राजाके प्रश्रयमें मल्लिकार्जुनके पुत्र केशिराज (१२६० ई०) ने शब्दमणिदर्पण नामका प्रामाणिक कन्नड व्याकरण लिखा और कुमुदेन्दु (१२७५ ई०) ने कन्नड जैन रामायणकी रचना की। नरसिंह तृतीयका प्रतिद्वन्द्वी रामनाथ होयसल भी जिनभक्त था। उसने कोगलिमें चेन्न पार्श्व रामनाथ बसदिका १२७६ ई० में निर्माण कराया था जिसके लिए उसके राजसेठ नलप्रभुदेवि सेट्टीने भूमिदान दिया था। दो तिथिरहित शिलालेख उक्त जिनालयके लिए स्वयं राजा रामनाथ-द्वारा स्वर्ण-दान दिये जानेका उल्लेख करते हैं। कोगलिके जैनगुरु उभयाचार्यका भी उसने सम्मान किया था, और कोल्हापुरके सामन्त जिनालयको भी इसी कालमें दान दिया गया। किन्तु इस कालमें राज्यका विभाजन हो जाने, और उत्तरकी ओर मुसलमानोंके आक्रमण और उनके द्वारा देवगिरिके यादवोंकी स्वतन्त्रता नाश होनेके कारण होयसल-राज्यकी दशा भी शोचनीय थी। नरसिंह तृतीयका पुत्र और उत्तराधिकारी वीर बल्लाल तृतीय (१२९१–१३३३ ई०) इस

वंशका अन्तिम उल्लेखनीय राजा था। वह स्वयं जैनधर्मके प्रति उदासीन रहा प्रतीत होता है। उसका महाप्रधान सर्वाधिकारी केतेय दण्डनायक अवश्य ही जैन था। १३३२ ई० में इस मन्त्रीने एडेनाडकी कोल्गण बसदि नामक जिनालयके लिए दो ग्रामोंका राज्यकर प्रदान किया था। १३०० ई० में राजधानी द्वारसमुद्रमें महामुनि रामचन्द्र मलधारीदेवने समाधिमरण किया था। इस अवसरपर जनताने बड़ा उत्सव किया और मुनिकी मूत्तियाँ बनवाकर स्थापित की थीं। इसी वर्ष जैन विद्वान् रट्टकवि ने प्रकृति विज्ञानपर रट्टसूत्र या रट्टमाला ग्रन्थ लिखा था। किन्तु इस कालमें होयसल-राज्यकी शक्ति शिथिल होती जा रही थी। १३१० ई० में अलाउद्दीन खिलजीके सेनापति मलिक काफ़ूर और ख्वाजा हाजीने होयसल-राज्यपर भीषण आक्रमण किया और राजधानी द्वारसमुद्रको लूटा एवं नष्ट-भ्रष्ट किया। राजाने अधीनता स्वीकार कर ली, और कर देने लगा किन्तु थोड़े समय पश्चात् बन्द कर दिया। १३२६–२७ ई० में मुहम्मद तुग़लकने फिर भयंकर आक्रमण किया और होयसल-राज्यका प्रायः अन्त ही कर दिया। इसके उपरान्त होयसल राजे छोटे-मोटे स्थानीय राजाओंके रूपमें कुछ और समय तक चलते रहे।

अध्याय १०

विजयनगर-साम्राज्य

विधर्मी विदेशी मुसलमानोंने भयङ्कर आक्रमणों और निर्दयतापूर्ण अत्याचारों-द्वारा समस्त उत्तरापथपर अधिकार कर लेनेके उपरान्त गुजरात के बघेले, देवगिरिके यादवों, वारंगलके ककातीयों और अन्तमें द्वारसमुद्रके होयसलोंको राज्य-शक्तिका भी अन्त कर दिया था किन्तु वे दक्षिणापथ, विशेषकर कर्णाटकके निवासियोंकी देशभक्ति और स्वातन्त्र्य-प्रेमका अन्त नहीं कर सके जो होयसल-राज्यकी समाप्तिके एक दशकके भीतर ही कर्णाटकके विजयनगर राज्यके रूपमें नवीन बल और उत्साहके साथ प्रस्फुटित हो उठा। मध्यकालका विजयनगर-साम्राज्य भारतीय राजनीति की अत्युत्कृष्ट एवं अनुपम सृष्टि थी। कर्णाटकके प्राचीन-सातवाहन, नाग, गंग, कदम्ब, पश्चिमी चालुक्य, राष्ट्रकूट, उत्तरवर्ती चालुक्य और होयसल नामक राज्यवंशोंकी अविच्छिन्न सीधी परम्परामें उत्पन्न विजयनगरके राज्यवंशने अपने-आपको उस परम्पराका सुयोग्य उत्तराधिकारी सिद्ध किया। राजनीति, शासन-व्यवस्था, जीवन और व्यवहारमें उन्हींकी नीतिको सुविकसित रूपमें अपनाया, राज्यमें प्रचलित विभिन्न धर्मोंके प्रति वैसी ही समदर्शिता, सहिष्णुता एवं सदाशयताका परिचय दिया और संस्कृतिके साहित्य, कला, लोकजीवन आदि विभिन्न अंगोंका बिना भेद-भावके उदारता एवं उत्साहपूर्वक पोषण एवं विकास किया। जिन विषम परिस्थितियोंके बीच विजयनगर-साम्राज्यकी स्थापना, निर्माण और विकास हुआ उनपर ध्यान देनेसे उसके नरेशोंके कार्य और सफलताका महत्त्व और अधिक हो उठता है। उनके प्रतिद्वन्द्वी उनके स्वदेशवासी, सजातीय, साधर्मी पड़ोसी राजे-महाराजे नहीं थे वरन् वे विदेशी विधर्मी क्रूर आक्रान्ता

थे जो न केवल तत्कालीन भारतकी स्वतन्त्रता और धनका अपहरण करनेवाले राजनैतिक शत्रु थे बल्कि भारतीयोंके धर्म, संस्कृति, आचार-विचार और जीवनके भी भयानक शत्रु बने हुए थे।

इस भारत-गौरव साम्राज्यके मूल संस्थापक संगम नामक एक छोटे से सरदारके पाँच वीर पुत्र थे। १३८५ ई० के एक जैन शिलालेखमें इन्हें यादवराजवंशोद्भूत कहा है अतः देवगिरिके सुएन और द्वारसमुद्रके होयसलोंकी भाँति संगमके पुत्र भी यदुवंशी क्षत्रिय थे। संगम और उसके पुत्र सम्भवतया होयसलोंके अत्यन्त साधारण श्रेणीके छोटे-से सामन्त थे, किन्तु साथ ही वे स्वदेश-भक्त, स्वतन्त्रता-प्रेमी, वीर साहसी और महत्त्वाकांक्षी भी थे। मुसलमानोंके आक्रमण न होते तो स्यात् ये गुण सुषुप्त ही रह जाते या वे कोई होयसल आदि जैसा राज्य स्थापित भी कर लेते। किन्तु देखते-देखते ही एक दशकके भीतर दक्षिण भारतकी तीनों महान् राज्य-शक्तियोंका अन्त हो गया। इन वीरोंका रक्त उबल उठा, ये सचेष्ट हो गये और पाँचों भाई मुसलमानोंके आक्रमणकी भीषण बाढ़को स्तम्भित करनेके लिए जुट पड़े। इसमें सन्देह नहीं कि उनका यह उपक्रम विशेष रूपसे द्वारसमुद्र और सम्भवतया वारंगलके भी मुसलमानों-द्वारा पतन किये जानेकी प्रतिक्रिया था। इन पाँचों भाइयोंने दक्षिण देशके विभिन्न सामन्त सरदारोंका जो उत्तर दिशासे आनेवाले इस सर्वसंहारक बवण्डरसे क्षुब्ध थे, अपने नेतृत्वमें सगठन किया और देशसे मुसलमानोंको निकाल बाहर करनेमें जुट गये। इस प्रयत्नमें यह मुसलमानोंके हाथों बन्दी हुए, मुसलमान भी बना लिये गये, किन्तु छूट निकले, और फिर स्वधर्मम दीक्षित होकर दुगुने उत्साहसे कार्य-सिद्धिमें जुट गये। किन्तु कार्य सरल न था, दिल्लीके सुलतान शक्तिशाली थे और स्थान-स्थानमें उनके मुसलमान सूबेदार अर्धस्वतन्त्र शासकोंके रूपमें निरंकुश शासन करने लगे थे। एक केन्द्रित राज्य-शक्तिका निर्माण करना प्रथम आवश्यकता थी। अतः थोड़ा-सा संगठन और शक्ति-संचय कर लेनेके उपरान्त

१३३६ ई० में तुंगभद्रा नदीके उत्तरी तटपर प्राचीन दुर्ग आनेगुंडीके सामने हम्पी स्थानको इन भाइयोंने अपना केन्द्र बनाया और विजयनगरकी नींव डाली। १३४३ ई० के लगभग यह विशाल सुदृढ़ एवं सुन्दर नगरी (विजयनगर, विद्यानगर या विद्यानगरी) बनकर तैयार हुई और १३४६ ई० में स्वतन्त्र विजयनगर राज्यकी वहाँ स्थापना हुई। इस बीचमें तीन भाइयोंकी राज्य-स्थापनाके लिए किये गये संघर्षोंमें मृत्यु हो चुकी प्रतीत होती है, शेष दो हरिहर और बुक्काराय जीवित थे, अतः राज्यकी वास्तविक स्थापनाके समय ज्येष्ठ भ्राता हरिहरराय प्रथम (१३४६–१३६५ ई०) विजयनगर राज्यका प्रथम अभिषिक्त नरेश हुआ। विजयनगरकी स्थापनासे प्रेरित होकर अगले ही वर्ष (१३४७ ई०) में दिल्लीके सुलतानके हसन नामक एक तुर्की सरदारने जो प्रारम्भमें गंग नामके किसी ब्राह्मणका सेवक रहा बताया जाता है, दक्षिण देशके उत्तरी भागमें दौलताबाद (देवगिरि) पर अधिकार करके और कुल्बर्गाको राजधानी बनाकर बहमनी राज्यकी नींव डाली। इस प्रकार प्रारम्भसे ही विजयनगरका प्रतिद्वन्द्वी और निकट शत्रु यह मुसलमानी राज्य हुआ और आगामी दो शताब्दियों तक इनमें परस्पर चलनेवाला युद्ध संघर्ष ही तत्कालीन दक्षिण भारतका राजनैतिक इतिहास है। हरिहर प्रथमका प्रतिद्वन्द्वी मुहम्मद प्रथम था, दोनोंके बीच अनेक युद्ध हुए जिनमें मुसलमानोंकी नृशंसताके कारण लाखों व्यक्तियोंका संहार हुआ। महाराज हरिहरका प्रधानमन्त्री एवं दण्डाधिनायक (प्रधान सेनापति) जैन वीर बैच या बैचय्य था जो प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन तीनों शक्तियोंसे युक्त था और रणक्षेत्रमें राजा हरिहरका तीसरा हाथ था। हरिहर और उसके वंशजोंका राज्यधर्म सामान्यतः हिन्दूधर्म था। प्रजामें अधिकांश भाग जैन, उनके पश्चात् श्रीवैष्णव और फिर लिंगायत या वीर शैव और कुछ सद्शैव थे। किन्तु विजयनगर-नरेश प्रारम्भसे ही सिद्धान्ततः सभी धर्मोंके प्रति सहिष्णु, समदर्शी और उदार थे। स्वयं राजधानी विजयनगर

(हम्पी या प्राचीन पम्पा) के वर्तमान खण्डहरोंमें वहाँके जैनमन्दिर ही सर्वप्राचीन हैं, वे नगरके सर्व-श्रेष्ठ केन्द्रीय स्थानमे स्थित हैं और अनेक विज्ञ विद्वानोंके मतसे उनमें-से अनेक ऐसे हैं जो वहाँ विजयनगरकी स्थापनाके पूर्व ही विद्यमान थे। इससे स्पष्ट है कि यह स्थान बहुत पहलेसे ही एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र था। हरिहरके शासनकालमें ही १३५५ ई० में भोगराज नामक एक प्रतिष्ठित राजपुरुषने रायदुर्गमें अनन्त जिनालयकी स्थापना करके अपने गुरु नन्दिसंघ बलात्कारगण सरस्वती-गच्छके अमरकीर्तिके शिष्य माघनन्दि सिद्धान्तको समर्पित किया था। इस राजाके अन्तिम वर्ष १३६५ ई० मे कम्पाके जैन-गुरु मल्लिनाथको दान दिया गया था। हरिहरका पुत्र राजकुमार विरूपाक्ष ओडेयर १३६३ ई० में मालेराज प्रान्तका शासक था। उस समय उसकी राजधानी अरगमें पार्श्वनाथ वसदि नामक एक प्राचीन जिन-मन्दिरसे सम्बन्धित भूमिकी सीमाके प्रश्नपर जैनों और वैष्णवोंमें विवाद हुआ। राज्यकी ओरसे प्रान्तीय सभाभवनमें महाप्रधान नागन्न तथा प्रान्तके प्रमुख सामन्त सरदारों, जननेताओं और जैन एवं वैष्णव मुखियाओंके समक्ष राजकुमारने सर्व-सम्मतिसे जैनोंके पक्षमें निर्णय दिया, प्राचीन शासनोंमें जो सीमाएँ निर्धारित थीं वे ही स्थिर रखी गयीं और एक शिलालेखमें अंकित करवा दी गयीं। इस कालके प्रमुख जैन विद्वान् महान् वादी सिंहकीर्त्ति, धर्म-नाथ पुराणके कर्त्ता उभयभाषाचक्रवर्ती बाहुबलि पण्डित, गोमट्टसार वृत्तिके कर्त्ता केशववर्णी और धर्मभूषण भट्टारक थे। सुप्रसिद्ध ग्रन्थ खगेन्द्रमणिदर्पणके प्रेणता मंगरस प्रथम भी इसीके राज्यकालमे हुए हैं।

हरिहर प्रथमके बाद उसका छोटा भाई बुक्काराय प्रथम (१३६५–१३७७ ई०) राजा हुआ। इसके समयमें भी बहमनी सुल्तान मुहम्मद और उसके उत्तराधिकारी मुजाहिदके साथ युद्ध हुए। बुक्कारायका महाप्रधान और महासेनापति बैचप्प दण्डाधिनायक ही था, दण्डेश, क्षितीश और धरणीश इसकी उपाधियाँ थीं। पूर्वी और पश्चिमी घाटोंके मध्यवर्ती सम्पूर्ण प्रदेश

पर बुक्कारायका एकाधिपत्य था। १३७४ ई० में इस राजाने चीनके मिगवंशी सम्राट् ताइत्सूके दरबारमें अपना राजदूत भेजा था। इस राजा का सारा जीवन बहमनियोंके साथ भीषण युद्ध करते बीता। इन युद्धोंमें जैन वीर दण्डाधिनायक बैच और उसके तीन पुत्र दण्डेश इरुग, दण्डनायक मंग और दण्डनायक बुक्कन थे। बैच अपने साहस, वीरता, उदारता, विद्वत्ता और सर्वानुमोदित नीतिके लिए प्रसिद्ध था। उसके पुत्र इरुगने १३६७ ई० में एक जिनमन्दिर बनवाकर दान दिया था। १३६८ ई० में महाराज बुक्कारायके सम्मुख एक जटिल अन्तःसाम्प्रदायिक समस्या उपस्थित हुई। राज्यके समस्त नाडुओं (जिलों) के भव्यों (जैनों) ने उनके प्रतिभक्तों (श्रीवैष्णवों)-द्वारा किये गये अन्यायोंका प्रतिकार करानेके लिए राजाकी सेवामें एक आवेदन-पत्र भेजा। राजाने अठारहों नाडुओंके भक्तों, उनके आचार्यों, गुरुओं, पुरोहितों, मुखियाओंको तथा अपने प्रमुख सामन्तोंको एकत्र करके जैनियोंका हाथ वैष्णवोंके हाथमें दिया और घोषणा की कि हमारे राज्यमें जैनदर्शन और वैष्णवदर्शनके बीच किसी प्रकारका भेद नहीं है। जैनदर्शन पूर्ववत् पंचमहाशब्द और कलशका अधिकारी है। अपने-द्वारा जैनदर्शनकी हानि या वृद्धि करना वैष्णवजन अपने ही धर्मकी हानि या वृद्धि समझें। जैन और वैष्णव एक है उनके बीच कोई अन्तर करना ही नहीं चाहिए। श्रवणबेलगोल तीर्थ की रक्षार्थ वैष्णवजन अपनी ओरसे २० वैष्णव-रक्षक नियुक्त करेंगे। राज्यके जैनी एक हण प्रति घरके हिसाबसे इस कार्यके लिए प्रदान करेंगे। रक्षकोंके वेतनसे अतिरिक्त द्रव्यका उपयोग जिनमन्दिरोंकी लिपाई-पुताई-मरम्मत आदिमें किया जायगा। तातय्य नामक एक मुखियाको इस द्रव्यके एकत्रित करने और व्यय करनेका भार सौंपा और राजाने आज्ञा प्रचारित की कि जो कोई व्यक्ति उपरोक्त शासनकी अवज्ञा करेगा वह राजद्रोही, संघद्रोही और समुदायद्रोही समझा जायगा। जैन और वैष्णव दोनों सम्प्रदायोंने मिलकर जैनसेठ बुसुविसेट्टीको अपना

सामूहिक संघनायक बनाया और उपरोक्त राजाज्ञाको राज्यकी समस्त बसदियोंमें अंकित करा दिया।' बुक्कारायका यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक निर्णय उसके वंशजोंकी धार्मिक नीतिका आधार बना। दोनों ही धर्मोंके अनुयायियोंको धर्म-स्वातन्त्र्य और राज्यसंरक्षण समान रूपमे प्राप्त हुआ, साथ ही उनमें परस्पर सद्भाव उत्पन्न किया गया।

बुक्कराय प्रथमका पुत्र और उत्तराधिकारी हरिहर द्वितीय (१३७७–१४०४ ई०) एक प्रतापी सम्राट् था। उसका प्रतिद्वन्द्वी बहमनी सुलतान भी शान्तिप्रिय था अतः मुसलमानोंकी ओरसे उसे निश्चिन्तता रही और उसने इससे लाभ उठाकर सुदूर दक्षिणके सम्पूर्ण तामिल देशपर, त्रिचनापल्ली और काञ्चीपर भी अधिकार कर लिया। शासन-व्यवस्था और अधिक सुचारु करके अपने साम्राज्यका संगठन किया और विविध उपाधियोंसे विभूषित सम्राट् पद धारण किया। इसके प्रमुख मन्त्रियों और सेनापतियोंमें उसके पूर्वजोंके महाप्रधान बैचका पुत्र दण्डेश इरुग जो क्षितीश और धरणीश भी कहलाता था, और उसका भाई मंगप्प एवं बुक्कन थे। दण्डेश इरुगने जो भारी धनुर्धर भी था, १३८५ ई० में विजयनगरमें कुन्थुनाथ जिनेन्द्रका सुन्दर पाषाण-निर्मित मन्दिर बनवाया था। मन्दिरके सम्मुख दीपस्तम्भपर इस अभिप्रायका लेख उत्कीर्ण है। कालान्तरमें यह मन्दिर गाणिगित्ति बसदि (तेलिनका मन्दिर) नामसे प्रसिद्ध हुआ, सम्भव है पीछे किसी समय किसी तेलिनने इसका जीर्णोद्धार कराया हो। इरुगके गुरु आचार्य सिंहनन्दि थे। १३६७ ई० मे भी इरुग ने एक मन्दिर चेंलुमल्लूरमें बनवाया था। उसका बड़ा भाई मंगप्प भी जैनागमका परम भक्त और जिन-धर्मका स्तम्भ कहलाता था। इरुगका नामधारी और भतीजा तथा मंगप्पका पुत्र दण्डाधिनायकेश इरुगप्प अपने पूर्वजोंसे भी आगे बढ़ गया। हरिहर द्वितीयके समयमें ही वह राज-सेवामें नियुक्त हो गया था। १३८२ ई० में जब वह राज्यके दक्षिणी प्रान्तके शासक राजकुमार बुक्काराय द्वितीयका दण्डनायक था, उसने चिंगलपुत

जिलेमें त्रैलोक्यनाथ बसदि बनवायी थी। १३८७ ई० में उसने अपने गुरु पुष्पसेन मुनिके उपदेशसे उक्त बसदिके सम्मुख एक सुन्दर मण्डप बनवाया। वह एक कुशल अभियन्ता (इंजीनियर) भी था, १३९४ ई० में उसने एक विशाल सरोवरका उत्कृष्ट बाँध बनाया था। संस्कृतका भी वह भारी विद्वान् था और उसने 'नानार्थरत्नाकर' नामक कोष ग्रन्थकी रचना की थी। १४०३ ई० मे वह महाराज हरिहर द्वितोयका महाप्रधान सर्वाधिकारी था। उसकी माताका नाम जानकी था जो बड़ी धर्मात्मा थी। उसका भाई बैचप भी राज्यका दण्डनायक था, साथ ही भव्याग्रणी और धर्ममार्गको पवित्र करनेवाला कहा जाता था। १४०० ई० में इरुगप्पका सहयोगी ब्राह्मण मन्त्री कूचिराज भी परम जैन था, वह चन्द्रकीर्त्तिदेवका शिष्य था, कोप्पण तीर्थके लिए उसने दान दिया था। राज्यके अनेक जैन-तीर्थोमें श्रवणबेलगोल उस समय भी सर्वप्रधान था, अनगिनत यात्री इस तीर्थकी यात्राको आते थे। १३९८ ई० मे उस प्रान्तके शासक राज्यके जैन-सामन्त थे जो वहाँके अध्यक्ष चारुकीर्त्ति पण्डितदेवके शिष्य थे। १४०० ई० में इस तीर्थपर एक भारी उत्सव, सम्भवतया गोम्मटेश्वरका महामस्तकाभिषेक हुआ था जिसमें दूर-दूरसे असंख्य यात्री सम्मिलित हुए थे। १४०४ ई० में राजा हरिहरकी मृत्यु-घटना भी यहीं एक शिलालेखमें उत्कीर्ण हुई। इस राजाने मूडबिद्री आदि स्थानोंकी अनेक जैन-बसदियोंको स्वयं भूमि-दान दिये थे। इसके राज्य-कालमें अभिनव श्रुतमुनिने मल्लिषेणकृत सज्जनचित्तवल्लभकी कन्नड टीका लिखी, मधुरने धर्मनाथपुराण और गोम्मटाष्टक लिखे, ये जैनकवि मधुर हरिहर द्वितोयके राजकवि भी थे और भूनाथस्थानचूडामणि कहलाते थे। कन्नड रत्नकरण्डके कर्त्ता आयतवर्मा और परमागमसारके कर्त्ता चन्द्रकीर्त्ति भी इसी कालमें हुए।

हरिहर द्वितीयके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र बुक्काराय द्वितीय (१४०४–६ ई०) और तदनन्तर द्वितीय पुत्र देवराय प्रथम (१४०६–

१० ई०) और फिर देवरायका पुत्र विजय या वीरविजय (१४१०–१९ ई०) राजा हुए। इन राजाओंके समयमें बहमनी सुलतानोंके साथ बराबर युद्ध चलते रहे। १४०६ ई० में तो बहमनी फ़िरोज़ने विजयनगरपर ही आक्रमण किया, चार मासतक वह राजधानीका घेरा डाले पड़ा रहा, एक बार नगरमें भी घुस आया किन्तु निकाल बाहर किया गया। अन्ततः सन्धि हो गयी और वह वापस लौट गया। कहा जाता है कि देवराय प्रथमने अपनी कन्याका विवाह उसके साथ करनेका वचन दे दिया था, किन्तु मुसलमान बादशाहका देवरायने सम्मान नहीं किया, इसीसे शत्रुताका अन्त न हुआ। कुछ इतिहासकारोंने इस कालमें विजयनगर राज्यमें दक्षिणभुजा और बामभुजा नामक दो जातियोंका उल्लेख किया है और उन्हें राज्यके दो प्रधान वर्ग बताये हैं। वस्तुतः ये जातियाँ या वर्ग भव्य और भक्त शब्दोंसे सूचित जैन और वैष्णव ही थे जिन्हें विजयनगरके राजागण अपनी दक्षिण और वाम भुजाएँ समझते और मानते थे। राज्यकी अधिकांश जनता एवं सम्भ्रान्त जन इन्हीं दो समकक्ष और प्रायः समसंख्यक वर्गोंमें बँटे हुए थे। हरिहर और बुक्काकी आदर्श नीतिका प्रभाव उनके वंशजोंपर भी हुआ, फलस्वरूप इस वंशके राजे, रानियाँ, राजकुमार और अन्य व्यक्ति, तथा सामन्त सरदार राजकर्मचारी और प्रजाजन सभीने जिनधर्मको उन्मुक्त प्रश्रय दिया। राजा लोग व्यक्तिगत रूपसे अधिकतर शिवविरूपाक्षके उपासक थे किन्तु राज्यधर्म जैन और वैष्णव दोनों ही धर्म थे। और साथ ही विभिन्न धर्मोंमें परस्पर सद्भाव और सहयोग था। १३९७ ई० के एक शिलालेखमें सेनापति इरुगपके साथी गुण्ड दण्डनाथने लिखाया था कि 'जिसकी उपासना शैव लोग शिवके रूपमें, वेदान्ती ब्रह्माके, बौद्ध बुद्धके, नैयायिक कर्त्ताके, जिन शासनके अनुयायी अर्हत्के, और मीमांसक कर्मके रूपमें करते हैं वे केशवदेव तुम्हारी मनोकामना पूरी करें।' १४०० ई० में वीर शैव मतके प्रसिद्ध विद्वान् एकान्त बासवेश्वरने भी विवक्षित दानकी अवज्ञा करनेवालोंको

शैवधर्मके साथ-साथ जैनधर्म द्रोहका पातकी बताया था। १५ वीं शतीके भी अनेक अभिलेखोंमें विभिन्न धर्मोंके अनुयायियों-द्वारा जिनेन्द्र, शिव, विष्णुकी एक साथ स्तुति इस कालमें सर्वधर्म-समभावकी परिचायक है। राजा लोग 'सकल वर्णाश्रमधर्म संरक्षक' अथवा 'सर्वधर्मसंरक्षक' कहलानेमें गौरव मानते थे। स्वयं महाराज देवराय प्रथमकी महारानी भीमादेवी जैनधर्मकी परम भक्त थी। श्रवणबेलगोलके मठाधीश पण्डिताचार्य उसके गुरु थे। १४१० ई० मे इस महारानीने इस तीर्थकी मंगायि बसदि (निर्माणकाल १३२५ ई०) में शान्तिनाथकी प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी और दान दिया था। स्वयं राजाधिराज परमेश्वर देवराय प्रथम जैनाचार्य वर्धमान मुनिके पट्टशिष्य और महान् व्याख्याता धर्मभूषण गुरुके चरण पूजता था। कई तत्कालीन शिलालेखोंमे इस नरेश-द्वारा जैनधर्मके प्रति उदार रहने और जैनगुरुओंका आदर करनेके उल्लेख हैं। १४०७, १४०६, १४१०, १४१७ आदि वर्षोंके अनेक शिलालेख श्रवणबेलगोल तीर्थपर अनेक राजपुरुषों एवं राज्यमान्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों-द्वारा किये गये धार्मिक कृत्यो एवं निर्माण कार्योंका उल्लेख करते हैं।

वीर विजयके पुत्र और उत्तराधिकारी देवराय द्वितीय (१४१९-१४४६ ई०) ने भी अपने पूर्वजोंकी उदार नीतिका अनुसरण किया। १४२४ ई० में उसने तुलुव देशका वरांग ग्राम वहाँकी वरांग नेमिनाथ बसदिको दान दिया। १४२६ ई० में इसी नरेशने स्वयं राजधानी विजयनगरकी 'पर्ण्णपूगीफल-आपणवीथी' (पान सुपारी बाज़ार) में अर्हत् पार्श्वनाथका एक पाषाणनिर्मित सुन्दर चैत्यालय बनवाया था। इस राजाका उल्लेख अभिनव देवराज, वीर देवराय, श्रीप्रताप देवराय आदि नामोंसे भी हुआ है। इस राजाने हट्टगण्डिकी चन्द्रनाथ, मूडबिद्रीकी त्रिभुवनतिलक आदि कई अन्य जैन बसदियोंको भी भूमिदान दिये थे। १४३१-३२ ई० में देवरायके एक उपराजे कार्कल नरेश भैरवरायके पुत्र एवं उत्तराधिकारी वीर पाण्डयने कार्कलमें जो लोकविश्रुत बाहुबलिक

उत्तुङ्ग मूर्ति प्रतिष्ठित करायी थी उसके समारोहमें महाराज देवराय स्वयं सम्मिलित हुए थे। जैनाचार्य नेमिचन्द्रने राजसभामें अन्य विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करके इस राजासे विजय-पत्र प्राप्त किया। इस राजाके जैन होने में प्रायः कोई सन्देह नहीं है, अपने राज्यके प्रथम वर्ष (१४२० ई०) में ही इसने बेलगोलके गोमट्ट स्वामीकी पूजाके लिए एक गाँव दिया था और अपने जैन महाप्रधान बैचप दण्डनायकको जो सेनापति इरुगपका बड़ा भाई था उसका उत्तरदायित्व सौंपा था। ये दोनों भाई राजा हरिहर द्वितीयके समयसे ही राज्यके महत्त्वपूर्ण स्तम्भ रहते आये थे। १४२२ ई० में महासेनापति इरुगपने भी बेलगोलके गोम्मटेशकी पूजाके लिए गुरु श्रुतमुनिके उपदेशसे एक गाँव प्रदान किया था। १४४२ ई० में इरुगप गोआ प्रान्तका शासक बना दिया गया था। इस प्रकार इस वीर, विद्वान्, विविध विषय पटु कुशल प्रशासक एवं प्रसिद्ध सेनानीने लगभग ६० वर्ष पर्यन्त राज्यकी सेवा की। राज्यका एक अन्य तत्कालीन सेवक महाप्रधान गोप चमूप या गोप महाप्रभु भी परम जैन था। १४०८ ई० के पूर्वसे ही वह राज्यका एक उच्च पदाधिकारी था। उसके पूर्वज भी राज्यमें उच्च पदोंपर रहे थे। गोपने स्वगुरुके उपदेशसे कई मन्दिर बनवाये, दान दिये और अन्त समयमें घर-बार छोड़ त्यागी बनकर धर्मसाधन किया था। उसके अभिलेखोंमें उसका उत्कट देश-प्रेम भी स्पष्ट झलकता है। मसन हल्लिका कम्पन गौड एक अन्य तत्कालीन उल्लेखनीय जैन सामन्त था। १४२४ ई० में उसने स्वगुरु पण्डितदेवको गोम्मट पूजाके लिए दान दिया था। इस राज्यकालके अन्य अनेक अभिलेख उस कालमें जैनधर्मकी प्रभावना, राज्याश्रय एवं प्रतिष्ठित पुरुष-स्त्रियों तथा जनताकी जिनभक्ति और जैनगुरुओंके लोकोपकारी कार्योंके उल्लेखोंसे भरे पड़े हैं। जैन विद्वानोंमें जीवन्धरचरितके कर्त्ता भास्कर (१४२४ ई०), ज्ञानचन्द्राभ्युदय, कामनकथे, अनुप्रेक्षे, जिनस्तुति और तत्त्वभेदाष्टकके कर्त्ता कल्याणकीर्त्ति (१४३९ ई०), श्रेणिकचरित्रके कर्त्ता जिनदेव (१४४४ ई०), द्वादशानु-

प्रेक्षाके कर्त्ता विजय, महान्वादी विशालकीर्त्ति आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त मध्यकालीन ग्रन्थकारोंमें लोक-प्रसिद्ध मल्लिनाथ सूरि कोलाचल जो महाकवि कालिदास आदि प्राचीन संस्कृत-कवियोंके सर्व-प्रसिद्ध टीकाकार हैं इन्हीं सम्राट् वीर प्रताप प्रौढ़ देवरायके आश्रित थे। राजाके आदेशसे उन्होंने वैश्य-वंशसुधार्णव नामक एक महान् सन्दर्भ ग्रन्थ निर्माण किया था। मल्लिनाथ शुद्ध अधार्मिक या असाम्प्रदायिक लौकिक साहित्यके सर्वमहान् जैन प्रणेता थे, मल्लिनाथके पुत्र द्वारा भी मेघदूत आदि काव्योंकी कुछ टीकाएँ लिखे जानेका पता चला है। १४४६ ई० में देवराय द्वितीयकी मृत्युका उल्लेख भी उसी वर्षके श्रवणबेलगोलके दो शिलालेखोंमें मिलता है।

देवराय द्वितीयका प्रतिद्वन्द्वी फ़िरोज़ बहमनी महाभयंकर एवं नृशंस हत्यारा था। जिस दिन अरक्षित असहाय जनताके २०००० स्त्री-पुरुष और बालकोंका वह वध कर लेता तीन दिन तक उत्सव मनाता। १४२५ ई० में वारंगलके हिन्दू राज्यका पूर्ण अन्त उसीने किया। उसने विजयनगरपर भी कई बार आक्रमण किये। उसके उत्तराधिकारी अलाउद्दीनके साथ भी देवरायके युद्ध चले। राजाने अनुभव किया कि मुसलमानोंका अश्वारोही दल और धनुर्धर दल अधिक निपुण है। अतः उसने अपनी सेनाकी इन त्रुटियोंकी पूर्त्ति करनेका प्रयत्न किया, मुसलमानोंको भी सेनामें भर्ती किया और उन्हें प्रसन्न रखनेके लिए कुरानकी एक प्रति अपने सिंहासनके निकट रखवायी। राज्यके धन-जनकी क्षतिको रोकनेके लिए राजाने कुछ समयके लिए बहमनियोंको कर भी देना स्वीकार किया। फिर भी वह अपने समयका भारतका एक अत्यधिक शक्तिशाली और सबसे अधिक वैभवशाली नरेश था। कृष्णासे कन्याकुमारी पर्यन्त उसके राज्यका विस्तार था। इटलीवासी पर्यटक निकोलो कोण्टी और ईरानी राजदूत अब्दुर्रज़ाक इसीके शासन-कालमें विजयनगर आये और उन्होंने राज्य एवं राजधानीके प्रताप, सौन्दर्य एवं वैभवकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

देवरायके उपरान्त संगमवंशकी अवनति होने लगी। उसके पुत्र एवं

उत्तराधिकारी मल्लिकार्जुन इम्मडिदेवराय (१४४७–६७ ई०) के समयमें १४५५ ई० से सालुव नरसिंह राज्यका प्रधानमन्त्री हो गया। इम्मडिदेवरायके उपरान्त विरूपाक्षराय (१४६७–७८ ई०) और फिर पदियाराय (१४७९–८६ ई०) राजा हुए। ये शासक निर्बल थे और वे बाहरसे बहमनियोंके आक्रमणों तथा भीतर गृहकलह एवं षड्यन्त्रोंसे ग्रस्त रहे। अतएव १४८६ ई० में मन्त्री नरसिंह सालुवने जो अत्यन्त शक्तिशाली हो गया था और उस समय चन्द्रगिरिका प्रायः स्वतन्त्र शासक भी था, अन्तिम नरेश पदियारायको गद्दीसे उतार दिया और स्वयं विजयनगरका राजा बन बैठा। नरसिंह सालुव (१४८६–९२ ई०) ने थोड़ेसे समयमें ही दक्षिणके सम्पूर्ण तामिल देशको फिर विजय करके राज्यकी प्रतिष्ठाकर उद्धार किया और अपने सुशासनसे साम्राज्यकी जनताके हृदयपर ऐसी छाप बैठा दी कि युरोपवासियोंने बहुधा विजयनगर राज्यका 'नरसिंहका राज्य' कहकर उल्लेख किया। मुसलमानोंके साथ भी उसके निरन्तर युद्ध चलते रहे। इस कालमें बहमनी राज्यका मन्त्री महमूदगवाँ अत्यन्त योग्य था किन्तु १४८२ ई० में षड्यन्त्र-द्वारा उसका बध हुआ और उसके मरनेके थोड़े वर्ष बाद ही बहमनी राज्य पाँच टुकड़ोंमें विभक्त हो गया। इनमें-से बीजापुरके सुलतान ही विजयनगर राज्यके निकट पड़ोसी और आगेसे उसके प्रधान शत्रु हुए। शत्रु राज्यकी इस क्रान्तिके कारण नरसिंहको अपनी स्थिति सुदृढ़ करने और शक्ति बढ़ानेका अच्छा अवसर मिल गया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी इम्मडि नरसिंह (१४९२–१५०५ ई०) ने भी प्रायः शान्ति-पूर्वक राज्य किया, किन्तु उसके समयमें अरसनायक नामक एक तुलुव सामन्त शक्तिशाली हो उठा और राज्यका सेनापति बन गया। १५०५ ई० में इम्मडि नरसिंहको मारकर उसने विजयनगरके इस दूसरे अर्थात् सालुव वंशका भी अन्त कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा।

उपरोक्त ६० वर्षकी अवधिके बीच महाराज मल्लिकार्जुनके समय

सन् १४५१–५२ ई० में वारकुरु राज्यके शासक गोपण ओडेयरने मूड-बिद्रीको होसाबसदिमें भैरादेवी मण्डप बनावाया था, और १४७२ ई० में महाराज विरूपाक्षरायके प्रतिनिधि विट्ठरस ओडेयरने उसी बसदिको भूमि-दान दिया था। एक सहस्र स्तम्भोंवाला यह मन्दिर अत्यन्त कलापूर्ण है और वह त्रिभुवन-तिलक-चूडामणि कहलाता था। श्रवणबेल्गोल तीर्थकी वन्दनाके लिए उस कालमें सुदूर मारवाड़ तकके यात्री आते थे। १४८६ ई० मे ऐसे ही एक मारवाड़ी सेठने इस तीर्थपर एक जिनमूर्ति निर्माण करायी थी। १४८८ और १४९० ई० में भी अनेक मारवाड़ी व्यापारियोंके वहाँ आनेके उल्लेख हैं। उत्तरापथके इन जैन-व्यापारियोंके बहु-संख्यामे गमनागमनसे विजयनगर राज्यके व्यापारको भी बड़ा प्रोत्साहन मिला था। १५०० ई० में गोम्मटेशका महामस्तकाभिषेक असंख्य जन-समूहके बीच बड़े समारोह-पूर्वक हुआ था जिसके लिए राज्यकी ओरसे सर्व-सुविधा प्रदान की गयी थी। १४७२ ई० के एक शिलालेखमें जिन-शासनकी प्रशंसा और पार्श्व-तीर्थेश्वर तथा पञ्च-परमेष्ठियोंके साथ-साथ शम्भुको नमस्कार करना उस कालकी विजयनगरकी जनताकी उदाराशयताका परिचायक है। महाराज विरूपाक्षरायकी राजसभामें उद्भट विद्वान् एवं महान् वादी जैनाचार्य विशालकीर्त्तिने परवादी विद्वानोंको शास्त्रार्थमे पराजित करके राजासे जयपत्र प्राप्त किया था। राजाके एक प्रमुख सामन्त अरगके शासक देवप्प दण्डनायकी राजसभामें भी इस जैनाचार्यने जिनधर्मपर एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान देकर ब्राह्मण विद्वानोंकी भी श्रद्धा और विनय प्राप्त कर ली थी। विजयकीर्त्ति, विद्यानन्द, सनत्कुमारचरित एवं जीवन्धरचरितके कर्त्ता बम्मरस (१४८५ ई०), जीवन्धर-अष्टपदीके कर्त्ता और संगीतपुर नरेश संगमके आश्रित कोटीश्वर (१५०० ई०), धर्मशर्माभ्युदय टीकाके कर्त्ता यशःकीर्त्ति, नरपिंगलीके कर्त्ता शुभचन्द्र आदि इस कालके अन्य जैन विद्वान् और ग्रन्थकार थे।

१५०५ ई० में अपने स्वामीकी हत्या करके अरसनायक राजा हुआ

था किन्तु उसके इस कृत्यसे राज्यमे एक व्यापक विद्रोह भड़क उठा और एक वर्षके भीतर ही वीर नरसिंह भुजबल (१५०६–९ ई०) राजा हुआ। तदुपरान्त कृष्ण देवराय (१५०९–३० ई०) विजयनगरके सिंहासनपर आरूढ़ हुआ। विजयनगरके नरेशोंमें यह सर्वाधिक प्रसिद्ध, प्रतापी, शक्तिशाली और महान् था। इसके राज्यकालमें विजयनगर साम्राज्य अपने चरमोत्कर्षको प्राप्त हुआ। राज्याभिषेकके उपरान्त लगभग डेढ़ वर्ष तक राजाने राजधानीमें ही रहकर अपनी स्थिति सुदृढ़ की, अपने कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्व और समस्याओंका सूक्ष्म अध्ययन किया तथा राज्यकी अभिवृद्धिकी योजनाएँ बनायीं। तदनन्तर निश्चित कार्य-क्रमके अनुसार उसने कौशलसे अपनी विजय-यात्रा प्रारम्भ की और थोड़े ही समयमें नेल्लोर जिलेके सुदृढ़ उदयगिरि दुर्गको हस्तगत कर लिया और फिर अन्य अनेक दुर्ग विजय किये। उसका सर्व-प्रसिद्ध युद्ध १५२० ई० का रायचूरका युद्ध था जिसमे उसने बीजापुरके सुलतान इस्माइल आदिलशाहके ऊपर बड़ी शानदार विजय प्राप्त की। उसने वह दुर्ग तो छीना ही, स्वयं बीजापुरपर भी अधिकार कर लिया। इस युद्धमें उसके सोलह हजार सैनिक काम आये। उसने बहमनियोंकी प्राचीन राजधानी कुलबर्गाको भी भूमिसात् कर दिया। उसके सैनिकोंने बीजापुरको लूटा और क्षत-विक्षत किया। किन्तु सम्राट् कृष्णराय एक उदार-चेता शूरवीर नरेश था। उसने अपनी विजयका भी मानवता एवं दयाके साथ उपयोग किया। उसने शत्रुकी प्रजाको नहीं सताया, निहत्थों और आत्म-समर्पण करनेवाले शत्रु-सैनिकोंको भी अभय दिया, मुसलमानों-जैसी क्रूरता और बर्बरताका उसने किसी अंशमें भी प्रदर्शन नहीं किया। पुर्तगाली इतिहासकार नूनिजने कृष्णदेवके इस युद्ध, विजय और व्यवहारका आँखों देखा सजीव वर्णन किया है। १५२२ ई० में पुर्तगाली डोमिंगो पाइसने इस राजाकी शक्ति, प्रताप और चरित्रकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसने लिखा है कि—'इस सम्राट्की राजराजेश्वर महाराजाधिराज आदि उपाधियाँ

केवल इसीलिए नहीं हैं कि वह भारतके सभी नरेशोंसे अधिक शक्तिशाली और वैभव-सम्पन्न है, उसकी सेना अतुल है, उसका राज्य-विस्तार समुद्र-से-समुद्र पर्यन्त सर्वाधिक विशाल है, सभी नरेश उसे अपना अधिपति मानते हैं और वह उन सबसे अधिक बलशाली है वरन् इस कारण भी है कि वह स्वयं अत्यन्त शूर-वीर, उदारचेता और सर्वगुण-सम्पन्न है, एक महान् सम्राट्के सभी गुण उसमें है।' स्मिथ आदि अंग्रेज इतिहासकारोंने भी इस नृपके चरित्रकी सराहना की है। एक अन्य इतिहासकारके शब्दोंमें—'इस राजाकी धार्मिकता एवं समदर्शिता भी सर्व-प्रसिद्ध थी। उसका व्यक्तिगत झुकाव वैष्णव धर्मकी ओर होते हुए भी वह सब भारतीय धर्मोंका समान रूपसे आदर करता था। पतित शत्रुओं और विजित प्रदेशोंकी जनताके साथ दयापूर्ण उदार व्यवहार और स्वयंके युद्ध पराक्रमने उसे शत्रु, मित्र, स्वप्रजा और सामन्त सरदारों सभीका प्रिय बना दिया था। विदेशी राजदूतों एवं पर्यटकोंके स्वागत-सम्मान एवं अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व, प्रसन्न वदन, विनम्र भाषण और भद्रव्यवहार उसके पवित्र एवं उत्कृष्ट जीवनके परिचायक थे। साहित्य-प्रेम, विद्वानों के आदर, धर्मभक्ति और प्रजा-वात्सल्यमें वह अद्वितीय था। देवालयों, गुरुओं और ब्राह्मणोंको इस दान वीरने अपार धन दानमें दिया था। इस प्रकार इतिहासके पृष्ठोंको समुज्ज्वल करनेवाला यह सम्राट् दक्षिण भारतके नरेशोंमे सर्वमहान् था।' जैनधर्म भी इस नरेशकी उदारता एवं धार्मिकताके लाभसे वञ्चित नहीं रह सकता था, उसकी दृष्टिमें राज्यके सर्व धर्म समान थे। १५१६ ई० में उसने चिंगलपुट ज़िलेमें स्थित त्रैलोक्यनाथ बसदिको दो ग्राम भेंट किये थे। १५१९ ई० में फिर उसी मन्दिरको और दान दिया था। १५२८ ई० में बेलारी ज़िले की एक अन्य। बसदिको प्रभूत दान दिया था और शिलालेख अंकित कराया था, उसने मूडबिद्रीकी गुरु बसदिको भी स्थायी वृत्ति दी थी। १५३० ई० के एक जैन-शिलालेखमें स्याद्वादमत और जिनेन्द्रके साथ-

साथ आदिवराह और शम्भुको नमस्कार करना इस नरेश-द्वारा राज्यकी परम्परा नीतिके अनुसरणका परिचायक है। १५०९ ई० में उसके सामन्त चंगाल्व नरेशके राजमन्त्री चेन्न बोम्मरसने बेलगोलपर एक सुन्दर मण्डप बनवाया था। इसी कालमें चंगाल्व-नरेशका सुप्रसिद्ध सेनापति मंगरस था। वह बड़ा वीर और पराक्रमी था तथा अपने पिता महाप्रभु विजय-पालकी ही भाँति परम जैन था, साथ ही विद्वान् और कवि भी था। उसने सम्राट्के कई युद्धोंमें वीरता दिखायी थी, कई जिनमन्दिर और सरोवर निर्माण कराये थे तथा जयनृपकाव्य, प्रभञ्जनचरित, नेमिजिनेशसंगति, सम्यक्त्वकौमुदी (१५०९ ई०), सूपशास्त्र आदि ग्रन्थोंकी कन्नडीमे रचना करके कन्नड साहित्यमें अपना नाम अमर किया था। कृष्णदेवके सामन्त संगीतपुरके सालुव-नरेश भी बड़े जिनभक्त थे, इसी प्रकार कार्कलके भैररस-नरेश थे। एक अन्य महिला सामन्त एवं प्रान्तीय शासक काललदेवी (१५३० ई०) भी बड़ी जिनभक्त थी। १५१७ ई० में चामराज नगरके शासक वीरय्य नायकने वहाँ एक जिनमन्दिर बनवाकर दान दिया था। गेरुसप्पेके ओडेयर शासक भी परम जैन थे, १५२३ ई० में इन्होंने कई मन्दिर बनवाये और दान दिये। जैनगुरु वादी विद्यानन्द इस कालमें सर्व-प्रसिद्ध थे। महाराज कृष्णदेवकी राजसभा में विभिन्न दर्शनों एवं मतोंके विद्वानोंके साथ कई बार शास्त्रार्थ करके वे संसार-प्रसिद्ध हो गये थे। महाराज स्वयं उनका बड़ा आदर करते थे। अनेक राज-सभाओंमें इस गुरुने वाद विजय की थी। इस राज्यकाल के प्रसिद्ध कन्नडी जैन ग्रन्थकारोंमें भारत, शारदा विलास नेमीश्वर चरित और वैद्य सांगत्यके कर्त्ता साल्व, चन्द्रप्रभु चरितके कर्त्ता दोडय्य, अश्ववैद्यके कर्त्ता बाचरस, आदि उल्लेखनीय हैं जिन्होंने राज्याश्रयमें साहित्य निर्माण किया। इस चिरस्मरणीय महान् नरेशके शासनकालमें मध्यकालीन भारतीय संस्कृतिकी सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

कृष्णदेवकी मृत्युके उपरान्त उसका भाई अच्युतराय (१५३०-४२

ई०) राजा हुआ। वह दुर्बल चरित्र, कायर एवं अत्याचारी कहा जाता है। मुद्गल और रायचूरके दुर्ग जिन्हे कृष्णदेवने कठिनाईसे प्राप्त किया था, उसके हाथसे छिन गये। राज्यमें स्वयं आन्तरिक षड्यन्त्र चलने लगे, एक पक्षने बीजापुरके सुलतानको राजधानीमें ही ससैन्य बुला लिया। विपुल द्रव्य देकर ही उसे वापस लौटाया जा सका। अच्युतरायकी मृत्यु पर उसका भतीजा सदाशिवराय (१५४२–१५७० ई०) जो एक दूसरे भाईका पुत्र था, राजा हुआ। यह नाममात्रका ही राजा रहा। राज्य की समस्त शक्ति उसके प्रधानमन्त्री एवं सेनापति रामराय सालुव (रामराजा) के हाथमें चली गयी। रामराजा कृष्णदेवके सुयोग्य मन्त्री तिम्मराज सालुवका पुत्र था और विवाह सम्बन्ध-द्वारा भी राजवंशसे सम्बन्धित था। अब वह शनैः-शनैः वास्तविक शासक बन बैठा। १५४३ ई० में रामराजाने अहमदनगर और गोलकुण्डाके सुलतानोंके साथ यह सन्धि की कि तीनों मिलकर बीजापुरपर आक्रमण करें, किन्तु बीजापुरके सुयोग्य मन्त्री असदखाँके कौशलसे यह योजना निष्फल हुई। १५५८ ई० में रामराजाने बीजापुरको अपनी ओर मिलाया और अहमदनगरपर धावा बोल दिया। विजयनगरकी सेनाने बीजापुर राज्यमें निर्दयतापूर्वक लूट-मार की। स्वयं रामराजा अपने सहयोगी मुसलमान सुलतानोंसे खुले रूपमें घृणा करता था। और भी राजनैतिक कूट दाँव-पेंच चलते रहे। अन्ततः सब सुलतानोंने यह निश्चय किया कि मिलकर पूरी शक्ति लगा दें और विजयनगरका अन्त कर दें तभी उनकी रक्षा है वर्ना विजयनगर वाले दक्षिणके सब मुसलमानी राज्योंको हड़प जायेंगे। १५६४ ई० में यह समझौता पक्का हुआ। केवल बरारका सुलतान इसमें सम्मिलित नहीं हुआ। उसी वर्षके अन्तमें अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर के सुलतान अपनी सेनाओंके साथ विजयनगरकी ओर चल पड़े, जनवरी १५६५ ई० में कृष्णा नदीके उत्तरमें बीजापुरकी हदमें ही स्थित तालिकोटा नगरमें वे सब एकत्रित हुए। विजयनगरवाले आत्म-विश्वस्त और

असावधान थे। वे समझते थे कि मुसलमान उनका कभी कुछ न बिगाड़ सके, अब भी कुछ न कर सकेंगे। राजधानी और राज्यमें सब कार्य पूर्ववत् शान्तिसे चल रहे थे। विजयनगरकी सैन्य-शक्ति भी सर्वोपरि थी। जहाँ मुसलमानोंके लिए युद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था, हिन्दू इसे खेल समझ रहे थे। किन्तु विश्वासघात, जासूसी और षड्यन्त्र भीतर-ही-भीतर उनकी शक्तिको खोखला कर रहे थे। रामराजा विशाल सेनाके साथ रणक्षेत्रमें उतरा, कृष्णाके दक्षिण और तालिकोटासे २५-३० मीलकी दूरीपर संग्राम छिड़ा। रामराजा वीरताके साथ लड़ा, एक बार तो मुसलमानोंके पैर उखड़ गये किन्तु वे सँभले और प्राण हथेलीपर लेकर पिल पड़े। रामराजा पकड़ा गया। अहमद-नगरके सुलतानने अपने हाथसे तुरन्त उसका वध कर दिया। विजय-नगरकी सेनाके पैर उखड़ गये। मुसलमान पिल पड़े और राजधानी-के ऊपर दौड़ चले। विजयनगरके एक लाख सैनिक खेत रहे और राजधानी विजयनगरको मुसलमानोंने इस बुरी तरह लूटा और विध्वंस किया जिसका अन्य उदाहरण नहीं। देव-प्रतिमाओंकी पवित्रता, शिल्पकृतियोंकी कलात्म-कता, स्त्रियोंके सतीत्व, बच्चोंकी निर्दोषिता, वृद्धोंकी असहायता, ग्रन्थ-भण्डारोंके महत्त्व, किसीकी भी रक्षा न हुई। उनकी धर्मान्धबर्बरता, नृशंसता और क्रूरता पैशाचिक थी। प्रत्येक मुसलमान सिपाही इस खुली लूटसे मालदार होकर लौटा। पाँच महीने तक विजयनगरकी यह लूट-मार जारी रही। अलकापुरी-सदृश इस नगरीके धन-जन-भवन और प्रत्येक वस्तुका सर्वथा नाश करके ही दम लेनेपर आततायी तुले हुए थे। अंग्रेज विद्वान् सिवेलके शब्दोंमें "विश्वके सम्पूर्ण इतिहासमें ऐसे महान् एवं उत्कृष्ट नगरके इस प्रकारके प्रलयङ्कारी आकस्मिक और भयङ्कर विनाशका दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।"

पराजयका समाचार सुनते ही रामराजाका भाई तिरुमल राजा सदा-शिवके साथ राजधानीको छोड़कर भाग गया था और इन दोनोंने पेनुगोण्डा-

में जाकर शरण ली थी। १५७० ई० में तिरुमल स्वयं राजा बन बैठा। विजयनगरका यह चौथा वंश-परिवर्तन था। उसके बाद उसका पुत्र श्रीरंग-राय प्रथम (१५७३–१५८५ ई०) राजा हुआ। तदनन्तर रंगाका भाई वेंकट प्रथम (१५८६–१६१७ ई०) इस चौथे वंशका सर्वप्रसिद्ध राजा था। चन्द्रगिरिको उसने अपनी राजधानी बनाया। राज्य अत्यन्त संकुचित हो ही चुका था किन्तु अब मुलतानोंकी ओरसे कोई विशेष खटका नहीं था। अतएव इसने शान्तिसे राज्य किया। इसके आश्रयमें तैलेगु-काव्य और वैष्णव-साहित्यको अच्छा प्रोत्साहन मिला। तदुपरान्त वेंकटराय द्वितीय (१६१७–१६४१ ई०) राजा हुआ। उसीके एक नायकने १६३९ ई० में डे नामक अंग्रेज व्यापारीको कुछ स्थान दे दिया था जहाँ मद्रास बसा। उसका पुत्र रंगराय द्वितीय (१६४२–१६८४ ई०) था। उसने अंग्रेजोंके पक्षमें वह पट्टा स्वीकृत कर लिया। अब ये छोटे-से शासक रह गये थे। विजयनगरके छिन्न-भिन्न होनेसे और भी कई ऐसे ही छोटे-छोटे राज्य सुदूर दक्षिणमें बन गये थे। रंगा द्वितीयके वंशजोंमें मदुराके नायक कुछ प्रसिद्ध हुए इनमें भी तिरुमल नायक सुन्दर भवन-निर्माताके रूपमें प्रसिद्ध हुआ। वर्तमान शताब्दीमें आनेगुण्डीका अन्तिम राजा रामराजाके वंशका अन्तिम प्रतिनिधि था।

कृष्णदेवके उपरान्त तालिकोटा युद्ध पर्यन्तका ३५ वर्षका काल साम्राज्यकी अन्तिम चमक-दमकका था। राज्यके सर्वे-सर्वा रामराजाका सारा ध्यान मुसलमान सुलतानोंके साथ तरह-तरहके कूटनीतिक दाँव-पेंच खेलने और अपनी सैन्य-संख्याको बढ़ानेकी ओर था। इस कालमें धर्म, साहित्य, कला आदिकी ओर ध्यान देनेका राजाओं और उनके सामन्तोंको कोई अवकाश न था। अतः उस कालके जैनधर्मके इतिहासमें कतिपय जैन छोटे-मोटे सामन्तों या उपराजाओं और सेठ-व्यापारी आदि प्रजाजनोंके ही कतिपय धार्मिक कार्योंका उल्लेख मिलता है। इस बीचके शिलालेख एवं साहित्यिक रचनाएँ भी विरल ही हैं। महाराज अच्युतरायके समयमें

१५३१ ई० में मुदगिरिकी जैन बसदिको और १५३३–३४ ई० में तामिल देशकी कुछ अन्य बसदियोंको दान दिये गये थे। सदाशिवरावके शासनारम्भमें, १५४२–४३ ई० में, तुलुव देशकी कुछ बसदियोंको दान दिये जानेके उल्लेख मिलते हैं। १५६० ई० में गेरुसप्पेके जैन राजा सालुव इम्मडि देवरायके आश्रयमें उसके राजसेठ तथा अन्य धनी व्यापारियोंने उस नगरमें कई सुन्दर जिनालयोंका निर्माण कराया था और अन्य धार्मिक कार्य किये थे। इस कालमे श्रवणबेलगोल तीर्थका प्रबन्ध भी गेरुसप्पेके जैनसेठोंके ही हाथमे रहा प्रतीत होता है, और उसका प्रारम्भ उपरोक्त सालुवराज-द्वारा १५३९ ई० के लगभग गोम्मटेश्वरका महामस्तकाभिषेक महोत्सव मनाये जानेसे हुआ प्रतीत होता है। इस कालमें मूडबिद्री और शृंगेरीकी जैन-बसदियोंको भी दान दिये जानेके कुछ उल्लेख मिलते हैं। इसी युगमें अनेक राजाओंसे सम्मानित महान् वाद-विजेतावादी विद्यानन्दिने यत्र-तत्र जैन-शासनका उत्कर्ष किया। श्रीरंगपट्टनमें ईसाई पादरियोंको भी शास्त्रार्थमें इन्होंने पराजित किया था। ये पूर्वकालके प्रसिद्ध वादी विशालकीर्त्तिके शिष्य थे। काव्यसार नामक ग्रन्थ इन्हींकी कृति बतायी जाती है। १५५७ ई० में रत्नाकरनन्दिने त्रिलोकशतक नामका दस हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ ९ मासमें रचकर तैयार किया था, भरतेश्वरचरित और पदजाति इनकी अन्य रचनाएं हैं। १५५९ ई० में नेमन्नने ज्ञानभास्करचरित्र और बाहुबलिने १५६० ई० मे नागकुमारचरित्रकी रचना की थी। इस कालमें भी जैनोंने अपनी सहिष्णुता और सहन-शीलताके कारण शैवों और वैष्णवोंके साथ सद्भाव बनाये रखा। उपरोक्त विवरणसे स्पष्ट ही है कि साहित्य और कलाके क्षेत्रमें इस कालके जैन कुछ अधिक नहीं कर पाये।

१५६५ ई० के विनाशकारी युद्धके फलस्वरूप राजधानीके साथ-साथ साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया। विजयनगरके प्राणघातक सुलतानोंने जितना बन सका उसका धन-जन और क्षेत्र परस्पर बाँटकर हड़प लिया।

किन्तु फिर भी १७वीं शताब्दीके अन्त तक लगभग सवा-सौ वर्ष पर्यन्त रामराजाके भागे हुए वंशज चन्द्रगिरिको राजधानी बनाकर विजयनगर राज्यके नाम और उसकी परम्पराको चलाते रहे। उत्तरमें मुग़ल सम्राट् अकबरके अभ्युदय, विजयनगरकी ओरसे निश्चिन्तता, लूटमें प्राप्त अतुल धन आदि कारणोंसे दक्षिणके सुलतान अब परस्परकी फूट, झगड़ों तथा अपनी-अपनी रंगरलियोंमें फँसकर असावधान हो गये। अतः विजयनगरके ये उत्तरवर्ती राजे प्रायः शान्तिपूर्वक ही तामिल तुलुव और दक्षिण कर्णाटकके अपने छोटेसे साम्राज्यपर राज्य करते रहे। ऐसी परिस्थितिमें धर्म, साहित्य और कलाके क्षेत्रोंमें भी वहाँ अधिक कार्य हुआ। १५७९ ई० में कार्कलके जैन नरेशों और राज्यके जैन नागरिकोंने एक विद्यापीठ स्थापित किया और छात्रोंके लिए अनेक वृत्तियाँ प्रदान कीं जिनका 'विचारकर्त्ता' गुरु ललितकीर्ति भट्टारकको बनाया गया। उसी वर्ष विजयनगर-नरेश रंगराय प्रथमके एक सामन्त एवं प्रादेशिक शासक वल्लभराज महाअरसने जो कि राजय्यदेव महाअरसका पुत्र और महामण्डलेश्वर श्रीपतिराजका पौत्र था, अपने प्रदेशके जैनसेठोंकी प्रार्थनापर हेग्गर बसदिके लिए भूमिदान दिया था। १५८३–८५ ई० के कई अभिलेखोंसे प्रकट होता है कि इस कालमें गेरुसप्पेके जैन भट्टारक वीरसेन जो भट्टारक गुणभद्रके शिष्य थे बड़े प्रभावशाली और धनवान् थे। कृषि करानेके लिए भी उन्होंने बहुत-सी भूमि कई नायकों और सेठोंसे खरीदी थी। १५८५ ई० में ब्राह्मणोंके प्रमुख चिकमय्यके पुत्र पण्डितय्यने चिक्कहनसोगेकी प्राचीन आदिनाथ बसदिमें अपने गुरु चारुकीर्ति पण्डितदेवके उपदेशसे भगवान् आदीश्वर, शान्तिनाथ और चन्द्रनाथकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। विजयनगर-नरेश वेंकटराय प्रथम (१५८६–१६१७ ई०) की राजसभामें जैनगुरु भट्टाकलङ्कने सारत्रय और अलंकार-त्रयका व्याख्यान करके कीर्ति समार्जित की थी। कर्णाटक-शब्दानुशासन नामक प्रसिद्ध कन्नडी व्याकरण भी इन्हींकी कृति है। १५८६ ई० में कार्कल-नरेश

इम्मडि भैरवेन्द्र ओडेयरने कार्कलमें सुप्रसिद्ध चतुर्मुख बसदिका निर्माण कराया था और १५९८ ई० में उसी तथा अन्य बसदियोंको दान दिये थे। इसी वर्षका एक अन्य शिलालेख जिन-शासनकी प्रशंसा और वीतरागदेवके साथ-साथ शम्भुको नमस्कार करनेसे तत्कालीन जैनोंकी सहिष्णुताका परिचायक है। १६०४ ई० में पाण्ड्य-नरेशके भाई तिम्मराजने वेणूरमें बेलगोलके मठाधीश चारुकीर्ति पण्डितदेवके उपदेशसे गोम्मटेश बाहुबलिकी उत्तुंग विशाल कायप्रतिमा निर्मित करायी थी। यह मूर्ति दक्षिणकी सुप्रसिद्ध विशालकाय गोम्मट मूर्त्तियोंमें तीसरी है। मूर्त्ति-प्रतिष्ठापक तिम्मराज गंगकालीन प्रसिद्ध चामुण्डरायका वंशज था। १६१० ई० में महाराज वेंकटरायके प्रान्तीय शासक एवं राज-प्रतिनिधि बोम्मन हेगडेने मोलिगेमें अनन्त-जिनालयकी स्थापना की थी। १६१२ ई० में श्रवण-बेलगोलके गोम्मटेशका महामस्तकाभिषेक हुआ था। १६३८ ई० के एक लेखसे ज्ञात होता है कि इस कालमें प्रसिद्ध जैन-केन्द्रोंमें भी लिंगायत आदि अजैन मतावलम्बी जैनमन्दिरोंमें अपनी मूर्तियाँ या चिह्न आदि स्थापित करके उनपर अधिकार कर लेनेका प्रयत्न यदा-कदा करते रहते थे, किन्तु उनके मुखिया और उत्तरदायी नेता ऐसी प्रवृत्तियोंका अनुमोदन नहीं करते थे, यहाँतक कि उन्होंने सर्वसम्मतिसे यह विज्ञप्ति प्रचारित कर दी थी कि 'जो कोई जिनधर्मका विरोध या अनादर करेगा वह महा महत्तु (वीर शैवधर्मके सबसे बड़े अध्यक्ष) के चरणोंसे बहिष्कृत कर दिया जायेगा, शिव और जंगमका द्रोही माना जायगा और विभूति रुद्राक्ष तथा काशी एवं रामेश्वर तीर्थोंके लिंगके प्रति अभक्त समझा जायेगा।' निस्सन्देह यह निर्णय प्रभावशाली जैनोंके आन्दोलनके फल-स्वरूप किया गया था, तथापि तत्कालीन वीर शैव मताध्यक्षोंके विवेक और सदाशयताका परिचायक तो है ही। १६४६ ई० में कार्कलके गोम्मटेशका महामस्तकाभिषेक उत्सव हुआ था। विजयनगर कालमें बेलूर ज़िला स्थापत्य-कलाके सर्वोत्कृष्ट विकासका एक प्रमुख केन्द्र था।

अनेक सुन्दर एवं कलापूर्ण जैन, वैष्णव एवं शैव देवालयोंसे यह प्रदेश अलंकृत था। १६८० ई० में भी वहांके भट्टारक लक्ष्मीसेनकी प्रेरणासे विमल चैत्य नामक एक सुन्दर जिनालयका निर्माण हुआ था। ये जैनगुरु स्वयं भी बड़े मठाधीश और अनेक राजाओंसे सम्मानित हुए थे। इस कालके जैन विद्वानों और साहित्यकारोंमें उल्लेखनीय हैं—विजयकुमारचरितके कर्त्ता श्रुतकीर्ति (१५७५), चन्द्रप्रभुषट्पदीके कर्त्ता दोड्ड (१५७८ ई०), शृंगारकथेके कर्त्ता पद्मरस (१५९९ ई०) जो भट्टाकलङ्कके शिष्य थे और जो प्रसिद्ध मल्लिनाथकी भाँति ही ऐसे असाम्प्रदायिक थे कि छत्रत्रयपुरके चन्द्रनाथ जिनालयमें रचे गये अपने उपरोक्त ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगल रूपमें इन्होंने शिव-पार्वती और गणेशकी भी स्तुति की है, प्रसिद्ध व्याकरण कर्णाटक-शब्दानुशासनके कर्त्ता भट्टाकलङ्क, कई शिलालेखोंके रचयिता बहुभाषाविज्ञ एवं विविध-विषयपटु वर्धमान, नानार्थरत्नाकर नामक कोषके कर्त्ता देवोत्तम (१६०० ई०), रत्नकराधीश्वरके कर्त्ता हंसराज (१६०० ई०), कर्णाटक-संजीवनके कर्त्ता शृंगार कवि (१६०० ई०), सम्यक्त्वकौमुदीके कर्त्ता पायनवर्णी (१६०० ई०), वज्रकुमारचरितके कर्त्ता ब्रह्मकवि (१६०० ई०), सनत्कुमारचरितके कर्त्ता पायन मुनि (१६०६ ई०), भुजबलिचरितके कर्त्ता पंचबाण (१६१४ ई०), मैसूर-नरेश चामराजके आदेशपर हयसारसमुच्चय नामक अश्वशास्त्रके-कर्त्ता पद्मण्ण पण्डित (१६२७ ई०), गुरुदत्तचरितके कर्त्ता देवरस (१६५० ई०) इत्यादि। वीर शैव-साहित्य और शैव-वैष्णव मन्दिरोंका भी इस कालमें निर्माण हुआ।

विजयनगरके इतिहासके प्रधान आधार इटलीवासी पर्यटक निकोलो कौण्टी (१४२० ई०), हिरातके सुलतान शाहरुखके विद्वान् राजदूत अब्दुर्रज़ाक (१४४३ ई०), पुर्तगाली लेखक डोमिंगो पाइस (१५२२ ई०) और नूनिज़ (१५३५ ई०) तथा कौण्टी आदि अन्य कई विदेशी यात्रियों-द्वारा लिखे गये आँखों देखे वर्णन, फ़रिश्ता आदि मध्यकालीन मुसलमान

इतिहासकारों-द्वारा दिये गये विवरण, तत्कालीन शिलालेख जिनमें जैन शिलालेखोंकी ही अधिकता है, तत्कालीन साहित्य ग्रन्थ—इनमें भी कन्नडी भाषाकी जैन-धार्मिक एवं लौकिक रचनाओंकी ही बहुलता है, स्वयं राजधानी विजयनगर और उसके आस-पास दूर-दूरतक फैले हुए भग्नावशेष, मुसलमानोंके प्रकोपसे बच रहनेवाले कन्नड, तुलुव, तामिल प्रदेशोंके जैन, शैव, वैष्णव तीर्थ एवं मन्दिर आदि और इनके आधारपर वर्तमान शतीके प्रारम्भमें लिखे गये रावर्ट सिवेलकी पुस्तक तथा एच० कृष्णा शास्त्रीके लेख हैं। तदुपरान्त भी अध्ययन और अनुसन्धान चलता रहा है और अनेक विद्वानोंने इस सम्बन्धमें कार्य किया है।

उपरोक्त साधनोंसे पता चलता है कि राजधानी विद्यानगरी (विजयनगर) अपने समयके सम्पूर्ण विश्वमें अद्वितीय नगरी थी। ६० मीलके घेरेमें फैली हुई, एकके भीतर-एक सात परकोटोंसे घिरी हुई, अनेक सरोवरों, वापी, कूप, तड़ाग एवं जलप्रणालियों, उपवनों, उद्यानों, उत्तुंग कलापूर्ण जैन, शैव, वैष्णव-देवालयों, अत्यन्त दर्शनीय राजप्रासादों (एक भवन निरे हाथी-दाँतका ही बना हुआ था), सामन्त सरदारों एवं धनी नागरिकोंके सुन्दर भवनों, पचासों हाट-बाजारों और वीथियों आदिसे समलंकृत एक लाख घरों और लगभग दस लाखकी जन-संख्यावाली इस अलकापुरी-सदृश महानगरीमें मणि-मुक्ता, सोने-चाँदीसे लेकर प्रत्येक वस्तु का खुला व्यापार होता था। लोग ईमानदार थे, चोरी-डाकेका भय नहीं था, प्रजा प्रसन्न, सम्पन्न, सुखी और शौक़ीन थी। धर्म, कला और साहित्य में विद्यानगरी अपने नामको चरितार्थ करती थी। सम्राट् और उसके दरबारकी शान निराली थी, राजकोष स्वर्ण, रजत, मणि, मुक्तासे पूर्ण था। वेषभूषा, रीति-रिवाज, आचार-विचार सुचारु एवं सुसंस्कृत थे। सम्राट्के पास पदातिकों, अश्वारोहियों और विशाल हाथियोंकी लगभग दस लाख सेना सदैव तैयार रहती थी। समस्त साम्राज्य लगभग दो-सौ प्रान्तोंमें विभक्त था जिनपर सम्राट्की ओरसे उसके वीर सामन्तगण शासन

करते थे। साम्राज्य-भरमें घनी आबादी थी, कृषि समुन्नत दशामें थी और जल-थल मार्गोंसे देशी-विदेशी व्यापार अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा था। विविध प्रकारके उद्योग-धन्धे फल-फूल रहे थे। प्रजाको समृद्धिके कारण राज्य-कर अधिक होते हुए भी सरलतासे प्राप्त हो जाते थे। दण्डविधान आधुनिक युगकी अपेक्षा कड़ा था, किन्तु साथ ही राज्यमें भयानक अपराधों की विरलता थी। आपसी झगड़ोंका निर्णय प्रायः द्वन्द्वयुद्धसे भी किया जाता था। नगरमें नर्तकियों और वेश्याओंकी प्रचुरता थी। १६वीं शताब्दीमें इस महानगरीमें पशु-हिंसा, कतिपय हिन्दू-मन्दिरोंमें पशुबलि, जनतामें मांसाहार और मद्यपान आदिका भी बहुत प्रचार बढ़ गया था। विजयनगरके सम्राटोंने संस्कृत, कन्नड और तैलेगु तीनों ही भाषाओंके साहित्यको प्रोत्साहन दिया, वेद-भाष्यकार सायण और उसका भाई माधव बुक्का और हरिहर द्वितीयके मन्त्री रहे थे। नरसिंह सालुवने तैलेगु कवियोंको बहुत प्रोत्साहन दिया। कृष्णदेव स्वयं एक अच्छा कवि और लेखक था तथा विद्वानोंका आदर करता था। उसका राजकवि अलसानि-पेद्दन अपने समयका सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार था। रामराजा और उसके भाई भी सुशिक्षित एवं विद्वान् थे। उन्होंने श्रीवैष्णव धर्मको बहुत प्रोत्साहन दिया। कलाके क्षेत्रमें विजयनगरके सम्राट् प्रारम्भसे ही अत्यन्त उत्साही थे। स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र सभी कलाओंका उनके प्रश्रयमें विकास हुआ। अनेक दुर्ग, महल, मन्दिर, मूर्त्तियाँ, बाँध, नहरें आदि बने जिनके कारण विजयनगर-सम्राट् भारी निर्माता कहलाये। कृष्णदेवका हजारा रामस्वामी मन्दिर (१५१३ ई०) अपने प्रस्तराङ्कणोंके लिए प्रसिद्ध है। तत्कालीन विदेशी यात्रियोंने विजयनगरके शिल्पियों, रूपकारों, चित्र-कारों तथा अन्य कलाकारोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस सबके अतिरिक्त ये सम्राट् स्वदेशभक्त, सर्वधर्म-सहिष्णु, उदाराशय और प्रजा-वत्सल भी थे, अतः प्रजाके सभी वर्गोंने साम्राज्यके बहुमुखी उत्कर्षमें योग दिया।

मध्यकालीन भारतीय राजनीतिकी यह अद्वितीय सृष्टि विजयनगर

और उसका साम्राज्य तालिकोटाके युद्धमें भस्मसात् हो गये। लगभग सौ-सवासौ वर्ष तक चन्द्रगिरिके महाराजाओंने उसकी स्मृतिको सजीव बनाये रखा। १७वीं शतीके अन्तमें वह स्मृति भी निर्जीव हो गयी। किन्तु निर्जीव होनेसे पूर्व ही वह मराठा वीर शिवाजीको राष्ट्रोद्धारकी प्रेरणा देनेमें सफल हो चुकी थी। महाराष्ट्रमें जब शिवाजी दक्षिण और उत्तरके मुसलमान-नरेशोंके विरुद्ध विद्रोह एवं संघर्ष करके स्वदेशी स्वधर्मी राज्यकी स्थापनाका उपक्रम कर रहे थे तो चन्द्रगिरिका छोटा-सा अवशिष्ट विजयनगर-साम्राज्य भी बिखरकर तामिल तैलेगु और दक्षिणी कन्नड प्रान्तके अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्योंमें परिणत हो गया था। इस कालमें राजनैतिक पतनके फलस्वरूप नैतिक पतन भी हुआ जो इन सामन्त सरदारोंके व्यवहारमें चरितार्थ हुआ। इन छोटे-छोटे राजाओंमें अधिकतर वीर-शैव, सद्शैव या श्रीवैष्णव थे और तत्कालीन शैव वैष्णव ग्रन्थोंसे ही पता चलता है कि इन्होंने जैनधर्म और उसके अनुयायियोंपर अमानुषिक अत्याचार किये, बारकुरु, मारुडिगे, कल्याण आदि नगरोंमें एक-एक दिनमें सैकड़ों जैन-मन्दिरों, मूर्तियों, ग्रन्थ-भण्डारों, विद्यालयों, दानशालाओं आदिसे युक्त जैन-बसदियोंका ध्वंस कर दिया गया, जैनोंसे बरबस धर्मत्याग कराया गया था, उनका वध कर दिया गया, बारकुरु जैसे अनेक सुन्दर जैन-केन्द्र उजाड़ हो गये। समर्थ आश्रयदाता केन्द्रिय राज्य-शक्तिका अभाव हो गया था और जैन-गुरुओंमें युगान्तरकारी दिग्गज एवं प्रभावक विद्वान् होने भी बन्द हो गये। इस कालके जैन-गुरु शैव और वैष्णव महन्तोंकी भाँति मठाधीशोंके रूपमें छोटे-छोटे जमींदार मात्र रह गये थे। राजनीति और धर्मका समुचित समन्वय करके देशका द्विविध अभ्युदय करनेवाले पिछले कालों-जैसे गुरु अब नहीं रह गये थे। विजयनगर कालमें ही—१५ वीं शतीसे ही पहले जैसे राज्य और धर्मके स्तम्भ जैन-सेनापतियों, मन्त्रियों, सामन्त और सरदारोंकी संख्या घटते-घटते नगण्य रह गयी थी। शनैः-शनैः वे सब वंश शैव या

वैष्णव हो गये थे। इस कालके शैव, वैष्णव, जैनोंको अपना शत्रु समझने लगे और मुसलमानोंके लिए तो शैव, वैष्णव और जैन तीनों ही समान रूपसे काफ़िर और अत्याचारके पात्र थे। फलस्वरूप जो जैनधर्म चिरकालसे दक्षिणापथमें प्रधान, व्यापक, सर्वाधिक संख्यक एवं प्रभावपूर्ण बना आया था वह द्रुत-वेगसे विभिन्न प्रान्तोंसे समाप्त होता गया और केवल वणिक् जातिमें या चतुर्थ पञ्चम कहे जानेवाले छोटे लोगोंमें सीमित रहता हुआ यत्र-तत्र थोड़ी-थोड़ी संख्यामें रह चला।

किन्तु तुलुव और दक्षिण कर्णाटकमें कुछ श्रवणबेलगोल आदि जैसे ऐसे महत्त्वपूर्ण जैन तीर्थक्षेत्र एवं प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र थे जिन्हें सम्पूर्ण भारतके जैन-नरेश और जैन-जन सहस्राब्दियोंसे सींचते चले आ रहे थे, जिन स्थानोंके साथ अनेक अमिट परम्पराएँ सन्नद्ध थीं, जो अनेक प्राचीन कलापूर्ण एवं अविस्मरणीय स्मारकोंसे युक्त थे, जिनके इस कालके जैन-गुरु भी कुछ प्रभाव रखते थे और जो अब भी धर्म और ज्ञानके फलते-फूलते केन्द्र थे, अतएव जिन प्रदेशोंमें ये स्थान स्थित थे उनकी जनता और उनपर शासन करनेवाले शासकवंश धर्मप्राण थे, वे प्रारम्भसे जैन थे और प्रायः अन्त तक जैन ही बने रहे। कालान्तरमें उनमेंसे कुछने शैव, वैष्णव आदि धर्म अंगीकार भी किये तब भी वे नवीन धर्मको अपना व्यक्तिगत धर्म और जिनधर्मको अपना कुल-परम्परा धर्म ही मानते रहे और इन तीर्थों एवं केन्द्रोंका संरक्षण पूर्ववत् करते रहे। ऐसे इन जैन-राजवंशोंमें प्रमुख—(१) **संगीतपुरके सालुव या कदम्बराजे**—भट्ट-कल इनकी राजधानी थी, मोतियोंके व्यापारके कारण यह मोतीभट्टकल भी कहलाता था। संगीतपुर, भट्टकल, गेरुसप्पे जिसे उत्तरकाशी भी कहते थे, मूडबिद्री जिसे दक्षिणकाशी भी कहते थे और जहाँ १७–१८वीं शतीमें भी सात-सौ चैत्यालय और सात-सौ सतहत्तर घर जैनियोंके थे, और मङ्गलूर प्रसिद्ध जैन-केन्द्र थे। इस वंशमें पुत्रियोंको भी राज्यका उत्तराधिकार मिलता था। १६वीं शतीमें तत्कालीन कदम्ब-नरेशकी मृत्युपर यह राज्य

उसकी सात कुमारी कन्याओंके बीच सात भागोंमें बँट गया था और १७ वीं शतीके प्रारम्भमे उन सातोंने योग्यतापूर्वक शासन किया।

(२) **कार्कलके भैररस राजे** मथुराके राजकुमार जिनदत्त रायकी सन्ततिमें से थे और बड़े धर्मभक्त थे।

(३) **वेणूरका अजिलवंश**—इसीकी एक शाखा बंगवाडिपर बंग वशके नामसे राज्य करती थी और एक नन्दावरमें राज्य करती थी। यह वंश विजयनगर-नरेशोंसे भी सम्बन्धित था, और अबतक वर्तमान है।

(४) **उल्लालका चौटवंश**—१२वी शतीके मध्यसे लेकर १८वों के अन्त तक चलता रहा।

(५) **बिलिकेरेका अरसुवंश** १९वीं शताब्दीके अन्त तक चलता रहा। इस वंशके राजा देवराज (मृत्यु १८२७ ई०) बड़े वीर योद्धा और आत्मतत्वपरीक्षण नामक ग्रन्थके कर्त्ता थे तथा मैसूर-नरेशके प्रधान अंगरक्षक थे।

(६) **बारकुरुके पाण्ड्य राजे**—इस वंशके कई राजे प्रसिद्ध ग्रन्थकार भी हुए हैं। इनकी राजधानी बारकुरु बड़ी समृद्धिशाली सुन्दर नगरी थी। इक्केरि वंशी वेंकप नायकने इस नगर और वहांके जैनोंका १६१९ ई० में विध्वंस किया था। यह राजा शैव था।

(७) **मैसूरके ओडेयर राजे**—श्रवणबेलगोल तीर्थके प्रधान संरक्षक ये ही रहे। १८वीं शतीमें हैदरअली और टीपू सुलतानने इन्हें ग्रस लिया, अंग्रेजोंने इस राज्यका उद्धार किया और यह वर्तमान तक चलता रहा।

(८) **नगरीके चन्द्रवंशी राजे।**

(९) **श्वेतपुर (बिलिगे) के जैन राजे।**

(१०) **वैलंगडिके मूल।**

(११) **मूल्किके सावंत,** इत्यादि।

इन एक दर्जनके लगभग जैन-राज्योंने तद्देशीय तीर्थों एवं केन्द्रोंका संरक्षण किया, बसदियोंका जीर्णोद्धार, निर्माण और रक्षा की, साहित्यको रचना करायी, विद्वानों और गुरुओंका आदर किया और यथाशक्य जैनधर्मको उस देशमें जीवित रखा।

खण्ड २

विदेशी-शासनमें भारत

[मुसलिम और अंग्रेज़ी-शासन]

अध्याय 1

इस्लामका भारत-प्रवेश और दिल्लीके सुलतान

१३वीं शतीके प्रारम्भसे लेकर १८वीं शतीके अन्त पर्यन्त, लगभग ५०० वर्षके, इस मध्यकालकी सबसे बड़ी ऐसी ऐतिहासिक विशेषता इस देशमें उत्तर-पश्चिमी सीमान्तको पार करके मध्य-एशियाई मुसलमानोंके आक्रमण, यहाँ उनके राज्योंका प्रारम्भ और विकास और फलस्वरूप स्वदेशी राज्य-सत्ताओंका धीरे-धीरे अन्त अथवा पराधीनताकी बेड़ियोंमें जकड़ जाना है। भारतीय राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति और समाजमें एक प्रबल, नवीन, अपरिचित, विरोधी अथवा प्रतिकूल तत्त्वके प्रवेशने विविध प्रकारकी उथल-पुथल, क्रान्तियों और आन्दोलनोंको जन्म दिया। देशका स्वरूप ही बहुत कुछ बदल गया।

गुप्तकालके अन्त तक मध्य-एशियाके बहुभागपर भारतीय संस्कृतिका प्रभाव था, वहाँ हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि भारतीय धर्मोंका प्रसार था और उसके कई भाग बृहत्तर भारतके अंग थे। किन्तु पिछली दो-एक शताब्दियोंसे भारतको ओरसे उक्त भारतीय प्रभावका पोषण होना रुक गया था। आर्यजनोंको म्लेच्छ देशों और जातियोंसे सम्पर्क रखना पाप है, ऐसी भावना हिन्दुओं और जैनोंमें बल पकड़ती जा रही थी। परिणामस्वरूप बृहत्तर भारतके मध्य-एशियाई भागकी सम्पूर्ण भारतीयता शनैः-शनैः बौद्ध रूपमें ही अवशिष्ट रह चली। वह भी स्थानीय तथा अवशिष्ट हिन्दू जैन आदि प्रभावोंके अत्यधिक मिश्रणके कारण बौद्ध संस्कृतिके भी अत्यन्त परिवर्तित एवं विकृत रूपमें ही प्राप्त हो रही थी। ६ठीं शती ई० में मध्य-एशियाके सब देशोंमें अरब देश ही अधिक पिछड़ा हुआ था। वहाँके लोग

बलिष्ठ, परिश्रमी, युद्ध-प्रिय और सरलस्वभावी तो थे किन्तु साथ ही बहुत ग़रीब थे, अनेक क़बीलोंमें बँटे हुए थे और परस्पर लड़ते रहनेमें ही व्यस्त थे। अनेक अन्ध-विश्वासोंके वे दास थे। ऐसे समयमें ५७० ई० में अरबके मक्का नामक स्थानमें मुहम्मद साहबका जन्म हुआ। होश सँभलने-पर अपने देश और जातिकी दशासे उनका चित्त दुःखी हुआ। वे स्वयं एक क़बीलेके नेता हुए और देशकी दशा सुधारनेके लिए उन्होंने प्रचलित आचार-विचारोंमें से श्रेष्ठतत्त्वोंको चुनकर और उनपर अपनी बुद्धिका प्रयोग करके अपने अवनत देश-भाइयोंकी समझमें आने लायक़ एक सरल संक्षिप्त नवीन धर्मका प्रचार किया। 'इस सम्पूर्ण खल्क़ (विश्व) और मखलूक़ (प्राणियोंको) बनानेवाला, उनकी रक्षा करनेवाला और उन्हें मारनेवाला खुदा एक है और मुहम्मद साहब ही उसके एकमात्र सच्चे रसूल या पैग़म्बर हैं। इस दीक्षा-मन्त्रपर आँख मूँदकर ईमान लाओ, नित्य पाँच वक़्त नमाज़ पढ़ो, रमज़ानके महीनेमें रोज़ा (उपवास) रखो, अपनी आयका एक अंश दीन-दुखियोंके लिए ज़कात (दान) दो, यथासम्भव मक्का-मदीनेकी हज (यात्रा) करो। खुदाने मुहम्मदके द्वारा जो क़ुरान नामक धर्मग्रन्थ प्रकट किया है उसे ईश्वरवाक्य समझो। यही इस्लाम धर्म है, इसपर पूर्ण विश्वास रखनेवाले मुसलमान मुसल्लम ईमान हैं जिनका हैं, वे सब खुदाके बन्दे हैं, एक हैं, उनमें कोई किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं है और वे मरनेके बाद जन्नत (स्वर्ग) प्राप्त करेंगे। जो ऐसा नहीं करते वे काफ़िर हैं, दोज़ख (नरक) की आगमें भस्म होंगे, उनपर किसी प्रकारकी भी दया करनेकी आवश्यकता नहीं।' इस प्रकार अनेकों छोटे-मोटे अन्ध-विश्वसोंका अन्त करके उनके स्थानमें अपने अनुया-यियोंपर थोपे गये इस एक बड़े विश्वासकी भीत्तिपर पैग़म्बर मुहम्मदने राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक, तीनों सत्ताओंको एकत्र (संयुक्त) करके अपने धर्म-राज्यकी स्थापना की, वे स्वयं उसके पूर्णतया स्वेच्छाचारी और सर्वशक्ति एवं सत्ताधारी नेता बने और उन्होंने अपने अनुयायियोंको एक

हाथमें क़ुरान और दूसरेमें तलवार लेकर इस धर्मके प्रचारार्थ निकल पड़नेको आज्ञा दी। इस मतमें विवेक और तर्कको विशेष गुञ्जायश नहीं थी, पैग़म्बरकी आज्ञा ही प्रमाण थी। जैसा प्रायः होता है मुहम्मदका विरोध भी बहुत हुआ और फलस्वरूप ६०९ ई० में उन्हें मक्का छोड़कर मदीने भाग जाना पड़ा। तभीसे हिजरी सन्‌की प्रवृत्ति हुई। अन्ततः इस्लाम जोरोंके साथ फैलने लगा। मुहम्मद (मृत्यु ६२२ ई०) के उत्तराधिकारी ख़लीफ़ा कहलाये। अरबोंमें नवीन जीवन और उत्साहका सञ्चार हुआ। नवीन धर्मोन्मादसे मत्त होकर वे देश-देशान्तरके काफ़िरोंको बरबस मुसलमान बनानेपर तुल पड़े। ख़लीफ़ाओंकी शक्ति, धन, राज्य-विस्तार और अनुयायियोंकी संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। थोड़ेसे समयमें ही इस्लाम विश्वकी एक प्रबल शक्ति बन गया। अलमंसूर, हारूँ अलरशीद आदि कुछ ख़लीफ़ा नेक, उदार और विद्याप्रेमी भी हुए और विभिन्न देशोंके ज्ञान-विज्ञानका लाभ उठाकर अरब संस्कृति एवं साहित्यका भी अच्छा विकास हुआ। किन्तु उनके धर्मकी नीरस एकांगी कठोरता और उनकी धर्मान्ध-कट्टरता दर्शन, न्याय, तत्त्वचिन्तन तथा स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र, संगीत-काव्य आदि ललित-कलाओंके क्षेत्रमें अनिवार्य रुकावट बनी रही।

हजरत मुहम्मदकी मृत्युके कुछ ही वर्ष बाद, ६४४ ई० में, मकरान और बिलोचिस्तानके मार्गसे अरबोंने भारतके सिन्धु देशपर सर्व-प्रथम आक्रमण किया। तत्कालीन सिन्धु-नरेश सिहरसराय युद्धमें मारा गया। ६४६ ई० में फिर आक्रमण हुआ उसमें सिहरसरायके पुत्रकी भी वही गति हुई। दोनों बार मुसलमान आये और चले गये। ७१२ ई० में जुन्नैदके सेनानी मुहम्मद बिन क़ासिमने एक प्रबल आक्रमण किया। सिन्धका ब्राह्मण राजा दाहिर वीरता-पूर्वक लड़ा किन्तु मारा गया और इस बार उसके राज्यपर अरबोंने अधिकार कर लिया। सिन्धका यह पतन वहाँके तत्कालीन ब्राह्मण और बौद्धोंकी परस्पर फूट, विश्वासघात और नैतिक-पतनके कारण हुआ माना जाता है। अरबोंके रूपमें मुसल-

मानोंने इस देशमें यह अपना प्रथम राज्य जमा लिया। प्रारम्भिक अत्याचारोंके बाद इन अरबोंने बहुत-कुछ उदारता एवं नरमोके साथ राज्य किया। सिन्ध खलीफ़ाओंके साम्राज्यका एक प्रान्त बन गया और उनके प्रतिनिधि प्रादेशिक शासक यहाँ राज्य करते रहे। दो-एक बार गुजरातकी ओर बढ़नेका उन्होंने उपक्रम किया किन्तु विफल रहे। ७३८ ई० में नवसारीके युद्धमें वे बुरी तरह पराजित हुए। अगले वर्ष उन्होंने सैन्धव राज्यपर भी आक्रमण किया, किन्तु तदुपरान्त वे शान्त रहे और सिन्धमें ही सन्तुष्ट रहे। खलीफ़ाओंके पतन होनेके बाद सिन्धके अरब शासक छोटे-छोटे 'अमीरों' के रूपमें शताब्दियों तक चलते रहे। शेष भारतके साथ अरबोंका केवल व्यापारिक सम्बन्ध रहा। राष्ट्रकूट अमोघवर्षके राज्यमें सुलेमान, अलइद्रिसि, मसूरी, इब्नहौकल आदि अरब सौदागरोंका आना पाया जाता है। उसके बहुत बाद तक भी वे आते रहे। किन्तु भारतके ये अरब-व्यापारी बड़ी सभ्यता और शिष्टतापूर्वक रहते थे। भारतीयोंको बुरा न लगे इसलिए वे अपने मुरदोंको भी अपने घरोंमें ही दफ़न कर लेते थे।

१०वीं शतीके प्रारम्भके लगभग काबुल जो तबतक भारतका ही अंग रहता आया था मुसलमानोंके अधिकारमें चला गया। इसी शताब्दी के उत्तरार्धमें अफ़ग निस्तानके गजनी नगरमें एक नवीन मुसलमानी राज्यका उदय हुआ। ९८७ ई० में उत्तर-पश्चिमी सीमान्तको पार करके भारतकी सीमामें प्रवेश करनेवाला गजनीका अमीर सुबुक्तगीन प्रथम मध्य-एशियाई मुसलमान नरेश था। भटिण्डेके साही राजा जयपालने उसका डटकर मुक़ाबला किया और उसे पीछे हटा दिया तथा ९८९ ई० में स्वयं गजनीपर आक्रमण किया, किन्तु हारकर पीछे लौट आया। चार दुर्ग और कुछ हाथी अमीरको देकर उसने सन्धि कर ली और तुरन्त उसे तोड़ भी दिया। फल-स्वरूप मुसलमानोंने सीमान्त देशके जलालाबाद जिलेको तहस-नहस कर दिया। ९९१ ई० में जयपालने राज्यपाल

प्रतिहार और धंग चन्देल आदि नरेशोंका एक मुसलिमविरोधी संघ बनाकर गज़नीवालोंके साथ कुर्रम घाटीमें भयङ्कर युद्ध किया और मुसलमानोंको पेशावरसे आगे न बढ़ने दिया। ९९७ ई० में सुबुक्तगीनका बेटा महमूद गज़नीका सुलतान हुआ। मध्य-एशियामें अपने राज्य-विस्तारसे उसने बहुत शक्ति बढ़ा ली थी और वह अपने समयका सर्वाधिक शक्ति-शाली मुसलमान सुलतान समझा जाता था। भारतके धन-वैभवकी कहानियोंने उसे अत्यन्त लालची बना दिया था। किन्तु वीर-योद्धाओंके इस महान् देशमें घुसने और लूट-मार करनेके लिए अपने सैनिकोंमें पर्याप्त साहस पैदा करनेके लिए केवल अतुल लूटका लोभ दिखाना पर्याप्त न था, अतः उसने उनके धर्मोन्मादको भड़काया, बुतपरस्तोंके बुतोंको तोड़कर, उनके कल्पनातीत दौलतसे भरे मन्दिरोंको लूटकर और काफ़िरोंको मुसलमान बनाकर या तलवारके घाट उतारकर गाज़ी बन इस जीवनमें धन, विजय और धर्मभक्ति तथा मरनेके बाद जन्नत मिलनेकी सहज आशा दिलायी। ९९९ से १०२७ ई० के बीच महमूदने भारतपर लगभग १७ आक्रमण किये। भटिण्डेके वीर साही राजे प्राणपणसे उसका प्रतिरोध करते रहे और इसी प्रयत्नमें होम हो गये। १००१ ई० मे जयपाल पेशावरके निकट युद्धमें पराजित होकर बन्दी हुआ, महमूदने उसे मुक्त भी कर दिया किन्तु उस अपमानक्षुब्ध नरेशने चितामें प्रवेश करके जीवनका अन्त कर लिया। उसके पुत्र अनन्दपालने महमूदका प्रतिरोध करनेके लिए अजमेर के बीसलदेव चौहानके नेतृत्वमें मालवा, खजराहो, कन्नौज, शाकुम्भरी आदिके भारतीय नरेशोंका एक प्रबल संघ संगठित किया। पेशावरके निकट ४० दिन तक दोनों सेनाएँ आमने-सामने पड़ी रहीं। पंजाबके खोखरोंने भी भारतीय संघको सहयोग दिया। सुलतानकी सुदृढ़ सुरक्षित छावनीपर पहले धावेके कुछ मिनटोंमें ही भारतीय वीरोंने सहस्रों मुसलमानोंको मृत्युके घाट उतार दिया। किन्तु अन्तमें हाथियोंके बिगड़ जानेसे भारतीय सेनामें गड़बड़ मच गयी और मुसलमान विजयी रहे,

फिर भी वापस लौट जानेमें ही उन्होंने रक्षा समझी। १००९ ई० में महमूदने कांगड़ेके दुर्गपर आक्रमण किया और वहाँके सुप्रसिद्ध रजत-मन्दिरको तोड़ा और लूटा। ३५ वर्ष तक इस दुर्गपर मुसलमानोंका अधिकार भी रहा जिसके उपरान्त भारतीयोंने इसे उनसे फिर छीन लिया। १०१८ ई० मे (अब भटिण्डेके साहीवंश और राज्यका अन्त हो गया था) महमूदने बरनके राजा हरदत्तको पराजित करके अपने अधीन किया तथा मथुराके मन्दिरोंको लूटा और विध्वंस किया। नगरके मध्य कृष्ण भगवान्‌का अत्यन्त विशाल कलापूर्ण एवं अद्वितीय मन्दिर था जिसे आततायीने जलाकर भस्म कर डाला। अपार धन-सम्पत्तिके अतिरिक्त उक्त मन्दिरकी पाँच विशालकाय स्वर्ण-प्रतिमाओंको भी वह साथ ले गया। इस आक्रमणमें मथुराके चौरासीपर स्थित तथा उसके कुछ पूर्व ही निर्मित जैनमन्दिर और मूर्त्तियाँ न जाने कैसे सुरक्षित रह गयीं। सम्भव है कि अन्य मन्दिरोंकी लूटका धन ही उससे सँभाले न सँभला और इन जैन-मन्दिरोंको वह चूक गया। मथुराके बाद उसने कन्नौजपर आक्रमण किया और उसे लूटा। राजा राज्यपाल नगर छोड़कर भाग गया था। उसकी इस कायरताके लिए गण्ड, चन्देल आदि नरेशोंने उसे दण्ड दिया। अत: अगले वर्ष महमूदने चन्देलोंपर आक्रमण किया। गण्डकी मूर्खतासे महमूद सफल हुआ और लूट-मार करके चला गया। अगले आक्रमणमें भी धन देकर उसने उसे लौटा दिया। १०२४ ई० में महमूदने गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ-मन्दिरको लूटा और विध्वंस किया। भीम सोलंकी बड़ी वीरतासे लड़ा किन्तु पराजित होकर लौट आया। उसके जैनमन्त्री विमलशाहने गजनी तक मुलतानका पीछा किया और उसकी सेनाकी बहुत कुछ हानि की। १०३० ई० में महमूद मर गया। भारतके इन आक्रमणोंमें अपार धन उसके हाथ लगा था जिसके कारण भारत-बाह्य समस्त संसारमें वह सर्वाधिक धनशक्ति-सम्पन्न नरेश हो गया था। भारतके लिए उसके आक्रमण प्रलयङ्कर किन्तु अस्थायी बवण्डर थे। देशके

असंख्य जन-धन, मन्दिर, मूर्तियों एवं अनुपम कला-कृतियोंका विध्वंस इस नृशंस लुटेरेके हाथों हुआ, किन्तु देशके साधन ऐसे असीम थे कि थोड़े समय पश्चात् ही उसकी दशा पूर्ववत् हो गयी और इन भयङ्कर आक्रमणों एवं लूट-मारका चिह्न भी न रहा। इसमें भी सन्देह नहीं कि तत्कालीन राजपूत राजाओंका दुरभिमान और उनमें परस्पर सहयोग, संगठन और एकताका अभाव तथा अश्वारोही सेनाकी अपेक्षा गजदलपर अधिक भरोसा रखना ऐसे तथ्य थे जो मुसलमानोंकी सफलताके उस समय भी और आगे भी प्रधान कारण हुए। व्यक्तिगत रूपसे महमूदमें राजनैतिक और धार्मिक उदारता भी थी। तिलक नामक एक हिन्दूके नायकत्वमें उसकी सेनामें एक हिन्दू सैनिक दल भी था और उन्हें मुसलमान छावनी तथा गजनीमें भी अपने धर्मपालनकी स्वतन्त्रता थी। महमूदने साहित्य और कलाको भी प्रश्रय दिया, गजनीमें सुन्दर महल और मसजिदें बनवायीं, फ़ारसीके फिरदौसी आदि कवियोंको प्रश्रय दिया। उसके एक महान् विद्वान् अनुचर अल्बेरुनीने जो उसके साथ कई बार भारत आया और कुछ समय यहाँ रहा भी, भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान आदिका प्रशंसापूर्ण विवरण दिया है। इस विद्वान्ने संस्कृत-भाषा भी सीखी और भारतीय धर्मशास्त्रोंका भी अध्ययन किया था। फिर भी भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे तो महमूद गजनवी एक धर्मान्ध विध्वंसक एवं बर्बर लुटेरा ही था। पंजाबके कुछ भागपर उसका अधिकार भी स्थायी हो गया, जिसके संरक्षणके लिए उसके पुत्र और उत्तराधिकारी मसूदके समयमें भी भारतपर कई आक्रमण हुए। किन्तु जब पंजाबसे आगे बढ़कर पूर्वी-उत्तर प्रदेशमें उसकी सेना घुसी तो बहराइचके युद्धमें श्रावस्तीके जैन-नरेश सुहिलदेव-द्वारा पराजित हुई और उसका सिपहसालार युद्धमें मारा गया। यह सिपहसालार ही सम्भवतया सैयद सालार मसूद गाजीके नामसे प्रसिद्ध है। १०८० ई० के लगभग मसूदके उत्तराधिकारी इब्राहीमने भारतपर आक्रमण किया। इसके लगभग १०० वर्ष

बाद तक पश्चिमोत्तर सीमापर मुसलमानोंके उपद्रव शान्त रहे और कोई उल्लेखनीय आक्रमण नहीं हुआ। पंजाब अवश्य ही उनके अधिकारमें रहा।

१२वीं शतीके पूर्वार्धमें ग़ोरी वंशका उदय हुआ। महमूद गज़नवीके वंशज बहरामने दो ग़ोरी शाहज़ादोंकी हत्या करवा दी थी अतः ११५० ई० में ग़ोरी सुलतान अलाउद्दीन हुसेनने गज़नीपर आक्रमण किया, उसे बुरी तरह ध्वंस किया और लूटा। बहरामके उत्तराधिकारी खुसरूशाहने भागकर पंजाबमें शरण ली और लाहौरको अपनी राजधानी बनाया किन्तु केवल पंजाबके कुछ भागपर ही उसका राज्य रहा। ११७३ ई० में ग़ोरी सुलतान ग़यासुद्दीन मध्य-एशियाका प्रायः वैसा ही शक्तिशाली नरेश था जैसा कि अपने समयमें महमूद गज़नवी था। उसी वर्ष उसने अपने राज्य का पूर्वी भाग जिसमें गज़नी और काबुल सम्मिलित थे अपने भाई मुहम्मद बिन सामशिहाबुद्दीन मुइज़ुद्दीन ग़ोरीको दे दिया। यह मुहम्मद ग़ोरी चतुर, दूरदर्शी और महत्त्वाकांक्षी था। भारतको विजय करके इस दिशामें अपना राज्य-विस्तार करनेकी उसकी आकांक्षा थी, अन्य दिशाओंमें उसके लिए गुञ्जायश भी न थी। ११७५-७६ ई० में उसने मुल्तानपर आक्रमण करके उसपर अधिकार किया, तदनन्तर स्थानीय रानीके विश्वासघातसे उच्छके दुर्गपर अधिकार किया। इस प्रकार सिन्धपर अधिकार करनेके पश्चात् ११७८ ई० में उसने गुजरातपर आक्रमण किया। अन्हिलवाड़ेका तत्कालीन राजा भीम द्वितीय सोलंकी बालक था किन्तु उसके जैनमन्त्री एवं सेनापति सज्जनने आबूकी तलहटोके युद्धमें मुहम्मद ग़ोरीको बुरी तरह पराजित करके देशसे भगा दिया। इस विजयने लगभग सौ वर्षके लिए गुजरातको मुसलमानी आक्रमणोंसे प्रायः सुरक्षित कर दिया। ११८७ ई० में मुहम्मद ग़ोरीने खुसरूशाह गज़नवीको जो उस वंशका अन्तिम प्रतिनिधि था पदच्युत करके पंजाबपर अधिकार किया। पंजाब और सिन्धपर अपना शासन सुदृढ़ कर लेनेके उपरान्त ११९१ ई० में

उसने एक भारी सेनाके साथ उत्तर-भारतके मध्य भागमें प्रवेश किया। शत्रुको उसकी इस धृष्टताके लिए दण्डित करनेके लिए दिल्ली और अजमेरके संयुक्त वीर नरेश पृथ्वीराज चौहानके नेतृत्वमें उत्तर-भारतके विभिन्न राजे आपसी वैर-भाव भुलाकर एक हो गये और मुसलमानोंको देशसे निकाल बाहर करनेके लिए यह संयुक्त सैन्यदल द्रुत वेगसे चल पड़ा। कर्नाल और थानेश्वरके मध्य तराइन या तलावड़ीके मैदानमें दोनों दलोंकी मुठभेड़ एवं भयङ्कर युद्ध हुआ। पृथ्वीराजके वीर भाईने स्वयं मुहम्मद ग़ोरीको द्वन्द्व-युद्धमें उलझाया। ग़ोरी सुलतान बुरी तरह जख्मी होकर रण-क्षेत्रको छोड़ प्राण बचाकर भाग निकला, उसके सैनिक भी पराभूत एवं तितर-बितर होकर भाग निकले। भारतीय शूरोंने भागते हुए शत्रुओंका पीछा भी न किया और उन्हें सुरक्षित वापस लौटने और नवीन आक्रमणके लिए शक्ति संग्रह करनेके लिए छोड़ दिया। अगले वर्ष (११९२ ई० में) ही और अधिक सेना, बल एवं उत्साहके साथ ग़ोरीने फिर आक्रमण किया। पृथ्वीराजने इस बार भी पूर्ण उत्साहके साथ तलावड़ीके मैदानमें उसका मुक़ाबला किया। किन्तु जहाँ इस बार मुसलमानोंका बल और संकल्प द्विगुणित था, कन्नौज-नरेश जयचन्दके असहयोगके कारण पृथ्वीराजको बन्धु नरेशोंकी पिछले वर्ष जितनी और जैसी सहायता प्राप्त न हुई। फिर भी वह वीर और उसके सूरमा अत्यन्त वीरताके साथ लड़े। पृथ्वीराज आहत होकर बन्दी हुआ और मार डाला गया। भारतीय सेनाके पैर उखड़ गये और विजय मुसलमानोंके हाथ रही। तलावड़ीके इस युद्धने भारतके भाग्यका निर्णय कर दिया। पंजाबको पार करते ही दिल्लीके उत्तर-पश्चिमकी ओर फैली हुई यह विस्तृत ऐतिहासिक समर-भूमि जहाँ महाभारत युद्धका कुरुक्षेत्र, इन प्राथमिक मुसलमान युद्धोंकी तलावड़ी और कालान्तरके अन्य तीन महायुद्धोंका पानीपत अवस्थित है, भारतकी वास्तविक कुंजी और उसकी भाग्य-विधात्री रहती आयी है! पश्चिमोत्तर सीमान्तके दर्रोंको पार करके आनेवाला आक्रान्ता पंजाबकी नदियोंको

लाँघकर सहज ही इस स्थान तक आ पहुँचता है। भारतीय दल भी यदि उसे उक्त दर्रोंके मुहानोंपर ही रोक ले सके तो ठीक वर्ना पंजाबकी सभी नदियोंके सभी घाटोंकी रक्षा करना असम्भव-सा हो जाता है, अतः शत्रुका प्रतिरोध करनेके लिए वह इसी स्थानपर उसकी प्रतीक्षा करता है। युद्ध विज्ञानकी दृष्टिसे यह स्थान है भी सर्वथा उपयुक्त। बड़ेसे-बड़े युद्धके लिए पर्याप्त विस्तृत एवं समतल मैदान जिसके उत्तरमें उत्तुंग हिमालय पर्वत तथा दक्षिणमें बीहड़ मरुभूमिके कारण आगे बढ़ने या पीछे लौटनेके अतिरिक्त अन्य गति नहीं। आक्रान्ता यदि पराजित होता है तो उसे प्राण बचाकर पीछे ही भागना पड़ता है और उसमें भी भारी हानि उठानी पड़ती है। और यदि वह विजयी हुआ तो भारतका वक्षःस्थल, विशाल उत्तरापथ, उसे सहज ही हस्तगत हो जाता है। यही इस बार हुआ। बल्कि यही प्रथम अवसर था जब भारत इस क्षेत्रमें शत्रुओंका प्रतिरोध करनेमें असफल हुआ और परिणाम-स्वरूप उसने अपने-आपको शताब्दियोंके लिए विदेशियों एवं विधर्मियोंकी उत्पीड़क पराधीनताके सुपुर्द कर दिया। इस पराजयका कारण भी यह नहीं था कि भारतीय सैनिक या उनके सेनानी निर्भीकता, वीरता, शौर्य, साहस, युद्ध-कौशल और बलमें मुसलमानोंसे कुछ कम थे। यह सर्वमान्य तथ्य है कि इन गुणोंमें वे अपने शत्रुओंसे कहीं अधिक श्रेष्ठ थे। किन्तु उनका सैन्य-संगठन, नेताओंके व्यक्तिगत दुरभिमान, ईर्ष्या, मानापमान आदिके कारण शिथिल था। उसमें एकसूत्रता एवं एकनेतृत्वका अभाव था। युद्ध-प्रणालीमें उन्होंने समयानुकूल एवं विरोधीके अनुरूप सुधार करना नहीं सीखा था। ये राजा लोग अपने या अपने राज्यके लिए लड़ते थे, समग्र देशके लिए लड़नेकी भावना उनमें न थी। बौद्धधर्मके प्रायः सर्वथा अभाव और जैन प्रभावके अपेक्षाकृत मन्द पड़ जानेके कारण ब्राह्मण-पण्डितोंकी कृपासे इस कालमें जाति-पाँतिका भेद कुछ ऐसा पुष्ट हो चला था कि राजपूत जातिके अलावा अन्य कोई व्यक्ति सैनिक हो नहीं हो

पाता था जिससे देशके सैन्य-साधन एकांगी और सीमित हो गये, और अन्ततः देश पराधीन हुआ। शीघ्र ही ग़ोरीकी सेनाने जयचन्द्रको भी पराजित किया जो स्वयं मुसलमानोंको क्रान्तिकारी विजयका एक प्रधान यद्यपि परोक्ष साधक बन चुका था। ११९३ ई० में ही मुहम्मद ग़ोरीके सेनानी कुतुबुद्दीनने मेरठ और दिल्लीपर अधिकार किया, तदनन्तर कन्नौज, बनारस और ग्वालियरपर अधिकार किया, अजमेर भी दिल्लीके साथ-ही-साथ मुसलमानोंके अधिकारमें आ गया। ११९७ ई० में कुतुबुद्दीनने अन्हिलवाड़ेपर फिर आक्रमण किया किन्तु भीम द्वितीय-द्वारा नाममात्रकी अधीनता स्वीकार कर लेनेपर वापस लौट आया। उसी वर्ष उसके उपसेनानी मुहम्मद बिन बख्तियार खलजीने बिहार प्रान्तकी राजधानी विहार दुर्गपर अधिकार कर लिया। यह स्थान उस समय बौद्धोंका प्रधान केन्द्र रह गया था और यहाँका बौद्धधर्म इस कालमें अपने प्रति अवनत एवं विकृत रूपमें था। थोड़ेसे ही परिश्रमसे मुसलमानोंका विहार प्रान्तपर अधिकार हुआ, अनेक बौद्ध-विहार, पुस्तकालय, मन्दिर और मूर्तियाँ नष्ट कर दी गयीं, बौद्ध-भिक्षुओंको तलवारके घाट उतार दिया गया जो किसी प्रकार बचकर भाग निकले, उन्होंने नेपाल, तिब्बत आदि देशोंमें जाकर शरण ली। ११९९ ई० में इस खलजी सेनानीने बंगालकी राजधानी नदियाको भी मात्र १८ अश्वारोहियोंके साथ छल-कौशलसे हस्तगत कर लिया कहा जाता है। बूढ़ा ब्राह्मण राजा लक्ष्मणसेन बिना लड़े ही महल और राजधानी छोड़ भाग गया। नदियाको तहस-नहस करके खलजीने लखनौती या गौड़को प्रान्तीय राजधानी बनाया। १२०३ ई० में ग़ोरीने कुतुबुद्दीन-द्वारा चन्देल परमालको पराजित करवाकर कालिंजरका सुदृढ़ दुर्ग हस्तगत किया। उसी वर्ष ग़यासुद्दीन ग़ोरीकी मृत्यु होनेसे मुहम्मद ग़ोरी उसके भी राज्यका स्वामी हुआ और इस प्रकार वह उस समयका सर्वाधिक शक्तिशाली नरेश हुआ, उसका साम्राज्य भी सर्वाधिक विस्तृत था, इसी वर्ष वह भारतसे वापस लौटा। कहा जाता है कि जब

मुहम्मद ग़ोरी भारतमें रहकर अपने सेनानियों-द्वारा देशके विभिन्न भागोंकी विजय करा रहा था तो उसने अपनी मलिकाके आग्रहपर एक दिगम्बर जैन साधुको, जिन्हें उसने इलियटके अनुसार बहुसंख्यामें पाया था, अपने दरबारमें बुलाकर सम्मानित किया था। सम्भव है उक्त साधुके प्रभावको सुनकर अथवा केवल जिज्ञासाके लिए उसने वैसा किया हो। यों मुहम्मद ग़ोरी और उसके सेनानियोंने भी जिन-जिन राजधानियों, नगरों, दुर्गों आदिपर अधिकार किया उन्हे नष्ट-भ्रष्ट किया और लूटा। मन्दिरों और मूर्त्तियोंको तोड़ना और लूटना ये मुसलमान अपना धर्म समझते थे। प्राय: सभी प्रमुख स्थानोंमे हिन्दू और जैन-मन्दिरोंको मसजिदोंके रूपमें परिवर्तित किया गया, उनकी दृष्टिमें ब्राह्मण पण्डित या संन्यासी, जैन साधु और बौद्ध भिक्षु समान रूपसे काफ़िर थे और उन्हें मारना सवाब था। फिर भी मुहम्मद ग़ोरीका प्रधान उद्देश्य लूट-मार और मन्दिर-मूर्त्ति तोड़ना नहीं था वरन् राज्य-स्थापन करना था, अत: उसके ऐसे ध्वंस-कार्य सीमित ही रहे। दो वर्ष बाद ही उसे पंजाबकी खोखर जातिका दमन करनेके लिए वापस आना पड़ा किन्तु वापसीमें सन् १२०६ ई० में झेलम ज़िलेके धमियाक नामक स्थानमें एक देश, धर्म और जाति-भक्त वीरने अकेले ही छावनीमें घुसकर मुहम्मद ग़ोरीका वध कर दिया। उसकी मृत्युके साथ ही भारतके मुसलमानी राज्यकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई।

ग़ुलामवंश (१२०६–१२९० ई०)—उत्तर भारतमें मुसलमान सुलतानोंका सर्वप्रथम वंश था। यह विधिका विचित्र विधान था कि इस महादेशको सर्वप्रथम ग़ुलामीकी बेड़ियोंमें जकड़नेवाले स्वयं ग़ुलाम थे। मुहम्मद ग़ोरीकी मृत्युके उपरान्त उसका प्रिय दास (जरख़रदी ग़ुलाम) और प्रधान सेनानायक कुतुबुद्दीन ऐबक (१२०६–१० ई०) ग़ोरी-द्वारा विजित भारतमें उसीके द्वारा स्थापित मुसलमानी राज्यका सर्वप्रथम स्वतन्त्र शासक हुआ। ग़ोरीके उत्तराधिकारीने स्वयं उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली और उसे सुलतानकी पदवी दी। खलीफ़ाने भी स्वीकारोक्ति दे दी।

वास्तवमें भारतमें मुसलमानी राज्यका प्रथम संस्थापक ऐबक ही था, उसी ने स्वयं तथा अपने उपसेनानायकों-द्वारा, जिनमेंसे अधिकतर उसीकी भाँति गोरीके गुलाम थे, पिछले १५ वर्षोंमें उत्तरी भारतके विभिन्न देशी राजाओं को एक-एक करके पराजित किया था और इस देशमें दिल्लीको केन्द्र एवं राजधानी बनाकर मुसलमानी राज्यका विस्तार किया था तथा गोरीके वाइसरायके रूपमें शासन किया था। बिहार, बंगाल-विजेता खलजीका आसामकी चढ़ाईमें १२०६ ई० में ही अन्त हो गया था। यल्दुजकी लड़कीके साथ अपना, कुबाचाके साथ अपनी बहिनका और इल्तुतमिशके साथ अपनी पुत्रीका विवाह करके ऐबकने प्रधान मुइज्जि गुलाम सरदारोंको अपना सहयोगी और सहायक बना लिया था और इस प्रकार अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। ऐबक और उसके साथी तथा उनके उत्तराधिकारी ये प्रारम्भिक मुसलमान सुलतान और सरदार धर्मान्ध, क्रूर, निर्दयी एवं बर्बर मध्य-एशियाई योद्धा थे। जो मुल्ला मौलवी अनिवार्यतः इनके परामर्श-दाता और इतिहास-लेखक रहते थे वे उनके धर्मोन्मादको और अधिक प्रज्वलित करते रहते थे। प्रत्येक सुलतान या सरदारके महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय कारनामे यही होते थे कि उसने कितने सशस्त्र या निहत्थे काफ़िरोंको मय उनके निस्सहाय स्त्री-बच्चोंके दोजख पठाया, कितनोंको जबरदस्ती मुसलमान बनाया, कितने मन्दिरों और मूर्त्तियोंको तोड़ा और लूटा आदि। उनकी द्रुत सफलताका कारण भी उनके निर्दय अमानुषिक व्यवहारसे भारतीय जनता और राजाओंके हृदयमें उत्पन्न होनेवाला भीषण आतङ्क ही था। अधीनता स्वीकार कर लेनेपर भी इन भयङ्कर अत्याचारोंसे त्राण पाना सदैव सम्भव न था, अतः भारतीय वीर प्राणोंकी बाजी लगाकर लड़ते और मर मिटते थे। दुर्भाग्यसे मुसलमानोंकी इन विजयों और अत्याचारों तथा उनके विरोधके विवरण भारतीय दृष्णिकोणसे किसी तत्कालीन या उत्तरवर्ती भारतीयने लिखे ही नहीं। राजस्थानकी कतिपय ख्यातों

और विरुदावलियों आदिसे ही उस पक्षका थोड़ा-सा अधूरा ज्ञान होता है, इन मुसलमान सुलतानोंने कुछ अपने धर्मके लिए और कुछ अपने नाम और मानके लिए प्रारम्भसे ही यहाँ मसजिदें और मक़बरे बनवाने शुरू किये। इस कार्यके लिए उन्हींके द्वारा ध्वस्त अनगिनत हिन्दू एवं जैन-मन्दिरोंने प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की। स्वयं ऐबकने ऊश-निवासी कुतुबशाह फ़क़ीर-की स्मृतिमें दिल्लीमें कुतुबमसजिद, कुतुबमीनार आदि इमारतें बनवानी शुरू कीं। अकेली कुतुबमसजिदमें सत्ताइस स्थानीय हिन्दू और जैन-मन्दिरोंकी सामग्री लगी है। कुतुबमीनार व अन्य इमारतोंमें भी अनेक हिन्दू और जैन-मन्दिरोंके भग्नावशेष काम आये। अजमेरकी बड़ी मसजिद तो वहाँके एक विशाल जैन-मन्दिरको ही तद्रूप परिवर्तित करके बनी, कालंजर आदि अन्य स्थानोंके भी अनेकों सुन्दर जैन-मन्दिरोंके ध्वंसावशेषोंसे तत्कालीन अनेक मुसलमान इमारतें बनीं। बनानेवाले कारीगर भी प्रायः भारतीय ही थे, किन्तु बनावटके मौलिक सिद्धान्त मुसलमानी थे। अतः इस प्रकार गुलाम सुलतानोंके समयसे ही भारतीय मुसलमान कलाका भी विकास शुरू हो गया।

कुतुबुद्दीनकी मृत्युके बाद उसका पुत्र आरामशाह (१२११ ई०) सुलतान हुआ। वह अयोग्य था अतः कुछ ही महीनोंमें उसे पदच्युत करके ऐबकका गुलाम और दामाद शमसुद्दीन इल्तुतमिश (१२१२–१२३६ ई०) जो उस समय बदायूँका सूबेदार था, सुलतान बन बैठा। यल्दुज़, कुबाचा आदि मुइज्ज़ि और कुतबी गुलाम सरदार जो उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे उनका उसने दमन किया और उत्तरी भारतके बहुभागको अपने अधीन किया। यह एक योग्य न्यायी एवं कुशल शासक था। इसके समयमें भयंकर मंगोल सरदार चंगेज़खाँने भारतपर सर्व-प्रथम आक्रमण किया किन्तु इल्तुतमिशकी चतुराईसे वह सिन्धसे ही वापस लौट गया। इस सुलतानने ऐबक-द्वारा प्रारम्भ की हुई कुतुबमीनार आदि इमारतोंको पूरा किया, अजमेरकी विशाल मसजिद जैन-मन्दिरोंको तोड़कर

बनवायी और दिल्लीमें अपना मक़बरा बनवाया। इल्तुतमिशका पुत्र रुक-नुद्दीन अयोग्य और दुराचारी था अतएव कुछ ही महीने राज्य करनेके बाद सरदारोंने उसे मारकर उसकी बहिन सुलताना रजिया बेगम (१२३६–३९ ई०) को गद्दीपर बैठाया। वह योग्य और बुद्धिमती थी, पुरुषवेषमें ही रहती थी, युद्धोंमें भी भाग लेती थी, किन्तु कुछ सरदारोंके प्रेमपाशमें पड़कर उसने अन्य सरदारोंको अपना विद्रोही बना लिया और जीवनसे हाथ धोया। तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारोंने उसकी बड़ी प्रशंसा की है और उसके पतनका कारण उसका स्त्री होना लिखा है, उसके बाद उसके भाई बहरामने और फिर एक भतीजेने थोड़े-थोड़े समयतक राज्य किया। ये दोनों ही निकम्मे शासक रहे। तदनन्तर इल्तुतमिशका ही एक अन्य छोटा लड़का नासिरुद्दीन (१२४६–६६ ई०) सुलतान हुआ। उसके एक मुल्ला राजकर्मचारी मिनहाज सिराजने 'तबक़ाते नासिरी' नामका प्रथम भारतीय मुसलमानी इतिहास-ग्रन्थ फ़ारसी भाषामें लिखा। सुलतान नासिरुद्दीन एक बहुत सीधा नेक और धर्मात्मा व्यक्ति कहा जाता है। समस्त शासनकार्य उसके श्वसुर एवं प्रधान मन्त्री उलुगखाँ बलबनके हाथमें था। उसीको सुलतानने अपना उत्तराधिकारी भी बनाया। नासिरुद्दीनकी ओरसे बलबनने भी हिन्दुओंके विरुद्ध अनेक जहाद किये, असंख्य काफ़िरोंको मारा, कितनोंको ही मुसलमान बनाया, उनके मन्दिरों, मूर्त्तियोंको तोड़ा, उनका धन लूटा और राज्यकोष भरा। मुल्ला इतिहासकार इन जहादोंका वर्णन करते अघाता नहीं। इस कालमें भी मंगोलोंके कई आक्रमण हुए। लाहौरतक उन्होंने लूट-मार की। इसलिए बलबनने सीमान्तप्रदेशकी रक्षाकी ओर अधिक ध्यान दिया। गद्दीपर बैठनेके बाद बलबन (१२६६–८६ ई०) ने सर्वप्रथम उस चालीस शम्सी गुलाम सरदारोंके दलका दमन किया जिसे इल्तुतमिशने संगठित किया था और जो इस समय बलबनका भीषण प्रतिद्वन्द्वी बना हुआ था। बलबन बहुत कठोर अनुशासक था, विद्रोहियोंको कड़ा दण्ड देता

था और उनका बीज नाश कर देता था। बंगालका विद्रोही सूबेदार तुग़रिल बेग इसका उदाहरण है। दिल्लीके निकटवर्ती प्रदेशमें हिन्दू मेवाती प्राय: उत्पात करते रहते थे, उसने उन्हें बुरी तरह कुचल दिया। उनमेंसे अनेक मुसलमान बन गये। बंगालमें उसने अपने पुत्र बुग़राख़ाँको सूबेदार बनाया जिसके वंशज वहाँ उस पदपर १३३८ ई० तक चलते रहे। बलबनने अपने गुप्तचर चारों ओर फैला रखे थे। भारतीयोंको वह राज्य-सेवामें नियुक्त नहीं करता था। वह अपने दरबारकी शान-शौक़तकी ओर भी बड़ा ध्यान रखता था। मंगोलोंके भयसे भागे हुए अनेक मध्य-एशियाई राजे उसकी शरणमें रहते थे। प्रसिद्ध कवि अमीर ख़ुसरो भी इन्हीं शरणार्थियोंके साथ यहाँ आया था। हिन्दू विद्रोहियोंके प्रति बलबनके अत्याचार अन्य सुलतानोंसे भी अधिक अमानुषिक थे। जीते-जी खाल खिंचवा लेना या हाथियोंके पैरों-तले कुचलवा डालना सामान्य दण्ड थे। मंगोलोंके भी अनेक आक्रमण हुए जिनके कारण वह राज्य-विस्तारकी ओर ध्यान ही न दे सका। उसकी कठोरताने अस्थायी सुरक्षा प्रदान की किन्तु उसके मरते ही अशान्ति और अराजकता फैल गयी। उसका उत्तराधिकारी उसका पौत्र कैकूबाद (१२८६–९० ई०) ग़ुलामवंशका अन्तिम सुलतान था। वह महा दुराचारी और निकम्मा शासक था। अत: १२९० ई० में उसके नृशंस वधके साथ इस वंशका अन्त हुआ। इन सुलतानोंका राज्य इस्लाम और मुसलमानोंके लिए ही था, न्याय और सुशासनका लाभ भी उन्हींके लिए था। भारत उनका आखेट-क्षेत्र और भारतीय जनता आखेट मात्र थी।

ख़लजीवंश (१२९०–१३२० ई०)—कैकुबादका वध करके सरदारोंने समानाके हाकिम वृद्ध ख़लजी सरदार जलालुद्दीन (१२९०–९६ ई०) को सुलतान बनाया। अगले ही वर्ष दिल्लीके आस-पास भीषण अकाल पड़ा जिसमें अनेक भारतीयोंने यमुनामें डूबकर प्राण दे दिये। फिर मंगोलोंका आक्रमण हुआ। उन्हें सुल्ताननने घूस देकर वापस लौटा

दिया किन्तु उनमेंसे कुछ मुसलमान बनकर यहीं बस गये और नव-मुस्लिम कहलाये। इस सुलतानने सिदिमौला नामक एक मुल्लाको मरवा डाला इससे मुल्ला मौलवी भड़क उठे। वैसे वह नम्र प्रकृतिका था। हिन्दुओंपर उसने अधिक अत्याचार नहीं किये प्रतीत होते। सुलतानकी नरमीके कारण राज्यमे ठगोंका जोर बढ़ गया था। १२९४ ई० में उसका भतीजा एवं दामाद अलाउद्दीन सुलतानकी अनुमतिसे मालवा विजय करनेके लिए गया किन्तु तदुपरान्त दक्षिणमें घुसकर उसने देवगिरिके यादव राजा रामचन्द्ररायको भी पराजित किया और लूटका विपुल धन लेकर वापस लौटा। कड़ामें प्रेमविह्वल वृद्ध सुलतान यशस्वी उत्तराधिकारीका स्वागत करने गया तो उसीके हाथों छलसे मारा गया। अलाउद्दीन खलजी (१२९६–१३१६ ई०) ने लूटके धनको सरदारोंमें बाँटकर उन्हें अपनी ओर मिलाया और अपनी स्थिति सुदृढ़ एवं सुरक्षित करके अपने विद्रोहियों एवं विरोधियोंको शनैः-शनैः कुचल डाला। १२९७–१३०५ ई० के बीच मंगोलोंके कई आक्रमण हुए, एक बार तो वे दिल्लीपर ही आ धमके, किन्तु छल-बल, चतुराई और घूस आदिके प्रयोगसे सुलतानने उनसे त्राण पाया। १२९८ ई० में नव-मुस्लिम मंगोलोंके विद्रोह करनेपर उसने सहस्रोंकी संख्यामें उन्हें मरवा डाला। उसने स्वयं तथा अपने मलिक काफ़ूर, उलुगखाँ, अलपखाँ, ज़फ़रखाँ, नसरतखाँ आदि सेना-नायकोंके द्वारा राजपूतानेके रणथंभौर (१३०१ ई०) और चित्तौड़ (१३०३ ई०) जैसे प्रसिद्ध दुर्गोंको अधिकृत किया। राजपूत वीर अत्यन्त वीरतासे लड़े और अन्ततः जौहर-द्वारा अपनी स्त्रियों एवं बच्चोंको चिताग्निको अर्पण कर एक-एक करके कट मरे। १२९८ ई० में कर्ण बघेलेको पराजित करके गुजरातको अधीन किया गया, तदुपरान्त अलाउद्दीनने मालवाको अधीन किया तथा देवगिरिके यादवों और द्वारसमुद्रके होयसलोंको पराजित करके उन्हें अपने अधीन किया। कोरोमण्डल तटको रौंदते हुए मदुरातक उसकी सेनाएँ पहुँची। इस प्रकार चाहे नामके ही लिए सही, हिमालयसे

लेकर कुमारी अन्तरीप पर्यन्त सम्पूर्ण देशपर उसकी विजय-पताका फहरायी और वह भारतमें मुसलमानोंके तबतकके सर्वाधिक विस्तृत साम्राज्यका अधिपति कहलाया। उसकी विजयका कारण यह भी था कि उसके द्वारा विजित देशी राज्य संयोगसे उस समय अपनी अवनतिकी अन्तिम अवस्थामें थे। इन विजय-यात्राओंमें की गयी लूटके धनसे उसकी शक्ति और समृद्धि भी अत्यधिक बढ़ गयी और वह अपने आपको दूसरा सिकन्दर समझने लगा। मुल्ला-मौलवियोंका राज्यकार्योंमें हस्तक्षेप भी वह सहन नहीं करता था। अतः वे भी उससे बहुत चिढ़ने लगे थे। इसी कारण जियाउद्दीन बरनी आदि मुल्ला इतिहास-लेखकोंने उसकी बड़ी निन्दा की है जबकि इब्नबतूताने उसे भारतका एक सर्वश्रेष्ठ एवं महान् सुलतान बताया है। पुराने अमीरों और सरदारोंका भी उसने दमन किया और अपने नये सेवकोंको आगे बढ़ाया। सामान्य भारतीय जनताके प्रति उसका यह भाव था कि उनके पास खाने-पीनेकी परम आवश्यकताओंसे अधिक धन नहीं रहना चाहिए क्योंकि धन ही विद्रोहको प्रेरणा देता है। अतः उसने भारी-भारी कर लगाये। जगह-जगह गुप्तचरोंका जाल बिछाया और राज्यके अफ़सरोंपर कड़ा नियन्त्रण रखा। उसका शासन कठोर था, अत्याचारकी भी कमी नहीं थी किन्तु पहले सुलतानों-जैसी धर्मान्धता भी नहीं थी। शासन एवं राजनीतिमें वह धर्मकी परवाह नहीं करता था। प्रारम्भमें वह प्रायः निरक्षर था किन्तु सत्संगसे कुछ शिक्षा प्राप्त कर ली थी और विद्वानोंका आदर करता था। सुप्रसिद्ध अमीर खुसरो उसका राजकवि था। राघो और चेतन नामक दो ब्राह्मण पण्डितोंका भी सुलतानके ऊपर पर्याप्त प्रभाव रहा, उसका एक हिन्दू मन्त्री माधव था। जिनप्रभसूरिके विविधतीर्थकल्पके अनुसार मन्त्री माधवकी प्रेरणापर ही सुलतानने अपने भाई उलुगखांको गुजरात विजय करनेके लिए भेजा था। दिल्लीका नगरसेठ उस समय पूर्णचन्द्र नामक अग्रवाल जैनी था और सुलतान भी उसे काफ़ी मानता था। इसी सेठसे कहकर सुलतानने

दिगम्बराचार्य माधवसेनको दिल्ली बुलवाया था, सुलताननें अपने दरबारमें उनका व्याख्यान सुना और सम्मान किया। राघो और चेतन नामक विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थमें इस जैनाचार्यने विजय प्राप्त की बतायी जाती है। दिल्लीमें काष्ठासंघकी गद्दीके संस्थापक भी यही आचार्य थे। इस सुलतानसे इन्होंने कई फ़रमान भी प्राप्त किये बताये जाते हैं। नन्दिसंघके आचार्य प्रभाचन्द्रने भी इसी समय दिल्लीमें अपना पट्ट स्थापित किया था। गुजरातके अपने पहले आक्रमणमें भड़ौंचके दिगम्बर जैन साधु श्रुतवीर स्वामीसे भी इस सुलतानका साक्षात्कार हुआ बताया जाता है। श्वेताम्बराचार्य रामचन्द्रसूरि और जिनचन्द्रसूरिका भी उसने सम्मान किया था, ऐसी अनुश्रुति है। उसीके शासन-कालमें सेठ पूर्णचन्द्र सुलतानके फ़रमान एवं सहायताको प्राप्त करके जैनोंका एक बड़ा संघ गिरनार तीर्थकी यात्राके लिए ले गया था। उसी समय पेथड़शाहके नेतृत्वमें वहाँ गुजरातका संघ भी आया था और दोनों संघोंने सद्भावपूर्वक साथ-साथ तीर्थ-वन्दना की थी। सुलतानके गुजरातके सूबेदार अलपखाँने पाटनसे जैन सेठ समरशाहको शत्रुञ्जय तीर्थका जीर्णोद्धार करने एवं यात्रासंघ ले जानेके लिए सहर्ष सैनिक सहायता भी दी थी। इन तथ्योंसे विदित होता है कि विजयार्थ या विद्रोह-दमनार्थ किये गये युद्ध-अवसरोंको छोड़कर सामान्यतः इस कालमें भारतीयोंको स्वधर्म पालनकी स्वतन्त्रता दी जाने लगी थी, और भारतीयोंको राज्यमें पदादि भी दिये जाने लगे थे। अलाउद्दीनने कई मसजिदें, भवन आदि भी बनवाये और सीरी नामक स्थानमें नयी दिल्लीके निर्माणका कार्य भी आरम्भ किया था। सुल्तानके कठोर शासनके परिणामस्वरूप चोरी, ठगी आदि भी बहुत कम हो गयी थीं और खाद्य पदार्थोंके मूल्य तो उसने इतने कम निर्धारित किये थे कि उतना सस्ता समय आगे फिर शायद कभी नहीं आया। उसके अन्तिम समयमें उसके मन्त्री मलिक काफ़ूरकी शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। सुलतानकी मृत्युके बाद काफ़ूरने उसके एक शिशु पुत्रको गद्दीपर बिठाया, सारी शक्ति अपने हाथमें कर

ली, और राज्यवंशके अनेक व्यक्तियोंका वध करा दिया। किन्तु लगभग एक मास पश्चात् ही उसकी और उसके साथियोंकी भी हत्या कर दी गयी। अब अलाउद्दीनका एक अन्य पुत्र कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खिलजी (१३१६–१३२० ई०) सुलतान हुआ किन्तु वह भी बड़ा दुराचारी, अत्याचारी एवं निकम्मा था। देवगिरिके विद्रोही राजा हरपाल देवकी उसने खाल खिचवा ली थी और यादव राज्यका अन्त कर दिया था। किन्तु वह हिन्दुओंका पक्ष भी करता था, पाटनके सेठ समरशाहको दिल्ली बुलाकर उसे उसने एक उच्च पदपर नियुक्त किया था। गुजरात के एक नीच परवारी जातिके हिन्दूको उसने अपना अधिक मुँह-चढ़ा बना लिया था। यह व्यक्ति खुसरोखाँके नामसे प्रसिद्ध हुआ और अपने स्वामीका वध करके स्वयं सुलतान बन बैठा। उसने सरदारोंको अपमानित किया और अपने जाति-भाइयोंको राजकीय पदोंपर भर लिया। दुराचार, अनाचार और अत्याचारका दौर और अधिक बढ़ा। अन्ततः सरदारोंने उसका वध कर दिया।

तुग़लकवंश (१३२१–१४१४ ई०)—खुसरोखाँकी तथाकथित हिन्दूगर्दीसे क्षुब्ध होकर उसका अन्त करनेवाले सरदारोंका नेता दियालपुर का हाकिम ग़ाजी मलिक था। यह एक तुर्क सरदार था। ख़िलजी वंशमें कोई पुरुष जीवित बचा नहीं था, अतः सब सरदारोंकी सम्मतिसे मलिक ग़ाज़ी ही ग़यासुद्दीन तुग़लकशाह (१३२१–१३२५ ई०) के नामसे सुलतान बना। वस्तुतः उसका बाप बलबनका एक तुर्क गुलाम था और माँ एक जाटनी थी, भारतमें ग़ाज़ी तुग़लकका जन्म हुआ था, अतः वह अन्य प्रारम्भिक सुलतानों-जैसा निर्दय, क्रूर और धर्मान्ध नहीं था, साथ ही एक योग्य शासक भी था। थोड़े-से समयमें ही उसने आन्तरिक शासन व्यवस्थित कर लिया और मंगोलोंके निरन्तर होनेवाले आक्रमणोंसे राज्य की रक्षा करनेके उपाय भी कर लिये। भारतीयोंको भी उसने उच्च पदों पर नियुक्त किया था। पाटनके सेठ समरशाहको वह पुत्रवत् मानता

था और उसे उसने तेलिंगाने भेजा था। सोमचरित्रगणिकृत गुरुगुण-रत्नाकर ग्रन्थ (१४८५ ई०) के अनुसार सूर और नानक नामके प्राग्वाट जातीय दो जैन-भ्राता भी उसके प्रतिष्ठित सरदार थे। अपने पुत्र जूना खांको उसने दक्षिण-विजयके लिए भेजा। वारंगलके प्रथम युद्धमें तो जूनाखाँ बुरी तरह पराजित हुआ किन्तु दूसरे आक्रमणमें उसने ककातीय राज्यका अन्त करके वारंगल और बीदरपर अधिकार कर लिया। इस समय सुल्तान स्वयं बंगालके उत्तराधिकारकी समस्या सुलझानेके लिए गया हुआ था। उसके लौटनेके पूर्व ही जूनाखाँ दिल्ली लौट आया। सुलतानके स्वागतके लिए राजधानीसे बाहर उसने अपने विश्वासी अनुचर ख्वाजाजहाँ-द्वारा एक अस्थायी काष्ठमण्डप बनवाया। सुलतान जब अपने छोटे पुत्र महमूदके साथ उस भवनमें शयन कर रहा था तो जूनाखाँ के षड्यन्त्रसे वह मण्डप गिरवा दिया गया और सुलतान व उसका पुत्र उसीमें दबकर मर गये। मुसलमान फ़क़ीर निज़ामुद्दीन औलियाका भी इस षड्यन्त्रमें हाथ रहा बताया जाता है। ग़यासुद्दीनने दिल्लीके निकट ही तुग़लकाबाद नामक एक सुदृढ़ दुर्ग बनवाया था और उसमें अपार धन संग्रह किया था। वहीं उसने अपना मक़बरा भी पहलेसे ही बनवा लिया था। अब जूनाखाँ, मुहम्मद बिन तुग़लक (१३२५–५१ ई०) के नामसे सुलतान बना। इस वंशका यह सर्वमहान् शासक था। उसका व्यक्तित्व भी बहुत विचित्र और दिलचस्प था। आजतक इतिहासकारों में उसके स्वभाव एवं गुणोंके विषयमें भारी मतभेद है। उसका चरित्र अनेक विरोधी तत्वोंका मिश्रण था। जहाँ एक ओर वह सुशिक्षित, बहु-भाषा-विज्ञ, दर्शन, न्याय, तर्क, चिकित्सा आदि विविधविद्याओं और ज्ञान-विज्ञानोंमें पारंगत, विद्वानोंका समादर करनेवाला, उदार, स्वतन्त्र-विचारक, दानशील, प्रजाहितैषी, वीर योद्धा, सदाचारी और आविष्कारक बुद्धि-सम्पन्न था वहाँ साथ-ही-साथ बहुत क्रोधी, उतावला, अदूरदर्शी, अव्यावहारिक और निर्दयी भी था। स्वयं अपने पिताकी हत्यामें उसका

हाथ था और उसीके सञ्चित धनसे विरोधी सरदारोंका उसने मुँह बन्द किया था। शीघ्र ही उसने अपनी स्थिति सुरक्षित कर ली। उसने शासन-प्रबन्ध सावधानीसे किया। न्यायका वह पूरा ध्यान रखता था। किन्तु अपराधियोंको और विशेषकर विद्रोहियोंको अत्यन्त कठोर एवं अमानुषिक दण्ड देता था और इस विषयमें किसी प्रकारके पद, वर्ग या सम्बन्धकी भी परवाह न करता था। अपने सगे भानजोंको, कई उच्च-पदाधिकारियोंको और एक काजीको भी उसने खुले आम मृत्यु-दण्ड दिया था। इब्नबतूता नामक अफ्रीकाका एक मूर यात्री उसके शासन-कालमें भारतवर्ष आया था और कई वर्ष उसके दरबारमें रहा एवं सम्मानित हुआ था। १३४७ ई० में सुल्तानने उसे चीन-सम्राट्के पास अपना राजदूत बनाकर भेजा किन्तु मार्गमें ही जहाजी दुर्घटनाके कारण इब्नबतूता चीन तो न जा सका, किसी प्रकार प्राण बचाकर अपने देश वापस चला गया। इस यात्रीके विवरण सुलतान मुहम्मद तुगलकके स्वभाव एवं कार्य-कलापोंके लिए सर्वोत्तम प्रमाण हैं। इस सुल्तानने अस्पताल और दानशालाएँ खोलीं और विद्वानोंको मुक्तहस्तसे धन दिया। मुल्ला-मौलवी लोग इस सुलतानसे डरते और चिढ़ते थे। मुसलमान फ़क़ीर शेख रुक्नुद्दीनका वह भक्त था, अरस्तूके दर्शनका मर्मज्ञ था, भारतीय धर्मों और दर्शनोंके विद्वानोंको भी अपने दरबारमें बुलाकर उनका भाषण और वाद-विवाद चावसे सुनता था और उक्त विद्वानोंमें स्वयं भी वाद करता था। विविधतीर्थकल्पके कर्त्ता जिनप्रभसूरिका सुलतानने सम्मान किया और उन्हें कई फ़रमान दिये जिससे उन्होंने हस्तिनापुर, मथुरा आदि तीर्थोंकी ससंघ यात्राएँ और अनेक धर्मोत्सव किये। राज्य-सभामें उन्होंने वाद-विवाद भी किये। उनके शिष्य जिनदेवसूरि बहुत समय तक सुलतानके साथ रहे और सम्मानित हुए। इनके कहनेसे सुल्तानने कन्नान नगरकी महावीर-प्रतिमाको दिल्लीमें स्थापित करवाया। यह प्रतिमा कुछ दिन तुग़लकाबादके शाही खजानेमें भी रही। एक पोषधशाला भी उस समय सुलतानकी आज्ञा और सहा-

यतासे दिल्लीमें बनी। सुलतानकी माता मखदूमेजहाँ बेगम भी इन जैन-गुरुओंका आदर करती थी। जैन यति महेन्द्रसूरिका भी सुलतानने सम्मान किया था। पाटनके शाह समरसिंहको सुलतान भाई-जैसा मानता था और उसे उसने तेलिंगानेका शासक नियुक्त किया था। ज्योतिषी धराधर भी सुलतानका कृपापात्र था। १३३४ ई० की एक जैन-ग्रन्थ प्रशस्तिमें दिल्लीका नाम योगिनीपुर मिलता है। राजधानी तुगलकाबादके शाही किलेमें ही 'दरबार चैत्यालय' नामका एक जैनमन्दिर विद्यमान था जिसमें १३४२ ई० में उस चैत्यालयके निकट रहनेवाले पाटन-निवासी अग्रवाल जैन साह सागियाके वंशजोंने एक महान् पूजोत्सव किया था। इन लोगोंके गुरु काष्ठासंघी जयसेनके शिष्य भट्टारक दुर्लभसेन थे। सुलतान भी उनका आदर करता था। इस अवसरपर अनेक ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ करायी गयीं जिनका लेखक गन्धर्वका पुत्र पण्डित बाहड था। इस सुलतानके समयमें दिल्लीमें नन्दिसंघके पट्टाधीश प्रसिद्ध भट्टारक प्रभाचन्द्र थे। १३२७ ई० में ही सुलतानने दक्षिण-देशस्थ दौलताबाद (देवगिरि) को राजधानी स्थानान्तरित करनेका निश्चय किया और दिल्लीको खाली करनेका हुक्म दे दिया। अपार धन-जनकी हानि हुई किन्तु प्रयोग सफल नहीं हुआ। हाँ १३२७ ई० में ही उसने द्वारसमुद्रके होयसलोंका अन्त करके दक्षिण-भारतका अवशिष्ट बहुभाग भी मुसलमानी शासनके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया। मंगोलोंके आक्रमणके कारण सुलतानको तुरन्त उत्तर आना पड़ा और घूस देकर ही उसने मंगोलोंसे पीछा छुड़ाया। ईरान और चीनपर आक्रमण करनेकी योजनाएँ भी इस सुलतानने बनायीं, किन्तु दोनों में ही असफल रहा। १३४० ई० के लगभग फिर उसने दिल्लीको छोड़ दौलताबादको राजधानी बनानेका प्रयत्न किया और इस बार भी विफल हुआ। इसके शासन-कालमें उत्तरापथमें भीषण दुष्काल पड़ा, असंख्य प्राणी भूखों मर गये। मंगोलोंके आक्रमणों, सुलतानकी अटपटी योजनाओं, अदूरदर्शी दानशीलता और राजधानी-परिवर्तन आदिके कारण

राजकोष खाली हो गया था, अतएव उसने सोने-चाँदीके स्थानमें ताँबे और पीतलकी प्रतीक मुद्रा चलानी चाही। यह योजना भी विफल हुई। उधर शासन-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो गयी। सिन्ध, बंगाल, दक्षिण आदि साम्राज्य के विभिन्न भागोंमें विद्रोह होने लगे जिनके दमन करनेके प्रयत्नमें उसका जीवन बीता और फिर भी उनके अन्ततः स्वतन्त्र होने और साम्राज्यके छिन्न-भिन्न होनेको वह न रोक सका। इस प्रकार विद्वान्, सुयोग्य, सदाशय और सदुद्देश्य होते हुए भी मुहम्मद तुग़लकके शत्रुओं, प्रकृति, दुर्भाग्य—सबने मिलकर ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि उसे सब ओर विभिन्न रूपोंमें अपने शत्रु-ही-शत्रु दीख पड़ने लगे, वह विक्षिप्त-जैसा हो गया; उसकी प्रतिहिंसा भड़क उठी और अपने शत्रुओं एवं विरोधियोंके निस्संकोच रक्तपात में वह जुट गया। तत्कालीन मुसलमान इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बरनी लिखता है कि लोग तो उसके विरुद्ध विद्रोह करते नहीं थकते थे और सुलतान उन्हें कठोरसे-कठोर दण्ड देते नहीं थकता था। इस प्रकार जब सिन्धके विद्रोहका दमन करनेके प्रयत्नमें वह सिन्धुनदके किनारे छावनी डाले पड़ा था तो बीमार पड़ गया और वहीं १३५१ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। वह निस्सन्तान था और उसका चचेरा भाई फ़ीरोजशाह तुग़लक (१३५१–१३८८ ई०) जो उस समय छावनीमें ही उपस्थित था तथा एक बड़ा सूबेदार था सभी उपस्थित हिन्दू एवं मुसलमान सरदारोंके आग्रहसे गद्दीपर बैठा और सेनाके साथ दिल्ली लौटा। वहाँ वृद्ध नगरपाल ख्वाजाजहाँने एक शिशुको सिंहासनपर बिठा दिया था, अतः विद्रोहके अपराधमें उन दोनोंका वध करा दिया गया। १३५४ ई० मे फ़ीरोजने बंगालपर आक्रमण किया और एक साल तक युद्ध चलता रहा, लाखों व्यक्ति मारे गये किन्तु वह सूबा प्रायः स्वतन्त्र ही बना रहा और सुलतान दिल्ली लौट आया। १३६० ई० में उसने वहाँ फिर आक्रमण किया, किन्तु शीघ्र ही सन्धि हो गयी और बंगालका सूबा पूर्णतया साम्राज्यसे अलग हो गया।

दक्षिणको फिरसे अधीन करनेका उसने प्रयत्न ही नहीं किया, बल्कि बहमनी सुलतान और मावरके सुलतानकी स्वाधीनताको ही प्रायः स्वीकार कर लिया। १३६१ ई० में उसने सिन्धपर आक्रमण किया। प्रथम बार तो अपनी भारी हानि करके उसे गुजरातकी ओर हट जाना पड़ा किन्तु दूसरे आक्रमणमें सिन्धका शासक पराजित हुआ और सुलतान उसे बन्दी करके दिल्ली ले आया, फिर भी सिन्धका सूबा उसके अधीन न हुआ। इसके उपरान्त फ़ीरोजने युद्ध एवं आक्रमणोंको तिलाञ्जलि दे दी और अपने संकुचित साम्राज्यपर शान्तिसे शासन करने लगा। वह अपने मज़हबका बड़ा पक्का था, मुल्ला-मौलवियोंका बड़ा आदर करता था तथा उन्हींके परामर्शसे क़ुरान शरीफ़ और शरीयतके अनुसार राज्य-कार्य करता था। आन्तरिक शासन-प्रबन्ध सब उसके सुयोग्य मन्त्री खाँजहाँके हाथमें था जिसकी मृत्युके बाद उसीके पुत्रने वह कार्य सम्हाला। सुलतान स्वयं भी नरमदिल था। अपराधियोंको भीषण दण्ड और नाना प्रकारकी यन्त्रणाएँ देनेकी प्रथा उसने बन्द कर दी। उसने हिन्दुओंपर जज़िया कर लगाया और जो मुसलमान बनना स्वीकार कर लेते थे उन्हें उस करसे मुक्त कर देता था। इस प्रकार बलात्कार और अत्याचारके स्थानमें घूस और धनका लोभ देकर उसने मुसलमानोंकी संख्या-वृद्धि की। जागीर प्रथा और ग़ुलामीकी प्रथाको भी उसने प्रोत्साहन दिया। उसने मुसलमान यतीमों और बेवाओंके लिए वृत्तियाँ दीं, और मुसलमानोंके लिए मकतब, खानकाहें तथा अस्पताल खुलवाये। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और शिया आदि अन्य मुसलमानी सम्प्रदायोंके प्रति भी वैसा ही असहिष्णु था जैसा कि हिन्दुओंके प्रति। एक ब्राह्मणको उसने जिन्दा जलवा दिया, कुछ मन्दिरों एवं मूर्त्तियोंको भी तुड़वाया तथा नवीन मन्दिरोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध लगा दिया। मुल्ला-मौलवियोंके लिए वह एक आदर्श मुसलमान सुलतान था। देशमें भी शान्ति रही, प्रजा भी अपेक्षाकृत सुखी थी। नगरों और इमारतोंके निर्माणका भी उसे शौक़

था, जौनपुर, हिसार, फ़ीरोज़ाबाद आदि नगरोंका उसने निर्माण किया, यमुनाकी नहर निकलवायी, कई बाँध बनवाये, अनेक मसजिदें, क़िले, दारुलउलूम (विद्यालय) आदि बनवाये। मेरठ और टोपरासे अशोक-स्तम्भोंको उखड़वाकर दिल्ली ले गया। जैन नन्दिसंघके भट्टारक प्रभाचन्द्र को जो दिगम्बर मुनि थे, उसने अपने महलमें बुलवाया था। कहा जाता है कि मुनिको इस अवसरपर वस्त्र धारण करने पड़े थे और तभीसे उत्तर भारतमें वस्त्रधारी भट्टारक प्रथाका प्रादुर्भाव हुआ। दिल्लीमें भट्टारकीय गद्दियाँ पहले ही स्थापित हो चुकी थीं। सुलतान और उसकी बेगमोंने मुनिके दर्शन किये और सम्मान किया। सुकवि रत्नशेखरसूरिका भी इस सुलतानने सम्मान किया बताया जाता है। उपरोक्त अशोक-स्तम्भके लेखको पढ़वानेके लिए जिन हिन्दू विद्वानोंको बुलाया था उनमें ब्राह्मण पण्डितोंके अतिरिक्त जैन (सेवड़े) विद्वान् भी थे। इस सुलतानने अपने राज्यकालका इतिहास स्वयं लिखा है, और ज़ियाउद्दीन बरनीकी तारीखें फ़ीरोज़शाही तथा शम्ससिराज अफ़ीफ़की फ़तुहाते फ़ीरोज़शाही नामक इतिहास-ग्रन्थ भी उसीके आश्रयमें लिखे गये। १३८८ ई० में ८० वर्षकी अवस्थामें फ़ीरोज़शाहकी मृत्यु हुई और उसके मरते ही राज्यमें अव्यवस्था एवं अराजकता उत्पन्न हो गयी। सब सूबेदार स्वतन्त्र बन बैठे। मन्त्रियोंके षड्यन्त्रोंसे एकके बाद एक कई नाममात्रके सुलतान हुए। एक साथ कई-कई दावेदार भी चलते रहे। अन्ततः फ़ीरोज़का पोता महमूद तुग़लक नाममात्रका सुलतान बना रहा। उसके समयमें १३९८ ई० में मध्य-एशियाके सर्वशक्तिशाली एवं रक्त-पिपासु अमीर तैमूर लंगने भारतपर आक्रमण किया। पंजाब, दिल्ली, मेरठ, हरिद्वार आदिको लूटता-पाटता, असंख्य नर-नारियोंको तलवारके घाट उतारता यह भयानक नर-संहारक देशकी रही-सही दुर्दशा कर गया। अब सर्वत्र अराजकता, दुष्काल, भुख-मरी और त्राहि-त्राहि मच रही थी। तुग़लकोंके नाममात्रके राजत्वमें १४१४ ई० तक प्रायः यही हालत चलती रही।

सैयदवंश (१४१४–१४५० ई०)—१४१४ ई० में पंजाबके सूबेदार खिज्रखाँने जो अपने आपको सैयदवंशमें उत्पन्न हुआ कहता था और स्वयंको तैमूर लंगका प्रतिनिधि घोषित करता था, दिल्लीपर अधिकार कर लिया। दिल्लीके आस-पासके थोड़ेसे प्रदेशपर उसका राज्य था। उसने और उसके तीन उत्तराधिकारियोंने न अपने आपको सुलतान घोषित किया और न अपने नामके सिक्के ही चलाये। सैयद मुबारकशाहका एक मन्त्री हिसार-निवासी अग्रवाल जैनी हेमराज था जो भट्टारक यशःकीर्ति का शिष्य था। इस वंशका अन्तिम शासक अलाउद्दीन १४५० ई० में पदच्युत कर दिया गया और वह दिल्लीका परित्याग करके बदायूँमें जाकर एक साधारण जागीरदारकी तरह रहने लगा।

लोदीवंश (१४५०–१५२६ ई०)—अफ़ग़ान सरदार बहलोलखाँ लोदीने जो सैयदोंके शासनकालमें पंजाबका स्वतन्त्र सूबेदार बन बैठा था, १४५० ई० में दिल्लीपर अधिकार कर लिया और अपने आपको सुलतान घोषित कर दिया। उसने दिल्लीका जो छोटा-सा राज्य बचा था उसमें व्यवस्था उत्पन्न की और जौनपुरकी शर्की सल्तनतका अन्त करके अपने पुत्र बारबकशाहको उसका सूबेदार नियुक्त किया। इस प्रकार पंजाबसे बनारस पर्यन्त और उत्तर दिशामें हिमालयकी तराईसे लेकर बुन्देलखण्ड की सीमा पर्यन्त प्रदेशपर उसने अपना अधिकार बहुत कुछ जमा लिया था। बहलोल लोदीका एक उच्च पदाधिकारी गढ़ासाव था जिसके पुत्र तारण स्वामी (१४४८-१५१५ ई०) अपने समयके प्रसिद्ध जैन सुधारक हुए, इन्होंने मूर्त्तिपूजाका विरोध किया और तारण पन्थ चलाया। सन्त कबीर, गुरु नानक आदिके समकालीन तथा उन्हींकी भाँति विश्वधर्मके प्रचारक तारण स्वामी भी अपने समयके एक महान् सन्त थे। बहलोलके उपरान्त उसका पुत्र निजामखाँ सुलतान सिकन्दर ग़ाज़ी (१४८९-१५१७ ई०) दिल्लीके सिंहासनपर बैठा। यह इस वंशका सबसे अधिक योग्य और शक्तिशाली शासक था। किन्तु उसकी भी राज्यशक्ति, बंगाल, मालवा,

गुजरात, बहमनी आदि मुसलमानी राज्यों और मेवाड़, ग्वालियर, विजय-नगर आदि हिन्दू राज्योंमें-से किसीसे भी बल, विस्तार या समृद्धिमें अधिक नहीं थी। उसने जौनपुरसे अपने भाईको निकालकर उसे दिल्ली राज्यमें मिला लिया और बिहारके सूबेको भी अपने अधीन किया। मेवाड़का राणा कुम्भ, ग्वालियरका मानसिंह तोमर, मालवाका नासिरुद्दीन और गुजरातका महमूद बेगड़ा उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी रहे। उनके साथ उसके दाव-पेच और युद्ध चलते रहे। फिर भी सिकन्दरने दिल्ली राज्यकी प्रतिष्ठा कुछ बना दी। उसने आगरा फिरसे बसाया तथा आगरा का निकटवर्ती स्थान सिकन्दरा उसीके नामसे प्रसिद्ध हुआ। सन् १५०५ ई० में उसीके समयमें एक भयङ्कर देशव्यापी भूकम्प आया था। यह सुलतान अपने धर्मका कट्टर पक्षपाती था, हिन्दुओंके प्रति सामान्यतः असहिष्णु था और मुसलमानी क़ानूनका अनुसरण करता था। एक बार मथुरापर आक्रमण करके वहाँके मन्दिरोंको भी उसने तोड़ा और उनके स्थानमें मसजिदें बनवायीं। चिकित्सा-शास्त्रमें उसे बहुत दिलचस्पी थी। कर्णाटकके कुछ तत्कालीन शिलालेखोंसे पता चलता है कि वहाँके महान् वादी एवं वक्ता प्रसिद्ध जैनाचार्य विशालकीर्त्ति भट्टारक सुलतान सिकन्दर लोदीकी राजसभामें आये थे और उसके द्वारा सम्मानित हुए थे। यह जैनाचार्य १४६८-७३ ई० में विद्यमान थे। सिकन्दरके राज्य-कालमें अत्यधिक सुकाल था, सभी पदार्थ अत्यन्त सस्ते थे और अल्प साधनवाले व्यक्ति भी सुखसे रह सकते थे, ऐसा उस कालके इतिहास-ग्रन्थोंसे पता चलता है। उसका पुत्र इब्राहीम लोदी (१५१७-२६ ई०) निर्दयी और अयोग्य शासक था। उसके समयमें भी वस्तुएँ अत्यधिक सस्ती थीं किन्तु उसने अपनी उद्दण्डतासे अपने अफ़ग़ान अमीरोंको रुष्ट कर दिया और उनसे निरन्तर लड़ता-झगड़ता रहा। जब कभी उनको अपने हाथमें कर पाता तो उनपर बड़े निर्दय अत्याचार करता। क्षुब्ध अफ़ग़ान सरदारोंने पंजाबके गवर्नर दौलतखाँ लोदीको अपना नेता बनाया और उसने

काबुलके बादशाह बाबरको भारतपर आक्रमण करनेका निमन्त्रण दिया। बाबर आया और १५२६ ई० में पानीपतकी प्रसिद्ध रणभूमिमें इब्राहीमकी विशाल सेनाको उसने पराजित किया। इब्राहीम मारा गया और उसके साथ ही लोदीवंशका अन्त हुआ। दिल्लीमें मुग़लवंशकी स्थापना हुई किन्तु अस्थायी रही। १३-१४ वर्ष बाद ही बाबरके उत्तराधिकारी हुमायूँको एक अन्य अफ़ग़ान सरदार शेरखाँने निकाल बाहर किया।

सूरिवंश (१५४०–१५५५ ई०)—लोदी-सुलतानोंके शासनकालमें पूर्वी भारतमे अनेक अर्धस्वतन्त्र छोटे-छोटे अफ़ग़ान अमीर उत्पन्न हो गये थे। उन्हींमें बिहार प्रान्तस्थ सहसरामका जागीरदार हसन था। उसका बेटा फरीद अपनी सौतेली माँके दुर्व्यवहारसे चिढ़कर घर छोड़कर जौनपुर चला आया। वहाँ उस होनहार युवकने थोड़े ही समयमें शासन एवं राजनीति-सम्बन्धी विविध ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया। लौटकर उसने अपने बापकी जागीरका बड़ी निपुणताके साथ प्रबन्ध किया और उसे अत्युन्नत बना दिया। बाबरके आक्रमणसे उत्पन्न विषम परिस्थितिसे तथा उसके उपरान्त हुमायूँकी दुर्बलताओंसे उसने पूरा लाभ उठाया। चुनार और रोहतासके सुदृढ़ दुर्गोंको अधिकृत करके उसने शनैः-शनैः सम्पूर्ण बिहारपर अपना अधिकार जमा लिया और पहले शेरखाँ तथा फिर शेरशाहसूरि (१५३९-१५४५ ई०) के नामसे अपने आपको सुलतान घोषित किया। हुमायुँ शेरशाहकी इस प्रगतिको कैसे सहन कर सकता था, उसने बिहारपर (१५३८ई० में) आक्रमण किया तथा चुनारके दुर्गको छीन लिया, तदनन्तर बहुत-सा अमूल्य समय बंगालकी राजधानी गौड़में व्यर्थ गँवा दिया। फलस्वरूप १५३९ ई०में चौसाके युद्धमे शेरशाह ने हुमायूँको बुरी तरह पराजित किया, उसकी सेना तितर-बितर हो गयी और वह कठिनाईसे प्राण बचाकर भागा। अगले वर्ष कन्नौजके युद्धमें उसे फिर पराजित किया, परिणामस्वरूप हुमायूँको भारतवर्षसे बाहर भाग जाना पड़ा। अब शेरशाह दिल्लीको राजधानी बनाकर राज्य करने

लगा। पंजाबपर भी उसका अधिकार हो गया। अब वह राजपूताना, मालवा और बुन्देलखण्डके दमनमें व्यस्त हुआ। पाँच वर्षके भीतर उसने अनेक युद्ध लड़े। रणथम्भौरके दुर्गमें इस सुलतानने वहाँके प्रसिद्ध जैन वैद्यराज रेखा पण्डितका सम्मान किया था। सम्भवतया इस वैद्यने सुलतानका इलाज भी किया था। मध्यभारतमें रायसीनके दुर्गको हस्तगत करनेमें उसने विश्वासघात करके दुर्गकी सम्पूर्ण सेनाका क़त्लेआम कर दिया। १५४५ ई० में कालंजरके दुर्गपर आक्रमण करते हुए वह स्वयं मारा गया। शेरशाह एक भारी योद्धा और सुयोग्य सैन्य-सञ्चालक ही नहीं था, शासन-प्रबन्धमें भी निपुण था। अपनी सहसरामकी छोटी-सी जागीरमें उसने जो प्रयोग किये थे उन्हें अब साम्राज्यमें प्रयुक्त किया। अपने दीवान टोडरमलकी सहायतासे उसने भूमिकी नाप-जोख करवाके एक श्रेष्ठ-कोटिका बन्दोबस्त किया जिसका विकास बादमें सम्राट् अकबरने किया। न्याय-शासन वह स्वय करता था, अपराधियोंको कड़ा दण्ड देता था, खेतीकी हानि करना भयङ्कर अपराध मानता था, और ग्राम-पंचायतोंको उनके क्षेत्रमें किये गये अपराधोंके लिए उत्तरदायी ठहराता था। उसने नहर, सड़कें, दुर्ग और नगर भी निर्माण कराये। सहस-राममें स्वयं उसका मक़बरा पठान-स्थापत्यका सुन्दर नमूना है। लगभग पाँच लाख सशक्त सेना वह सदा तैयार रखता था, उसने सड़कोंके किनारे पेड़ लगवाये, कुएँ खुदवाये और सरायें बनवायीं। मुद्राका भी सुधार किया। आलस्य उसे छू नहीं गया था, सतत उद्योग करते रहनेमें वह विश्वास करता था। उसकी मृत्युके उपरान्त उसका बेटा जलालखाँ, इसलामशाहसूरि (१५४५–५४ ई०) के नामसे सिंहासनपर बैठा। वह अपने बापके जैसा योग्य और बुद्धिमान् तो न था किन्तु उसने शेरशाहके राज्य एवं शासन-प्रबन्धको अक्षुण्ण बनाये रखा। इसके राज्यमें १५४५ ई० में रोहितास नगर (रोहतक) में जिसे शेरशाहने ही बसाया था, ग्वालियरके भट्टारक मलयकीर्त्तिके

पट्टधर गुणभद्रने १५ जैन-कथाओंका एक संग्रह अपभ्रंश भाषामें रचा था। उन्होंने स्वयं तत्कालीन सुलतानका नाम 'पातिशाह जलालदी' (जलालखां) दिया है। आमेर आदिके मूलसंघी भट्टारक धर्मचन्द्र, धर्मकीर्त्ति, ललित-कीर्त्ति आदिके १५४५–१५५३ ई० आदिके प्रशस्तिलेखोंमें भी इस सुलतान के उल्लेख पाये जाते हैं। उसकी मृत्युके बाद उसके साले मुहम्मद आदिल-शाह सूरि (१५५४–५६ ई०) ने दिल्लीकी गद्दीपर अधिकार कर लिया। वह स्वयं बिल्कुल अयोग्य था अतः सम्पूर्ण राज्यकार्य उसने अपने मन्त्री हेमूके हाथमें छोड़ दिया और स्वयं बिहारके चुनार दुर्गमें जाकर रहने लगा। उसके मन्त्री और सेनापति हेमूने जो जातिसे वणिक् था और जिसने अपने स्वामीके लिए कई युद्धोंमें विजय प्राप्त करके अपना सिक्का जमा लिया था, अब दिल्ली और आगरेपर फिरसे अधिकार कर लिया और विक्रमादित्यकी उपाधि धारण करके स्वयंको ही दिल्लीका सम्राट् घोषित कर दिया। किन्तु १५५६ ई० मे पानीपतके युद्धमें अकबर और बैरमखाँ-द्वारा पराजित होकर एवं मारा जाकर उसका और उसके साथ ही आदिलशाह सूरिके दिल्ली राज्यपर अधिकारका अन्त हो गया। शेरशाहका एक अन्य भतीजा सिकन्दरशाह सूरि भी प्रारम्भसे ही मुहम्मद आदिलशाहका प्रतिद्वन्द्वी था और राज्यके पश्चिमी भाग (पंजाब) पर अधिकृत था। हुमायूँ और उसके बाद अकबरके साथ पंजाबमें वह लड़ता रहा। पानीपतके युद्धके उपरान्त उसने आत्म-समर्पण कर दिया और अकबरने उसे क्षमा कर दिया। इस प्रकार सूरिवंशका लगभग १५ वर्ष के राज्यके बाद अन्त हुआ।

अध्याय २

पूर्व-मुग़लकालके प्रादेशिक राज्य

जैसा कि वर्णन किया जा चुका है मुहम्मद तुग़लकके समयसे ही दिल्ली-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा था और अनेक नवीन एवं स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य यत्र-तत्र अस्तित्वमें आ गये थे, जिनमें बंगाल, जौनपुर, गुजरात, मालवा, काश्मीर और दक्षिणका बहमनी राज्य उल्लेखनीय हैं।

बंगाल (१३४०–१५७६ ई०)—मुहम्मद तुग़लकके समयमें बंगाल के सूबेदार फ़खरुद्दीनने १३४० ई० में विद्रोह करके अपने प्रान्तको साम्राज्यसे प्रायः पृथक् कर लिया था। १३५३–५४ ई० में फ़ीरोजशाहने बंगालके सूबेदारको अधीन करनेका विफल प्रयत्न किया था, १३६० ई० में फिर उसने एक प्रयत्न किया और अन्ततः उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। तभीसे लेकर अकबरकी विजय पर्यन्त सूबेदार फ़खरुद्दीनके वंशज सिकन्दरशाह (१३६८ ई०) आदि जो अरबदेशीय सैयद जातिके थे स्वतन्त्र सुलतानोंके रूपमें उस प्रान्तपर राज्य करते रहे। देशके अन्य राज्योंके साथ उनके प्रायः कोई युद्ध नहीं हुए किन्तु तत्कालीन सभी मुसलमानी राज्योंकी भाँति गुप्त हत्याएँ, गृह-कलह, उत्तराधिकार संघर्ष, षड्यन्त्र, विश्वासघात आदिसे इस वंशका इतिहास भी ओत-प्रोत है। शासन-व्यवस्था भी प्रायः दिल्ली-सलतनत एवं अन्य सभी भारतीय मुसलमानी राज्योंके प्रतिरूप ही थी। उसमें मुसलमानों एवं इस्लामका हित प्रधान था और शासन प्रायः नागरिक ही था। असंख्य ग्रामीण प्रजा को भूमि-कर देनेके अतिरिक्त शासनसे अन्य कोई विशेष हानि-लाभ नहीं था। किन्तु इन सूबा राज्योंके सुलतान दिल्लीके सुलतानोंकी

अपेक्षा सामान्यतया अधिक सहिष्णु होते थे। बंगालके इन सुलतानों में सर्व-प्रसिद्ध हुसैनशाह (१४९३–१५१९ ई०) था। वह पूर्ववर्ती सुल्तान मुज़फ़्फ़रशाहका प्रधान मन्त्री था। मुज़फ़्फ़रके अत्याचारोंके कारण उसने उसे पदच्युत करके उसका वध कर दिया था और सरदारोंकी सम्मतिसे स्वयं सुलतान बन गया था। उसका राज्यकाल अत्यन्त सुख-शान्ति और समृद्धिपूर्ण रहा। उसकी प्रजा उससे प्रेम करती थी और पड़ोसी राजे उसका आदर करते थे। बंगालमें उसका नाम आजतक अमर है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उसे चाहते थे। उसका पुत्र नसरतशाह बाबरका समकालीन था। वह भी एक भला सुलतान था। मुसलमान-नरेशोंकी प्रथाके प्रतिकूल वह अपने १७ छोटे भाइयोंसे हार्दिक प्रेम करता था और उन्हे सुखसे रखता था। बाबरके साथ उसने सम्मानपूर्ण सन्धि की थी। इस वंशका अन्तिम सुलतान दाऊदशाह था जो १५७६ ई० में अकबरके मानसिंह आदि सेनापतियों द्वारा पराजित हुआ और युद्धमें मारा गया। बंगालके इन सुलतानोंमें सिकन्दरशाह-द्वारा पाण्डुआमें निर्मित अत्यन्त विशाल एवं सुन्दर अदीना मसजिद, गौड़में हुसेनशाहका मक़बरा एवं छोटी सुनहली मसजिद, नसरतशाहकी बड़ी सुनहली मसजिद और क़दमरसूल तथा इन सुलतानों द्वारा राजधानी गौड़ एवं अन्य प्रमुख नगरोंमें निर्मित भवन कलापूर्ण एवं दर्शनीय हैं। इन्हींके राजत्वमें १३४६ ई० में कवि कृत्तिवासने बँगला रामायण लिखी और हुसेनशाह एवं नसरतशाहने महाभारतके भी बँगला अनुवाद कराये। इस प्रकार इन सुलतानोंने न केवल प्राचीन भारतीय साहित्यमें अभिरुचि दिखायी वरन् बँगला भाषाके विकासको भी प्रोत्साहन दिया। बंगालमें अब शैव और शाक्त मतोंका ही बाहुल्य था किन्तु इसी कालमें चैतन्य महाप्रभुने कृष्णभक्ति और वैष्णवधर्मका भी प्रचार किया।

जौनपुर (१३९९–१४७६ ई०)—फ़ीरोज़शाह तुग़लकने अपने

भाई जूनाखाँकी स्मृतिमें जौनपुर नगर बसाया था। १३९४ ई० में उसके उत्तराधिकारी महमूद तुग़लकने अपने कृपापात्र खोजे सरदार ख्वाजाजहाँको मलिकुश्शर्क़की उपाधि देकर जौनपुरका सूबेदार नियुक्त किया। तैमूरके आक्रमणसे लाभ उठाकर १३९९ ई० में ख्वाजाजहाँका दत्तक पुत्र और उत्तराधिकारी मुबारकशाह शर्क़ी स्वतन्त्र हो गया। इसके उपरान्त उसके भाई इब्राहीमशाह शर्क़ी (१४००-४० ई०) ने शान्तिपूर्वक राज्य किया। वह पक्का मुसल्मान था, रक्तपात तो उसने अधिक नहीं किया किन्तु हिन्दुओंपर अन्य सुलतानोंकी भाँति जोर-जुल्म किये ही। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी महमूदशाह शर्क़ी भी सफल शासक रहा। सम्भवतया इसी सुलतानके दरबारमें कर्णाटकके जैनाचार्य वादी सिंहकीर्त्तिने आकर शास्त्रार्थ किया था और जयपत्र प्राप्त किया था। सिंहकीर्त्तिका समय १४५० ई० के लगभग है। 'अश्वपतेर्हिनतनय–बंगाल्यदेशावृत–दिल्लीपुरेड महम्मुद सूरित्राण'–वर्णन उस कालके सुलतानोंमें सबसे अधिक इसीपर लागू होता है। तदुपरान्त हुसैनशाह शर्क़ी सुलतान बना। १४७६ ई० मे दिल्लीके सुलतान बहलोल लोदीने उसे पराजित करके जौनपुरसे निकाल दिया और उसने जाकर बंगालके सुलतानकी शरण ली। बहलोलने जौनपुरका सूबा अपने बेटे बारबकशाहको दे दिया, किन्तु सिकन्दर लोदीने बारबकशाहको भी मारकर जौनपुरको दिल्ली राज्यमें ही मिला लिया। जौनपुरके शर्क़ी सुलतान अरबी और फ़ारसी साहित्यके भारी प्रश्रयदाता थे। उन्होंने जौनपुरमें अनेक सुन्दर एवं विशाल मसजिदें भी बनवायीं जिनमें अटालादेवी मसजिद अति प्रसिद्ध है। इनकी निर्माण-कलामें भारतीय प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

मालवा (१३८७-१५६४ ई०)—मध्य भारतका वह बहुभाग जो उत्तरमें चम्बल, दक्षिणमें नर्मदा, पूर्वमें बुन्देलखण्ड और पश्चिममें गुजरात से वेष्टित है मालवा कहलाता है। यह उर्वर, समृद्ध एवं सुरम्य प्रदेश चिरकाल तक भारी सांस्कृतिक केन्द्र भी रहा। प्राचीन राजधानियों

अवन्ति, उज्जैनी, दशपुर आदिके उपरान्त परमारोंके राज्यकालमें धारा नगरीका उत्कर्ष हुआ। इल्तुतमिशने १३वीं शतीके पूर्वार्धमें मालवेपर आक्रमण किया था और तत्कालीन परमार-नरेशको अधीनता स्वीकार करनेपर बाध्य किया था। १३१० ई० में अलाउद्दीन खिलजीने मालवेके हिन्दूराज्यका अन्त करके उसे साम्राज्यका एक प्रान्त बना लिया और एक मुसलमान सूबेदार नियुक्त दिया। फ़ीरोज़ तुग़लकके अन्तिम समयमें दिलावरख़ाँ (१३८७–१४०० ई०) मालवेका सूबेदार था। वह नाममात्र को ही दिल्लीके अधीन था और तैमूरके आक्रमणके उपरान्त सुलतान सिहाबुद्दीन ग़ोरी (१४०१–१४०५ ई०) के नामसे उसने अपने आपको मालवेका स्वतन्त्र सुलतान घोषित कर दिया, तथा धाराका परित्याग करके माण्डू (मण्डपदुर्ग) को अपनी राजधानी बनाया। उसके पुत्र अलपख़ाँ या 'अल्मसाहि' उपनाम सुलतान होशंगशाह ग़ोरी (१४०५–१४३२ ई०) ने पिताको विष देकर राज्य प्राप्त किया और माण्डू राजधानीको सुन्दर-सुन्दर भवनोंसे अलंकृत किया। गुजरातके सुलतान उसके प्रधान शत्रु थे। १४०८ ई० में गुजरातके सुलतान मुज़फ़्फ़रने उसे पराजित करके बन्दी कर लिया किन्तु एक वर्ष बाद मुक्त कर दिया। मालवा और गुजरातके बीच बादमें भी निरन्तर युद्ध चलते रहे, कभी एक पक्षकी जीत होती कभी दूसरेकी। होशंग ग़ोरीका पुत्र मुहम्मद ग़ोरी (१४३२–१४३५ ई०) अयोग्य, कुव्यसनी और मद्यपायी था। उसके मन्त्री महमूद खिलजी (१४३६–१४८२ ई०) ने विष देकर उसे मार डाला और स्वयं सुलतान बन बैठा, मालवेके सुलतानोंमें वह सर्वाधिक योग्य व्यक्ति था। गुजरातके सुलतान, बहमनी सुलतान और राजस्थानके राजपूत राजे उसके प्रधान शत्रु थे और उनके साथ उसके निरन्तर युद्ध चले। इतिहासकार फ़रिस्ताने उसके न्याय, शासन और चरित्रकी बड़ी प्रशंसा की है। उसकी हिन्दू और मुसलमान प्रजा समान रूपसे सुखी और सम्पन्न थी। चित्तौड़के राणा कुम्भके साथ उसके जो युद्ध हुए उनकी स्मृतिमें

राणाने चित्तौड़में कीर्त्तिस्तम्भ बनवाया और महमूदने माण्डूमें। उसका पुत्र सुलतान गयासुद्दीन (१४८३–१५०१ ई०) दिल्लीके सिकन्दर लोदी गुजरातके महमूद बेगड़ा, ग्वालियरके मानसिंह तोमर और चित्तौड़के राणा रायमल्लका प्रतिद्वन्द्वी था। उसका पुत्र नासिरुद्दीन (१५०१–१५१२ ई०) भी अपने पिताको विष-द्वारा मारकर सुलतान बना, वह बहुत दुराचारी और निर्दयी था। उसका पुत्र महमूद द्वितीय (१५१२–३१ ई०) इस वंशका अन्तिम सुलतान था जिसे १५३१ ई० में गुजरातके बहादुरशाहने पराजित करके मार दिया और मालवेको अपने राज्यमें मिला लिया। १५३५ ई० मे हुमायूँने मालवेको गुजरातसे छीनकर अपने अधीन किया और मालवेके राज्यवंशके ही एक व्यक्तिको जो उसके आश्रयमें चला गया था अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। किन्तु हुमायूँका अधिकार अल्पस्थायी ही रहा। अन्ततः मालवेके बाजबहादुरको १५६४ ई० में अकबरने समाप्त करके इस प्रदेशको अपने राज्यमें मिलाया। बाजबहादुर और रूपमतीकी प्रेम-गाथा सुप्रसिद्ध है। मालवेके इन सुलतानोंने माण्डूका विशाल सुदृढ़ दुर्ग एवं नगर, हिंडोला महल, जहाज महल, बाजबहादुर और रूपमतीका महल आदि सुन्दर राजप्रासाद, भव्य जामामसजिद, होशंग ग़ोरीका सुन्दर मक़बरा आदि अनेक कलापूर्ण दर्शनीय कृतियोंका निर्माण किया जिनमे माण्डूके प्राचीन जैन एवं हिन्दू मन्दिरोंकी सामग्री भी प्रयुक्त हुई। वे धर्म-सहिष्णु भी थे और हिन्दुओंपर उन्होंने धर्मके नामपर विशेष अत्याचार नहीं किये। सुलतान होशंग ग़ोरी अलपखांके समयमे, १४२४ ई० में दिल्लीके मूलसंघी भट्टारक शुभचन्द्रके उपदेशसे इस सुलतानके राज्यके संघपति होलीचन्द्र आदि अनेक धनी श्रावकोंने देवगढ़में तीर्थङ्करों और गुरुओंकी कई प्रतिमाएं निर्माण कराकर भारी प्रतिष्ठोत्सव किया था। शिलालेखमें सुलतानकी भी बहुत प्रशंसा है। मालवामें इस कालमे दिगम्बर आम्नाय के नन्दि, काष्ठा और सेनसंघोंके कई पट्ट विद्यमान थे। अनेक हिन्दू और

जैन माण्डू राज्यमें उच्च राजकीय पदोंपर भी नियुक्त थे जिनमें-से एक जैनवंश बहुत प्रसिद्ध हुआ—संघपति झम्पण सूबेदार दिलावरखाँके पूर्वजके समयमें राजमन्त्री था। उसका पुत्र बाहड स्वयं दिलावरखाँ उपनाम शिहाबुद्दीन ग़ोरीका मन्त्री था और उसका भाई पद्म भी बाहड का पुत्र मण्डन सुलतान होशंग ग़ोरीका महाप्रधान या प्रधान मन्त्री था। यह बड़ा शासन-कुशल और साथ ही महान् विद्वान् एवं साहित्यकार था। काव्यमण्डन या कौरव-पाण्डवोदय कथा, शृंगारमण्डन, संगीतमण्डन, सारस्वतमण्डन आदि विविधविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी उसने रचना की थी और वह सर्वविद्याविशारद कहलाता था। मण्डनके चचेरे भाई संघपति धनदराजने भी १४३४ ई० में शतकत्रयकी रचना की थी। सम्भवतया मण्डनके ही वंशका मेघ नामक व्यक्ति सुलतान ग़यासुद्दीन खिलजीका मन्त्री था और उसे मफ्फरल मलिककी उपाधि प्राप्त थी। इसका भतीजा पुञ्जराज भी उच्च पदपर आसीन था, यह हिन्दुआ राय वज़ीर कहलाता था और भारी विद्वान् था। १५०० ई० में उसने सारस्वतप्रक्रिया नामक व्याकरणकी रचना की थी और उसकी प्रेरणा पर ईश्वरसूरिने ललिताङ्गचरितकी रचना की थी। ग़यासुद्दीनके समय में ही १४९७ ई० में श्रुतकीर्त्तिके हरिवंशपुराणकी एक प्रतिलिपि जेरहट नगरमे करायी गयी थी। अतः स्पष्ट है कि मुसलमान सूबेदारों और सुल्तानोंके काल (लगभग १३००–१५५० ई०) मे मालवेमें हिन्दू और जैन अच्छी अवस्थामें थे। इस कालके अनेक जैन-मन्दिर भी माण्डू व अन्य स्थानोंमें पाये जाते हैं। सुलतानोंकी धार्मिक उदारता अवश्य ही इसमें साधक थी।

गुजरात (१३९१–१५७३ ई०) या गुर्जर देश जिसे सुराष्ट्र भी कहा जाता था और जिसमें काठियावाड़ भी सम्मिलित है, मालवेकी भाँति ही समृद्ध, सुरम्य और उर्वर प्रदेश रहा है। समुद्रतटके निकट होनेके कारण विदेशोंके साथ समुद्री व्यापारका भी वह प्रमुख द्वार रहा है।

१२९७ ई० मे अलाउद्दीन खिलजीके सेनापति उलुगखाँ और नसरतखाँ ने कर्ण बघेलेका अन्त करके इस देशको दिल्ली-साम्राज्यमें मिला लिया था, और तभीसे दिल्लीके सुलतानोंके सूबेदार यहाँ शासन करते थे। १३९१ ई० में जफ़रखाँ गुजरातका सूबेदार नियुक्त हुआ। वह नाम मात्रको ही दिल्लीके अधीन था। १४०१ ई० में उसने अपने पुत्र तातारखाँको सुलतान नासिरुद्दीन मुहम्मदशाहके नामसे गुजरात का स्वतन्त्र बादशाह बना दिया। किन्तु १४०७ ई० मे स्वयं ही उसे विष देकर मार डाला और मुजफ़्फ़रशाहके नामसे स्वयं ही सुलतान बन गया। १४११ ई० में उसके पोते अलपखाँने उसे भी विष देकर मार डाला और अहमदशाह (१४११–१४४१ ई०) के नामसे सुलतान बना। कर्णावतीको अहमदाबाद नाम देकर उसने अपनी राजधानी बनाया और उसे इतना सुन्दर बना लिया कि विदेशी यात्री इस नगरीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। बहमनी सुलतान फ़ीरोज़ उसका मित्र था तथा मालवेके सुलतान, चित्तौड़के राणा और असीरगढ़के राजा उसके प्रधान शत्रु थे। वह निरन्तर युद्धोंमे संलग्न रहा और प्रायः सदैव सफल रहा, फल-स्वरूप अपने राज्यका उसने काफ़ी विस्तार कर लिया। हिन्दुओंके मन्दिरोंको तोड़ना, उनपर अत्याचार करना और इस्लामका प्रचार एवं मुसलमानोंकी संख्या बढ़ाना सभी सुलतानोंका खब्त था, उसका भी था। किन्तु ये कार्य युद्ध और विद्रोहदमन आदि अवसरोंपर, सो भी प्रायः दिखावेके लिए ही अधिक किये जाते थे। सामान्यतः अपनी हिन्दू, जैन प्रजाके साथ उदारता और सहिष्णुताका ही बर्ताव होता था। उसका उत्तराधिकारी (१४४१–५९ ई०) सामान्य श्रेणीका व्यक्ति था, किन्तु पोता सुलतान महमूद बेगड़ा (१४५९–१५११ ई०) अपने दीर्घ-कालीन शासन, विशाल काय, दानवों-जैसे भोजन, चारित्रिक विशेषताओं और कार्य-कलापोंके लिए दूर-दूर प्रसिद्ध हो गया। राज्यकी भी उसके समयमें सर्वाधिक उन्नति हुई। वह बड़ा युद्धप्रिय था और युद्धोंमें प्रायः

सदैव सफल भी रहा। चम्पानेर, बड़ौदा और जूनागढ़के दुर्गोंको उसने हस्तगत किया। तुर्कोंकी सहायतासे उसने पुर्तगालियोंको भी हराया किन्तु भारतसे उन्हें बाहर निकालनेमें असमर्थ रहा। बचपनसे ही विषपान करनेकी आदतके कारण उसका विषाक्त शरीर जिसपर मक्खी भी बैठते ही मर जाती थी, नित्यका दस-बारह सेर ठोस भोजन, कमर तक लटकती दाढ़ी और सिरके पीछे लपेटकर बाँधनेवाली मूँछोंने उसे संसारका आश्चर्य बना दिया था। उसका राजकवि राजविनोदका कर्त्ता उदयराज था। इस सुलतानका उत्तराधिकारी (१५११–२६ ई०) निकम्मा था किन्तु पोता बहादुरशाह (१५२६–३७ ई०) अन्तिम सुलतानोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा। उसने मालवेके महमूद ख़िलजीको पराजित करके ३–४ वर्ष मालवेको अपने राज्यमें मिलाये रखा। १५३४ ई० में चित्तौड़ विजय किया और वहाँके वीरोंने जौहर करके अपना अन्त किया। किन्तु १५३५ ई० में हुमायूँने उसे बुरी तरह पराजित किया और उसने भागकर मालवेमें शरण ली। हुमायूँके लौट जानेपर वह फिर अपने राज्यपर अधिकृत हो गया। १५३७ ई० में ३१ वर्षकी आयुमें पुर्तगालियोंने जिनके साथ उसने मैत्री सन्धि कर ली थी, विश्वासघात-द्वारा बहादुरशाहका वध कर दिया। वह निस्सन्तान था। उसके बाद देशमें अराजकता और अव्यवस्था ही चलती रही, कई दुर्बल शासक हुए, हत्याओं और षड्-यन्त्रोंका बोलबाला रहा। अन्ततः १५७३ में अकबरने गुजरातको विजय करके अपने साम्राज्यमें मिला लिया। गुजरातके सुलतानोंने राजधानी अहमदाबादको उस कालकी सर्वाधिक सुन्दर महानगरी बना दिया था। उन्होंने अहमदाबाद, खम्भात तथा अन्य स्थानोंमें अनेक अत्यन्त दर्शनीय एवं कलापूर्ण इमारतें बनवायीं जिनपर हिन्दू और जैन-कलाका प्रत्यक्ष प्रभाव है। गुजरातमें अनगिनत लक्षाधीश एवं कोटय-धीश व्यापारी और सेठ थे। जिनमेंसे अधिकांश उस कालमें भी जैनी ही थे। अनेक हिन्दू और जैन राज्यमें उच्चपदोंपर भी आसीन

थे। जैनियोंके देलवाड़ा, शत्रुञ्जय, गिरनार, आबू, अन्हिलवाड़ा, अहमदाबाद आदिके प्रसिद्ध मन्दिर उस कालमें भी अधिकांशतः सुरक्षित रहे और कुछ नवीन भी बने। इस कालमें दिगम्बर आम्नायके लाटबागड़ संघका भी इस प्रदेशमें काफ़ी प्रभाव था। १५वीं शताब्दी तक सूरत, सौजित्रा, भड़ौच, ईडर आदि कई स्थानोंमें दिगम्बरी भट्टारकोंकी गद्दियाँ स्थापित हो चुकी थीं और उनमें-से आचार्य सकलकीर्त्ति, ब्रह्म श्रुतसागर, ब्रह्म नेमिदत्त, ज्ञानभूषण, शुभचन्द्र आदि अनेक विद्वानोंने विविधविषयक विपुल संस्कृत-साहित्यकी रचना की थी। इनके अतिरिक्त जिनेश्वर और भद्रेश्वरकी कथावलियाँ (लगभग १२०० ई०), प्रभाचन्द्रका प्रभावकचरित्र (१२७७ ई०), मेरुतुंगकी प्रबन्ध-चिन्तामणि (१३०५ ई०), जिनप्रभसूरिका विविधतीर्थकल्प (१३३२ ई०), राजशेखरका प्रबन्धकोष (१३४८ ई०) आदि महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ भी मुसलमानी कालमें ही लिखे गये। उपरान्त कालमें भी जैन मुनियों, यतियों और विद्वानों-द्वारा साहित्य-सृजन होता रहा। १५वीं शतीमें अहमदाबादमें जैन-ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ करने का कार्य कई संस्थाओंमें बड़े पैमानेपर होता था। इसी कालमें अहमदाबाद के लौंकोशाह (१४२०-१४७६ ई०) नामके एक जैन सुधारकने मुसलमानी शासनकालको मन्दिर और मूर्त्तियोंके प्रतिकूल समझकर मन्दिर और मूर्त्तियोंका विरोध किया। उसके द्वारा प्रचलित लुंकामतमें जो कालान्तरमें जैनोंका श्वेताम्बर स्थानकवासी सम्प्रदाय कहलाया मूर्त्तिपूजा निषिद्ध मानी जाती है। नारायणके पुत्र मण्डन मिश्र (१४३० ई०) अहमदशाहके राजवैद्य थे और उनके पुत्र अनन्तने १४५७ ई० में कामसमूहकी रचना की थी।

काश्मीर (१३००-१५८६ ई०)—काश्मीरमें १३वीं शती ई० के अन्त तक उत्पलवंशी हिन्दू राजाओंका स्वतन्त्र राज्य बना रहा। १४वीं शतीके प्रारम्भमें स्वातके शाह मिर्ज़ा या मीर नामक मुसलमानने जो अन्तिम राजाका मन्त्री बन गया था राजाको मारकर सिंहासन हस्तगत

कर लिया और काश्मीरका सुलतान बन बैठा। इस वंशका छठा सुलतान सिकन्दर (१३८६-१४१० ई०) बड़ा क्रूर, अत्याचारी और धर्मान्ध था। तैमूरके आक्रमणसे सौभाग्यसे काश्मीरकी रक्षा हो गयी किन्तु सिकन्दरके अत्याचारोंने अधिकांश हिन्दू जनताको मुसलमान बननेपर विवश कर दिया। अनेक हिन्दू देश छोड़कर चले गये। जो रह गये उनपर जज़िया लगा और बड़ी दुर्दशामें उनका जीवन बीता। मन्दिरों और मूर्तियोंका तो वह ऐसा शत्रु था कि उसका नाम ही मूर्ति-भञ्जक पड गया। किन्तु उसके उपरान्त, आठवाँ सुलतान जैनुलआब्दीन (१४१७-१४६७ ई०) उसके बिलकुल विपरीत था। वह बड़ा सहिष्णु और उदार था। उसने हिन्दुओंपर से जज़िया कर उठा दिया, निर्वासित हिन्दुओंको फिर देशमें वापस बुला लिया और उन्हें नवीन मन्दिरोंके निर्माणकी भी सहर्ष अनुमति दे दी। उसने राज्यमें गोवध बन्द करा दिया, वह स्वयं भी मांस न खाता था, एकपत्नीव्रती और बड़ा सदाचारी था। उसने संस्कृत और अरबी ग्रन्थोंके अनुवाद कराये और साहित्य, संगीत एवं चित्रकलाको भारी प्रोत्साहन दिया। वह सारी प्रजाका प्रेमभाजन हो गया और सन्त तुल्य माना जाने लगा, आज भी काश्मीरी बुधशाह बादशाहके नामसे उसे याद करते हैं। उसके बाद कई साधारण एवं अयोग्य शासक हुए। हुमायूँने काश्मीरकी विजय करके अपने एक सम्बन्धी मिर्ज़ा हैदर (१५४१–५२ ई०) को काश्मीरका शासक नियुक्त किया। तदुपरान्त इस देशमें चाकवंशका राज्य चला जिसका १५८६ ई० में अकबरने अन्त करके काश्मीरको अपने साम्राज्यमें मिला लिया।

बहमनीराज्य (१३४७–१५२६ ई०)—हसन नामक एक तुर्क या ईरानी सिपाही दौलताबादके गंगू नामक ब्राह्मणका सेवक था। उस ब्राह्मणकी कृपासे हसनका उत्कर्ष हुआ अतः वह अपने आपको हसनगंगू कहता था। ज़फरख़ाँ उपाधि धारण करके वह शक्ति-संचय करने लगा और १३४७ ई० में जब मुहम्मद तुग़लक़के साम्राज्यमें सर्वत्र विप्लव

एवं विद्रोह हो रहे थे जफ़रखाँने दौलताबादपर कब्ज़ा कर लिया। वह अपने आपको ईरानके बहमनशाह अरदशीर दराज़दस्तका वंशज कहता था अतः अलाउद्दीन बहमनशाहके नामसे दक्षिणापथका स्वतन्त्र सुलतान बन बैठा। उसने ही बहमनी-राज्य और वंशकी स्थापना की और कुल्बर्ग (गुल्बर्ग) को अहसानाबाद नामसे अपनी राजधानी बनाया। १३४७–१३९८ ई० तक उसने राज्य किया। दक्षिणमें १३३६ ई० में संगमके पुत्रों-द्वारा विजयनगरके हिन्दू-राज्यकी स्थापना बहमनी-राज्यकी स्थापनामें प्रधान प्रेरक थी। उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिममें प्रदेश विजय करके उसने अपना पर्याप्त राज्यविस्तार कर लिया। अन्य सुलतानोंकी भाँति बहमनी-सुलतान भी कट्टर मुसलमान थे, हिन्दुओं और उनके धर्मके विद्वेषी शत्रु थे तथा निर्दयी एवं रक्तपिपासु थे। उनके प्रधान राजनैतिक शत्रु विजयनगरके हिन्दू सम्राट् थे, जिनके साथ प्रारम्भसे अन्त तक उनके निरन्तर युद्ध चलते रहे। उत्तर और पश्चिममें मालवा एवं गुजरातके सुलतानोंके साथ उनके राजनैतिक सम्बन्ध कभी मित्र रूपमें और कभी शत्रु रूपमें चलते रहे। उसका उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह प्रथम (१३५८–१३७३ ई०) अत्यन्त नृशंस हत्यारा था, नरसंहार करनेमे उसे आनन्द आता था। विजयनगरके साथ उसके भीषण युद्ध निरन्तर चले जिनमें लाखों व्यक्ति मारे गये। इस नरपशु सुलतानको पाँच लाख हिन्दुओंकी हत्याका श्रेय दिया जाता है, देशकी जनसंख्या अत्यधिक कम हो गयी अन्ततः दोनों पक्षोंने यह निर्णय किया कि युद्ध-बन्दियों एवं युद्धमें भाग न लेनेवालोंकी हत्या न की जायगी। राज्यका सुयोग्य मन्त्री सैफ़ुद्दीन ग़ोरी प्रथम सुलतानके समयसे ही चला आ रहा था और छठें सुलतानके समय तक उसी पदपर चलता रहा। उसके कारण आन्तरिक शासन बहुत कुछ सुव्यवस्थित रहा। १३७३ ई०से १३९७ ई०के बीच २४ वर्षोंमें पाँच सुलतान गद्दीपर बैठे। इस कालमें विजयनगरका सम्राट् हरिहर द्वितीय था, वह भी शान्तिप्रिय था,

अत: दोनों राज्योंके बीच प्राय: शान्ति रही। आठवाँ सुलतान फ़ीरोज (१३९७–१४२२ ई०) था जो मुहम्मदशाह प्रथमका ही एक भतीजा था। उसके राज्यके प्रारम्भमें ही महाराष्ट्रमें १२ वर्षका भीषण अकाल पड़ा। यह सुल्तान भी बड़ा नृशंस एवं हिन्दू-विद्वेषी था। वह विजयनगरके साथ निरन्तर युद्ध करता रहा। एक बार तो वह चार मास तक विजयनगरका घेरा डाले पड़ा रहा और कुछ घंटोंके लिए नगरमें प्रवेश करनेमें भी सफल हुआ। उसने दो हिन्दू-कन्याओंसे भी विवाह किया था जिनमेंसे एक विजयनगरकी राजकुमारी बतायी जाती है। वह ईसाइयोंकी बाइबिल भी चावसे पढ़ता था, शराबका बड़ा पियक्कड़ था, संगीतका भी भारी प्रेमी था। उसके हरममें विभिन्न देशोंकी सैकड़ों स्त्रियाँ थीं और कहते हैं कि वह उन सबसे उन्हींकी भाषाओंमें वार्तालाप कर सकता था। यूरोपकी नारियों एवं अन्य वस्तुओंको वह गोआ और दभोलके द्वारोंसे प्राप्त करता था। भीमाके किनारे फ़ीरोजाबाद नगर उसने बसाया और वहाँ एक दुर्ग और महल बनवाया। कुल्बर्गमें उसने अनेक सुन्दर भवन बनवाये जिनमें जामामसजिद दर्शनीय है और सम्पूर्ण भारतमें किन्हीं अंशोंमें अद्वितीय समझी जाती है। उसके समयमें बहमनी-राज्य अपने चरमोत्कर्षपर था। विजयनगरके साथ अपने अन्तिम युद्ध (१४२० ई०) में वह बुरी तरह पराजित हुआ, जिसके सदमेसे वह शीघ्र ही मर गया। वस्तुत: इस वृद्ध सुलतानको उसके भाई अहमदशाह (१४२२–३५ ई०) ने षड्यन्त्र-द्वारा पदच्युत करके मार डाला था और वह स्वयं सुलतान बन बैठा था। हिन्दू-विद्वेषमें यह अपने पूर्वजोंसे भी आगे बढ़ गया। फ़ीरोजकी पराजयका बदला लेनेके लिए उसने विजयनगर राज्यपर भीषण आक्रमण किया और नि:शस्त्र प्रजाके स्त्री, बच्चों, वृद्धों जिसे देखा उसीका लाखोंकी संख्यामें वध किया, खेती उजाड़ी, जनताको लूटा और इस सम्बन्धमें पिछली सन्धियोंकी भी अवहेलना की। उसने १४२४–२५ ई० में वारंगलके हिन्दू-राज्यका भी

अन्त कर दिया। इसके राज्यकालके प्रारम्भमें भी भयङ्कर अकाल पड़ा। गुजरात और मालवाके सुलतानों तथा कोंकणके हिन्दू राजाओंके साथ भी उसने युद्ध किये। तदनन्तर गुजरातके साथ मैत्री-सन्धि कर ली। उसने राजधानी कुलबर्गका त्याग करके बीदरको स्थानान्तरित कर दी। यह नगर अधिक स्वास्थ्यप्रद था और इसे उसने सुन्दर बनानेका भी प्रयत्न किया। उसके पुत्र अलाउद्दीन द्वितीय (१४३५–५७ ई०) ने विजयनगरके साथ फिर युद्ध छेड़ दिया किन्तु दोनों राज्योंमें अन्ततः सन्धि हो गयी। सुलतान मद्यपान और विषयभोगमें फँस गया। दरबारमें दक्षिणी अमीरों, जो अधिकांशतः सुन्नी थे और विदेशी अमीरों, जो अधिकांशतः शिया थे, के बीच बड़ा संघर्ष और कलह चलने लगी। दक्षिणी दलने हजारों विदेशी सैयदों और मुग़लोंका विश्वासघातपूर्वक वध कर डाला जिनमें अहमदशाहका सहायक और मन्त्री खलफ़हसन भी मारा गया। अलाउद्दीनका पुत्र हुमायूँ (१४५७–६१ ई०) भारी हत्यारा था और अपने उन्मुक्त जुल्मोंके कारण वह जालिम कहलाता था, स्त्री-पुरुष आबालवृद्ध सभीको जिसपर तनिक भी विद्रोहका सन्देह होता वह भीषण यन्त्रणा देकर मरवा डालता। अन्ततः उसके सेवकोंने इस मद्यपायी नर-पशुका वध कर दिया जिससे सारी प्रजाने आनन्द मनाया। किन्तु उसका मन्त्री ख्वाजा महमूदगवाँ अत्यन्त योग्य व्यक्ति था और उसके उत्तराधिकारियोंके समयमें भी कुशलतापूर्वक शासन-सञ्चालन करता रहा। हुमायूँका उत्तराधिकारी थोड़े समय ही राज्य कर पाया, तदनन्तर मुहम्मदशाह तृतीय (१४६३–८२ ई०) सुलतान हुआ और उसकी सफलता एवं उन्नतिका प्रधान कारण उसका राजनीतिनिपुण, कुशल सेनानी, सुयोग्य शासक एवं विचक्षण मन्त्री महमूदगवाँ था। १४७३ ई० में उसने बेलगाँवका सुदृढ़ दुर्ग विजय किया, गोआपर अधिकार किया, अगले वर्ष पड़नेवाले भीषण अकालका सामना किया, १४८१ ई० में कोंडपल्ली पर आक्रमण किया जहाँ सुलतानने अपने हाथोंसे प्रमुख हिन्दू-मन्दिर

और उसकी मूर्त्तिको तोड़ा तथा ब्राह्मण पुजारियोंका वध करके गाजी बना। तदनन्तर उसने पवित्र महानगरी काञ्चीपर आक्रमण किया और वहाँके प्रधान मन्दिरोंको तोड़ा, लूटा, पुजारियों और रक्षकोंका वध किया तथा नगरको बहुत कुछ विध्वंस किया। यह सुलतान भयङ्कर शराबी था। दक्षिणी दलने षड्यन्त्र करके महमूदगवाँको जो ईरानी था, शराबी सुलतानकी क्रोधाग्निका छलसे शिकार बनवा दिया। मन्त्रीकी हत्या करवानेके बाद सुलतान बहुत पछताया और शराबके कारण ही अन्तमें मर गया। महमूदगवाँके मरते ही सल्तनतका पतन आरम्भ हो गया। मुहम्मदशाहके द्वादशवर्षीय पुत्र महमूदशाह (१४८२–१५१८ ई०) ने नाममात्रके लिए ही शासन किया। वह अयोग्य और निकम्मा था, दिन-रात भोग-विलासमें ही मस्त रहता। शनैः-शनैः राज्यके विभिन्न सूबे स्वतन्त्र हो गये और बहमनी-सुलतानका अधिकार राजधानी बीदरके आस-पास थोड़ेसे प्रदेशपर ही रह गया। उसमें भी सम्पूर्ण राज्य-कार्य एक चालाक तुर्क सरदार क़ासिम बरीदके हाथोंमें था। उसके बाद उसका पुत्र अमीर बरीद सर्वे-सर्वा हो गया। सुलतान महमूदकी मृत्युके बाद एक-एक करके उसने चार सुलतान गद्दीपर बैठाये और अन्ततः १५२६ ई० में बहमनी वंशका सर्वथा अन्त करके वह स्वयं स्वतन्त्र सुलतान बन बैठा। बहमनियोंका राज्यकाल दुराचार, अनाचार, अत्याचार, षड्यन्त्रों, हत्याओं और नरसंहारसे पूर्ण है। हिन्दुओंके विरुद्ध वह एक अविच्छिन्न जहाद था; उसकी सेनाएँ सशस्त्र रक्तलोलुप नरपशुओंकी भीड़ मात्र थीं। जन-साधारणकी अत्यन्त दुर्दशा थी। किन्तु सब अत्याचारों, नरसंहार और बलात् धर्मपरिवर्तनके प्रयत्नोंके बावजूद देशके दशमांश निवासियोंको भी वे मुसलमान न बना सके। कुछ सुदृढ़ दुर्ग, मसजिदें, महल आदि उन्होंने अवश्य बनवाये, मुसलमानी विद्याको भी प्रोत्साहन दिया तथापि शान्तिपूर्ण सांस्कृतिक कार्योंके लिए नृशंस सुलतान उपयुक्त ही न थे।

बहमनी-साम्राज्य बिखरकर जिन विभिन्न स्वतन्त्र मुसलमानी राज्योंमें

परिवर्तित हुआ उनमें सर्वप्रथम **बरारकी इमादशाही** (१४८४–१५७४ ई०) थी। बरार (प्राचीन विदर्भ) बहमनी-साम्राज्यका धुर उत्तरी सूबा था। १४८४ या १४९० ई० में फतहुल्ला इमादुल्मुल्कने जो पहले हिन्दू था, अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। उसके वंशमें चार सुलतान हुए और १५७४ ई० मे इस राज्यका अन्त होकर यह अहमदनगर राज्यमें ही मिल गया जिसने इस सूबेको १५९६ ई० में अकबरके पुत्र मुरादको दे दिया।

बीदरकी बरीदशाही (१५२६–१६०९ ई०)—अन्तिम बहमनी-सुलतान महमूदका मन्त्री क़ासिम बरीद १४९२ ई० से ही सर्वे-सर्वा हो गया था, १५२६ ई० मे उसके पुत्र अमीर बरीदने बहमनी राज्य और वंशका नामके लिए भी अन्त कर दिया और अपने आपको ही सुलतान घोषित कर दिया। १६०९ ई० के लगभग इस वंशका अन्त करके उसके राज्यको बीजापुरने अपनेमें मिला लिया। बीदरमें अमीर बरीदकी दरगाह तथा एकाध अन्य इमारतोंको छोड़कर इस छोटी-सी सल्तनतके सम्बन्धमें कुछ उल्लेखनीय नहीं है।

गोलकुण्डाकी कुतुबशाही (१५१८–१६८७ ई०)—वारंगलके प्राचीन ककातीय राज्यके प्रदेशपर स्थापित हुई। मन्त्री महमूदगवाँ-द्वारा नियुक्त इस प्रदेशका सूबेदार एक तुर्की सरदार सुलतान कुली कुतबशाह इस वंश और राज्यका संस्थापक था। १५१८ ई०में वह स्वतन्त्र हो गया और ९० वर्षकी आयुमें अपने पुत्र जमशेद(१५४३–५० ई०) द्वारा मार डाला गया। जमशेदका भाई इब्राहीम (१५५०–८० ई०) इस वंशका सर्वमहान् शासक था। गोलकुण्डाके सुलतान विजयनगर, बीजापुर और अहमदनगरके संघर्ष एवं युद्धोंसे प्रायः अलग ही रहते थे, किन्तु १५६५ ई० के विजयनगर विरोधी संघमें इब्राहीम भी सम्मिलित था। इसका शासन अच्छा रहा, हिन्दुओंपर विशेष अत्याचार नहीं हुआ, वरन् वे राज्य-सेवामें भी बहुसंख्यामें नियुक्त होते थे और ऊँचेसे-ऊँचे पद भी प्राप्त करते थे।

उसके पुत्र मुहम्मद कुली (१५८०–१६११ ई०) के उपरान्त इस राज्य की अवनति होने लगी और वह मुग़ल सम्राटोंकी प्रायः अधीनतामें ही चलता रहा। १६८७ ई० में औरंगज़ेबने उसका सर्वथा अन्त कर दिया। प्रथम कुतुबशाहने ही वारंगलका त्याग करके गोलकुण्डाको राजधानी बनाया था, सुलतान इब्राहीमके समयमें इस नगरकी बहुत उन्नति हुई। कुतुबशाही सुलतानोंके सुन्दर मक़बरों, गोलगुम्बद और सुदृढ़ क़िलेके लिए तथा अपनी हीरेकी खानके लिए गोलकुण्डा प्रसिद्ध है। यति शील-विजयके यात्रा-विवरणके अनुसार इस नगरमें उस कालमें कई सुन्दर जैनमन्दिर भी थे। १५८९ ई० में उसके अस्वास्थ्यकर होनेके कारण भागनगर (हैदराबाद) को राजधानी बनाया गया जो कालान्तरमें दक्खिन के निज़ाम नवाबोंकी प्रसिद्ध राजधानी बना।

अहमदनगरकी निज़ामशाही (१४९०–१६३७ ई०)—बीदर के बहमनी दरबारमें दक्षिणी दलके जिस नेता निज़ामुलमुल्क बहरीके षड्यन्त्र से महमूदगवाँकी हत्या हुई थी और जो स्वयं थोड़े समय पश्चात् उसी प्रकार मार डाला गया था, उसके बेटे मलिक अहमदने जो कि जुन्नेरका सूबेदार था १४९० ई० में विद्रोह कर दिया, उसने महमूद बहमनीको पराजित करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी, अहमदनगरको अपनी राजधानी बनाया और वह स्वयं अहमद निज़ामशाहके नामसे इस वंश का प्रथम सुलतान (१४९०–१५०८ ई०) बना। १४९९ ई० में दौलता-बादके दुर्गको हस्तगत करके उसने अपने राज्यको सुसंगठित कर लिया। उसके उत्तराधिकारी बुरहान निज़ामशाह (१५०८–५३ ई०) ने १५३७ ई० में शिया मत अंगीकार किया। वह अपने पड़ोसी हिन्दू और मुसलमान राज्योंके साथ बराबर लड़ता रहा और १५५० ई० में उसने विजय-नगरके साथ सन्धि करके बीजापुरके विरुद्ध उसका साथ दिया। उसके उत्तराधिकारी हुसेनशाहने १५६५ ई० में विजयनगर-विरोधी संघमें सक्रिय भाग लिया और उस महानगरीकी लूट तथा हिन्दू-राज्यके प्रदेशों

में अपना हिस्सा प्राप्त किया। १५७४ ई० में उसने बरार राज्यको विजय करके अपने राज्यमें मिला लिया। तदुपरान्त निज़ामशाहीकी अवनति होने लगी। सम्राट् अकबरके पुत्र मुरादके आक्रमणोंमे अहमदनगरकी राजकुमारी और तत्कालीन बालक सुलतानकी बुआ चाँद बीबीने जो कि बीजापुरके सुलतानके साथ विवाही थी, अहमदनगर आकर अपने भतीजे के राज्यको वीरतापूर्वक रक्षा की थी। अन्तत: १५९६ ई० में बरार का सूबा लेकर तथा चाँद सुलतानाके साथ सन्धि करके मुराद लौट गया। १६०० ई० में मुग़लोंने फिर आक्रमण किया और इस बार चाँद सुलताना युद्धमें मारी गयी। किन्तु पूरे राज्यपर मुग़लोंका फिर भी अधिकार नहीं हुआ। १६३७ ई० में शाहजहाँने इस राज्यका सर्वथा अन्त किया।

बीजापुरकी आदिलशाही (१४८९-१६८६ ई०) इन समस्त सल्तनतोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका संस्थापक बीजापुरका बहमनी सूबेदार यूसुफ़ आदिलखाँ था जो १४८९ ई० मे स्वतन्त्र हुआ और युसुफ़ आदिल शाह (१४९०-१५१० ई०) के नामसे बीजापुरका प्रथम सुलतान हुआ। वह शिया मुसलमान था और १५०२ ई० मे उसने इसी धर्मको अपना राजधर्म बनाया। विजयनगर तथा दक्षिणकी उपरोक्त मुसलमानी सल्तनतोंके साथ उसके निरन्तर युद्ध चलते रहे। सुन्नी होनेके कारण उन्होंने उसका और भी विरोध किया। गोआको उसने अपना प्रिय आवास बना रखा था, जिसके लिए पुर्तगालियोंके साथ इसके युद्ध हुए, अन्तत: उन्होंने १५१० ई० उस नगरको अधिकृत कर लिया और वहाँके मुसलमानोंका बुरी तरह संहार किया। इस सुलतानने मराठा सरदार मुकन्द राओकी बहिनके साथ विवाह किया तथा मराठों और अन्य हिन्दुओंको राज्यमें उच्च पदोंपर भी नियुक्त किया। उसके राज्यमें लोकव्यवहारमे मराठी भाषाका ही प्रयोग होता था। वह मानव-स्वभावका ज्ञाता, बुद्धिमान्, न्यायी, सुन्दर, सुशिक्षित, विद्यारसिक और निपुण

संगीतज्ञ था, साथ ही उदार और सहिष्णु भी था। बीजापुरके दुर्गका उसने पुनः निर्माण कराया था। उसका पुत्र इस्माइलशाह (१५१०–३४ ई०) जो मराठा रानीसे उत्पन्न था, अपने पिताकी भाँति ही सुयोग्य था। सुलतान बननेके समय वह बालक था अतः उसके संरक्षक और मन्त्री कमालखाँने स्वयं राज्य हस्तगत करना चाहा किन्तु भेद खुल गया और वह मारा गया। इस्माइल भी पड़ोसी राज्योंके साथ बराबर लड़ता रहा और विजयनगरसे रायचूरका दोआब छीन लेनेमें सफल हुआ। ईरानके शाहने उसके दरबारमें एक राजदूत भेजा जिसका उसने बड़े समारोहके साथ स्वागत किया। उसका पुत्र मल्लू अयोग्य और दुराचारी था अतः कुछ मास पश्चात् ही उसे अन्धा करके पदच्युत कर दिया गया और उसका अन्य भाई इब्राहीम आदिलशाह प्रथम (१५३५-५७ ई०) सुलतान हुआ। उसने सुन्नी मत और दक्षिणी एवं हब्शी सरदारोंका पक्ष लिया अतः बहुतसे ईरानी आदि विदेशी सरदारोंने विजयनगरके रामराजाकी नौकरी कर ली। १५३५-३६ ई० में सुलतान विजयनगरके कुछ सरदारोंके निमन्त्रणपर वहाँ गया और बहुत-सा धन लेकर वापस लौटा। उसका मन्त्री असदखाँ बहुत चतुर था, उसीकी कूटनीतिसे विजयनगरके विरुद्ध पाँचों मुसलमान सुलतानोंका संघ संगठित हुआ था। सारे शासनकालमें कूटनीतिक दाँव-पेंच चलते रहे। अन्तिम वर्षोंमें सुलतान मद्यपान और भोग-विलासमें अत्यधिक मग्न हो गया और बुरी मौत मरा। उसका पुत्र अली आदिलशाह (१५५७-८० ई०) कट्टर शिया था और सुन्नियोंका विरोधी था। १५५८ ई० में रामराजाके साथ सन्धि करके उसकी सहायता से उसने अहमदनगरपर आक्रमण किया और वहाँ निर्दयताके साथ लूट-मार की। इस अवसरपर रामराजाने मुसलमानोंपर जो अत्याचार किये और उनके प्रति जैसी घृणा प्रदर्शित की उससे सभी सुलतान आपसी झगड़ोंको भुलाकर उसका अन्त करनेपर कटिबद्ध हो गये। इसी उद्देश्यसे आपसी सम्बन्धोंको और अधिक पुष्ट करनेके लिए उसने अहमदनगरके

हुसैन निजामशाहकी बहिन चांद बीबोके साथ अपना और उसकी पुत्रीके साथ अपने पुत्रका विवाह कर लिया। १५६४ ई० के दिसम्बर मासमें बीजापुर, अहमदनगर, बीदर और गोलकुण्डाके सुलतान अपनी-अपनी सेनाओं-सहित तालिकोटामें एकत्रित हुए और १५६५ ई० के प्रारम्भमें मंगलवार २३ जनवरीके दिन तालिकोटासे २५ मील दूर उनका विजयनगरकी सेनाके साथ भीषण युद्ध हुआ। वृद्ध रामराजा और उसके वीर सैनिक अत्यन्त वीरताके साथ लड़े और उन्होंने मुसलमानोंके पैर उखाड़ दिये। किन्तु विजयनगरके दुर्भाग्यसे कुछ हाथी भड़क गये, गड़बड़में रामराजा बन्दी हुआ और तुरन्त उसका सिर काट दिया गया, हिन्दुओंमें भगदड़ मच गयी, मुसलमानोंने बड़ी निर्दयताके साथ हिन्दुओंका संहार किया और लूट-मार करते हुए विजयनगरपर चढ़ दौड़े तथा कई सप्ताह पर्यन्त उस महानगरीका ऐसा भयङ्कर विध्वंस किया जिसका अन्य उदाहरण नहीं। सभी मुसलमान सुलतान धनी बन गये और विशेषकर अली आदिलशाह अपार धन लेकर बीजापुर लौटा। १५७० ई० में सुलतानने अहमदनगरके साथ मिलकर पुर्तगालियोंकी बस्तियोंपर अधिकार करनेका विफल प्रयत्न किया। १५७९ ई० में एक खोजेके हाथों अली आदिलशाहकी मृत्यु हुई। उसका पुत्र इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८०–१६२६ ई०) राज्य प्राप्त करनेके समय बालक ही था और १५८४ ई० तक उसकी मां चांद बीबी ही सब राज्यकार्य करती रही। तदुपरान्त वह अपने मायके अहमदनगर चली गयी और उस राज्यकी रक्षामें ही उसका अन्त हुआ। १५९५ ई० में बीजापुर और अहमदनगरके बीच अन्तिम युद्ध हुआ। तदुपरान्त बीजापुर ही अकेला शक्तिशाली राज्य रह गया और मुग़ल सम्राट् ही उसके प्रधान शत्रु थे। यह सुलतान बहुत योग्य शासक था, परधर्मसहिष्णु भी था, अनेक ब्राह्मण और मराठे उसके राज्यमें उच्च पदोंपर नियुक्त थे, उसने भूमिका उत्तम बन्दोबस्त किया और पुर्तगालियोंसे भी मैत्री सम्बन्ध रखे। चित्रकलाको भी उसने

प्रश्रय दिया। इसके समयमें बीजापुर-राज्य सर्वाधिक विस्तृत था और उसके पास अस्सी हज़ार सेना और भरा-पुरा राजकोष था। उसने कई सुन्दर इमारतें भी बनवायीं। उसके पुत्र मुहम्मद आदिलशाह (१६२६–१६५६ ई०) ने १६३६ ई० में शाहजहाँकी अधीनता स्वीकार कर ली। उसींके समयमें वीर शिवाजीके नेतृत्वमें मराठा-शक्तिका उदय हुआ जो बीजापुरके पतनमें प्रधान कारण बनी। उसके पुत्र अली आदिलशाह द्वितीय (१६५६–७३ ई०) के साथ शिवाजीके अनेक युद्ध हुए। अन्ततः शिवाजीके नवोदित मराठा-राज्यकी स्वतन्त्र सत्ता बीजापुरको स्वीकार करनी पड़ी। अन्तिम सुलतान सिकन्दर आदिलशाह (१६७३–८६ ई०) को औरंगजेबने बन्दी बनाकर बीजापुर-राज्यका अन्त कर दिया। बीजापुरके सुलतानोंने बीजापुर नगर, उसके गगन-महल-जैसे सुन्दर भवन, नहरें, अनेक मसजिदें और मक़बरे बनवाये। बीजापुरमे एक बहुमूल्य विशाल पुस्तकालय था जिसके कई अद्भुत ग्रन्थ लन्दनके ब्रिटिश म्यूजियममें हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार फ़रिश्ताने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना इब्राहीम द्वितीयके आश्रयमें उसकी आज्ञासे ही की थी। समर्थ रामदास-जैसे सन्तोंने इन सुलतानोंके समयमें ही हिन्दू जनतामें जागृति उत्पन्न की थी।

खानदेशका फारूकीवंश (१३८८–१६०१ ई०)—फ़ीरोज तुग़लककी मृत्युके समय खानदेशका सूबा स्वतन्त्र हुआ। यह छोटा-सा मुसलमानी राज्य अपने सुदृढ़ असीरगढ़ दुर्गके लिए प्रसिद्ध था जिसे १६०१ ई० में अकबरने विजय करके इस राज्यका अन्त किया। फारूकी सुलतानोंकी राजधानी बुरहानपुर थी। ताप्तीकी घाटीमें स्थित यह छोटा-सा मुसलमानी राज्य भी पड़ोसी राज्योंके साथ युद्धोंमें संलग्न रहा और कुछ काल तक गुजरातके सुलतानोंके अधीन भी रहा।

उपरोक्त मुसलमानी राज्योंके अतिरिक्त इस कालमें कुछ शक्तिशाली हिन्दू राज्य भी थे जिनमें सर्वाधिक शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण दक्षिणका

विजयनगर-साम्राज्य था जिसका वर्णन पिछले खण्डमें किया जा चुका है। उसके अतिरिक्त कोंकण, कर्णाटक, तुलुव और सुदूर दक्षिणमें कुछ छोटे-छोटे हिन्दू और जैन राज्य थे। गोआको पुर्तगाली शक्ति भी अपने समुद्री बलके कारण महत्त्वपूर्ण थी। उत्तरापथमें राजस्थानमें कई प्रसिद्ध राज्य थे यथा बीकानेर, जोधपुर, जयपुर (अम्बर), हाड़ावूँदी, रणथम्भौर, चित्तौड़ आदि। इन सबमें चित्तौड़ राजधानीसे राज्य करनेवाले मेवाड़के गुहिलोत या सीसोदियावंशी राणा सबसे अधिक शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण थे। वास्तवमें वे ही सम्पूर्ण राजस्थानके नेता थे और मुसलमान सुल्तानोंके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। दिल्लीके तथा गुजरात और मालवाके सुलतानोंके साथ उनके निरन्तर युद्ध होते रहे। महमूद गजनवीके लुटेरे आक्रमणों, मुहम्मद गोरी और उसके सिपहसालारोंके देश-विजयके लिए किये गये आक्रमणों तथा गुलामवंशके शासकोंसे भी अजमेरको छोड़कर प्रायः सम्पूर्ण राजपूताना सुरक्षित रहा। ११वीं शतीमें मेवाड़का राणा हम्मीरदेव प्रसिद्ध था, हम्मीररासो या हम्मीरदेव महाकाव्य आदि ग्रन्थोंका वह प्रेरक था। जालसिंह नामक एक जैनी भी उसका मन्त्री था। १२वीं शती ई० के उत्तरार्धमें राणा सामन्तसिंहने सम्भवतया पृथ्वीराजके गोरी विरोधी संघमें एवं तलावड़ीके युद्धोंमें भाग लिया था। १२६५ ई० के लगभग राणा तेजसिंह मेवाड़पर शासन करता था। उसकी पट्टरानी जयतल्लदेवीकी जैन-धर्मपर अटूट श्रद्धा रही बतायी जाती है। इस रानीने चित्तौड़ दुर्गके भीतर ही श्याम पार्श्वनाथका सुन्दर मन्दिर बनवाया था और अन्य भी अनेक जिन-मन्दिर बनवाये थे। उसके पुत्र वीरकेसरी रावल समरसिंहने आंचलगच्छके आचार्य अमितगतिसूरिके उपदेशसे अपने राज्यमें जीव-हिंसा बन्द करा दी थी। समरसिंह अपनी वीरताके लिए इतिहास-प्रसिद्ध है। राजपूतानेके अन्तःप्रदेशमें प्रवेश करनेवाला सर्वप्रथम मुसलमान सुलतान अलाउद्दीन खिलजी था जिसने १३०० ई०में रणथम्भोरपर भीषण आक्रमण किया किन्तु राजपूतोंकी वीरताके कारण उस बार उसे

विफल होकर लौटना पड़ा। अगले वर्ष उसने और अधिक भीषण आक्रमण किया और कई मास तक घेरा डाले रहनेके उपरान्त दुर्गपर अधिकार कर सका। तदनन्तर उसने चित्तौड़पर आक्रमण किया। उस समय राणा भीमसिंहका शासन था। कहा जाता है कि उनकी महारानी पद्मिनीके अतुल रूप-सौन्दर्यकी चर्चाने उसे चित्तौड़की ओर आकृष्ट किया था। राजपूतोंकी वीरताके कारण कई बार उसके प्रयत्न विफल हुए, अन्तत: १३०३–४ ई० में महारानी पद्मिनी सहस्रों स्त्रियोंके साथ दुर्गके गर्भ-गृहमें चितामें भस्म हो गयी और वीर राजपूत केसरिया बाना पहिन लड़ते-लड़ते जूझ मरे। इस भयङ्कर जौहरमें चित्तौड़के समस्त स्त्री-पुरुषोंका अन्त हो जानेपर ही मुसलमान क़िलेपर अधिकार कर सके। चित्तौड़पर कुछ वर्ष तक अलाउद्दीनका पुत्र खिज़रखाँ सूबेदार रहा और उसपर मुसलमानोंका अधिकार रहा। तदनन्तर राजपूतोंने उन्हें निकाल बाहर किया और फिर कई शताब्दियों तक मुसलमानोंको उसकी ओर दृष्टिपात करनेका साहस न हुआ। १४वीं शती ई० के उत्तरार्धमें मेवाड़के बघेरवाल जैनी साह-जीजाने चित्तौड़में प्राचीन चन्द्रप्रभु चैत्यालयके निकट एक सतखना उत्तुङ्ग एवं अत्यन्त कलापूर्ण कीर्तिस्तम्भ या मानस्तम्भ बनवाया था। कहा जाता है कि इस धर्मात्मा सेठने १०८ प्राचीन मन्दिरोंका जीर्णोद्धार, उतने ही नवीन मन्दिरोंका निर्माण एवं प्रतिष्ठा करायी थी, अठारह स्थानोंमें अठारह विशाल श्रुत-भण्डार स्थापित किये थे और सवालाख बन्दियोंको मुक्त कराया था। उसके गुरु दिगम्बराचार्य सोमसेन भट्टारक थे। १५वीं शतीके प्रारम्भमें राणा लाखाके समयसे मेवाड़-राज्यकी शक्ति और अधिक बढ़ने लगी। रामदेव नामक जैन भी इनका एक मन्त्री था, उसका उत्तराधिकारी राणा मोकल भी योग्य शासक था। तदनन्तर महाराणा कुम्भ दिल्ली, मालवे और गुजरातके मुसलमान सुलतानोंका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हुआ। मालवेके सुलतानपर विजय पानेके उपलक्ष्यमें इस राणाने चित्तौड़में एक नौ-मंज़िला उत्तुंग कीर्त्तिस्तम्भ या जयस्तम्भ

बनवाया था। इसीके आश्रयमें उसके एक ओसवाल महाजन गुणराजने १४३८ ई० में जैन-कीर्तिस्तम्भके निकट स्थित महावीरस्वामीके प्राचीन मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया था। स्वयं महाराणा कुम्भने मचींद दुर्गमें एक सुन्दर चैत्यालय बनवाया था। महाराणा कुम्भके प्रतापके आगे पड़ोसी सुलतान थर-थर काँपते थे। १४४८ ई० मे राणाके कोठारी (कोषाध्यक्ष) वेलाकने जो शाह केल्हाका पुत्र था राजमहलके निकट ही एक छोटा-सा कलापूर्ण जिन-मन्दिर बनवाया था। शान्तिनाथके इस मन्दिरको शृंगार-चँवरी कहते हैं। इसकी प्रतिष्ठा खरतरगच्छके आचार्य जिनसेनसूरिने की थी। कुम्भका उत्तराधिकारी राणा रायमल बहलोल और सिकन्दर लोदीका प्रतिद्वन्द्वी था। पड़ोसी सुलतानोंके साथ इसके भी अनेक युद्ध हुए। इसके समयमें चित्तौड़ दुर्गके गोमुख तीर्थके निकट १४८६ ई० मे एक जैन-मन्दिरका निर्माण हुआ था जिसमें दक्षिणके कर्णाटक देशसे लाकर जिन-मूर्ति स्थापित की गयी थी। उसका उत्तराधिकारी महाराणा संग्रामसिंह या राणा सांगा पूर्व-मुगलकालके राणाओंमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वह सिकन्दर लोदी, इब्राहीम लोदी, बाबर मुग़ल और गुजरातके महमूद बेगड़ा एवं बहादुरशाह तथा मालवाके ग़यासुद्दीन, नासिरुद्दीन और मुहम्मद द्वितीयका प्रतिद्वन्द्वी था। ग्वालियरमें उस समय मानसिंह तोमरका राज्य था। सभी तत्कालीन हिन्दू एवं मुसलमान नरेशोंमें महाराणा सांगाकी अत्यन्त प्रतिष्ठा थी। अपने जीवनमें एक सौसे अधिक युद्धोंमें इस वीर राणाने भाग लिया था, उसके शरीरपर तलवार और बरछे आदि शस्त्रोंके आघातके अस्सी चिह्न थे, युद्धोंमें उसकी एक आँख, एक हाथ और एक टाँग भी जाती रही थी। उसके अधीन लगभग एक सौ बीस छोटे-बड़े राजा, सामन्त और सरदार थे और उसकी सेनामें अनगिनत पदाति सैनिकोंके अतिरिक्त ८०००० अश्वारोही तथा ५०० हाथी थे। १५२७ ई० में जब दिल्लीकी असंख्य मुसलमान सेनापर पानीपतके प्रथम युद्धमें विजय पानेवाले

शक्तिशाली मुग़ल-बादशाह बाबरका कनवाहके रणक्षेत्रमें इस प्रचण्ड राजपूत युद्ध-वीरसे सामना हुआ तो उसका दिल दहल गया। उसने आजन्म शराबको न छूनेकी प्रतीज्ञा की, रात-भर ख़ुदाकी इबादत की और संयोगसे ही वह उस युद्धमें विजयी हुआ। किन्तु राणा और उसके राज्य-को स्पर्श करनेका उसे फिर भी साहस न हुआ। इस युद्धके परिणामसे राणाको बड़ा सदमा पहुँचा और १५२९ ई० में उस वीरकी मृत्यु हो गयी। इस महाराणा सांगाके राज्यकालमें ही दिल्लीके मूलसंघी पट्टाचार्य जिनचन्द्रसूरिके शिष्य अभिनवप्रभाचन्द्र (१५१४–१५२४ ई०) ने चित्तौड़में स्वतन्त्र पट्ट स्थापित किया था। मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र (१५२४–१५४६ ई०) उनके उत्तराधिकारी थे। इनके प्रशिष्यके समय चित्तौड़का पतन होनेपर यह पट्ट आमेरको स्थानान्तरित हो गया था। चित्तौड़के इस पट्टके आश्रयमें अनेक ग्रन्थोंकी रचना हुई। आचार्य नेमिचन्द्रने गोमट्ट-सारकी संस्कृत टीका १५१५ ई० में चित्तौड़में ही जिनदासशाहके पार्श्व-जिनालयमें की थी। लाला वर्णीकी प्रेरणापर नेमिचन्द्र दक्षिणसे यहाँ आये थे। राणाने जैनाचार्य धर्मरत्नसूरिका भी हाथी, घोड़े, सेना और बाजे-गाजेके साथ स्वागत-सत्कार किया था तथा उनके उपदेशसे प्रभावित होकर शिकार आदिका त्याग कर दिया था, ऐसा कहा जाता है। इन जैनाचार्यका ब्राह्मण विद्वान् पुरुषोत्तमके साथ सात दिन तक राजसभामें शास्त्रार्थ भी हुआ था। राणा सांगाके पुत्र भोजराजकी पत्नी ही कृष्ण भगवान्‌की परम भक्त सुप्रसिद्ध मीराबाई थीं जिनके कारण राजस्थानमें कृष्ण-भक्तिकी अपूर्व लहर दौड़ गयी थी। सांगाके उपरान्त उसका पुत्र रत्नसिंह राणा हुआ। उसके समयमें उसके मन्त्री कर्माशाहने १५३० ई० में शत्रुञ्जय तीर्थका जीर्णोद्धार कराया और इस कार्यमें गुजरातके सुलतान बहादुरशाहने भी उसकी सहायता की थी। कर्माशाहके लिए तत्कालीन शिलालेखोंमें लिखा है कि वह 'श्रीरत्नसिंहराज्ये राज्यव्यापार-भारधौरेयः' था। इसका पिता तोलाशाह राणा सांगाका मित्र और मन्त्री था। राणा रत्नसिंहकी

मृत्युके कुछ ही समय पश्चात् १५३४ ई० में गुजरातके बहादुरशाहने चित्तौड़पर भीषण आक्रमण किया। इस विपत्तिमें राणा सांगाकी विधवा महारानी कर्णवतीने मुग़ल-बादशाह हुमायूँके पास राखी भेजकर सहायता माँगी। हुमायूँ उस समय शेरशाहके विरुद्ध बिहारमें फँसा हुआ था, किन्तु उस पवित्र राखीका सम्मान रखनेके लिए तुरन्त चित्तौड़की रक्षाके लिए चल दिया। फिर भी विलम्ब हो ही गया। वीर महारानीने और उसके वीर राजपूतोंने जौहर करके अपना अन्त किया, केवल तब ही बहादुरशाह दुर्गको अधिकृत कर सका। किन्तु उसकी विजय अस्थायी रही, हुमायूँ आ पहुँचा और १५३५ ई० में ही बहादुरशाहको बुरी तरह पराजित करके उसने चित्तौड़-विध्वंसका बदला लिया। तदनन्तर चित्तौड़का राणा, सांगाका एक अन्य पुत्र, विक्रमाजीत हुआ किन्तु दासीपुत्र बनवीरने उसकी हत्या कर दी और स्वयं राणा बन बैठा। उसने सांगाके अवशिष्ट पुत्र बालक उदयसिंहकी हत्या करनेका भी प्रयत्न किया, किन्तु स्वामिभक्त पन्नाधायने स्वपुत्रकी बलि देकर स्वामीके पुत्रकी रक्षा की। राजकुमारको लेकर वह अनेक सामन्तोंके पास शरण-प्राप्तिके लिए गयी किन्तु अत्याचारी बनवीरके भयसे किसीने भी राजकुमारको शरण न दी। अन्तमें कुम्भलनेरके जैनी क़िलेदार आशाशाह देपरा और उसकी वीर माताने राजकुमारको शरण दी, पद और प्राणोंकी परवा न करके उसका संरक्षण किया तथा वयस्क होनेपर उसको चित्तौड़के सिंहासनपर आसीन कराया। भारमल कावड़ियाको राणा उदयसिंहने अपना प्रधान बनाया। राणा सांगाने ही उसे अलवरसे बुलाकर रणथम्भौरका क़िलेदार नियुक्त किया था। पूर्व-मुग़लकालमें मेवाड़के उपरोक्त वीर राणाओंने भारतीय स्वातन्त्र्य-संघर्षको सजीव रखा और वे अपने नेतृत्वमें कमसे-कम राजपूतानेकी प्रायः समस्त हिन्दूराज्य-शक्तियोंको एकत्रित करके सुलतानोंसे बराबर लोहा लेते रहे, और एक प्रकारसे उनके धार्मिक अत्याचारोंपर प्रतिबन्ध का कार्य भी करते रहे। राणाओंका कुलधर्म शैव था, उनके राज्यमें तथा

राजपूतानेके अन्य राजपूत राज्योंमें भी शैव और वैष्णव धर्मकी प्रधानता हो चली थी। तथापि जैनधर्मके प्रति प्रायः सभी राणा और अन्य राजे तथा सामन्त-सरदार पूर्णतया उदार और सहिष्णु थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन साधुओंका सम्पूर्ण राजस्थानमें उन्मुक्त विहार था। अनेक स्थानोंमें उनके तीर्थ, सांस्कृतिक केन्द्र और भट्टारकीय गद्दियाँ थीं। राज्य-वंशों एवं सामन्तवंशोंके अनेक स्त्री-पुरुष और कभी-कभी कोई-कोई नरेश भी जैनधर्मके अनुयायी या भक्त होते रहे। उस कालमें वहाँ जैनोंकी संख्या अबकी अपेक्षा कमसे-कम दुगुनी थी, और क्योंकि उस कालमें जैनी प्रायः क्षत्रिय और वैश्य जातियों एवं मध्यम वर्गमें-से ही थे, अतएव उस वर्गमें आधेसे अधिक उन्हींकी संख्या थी और इन जैनोंने मेवाड़ तथा अन्य राजपूत राज्योंके संरक्षण, उन्नति, शासन-प्रबन्ध, धर्म, साहित्य एवं कलाके क्षेत्रमें और सांस्कृतिक विकासमें स्तुत्य योगदान दिया। स्वयं मेवाड़ राज्यमें ही जब-जब क़िलेकी नींव रखी जाती तब-ही-तब राज्य की ओरसे एक नवीन जैनमन्दिर बनवाये जानेकी रीति थी। राज्य-भरमें राजाज्ञासे रात्रि-भोजनका निषेध था। कोई भी जैनसाधु राजधानीमें पधारता तो महारानियाँ उसे राजमहलमें आदर-पूर्वक आमन्त्रित करके उसके आहार आदिका प्रबन्ध करती थीं। राज-सभाओंमें जैनसाधुओंके भाषण और शास्त्रार्थ होते और उनका सम्मान किया जाता था। उनके तीर्थोंका संरक्षण राज्यकी ओरसे होता था। प्रायः यही व्यवहार अन्य राजपूत राज्योंका भी था। इसी कालमें सन् १४९१ ई० में राजस्थानके एक धनकुबेर शाह जीवराज पापड़ीवालने दिल्लीके भट्टारक जिनचन्द्रके उपदेशसे धातु और पाषाणकी असंख्य जिन-मूर्त्तियोंका निर्माण और प्रतिष्ठा करायी थी और भारतके विभिन्न भागोंमें बहुसंख्यामें इन मूर्त्तियोंको भेजा था। आज भी उत्तर और मध्यभारतके अनगिनत स्थानोंमें इन मूर्त्तियोंमें-से अनेक पायी जाती हैं। अस्तु, ये सब वीर राजपूत राज्य मुसलमानोंसे बराबर लोहा लेते रहे, अकबरने ही उनकी स्वाधीनताका प्रायः अन्त किया।

राजपूतानेके अतिरिक्त ग्वालियरमें तोमरवंशी राजपूतोंका राज्य भी इस कालका शक्तिशाली राज्य था। ग्वालियर (गोपाचल या गोपगिरि) का प्रसिद्ध सुदृढ़ दुर्ग कमसे-कम गुप्तकाल-जितना प्राचीन है। गुर्जर प्रतिहारोंके बाद चन्देलोंका और कच्छपघट राजपूतोंका इस प्रदेश पर राज्य रहा। १२वीं शती ई० के प्रारम्भमें प्रतिहारोंकी ही एक अन्य शाखाका इसपर पुनः अधिकार हुआ, किन्तु १२वीं शताब्दीके अन्तमें मुहम्मद ग़ोरीके सिपहसालार कुतुबुद्दीन ऐबकने कन्नौज लेनेके बाद ग्वालियर पर घेरा डाला। राजपूत बड़ी वीरतासे लड़े, अन्तमें जौहर-द्वारा एक-एक करके कट मरे, स्त्रियाँ चितामें भस्म हो गयीं और ११९६–९७ ई० में ग्वालियरपर मुसलमानोंका अधिकार हो गया। इसके उपरान्त इल्तुतमिशने पूरे प्रदेशको पूर्णतया विजित करके अपने राज्यमें मिला लिया और तभीसे सुलतानोंके प्रतिनिधि हिन्दू या मुसलमान शासकोंका शासन उस दुर्गपर चलता रहा। फ़ीरोज़ तुग़लकके अन्तिम दिनोंमें उद्धरणदेव तोमर नामके एक राजपूत सरदारने ग्वालियरपर अधिकार कर लिया। १३९८ ई० में तैमूर लंगके आक्रमणसे उत्पन्न हुई गड़बड़ीमें उसके प्रतापी पुत्र वीरसिंह या वीरमदेव तोमरने उसके आस-पास एक अच्छे बड़े प्रदेश पर अपना राज्य सुसंगठित कर लिया। दिल्लीके शक्तिहीन सैयद सुलतान कोई बाधा दे नहीं सकते थे। १४०५ ई० में मल्लू इक़बालने दो बार ग्वालियरपर आक्रमण किया किन्तु विफल-प्रयत्न होकर उसे लौटना पड़ा। अतः १५वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १६वींके प्रारम्भमें ग्वालियरका तोमर-राज्य दक्षिणमें मालवाके सुलतानोंका और उत्तर-पश्चिममें दिल्ली, आगराके लोदी सुलतानोंका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। चम्बल और बेतवाके मध्य विस्तृत ग्वालियर-राज्यका नरवरगढ़ दुर्ग उसकी दक्षिणी सीमा थी। वीरसिंहके पश्चात् उसका पुत्र गणपतिदेव (१४२२-२४ ई०) राजा हुआ, तदनन्तर गणपतिदेवका पुत्र डूंगरसिंह १४२४ ई० में राजा हुआ। इसका पुत्र कीर्त्तिसिंह या करणसिंह (१४६०-७८ ई० लगभग)

था। १४७९ ई० में मानसिंह तोमर राजा हुआ वह सिकन्दर लोदीका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। उसके साथ उसके कई युद्ध हुए किन्तु सिकन्दर ग्वालियर-राज्यका अन्त करनेमें असमर्थ रहा। मालवेके ग़यासुद्दीन और नासिरुद्दीनके साथ भी मानसिंहके युद्ध हुए। मानसिंहके उत्तराधिकारी से इब्राहीम लोदीने ग्वालियरको कुछ समयके लिए छीन लिया था, किन्तु उसके तुरन्त उपरान्त बाबरका आक्रमण हुआ और उसने चन्देरी पर्यन्त सम्पूर्ण ग्वालियर-राज्यको विजय करके अपने राज्यमें मिला लिया। मुग़ल कालमें ग्वालियरका क़िला उच्चवंशीय राजनैतिक अपराधियोंका बन्दी-गृह रहा।

ग्वालियरके तोमर-नरेश धार्मिक, उदार, सहिष्णु और संस्कृति-प्रेमी थे। ग्वालियरमें पूर्वकालसे ही जैनधर्मका प्राधान्य था, कच्छपघट-राजे स्वयं जैन थे। तोमरोंने भी इस दिशामें कच्छपघट-नरेशोंका ही प्रायः अनुसरण किया। वीरसिंहको तो राज्य स्थापित करने एवं उसकी व्यवस्थासे ही अवकाश न मिला किन्तु डूंगरसिंह और कीर्तिसिंहने साहित्य, कला और धर्मको प्रोत्साहन दिया। ग्वालियर क़िलेके भीतर उसकी दीवारोंपर उत्कीर्ण विशाल जिन-मूर्तियोंका निर्माण इन्हीं नरेशोंका कार्य है। आदिनाथकी मूर्त्ति तो 'बावनगजा' कहलाती है और लगभग ५० फ़ुट ऊँची है। मूर्त्ति-निर्माणका यह कार्य डूंगरसिंहने प्रारम्भ किया था और कीर्त्तिसिंहने पूर्ण किया। इसमें लगभग ३३ वर्ष लगे। तोमरोंके कालमें ग्वालियर नगर एवं राज्यमें अनेक प्राचीन जिन-मन्दिरोंका जीर्णोद्धार हुआ, कितने ही नवीन भी बने। स्वयं ग्वालियरमें काष्ठासंघके दिगम्बर भट्टारकोंका प्रधान पट्ट था और इस पट्टके आचार्य राज्यके सांस्कृतिक उत्कर्षमें भले प्रकार साधक हुए। महाराज वीरसिंहके महामात्य कुशराजने ग्वालियरमें चन्द्रप्रभु-चैत्यालय बनवाया था और कवि पद्मनाभ कायस्थसे यशोधर-चरित्र या दयासुन्दर नामक काव्यकी रचना करायी थी। इस कालमें भट्टारक गुणकीर्त्तिके पट्टधर भट्टारक यशःकीर्त्ति भारी विद्वान् एवं ग्रन्थ-

कार थे। इन्होंने १४२९ ई० मे विबुध श्रीधरकृत संस्कृत भविष्यदत्त-चरित्र और अपभ्रंश सुकुमालचरितकी प्रतिलिपियाँ करवायीं, १४४० ई० में अपने पाण्डवपुराणकी और १४४३ ई० में हरिवंशपुराणकी रचना की, जिनरात्रि-कथा, रविव्रत-कथा और चन्द्रप्रभचरित इनकी अन्य रचनाएँ हैं। इनके सब ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें रचे गये हैं। महाकवि स्वयम्भूके हरिवंशकी एक जीर्ण-शीर्ण प्रतिका भी इन्होंने उद्धार किया था। इनके भक्त महाकवि रइधूने इनकी प्रेरणासे अपने २३-२४ ग्रन्थोंकी अपभ्रंश भाषामें रचना की थी। १४६४ ई० मे ग्वालियरके नगरसेठ पद्मसिंहने महाकवि पुष्पदन्तके महापुराणकी प्रतिलिपियाँ करायीं, एक-लाख श्लोक प्रमाण अन्य ग्रन्थ लिखवाये और २४ जिन-मन्दिर बनवाये थे। इसी कालमें ब्रह्मचारी खेल्हाने ग्वालियरमें चन्द्रप्रभुकी विशाल मूर्त्तिका निर्माण कराया और साहू खेमसिंहके पुत्र कमलसिंहने ग्यारह हाथ ऊँची आदिनाथकी प्रतिमा निर्माण करायी और उसकी प्रतिष्ठा करायी। यशःकीर्त्तिके शिष्य मलयकीर्त्ति और उनके शिष्य गुणभद्रने भी अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। ग्वालियरमें नन्दिसंघके भट्टारकोंकी भी एक गद्दी थी। राजा मानसिंह अपने गूजरीमहल और मानमन्दिरके निर्माणके लिए प्रसिद्ध है। संगीताचार्य बैजू नायक और तानसेनने भी इस रसिक नरेशके आश्रयमें ही उत्कर्ष प्राप्त किया था।

मालवाके उत्तरकी ओर गोंडवानेमे गोंड राजपूतोंका हिन्दू-राज्य धीरे-धीरे शक्ति पकड़ रहा था। गंगानदीके उत्तरी काठेपर हिमालयकी तराईमें भी कई छोटे-छोटे हिन्दू-राज्य थे।

आगरा नगरके पूर्व-दक्षिण और ग्वालियर-राज्यके उत्तरमें यमुना और चम्बलके मध्यवर्ती प्रदेशपर जो वर्तमानमें जिला आगराके बटेश्वर व फ़ीरोज़ाबाद तथा एटा, मैनपुरी, इटावा आदि ज़िलोंसे सूचित होता है, एक छोटा-सा शक्तिशाली हिन्दू-राज्य था। यहाँ पहले भोर या भारवंशी राजपूतोंका राज्य था जो कुछ नीच जातिके समझे जाते थे। असाई-

खेड़ा उनकी राजधानी थी। ये राजे जैनधर्मके अनुयायी थे। असाईखेड़ेके अवशेषोंमें उनके बनवाये हुए कई सुन्दर जिन-मन्दिरोंके (९–१०वीं शतीके) चिह्न विद्यमान हैं। १०१७ ई० में कन्नौजकी ओर जाते हुए महमूद गज़नवीका इन भार-राजाओंने इटावाके निकट मुंजके दुर्गसे भीषण विरोध किया था। तदनन्तर असाई दुर्गसे भीषण युद्ध किया, अन्ततः महमूदने उन्हें पराजित किया, दुर्ग और मन्दिरोंको लूटा और विध्वंस किया। उस समय राजपूत स्त्री-पुरुषोंने जौहर करके अपना अन्त किया था। तदनन्तर फतहपुर, इलाहाबाद, अलीगढ़ आदि जिलोंमें भारोंने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये। महमूद गजनवीके समयमें मेरठ, हापुड़, बुलन्दशहर (बरन) का दोर राजा हरदत्तराय प्रसिद्ध था, उसीने मेरठका वह सुदृढ़ दुर्ग बनवाया था जिसे तरमशरीनखाँ भी नहीं जीत सका था और जिसे सर करनेमें तैमूर लंगको काफ़ी कठिनाई हुई थी। इसी राजाने हापुड़ नगर भी बसाया था। स्वयं असाईखेड़ामें भारोंका अन्त होनेके बाद उसके निकट चन्दवाड (चन्दपाट) में जिसे रपरी चन्दवाड भी कहते थे, चन्द्रसेनके पुत्र चन्द्रपाल नामक चौहान राजपूतने अपना राज्य स्थापित किया, और चन्दवाड दुर्ग एवं नगरका निर्माण करके उसे अपनी राजधानी बनाया। राजा चन्द्रपाल जैनी था और उसका दीवान रामसिंह हारुल भी जैनी था। १३-१५वीं शतियोंमें यह नगर बड़ा सुन्दर समृद्ध और प्रसिद्ध था। इस राज्यमें चन्दवाडके अतिरिक्त ५–६ अन्य महत्त्वपूर्ण दुर्ग एवं नगर थे जिनमें रायबद्दीय, रपरी, हथिकन्त, शौरीपुर (बटेश्वर), आगरा आदि प्रमुख थे। अटेर, हथिकन्त (हस्तिकान्त) और शौरीपुरमें जैन भट्टारकोंकी गद्दियाँ स्थापित थीं जो महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्रोंका कार्य करती थीं। वहाँके भट्टारकोंने उत्तर मध्यकालमें साहित्य-रचनाको भी भारी प्रोत्साहन दिया। शौरीपुरकी गद्दी गत शताब्दी तक विद्यमान थी। अतः चन्दवाड राज्यमें जैनधर्म और जैनोंकी पर्याप्त मान्यता एवं प्रतिष्ठा थी। राजागण प्रायः सब स्वयं जैन थे और प्रधान मन्त्री

आदि भी प्रायः जैन ही होते थे। राज्य-संस्थापक चन्द्रपालके उत्तराधिकारी भरतपालका नगरसेठ हल्लण था। उसके उत्तराधिकारी अभयपालका मन्त्री हल्लणका पुत्र अमृतपाल था जिसने चन्दवाडमें एक सुन्दर जिनालय भी निर्माण कराया था। उसके उत्तराधिकारियों जाहड और श्रीबल्लालके राज्य कालोंमें अमृतपालका पुत्र सोढू राज्यमन्त्री था। बल्लालके उत्तराधिकारी आहवमल्ल (१२५७ ई०) के समयमें सोढूका ज्येष्ठ पुत्र रत्नपाल नगर-सेठ था और छोटा पुत्र कृष्णादित्य राज्यका प्रधान मन्त्री और सेनापति था, गुलाम सुल्तानोंके विरुद्ध उसने अनेक सफल युद्ध किये थे। उसने अनेक जिन-मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया तथा कवि लक्ष्मणसे अपभ्रंश भाषामें अणुव्रतरत्नप्रदीप नामक धर्मग्रन्थकी रचना करायी थी। उसका भतीजा शिवदेव भी श्रेष्ठ विद्वान् एवं कलाकार था और अपने पिता रत्नपालके उपरान्त राजसेठ बना था। जसधर राजा सम्भरिरायका मन्त्री था। उसका पुत्र गोकर्ण, जो सूपकारसारका रचयिता भी था, सारंग नरेन्द्रका मन्त्री रहा। गोकर्णके पुत्र सोमदेव राजा अभयपाल द्वितीय तथा जयचन्द्रका और उसका पुत्र वासाधर (१३९८ ई०) राजा राम-चन्द्रका प्रधान मन्त्री था। इसके आठ पुत्र भी सुयोग्य थे और राजसेवामें नियुक्त थे। अपने पूर्वजोंकी भाँति वासाधर भी बड़ा धर्मात्मा था, अनेक जिन-मन्दिरोंका उसने जीर्णोद्धार कराया, एक नवीन सुन्दर जिनालय भी राजधानीमें बनवाया, गुजरातके कवि धनपालसे, जो शौरीपुर तीर्थकी यात्राके सम्बन्धमें चन्दवाडमें आ रहा था, अपभ्रंश भाषाका बाहुबलि चरित्र लिखवाया। दिल्लीके पट्टाचार्य पद्मनन्दिने भी वासाधरकी प्रेरणापर श्रावकाचारसारोद्धार रचा था। चन्दवाडके ये हिन्दूराजे जब अवसर पाते दिल्लीके सुलतानोंके विरुद्ध विद्रोह कर देते और उन्हें परेशान करने लगते, और जब सुलतान प्रबल पड़ते तो सन्धि करके अधीनता स्वीकार कर लेते। फ़ीरोज़ तुग़लकने रपरीमें अपना एक मुसलमान जागीरदार भी नियुक्त कर दिया था जिसका उद्देश्य राजाओंसे नियमित कर लेते रहना था। लोदी

सुलतानोंको भी चन्दवाडके राजाओंसे अनेक युद्ध करने पड़े। अन्ततः इब्राहीम लोदीने अपने भाई अलमखाँको चन्दवाडका सूबेदार बनाया किन्तु वह बाबरसे मिल गया। चन्दवाडके हिन्दू-राज्यकी रक्षाके लिए राणा सांगा भी आये थे किन्तु हुमायूँके साथ चन्दवाडके युद्धमें पराजित होकर उनकी सेना लौट गयी। मुग़लकालमें इस राज्य और नगरका अन्त हो गया। आगरे ज़िलेके हथिकन्त नगरमें इन्हीं चौहा-नोंकी एक शाखा भदौरिया राजपूतोंका राज्य था जिसका संस्थापक राजुलरावत (१२वीं शती) था। सीकरीमें सीकरवार राजपूतोंका राज्य था।

इस प्रकारके और भी कई छोटे-छोटे हिन्दू-राज्य यत्र-तत्र उस कालमें रहे प्रतीत होते हैं जिन्होंने दिल्लीके सुलतानोंका नाको दम किये रखा। प्रत्येक सुलतानकी मृत्यु, दुर्बलता या असावधानीका लाभ उठाकर ये विद्रोह कर देते थे।

लगभग ३५० वर्षके इस मुसलमानी शासनकालके प्रारम्भिक डेढ़-सौ वर्ष (लगभग ११९०–१३४० ई०) तक तो इस्लाम और उसके राजनैतिक प्रभुत्वका द्रुत वेगसे प्रसार हुआ यहाँ तक कि सम्पूर्ण देशको, अटकसे कटक और हिमालयसे कन्याकुमारी पर्यन्त उसने आच्छादित कर लिया। ये नवागत मुसलमान बर्बर विदेशी थे, धन और राज्यके लोभ तथा इस्लामके प्रचार और कुफ़्के विनाशकी भावनासे उन्मत्त थे। उनके रोमाञ्चकारी अत्याचार और अमानुषिक क्रूरता भारतवर्षके लिए सर्वथा नवीन थे। धर्म एवं न्याय्य युद्धोंके आदी भारतीय वीर इन नृशंस धर्मान्ध बर्बरोंकी उस पैशाचिकताको समझ ही न पाये जिसमें आत्म-समर्पण करनेवाले या युद्धमें बन्दी हो जानेवाले योद्धाओंकी भयानक यन्त्रणा दे-देकर अनिवार्यतः हत्या कर दी जाती थी, भागते हुए शत्रुओंका पीछा करके उनका संहार कर दिया जाता था, निहत्थी प्रजापर लूट-मार आदि भीषण अत्याचार किये जाते थे, स्त्रियोंकी लाज लूटना और असहाय

बच्चों, स्त्रियों एवं वृद्धोंका प्राणान्त कर देना एक खेल था, खेतोंका उजाड़ देना, गाँवोंको भस्म कर देना, विशाल नगरोंको विध्वंस करना, देव-मन्दिरों और मूर्तियोंको तोड़ना, साधुओं, मुनियों, ब्राह्मणों और तपस्वियोंको भी पीड़ा देना और उनका वध कर डालना, ग्रन्थ-भण्डारोंको जला डालना, गऊ जैसे अति उपयोगी पशुका भक्षण करना इत्यादि साधारण बातें थीं। सम्मुख न्याय्य युद्धमें एक-एक भारतीय वीर दस-दस शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ था, बल, वीरता एवं निर्भीकतामें वह उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठ था, किन्तु अपने प्राण होम देनेपर अथवा पराधीनता स्वीकार कर लेनेपर भी इन आततायियोंसे अपने धर्म, देश, स्त्री और बच्चोंकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं था। संगठन करके विरोध करनेका भी भारतीयोंको अवसर नहीं मिला फलस्वरूप इस तूफ़ानी आँधीके सम्मुख भारतीय जीवन एकदम स्तम्भित हो गया। उसके राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक शक्ति-स्रोत शुष्क प्रायः हो गये और नैतिक दुर्बलता जड़ पकड़ने लगी। इन्हीं सब कारणोंसे लगभग १५० वर्ष पर्यन्त भारतमें इस्लाम उत्तरोत्तर बल पकड़ता गया।

किन्तु शनैः-शनैः भारतीयोंने यह भी देखा कि बुद्धि, विवेक और नैतिक बलमें उनके ये शत्रु उनकी अपेक्षा हीन हैं। डेढ़-सौ वर्षके बीच दिल्लीमें चार वंश परिवर्तन हुए और प्रत्येक वंशके अधिकांश सुलतान अपने आत्मीयों-द्वारा वध किये गये। गुप्त हत्याएँ, षड्यन्त्र, खुले नरसंहार, व्यभिचार, दुराचार, अनाचार सभी उन सुलतानोंमें घर किये हुए थे। दूसरे, यद्यपि मुसलमानोंकी संख्यामें पर्याप्त वृद्धि हो गयी थी किन्तु उसका मुख्य कारण भी विदेशी मुसलमानोंका आयात नहीं था वरन् इसी देशमें बलात् धर्म-परिवर्तन एवं रक्त-मिश्रणसे ही वैसा हुआ था। शुद्ध विदेशी मुसलमानोंका अनुपात तो धीरे-धीरे कम ही होता जा रहा था। तीसरे हिन्दू और जैन साधु-सन्तों एवं आचार्योंने भारतीय जनता एवं अवशिष्ट भारतीय राजाओंके हृदयमें धर्म-प्रेम, देश-प्रेम, संस्कृति-प्रेम एवं

स्वातन्त्र्य-प्रेमकी लौ प्रज्वलित किये रखी। उन्होंने मुसलमान सुलतानों, सूबेदारों और सरदारोंको भी अपनी विद्वत्ता एवं चारित्र-बलसे प्रभावित करके उनकी क्रूर धर्मान्धताको हलका किया और इस देशको अपना ही समझकर इसकी संस्कृति और जन-साधारणका आदर करनेकी प्रेरणा दी। अलाउद्दीन खिलजीके समयसे ही मुल्ला-मौलवियोंका प्रभाव राज्य-कार्यों में घटने लगा था। फलस्वरूप भारतीय जीवन फिर बल पकड़ने लगा। मुहम्मद तुगलकके समयमें ही दिल्लीका मुसलमानी साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। वस्तुत: पूरे देशपर वह कठिनाईसे तीस-चालीस वर्ष ही रह पाया था। अनेक नवीन एवं स्वतन्त्र हिन्दू और मुसलमान राज्य स्थापित हो गये और पुराने हिन्दूराज्योंने भी बल पकड़ा। दक्षिणमें विजयनगरका शक्तिशाली हिन्दूसाम्राज्य मुसलमानोंको उस दिशामें प्रगतिका लगभग सवा दो सौ-वर्ष पर्यन्त सफल अवरोधक रहा। उत्तर में मेवाड़के वीर राणाओंके नेतृत्वमें राजस्थानके अनेक विभिन्न राजे, गुजरात, मालवा और दिल्लीके सुलतानोंपर सबल एवं सफल नियन्त्रक रहे। ग्वालियर, चन्दवाड, बरन आदिके अनेक छोटे-बड़े हिन्दूराज्योंने सुलतानोंको सुखकी नींद न सोने दिया। दिल्ली, बंगाल, गुजरात, मालवा, खानदेशकी तथा बहमनी-राज्य एवं उसके पतनसे उत्पन्न दक्षिणकी पाँच मुसलमानी सल्तनतें जो प्राय: सब ही समान कोटिकी और स्वतन्त्र थीं, अपने आचरण और व्यवहारमें दिल्लीके प्रारम्भिक सुलतानोंसे बहुत कुछ भिन्न थीं। इनके शासक नाम और दिखावेके लिए ही मुसलमान थे, इस्लामके नियमोंके विरुद्ध मद्यपान, व्यभिचार, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि कलाओंकी रसिकता, हिन्दुओं और जैनोंको बहुलताके साथ शासनके विभिन्न विभागोंमें नियुक्त करना, उनके धर्म और जातीयताके प्रति उदार और सहिष्णु रहना, उनके गुरुओंका सम्मान करना, प्रादेशिक भाषाओंको प्रोत्साहन देना, प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंके अनुवादादि कराना, भारतीय आयुर्वेद, ज्योतिष आदिमें विश्वास करना, इत्यादि कार्योंसे कतिपय

अपवादोंको छोड़कर वे आधे भारतीय ही बन गये थे। युद्धों और विद्रोह-दमनके समय ही वे अपनी धर्मान्ध बर्बरताका प्रदर्शन करते थे, अन्यथा सामान्यतया प्रजाके हितका ध्यान रखते ही थे। संख्यामें मुसलमान उस कालमें भारतके प्रायः किसी भी प्रदेशमें पूरी जनताके दसमांशसे अधिक नहीं थे। साथ ही स्वतन्त्र हिन्दू-सम्राटों एवं राजाओंके अतिरिक्त प्रत्येक मुसलमानी राज्यमें भी अनेक नये-पुराने हिन्दू सामन्त-सरदार, उपराजे और जागीरदार थे। इस प्रकार मुहम्मद तुग़लकके समयसे लेकर मुग़ल सम्राट् अकबर तकका लगभग दो-सौ वर्षका काल भारतवर्षमें इस्लाम और मुसलमानी राजनैतिक शक्तिके पतन एवं हिन्दू-राजशक्ति एवं भारतीय धर्मों और संस्कृतिके पुनरुत्थानका युग था।

दिल्लीके सुलतानोंमें ग़ुलाम सुलतानोंकी जातीयता अनिश्चित है यद्यपि वे अधिकांशतः तुर्क रहे प्रतीत होते हैं, खिलजी भी तुर्क थे, तुग़लक एक तुर्क और हिन्दू जाटनीको सन्तति थे, सैयद अपने-आपको अरबी सैयदोंका वंशज कहते थे, लोदी और सूरि पठान थे। प्रान्तीय सुलतानोंमे विभिन्न जातियोंके और बहुधा भारतीय रक्त-मिश्रणसे उत्पन्न व्यक्ति थे। इन सब नरेशोंमें अधिकांशतः सुन्नी और दक्षिणवालोंमें कुछ शिया थे। अतः पूर्व मुग़ल कालके सुलतानोंको पूर्णतया पठान या पूर्णतया तुर्क कहना जैसा कि इतिहास-पुस्तकोंमें प्रायः कहा जाता है, दोनों बातें ही असंगत और भ्रमपूर्ण हैं। सुलतानोंकी तथा ग़ोरी, चंगेज, तैमूर-जैसे आक्रान्ताओंकी बर्बर धर्मान्धता एवं अमानुषिक पैशाचिकताके कारण लगभग ३५० वर्ष के रक्त-रंजित इस भारतीय इतिहासमें थोड़ी-सी यह अच्छाई थी कि कुछ सुलतान अरबी फ़ारसी साहित्यके रसिक और प्रश्रयदाता थे। मुल्ला-मौलवियोंने एकांगी विद्वेष एवं पक्षपातपूर्ण ही सही अनेक इतिहास-ग्रन्थ भी उनके आश्रयमें रचे, उनके दरबारोंमें अनेक विद्वान् यद्यपि वे अधिकांशतः विदेशी मुसलमान ही होते थे, रहते और सम्मान पाते थे। कतिपय सुलतानोंने हिन्दू और जैन विद्वानों एवं सन्तोंका भी आदर-सम्मान

किया। इन सुलतानोंने अनेक मसजिद, मक़बरे, महल और क़िले भी बनवाये जिनमें अवश्य ही हिन्दू एवं जैन-मन्दिरोंके विध्वंससे प्राप्त अतुल सामग्रीका ही बहुधा उपयोग किया, तथापि एक नवीन भारतीय मुसलिम स्थापत्य-कलाको जन्म दिया और उसका विकास किया। प्रान्तीय भेदोंसे प्रान्तीय सुलतानोंने उसमें और भी विचित्रताएँ उत्पन्न कीं। भारतीय भाषाओंको भी प्रोत्साहन मिला और विशेषकर जन-भाषाके रूपमें अपभ्रंशों में विकसित दिल्लीके आस-पासकी जन-भाषा (खड़ी बोली हिन्दी) में अरबी फ़ारसी तुर्की शब्दों और लहजोंके समावेशसे एक नवीन जन-भाषाके विकासको प्रोत्साहन दिया जो उस समय ज़बान हिन्दवी कहलाती थी।

मुसलमान-सुलतानोंका शासन चाहे जितने बड़े या छोटे प्रदेशपर रहा वह मुख्यतया नागरिक ही था। राजधानियों, प्रमुख दुर्गों और नगरों पर अपनी-अपनी सेनाओंके बलपर सुलतान और उनके सूबेदार या सरदार निरंकुश शासन करते थे। सामान्य नागरिक शासन पूर्ववत् ही देहातों एवं नगरोंमें हिन्दू अधिकारी करते थे। जो हिन्दू-राजे उपराजे या सामन्त-सरदार पहलेसे चले आते थे वे उसी प्रकार चलते रहे और प्रजासे भूमिकर आदि पूर्ववत् वसूल करते रहे। उन्हें केवल अपने प्रदेशके सुलतान की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी और उसको या उसके प्रतिनिधियोंको जैसा जितना निश्चित होता कर देना पड़ता था। अल्पसंख्यक मुसलमानोंके लिए इससे अधिक सम्भव भी न था, विशेषकर जब शासित हिन्दू-जनता उनकी अपेक्षा बीसियों गुना अधिक थी। इस प्रकार उस कालका मुसलमानी शासन प्रधानतया फ़ौजी और शहरी ही था। बहुभाग जन-साधारणको वह युद्ध, विद्रोह, लूट-मार और कर आदि वसूल करनेके अवसरोंपर ही, सो भी उसी सम्बन्धमें, स्पर्श करता था।

बहुसंख्यक भारतीयोंके बीच विदेशोंसे आगमन, प्रजनन और धर्म-

परिवर्तन आदि कारणोंसे बढ़ती हुई मुसलमानोंकी संख्या एक नवीन समस्या थी। प्राचीन यवन, पल्लव, शक, कुषाण, हूण आदिकी भाँति मुसलमान भारतीय समाजमें आत्मसात् न हो सके। बाहरसे आते रहने वाले मुल्ला-मौलवियोंने उनकी कट्टर धर्मान्धताको, भारतीय जनों, धर्मों, और संस्कृतियोंके प्रति तीव्र विद्वेषको तथा मुसलमानोंके प्रत्यक्ष भारतीय विरोधी एवं प्रतिकूल बाह्याचार एवं विचारधाराको पुष्ट करते रहना ही अपना प्रधान उद्देश्य बना रखा था। अतः भारतमें रहकर भी मुसलमान भारत, भारतीयों और भारतीयतासे सर्वथा पृथक् ही बने रहे। उनके किताबी धर्ममें स्वतन्त्र विचार, सहिष्णुता और समदर्शिताके लिए विशेष अवकाश न था। प्रत्येक मुसलमान चाहे वह कितनी ही क्षुद्र स्थितिका क्यों न हो स्वयंको ऊँचेसे-ऊँचे भारतीयसे श्रेष्ठ समझता था और यथासम्भव हिन्दू आदिकसे कोई सामाजिक सम्पर्क न रखता था।

किन्तु यह स्थिति सदैव ऐसे ही नहीं चल सकती थी। कमसे-कम राजनैतिक दृष्टिसे ही मुसलमान शासकोंको छोटे-बड़े भारतीयोंका सहयोग लेना ही पड़ता था, शासन-प्रबन्ध भी उनके बिना न चल सकता था। जिन भारतीयोंको इस्लाम अंगीकार करना पड़ा था, उन्होंने अपने अधिकांश पुराने रीति-रिवाज, आचार-विचार भी अपनाये रखे। इसके अतिरिक्त कुछ मुसलमान फ़क़ीरों यथा मुइनुद्दीन चिश्ती, निज़ामुद्दीन औलिया, शेख रुक्नुद्दीन, शेख सलीम चिश्ती आदिने प्रचलित एवं व्यवहार्य इस्लामको बहुत कुछ भारतीयताके रंगमें रंग दिया। पीरपूजा, उर्स, नृत्य-गायन, वेदान्तसे मिलते-जुलते सूफ़ी विचारों आदिके प्रचारने दोनों संस्कृतियोंके बीचकी खाईको सकड़ा कर दिया। मलिक मुहम्मद जायसी, शेख कुतबन, मंझण-जैसे सूफ़ी कवियोंने देशकी भाषा हिन्दीमें भारतीय प्रेम-गाथाओंको सूफ़ी विचारोंमें रंगकर अपनी पद्मावत, अखरावट, मृगावती आदि मसनवियोंमें रचा। अमीर खुसरो-जैसे कविने हिन्दीमें कविता की

और संस्कृत, हिन्दी, फ़ारसी मिश्रित भाषाके प्रचलनका प्रयत्न किया। प्रारम्भिक हिन्दू और जैन-कवियोंने उत्साहवर्द्धक वीर-गाथाओं एवं धार्मिक ऐतिहासिक रासो ग्रन्थोंका प्रणयन लोकभाषा अपभ्रंशमें करके जहाँ वीरोंके स्वातन्त्र्य-प्रेम, युद्ध और देश-प्रेमको प्रज्वलित रखा और उनके धर्मभावको पुष्ट बनाया वहाँ उनके उत्तराधिकारियोंने मुसलमान सूफी-सन्तोंके सदृश निर्गुण भक्तिका, किन्तु उनके प्रतिकूल उसके प्रेम-मार्गका नहीं, वरन् ज्ञान-मार्गका प्रचार किया। इस भारतीय धर्म एवं समाज-सुधार आन्दोलनके प्रमुख पुरस्कर्त्ता पूर्वोत्तर भारतमें स्वामी रामानन्द, सन्त कबीर, पंजाबमें गुरु नानक, मध्यभारतमें सन्त दादू, सन्त सुन्दरदास, दक्षिणमें ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम और रामदास थे। बंगालमें चैतन्यदेव, बिहारमें विद्यापति ठाकुर, गुजरातमें लौंकाशाह, बुन्देलखण्डमें तारण स्वामी थे। इन सभी सन्तोंने अपनी बोल-चालकी सधुक्कड़ी भाषामें पदरचना और व्याख्यानों एवं सत्संगों-द्वारा हिन्दू-मुस्लिम विद्वेषको दूर करनेका भी प्रयत्न किया। उन्होंने मन्दिरों और मूर्त्तियोंका विरोध किया, सरल निर्गुण धर्मका प्रचार किया, जाँति-पाँति और अन्य सामाजिक कुरीतियोंके विरुद्ध आन्दोलन किया। इनके शिष्य और अनुयायी हिन्दू, जैन, मुसलमान सभीमें-से होते थे। अपभ्रंश भाषासे हिन्दीके विकासको भी इन सन्त-कवियोंने भारी प्रोत्साहन दिया। उन्होंने भारतीय जीवनमें एक नयी स्फूर्त्ति भर दी, हिन्दू-मुसलिम वैमनस्यको बहुत कुछ दूर कर दिया तथा दोनों ही धर्मोमें कुछ ऐसे सुधार और परिवर्तन उत्पन्न कर दिये जिन्होंने प्रत्यक्ष विरोधोंको बहुत कुछ कम कर दिया। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण पण्डितों, जैन मुनियों, भट्टारकों और यतियोंने भी अपनी-अपनी धर्म-संस्थाओंमें समयानुकूल परिवर्तन करके तथा अपने प्रभावसे जनता एवं शासकोंको प्रभावित करके और अपने कार्यों एवं प्रेरणासे देशके नैतिक स्तरको उन्नत करके तथा धर्म, कला, साहित्य आदि क्षेत्रोंमें उसकी सांस्कृतिक अभिवृद्धि करके देशके

पुनर्निर्माणमें स्तुत्य योग दिया। उन्होंने कमसे-कम भारतीयताको सजग और अक्षुण्ण बनाये रखा। उपरोक्त अच्छाइयोंके साथ ही आततायियोंकी कुदृष्टिसे अपनी बहू-बेटियोंकी रक्षा करनेके लिए परदेकी, बाल-विवाहको, सतीको, छूतछातकी जैसी—कुप्रथाओंका जन्म भी हिन्दुओंमें इसी कालमें हुआ और जाति-व्यवस्था भी कुछ और अधिक जकडती चली गयी।

अध्याय ३

मुगल-साम्राज्य—ऊर्ध्वगत

१६वीं शताब्दी ई० के द्वितीय पादके प्रारम्भमें ही भारतीय इतिहासमें एक नवीन महत्त्वपूर्ण राज्य-क्रान्ति हुई और मुगल-वंशके रूपमें एक ऐसी नवीन एवं सबल राज्य-शक्तिका उदय हुआ कि जिसने न केवल पतनोन्मुख मुसलमानी सत्ताको इस देशमें नया जीवन एवं स्थायित्व प्रदान किया वरन् इस देशको राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक उन्नतिके भी शिखर-पर पहुँचा दिया।

पिछले दो-सौ वर्षोंमें भारतवर्षमें मुसलमानोंकी राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सत्ता धीरे-धीरे क्षीणप्रभ एवं अवनत होती जा रही थी और हिन्दू-शक्ति उत्तरोत्तर बल पकड़ती जा रही थी। मुसलमानोंके प्रारम्भिक विध्वंसक आक्रमणों और तदुपरान्त दिल्लीके सुलतानोंके उन्मुक्त अत्याचारोंसे स्तम्भित भारतीय जनता अब सुस्थिर होने लगी थी। वह मुसलमानोंकी दुर्बलताओंसे भी अवगत हो चुकी थी और अपनी रक्षा एवं सफल प्रतिवादके साधन भी प्राप्त करती जा रही थी। तीन-सौ वर्षसे अधिकके मुसलमानी शासन और उसके निरंकुश अत्याचारोंके बावजूद अब भी सम्पूर्ण भारतमें मुसलमानोंकी संख्या देशकी जन-संख्याके दशमांशसे बहुत कम थी, और इन मुसलमानोंमें भी लगभग तीन चौथाई धर्म-परिवर्तित भारतीय ही थे। भारतके मुसलमानोंको अब भारतके अतिरिक्त कोई अन्य गति नहीं थी, मध्य-एशियासे उनका कोई सम्पर्क न था, वह कहीं और जा ही न सकते थे, यहीं उन्हें रहना था। इन कारणोंसे उनमें धर्मान्धताका उन्माद और अनुदारताका विष भी कुछ कम होने लगा था। किन्तु वे यह भी समझते थे और उनके मुल्ला-मौलवी उन्हें यह समझानेमें

कभी न थकते थे कि इन दोनों उपायोंके बिना उनकी और उनके धर्म एवं राज्यकी रक्षा इस देशमें असम्भव है, अतः स्वरक्षार्थ वे इन उपायोंका अवलम्बन लेते ही थे। उनकी राजनैतिक एकसूत्रता भी कभीकी भंग हो चुकी थी। बंगाल, मालवा, गुजरात तथा दक्षिणापथके उत्तरी भागकी मुसलमानी सल्तनतें और दिल्लीके सुलतान सब एक-दूसरेसे सर्वथा स्वतन्त्र और पृथक् थे। उन सबमें ही परस्पर फूट, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य और युद्ध निरन्तर चलते थे। उन सबका ध्यान अपने-अपने राज्यको अक्षुण्ण बनाये रखने और हो सका तो अपने निकट पड़ोसियोंकी क्षति करके अपनी-अपनी शक्ति और विस्तार बढ़ाने तक ही सीमित था। सिन्धमें अनेक छोटे-छोटे अरबी अमीर इसी प्रकार परस्पर कलहमें व्यस्त थे। पंजाबसे लेकर बिहार तक पठान सरदार फैले हुए थे। दिल्लीके लोदी सुलतान उनके मुखिया थे। किन्तु पंजाब और पूर्वी भारतके पठान सरदार नाम-मात्रको ही उनके अधीन थे। वे लोदियोंके पतनके ही इच्छुक थे और परस्पर भी कलहमें रत थे। भारतकी इन सभी मुसलमान राज्य-शक्तियोंका उस समय एक सूत्रमें संगठित होना असम्भव था। इसके विपरीत, जन-साधारणमें गैर मुस्लिम भारतीयोंके अत्यधिक संख्या-बाहुल्य तथा विभिन्न मुसलमानी सल्तनतोंमें उनका राज्य-कर्मचारियों, उपराजाओं एवं सामन्त-जागीरदारों आदिके रूपमें रहनेके अतिरिक्त दक्षिणापथके आधेसे अधिक दक्षिणी भागपर विस्तृत शक्तिशाली विजयनगर-साम्राज्य, उत्तरापथमें सम्पूर्ण राजस्थानके अनेक स्वतन्त्र राजपूत राज्य जिन्हें मेवाड़के शक्ति-शाली राणाओंका नेतृत्व प्राप्त था, दक्षिण-पूर्व भारतमें गोंडवानेका विस्तृत हिन्दू-राज्य, बुन्देलखण्डके बहुभागपर ग्वालियरका तोमर-राज्य, तथा चन्दवाड, बरन, तराई आदिके अनेक स्वतन्त्रप्राय हिन्दू-राज्य सामूहिक रूपसे मुसलमानोंकी सामूहिक राज्य-शक्तिसे कहीं अधिक सबल थे। यदि उस समय कोई ऐसा राजनीति-विचक्षण देश नेता हुआ होता जो इन भारतीय शक्तियोंको एक सूत्रमें पिरो सकता तो थोड़े-से ही

प्रयाससे समस्त मुसलमानी राज्योंका अन्त कर दिया जा सकता था। बाह्य सहायता मिलनेपर उन प्रदेशोंकी भारतीय जनता, भारतीय सरदार और अधिकारी सहज ही अपने-अपने प्रदेशमें मुसलमानी शासनका अन्त कर सकते थे। विजयनगर, राजस्थान और गोंडवानेकी सम्मिलित शक्ति कुशल नेतृत्वमें मालवा, गुजरात और दक्षिणकी सल्तनतोंका पलमात्रमें अन्त कर सकती थी। इसी प्रकार राजस्थान, ग्वालियर, चन्दवाड आदिके राज्य मिलकर उत्तर भारतसे पठानोंकी सत्ताको अवलम्ब नष्ट कर सकते थे। किन्तु दुर्भाग्यसे भारतीयोंमें उस समय तक अखिलभारतीय राष्ट्रियता का भाव उदित ही नहीं हुआ था। विधर्मी विदेशियोंने स्वधर्म और स्वजातिकी रक्षाका भाव उन्हें एक सूत्रमें बाँधता था अवश्य किन्तु वह भी इतना उत्कट न था जो उनके राजनैतिक संगठनका एकत्व सम्पादित करा सकता। उनकी संकुचित दृष्टि अपने-अपने राज्य, प्रदेश और वंश तक ही सीमित थी। इसी कारण मुसलमानोंको प्रारम्भमें यहाँ राज्य स्थापित करनेमें सफलता मिली, इसी कारण इतने द्रुत वेगसे देशके विभिन्न भागोंमें उनकी सत्ता प्रसारित हो सकी और इसी कारण १६वीं शती ई० के प्रारम्भमें मुसलमानी सत्ताकी वैसी विषम और नाज़ुक परिस्थितिसे भारतीय नरेश लाभ न उठा सके। मेवाड़का राणा सांगा लोदियोंका अन्त देखनेको तो इच्छुक था और इस उद्देश्यसे पंजाबके दौलतखाँ आदि पठान सरदारोंका वह सहयोगी भी बना, किन्तु इस कार्यके लिए उसने विदेशी आक्रान्ता बाबरका ही मुँह ताका। वह समझता था कि तैमूरकी भाँति बाबर भी आयेगा और लोदियोंका अन्त करके चला जायेगा और तब वह स्वयं दिल्ली, आगरा आदि तक सहज ही अपने अधिकारका विस्तार कर लेगा।

ऐसी परिस्थितिमें बाबर आया, सहज ही उसने लोदियोंका अन्त करके दिल्लीपर अधिकार कर लिया और इस देशमें मुग़ल-वंश एवं राज्यकी नींव डाली। वह शीघ्र ही मर गया। उसके उत्तराधिकारीको दस वर्षके

भीतर ही देश छोड़ भाग जाना पड़ा। १५ वर्ष बाद वह पुनः आया और उसके पुत्र अकबरने मुग़लवंश और साम्राज्यको इतना शक्तिशाली और स्थायी बना दिया कि वह अपने समयकी संसारकी एक स्पृहणीय शक्ति हो गया। मुग़लवंशका अस्तित्व और दिल्लीपर उसका अधिकार तो लगभग तीन सौ वर्ष पर्यन्त बना रहा किन्तु मुग़ल-साम्राज्यका चरमोत्कर्ष काल लगभग एक सौ वर्ष हो रहा। अकबरके राज्यकालके मध्यमे लेकर औरंगजेबके राज्य-कालके मध्य पर्यन्त भारतका मुग़ल साम्राज्य और उसके सम्राट् न केवल भारतीय इतिहासमें ही वरन् सम्पूर्ण तत्कालीन विश्वमें सर्वाधिक महान् शक्तिशाली, प्रतापी और वैभव-सम्पन्न थे। भारतके मुसलमानी राज्यवंशोंमे इतना दीर्घकालीनवंश भी अन्य कोई न हुआ। औरंगज़ेबके राज्य-कालके उत्तरार्धमें साम्राज्यमें अनेक दुर्बलताओंने घर कर लिया था और शीघ्र-पतनके चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। उसकी मृत्युके कुछ वर्ष उपरान्त ही साम्राज्य द्रुत वेगसे छिन्न-भिन्न होने लगा। उत्तरवर्ती मुग़ल-नरेशोंकी अयोग्यता एवं अकर्मण्यता, उनके मुसलमान सरदारोंके विश्वासघात और स्वार्थपरता, जोधपुरके राठौड़ राजाओंके नेतृत्वमें राजपूतोंका उत्थान, मराठा पेशवाओं और उनके सरदारोंकी द्रुत प्रगति, राजधानीके निकट ही जाटोंका और पंजाबमें सिक्खोंका उदय, नादिरशाह और अहमदशाहके आक्रमणों और सात समुद्र पारसे व्यापारार्थ आनेवाले अंगरेज़ोंकी छल-बलपूर्ण कूटनीति, सबने मिलकर मुग़लोंका पतन सम्पादित किया। सम्पूर्ण भारतके एकच्छत्र शक्तिशाली सम्राट् औरंगज़ेबकी मृत्युको साठ वर्ष बीतते-न-बीतते उसका वंशज शाहआलम नाम मात्रका ही मुग़ल-सम्राट् रह गया था और मात्र दिल्ली, आगरेपर उसका अधिकार शेष रह गया था। और १८५६ ई० में अन्तिम मुग़ल सम्राट् बहादुरशाहका साम्राज्य तो दिल्लीके भी केवल लाल क़िलेकी चहार-दीवारीके भीतर ही सीमित था। यह सब होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं है कि मुग़ल-काल भारतीय इतिहासका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण युग

है। अपने सुदीर्घ उत्कर्षकालमें इसने देशकी सर्वतोमुखी उन्नति देखी।

१. बाबर (१५२६-३० ई०) समरकन्दके तुर्क सुलतान तैमूर-लंगकी पाँचवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुआ था। उसका पिता मिर्ज़ा उमर शेख़ तैमूरके वंशज मीरनशाहका पुत्र था और मध्य-एशियामें फ़रग़नाकी छोटी-सी रियासतका स्वामी था। बाबरकी माता प्रसिद्ध मंगोल सरदार चँगेज़ खाँके वंशज चग़ताईखाँकी पुत्री थी। इस प्रकार बाबर तुर्क और मंगोल रक्त-मिश्रणका फल था। उसका वंश मुग़ल कहलाया और उसके लिए कभी-कभी चग़ताई नामका भी प्रयोग हुआ। मिर्ज़ा मुग़लोंकी एक सामान्य उपाधि रही। १४८३ ई० मे बाबरका जन्म हुआ था। तेरह वर्षकी अवस्थामें ही वह फ़रग़नाके अपने छोटेसे पैतृक राज्यका स्वामी हुआ। उसकी महत्त्वाकांक्षा अपने प्रतापी पूर्वज तैमूरके साम्राज्यको प्राप्त करके समरकन्दके सिंहासनपर बैठनेकी थी। दो बार उसने समरकन्दको विजय किया किन्तु दोनों ही बार वह उसके हाथसे निकल गया। उज़बेग सरदारोंकी शत्रुताके कारण फ़रग़ना भी उससे छिन गया और अन्ततः उसे प्राण बचाकर स्वदेशसे भागना पड़ा। १५०४ ई० में वह अफ़ग़ानिस्तान आया और वहाँसे अरग़ूनोंको निकालकर उसने उस देशपर अपना राज्य स्थापित किया तथा काबुलको राजधानी बनाया। यहाँसे भी ईरानके शाह इस्माइलकी सहायतासे उसने एक बार समरकन्दको फिर हस्तगत किया, किन्तु उज़बेगोंने उसे फिर निकाल बाहर किया और वह लाचार काबुल वापस लौट आया। अब इस दिशामें वह पूर्णतया निराश हो गया था। उज़बेगोंके भयसे काबुलमें भी उसकी स्थिति सुरक्षित न थी। ऐसी स्थितिमें भारतवर्ष ही उसे एकमात्र सुरक्षित आश्रय दीख पड़ा और उसने इस देशकी ओर ध्यान दिया। भारतकी तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति भी संयोगसे उसके अत्यन्त अनुकूल थी। दिल्लीका पठान सुलतान इब्राहीम लोदी अयोग्य, मूर्ख और अत्याचारी था। उसने स्वयं अपने पठान सरदारों और सम्बन्धियोंको भी अपना शत्रु बना लिया था। उसके वंशके ही आलमख़ाँ

लोदी और दौलतखाँ लोदी जो पंजाब प्रान्तपर अधिकृत थे उसका विनाश चाहते थे। उन्होंने इसी उद्देश्यसे बाबरको आमन्त्रित किया। वे समझते थे कि तैमूरकी भाँति बाबर भी इब्राहीम लोदीका अन्त और दिल्लीको लूट-मार करके चला जायेगा और वे फिर सरलतासे दिल्ली राज्यके स्वामी बन जायेंगे। राणा सांगा भी ऐसा ही समझता था अतः ये लोग बाबरके आक्रमणोंमें तनिक भी बाधक न हुए। किन्तु बाबर वीर योद्धा और कुशल सेनानी ही नहीं था वह चतुर राजनीतिज्ञ भी था। १५१८ से १५२४ ई० के बीच उसने भारतपर चार बार आक्रमण किया। प्रारम्भमें उसने सीमान्त प्रदेशका अन्वेषण करके उसे अधिकृत किया, फिर शनैः-शनैः पंजाबमें घुसा, दौलतखाँ लोदीके विश्वासघातसे रुष्ट होकर उसका दमन किया और १५२४ ई० तक काबुलसे सम्पूर्ण पंजाब पर्यन्त उसने अपना अधिकार भलीभाँति जमा लिया। तदनन्तर १५२६ ई० में उसने दिल्लीपर आक्रमण किया। इब्राहीम लोदीने अपनी विशाल किन्तु निकम्मी सेना लेकर पानीपतके ऐतिहासिक रणक्षेत्रमें उसका सामना किया, किन्तु पराजित हुआ और मारा गया। दिल्लीपर मुग़ल बाबरका अधिकार हो गया। पठानोंकी आपसी फूट, इब्राहीम लोदीकी अयोग्यता, उसकी सेनामें उचित संगठन एवं कुशल नेतृत्वका अभाव, बाबरका तोपखाना जो युद्ध-विद्याका भारतके लिए उस समय एक नवीन आविष्कार था, और उसका कुशल नेतृत्व इस विजयमें प्रधान कारण थे। छोटेसे किन्तु अत्यन्त अव्यवस्थित लोदी-साम्राज्यको उसने अपने सेनानायकों-द्वारा शनैः-शनैः जीतना शुरू किया। जो सरदार जिस प्रदेशको जीतता उसे ही वह उस प्रदेशका शासक नियुक्त कर देता। किन्तु राणा सांगाने अपनी आशाके विपरीत जब यह सब देखा तो वह बाबरको भारतवर्षसे निकाल बाहर करनेके लिए कटिबद्ध हो चल पड़ा। अफ़ग़ान मेवातियोंने भी उसे सहायता दी। सीकरीके निकट कनवाहमें बाबरके साथ राजपूतोंका युद्ध हुआ। राजपूती सैन्यदल और महाराणाकी वीरता एवं पराक्रमको देख-सुनकर बाबरके सैनिक काँप गये,

स्वयं बाबर भी घबड़ा गया। किन्तु वह दृढ़प्रतिज्ञ था, उसने मदिराका सर्वथा त्याग कर दिया, ख़ुदाकी इबादत की और अपने सिपाहियों और सरदारोंमें स्फूर्तिका संचार किया। अन्ततः संयोग और सौभाग्यसे वह इस युद्धमें भी विजयी रहा और राणा पराजित होकर वापस लौट गया। दिल्ली, आगरा और आस-पासके प्रदेशपर बाबरका अधिकार हो ही चुका था, अब उसने पूर्वी भारतसे भी अफगानोंको खदेड़कर बिहार पर्यन्त अपना अधिकार कर लिया। आगरा लेते समय ही उसके पुत्र हुमायूँको वहाँ प्रसिद्ध कोहनूर हीरा प्राप्त हुआ था। ग्वालियरपर भी बाबरने अधिकार कर लिया। वह यहाँ लूट-मार करके चले जानेके लिए नहीं आया था वरन् अपना स्थायी राज्य स्थापित करने आया था अतः उसने विजित प्रदेशों और नगरोंका विध्वंस करने या विशेष लूट-मार और अत्याचार करनेका प्रयत्न नहीं किया बल्कि जनताको सुरक्षा और सुराज्यका आश्वासन देकर शान्तिपूर्वक बसे रहनेका ही आदेश दिया। उसने अपने पुत्र हुमायूँको भी यही अन्तिम उपदेश दिया कि 'वह प्रजाके धार्मिक भावोंको ठेस न पहुँचावे यथा—क्योंकि गऊको हिन्दू पवित्र पशु मानते हैं इसलिए गोवधका राजाज्ञासे निषेध कर दे, अपने भाइयोंके साथ प्रेम-भाव रखें और प्रजाका सन्तानवत् पालन करें।' शासन-व्यवस्थाके लिए बाबरको अवकाश ही न मिला, सम्भवतया उसमें उसकी योग्यता भी न थी। उदार और खर्चीले स्वभावका होनेके कारण आर्थिक कठिनाई भी उसे बनी रही। इसका यह भी कारण है कि लूट-मार उसने विशेष की नहीं। उसने सुल्तानके बजाय बादशाह उपाधि धारण की और अपने अधिकारके लिए खलीफ़ाकी स्वीकृतिकी भी कोई अपेक्षा न की और इस प्रकार धर्मको राजनीतिसे पृथक् रखनेका प्रथम उपक्रम किया। वह अत्यन्त बलवान्, वीर, साहसी, बुद्धिमान्, सुशिक्षित, विद्या और कलाका रसिक, धार्मिक, उदार, सर्वप्रिय और स्नेह-शील था। उसका तुज़ुके बाबरी या बाबरनामा नामक आत्मचरित्र एक अत्यन्त दिलचस्प रचना है। अपने पुत्र हुमायूँकी रोगसे प्राणरक्षाके लिए

उसने अपना जीवन उत्सर्ग किया। १५३० ई० में मुग़ल-वंश और साम्राज्य-के मूल संस्थापक इस जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर पादशाहकी मृत्यु हुई। बाबर भारत और मध्य-एशियाके बीचकी कड़ी था, काबुलसे उसे स्नेह था। उसने अपने शवको काबुल ले जाकर दफनानेकी इच्छा अन्त समय प्रकट की थी और वैसा ही किया गया। ईरानी संस्कृतिको भारतमें प्रविष्ट करनेका श्रेय भी उसे ही है। आगरा आदिमें उसने कई बाग़ भी लगवाये।

२. **हुमायूँ** (१५३०–५५ ई०) बाबरका ज्येष्ठ पुत्र और उत्तरा-धिकारी था। वह सुशिक्षित, नम्र, दयालु, उदार और स्नेहशील था किन्तु उतना ही जितना कि उस कालमें एक मध्य-एशियायी मुसलमान राजकुमार अधिकसे-अधिक हो सकता था। शासन और युद्ध-विद्यामे भी साधारणतया योग्य था किन्तु साथ ही आलसी, अफ़ीम खानेका अभ्यस्त, कुछ अदूरदर्शी और भावुक भी था। इन दोषोंके कारण जिन परिस्थितियोंमें उसने राज्य-भार सँभाला और जो विकट समस्याएँ उसके सम्मुख थी उनके योग्य वह नहीं था। बाबरने उत्तर भारतकी, पंजाबसे बिहार पर्यन्त विजय तो कर ली थी किन्तु वह राज्यको सुसंगठित न कर पाया था और शासन-प्रबन्धकी भी कोई योजना कार्यान्वित न हो पायी थी। राजकोष प्रायः खाली था जिसके कारण आर्थिक कठिनाईका सामना था। उसके तीन अन्य भाई कामरान, अस्करी और हिन्दाल उसे सदैव तंग करते रहे, विशेषकर कामरान और अस्करीने उसके साथ शत्रुता करनेमें कोई कसर न रखी, किन्तु हुमायूँने कुछ अपने स्नेहशील नम्र स्वभाव और कुछ पिताके अन्तिम आदेशकी रक्षार्थ उन्हें सदैव क्षमा किया और कोई हानि न पहुँचायी। बाबरकी मृत्युके पश्चात् पठान सरदारोंने भी अपनी स्थितिका अनुभव किया और वे मुग़लोंको निकाल बाहर करनेके लिए कटिबद्ध हो गये। मुग़ल अभीतक इस देशमें जम ही न पाये थे और जनता उन्हें विदेशी ही समझती थी। कामरानको काबुल और कंदहारका सूबेदार नियुक्त कर दिया गया था किन्तु

उसने पंजाबपर भी अधिकार कर लिया और इस प्रकार हुमायूँको उसके मूलाधारसे ही वंचित कर दिया। इस समय बीकानेरका राजा राव जैतसी था। उसका एक सामन्त खेतसी भटनेरका शासक था। उसने वहाँके जैनियोंसे रुष्ट होकर उनपर बड़े अत्याचार किये और उनके गुरुको भी मरवा डाला। १५३४ ई० में कामरानने भटनेरपर आक्रमण किया। युद्धमें खेतसी मारा गया, तदनन्तर कामरानने स्वयं बीकानेरपर धावा कर दिया किन्तु पराजित होकर लौट आया। इधर हुमायूँको भी अपनी स्थितिकी सुरक्षाके लिए निरन्तर युद्ध करते रहना पड़ा। चित्तौड़पर इसी समय गुजरातके बहादुरशाहने भीषण आक्रमण कर दिया। महाराणीने हुमायूँको राखीबन्द भाई बनाकर सहायताके लिए बुलाया। वह तुरन्त उधर चल पड़ा, किन्तु इसके पहुँचनेके पूर्व ही बहादुरशाह चित्तौड़का विध्वंस कर चुका था। हुमायूँका आगमन जान वह गुजरात वापस लौट गया। किन्तु हुमायूँने उसका पीछा न छोड़ा और १५३५ ई० में गुजरातपर आक्रमण कर दिया तथा चम्पानेरके सुदृढ़ दुर्गको विजय किया। बहादुरशाह पराजित होकर मालवेकी ओर भाग गया। हुमायूँ पूरे गुजरातको विजय करना चाहता था किन्तु विहारमें पठान सरदार शेरखाँ सूरिके उपद्रवकी सूचना मिलनेसे इस कार्यको अधूरा ही छोड़ उसे फिर उधर जाना पड़ा। १५३७ ई० में उसने शेरखाँको हराया और बंगालके भी बहुभागको विजय कर लिया, किन्तु तदनन्तर लगभग एक वर्ष गौड नगरमें ही व्यर्थ आलस्यमें बिता दिया। इस बीचमें शेरशाहने शक्ति संग्रह करके उसे वहीं रोकनेका उपक्रम किया। १५३९ ई० में चौसाके युद्धमें बुरी तरह पराजित होकर हुमायूँ थोड़ेसे सैनिकोंके साथ प्राण बचाकर दिल्ली पहुँचा। १५४० ई० में शेरशाहके साथ कन्नौजके निकट उसका फिर भीषण युद्ध हुआ। इस युद्धमें भी वह पराजित हुआ और साथ ही उससे उसका भारतीय राज्य भी छिन गया। अब वह निराश्रित और असहाय था। उसके भाइयोंने उसको कोई सहायता न

को। ऐसे ही समयमें उसने हमीदा बानूके साथ अपना विवाह किया। पत्नी और मुट्ठी-भर साथियोंके साथ वह सिन्धकी ओर भागा, फिर मारवाड़ आया और जोधपुर-नरेशसे आश्रय चाहा। एकके बाद-एक कई राजाओं और मुसलमान-सरदारोंसे उसने आश्रय और सहायताकी याचना की किन्तु किसीने सहारा न दिया। शेरशाहकी सेना पीछे पड़ी हुई थी, अतः फिर उसे सिन्धकी मरुभूमिकी शरण लेनी पड़ी और वहीं अमरकोट नामक स्थानमें १५४२ ई० मे हमीदा बानू बेगमने अकबरको जन्म दिया। किसी तरह बचकर हुमायूँ काबुल पहुँचा किन्तु उसके भाई कामराननें भी उसे आश्रय नहीं दिया अतः बालक अकबरको कामरानके ही आश्रय मे छोड़ १५४४ ई० मे वह ईरान पहुँचा और शाह तहमास्पसे सहायताकी याचना की। शाहने इस शर्तपर कि हुमायूँ शिया मत धारण कर ले और कन्दहारकी विजय करके उसे सौंप दे सहायता देनेका वचन दिया। अतः १५४५ ई० में शाह ईरानकी सहायतासे हुमायूँने कन्दहारपर अधिकार कर लिया। उसके बाद काबुलपर आक्रमण किया। कई वर्ष तक कामरान के साथ युद्ध चलता रहा। उस दुष्टने अपने भतीजे बालक अकबरको क़िलेकी दीवारपर तीरोंकी बौछारमें बैठाया किन्तु अकबरका बाल बाँका न हुआ। अन्ततः कामरान पराजित हुआ, बन्दी हुआ और अन्धा कर दिया गया। कुछ वर्ष हुमायूँने काबुलमें रहकर ही अपनी स्थिति सुदृढ़ की और शक्ति-संचय की। कन्दहारको उसने ईरानियोंको वायदेके अनुसार दिया ही न था। १५५५ ई० में उसने भारतपर आक्रमण किया। सूरि-वंशका अवसान था, सिंहासनके तीन-तीन दावेदार थे, अतः परिस्थिति अनुकूल थी, सहज ही पंजाबपर और फिर दिल्ली और आगरेपर भी उसका अधिकार हो गया। किन्तु कुछ ही मास बाद १५५६ ई० के प्रारम्भ में ही दिल्लीमें अपने पुस्तकालयकी सीढ़ियोंसे फिसलकर गिरनेके कारण बादशाह हुमायूँकी मृत्यु हो गयी। वह अपने पिताके भारतीय राज्याधिकार को नाममात्रके लिए ही पुनः प्राप्त करनेमें सफल हो पाया था। अपने

पिताकी भाँति अफ़ग़ान सरदारोंकी पारस्परिक फूटसे उसने भी लाभ उठाया था। उसका भारतमें पुनः आगमन और सिंहासन-प्राप्ति निरा संयोग ही था, उसकी कोई आशा न थी। वस्तुतः अपने इन मूल संस्थापकोंको दृष्टि से यह भारतीय मुग़लवंश अन्य सभी पूर्ववर्ती मुसलमान आक्रान्ताओं एवं सुलतान वंशोंकी अपेक्षा सर्वाधिक बलहीन एवं साधनहीन था।

३. अकबर महान् (१५५६–१६०५ ई०)—जिस समय हुमायूँकी मृत्यु हुई उसका पुत्र अकबर १४ वर्षका बालक मात्र था और उस समय सेनापति बैरमख़ाँके साथ पंजाबमें सिकन्दर सूरिका दमन करनेमें व्यस्त था। काबुलपर अकबरका सौतेला भाई मिर्ज़ा हकीम अधिकृत था और अब प्रायः स्वतन्त्र ही था। हुमायूँके दिल्लीके निकट पहुँचते ही आदिलशाह सूरि दिल्ली छोड़कर चुनार चला गया था और वहीं रहने लगा था किन्तु हुमायूँकी मृत्यु होते ही आदिलशाहके मन्त्री एवं सेनापति हेमू विक्रमादित्यने आगरे और दिल्लीपर आक्रमण कर दिया। दिल्लीके मुग़ल शासक तर्दीबेगने उसे आत्म-समर्पण कर दिया और हेमूका वहाँ अधिकार हो गया। विजयनगर, बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा, बीदर, बरार, ख़ानदेश आदि राज्योंमें विभक्त सम्पूर्ण दक्षिण भारत तो स्वतन्त्र था ही, गुजरात, मालवा, गोंडवाना, बंगाल और काश्मीर भी स्वतन्त्र थे और चित्तौड़, रणथम्भोर, जैसलमेर, बूँदी, जोधपुर, बीकानेर, अम्बर आदि स्वतन्त्र राजपूत राज्योंका समूह राजस्थान सजीव आतंक बना हुआ था। पश्चिमी-तटपर पुर्तगालियोंकी शक्ति भी उपेक्षणीय नहीं थी। और स्वयं दिल्लीके सिंहासनके लिए तीन प्रतिद्वन्द्वी दावेदार थे, आदिलशाह सूरि, सिकन्दरशाह सूरि और हेमू। हुमायूँकी दिल्लीपर अधिकार कर लेनेकी अल्पस्थायी सफलताने अकबरको भी उन-जैसा ही किन्तु उनसे कम साधन और शक्तिसम्पन्न एक दावेदार मात्र बना दिया था। अतः १४ फ़रवरी १५५६ ई० के दिन जब पंजाबके ज़िले गुरुदासपुरके अन्तर्गत कलानौर नामक गाँवके बाहर एक बाग़में ईंटोंके कच्चे चबूतरेपर अकबरका राज्या-

भिषेक किया गया तो उस चौदहवर्षीय नरेशका राज्याधिकार आस-पासके दस-बीस गाँवोंपर ही था, वह धन और जन दोनोंसे ही हीन था, मुट्ठीभर सेना हाथमें थी और बैरमखाँ-जैसे इने-गिने विश्वासी, स्वामिभक्त और उत्साही सरदारोंका भरोसा था। अकबरको कुछ शिक्षा-दीक्षा भी नहीं हो पायी थी और वह प्रायः निरक्षर था। उसी समय उत्तर प्रदेशमें भीषण अकाल भी पड़ रहा था। ऐसी विषम परिस्थितियोंमें अकबर और उसके साथियोंके सम्मुख तीन ही मार्ग थे या तो हुमायूँकी भाँति देश छोड़कर भाग जाँय, या सब आकांक्षाओंको तिलाञ्जलि देकर सामान्य जनोंकी भाँति यहीं बस जाँय, अथवा राज्योद्धारका प्रयत्न करें। उन्होंने यह तीसरा वीरोचित मार्ग ही पसन्द किया। इस दिशामें सबसे पहला क़दम दिल्लीको हस्तगत करना था क्योंकि भारतकी राजधानीपर अधिकार कर लेना ही अकबरके राज्याधिकारके औचित्यको सिद्ध कर सकना था और अन्य प्रदेशोंकी विजयमें प्रधान साधक हो सकता था।

अतएव अकबरको लेकर बैरमखाँ ससैन्य थानेश्वरके मार्गसे होकर पानीपतकी ऐतिहासिक रणभूमिमें आ डटा। एक विशाल सेनाके साथ दिल्लीसे निकलकर हेमू भी आ पहुँचा। दोनों सेनाओंमें घोर युद्ध हुआ, हेमूकी विजय हो रही थी कि शत्रुका एक तीर आकर उसकी आँखमें घुस गया और वह बेहोश होकर गिर पड़ा। नेताके गिरते ही उसकी सेनामें भगदड़ मच गयी। हेमू बन्दी हुआ। बैरमखाँने अकबरसे काफ़िर शत्रुको अपने हाथसे मारकर ग़ाजी बननेके लिए कहा। एक मतके अनुसार वीर अकबरने निहत्थे शत्रुपर हाथ उठाना स्वीकार न किया और स्वयं बैरमखाँने हेमूका वध किया, एक अन्य मतके अनुसार बैरमखाँके आग्रहपर अकबरने उसपर आघात किया और फिर बैरमखाँने उसका सिर काट डाला। विजयी मुग़ल-सेना शत्रुओंको मारती-काटती दिल्लीमें प्रविष्ट हुई, हेमूका धड़ नगर-द्वारपर लटका दिया गया और उसके सम्मुख हेमूके हत सैनिकोंके सिरोंका बुर्ज बनाया गया, जैसा कि सब पूर्ववर्ती सुलतान

करते आये थे। दिल्ली और आगरेपर अकबरका अधिकार हो गया। आदिलशाह सूरिने उसका अब कोई विरोध नहीं किया और सिकन्दर सूरिने भी आत्म-समर्पण कर दिया, वह क्षमा कर दिया गया और उसे एक जागीर भी दे दी गयी।

अकबरका प्रधान सरदार, सेनापति, मन्त्री और अभिभावक बैरमखाँ ही था। उसीके नेतृत्वमें अकबरने अपनी विजय-यात्रा प्रारम्भ की। हेमूकी पराजय और सिकन्दरके समर्पणने पेशावरसे आगरा पर्यन्त सम्पूर्ण पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेशपर अकबरका अधिकार जमा दिया। अब ग्वालियरके सुदृढ दुर्गको विजय किया गया और उत्तरी राजपूतानेकी कुंजी अजमेरपर अधिकार कर लिया गया। पूर्वमें जौनपुर प्रदेशको विजय किया गया और इस प्रकार राज्यका विस्तृत एवं सुसंगठित केन्द्र निर्माण कर लिया गया। रणथम्भौर दुर्गपर भी आक्रमण किया गया किन्तु विफल रहा और तदनन्तर मालवा-विजयकी तैयारी की गयी। यह सब कार्य १५६० ई० तक केवल चार वर्षोंमें ही सम्पन्न हो गया। अब अकबर १८ वर्षका वयस्क युवक हो गया था। बैरमखाँका उद्धत अभिभावकत्व उसे अखरने लगा था। उसकी माँ हमीदा बेगम और धाय माहमअंगाने भी उसे बैरमखाँ के अंकुशसे मुक्त होनेके लिए भरसक उकसाया। दिल्लीके निरपराध रक्षक तर्दीबेगकी हत्या करने और उसके सामान्यत: उद्धत स्वभाव एवं बढ़ते हुए प्रभावके कारण अन्य सरदार भी उससे रुष्ट थे। अत: अकबरने १५६० ई० में उसे पदच्युत करके मक्का चले जानेका परामर्श दिया और राज्यकार्य अपने हाथमें ले लिया। थोड़ी ऊहा-पोहके बाद बैरमने स्वीकार कर लिया किन्तु पंजाबमें पहुँचकर विद्रोह कर दिया। अकबरने तत्परतासे उसका दमन किया और फिर क्षमा कर दिया और मक्का चले जानेका ही आदेश दिया। मार्गमे एक शत्रुके हाथों बैरमखाँ मारा गया।

बैरमखाँके अंकुशसे तो अकबर मुक्त हो गया किन्तु अब अन्त:पुरकी बेगमोंके प्रभावने उसे आच्छन्न कर लिया। उसकी माँ हमीदा बानू बेगम

तो उसे पुत्र-स्नेहवश परामर्श देती ही थी किन्तु उसकी धाय माहमअंगा उसपर शासन ही करने लगी और उसका पुत्र आदमखाँ निरंकुश अनाचार करने लगा। पीर मुहम्मद आदि उसके साथी थे। स्वयं अकबर आखेट आदिमें मग्न रहने लगा। १५६२ ई० में अकबरने आदमखाँ और पीर मुहम्मदको मालवा विजय करनेके लिए भेजा। मालवापति बाजबहादुर पराजित हुआ और मालवापर अकबरका अधिकार हुआ। आदमखाँ और पीर मुहम्मदने इस अवसरपर क्रूर नरसंहार और अत्याचार किये किन्तु बाजबहादुरको अकबरने क्षमा कर दिया और अपना एक मनसबदार बना लिया। उसकी प्रेमिका सुन्दरी नर्तकी रूपमतीकी भी रक्षा हुई। इसी वर्ष अकबरने शमसुद्दीन अतकाको अपना वजीर नियुक्त किया था, किन्तु दुष्ट आदमखाँ वजीरसे जलता था और एक दिन महलकी कचहरीमें शराबके नशेमें घुसकर उसने वजीरका वध कर दिया। शब्द सुनकर अकबर स्वयं वहाँ आ गया, एक ही घूँसेसे उसने आदमखाँको गिरा दिया और फिर क़िलेकी दीवारसे गिरवाकर उसे मरवा डाला। उसकी माँ माहम-अंगाकी पुत्रशोकमें मृत्यु हो गई। पीर मुहम्मद आदिको भी दण्डित किया गया और स्वयं अपने मामा ख्वाजा मुअज्ज़मको भी जो एक अर्धविक्षिप्त हत्यारा था अकबरने प्राण-दण्ड दिया। इस प्रकार १५६४ ई० मे अकबर सर्वथा स्वतन्त्र होकर पूरे मनोयोगसे साम्राज्य-निर्माण के कार्यमें लग गया। इन चार वर्षोंमें भी मालवाके अतिरिक्त राजपूतानेके प्रसिद्ध दुर्ग मेड़ताको और बिहारके सुदृढ दुर्ग चुनारको उसने हस्तगत कर लिया था। मुसलमान फ़क़ीर मुइनुद्दीन चिश्तीका अकबर इस कालमें बड़ा भक्त था और प्रत्येक वर्ष उस पीरकी दरगाहकी जियारत करनेके लिए अजमेर जाया करता था। ऐसे ही एक अवसरपर १५६२ ई० में अम्बरके कछवाहे राजा भारमलने अजमेर आकर स्वेच्छासे सम्राट्की अधीनता स्वीकार कर ली। इतना ही नहीं, अकबरकी इच्छानुसार राजाने उसके साथ अपनी पुत्रीका विवाह भी कर दिया। यह राजपूत रानी ही

अकबरकी प्रधान साम्राज्ञी और उसके उत्तराधिकारी जहाँगीरकी जननी हुई। इस रानीके भाई राजा भगवानदास और भतीजे महाराज मानसिंह अकबरके दाहिने हाथ और उसके साम्राज्यके प्रधान स्तम्भ हुए। अम्बरके उदाहरणका यह प्रभाव हुआ कि जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर आदि राजपूतानेके अन्य अधिकांश राज्योंने थोड़े-से प्रयाससे ही अकबरकी अधीनता स्वीकार कर ली। उसने भी उनके साथ उदारताका बर्ताव किया। वे अपने राज्यके शासनमें सर्वथा स्वतन्त्र थे, केवल सम्राट्को अपना अधिपति स्वीकार करना होता था, उन्हें उसके युद्धों और विजय-यात्राओंमें सैन्य-सहयोग देना होता था, कुछ निश्चित कर तथा कभी-कभी राजधानीमें आकर सम्राट्को भेंट आदि देनी पड़ती थी, वे चाहते तो राजकीय सेवामें भी उन्हें कोई उच्च पद और मनसब दे दिया जाता था। सम्राट्की दृष्टिमें और साम्राज्यमें उनका सम्मान और प्रतिष्ठा प्रायः किसी मुसलमान सरदारसे कम नहीं होती थी। वस्तुतः अकबर बड़ा दूरदर्शी था। वह अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी था और चक्रवर्ती सम्राट्के प्राचीन भारतीय आदर्शको प्राप्त करनेकी उसकी बड़ी अभिलाषा थी। साथ ही उसने यह भलीभाँति समझ लिया था कि इस उद्देश्यकी सिद्धि तथा उसके वंश एवं साम्राज्यका स्थायित्व तभी सम्भव है जब वह पूर्णतया भारतीय एवं भारतीयोंका बनकर राज्य करे, मुसलमानों और ग़ैर मुसलमानोंके बीच कोई भेदभाव न करे, बल्कि अपने व्यवहारसे मुसलमानेतर भारतीयोंका विश्वास, आदर और राज्यभक्ति प्राप्त कर ले। और ये सब बातें उसकी अपनी उदारता, समदर्शिता, सर्वधर्मसहिष्णुता एवं कुशल नीतिमत्तासे सम्पादित हो सकती थीं। अतः अपने राज्यके इन प्रारम्भिक वर्षों (१५६०–६४ ई०) में ही उसने युद्ध-बन्दियोंको ग़ुलाम बनाये जानेकी पुरानी प्रथाका अन्त कर दिया, समस्त हिन्दू एवं जैन तीर्थोंपर-से जो यात्री-कर सुलतानोंने लगा रखा था उसे उठा दिया, इसी प्रकार जज़िया नामक अपमानजनक करका भी जो समस्त मुसलमानेतर भारतीयोंपर लगा हुआ

था अन्त कर दिया। जजियाका प्रवर्तन खलीफ़ा उमरने किया था और भारतके सभी मुसलमान सुलतानोंने भारतीयोंपर यह कर लाद दिया था, फ़ीरोज तुग़लकके पूर्व ब्राह्मण इस करसे मुक्त थे किन्तु उसने उनपर भी यह कर लगा दिया था। यह कर अतिरिक्त आर्थिक भार तो था ही हीनता और अपमानका सूचक था। जज़िया देनेवाले भारतीय थे, वे शासकों-की जाति मुसलमानोंकी समकक्षता नहीं कर सकते थे। दूसरे, करके भारसे दबे रहनेके कारण वे कभी धनसम्पन्न नहीं हो सकते थे, अतः विद्रोह नहीं कर सकते थे। अकबरने इस भेदभाव-सूचक एवं अन्यायपूर्ण करका अन्त करके अपने-आपको लोकप्रिय बना लिया। राजपूत कन्यासे विवाह करके और अन्य मुसलमान पत्नियोंके रहते हुए भी उसे ही साम्राज्ञी पद देकर, तथा हिन्दुओंको राज्यमें उच्च पद देना आरम्भ करके उसने भारतीयोंका विश्वास प्राप्त कर लिया। साथ ही मुसलमान सरदारोंपर जो प्रायः विदेशी थे, नियन्त्रण रखनेके लिए एक शक्तिशाली भारतीय दल राजपूत-राजाओं आदि हिन्दू-सरदारोंका निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। आगरेमें अपने महलके भीतर ही हिन्दू-मन्दिर स्थापित करवा देना, होली, दीवाली आदि भारतीय त्योहारोंमें भाग लेना, दाढ़ी मुँडवा देना, आदि कार्योंसे उसने स्वयंको पूर्ण भारतीय प्रदर्शित करनेका प्रयत्न किया। आदमखाँ आदि सरदारोंको भीषण दण्ड देकर उसने अपनी न्याय-प्रियताका भी परिचय दे दिया था।

उसकी उपरोक्त नीतिकी प्रतिक्रिया मुसलमान सरदारोंके विद्रोहोंके रूपमें प्रकट हुई। इन सरदारोंके दो सबल दल थे। एक उज़बेगोंका और दूसरा अकबरके ही वंशके मिर्ज़ा सरदारोंका। १५६५ ई० में खान ज़मान उज़बेगने अकबरको पदच्युत करके कामरानके बेटेको सिंहासनपर बैठानेके लिए षड्यन्त्र किया। अकबरने तत्परतासे उज़बेगोंका दमन किया और उनके नेताओंको मृत्युदण्ड दिया। उसने मिर्ज़ाओंका भी दमन किया जिनमें से कुछने भागकर चित्तौड़ आदि राजपूत-राज्योंमें शरण ली।

तदुपरान्त उसने गोंडवानेकी विजय की जहाँकी रानी दुर्गाबाई अपने पुत्र सहित स्वराज्यकी रक्षामें लड़ते-लड़ते वीरगतिको प्राप्त हुई। १५६७ ई० में अकबरने स्वयं चित्तौड़पर आक्रमण किया। राणा उदयसिंह तो राजधानीको छोड़कर भाग गये किन्तु उनके वीर सामन्तों—जयमल और पुत्त—ने वीरतापूर्वक दुर्गकी रक्षा की और अन्ततः जौहर-द्वारा अपना अन्त कर लेनेके उपरान्त ही चित्तौड़पर मुग़लोंका अधिकार होने दिया। किन्तु मेवाड़ और उसके सिसौदिया अकबरके फिर भी अधीन न हुए। उदयसिंहके पुत्र महाराणा प्रताप जीवन पर्यन्त चित्तौड़के उद्धारके लिए मुग़लों के साथ लड़ते रहे। १५६९ ई० में रणथम्भौरका दुर्ग भी अकबरके हाथ आ गया और उसी वर्ष मध्यभारतके प्रसिद्ध कालिंजर दुर्गपर भी उसका अधिकार हो गया। १५७२ ई०में उसने गुजरातकी विजय की और सूरत बन्दरगाहपर भी अधिकार कर लिया। उसके वापस लौटते ही उसके सम्बन्धी मिर्ज़ा अमीरोंने गुजरातमें विद्रोह कर दिया अतः अकबर स्वयं विद्युद्-वेगसे वहाँ पहुँचा और उसने विद्रोहियोंका बुरी तरह दमन कर दिया। इस प्रकार १५७३ ई० में गुजरात-जैसे अति समृद्ध प्रान्तको प्राप्त करनेसे साम्राज्यकी समृद्धि और शक्ति अत्यधिक बढ़ गयी। समुद्रतट और प्रमुख बन्दरगाहोंपर भी उसका अधिकार हुआ। राजा टोडरमल गुजरात का सूबेदार नियुक्त हुआ और वहीं सर्वप्रथम उसने अपने भूमि-व्यवस्था सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सुधारोंका प्रयोग किया। गुजरात-विजयके उपलक्ष्यमें सीकरीमें बुलन्द दरवाज़ा बनवाया गया और उस नगरका नाम फतहपुर रखा गया। १५७५–७६ ई० में बंगालकी विजय हुई, वहाँका सुलतान दाउदखाँ युद्धमें मारा गया और बंगाल प्रान्त साम्राज्यका एक सूबा बन गया। इसी वर्ष महाराज मानसिंहने हल्दीघाटीके सुप्रसिद्ध युद्धमें वीरवर महाराणा प्रतापको बुरी तरह पराजित किया। इस युद्धमें सीसौदियोंकी बड़ी क्षति हुई। हल्दीघाटीके युद्धमें राणाकी ओरसे उसके कई जैन-सामन्त यथा वीर ताराचन्द, मेहता जयमल बच्छावत, मेहता रतनचंद खेतावत

आदि भी बड़ी वीरतापूर्वक लड़े थे। पराजित होकर राणा अपने परिवार और बचे-खुचे सेवकोंके साथ पहाड़ों और जंगलोंमें चला गया जहाँ अत्यन्त कष्टमें उसके दिन बीते। मुग़ल-सेना उसका बराबर पीछा कर रही थी। राणाने अकबरकी अधीनता तब भी स्वीकार न की, किन्तु अन्ततः निराश होकर मेवाड़को छोड़कर अन्यत्र चले जानेके लिए उद्यत हुआ। ऐसे समयमें उसके स्वामिभक्त दीवान भामा शाहने अतुल द्रव्यसे राणाकी सहायता की। कहा जाता है कि यह धन इतना था कि इससे १२ वर्ष पर्यन्त २५००० सेनाका निर्वाह हो सकता था। और यह सब सम्पत्ति भामाशाहकी अपनी पैतृक तथा निजी थी। उसने अपने भाई ताराचन्द्रके साथ मालवेपर आक्रमण करके भी कुछ द्रव्य प्राप्त किया था। राणा उदयसिंहके जैन-मन्त्री भारमल कावड़ियाके ही ये दोनों पुत्र थे। इस अप्रत्याशित सहायतासे राणामें नये जीवन और आशाका संचार हुआ और उसने नये उत्साहसे प्रयत्न करके चित्तौड़ और माण्डलगढ़को छोड़कर सम्पूर्ण मेवाड़पर पुनः अधिकार कर लिया। इस सहायताके कारण भामाशाह मेवाड़का उद्धारकर्ता कहलाया। राणा अमरसिंहके समयतक वही प्रधान मन्त्री बना रहा। उसके वंशज भी कई पीढ़ियों तक राज्यमन्त्री बने रहे और उसका घराना तो वर्तमान काल तक मेवाड़ राज्यमें सम्मानित रहा। राणा प्रतापसिंह अपने पिता-द्वारा बसाये गये उदयपुरको ही राजधानी बनाकर राज्य करता रहा किन्तु चित्तौड़-उद्धारके लिए आजन्म प्रयत्न-शील रहा। स्वातन्त्र्य-प्रेम और स्वदेशभक्तिके इस परम आदर्श वीर राणाको उदार अकबरने भी फिर नहीं छेड़ा। १५८१ ई० में अकबरने काबुलपर आक्रमण किया और अपने भाई मिरज़ा हकीमको पराजित करके अधीन किया। १५८५ ई० में हकीमकी मृत्युके पश्चात् काबुल भी साम्राज्यका एक सूबा बन गया। १५८६ ई० में काश्मीर, १५९० ई० में उड़ीसा, १५९३ ई० में सिन्ध और १५९५ ई० में बिलोचिस्तान और

कन्दहारपर भी अकबरका अधिकार हो गया। तदनन्तर उसने दक्षिणके मुसलमान सुलतानोंके पास राजदूत भेजे और उनसे अपना आधिपत्य स्वीकार कर लेनेके लिए कहा। अहमदनगर और बीजापुरको छोड़कर सबने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। अत: १६०० ई० में अहमदनगरपर आक्रमण हुआ। सुलताननें पराजित होकर अधीनता स्वीकार कर ली और बरार प्रान्त सम्राट्को दे दिया। खानदेशके सुलताननें पहले ही अधीनता स्वीकार कर ली थी किन्तु अब उसने विद्रोह करना चाहा अत: १६०१ ई० में उसके प्रधान एवं प्रसिद्ध दुर्ग असीरगढ़को घेरा डाल कर विजय कर लिया गया। इस प्रकार महान् विजेता अकबरने अपने जीवन-कालमें ही शनैः-शनैः प्रायः सम्पूर्ण भारतकी विजय कर ली। केवल दक्षिणका कुछ भाग उसके अधिकारके बाहर रहा। उसका विस्तृत सुगठित साम्राज्य अपनी विशाल जन-संख्या, उर्वरा भूमि, नाना प्रकारके कृषि एवं खनिज उत्पादनों, अनेकविध उद्योग-धन्धों, समुन्नत अन्तर्देशीय एवं समुद्री व्यापार आदिके कारण तत्कालीन विश्वका सर्वाधिक महान्, शक्तिशाली एवं समृद्ध साम्राज्य था। उसने भारतका चक्रवर्ती सम्राट् बननेकी अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी कर ली थी।

इस विशाल साम्राज्यका संगठन, शासन-व्यवस्था एवं प्रबन्ध भी उसने बड़े कौशलसे किया। दमन और समझौतेपर आधारित उसकी विजय-नीति दुनाली थी। जिन नरेशोंने सरलतासे उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया और विद्रोह न किया उन्हें उसने बने रहने दिया, जिन्होंने ऐसा नहीं किया उनका अन्त कर दिया। हिन्दू राज्य प्रायः सब ही बने रहे और मुसलमानी सलतनतें प्रायः सब ही नष्ट हो गयीं और उनके प्रदेश सम्राट्-द्वारा नियुक्त हिन्दू एवं मुसलमान सूबेदारोंके शासनमें साम्राज्यका अंग बन गये। उसने शासनको पूर्णतया केन्द्रित किया, अधीन राज्योंके अतिरिक्त अन्य समस्त देशको १५ सूबोंमें विभाजित किया, प्रत्येक सूबेको सरकारोंमें, प्रत्येक सरकारको परगनों या महालोंमें और

प्रत्येक परगनेको थानोंमें विभक्त किया। प्रत्येक थानेके अन्तर्गत कुछ गाँव होते थे। प्रत्येक सूबेका शासक सूबेदार होता था, सैनिक-शासन, न्याय-व्यवस्था और शान्ति-स्थापन उसका कार्य था। उसके साथ ही एक दीवान होता था जो उससे स्वतन्त्र रहता और भूमिकर आदि वसूल करता तथा सूबेके आय-व्ययकी व्यवस्था करता था। एक वाकानवीस होता था जो सूबेके समस्त समाचार सम्राट्को बराबर पहुँचाता रहता था। सूबेदारके नीचे फ़ौजदार, कोतवाल, थानेदार आदि अधिकारी रहते थे और दीवानके अधीन तहसीलदार, क़ानूनगो, पटवारी आदि कार्य करते थे। सम्पूर्ण शासन-यन्त्रका अध्यक्ष और संचालक सम्राट् स्वयं था और अपने मन्त्रिमण्डलकी सहायता एवं परामर्शसे वह समस्त राजकार्य करता था, यद्यपि सिद्धान्ततः सम्राट् साम्राज्यमें सर्वोपरि शक्ति था, सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी था और समस्त पदाधिकारी उसके वेतनभोगी सेवक थे। राज्यके समस्त उच्च-पदाधिकारी मनसबदार कहलाते थे। और ये मनसब १० अश्वारोहियोंसे लेकर ५००० अश्वारोहियों तकका नायकत्व एवं स्वामित्व सूचित करते थे। जितना बड़ा अधिकारी होता उसका उतना ही ऊँचा मनसब होता था। ग्रामोंके आन्तरिक प्रबन्ध, व्यवस्था एवं न्यायके लिए ग्राम-पंचायतें स्वतन्त्र थीं, मुग़लशासन प्रधानतया नागरिक ही था। विभिन्न अधिकारियोंपर नियन्त्रण रखनेकी भी पूरी व्यवस्था थी। सेनाका आवधिक निरीक्षण होता था। सेनाके अश्वोंको दाग़नेका नियम भी चालू किया गया था। पदातिक, अश्वारोही, गजारोही और तोपख़ानेके रूपमें सुसंगठित एवं विशाल चतुर्विध सेना थी। राजा टोडरमलकी अध्यक्षतामें कृषि-भूमिकी नाप-जोख, वर्गीकरण, भूमि-करकी व्यवस्था आदि सुचारुरूपसे चालू की गयी थी। भूमि-कर उपजका प्रायः एक-तिहाई होता था। सरकारी टकसालमें मुद्राएँ निर्माण की जाती थीं। व्यापार आदिपर भी उचित नियन्त्रण था। न्याय-शासनका अकबर काफ़ी ध्यान रखता था, वह स्वयं साम्राज्यकी

सर्वोच्च अदालत था। सामान्यत: काज़ी लोग न्यायाधीश होते थे और प्राय: इस्लामके क़ानूनके अनुसार न्याय करते थे। इस प्रकार अकबरने साम्राज्यिक एकसूत्रताके साथ देशको सुचारु शासन-व्यवस्था भी प्रदान करनेका प्रयत्न किया। वर्तमानकालकी दृष्टिसे उसकी व्यवस्था बहुत कुछ सदोष एवं त्रुटिपूर्ण थी किन्तु उस कालमें तो वह सर्वोत्तम ही थी और बहुत कुछ सफल भी रही। वस्तुत: वही ढांचा स्थूल रूपसे अंग्रेजोंने भी अपनाया और आज पर्यन्त चला आता है।

अकबर गुणग्राहक था और आदमी पहिचानता था। पदका मान उसने योग्यता रखा था, वंश, जाति या धर्म नहीं। अतएव उसे अनेक सुयोग्य सहायक और सेवक प्राप्त हुए। अबुलफ़ज़ल, फ़ैज़ी, अब्दुर्रहीम खानखाना, हकीम गिलानी, ग़यासबेग, मिर्ज़ादुव्याज़ा आदि मुसलमान, राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, टोडरमल खत्री, बीरबल आदि हिन्दू उसके प्रधान अमात्यों एवं उच्च-पदाधिकारियोंमें थे। प्राचीन विक्रमादित्यकी भाँति नव नर-रत्नोंसे उसने अपनी राजसभाको सजाया था। संगीताचार्य तानसेन उसके दरबारकी शोभा थे। मुसलमान होते हुए भी चित्रकला और मूर्त्तिकलाको भी उसने प्रोत्साहन दिया। आगरेका क़िला और उसके भीतर सुन्दर महल बनवाये, १५७०–१५८५ ई० तक वह फ़तहपुर सीकरीमें रहा, उसे ही वह अपनी राजधानी बनाना चाहता था। वहांके शेखसलीम चिश्तीकी कृपासे ही १५६९ ई० में उसका पुत्र (सलीम जहांगीर) उत्पन्न हुआ था। अत: सीकरीमें उसने अनेक सुन्दर भवन बनवाये, शेखसलीमका सुन्दर मक़बरा बनवाया, और स्वयं अपना सुन्दर मक़बरा सिकन्दरेमें बनवाया। इस प्रकार कला-मर्मज्ञ सम्राट् अकबरने कलाके विभिन्न अंगोंको प्रभूत प्रोत्साहन दिया और भारतीय ईरानी मिश्रणसे एक नवीन मुग़ल-कलाको जन्म दिया। साथ ही अनेक कलापूर्ण दस्तकारियों एवं उद्योगोंको सम्राट् एवं उसके अमीरोंसे अभूतपूर्व आश्रय मिला। विद्वानों और विद्याका तो वह इतना आदर करता था कि उसके

समयमें और उसके आश्रयमें विपुल साहित्य-सृजन हुआ। अबुलफ़ज़लका अकबरनामा और आइने-अकबरी, अलबदायुनी और निज़ामुद्दीनके इतिहास ग्रन्थ, फ़ैज़ीकी सूफ़ी कविताएँ, रहीम और बीरबलकी हिन्दी रचनाएँ हुईं, स्वयं अकबर भी कविता करता था, नरहरि, गंग आदि अनेक हिन्दी कवि थे : महाभारत तथा प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंके भी उसने फ़ारसीमें और फ़ारसी ग्रन्थोंके संस्कृतमें अनुवाद कराये। कृष्ण-भक्तिके महाकवि सूर व अष्टछापके कवि रामभक्तिके गोस्वामी तुलसीदास और जैन-अध्यात्मके बनारसीदास आदि इसी कालमें हुए। पाण्डे रूपचन्द, पाण्डे राजमल्ल, ब्रह्म रायमल्ल, कवि परिमल आदि अन्य अनेक जैन विद्वान् और ग्रन्थकार भी उस कालमें हुए। अकबरने देशकी सर्वतोमुखी सांस्कृतिक अभिवृद्धि करने और उसे सांस्कृतिक एकत्व प्रदान करनेका स्तुत्य प्रयत्न किया। प्रजाके उत्थानके लिए सतीकी प्रथा, बालहत्या, बाल-विवाह आदि कुप्रथाओंको राज्याज्ञा-द्वारा निषिद्ध किया और विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह तथा विवाहमें कन्याकी सम्मति लेनेकी प्रथाको प्रोत्साहन दिया। कोई मुसलमान हिन्दू स्त्रीसे तभी विवाह कर सकता था जब वह स्त्री स्वयं सहमत हो और स्वेच्छासे मुसलमान बननेके लिए तैयार हो, अन्यथा नहीं। १५७९ ई० में वह स्वयं इमामे-आदिल भी बन गया। अब मुसलमानी धर्म और क़ानूनके सम्बन्धमें उसका मत सर्वमान्य था, कोई मुल्ला-मौलवी उसके कार्योंकी आलोचना नहीं कर सकता था। वह राज्यका ही अध्यक्ष नहीं धर्मका भी अध्यक्ष बन गया। मुल्ला-मौलवियों और कट्टर मुसलमानोंने बहुतेरा विरोध किया किन्तु उनकी एक न चली वरन् उनमें से ही अनेक सम्राट्के समर्थक हो गये थे। अब अकबरने अपने राज्यमें सभी धर्मोंको पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी। फ़तहपुर सीकरीके अपने इबादतख़ानेमें वह शैव, वैष्णव, जैन, पारसी, ईसाई, शिया, सुन्नी, सूफ़ी आदि सभी धर्मों एवं मतोंके विद्वानोंको एकत्र किया करता था और उनके पारस्परिक वाद-विवाद चावसे सुनता था

तथा यदा-कदा स्वयं भी उन वाद-विवादोंमें भाग लेता था। विभिन्न धार्मिक विचार-धाराओंके इस प्रकारके अध्ययनसे उसने उन सबका समन्वय करके अपने दीने-इलाही नामक अद्भुत मतको जन्म दिया। वास्तवमें जैसा कि जर्मन विद्वान् वान नोइरका कथन है यह कोई स्वतन्त्र या पृथक् धर्म या सम्प्रदाय नहीं था वरन् 'सामाजिक एवं राजनैतिक हितोंका उत्कर्ष सम्पादन करनेके उद्देश्यसे नियोजित विवेकवान् एवं बौद्धिक मनीषियोंका सांस्कृतिक संगठन मात्र था।' अकबरके अनेक मन्त्री एवं उच्च अधिकारी इस संगठनके सदस्य थे और अपने-अपने निजी धर्मका पालन भी वे करते और कर सकते थे। अकबरने स्वयं भी इस्लामका सर्वथा परित्याग नहीं किया था। किन्तु वह उसका कुलपरम्परा धर्म ही रह गया था। वह स्वतन्त्र विचारका व्यक्ति था, जिस धर्ममें जो बात अच्छी लगती उसे ही अपना लेना। सभी धर्मों और उनके विद्वानों एवं गुरुओंका वह समान रूपसे आदर करता था। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू लोग उसके राज्य को हिन्दू राज्य ही समझने लगे और अपने धर्मों एवं आचार-विचार, त्योहार, उत्सवों आदिका स्वतन्त्रतापूर्वक पालन करने लगे। मुसलमानोंके लिए मुहम्मद नाम रखनेका निषेध करना, नवीन मसजिदें न बनवाना, पुरानी मसजिदोंकी मरम्मत भी न कराना बल्कि अनेक मसजिदोंका अस्तबल के रूपमें उपयोग करना, क़ुरानकी टीकाओं, अरबी भाषा और शरीयत आदिके अध्ययनको हतोत्साहित करना, स्वयं अपने लिए सिजदा करवाना, इस्लामके रोज़ा, नमाज़, हज आदि नियमोंका पालन न करना और इनके विपरीत जीव-हिंसा और मांस-भक्षणपर कड़े प्रतिबन्ध लगाना, गोवध बन्द करवाना, सूर्य, अग्नि और प्रकाशकी उपासना करना, हिन्दू, जैनों, पारसियों, पुर्तगाली जैसुइट पादरियों आदिकी अपने-अपने धर्मायतन बनाने और धर्मोत्सव मनानेमें प्रश्रय देना, उन सबके गुरुओंका आदर करना, अन्य धर्मवालोंको यह छूट दे देना कि वे स्वयं मुसलमानोंको भी अपने धर्म में दीक्षित कर सकें, अपने आचार-विचार वेष-भूषाको बहुत कुछ भारतीय

बना डालना, इत्यादि ऐसी बातें थीं कि कट्टर मुसलमान उसे काफ़िर कहने लगे थे, कोई उसे पारसी कहता, कोई जैन, कोई हिन्दू और कोई ईसाई। और वह सब कुछ था और कुछ भी न था।

तथापि इस विषयमें भी कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म और उसके गुरुओंका प्रभाव अकबरपर पर्याप्त पड़ा था। उसके शासन-कालके जैनों से सम्बन्धित जो निम्नोक्त तथ्य प्राप्त हैं, उनसे यह भली प्रकार स्पष्ट है। १५७९ ई० में सम्राट्-द्वारा धर्माध्यक्षका पद ग्रहण करनेकी महत्त्वपूर्ण घोषणाके तुरन्त उपरान्त राजधानी आगराके दिगम्बर जैनोंने वहाँ एक मन्दिर निर्माण किया और बड़े समारोहके साथ बिम्ब-प्रतिष्ठा महोत्सव किया। स्वयं राजधानी दिल्लीमें नन्दिसंघ और काष्ठासंघकी भट्टारकीय गद्दियाँ थीं। भटानिया कोल-निवासी अग्रवाल जैनी साहू टोडर सम्राट्की टकसालका अध्यक्ष था और स्वयं सम्राट्का कृपापात्र था। सम्राट्की सहायतासे उसने मथुराक्षेत्रके लिए एक विशाल यात्रासंघ निकाला था और मथुराके लगभग ५०० प्राचीन जैन-स्तूपोंका जीर्णोद्धार कराके समारोहपूर्वक उनकी प्रतिष्ठा की थी। इसी उपलक्ष्यमें उसने पाण्डे राजमल्लसे संस्कृत भाषामें जम्बूस्वामीचरितकी रचना भी करायी थी, इस ग्रन्थमें सम्राट्की प्रशंसा करते हुए कविने लिखा है कि 'धर्मके प्रभावसे सम्राट् अकबरने जज़िया नामक कर बन्द करके यशका उपार्जन किया, हिंसक वचन उसके मुखसे भी न निकलते थे, हिंसासे वह सदा दूर रहता था, अपने धर्मराज्यमें उसने द्यूत और मद्य-पानका भी निषेध कर दिया था क्योंकि मद्यपानसे मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह कुमार्गमें प्रवृत्ति करता है।' साहू टोडरने पाण्डे जिनदास नामक एक अन्य विद्वान्से हिन्दी भाषामें जम्बूस्वामीचरित्र लिखवाया था। उस कविने भी अकबरके सुराज्यकी और टोडर साहूके धर्मकार्योंकी प्रशंसा की है। १५९४ ई० में ग्वालियर-निवासी कवि परिमलने आगरामें रहकर अपने श्रीपालचरित्रकी रचना की थी, इस ग्रन्थमें भी सम्राट्

अकबरको प्रशंसा, उसके द्वारा गोरक्षाके कार्य और आगरा नगरकी सुन्दरताका वर्णन है। आगरेमें अनेक विद्वानोंका समागम था और विद्वद्गोष्ठी होती थी। उपरोक्त पं० राजमल्लका एक अन्य आश्रयदाता नागौर-नरेश राजा भारमल्ल था। वह श्रीपुरपट्टनसे आबू प्रदेशपर राज्य करनेवाले श्रीमाल जातीय रणकारावका पुत्र था और बड़ा धर्मात्मा था। साँभरका समस्त इलाक़ा भारमल्लके अधिकारमें था, सोने और जवाहरातका व्यापार भी उसके हाथमें था और उसकी दैनिक आय एक लाख टका (रुपया) थी। उसकी अपनी सेना थी और अपने सिक्के चलते थे। स्वयं सम्राट्के कोषमें वह प्रतिदिन पचास हज़ार टका देता था। सम्राट् उसका बहुत सम्मान करता था और स्वयं युवराज सलीम उससे भेंट करनेके लिए नागौरमें उसके दरबारमें जाया करता था। धार्मिक कार्यों और दानादिमें भी भारमल्ल लाखों रुपये खर्च करता था। कवि राजमल्लसे उसने महत्त्वपूर्ण पिंगलशास्त्रकी रचना करायी थी। दिल्ली, आगरा, मथुरा, सहजादपुर, जौनपुर, मेरठ, हथिकंत, शौरीपुर, श्रीपथ आदि अनेक नगर साम्राज्यके केन्द्रीय प्रदेशमें ही जैन-धर्मके उन्नत केन्द्र थे। दिल्ली, ग्वालियर, शौरीपुर आदि कई स्थानोंमें तो भट्टारकोय गद्दियाँ भी स्थापित थीं और इन दिगम्बर भट्टारकों एवं साधुओंका भी सम्राट् पर प्रभाव पड़ा था। जैन-जाति इस कालमें व्यापार-प्रधान हो चली थी और प्रायः सभी नगर-ग्रामोंमें उनकी छोटी-बड़ी बस्तियाँ थीं। स्वयं अबुलफ़ज़लने अपनी आइने-अकबरीमें जैनोंका वर्णन और उनकी मान्यताओंका विवेचन किया है। महाकवि बनारसीदासके अर्धकथानक नामक आत्मचरितसे भी सम्राट् अकबरकी लोकप्रियता, तत्कालीन लोकदशा आदिपर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इस कालमें अनेक जैन-विद्वानों और कवियोंने भारतीके भण्डारको, विशेष कर हिन्दी-साहित्यकी स्तुत्य अभिवृद्धि की। कर्मचन्द्रकी मृगावती चौपई, पाण्डे रूपचन्दके परमार्थी दोहाशतक, गीतपरमार्थी, पाण्डे राजमल्लके पञ्चाध्यायी, लाटीसंहिता, जम्बूस्वामी

चरित्र, अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड, पिंगलशास्त्र, भट्टारक सोमकीर्त्तिका यशोधररास, ब्रह्मरायमल्ल (१५५९ ई०) के हनुमन्तचरित्र, सीताचरित्र भविष्यदत्त चरित्र, विशालकीर्त्ति (१५६३ ई०) का रोहिणीव्रतरास, सुमतिकीर्त्ति (१५६८ ई०) का धर्मपरीक्षारास, विजयदेवसूरिका सीलरासा (१५७६ ई०), कल्याणदेव (१५८६ ई०) की देवराज बच्छराज चौपई, पाण्डे जिनदास (१५८५ ई०) का जम्बूचरित्र, ज्ञानसूर्योदय, जोगी-रासा और फुटकर पद, कवि परिमल (१५९४ ई०) का श्रीपालचरित्र, मालदेवसूरि (१५९५ ई०) की पुरन्दरकुमारचौपइ, उदयराज जतीके राजनीतिके दोहे (१६०३ ई०), विद्याहर्षसूरि (१६०४ ई०) का अंजना-सुन्दरी रास, आदि अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन अकबरके राज्यकालमें हुआ। आइने-अकबरीके निर्माणमें स्वयं अबुलफ़ज़लने जैन-विद्वानोंका सहयोग लिया था, बंगाल आदिके नरेशोंकी वंशावली उन्हींके सहयोगसे संकलित की गयी बतायी जाती है। बीकानेर-नरेशका प्रधान कर्मचन्द बच्छावत राजासे अनबन होनेके कारण सम्राट्की शरणमें आ गया था और उसने उसे अपना एक प्रतिष्ठित मन्त्री बना लिया था और उन्हें बीकानेरके मन्दिरोंमें भिजवा दिया। कर्मचन्द्रने पूर्ववर्ती सुलतानों-द्वारा अपहृत अनेक धातुमयी जिनमूर्त्तियाँ भी मुसलमानोंसे प्राप्त कीं। १५८१ ई० में सम्राट्ने जैनाचार्य हीरविजयसूरिको बुलानेके लिए गुजरातके सूबेदार शाहबख़ाँ के पास सन्देशा भेजा। सम्राट्के निमन्त्रणपर आचार्य गुजरातसे पैदल ही चलकर आगरा आये। सम्राट्ने उनका धूम-धामसे स्वागत किया और उनकी विद्वत्ता एवं उपदेशोंसे प्रभावित होकर उन्हें जगद्गुरुकी उपाधि प्रदान की। आचार्य और उनके कई शिष्य जो उनके साथ आये थे सम्राट् को निरन्तर धर्मशिक्षा देते थे। विजयसेन गणिने सम्राट्के दरबारमें 'ईश्वर कर्त्ता हर्त्ता नहीं है' विषयपर अन्य धर्मोंके विद्वानोंसे अनेक शास्त्रार्थ किये; विशेषकर भट्टनामक प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान्को पराजित करनेके उपलक्ष्यमें उन्होंने 'सवाई' उपाधि प्राप्त की। सम्राट्ने लाहौरमें भी उन्हें अपने पास

बुलाया था। यति भानुचन्द्रने सम्राट्के लिए 'सूर्यसहस्रनाम' की रचना की और इसी कारण वे 'पातशाह अकबर जलालुद्दीन सूर्यसहस्रनामाध्यापक' कहलाते थे। वे फ़ारसीके भी उद्भट विद्वान् थे और प्रसन्न होकर सम्राट्ने उन्हें 'खुशफ़हम' उपाधि प्रदान की थी। कहा जाता है कि एक बार सम्राट्को भयानक शिरःशूल हुआ, भानुचन्द्र बुलाये गये, उन्होंने कहा कि वह तो कोई वैद्य हकीम नहीं है, किन्तु सम्राट्ने कहा कि उनपर उसका विश्वास है, वह कह देंगे तो पीड़ा दूर हो जायेगी। यतिने सम्राट्के मस्तकपर हाथ रखा और उसकी पीड़ा दूर हो गयी। राज्यके उमरावोंने प्रसन्न होकर क़ुर्बानीके लिए पशु एकत्र किये किन्तु सूचना पाते ही सम्राट्ने वह क़ुर्बानी तुरन्त रुकवा दी और पशुओंको छुड़वा दिया। उसने कहा कि 'मुझे सुख हो इस खुशीमें दूसरे प्राणियोंको दुःख दिया जाय यह सर्वथा अनुचित है।' मुनि शान्तिचन्द्रका भी अकबरपर बड़ा प्रभाव था। एक वर्ष ईदके त्योहारपर वे सम्राट्के पास ही थे। ईदसे एक दिन पहले उन्होंने सम्राट्से कहा कि अब वे वहाँ नहीं ठहरेंगे क्योंकि अगले दिन ईदके उपलक्ष्यमें हजारों लाखों निरीह पशुओंका वध होनेवाला है। उन्होंने क़ुरान शरीफ़की आयतोंसे यह सिद्ध कर दिखाया कि 'क़ुर्बानीका मांस और खून ख़ुदाको नहीं पहुँचता, वह इस हिंसासे प्रसन्न नहीं होता, बल्कि परहेज़गारीसे प्रसन्न होता है, रोटी और शाक खानेसे ही रोज़े कबूल हो जाते हैं।' अन्य अनेक मुसलमान ग्रन्थोंके हवाले देकर उन्होंने सम्राट् और उसके उमरावोंके हृदयपर अपनी बातकी सचाई जमा दी, अतः सम्राट्ने घोषणा करा दी कि इस ईदपर किसी जीवका वध न किया जाय। यति जिनचन्द्र सूरिने अकबरका प्रतिबोध करनेके लिए 'अकबर प्रतिबोधरास' नामक ग्रन्थ लिखा था। जिनचन्द्रको सम्राट्ने युग-प्रधानकी उपाधि दी थी। मुनि पद्मसुन्दर भी सम्राट्से सम्मानित हुए थे और उन्होंने 'अकबरशाही शृंगारदर्पण' ग्रन्थकी रचना की थी। कहा जाता है कि एक बार शाहज़ादे सलीमके घर मूल नक्षत्रके

प्रथम पादमें कन्या-जन्म हुआ। ज्योतिषियोंने कन्याके ग्रह उसके पिताके लिए अनिष्टकारक बताये और उसका मुख देखनेका भी निषेध किया। सम्राट्ने अबुलफ़ज़ल आदि विद्वान् अमात्योंके साथ परामर्श करके मन्त्री कर्मचन्द बच्छावतको जैनधर्मानुसार ग्रहशान्तिका उपाय करनेका आदेश दिया। मन्त्रीने चैत्र शुक्ला पूर्णिमाके दिन स्वर्णरजत कलशोंसे तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथकी प्रतिमाका समारोहपूर्वक अभिषेक किया। पूजनकी समाप्ति पर मंगलदीप और आरतीके समय सम्राट् अपने पुत्रों और दरबारियोंके साथ वहाँ आया, उसने अभिषेकका गन्धोदक विनयपूर्वक अपने मस्तकपर चढ़ाया और अन्तःपुरमें बेगमोंके लिए भी भेजा तथा उक्त जिन-मन्दिरको दस सहस्र मुद्राएँ भेंट कीं। सम्राट्ने गुजरात प्रान्तके गिरनार, शत्रुञ्जय आदि जैनतीर्थोंकी रक्षाके लिए अहमदाबादके सूबेदार आज़मख़ाँको फ़रमान भेजा था कि मेरे राज्यमें जैनतीर्थों, जैनमन्दिरों और मूर्त्तियोंको कोई भी व्यक्ति किसी प्रकारकी क्षति न पहुँचा सके और यह कि इस आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला भीषण दण्डका भागी होगा। उसी कालके मेड़ता दुर्गके जैन-मन्दिरोंके शिलालेखोंमें लिखा है कि अकबर जैन-मुनियोंको युगप्रधान पद दिये, प्रतिवर्ष आषाढ़की अष्टाह्निकामें अमारि (जीवहिंसानिषेध) घोषणा की, प्रतिवर्ष सब मिलाकर छह मास पर्यन्त समस्त राज्यमें हिंसा बन्द करायी, खम्भातकी खाड़ीमें मछलियोंका शिकार बन्द करवाया, शत्रुञ्जय आदि तीर्थोंका करमोचन किया, सर्वत्र गोरक्षा प्रचार किया, आदि।' १६०४ ई० में अपने ग्रन्थमें विद्याहर्ष सूरिने भी लिखा है कि विजयसेन आदि जैनगुरुओंके प्रभावसे अकबरने गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि पशुओंकी हिंसाका निषेध कर दिया था, पुराने क़ैदियोंको मुक्त कर दिया था, जैनगुरुओं के प्रति भक्ति प्रदर्शित की थी, दान-पुण्यके कार्योंमें वह सदा अग्रसर रहता था, इत्यादि। १५९५ ई० में पुर्तगाली जैसुइट पादरी पिन्हेरोने अपने प्रत्यक्ष अनुभवके बलपर अपने बादशाहके नाम पत्रमें लिखा था कि

'अकबर जैनधर्मका अनुयायी हो गया है, वह जैन-नियमोंका पालन करता है, जैनविधिसे आत्मचिन्तन एवं आत्माराधनमें बहुधा लीन रहता है, मद्य, मांस और द्यूतके निषेधकी उसने आज्ञा प्रचारित कर दी है।' पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी, तीन अष्टाह्निका, दशलक्षणी आदि जैनपर्वों, अपने जन्मदिन, राज्याभिषेकदिन, रविवार तथा अन्य कई दिनोंपर, जो सब मिलकर वर्षके आधेके लगभग हो जाते हैं, अकबरने जीवहिंसाका निषेध किया था और इन आज्ञाओंके उल्लंघन करनेवालोंको भारी दण्ड दिया जाता था। आइने अकबरीमें अकबरकी अपनी उक्तियाँ उसकी मनोवृत्ति की परिचायक हैं। वह कहा करता था कि 'यह उचित नहीं है कि मनुष्य अपने उदरको पशुओंकी क़ब्र बनावे। मांसके अतिरिक्त बाजपक्षीके लिए कोई अन्य भोजन न होनेपर भी उसे मांसभक्षणका दण्ड अल्पायुके रूपमें मिलता है, तब मनुष्योंको जिनका स्वाभाविक भोजन मांस नहीं है इस अपराधका क्या दण्ड मिलेगा? कसाई, बहेलिये आदि जीवहिंसा करने वाले जब नगरसे बाहर रहते हैं तो मांसाहारियोंको नगरके भीतर रहने का क्या अधिकार है? मेरे लिए यह कितने सुखकी बात होती कि यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता कि सब मांसाहारी केवल उसे ही खाकर सन्तुष्ट हो जाते और अन्य जीवोंकी हिंसा न करते। जीवहिंसाको रोकना अत्यन्त आवश्यक है इसीलिए मैंने स्वयं मांस खाना छोड़ दिया।' स्त्रियों के सम्बन्धमें वह कहा करता था 'यदि युवा अवस्थामें भी मेरी चित्तवृत्ति अब-जैसी होती तो कदाचित् मैं विवाह ही न करता। किससे विवाह करता? जो आयुमें बड़ी हैं वे मेरी माताके समान हैं, जो छोटी हैं वे पुत्रीके तुल्य हैं और जो समवयस्का हैं उन्हें मैं अपनी बहिनें मानता हूँ।' वस्तुतः जीवहिंसा अकबरको प्रिय न थी। वह अधिकतर मांस नहीं खाया करता था और गोमांस तो छूता भी न था। उसके मतसे गोमांस अखाद्य पदार्थ था। वर्षके कुछ निश्चित दिनोंमें पशु-पक्षियोंकी हिंसाको अकबरने मृत्यु-दण्डका अपराध बना दिया था। विन्सेण्ट स्मिथके अनुसार

अकबरका लगभग पूर्ण रूपसे मांसाहार-त्याग और अशोकके समान क्षुद्रातिक्षुद्र जीवहिंसा-निषेधके लिए कड़ी आज्ञाओंका जारी करना अपने जैनगुरुओंके सिद्धान्तोंके अनुसार आचरण करनेके ही परिणाम थे। हिंसकोंको कड़ी सज़ा देना भी प्राचीन जैन और बौद्ध सम्राटों-के अनुसार ही था। इन आज्ञाओंसे उसकी प्रजाके बहुत-से लोगोंको, विशेषकर मुसलमानोंको बड़ा कष्ट हुआ होगा।...जैन-धर्मसे प्रभावित होकर ही अपने अन्तिम जीवनमें अकबरने मांसाहारका सर्वथा त्याग कर दिया था।...इसमें सन्देह नहीं कि वर्षों पर्यन्त जैनगुरुओंने अकबरको घण्टों उपदेश दिये जिनका उसके जीवनपर अत्यन्त प्रभाव पड़ा और उन्होंने सम्राट्को अपने सिद्धान्तोंके प्रति इतना अधिक सहमत कर लिया था कि यह प्रसिद्ध हो गया कि 'अकबरने जैन-धर्म धारण कर लिया है।' प्रो० रामास्वामी आयंगर आदि अन्य अनेक इतिहासकारोंके अनुसार भी अकबर जैन-धर्मपर बड़ी श्रद्धा रखता था। 'अकबर और जैन-धर्म', 'सूरीश्वर और सम्राट्', 'अकबरके जैन-गुरु' आदि पुस्तकें भी इसी तथ्यका समर्थन करती हैं। फ़तहपुर सीकरीके भवनोंमें सम्राट्ने अपने जैन-गुरुओंके बैठनेके लिए एक विशिष्ट तथा जैन-कलापूर्ण सुन्दर छत्री बनवायी थी जो 'ज्यो-तिषीकी बैठक' कहलाती है। 'मुग़ल-साम्राज्यके पतनके कारण' नामक पुस्तकमें श्रीइन्द्र विद्यावाचस्पतिका कथन है कि अकबरके अहिंसा धर्मका पालन करनेके कारण ही मुल्ला-मौलवी उससे असन्तुष्ट हो गये थे और उन्हींकी प्रेरणा एवं सहयोगसे सलीमने विद्रोह किया था। उस विद्रोहमें सलीमको सफलता भी ऐसे ही मुसलमानोंके सहयोगसे मिली जो अकबरकी दयालुताके कारण उससे असन्तुष्ट थे।

सम्राट्के अन्तिम वर्ष दुःखमें बीते। १६००-१६०४ ई० तक उसका ज्येष्ठ पुत्र सलीम विद्रोही बना रहा किन्तु १६०४ ई० में पिता-पुत्रमें सुलह हो गयी। इस बीचमें अकबरके अन्य पुत्रों—राजकुमार मुराद और दानियालकी मृत्यु हो चुकी थी। १६०२ ई० में सलीमके षड्यन्त्रसे वीर

सिंह बुन्देलेने सम्राट्के परम प्रिय मित्र एवं अत्यन्त विश्वासपात्र अमात्य अबुलफ़ज़लका वध करा दिया। किन्तु सलीम पितासे डरता भी था, उसे यह भी भय हुआ कि कहीं उसके पुत्र खुसरूको ही उत्तराधिकारी न बना दिया जाये। अतः १६०४ ई० में सलीमने आत्म-समर्पण कर दिया। निकट आनेपर वृद्ध सम्राट्ने पुत्रको अपने हाथसे चपतियाया और एक कमरेमें बन्द कर दिया, किन्तु अन्तमें क्षमा कर दिया और मरते समय उसे ही अपना उत्तराधिकारी सूचित किया। इस प्रकार १७ अक्तूबर सन् १६०५ ई० को ६३ वर्षकी आयुमें भारतका यह महान् मुग़ल सम्राट् पातशाह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर इस संसारसे कूच कर गया। अकबर महान् न केवल अपने कालका ही अथवा केवल भारतवर्षका ही वरन् सम्पूर्ण विश्वके सर्वमहान् ऐतिहासिक सम्राटोंमें परिगणित हुआ।

४. जहाँगीर (१६०५-१६२७ ई०)—सम्राट् अकबरकी मृत्यु होते ही साम्राज्य-भरमें त्राहि-त्राहि मच गयी थी। कवि बनारसीदास-जैसे अनेक सहृदय प्रजा-जन उसकी मृत्युसे दुखी हुए। कवि उस समय जौनपुरमें थे। अपने आत्म-चरितमें उन्होंने लिखा है कि 'सारे नगरमें शोर और भगदड़ मच गयी। लोगोंने अपनी-अपनी दूकानें बन्द कर दीं और घरोंके किवाड़ बन्द कर लिये, अच्छे-अच्छे वस्त्र, आभूषण और नक़द रुपया-पैसा भूमिमें गाड़ दिया, घर-घरमें हथियार खरीदे गये, सब लोगोंने मोटे मामूली कपड़े पहिन लिये, धनी-निर्धन ऊँच-नीचमें कोई भेद ही नहीं दीख पड़ता था, सब ही आतंकित एवं आशंकित थे।' किन्तु पिताकी मृत्युके एक सप्ताह पश्चात् ही नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर पातशाहका शान्तिपूर्वक सिंहासनारोहण हुआ। उत्तराधिकारके प्रश्नपर किसी प्रकार का कोई झगड़ा या मतभेद न हुआ। राज्याभिषेकके अवसरपर सम्राट् जहाँगीरने प्रजाके आश्वासन और अपनी उदारता-प्रदर्शनके लिए द्वादश-सूत्री घोषणा की जिसके अनुसार भूमि-करके अतिरिक्त अन्य समस्त कर माफ़ कर दिये गये। केन्द्र-द्वारा शासित समस्त खालसा क्षेत्रकी सड़कोंके

किनारे तथा निर्जन स्थानोंमें सराय और मसजिदें बनवाने, कुँए खुदवाने और लोगोंको बसानेका आदेश दिया गया। आदेश हुआ कि किसी यात्री का सौदागरी या अन्य माल उसकी बिना अनुमतिके न खोला जाये, यदि उसकी मृत्यु हो गयी हो तो उसकी सम्पत्ति चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान उसके क़ानूनी वारिसोंके सुपुर्द कर दी जाये किन्तु यदि कोई वारिस न हो तो राज्य-द्वारा इस कार्यके लिए नियुक्त कर्मचारी उस सम्पत्तिको अपने अधिकारमें लेकर उसका उपयोग सराय, तालाब आदिके निर्माण एवं अन्य लोकहितके कार्योंमें करें। मद्यपानका निषेध किया गया। अंग-भंग जैसे क्रूर अमानुषिक दण्ड बन्द किये गये। राज्य-कर्मचारियों और जागीरदारोंको प्रजाकी भूमिको बलात् अपहरण करनेका निषेध किया गया। राज्यके पदाधिकारियोंको राजाज्ञा बिना अपने-अपने शासित प्रदेशके प्रजाजनोंके साथ विवाह-सम्बन्ध करनेकी मनाही की गयी। जिन जागीरदारों की जो जागीरें पहलेसे चली आ रही थीं उन्हे स्वीकृत किया गया। धर्मात्मा लोगोंको जो जागीरें दानमें दी गयी थीं उन्हें भी स्वीकार किया गया। प्रमुख नगरोंमे अस्पताल खुलवानेका आदेश दिया गया। सब बन्दियोंको मुक्त किया गया, और सप्ताहके विशिष्ट दिनोंमे पशुवध बन्द किया गया। इस सम्बन्धमें उसने कहा कि 'मेरे जन्म-मासमें सारे राज्यमे मांसाहार निषिद्ध रहेगा, सप्ताहमें एक-एक दिन इस प्रकारके रहेंगे जिनमे सभी प्रकारकी पशु-हत्याका निषेध है, मेरे राज्याभिषेकके दिन गुरुवारको और रविवारको भी कोई मांसाहार न करेगा क्योंकि उस दिन संसारका सृष्टि-सृजन सम्पूर्ण हुआ था अतः उस दिन किसी भी जन्तुका प्राणघात करना अन्याय है, मेरे पूज्य पिताने ग्यारह वर्षोंसे अधिक समय तक इन नियमोंका पालन किया है, रविवारको तो वह कभी भी मांसाहार नहीं करते थे अतः मैं भी अपने राज्यमें उपरोक्त दिनोंमे जीव-हिंसाकी निषेधात्मक उद्घोषणा करता हूँ।' अपनी इन प्रारम्भिक घोषणाओंका जहाँगीरने अपने आत्मचरित्र 'तुज़ुके जहाँगीरी'में सोल्लास

वर्णन किया है। इनके द्वारा उसने प्रजाको यह आश्वासन दिया कि वह अपने पिताकी ही उदार नीतिका तथा उसके नैतिक सिद्धान्तोंका अनुसरण करेगा। यों तो प्रायः प्रत्येक नरेश अपने राज्याभिषेकके अवसरपर इस प्रकारकी कुछ घोषणाएँ किया ही करता था तथापि जहाँगीरकी घोषणाओं में उसके व्यक्तित्व और संस्कारोंकी छाप प्रत्यक्षतः लक्षित होती है। वस्तुतः उसने अकबरकी ही राजनीति, शासन-व्यवस्था और अन्य अनेक व्यावहारिक एवं नैतिक परम्पराओंको अक्षुण्ण रखा। राज्यके पदाधिकारी और कर्मचारी भी सभी प्रायः पुराने ही चलते रहे, जिनकी मृत्यु हो जाती या पदच्युत कर दिये जाते उनके स्थानमें ही नवीन नियुक्ति होती थी। इस प्रकार शासनयन्त्रमें प्रायः कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अपने आपको न्यायपरायण सिद्ध करनेका उसे बड़ा चाव था, इसी उद्देश्यसे सोनेकी एक ज़ंजीरसे बँधा घंटा उसने अपने महलकी खिड़कीसे लटकवा दिया था।

अबतक मुग़ल-नरेशोंमें जहाँगीर ही ऐसा था जो अपने माता-पिताको अनेक मनौतियाँ मानने और पीरोंकी पूजा करनेसे प्राप्त हुआ था और जिसका लालन-पालन जन्मसे ही अपार वैभवके बीच हुआ था। उसकी शिक्षा-दीक्षा भी विविध एवं उच्चकोटिकी हुई थी। ब्राह्मण पण्डित, विद्वान् जैनगुरु, जैसुइट पादरी, सूफ़ी कवि और मुसलमान मौलवी उसके शिक्षक रहे थे। वह मेधावी, प्रतिभाशाली, बुद्धिमान्, दूरदर्शी, भावुक, कलामर्मज्ञ और विद्यारसिक था। उसका आत्म-चरित ही उसके अतुल ज्ञान और विद्वत्ताका परिचायक है। अपने जातीय स्वभावके अनुसार कभी-कभी वह क्रोधमें अन्धा एवं अत्यन्त क्रूर भी हो उठता था, किन्तु साथ ही बड़ा नरमदिल और दयालु भी था और पशु-पक्षियों तकसे बड़ा प्रेम करता था, दर्शनशास्त्रसे भी उसे बड़ा प्रेम था, जिनसिंहसूरि आदि जैनगुरुओं और जयरूप नामक ब्राह्मण योगीके साथ वह घण्टों दार्शनिक विवेचन करता था। जिनसिंहसूरि सम्राट् अकबरसे सम्मान प्राप्त जिनचन्द्रसूरिके

शिष्य थे। जहाँगीरने उन्हें युगप्रधानकी उपाधि प्रदान की थी। अपने पिताकी भाँति ही वह स्वतन्त्र विचारोंका व्यक्ति था और इस्लाम उसका कुलपरम्परा धर्ममात्र था, बहुधा मुल्ला-मौलवियोंकी उपस्थितिमें ही अपने दरबारमें वह ब्राह्मण, जैन, ईसाई आदि विद्वानोंसे इस्लाम-धर्म, क़ुरान-शरीफ और पैगम्बर मुहम्मदकी कटु आलोचना सुनता और जब इसपर मुल्ला-मौलवी लोग क्षुब्ध हो जाते तो उनका उपहास करता। तथापि अकबरकी धर्म-सहिष्णुताकी नीतिकी एक प्रकारकी प्रतिक्रिया उसके समयमें शुरू हो गयी थी। इस्लाम-धर्म और मुसलमानोंका वह अकबरसे अधिक पक्ष लेता था। देश-विजयके सिलसिलेमें उसने कुछ मन्दिरों और मूर्तियोंको भी तोड़ा। रजौरी नामक स्थानमें हिन्दुओंने बहुत-सी मुसलमान कन्याओंको हिन्दू बनाकर ब्याहा था, यह समाचार ज्ञात होनेपर जहाँगीर ने आज्ञा निकाल दी कि यदि कोई भविष्यमें ऐसा करेगा तो उसे भारी दण्ड दिया जायेगा। जो हिन्दू आदि इस्लाममें दीक्षित होते उन्हें वह वज़ीफ़ा भी देता था। तथापि अँग्रेज़दूत जोन हाकिन्सको उसने एक मुसलमान रमणीके साथ विवाह करनेकी और उसे ईसाई बनानेकी अनुमति दे दी थी। उसके समयमें अनेक नवीन हिन्दू एवं जैन-मन्दिरोंका निर्माण हुआ। केवल बनारस नगरमें ही उसके राज्यके अन्तिम वर्षोंमें सत्तर नवीन मन्दिर बने थे। हिन्दू, जैन आदिकोंको अपने धर्मोत्सव आदि मनानेकी भी पूर्ण स्वतन्त्रता थी। होली, दिवाली आदि त्योहारोंमें भी वह भाग लेता था। हिन्दू जैन आदिको अपने तीर्थोंकी यात्राएँ करनेकी भी पूरी स्वाधीनता थी। गुजरात आदि प्रान्तोंके जैनियोंने उसके प्रान्तीय शासकोंसे हिंसा-निषेधक कई फ़रमान भी जारी कराये थे। किन्तु बीकानेरके एक जैनयति मानसिंह ने विद्रोही राजकुमार खुसरूका पक्ष लिया था, उसीके परामर्शसे बीकानेरका राजा रायसिंह भी जहाँगीरका विरोधी हो गया था और दिल्ली छोड़कर बीकानेर चला गया था। साथमें रायसिंह अकबरके मन्त्री और अपने पुराने शत्रु कर्मचन्द बच्छावतके दोनों पुत्रोंको भी फुसलाकर बीकानेर लिवा

ले गया था और वहाँ जब वे निश्शंक होकर अपनी हवेलीमें रहने लगे तो रायसिंहने ससैन्य हवेलीको घेर लिया। बच्छावत वीर वीरताके साथ लड़ते-लड़ते कट मरे और उनकी स्त्रियोंने जौहर किया। बच्छावत मुग़ल सम्राट्के आश्रित थे। इन्हीं सब कारणोंसे जहाँगीर यति-मानसिंह और राजा रायसिंहसे अत्यन्त रुष्ट हो गया। मानसिंहके सम्प्रदायके व्यक्तियोंको उसने अपने राज्यसे भी निर्वासित कर दिया। कालान्तरमें रायसिंहको उसने क्षमा कर दिया था। जैनोंके एक बहुत छोटे-से वर्गपर किये गये जहाँगीरके ये अत्याचार राजनैतिक कारणोंसे हुए थे। वैसे जैनोंके साथ वह उतना ही उदार और सहिष्णु था जैसा कि अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ। उसकी धार्मिक नीति अकबर-जैसी उदार न होते हुए भी अनुदार न थी। उस कालके जैन कवियों और साहित्यकारोंमें भविष्यदत्तचरित्र (१६०६ ई०), भक्तामरकथा और सीताचरित्र (१६१० ई०) के कर्त्ता ब्रह्मचारी-रायमल्ल, भविष्यदत्तचरित्र (१६०१ ई०) के कर्त्ता माखनपुर-खतौली निवासी पं० बनवारीलाल, सुदर्शनचरित्र (१६०६ ई०) एवं यशोधरचरित्रके कर्त्ता आगरा निवासी कवि नन्द, पञ्चमीव्रतकथा (१६०९ ई०) के कर्त्ता उज्जैन निवासी कवि विष्णु, भगवतीगीता (१६१२ ई०) के कर्त्ता विद्याकमल, रावण-मन्दोदरीसंवाद (१६१८ ई०) के रचयिता मुनिलावण्य, कृपणचरित्र (१६१४ ई०) के कर्त्ता कवि ब्रह्मगुलाल, ढालसागर (१६१५ ई०) के कर्त्ता गुणसागर, जीवन्धररास (१६१९ ई०) के कर्त्ता त्रिभुवनकीर्त्ति, रविव्रतकथा (१६२१ ई०) के कर्त्ता भानुकीर्त्ति मुनि, सुन्दर सतसई और सुन्दरविलासके कर्त्ता कवि सुन्दरदास (१६२३ ई०), मृगांकलेखाचरित्र, टण्डाणारास, चुनड़ी, ढमाल आदि लगभग बीस-इक्कीस रचनाओंके कर्त्ता पं० भगवतीदास आदि उल्लेखनीय हैं। उपर्युल्लिखित कवि नन्दने अपने ग्रन्थमें आगरा नगरकी सुन्दरता, 'नृपति नूरदी शाहि' (जहाँगीर) के चरित्र एवं प्रताप और उसके सुख-शान्तिपूर्ण

राज्यमें होनेवाले धर्म-कार्योंका सुन्दर वर्णन किया है। उस समय आगरेमें हीरानन्द मुकीम जो सुप्रसिद्ध जगत्-सेठका पूर्वज था। राजधानीका प्रतिष्ठित रईस था तथा शाहज़ादा सलीमका कृपापात्र और निजी जौहरी था। १६१० ई० में जहाँगीरके बादशाह हो जानेके पश्चात् उसने उसे अपने घर आमन्त्रित किया और भेंट दी थी। उस अवसरका रोचक वर्णन भी कवि नन्दने किया है। महाकवि बनारसीदास और उनकी विद्वद्-गोष्ठी जहाँगीरके शासनकालमें आगरेमें जम रही थी और कवि अपनी उदार काव्यधारा-द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकताको प्रोत्साहन दे रहे थे तथा अध्यात्म-रस प्रवाहित कर रहे थे। इनके अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदासजीका सर्व-प्रसिद्ध रामचरित-मानस भी सम्भवतया जहाँगीरके राज्यकालमें ही पूर्ण हुआ, १६२३ई० में महाकवि तुलसीकी मृत्यु हुई थी। ब्रजभूमिमें वल्लभाचार्य और गोस्वामी विट्ठलदासकी परम्पराके कृष्णभक्त कवि ब्रजभारतीका स्रोत प्रवाहित कर रहे थे। स्वयं जहाँगीर फ़ारसी साहित्यका अधिक प्रेमी था। उसकी अपनी तुज़ुक जहाँगीरीके अतिरिक्त फरहंग जहाँगीरी नामका महत्त्वपूर्ण कोष ग्रन्थ भी उसने निर्माण कराया था, और फ़ारसी भाषामें कई इतिहास-ग्रन्थ भी रचे गये। सम्राट् सङ्गीत-कलाका भी प्रेमी था और चित्र-कलामें तो बहुत अभिरुचि रखता था। ईसाई धर्मके यूरोपियन चित्रोंका भी वह संग्रह करता था और अपनी भारतीय मुग़ल-कलाको भी उसने भारी प्रोत्साहन दिया था। अबुलहसन और उस्ताद मसूर उसके दरबारके सर्व-प्रमुख एवं सिद्धहस्त चित्रकार थे। स्थापत्यकलामें उसकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ सिकन्दरेमें अकबरका मक़बरा, जिसकी निर्माण-योजना उसने स्वयं बनवायी थी, आगरेमें अपने ससुर एतमादुद्दौलाका मक़बरा और लाहौरमें स्वयं अपना मक़बरा हैं। मालवेकी राजधानी माण्डूमें जब उसे कुछ दिन ठहरना पड़ा तो वहाँके अनेक प्रासादोंका उसने जीर्णोद्धार कराया था। काश्मीरसे उसे बड़ा प्रेम था और वह उद्यानोंका शौक़ीन था। आगरा, लाहौर, श्रीनगर आदिमें उसके

द्वारा लगवाये हुए बाग सुप्रसिद्ध हैं।

उपरोक्त सब गुणों, प्रवृत्तियों एवं कार्य-कलापोंके बावजूद जहाँगीर महा आलसी, विलासी और निर्द्वन्द्व था। मद्यपानकी आदत उसकी बढ़ती चली गयी। दूसरोंके ऊपर राज्य-कार्य छोड़कर स्वयं आनन्द और ऐशमें समय बिताना उसे पसन्द था। उसके नवीन सलाहकार एवं अमात्य भी पहले-जैसे प्रजा एवं राज्य-हितैषी और उदार एवं दूरदर्शी न थे। अन्तर्-कलह, षड्यन्त्र, विद्रोह, कूटनीतिक चालें और स्वार्थपरता उनमें बढ़ने लगी। वह तो अकबरने साम्राज्यकी नींव कुछ ऐसी सुदृढ़ जमा दी थी कि इन बातोंसे उसकी विशेष क्षति नहीं हुई। साम्राज्य अक्षुण्ण बना रहा इसका कोई विशेष श्रेय जहाँगीरको नहीं है। इतिहासकारोंने उसे विरोधी तत्त्वोंका मिश्रण और मुगल सम्राटोंमें सर्वाधिक बुद्धिमान् मूर्ख प्रतिपादित किया है।

सिंहासनपर बैठनेके अगले ही वर्ष (१६०६ ई०) उसके पुत्र राज-कुमार खुसरूने विद्रोह कर दिया। अकबरके जीवनमें ही सलीमके विद्रोहके कारण खुसरूको राज्य प्राप्त करनेकी आशा हो गयी थी किन्तु उसके प्रधान सहायक उसके ससुर अजीज कोका और मामा मानसिंह उस समय अकबरके प्रतापसे चुप रह गये और जहाँगीरको उन्होंने बादशाह हो जाने दिया। अब खुसरूने स्वयं कुछ साथी और द्रव्य इकट्ठा करके पंजाबकी ओर कूच कर दिया और अपने पिताके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जहाँगीरने बड़ी तत्परतासे तुरन्त स्वयं जाकर विद्रोहका दमन किया, खुसरूको बन्दी किया तथा उसके साथियोंका निर्दयताके साथ संहार किया। सिक्खोंके गुरु अर्जुनसिंहने खुसरूकी सहायता की थी अतः उन्हें भी यन्त्रणा देकर मार डाला, एक श्वेताम्बर जैन यति मानसिंह भी उसका समर्थक था अतः उसके साथियों और अनुयायियोंको राज्यसे निर्वासित कर दिया गया। एक वर्ष बाद फिर खुसरूके सम्बन्धमें एक षड्यन्त्रका सन्देह हुआ अतः राजकुमारको अन्धा कर दिया गया और राजा अनीरायकी सुपुर्दगीमें

जीवन-भरके लिए नजरकैद रखा गया। १६१६ ई० मे उसे उसके शत्रु आसफ़खाँके सुपुर्द कर दिया गया जिसने उसे शाहज़ादे खुर्रमको १६२० ई० में सौंप दिया और खुर्रमने १६२२ ई० मे दक्षिणमे ले जाकर अपने इस अभागे बडे भाईकी गुप्त रूपसे हत्या करवा दी। राजकुमार खुसरू सुशिक्षित, सुसंस्कृत, उदार, कोमल हृदय और बड़ा सच्चरित्र था। सभी छोटे-बडे उसे चाहते थे। लोकने उसकी मृत्युको एक सन्तका बलिदान माना।

१६०७ ई० मे बंगालके एक विद्रोही सरदार शेर अफ़गनका दमन करनेके लिए जहाँगीरने अपने सम्बन्धी कुतुबुद्दीन कोकाको भेजा, किन्तु उस प्रयत्नमें कोका और शेर अफ़गन दोनों ही मारे गये। शेर अफ़गनकी सुन्दरी पत्नी मेहरुन्निसा और उसकी पुत्रीको बन्दी करके आगरे लाया गया और शाही अन्तःपुरमे रख दिया गया। मेहरको देखते ही जहाँगीर उसपर मोहित हो गया, किन्तु चार वर्ष तक वह उसका निवारण करती रही, अन्ततः १६११ ई० मे मेहरुन्निसाने सम्राट्से विवाह कर लिया और वह मलिका नूरजहाँके नामसे इतिहासमें प्रसिद्ध हुई। नूरजहाँ अत्यन्त सुन्दरी ही नहीं थी वरन् अत्यन्त बुद्धिमती, सुशिक्षित, राजनीति-पटु एवं कार्य-कुशल भी थी। गुलाबके इत्रके आविष्कार, मलमलपर चिकनके बारीक काम आदिका श्रेय उसे दिया जाता है। धीरे-धीरे समस्त राज्यकार्य उसने अपने हाथमें ले लिया और जहाँगीर अधिकतर विलासमे ही डूबा रहने लगा। अपने पहले पतिसे उत्पन्न कन्याको उसने जहाँगीरके पुत्र शहरयारके साथ विवाह दिया। नूरजहाँका बाप गयासबेग दरिद्रावस्थामे मध्य-एशियासे आया था, अकबरने उसे शरण दी थी और एक ऊँचे पदपर नियुक्त कर दिया था। अब वह एतमादुद्दौलाके नामसे सम्राट्का प्रधान मन्त्री हुआ। उसकी मृत्युके उपरान्त उसका पुत्र और नूरजहाँका भाई आसफखाँ प्रधान मन्त्री हुआ। आसफ़खाँकी पुत्री मुमताज महल राजकुमार खुर्रमके साथ विवाही थी। अतः जहाँगीरके शासनकालके

उत्तरार्धमें नूरजहाँ, आसफ़खाँ और खुर्रम (शाहजहाँ) का संयुक्त दल ही सर्वे-सर्वा था। नूरजहाँ महलमें अपना दरबार भी करती थी और सिक्कों पर भी उसका नाम अंकित होने लगा था। १६११ से १६२२ ई० तक वस्तुतः नूरजहाँकी ही अमलदारी रही।

प्रारम्भमें जहाँगीर ईसाइयों और उनके जेसुइट पादरियोंसे रुष्ट हो गया था किन्तु थोड़े समय पश्चात् ही उसने फिर उनपर कृपा दिखलानी शुरू कर दी। उनके धार्मिक चित्रोंको उसने अपने आस-पास टँगवाया और बहुधा देर तक उनसे वार्तालाप भी करता था। सम्भवतया इसमें उसका राजनीतिक उद्देश्य था। वह पश्चिमी तटके पुर्तगालियोंसे मैत्री बनाये रखना चाहता था, इसीलिए १६०८ ई० में उसने अपना एक राजदूत गोआ भेजा। किन्तु उस दूतके पुर्तगाली गवर्नरसे भेंट होनेके पूर्व ही इंग्लिस्तानके राजा जेम्स प्रथमका राजदूत सर जॉन हाकिन्स जहाँगीरके दरबारमें आ पहुँचा, उसने २५००० स्वर्ण-मुद्राएँ सम्राट्को भेंट दी और अपने देश-वासियोंके लिए भारतवर्षमें व्यापारिक सुविधाओंकी याचना की। सम्राट्ने उसके साथ बड़ी सज्जनताका व्यवहार किया किन्तु उसका दूतकार्य सफल न हुआ जिसका प्रधान कारण पुर्तगालियोंका तीव्र विरोध था। हाकिन्स १६०९–११ ई० तक दो वर्ष यहाँ रहा। उसके विवरण महत्त्वपूर्ण हैं। तदुपरान्त अँग्रेजों और पुर्तगालियोंमें भारतीय सागरमें युद्ध हुआ। पुर्तगालियोंने सम्राट्के भी चार जलपोतोंका अपहरण कर लिया इसपर सम्राट् उनसे रुष्ट हो गया और उसने उन्हें दण्ड दिया। ऐसी स्थितिमें जब अँग्रेजोंका दूसरा दूत सर टामस रो (१६१५–१८ ई०) मुग़ल दरबार में आया तो वह आसफ़खाँ आदि मन्त्रियोंको कुछ घूस आदि देकर अपने देशके लिए व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करनेमें सहज ही सफल हो गया। टामस रोके अपने वृत्तान्त और उससे भी अधिक उसके सेवक टैरीके लेख जहाँगीरके इतिहास और उसके दरबार एवं दरबारियों आदिके रोचक चित्रण के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। राजकुमार खुसरूके भी व्यक्तित्व एवं चरित्रकी

इन अँग्रेज़ोंने बड़ी सराहना की है।

१६१२ ई० में बंगालके विद्रोही सरदार उस्मानखाँका दमन किया गया और दक्षिणमें अहमदनगरपर आक्रमण किया गया किन्तु उस राज्यके सुयोग्य हब्शी प्रधान मलिक अम्बरके कारण विशेष सफलता नहीं मिली। मेवाड़के विरुद्ध भी प्रारम्भसे ही युद्ध चल रहा था। राणा अमरसिंह अपने पिता वीर प्रताप-जैसा दृढ़प्रतिज्ञ एवं चारित्रवान् नहीं था। वह कुछ आलसी और विलासी था। राज्यकार्य भी कम ही देखता था। भामाशाह का पुत्र जीवाशाह उसका प्रधान था। चूड़ावत आदि सामन्त सरदारोंके उत्तेजित करनेसे ही राणा अबतक मुग़लोंके विरुद्ध युद्ध करता रहा था किन्तु अब उसकी और उसके राज्यकी शक्ति घटती जा रही थी। अत एव १६१४ ई० में शाहज़ादे खुर्रमकी शक्ति, वीरता और कूट-नीतिने राणाको अधीनता स्वीकार करनेपर विवश कर दिया, किन्तु स्वयं सम्राट्के दरबारमें उपस्थित होने, अपने वंशकी किसी कन्याको मुग़लोंको देने, एवं राज्य कर देनेसे उसने सर्वथा इनकार कर दिया। जहाँगीर राणाके पराधीनता स्वीकार कर लेनेसे ही अत्यन्त प्रसन्न था। उसने उसकी सब शर्तें स्वीकार कर लीं। खुर्रमके साथ युवराज कर्णसिंह अपने मन्त्री जीवाशाह सहित अजमेरमें सम्राट्के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने उसका बड़े प्रेम और आदरके साथ स्वागत किया। कर्णसिंहको पाँच हजारी मनसब प्रदान किया गया। खुर्रम तो युवराजका गाढ़ा मित्र ही हो गया था। जहाँगीरने अमरसिंह और कर्णसिंहकी श्वेतमर्मरकी मूर्त्तियाँ निर्माण कराकर राजधानीमें स्थापित करायीं। तदुपरान्त औरंगजेबके काल तक उदयपुरके राणा मुग़लोंके मित्र बने रहे। कर्णसिंहका दीवान जीवाशाह ही रहा और उसके पश्चात् उसका पुत्र अक्षयराज रहा जो राणा जगतसिंहके समय तक दीवान बना रहा।

१६१६ ई० में आगरेमें प्लेग नामक महामारी फैली। कवि बनारसी-

दासने अपने आत्मचरितमें इस भीषण महामारीका आँखों देखा सजीव वर्णन दिया है। भारतवर्षमें चूहोंसे फैलनेवाले इस रोगका यही सर्व-प्रथम प्रकोप था। तीन-चार वर्ष तक उत्तर भारतमें प्लेगका यह प्रकोप रहा। इसी वर्ष राजकुमार खुर्रमने निज़ामशाहीकी राजधानी अहमदनगरपर अधिकार कर लिया। सम्राट्ने प्रसन्न होकर उसे शाहजहाँकी उपाधि और तीस हज़ारी मनसब दिया। १६२० ई० में काँगड़ाके प्रसिद्ध एवं सुदृढ़ दुर्गपर जहाँगीरका अधिकार हुआ। इस महत्त्वपूर्ण सफलताके उपलक्ष्यमें जहाँगीरने उस दुर्गके भीतर ही एक मसजिद बनवायी और एक बैलकी क़ुर्बानी की। यह कार्य प्रजापर इस बातके सिद्ध करनेके लिए ही था कि राजा और राज्यका वास्तविक धर्म इस्लाम ही है। पिछले दिनोंके ऐसे कार्योंमें उसके परामर्शदाताओंका प्रभाव भी काफ़ी था। १६२२ ई० में राजकुमार खुसरूका वध हुआ। उसी वर्ष ईरानके शाह अब्बासने मुग़लोंसे कन्दहार छीन लिया। इस घटनासे जहाँगीर बड़ा क्षुब्ध हुआ, वह स्वयं बीमार था अतः शाहजहाँको एक बड़ी सेनाके साथ कन्दहारका उद्धार करनेके लिए आदेश दिया, किन्तु शाहजहाँने स्वयं विद्रोह कर दिया। कन्दहार-उद्धारका कार्य बीचमें ही रुक गया। जहाँगीर अत्यन्त क्रोधित हुआ और विद्रोही राजकुमारके दमनमें जुट गया। दिल्लीके निकट १६२३ ई० में शाहजहाँ पराजित हुआ और उसका प्रधान सहायक सुन्दर ब्राह्मण युद्धमें मारा गया। शाहजहाँ राजपूतानेकी ओर भाग गया जहाँ मेवाड़के कर्णसिंहने मित्रता निबाही और उसे आश्रय दिया। तदनन्तर मालवा होता हुआ वह दक्षिण पहुँचा, वहाँसे तेलिंगाना होता हुआ बंगाल पहुँचा और बंगाल एवं बिहारपर उसने अधिकार कर लिया। किन्तु वहाँ भी शाही सेनाने उसे पराजित किया अतः फिर दक्षिण चला गया और वहाँ उसने मलिक अम्बरसे मित्रता की। १६२५ ई० में पिताके साथ उसकी सुलह हो गयी, अपने पुत्र दारा और औरंगज़ेबको उसने अपने सदाचरणके आश्वासनके रूपमें सम्राट्के पास भेज दिया किन्तु स्वयं उसके सम्मुख

उपस्थित होनेका उसे साहस नहीं हुआ और जहाँगीरकी मृत्यु पर्यन्त मेवाड़-नरेशके आश्रयमें वा अन्यत्र गुप्तरूपसे ही वह रहता रहा। १६२६ ई० में साम्राज्यके एक प्रधान सरदार महावतखाँसे जो शाहजहाँके विद्रोह-दमनमें और उसका पीछा करनेमें सफल हुआ था, मलिका नूरजहाँ रुष्ट हो गयी। उसने अपनी स्थिति भयप्रद जान जहाँगीर और नूरजहाँ को जब वे झेलमके तटपर छावनी डाले पड़े थे, घेर लिया। किन्तु नूरजहाँ की चतुराईसे उसका प्रयत्न विफल हुआ और उसे प्राण बचाकर स्वयं भागना पड़ा। वह भी जाकर शाहजहाँसे मिल गया। १६२७ ई० में कुछ दिन रोगी रहनेके उपरान्त काश्मीरके मार्गमें सम्राट् जहाँगीरकी मृत्यु हो गयी। लाहौरके उसके मक़बरेमें उसे दफ़नाया गया। उसका ज्येष्ठ पुत्र खुसरू पहले ही मारा जा चुका था, १६२६ ई० में दूसरे पुत्र परवेज़को भी खुर्रमके ही इशारेपर ज़हर दे दिया गया था। तीसरा पुत्र शहरयार नूरजहाँका दामाद था वह बिलकुल निकम्मा था, भागकर लाहौरमें मलिका के पास गया और सम्राट् घोषित कर दिया गया। किन्तु प्रधान मन्त्री आसफ़खाँने जो शाहजहाँका ससुर था अबतक शाहजहाँ दक्षिणसे आये खुसरूके पुत्र दावरबख्शको सिंहासनपर बैठा दिया। शहरयार उसका विरोध करने चला तो आसफ़खाँने उसे बन्दी करके अन्धा करवा दिया। शाहजहाँ तुरन्त राजधानीके लिए चल पड़ा और वहींसे आसफ़खाँ आदि अपने समर्थकोंको आदेश भेज दिया कि शाही वंशके प्रत्येक पुरुष दावेदार का निर्विलम्ब वध कर दिया जाये। दावरबख्श तो जान बचाकर ईरानके शाहकी शरणमें चला गया और मुग़ल वंशके अन्य सब अनेक शाहज़ादे मृत्युके घाट उतार दिये गये। मलिका नूरजहाँ एक साधारण उपेक्षित स्त्रीकी भाँति दिन बिताने लगी और मरनेपर इलाहाबादमें एक साधारणसे मक़बरेमें दफ़ना दी गयी। शाहजहाँका मार्ग निष्कण्टक हुआ।

अध्याय ४

मुग़ल-साम्राज्य–अधोगत

शाहजहाँ (१६२८-१६५८ ई०) इस प्रकार अपने भाई-भतीजों के रक्तसे रंजित मुगल-सिंहासनपर आसीन हुआ। आसफ़ख़ाँ उसका प्रधान मन्त्री था, उसकी बेटी मुमताज़महल जो शाहजहाँका अत्यन्त चहेती पत्नी थी साम्राज्ञी हुई। शाहजहाँके दाराशिकोह, औरंगज़ेब, मुराद और शुजा नामके चार वयस्क पुत्र तथा जहाँनारा और रोशनआरा नामकी दो पुत्रियाँ सुशिक्षित, राजनीति-निपुण और राजकार्यमें सहायक थे।

राज्यके प्रथम वर्षमें ही जहाँगीरके कृपापात्र वीरसिंह बुन्देलेके पुत्र जुझारसिंहने विद्रोह कर दिया। उसको दबा दिया गया किन्तु वह फिर विद्रोही हो उठा। जब शाही सेना उसका पीछा कर रही थी तो १६३५ ई० में गोंडोंने उसका वध कर दिया और कुछ कालके लिए वीर बुन्देले शान्त हो गये। १६२९ ई० में खानजहाँ लोदीने अहमदनगरके सुलतानके साथ मैत्री करके सम्राट्के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, उसका भी तत्काल दमन कर दिया गया, चार वर्ष बाद उसने फिर विद्रोह किया और इस बार वह मारा गया। १६३०–३२ ई० में जब दक्षिण विजयके उद्देश्यसे सम्राट् बुरहानपुरमें छावनी डाले पड़ा था तो दक्खिन और गुजरातमें भयङ्कर अकाल पड़ा। इस भीषण दुर्भिक्ष और उसकी सहयोगिनी महामारीके कारण त्राहि-त्राहि मच गयी और असंख्य मनुष्य कुत्तोंकी मौत तड़प-तड़पकर मर गये। सम्राट्ने कुछ कर माफ़ कर दिये और कुछ द्रव्य दान किया, किन्तु दुष्कालकी भीषणताके समक्ष यह सब सहायता नगण्य थी। १६३१ ई० में शाहजहाँकी चहेती बेगम अर्जुमन्दबानो उपनाम मुमताजमहलकी प्रसूतिगृहमें मृत्यु हो गयी। उससे शाहजहाँके १४

सन्तानें हुई थीं। शोकपीड़ित सम्राट् आगरा वापिस आया और १६३२ ई० से ही अपनी प्रिय मल्लिकाके शवको सुरक्षित रखनेवाले अभूतपूर्व स्मारक, ताजमहलका निर्माणकार्य उसने प्रारम्भ कर दिया। १६३२–३५ ई० के बीच शाहजहाँ ईसाइयोंपर अत्यधिक कुपित रहा और विशेषकर बंगालके हुगली प्रदेशमें विद्यमान पुर्तगालियोंपर उसने बड़े अत्याचार किये। ये अत्याचार अनुचित भी न थे। पुर्तगाली अत्यन्त उद्धत, धर्मान्ध एवं हिन्दू और मुसलमान दोनोंके ही विद्वेषी थे और खुले अत्याचार करते थे। १६३२ ई० मे शाही सेनाने हुगलीका घेरा डाला और पुर्तगालियोंका उस प्रदेशमे प्रायः अन्त ही कर दिया। इसी वर्ष उसने बनारसके तथा साम्राज्यके अन्य भागोंके उन हिन्दू-मन्दिरोंको गिरवानेका आदेश जारी किया जिनका निर्माण प्रारम्भ हो चुका था तथा नवीन मन्दिरोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध लगा दिया। केवल बनारस जिलेमे ही ७६ मन्दिर नष्ट किये गये। १६३० ई० मे ही शाहजहाँने दक्षिणके अवशिष्ट मुसलमानी राज्योंका अन्त करनेकी ओर ध्यान दिया। अहमदनगरका सुयोग्य मन्त्री मलिक अम्बर १६२६ ई० में ही मर गया था। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी फ़तहखाँ स्वामिद्रोही था। अतः १६३२ ई० में उसके विश्वासघात और घूसके लोभने राजकुमार शुजा और महाबतखाँको दौलताबादका दुर्ग लेने और अहमदनगरकी निजामशाहीका अन्त करके उसे साम्राज्यमें मिलानेमें सफलता दी। इस अवसरपर शाहजी भोंसलेने निजामशाही वंशके एक बालकको सुलतान घोषित करके उस राज्यको सजीव रखनेका विफल प्रयत्न किया। १६३५–३६ ई० में सम्राट्ने बीजापुर और गोलकुण्डाके सुलतानोंके पास अपनी अधीनता स्वीकार करनेका आदेश भेजा। गोल-कुण्डा-नरेशने तो अपने-आपको असमर्थ पाकर मुग़लोंकी पूर्ण अधीनता स्वीकार कर ली, किन्तु बीजापुरके साथ निर्दय युद्ध चलता रहा। अन्ततः १६३६ ई० में बीजापुरने भी सम्राट्की शर्तोंपर सन्धि कर ली किन्तु वह उसके पूर्णतया अधीन नहीं हुआ। उसी वर्ष राजकुमार औरंगजेब दक्षिणका

सूबेदार नियुक्त किया गया। खानदेश, बरार, तेलिंगाना और दौलताबाद प्रान्त उसके शासनमें थे और १६४४ ई० तक वहाँ उसने शासन किया। वह वहाँ निरन्तर युद्धोंमें संलग्न रहा। अन्तमें सम्राट् उससे रुष्ट हो गया और उसे कुछ कालके लिए बेकार एवं तिरस्कृत रहना पड़ा। १६४५ ई० मे वह गुजरातका सूबेदार बनाया गया और १६४७ ई० में बल्ख और बदख्शाँका सूबेदार बनाकर भेज दिया गया। सम्भवतया यह सब औरंगज़ेब की बढ़ती हुई शक्ति और उसके स्वभावको देखकर उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी भाई दाराके संकेतपर ही हुआ था जो कि उस समय पिताका सर्वाधिक कृपापात्र था। १६३८ ई० में कन्दहारपर वहाँके शासकके विश्वासघात से मुग़लोंका फिर अधिकार हो गया था। १६४५ ई० में राजकुमार मुराद और सेनापति अलीमर्दानने बल्ख और बदख्शाँपर भी अधिकार कर लिया था। किन्तु औरंगज़ेब उन प्रदेशोंको अधिकारमें रखनेमें असफल रहा। बल्ख और कन्दहार दोनों ही मुगलोंके हाथसे निकल गये। १६४९ ई० मे कन्दहारपर फिर आक्रमण किया गया किन्तु ईरानियोंसे पराजित होकर मुग़ल सेना फिर लौट आयी। इन असफलताओंके कारण औरंगज़ेब और अधिक तिरस्कृत हुआ। १६५२ ई० में फिर कन्दहारका घेरा डाला गया, इस बार भी असफलता ही मिली। तीसरी बार १६५३ ई० में दाराको भेजा गया वह भी असफल रहा। इन मध्य-एशियाई प्रदेशोंको अधिकारमे रखने या हस्तगत करनेमें शाही-कोषका विपुल द्रव्य व्यय हुआ और अन्ततः विफलता ही मिली। मुग़लोंने कन्दहारको लेनेका फिर प्रयत्न नहीं किया। राणा जगतसिंहने चित्तौड़ दुर्गका नवीन परकोटा निर्माण कराना शुरू किया था किन्तु शाहजहाँने उसे नष्ट करवा दिया। राणाके विद्रोहके कारण उसके प्रदेशको उजाड़ दिया गया जिससे राणा दब गया। १६५३ ई० मे औरंगज़ेब फिरसे दक्षिणका सूबेदार बनाकर भेजा गया और उसकी इस बारकी चार वर्षकी सूबेदारी पहिलेसे भी अधिक कठिनाईपूर्ण थी। उसके पूर्ववर्ती शासकोंके कुशासनके कारण देशकी खेतीको भारी क्षति हुई थी,

राज्य-कर प्राप्त नहीं होता था, सर्वत्र एक प्रकारकी अव्यवस्था थी। गोल-कुण्डा और बीजापुरके साथ युद्ध भी निरन्तर चालू रखने पड़े। संयोगसे उसे मुर्शिद कुलीखाँ-जैसा सुयोग्य दीवान प्राप्त हुआ और उसकी सहायता से उसने शासन व्यवस्थित किया तथा खेतोंकी पर्याप्त उन्नति की। साथ ही औरंगजेब कट्टर सुन्नी था और दक्षिणकी सल्तनतें शिया थीं जिन्हें वह अपना हिन्दुओं-जैसा ही धर्म-शत्रु समझता था। अतः वह किसी-न-किसी बहाने उनपर आक्रमण करता रहता था और उनके अन्त करनेके उपाय सोचता रहता था। इस कार्यमें उसका प्रधान सहायक मीर जुमला नामका नवोदित सरदार था। वह पहले एक व्यापारी था, फिर गोलकुण्डा के सुलतानकी सेवामें एक सरदार बन गया, तदनन्तर चन्द्रगिरिके विजय-नगर वंशी राजाके बहुत-से प्रदेशपर अधिकार करके स्वयं अपना अर्ध-स्वतन्त्र राज्य जमा बैठा। गोलकुण्डाके सुलतान-द्वारा दबाये जानेपर वह औरंगजेबसे मिल गया और उसका एक प्रधान सरदार बन गया और शनैः-शनैः प्रधान मन्त्री सादुल्लाखाँकी मृत्युपर साम्राज्यका प्रधान मन्त्री बन गया। अस्तु, इसी मीर जुमलाके सहयोगसे औरंगजेबने अपनी विश्वास-घाती नीति-द्वारा गोलकुण्डा राज्यको नष्ट करना प्रारम्भ किया, उसके हैदराबाद आदि अनेक नगरोंको लूटा और १६५६ ई० में गोलकुण्डाका ही घेरा डाल दिया। अन्तमें स्वयं शाहजहाँने ही सुलतान-द्वारा की गयी सन्धि-प्रार्थना स्वीकार कर ली और औरंगजेबकी इच्छाके विरुद्ध घेरा उठानेकी आज्ञा दे दी। फिर भी गोलकुण्डा राज्य अब एक अत्यन्त निर्बल और अपंग राज्य रह गया था। बीजापुरके साथ भी युद्ध चलता ही रहता था किन्तु १६५६ ई० में सुल्तान मुहम्मद आदिलशाहकी मृत्यु होनेसे औरंगजेबके हाथ अच्छा अवसर आया। उसने मीर जुमलाको साथ लेकर बीजापुर राज्यपर तुरन्त आक्रमण कर दिया। १६५७ ई० में बीदर और तदुपरान्त कल्याणपर उसका अधिकार हो गया। बीजापुरकी पूर्ण पराजय निकट ही थी कि शाहजहाँकी आज्ञासे उसे इस सुलतानके साथ भी सन्धि

करनी पड़ी।

उसी समय शाहजहाँकी गम्भीर बीमारीका समाचार ज्ञात हुआ और औरंगजेब दक्षिणकी समस्याको वहीं छोड़ उत्तरके लिए चल पड़ा। दक्षिण की अपनी इस सूबेदारीमें उसने मीर जुमला और मुर्शिद कुलीखाँ-जैसे नवीन योग्य सहायक पैदा कर लिये थे और धन और शक्तिका भी संचय कर लिया था। उसकी बहन रोशनआरा उसकी पक्षपातिनी थी। किन्तु सम्राट्का विशिष्ट स्नेहपात्र उसका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह था और उसे ही वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, बड़ी बहन जहाँनारा भी उसीकी पक्षपातिनी थी। राजकुमार मुराद और शुजा भी शक्तिशाली सूबेदार थे और राज्यके दावेदार थे। चारों ही राजकुमार वीर योद्धा और अपने-अपने प्रदेशके प्रायः अर्धस्वतन्त्र स्वामी थे। उन सबके अधीन अपनी-अपनी पर्याप्त सेना थी। किन्तु जब कि दाराशिकोह उन सबमे अधिक विद्वान् वेदान्ती आध्यात्मिक एवं सूफी विचारोंका प्रेमी, उदार, सज्जन और जनप्रिय था; औरंगजेब कट्टर सुन्नी, धर्मान्ध मुसलमान, अनुदार, छल-कपटमें कुशल एवं कूटनीतिज्ञ था; मुराद शराबी था और शुजा सामान्य बुद्धिका व्यक्ति था। शाहजहाँकी आसन्न मृत्युका समाचार पाते ही शुजाने बंगालमें और मुरादने गुजरातमें अपने-आपको सम्राट् घोषित कर दिया। राजधानी आगरामें दाराने सारे अधिकार अपने हाथमे कर लिये। अब औरंगजेबने खुला विद्रोह कर दिया और शाहजहाँकी आज्ञाके विरुद्ध मीर जुमलाको बन्दीगृहमें रोक रखा। तीनों राजकुमार ससैन्य राजधानीकी ओर चल पड़े। औरंगजेबने मूर्ख मुरादको भुलावा देकर अपनी ओर मिला लिया। उज्जैनके निकट धरमत नामक स्थानमे १६५८ ई० में उन दोनोंकी सेनाओंको सम्राट्की ओरसे राजा जसवन्तसिंह राठौड़ और क़ासिमखाँने रोका, युद्ध हुआ और शाही सेना पराजित हुई। इस युद्धमें राजपूतोंकी ही क्षति अधिक हुई। राठौड़ राजा मैदान छोड़कर भाग गया किन्तु अपनी वीर रानीकी भर्त्सना सुनकर शत्रुका सामना करने

के लिए फिर चल पड़ा। इस बीचमें शाहजादोंकी सेना आगराके निकट पहुँच गयी, क़िलेसे ८ मील पूर्व सामूगढ़में दाराशिकोहने ससैन्य उनका प्रतिरोध किया। उसकी ओरसे राजपूत प्राण हथेलीपर रखकर लड़े। दारा अपनी ज़रा-सी भूलके कारण पराजित हुआ और आगरेकी ओर भाग गया। तुरन्त औरंगज़ेबने आगरेपर आक्रमण कर दिया और दुर्ग एवं राजधानी को हस्तगत करके, पिता शाहजहाँको क़िलेमें ही क़ैद कर दिया जहाँ १६६४ ई० में उसकी मृत्यु हुई। मुरादको भी औरंगज़ेबने छलसे बन्दी करके ग्वालियरके दुर्गमें क़ैद कर दिया जहाँ तीन वर्ष बाद उसका वध कर दिया गया। शुजा पराजित होकर अराकानकी ओर भाग गया और वहाँ अराकानियोंने उसका सपरिवार वध कर दिया। औरंगज़ेबने स्वयं अपने पुत्र मुहम्मद सुलतानको जिसने शुजाका पक्ष लिया था आजन्म बन्दीगृहमें डाल दिया और १६७६ ई० में उसकी गुप्त हत्या करा दी। दाराके पुत्र सुलेमान शिकोहने गढ़वालके हिन्दू राजाकी शरण ली थी किन्तु राजाके पुत्रने विश्वासघात करके उसे औरंगज़ेबके सिपुर्द कर दिया। सुलेमानको ग्वालियरके दुर्गमें क़ैद किया गया और यन्त्रणाएँ देकर मार डाला गया। दाराके छोटे पुत्र सिपहिरशिकोहको और मुरादके पुत्र इज़िदबख़्शको जो अल्पवयस्क थे प्राण-दान दे दिया गया और स्वयं अपनी एक-एक पुत्री के साथ उनका विवाह कर दिया गया। दाराशिकोहका अथक पीछा किया गया, वह पंजाबसे सिन्ध, तदनन्तर कच्छ और फिर गुजरात पहुँचा और कुछ सेना एकत्र करके अजमेरकी ओर बढ़ा। राजपूतोंसे जैसी उसे आशा थी सहायता न मिली। वह पराजित होकर फिर भागा और अनेक विपत्तियाँ एवं संकट झेलते हुए, अनेक विश्वासघातोंका शिकार होते हुए अन्ततः वह पकड़ा गया। अपनी प्रिय पत्नी नादिरा बेगमकी मृत्युसे वह विक्षिप्त-सा हो गया था। औरंगज़ेबने उसकी जितनी बन सकी दुर्गति की और अन्तमें उसका वध करवा दिया। इस प्रकार शाहजहाँका राज्यकाल उसके जीवनमें ही समाप्त हो गया, उसकी सन्ततिका बहुभाग भी नष्ट

हो गया। बूढ़े सम्राट्ने आगरेके क़िलेमें अपने प्रिय ताजमहलकी ओर दृष्टि लगाये हुए ही अत्यन्त दैन्य, अपमान, शोक और सन्तापमें जीवनके शेष दिन बिताये, और मृत्युके उपरान्त ताजमहलमें ही मुमताजकी बगल में वह दफ़ना दिया गया।

शाहजहाँने ३० वर्ष पर्यन्त शासन किया। वह अत्यन्त धनी और ऐश्वर्यशाली था। जवाहिरात संग्रह करनेका उसे बड़ा चाव था। अपने दरबारकी शान-शौक़तको उसने चरम शिखरपर पहुँचा दिया था। कोहेनूर हीरा उसके ताजकी शोभा बढ़ाता था, सुप्रसिद्ध रत्नजटित मयूर-सिंहासन पर बैठकर वह दरबार करता था (इस सिंहासनकी कल्पना एक जैन-कथामें वर्णित विमानसे ली गयी बतायी जाती है।) आगरेके किलेके कई विशाल तहख़ाने सोने-चाँदी और हीरे-जवाहरातसे पटे पड़े थे। अपने उस अतुल वैभव-प्रदर्शनमें उसे बड़ा आनन्द आता था। स्थापत्यकलाका भी वह बड़ा प्रेमी था और भारी निर्माता था। दिल्लीका लाल क़िला जिसके दीवाने ख़ासकी छत चाँदीसे मढ़ी थी, दिल्लीकी विशाल जामामस्जिद, सुन्दर चाँदनी चौक जिसके बीचमें दोनों ओरके वृक्षोंसे ढकी नहर बहती थी, आगरेकी जामामस्जिद, आगरेके क़िलेकी मोती मस्जिद, दीवाने ख़ास, सम्मन बुर्ज आदि इमारतें और सबसे अधिक विश्वके आश्चर्योंमें परिगणित ताजमहल इस सम्राट्की अमूल्य कृतियाँ हैं। अपने भवनोंमें संगमर्मरका उपयोग करनेका उसे बड़ा चाव था। शिल्प-स्थापत्यकी मुगलकलाके विकास में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार चित्रकलाका भी अच्छा विकास हुआ, उसके समयके चित्र अधिक सजीव हैं। उसके प्रश्रयमें अब्दुलहमीद और ख़फ़ीख़ाँने अपने इतिहास-ग्रन्थ भी लिखे। फ़ारसी-साहित्यको पूर्ववत् प्रश्रय प्राप्त था, किन्तु शाहजहाँ स्वयं साहित्य और विद्याका रसिक नहीं था। पीटरमण्डी, मनूची, बर्नियर, मनरिक, ट्रैवर्नियर आदि यूरोपवासी भी उसके शासन-कालमें भारतमें आये और उन्होंने अपने वृत्तान्त लिखे जो उस कालके इतिहासके लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री हैं।

शासन तन्त्रमें शाहजहाँने प्रायः कोई परिवर्तन या सुधार नहीं किया। अकबर-द्वारा स्थापित व्यवस्था ही चली आ रही थी किन्तु उसमें धीरे-धीरे शिथिलता एवं विकार उत्पन्न होते जा रहे थे। स्वयं शाहजहाँ न्यायपरायण बननेका प्रयत्न करता था और उच्च पदाधिकारियोंको भी यदि दोषी पाता तो कड़ा दण्ड देता। वह उनके कार्योंपर दृष्टि रखता था और यदि वे घूस लेते या अन्याय करते पाये जाते तो उन्हें क्षमा नहीं करता था। राजधानीके कोतवालका क़िस्सा तथा हक़ीक़तरायकी घटनाएँ इस बातके उदाहरण हैं। उसका प्रधान मन्त्री प्रारम्भमें आसफ़खाँ था, तदनन्तर सादुल्लाखाँ हुआ। यह मन्त्री मुगलोंके मन्त्रियोंमें सर्वाधिक योग्य माना जाता है। चोर-डाकुओंका शिरच्छेद करके उनके कटे सिरोंके बुर्ज बना दिये जाते थे। तथापि स्थानीय शासक प्रजा-पीड़न करते ही थे। सामान्यतः प्रजा शान्त समृद्ध और सुखी थी, व्यापार और उद्योग-धन्धे भी उन्नत थे, किन्तु अकबर और जहाँगीरके समयको अपेक्षा प्रजाकी दशा कुछ अवनत ही थी। यद्यपि शाहजहाँकी माँ और दादी दोनों राजपूतनियाँ थीं तथापि उसके स्वभावमें मध्य-एशियाई बर्बरता, धार्मिक कट्टरता और हिन्दू-विद्वेष अपने पूर्वजोंकी अपेक्षा कहीं अधिक था। उसके शासन-कालमें उन्हें पहले जैसी धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं रह गयी थी। उसने मन्दिर भी तुड़वाये और नवीन मन्दिरोंके निर्माणपर भी प्रतिबन्ध लगाया। इस्लाम के अतिरिक्त अन्य धर्मों और दर्शनोंमें उसे कोई रुचि न थी अतः किसी मुसलमानेतर धर्म-गुरु या विद्वान्का उसके द्वारा सम्मानित होना नहीं पाया जाता। वैसे राज्यके अनेक अधीन राजपूत राजाओं, सामन्त सरदारों, हिन्दू एवं जैन पदाधिकारियों, सेठों और व्यापारियों आदिको सहन करना ही पड़ता था। उनको तथा बहुसंख्यक प्रजाको सन्तुष्ट रखनेके लिए सामान्यतया अपने पूर्वजों-द्वारा प्रचलित सहिष्णु और उदार नीतिको भी वह बरतता ही था। जब वह अपने पिताके समयमें ही गुजरातका सूबेदार था तो उसने वहाँके जैनोंकी प्रार्थनापर जीवहिंसा निषेधक कई फ़रमान निकाले

थे, चाहे उनके लिए वहाँके धनी सेठोंसे राजकोषके लिए विपुल धन लेकर ही वैसा किया हो। कहा जाता है कि आगरेके कवि बनारसीदास (१५८६-१६४३ ई०) शाहजहाँके मुसाहब थे और उसके साथ बहुधा शतरंज खेला करते थे। अपने अन्तिम वर्षोंमें जब उनकी चित्तवृत्ति राज-दरबारसे विरक्त हुई तो सम्राट्ने उन्हें दरबारमें उपस्थित न होनेकी सहर्ष अनुमति दे दी। बनारसीदास न केवल श्रेष्ठ कवि, प्रकाण्ड विद्वान् एवं अत्यन्त धार्मिक थे वे एक मानवतावादी विचारक भी थे। उनके नेतृत्वमें आगरेमें दमियों उच्चकोटिके विद्वानोंकी विद्वद्गोष्ठी होती थी। पाण्डे रूपचन्द, चतुर्भुज वैरागी, भगवतीदास, धर्मदास, कुँवरपाल, जगजीवन आदि उन विद्वानोंमें उल्लेखनीय हैं। दिल्ली, लाहौर, मुल्तान आदि विभिन्न प्रमुख नगरोंके विद्वानोंमें इस सत्संगका सम्पर्क बना रहता था। बाहरके भी अनेक विद्वान् समय-समयपर वहाँ आते रहते थे। महाकवि तुलसीदास और सन्तकवि सुन्दरदासके साथ भी बनारसीदासकी साहित्यिक मैत्री थी। इसी समय शान्तिदास नामके एक नग्न जैनमुनिका भी आगरेमें आना पाया जाता है। वैसे उत्तर भारतमें नग्न जैनमुनि उस कालमें विरले ही थे, उनका स्थान दिगम्बर भट्टारकों, ब्रह्मचारियों और क्षुल्लकोंने ले लिया था। इसी शासन-कालमें स्वयं बनारसीदासके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके अतिरिक्त उनके विभिन्न साथियों और कवि सालिवाहन, पाण्डे हरिकृष्ण, भट्टारक जगभूषण, पाण्डे हेमराज, यति लूणसागर, पृथ्वीपाल, वीरदास, रायरछ, मनोहरलाल, खरगसेन, रायचन्द्र आदि अनेक श्वेताम्बर-दिगम्बर भट्टारकों, यतियों, त्यागियों और गृहस्थ विद्वानोंने साम्राज्यके विभिन्न प्रदेशोंमें संस्कृत तथा हिन्दी पद्य एवं गद्यमें अनेक धार्मिक एवं लौकिक ग्रन्थोंकी रचना की थी। दिल्लीमें स्वयं लाल क़िलेके सामने ही शाहजहाँके समयमें ही जैनोंका वह प्रसिद्ध लाल मन्दिर बना था जो उर्दू-मन्दिर भी कहलाता है। यह मन्दिर शाही सेनाके जैन सैनिकों एवं अन्य कर्मचारियोंकी प्रार्थनापर सम्राट्की अनुमति एवं प्रश्रयपूर्वक बना था।

औरंगज़ेब (१६५८–१७०७ ई०)—१६५८ ई० में आगरापर अधिकार करते ही औरंगजेबने अपने-आपको सम्राट् घोषित कर दिया था और १६५६ ई० में दिल्लीमें अपना विधिवत् राज्याभिषेक करके स्वयं अपने पिता सम्राट्को बन्दीगृहमें डालकर भाई-भतीजोंके रक्तसे सने हाथोंमें इस आलमगीर पातशाहने साम्राज्यकी बागडोर सम्हाली। ५० वर्ष पर्यन्त राज्य करनेके उपरान्त ९० वर्षकी दीर्घायुमें उसकी मृत्यु हुई। अन्त समय तक उसका प्रताप और आतङ्क अपने-पराये, छोटे-बड़े, सबपर अक्षुण्ण बना रहा। इसमें सन्देह नहीं कि औरंगज़ेब धीर-वीर, कुशल सेनानायक, योद्धा, राजनीति-पटु, कूटनीतिका गुरु, सदैव सजग, सावधान और क्रिया-शील था। वह एक अति योग्य शासक, प्रभावशाली व्यक्ति, शक्तिशाली और महान् नरेश था; किन्तु साथ ही अदूरदर्शी, छली, कपटी, धूर्त्त और धर्मान्ध भी था। अपने अधीनस्थोंके हृदयमें वह भयका ही सचार करता था, स्नेह और भक्तिका नहीं। ललित कलाओं और साहित्यसे उसे कोई प्रेम नहीं था, वरन् वह उनका विरोधी ही था, यद्यपि स्वयं सुशिक्षित एवं बहुविज्ञ था। नीरस और अनुदार तो था ही, वह परधर्म असहिष्णु भी था। वह कट्टर सुन्नी मुसल्मान था और अपने धर्मका पक्ष उसके हृदयमें सर्वोपरि था। उसके चित्तमें यह धारणा जम गयी थी कि उसके पूर्वजों की मूर्खतापूर्ण नीति एवं अनावश्यक अतिशय उदारताके कारण राज्यमें मुसल्मानेतर हिन्दू आदिकोंकी संख्या, शक्ति और प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया है तथा ईरानियों और शियाओंका प्रभाव भी बहुत बढ़ गया है, और इन सबके कारण इस्लामधर्म और मुसलमानोंकी सत्ता खतरेमें पड़ गयी है; ये सब विरोधी प्रभाव मिलकर शनैः-शनैः उसे हड़प लेंगे, अतएव इस्लाम और मुसलमानोंकी रक्षा उसका प्रथम ध्येय है। जो अपनी शक्तिका यथाशक्य अधिकसे-अधिक विस्तार करने, मुसलमानेतर धर्मों और जातियों का अत्याचारपूर्वक दमन करने और इस्लामकी प्रभावना एवं प्रसार करनेसे ही सिद्ध होगा। उसकी दृष्टिमें साध्यका महत्त्व था, साधनोंके

औचित्यका कोई मूल्य न था। राज्य प्राप्त करनेके प्रयत्नमें ही उसने अपनी यह प्रवृत्ति चरितार्थ कर दी थी। अपनी अभीष्ट प्राप्तिके लिए स्वयं अपने पिता और राजाको बन्दी करना, अपने सगे-सम्बन्धियोंका क्रूरतासे वध करना, विरोधियोंको घोर यन्त्रणाएँ देकर नष्ट कर डालना, विश्वास-घात, ढोंग, छल-कपटका भी अवसर पड़नेपर आश्रय लेनेसे न चूकना, आदि उसके कार्य प्रारम्भसे ही सर्व-विदित थे और उसकी जीवन-नीति एवं शासन-नीतिके परिचायक थे। किसी भी व्यक्तिका विश्वास करना वह जानता ही न था, विशेषकर बड़ेसे-बड़े हिन्दू सरदारोंका भी वह तनिक विश्वास नहीं करता था और उनको अपमानित करनेके किसी अवसरको तो चूकता ही न था। अकबरकी उदार, सहिष्णु, समदर्शी एवं विवेक और बुद्धिमत्तापूर्ण नीतिकी प्रतिक्रिया जहाँगीरके समयसे ही होने लगी थी, किन्तु बहुत हलके रूपमें। शाहजहाँके समयमें उसने और अधिक बल पकड़ा किन्तु औरंगज़ेबने तो उसे चरम शिखरपर पहुँचा दिया। उसने यथा-सम्भव अकबरकी नीतिको पूर्णतया उलटनेका प्रयत्न किया। फलस्वरूप अकबरकी नीतिके कारण जिस साम्राज्य-शक्तिका इतना सुदृढ़ निर्माण एवं अद्भुत विकास हुआ था कि वह बावजूद इन प्रतिक्रियाओं, मूर्खताओं और अन्य अनेक दोषों एवं भूलोंके डेढ़-सौ वर्ष पर्यन्त सर्वप्रकार अक्षुण्ण बनी रही और उसके आगे भी और डेढ़-सौ वर्ष पर्यन्त वंश-स्थायित्वकी रक्षा कर सकी, औरंगज़ेबकी नीतिके कारण वह साम्राज्य-शक्ति उसके जीवन-कालमें ही घुनकर जर्जर हो गयी और उसकी मृत्युके उपरान्त सामान्य झोंकोंसे छिन्न-भिन्न हो पड़ी। औरंगज़ेबमें अपने मध्य-एशियाई तैमूर, चंगेज़ आदि पूर्वजोंकी क्रूर बर्बरता, कट्टर मुल्लाओंकी अत्यन्त असहिष्णु धर्मान्धता, एक अत्यन्त स्वार्थी व्यक्तिकी सन्देहशीलता, लोभीकी संकीर्णता एवं अनुदारता, एक पक्के मुसलमानकी मानसिक नीरसता एवं बाह्य सादगी थी और उसे अपने चरमोत्कर्षको प्राप्त मुग़ल-साम्राज्यके एक राजकुमारके योग्य समुचित शिक्षा-दीक्षा तथा शासनयुद्ध और राज्य-कार्यका व्यावहारिक

शिक्षण भी प्राप्त था। अपने पूर्वजों-द्वारा सम्पादित विशाल साम्राज्य, अतुल वैभव, असीम शक्ति, सुव्यवस्थित शासन-तन्त्र, अनगिनत हिन्दू एवं मुसलमान स्वामिभक्त सेवक, यश और प्रताप भी उसे प्राप्त था। इन्हीं सब तत्त्वोंसे उसके व्यक्तित्वका निर्माण हुआ था और इन्हींपर उसके जीवनकी सफलताएँ एवं विफलताएँ आधारित हुई, और इन्हींमें उसकी सम्पूर्ण राज्यनीतिकी कुञ्जी अन्तर्निहित है।

औरंगज़ेबका राज्यकाल दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है: १६५८ से १६८१ ई० तक वह उत्तर भारतमें ही रहा और मुख्यतया वहींकी समस्याओंमें उलझा रहा। १६८१ से १७०७ ई० में अपनी मृत्यु पर्यन्त वह दक्षिण भारतमें रहा और वहींकी समस्याओंमें मुख्यतया उलझा रहा।

सिंहासन प्राप्त करते ही उसने प्रथानुसार कुछ घोषणाएँ कीं जिनमें मुख्यतया लगभग ८० राज्य-करों एवं अबवाबोंकी माफ़ीका आदेश था। वस्तुतः उस समय साम्राज्यके विभिन्न भागोंमें अकाल पड़ना शुरू हो गया था जो १६६०-६१ ई० में बड़ा भयङ्कर हो उठा। अतएव अनेक अतिरिक्त करोंकी माफ़ी उस समय स्वाभाविक ही थी, न भी दी जाती तो भी उक्त करोंका अकाल-पीड़ितोंसे वसूल करना कठिन ही था। तथापि तत्कालीन इतिहासकारके कथनानुसार तो इस माफ़ीका भी कोई परिणाम न हुआ, स्थानीय शासक उन करोंको प्रजासे फिर भी वसूल करते रहे और अपनी जेबें भरते रहे।

अपने प्रतिद्वन्द्वियोंके विरुद्ध औरंगज़ेबकी सफलतामें उसका प्रधान सहायक मीरजुमला रहा था, किन्तु इसी कारण वह अत्यन्त शक्तिशाली भी हो गया था। अतः औरंगज़ेबने उसे सुदूर बंगालका सूबेदार बनाया था और शुजाके अन्त करने एवं आसामका दमन करनेका भार सौंपा। शुजाका तो सपरिवार मीरजुमलाके प्रयत्नोंसे नाश हो गया किन्तु आसामके युद्धमें १६६३ ई० में वह स्वयं भी मारा गया और औरंगज़ेबका एक कण्टक दूर हुआ। उसके स्थानपर उसने अपने मामा शाइस्ताख़ाँको नियुक्त

किया जो लगभग ३० वर्ष तक उस पदपर रहा। १६६०ई० में शाइस्ता-खाँको शिवाजीका दमन करनेके लिए दक्षिण भेजा गया था, किन्तु पूनामें उसकी उपहासास्पद असफलताके कारण वहाँसे बुलाकर फिर बंगाल भेज दिया गया।

दक्षिणमें १६५७ से १६६० ई० पर्यन्त मुग़लोंकी ओरसे प्रायः शान्ति रही थी जिसका लाभ उठाकर वीर शिवाजीने बीजापुर-नरेशकी हानि कर-करके अपना राज्य जमाना प्रारम्भ कर दिया था। शाइस्ताखाँके उपरान्त राजा जयसिंह और शाहज़ादा मुअज्ज़म शिवाजीके विरुद्ध भेजे गये। जय-सिंहके परामर्शपर १६६५ ई० में शिवाजी आगरे भी आया किन्तु सम्राट्-की विश्वासघाती नीतिका आभास पाकर निकल भागा। १६६७ ई० में औरंगजेबने राज्यके महान् स्तम्भ जयपुर-नरेश राजा जयसिंहको सम्भवतया उसीके पुत्र कीरतसिंहसे विष दिलवाकर मरवा डाला। जयसिंहके उपरान्त शाहज़ादेके सहायकके रूपमें जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंहको शिवाजीके विरुद्ध भेजा गया। वह भी असफल रहा, बल्कि शाहजादेने स्वयं घूस लेकर सम्राट्से शिवाजीको राजाकी पदवी भी दिलवा दी। शिवाजीकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, साम्राज्यके सूरत, खानदेश आदि प्रदेशोंको भी उसने कई बार लूटा। साम्राज्यकी शासन-व्यवस्था इतनी शिथिल हो चुकी थी कि सम्राट् शिवाजीका कुछ न बिगाड़ सका। १६७४ ई० में शिवाजीने अपना राज्या-भिषेक करके स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया।

१६६९ ई० में मथुरा ज़िलेमें गोकुल जाटके नेतृत्वमें जाटोंने भयंकर विद्रोह कर दिया था और वहाँके फ़ौजदारको मार दिया था। दोनों ओरके सहस्रों व्यक्तियोंकी हत्याके उपरान्त कठिनाईसे विद्रोहका दमन हुआ। १६८१ ई०में जाट फिर भड़क उठे और फिर शाही सेनाने उनका दमन किया। १६८८ ई०में उनका विद्रोह एक बार फिर भड़का और सम्राट्की मृत्यु पर्यन्त चालू रहा। इसी बीच १६९१ ई०में जाटोंने सिकन्दरेमें अकबरके मक़बरेको लूटा और उस सम्राट्के शवको भी क़ब्रसे निकाल

कर चितामें भस्म कर दिया, ऐसा कहा जाता है।

१६७२ ई०में नारनौलमें सतनामियोंने भयानक विद्रोह किया। इस पन्थमें अनेक छोटी जातियोंके लोग थे, शाही सेना भारी क्षति उठाकर उस विद्रोहपर क़ाबू कर पायी। अपने हाथसे कुरानकी आयतोंके तावीज़ अपने सरदारोंको देकर भी औरंगज़ेब अपनी क्षति कम न कर सका।

इसी समयके लगभग सीमान्त प्रदेशके पठान क़बीलोंने विद्रोह कर दिया। शाही सेनाका एक बड़ा भाग दस वर्षोंतक वहाँ उलझा रहा। राजा जसवन्तसिंह तथा अन्य अनेक सेनापतियोंको भेजा गया किन्तु सब विफल रहे। १६७४ ई०में सम्राट् स्वयं वहाँ गया और क़बीलोंका दमन किया, किन्तु शान्ति १६७८ ई० तक ही जाकर स्थापित हो सकी। १६७५ई०में औरंगज़ेबने सिक्खोंपर अत्याचार किया और गुरु तेगबहादुरका वध करवा दिया। गुरुने उसकी हिन्दू विरोधी-नीतिका विरोध किया था और पकड़े जानेपर मुसलमान बनना अस्वीकार कर दिया था।

१६७९ ई० में राजस्थानके राजपूतोंने विद्रोह कर दिया। मारवाड़-नरेश जसवन्तसिंहको औरंगज़ेबने अफ़ग़ानिस्तानके अफ़ग़ानोंका दमन करने भेज दिया था, उसने राजाको आवश्यक सहायता भेजी नहीं और १६७८ई०में जमरूदमें सम्राट्के इशारेपर उसका प्राणान्त हो गया। उसके दो पुत्रों और रानीको सम्राट्ने लाहौरमें रोक रखा। उसकी इच्छा राजकुमारोंको मुसल्मान बना डालनेकी थी। किन्तु स्वामिभक्त वीर दुर्गादासके प्रयत्न और कौशलसे रानी और राजपुत्र सुरक्षित मारवाड़ पहुँच गये। औरंगज़ेब बहुत क्षुब्ध हुआ और उसने उनके पकड़नेके लिए सेना भेजी। मारवाड़के सेनापति दुर्गादास राठौड़, उसके भाई मुकुन्ददास खीची तथा अन्य सरदार अपने राजा और राज्यकी रक्षाके लिए कटिबद्ध हो गये। उन्होंने अन्य राजपूत राज्योंसे भी सहायता माँगी। समय ऐसा था कि औरंगज़ेबकी धार्मिक नीति और राजपूत-विरोधी चालोंसे समस्त नरेश असन्तुष्ट हो उठे थे। राजाओंको अब पहले-जैसी आन्तरिक

स्वतन्त्रता नहीं रही थी, औरंगज़ेब उनके राज्योंका भी सीधे केन्द्रसे ही शासन करनेका इच्छुक था। जयसिंह और जसवन्तसिंह-जैसे साम्राज्यके प्रधान स्तम्भ और शक्ति-सम्पन्न एवं प्रभावशाली नरेशोंका एक-एक करके उसने अन्त करवा दिया था। जसवन्तसिंहकी मृत्युका वह पूरा लाभ उठाना चाहता था और मारवाड़पर पूर्ण अधिकार करना चाहता था क्योंकि वह देश मालवा और तदनन्तर दक्षिणके मार्गके बीचमें पड़ता था। उसकी नीयत और इरादे छिपे नहीं थे। अतः समस्त राजस्थान स्वातन्त्र्य-प्राप्तिके लिए उठ खड़ा हुआ और स्वयं मेवाड़-नरेश राणा राजसिंहने युद्धका नेतृत्व ग्रहण किया। औरंगज़ेब जिसे मात्र जोधपुरके राजाविहीन राठौर सरदारोंका विद्रोह समझता था उसने एकाएक जयपुरको छोड़ प्रायः सम्पूर्ण राजस्थानके साथ भीषण युद्धका रूप ले लिया। सम्राट्ने अपनी सारी सैन्यशक्ति केन्द्रित करके अजमेरमें डेरा डाला और स्वयं युद्धका संचालन किया। किन्तु इसी बीचमें उसका पुत्र राजकुमार अकबर राजपूतों से मिल गया। इससे सम्राट् अत्यन्त चिन्तित हो उठा। अपने छल-कौशलसे उसने राजपूतोंको विवश कर दिया कि वे शाहज़ादेको अपने आश्रयसे निकाल दें। लाचार अकबर दक्षिणकी ओर भाग गया। इधर वीर राजपूत युद्धोंमें सम्राट्की भारी क्षति कर रहे थे। अन्ततः १६८१ ई०में औरंगज़ेबने राणाके तथा राजपूतोंके साथ सन्धि कर ली। राजपूत राज्यों को जज़ियासे भी मुक्त कर दिया, उनकी सत्ता भी पूर्ववत् स्वीकार कर ली। और अन्य साधारण शर्तें भी उनकी मान लीं। सन्धि करनेमें इस जल्दबाजीके कारण यह भी था कि राजपूतानेकी देखा-देखी बुन्देलखंडके चम्पतराय और उसका पुत्र छत्रसाल बुन्देलेने भी स्वातन्त्र्य-युद्ध छेड़ दिया था जिसके कारण दक्षिणके साथ सम्राट्का यातायात सम्बन्ध प्रायः विच्छिन्न हो गया था। अकबर दक्षिणकी ओर भाग गया था और वहाँ मराठोंसे मिलकर उसके विद्रोह करनेकी सम्भावना थी, और राजपूतोंके विरोधी रहनेसे दक्षिणके युद्धोंमें उन वीरोंकी सहायता मिलनेकी कोई आशा न

थी। अतः उसने राजस्थानके राजपूतोंके साथ सन्धि कर ली, यद्यपि पहले जैसी राजभक्ति उसे उनसे अब प्राप्त न हो सकी और राजपूतोंका विद्रोह एवं असन्तोष उसकी मृत्यु पर्यन्त बना रहा। बुन्देलोंके प्रति भी कुछ शक्ति प्रदर्शन करके उसने उनसे सन्धि कर ली, किन्तु वीर छत्रसाल भी अन्त तक उसका विद्रोही ही बना रहा। अब १६८१ ई०में ही औरंगज़ेब शीघ्रताके साथ दक्षिण पहुँचा और फिर अन्त तक वहीं रहा।

दक्षिणमें आकर औरंगज़ेबने वहाँके हिन्दू और मुसलमान राज्योंका अन्त करनेपर कमर कसी। विद्रोही राजकुमार अकबर तो उसके हाथ आया नहीं। १६८० ई० में शिवाजीकी मृत्यु हो चुकी थी अतः उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी शम्भाजीकी अकबरने शरण ली, अन्ततः वह भारत छोड़ ईरान चला गया और १७०४ ई० में वहीं उसकी मृत्यु हुई। अब औरंगज़ेबने बीजापुर और गोलकुण्डा-नरेशोंपर यह व्यर्थके दोषारोपण लगाकर कि वे शिया हैं, हिन्दू और मुसलमानोंमें भेद नहीं करते, हिन्दुओं को राज्य-सेवामें नियुक्त करते हैं, शिवाजी मराठेको उन्होंने राज्य-कर दिया आदि, १६८६ ई० में बीजापुर और १६८७ ई० में गोलकुण्डा राज्यका अन्त करके उन दोनोंको साम्राज्यमें मिला लिया। उसी वर्ष इस सन्देहपर कि शाहज़ादे मुअज़्ज़मने उन राज्योंके सुलतानोंके साथ नरमीका बर्ताव किया है उसे बन्दीगृहमें डाल दिया। किन्तु १६९४ ई० में जब शाहज़ादे अकबरने ईरानियोंकी सहायतासे भारतके सीमान्तपर आक्रमण किया तो मुअज़्ज़मको मुक्त करके काबुलका सूबेदार बनाकर अकबरके विरुद्ध भेज दिया। अकबर पराजित होकर वापस लौट गया। १६८९ ई० में औरंगज़ेबने राजा शम्भाजीको पराजित करके उसे उसके ब्राह्मण प्रधान मन्त्री सहित बन्दी कर लिया और तदनन्तर उसका वध करा दिया। शम्भाजीके बालक पुत्र साहूको उसने अपने महलोंमें ला रखा और वहीं पलवाया। अब औरंगज़ेब प्रायः सम्पूर्ण भारतका एकच्छत्र सम्राट् था, किन्तु इसी समय समस्त मराठा जाति उसके विरुद्ध भड़क

उठी। अबतक केवल मराठा राजे ही उसके शत्रु थे और उन्हीसे उसका युद्ध था किन्तु अब समस्त दक्षिणापथकी जनता उसकी विरोधी थी। शम्भाजीके भाई राजारामने सुदूर जिंजीको अपना केन्द्र बनाकर इस जातीय विद्रोहका नेतृत्व किया और उसके पश्चात् उसकी वीर पत्नी ताराबाई युद्ध संचालित करती रही। औरंगजेबने मराठोंके इस देशव्यापी विद्रोहको कुचलनेका भरसक प्रयत्न किया। उसके मन्त्रियोंने उसे दिल्ली वापस लौट जानेकी सलाह दी, किन्तु वह मराठोंको निःशेष किये बिना दक्षिणसे टलने को तैयार न हुआ। अन्ततः दक्षिणने ही उसका अन्त कर दिया। सन् १७०७ ई० में विफल प्रयत्न और निराशाग्रस्त वृद्ध सम्राट् औरंगजेब आलमगीरकी औरंगाबादमें मृत्यु हुई और वहीं वह दफ़ना दिया गया। उसके साथ ही महान् मुग़ल साम्राज्यकी महत्ताका भी अन्त हो गया।

औरंगजेबकी विफलता और उसके राज्यकालके उपरोक्त जाट, सिख, बुन्देले, सतनामी, राजपूत, मराठा आदि विद्रोहोंका प्रधान कारण उसकी अपनी राजनीति थी। उसकी संकीर्ण धर्मान्धता, अत्यन्त असहिष्णु एवं अनुदार धार्मिक नीति एवं मुसलमानेतर जाति-विरोधी राजनीति उसकी अपनी असफलताओं एवं उसके उपरान्त महान् मुग़ल-साम्राज्यके द्रुत पतन के प्रधान कारण थे। वह भारतमें मुग़ल-साम्राज्यको विशुद्ध अरबी संस्कृतिपर आधारित एवं इस्लामके नियमोंके अनुकूल एक पक्का मुसलमानी राज्य बना देना चाहता था। प्रारम्भमें ही यह ध्येय एवं तदनुसारी नीति उसने निश्चित कर ली थी और राज्यारोहणके थोड़े समय पश्चात् ही उसे कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया था तथा अन्त तक वह उसीका निर्वाह करता रहा। उसके धर्मोन्मादके नीचे उसकी राजनीतिक बुद्धि भी दब गयी। इस्लामकी सुरक्षाका साधन उसने यही सोचा कि प्रत्येक ग़ैरमुसलमानी या इस्लाम-विरोधी वस्तुका अन्त कर दिया जाये, हिन्दुओं और मुसलमानोंमें स्पष्ट भेद कर दिया जाये, मुसलमानेतरोंपर यथाशक्य अत्याचार किये जायें, नाना प्रकारके कर लादे जायें,

उनके साथ घृणा और हीनताका व्यवहार किया जाये, उनमें जो थोड़ेसे भी शक्तिसम्पन्न हैं उन्हें कुचल दिया जाये, राज्य-सेवासे उन्हें वञ्चित रखा जाये, जो पहिलेसे ही नियुक्त हैं उन्हें जैसे बने शनैः-शनैः पृथक् कर दिया जाये, उनके स्थानमें मुसलमानोंको नियुक्त किया जाये, और राज्यमें मुसलमानोंकी संख्या, शक्ति और प्रभाव जितना बन सके बढ़ाया जाये। ये सब उसकी साध्य-सिद्धिके साधन थे। हिन्दू आदिका वह इसलिए विरोधी नहीं था कि वे हिन्दू हैं वरन् इसलिए कि उनकी सत्ता और धार्मिक प्रभावके कारण इसलाम और मुसलमानोंकी स्थिति खतरेमें है। वैसे अनेक हिन्दू उसके मित्र भी थे। किन्तु जहाँ स्वधर्म और जातिका प्रश्न था वे उसके लिए परम शत्रु ही थे। इसी उद्देश्यसे उसने मुल्ला-मौलवियोंका एक आयोग नियुक्त किया कि वे समस्त शुद्ध इस्लामी प्रथाओं, रीति-रिवाजों आदिका संकलन करें, यह प्रयत्न ही कालान्तरमें भारतीय मुसलिम न्याय-विधानका आधार बना। उसने अपने पूर्वजों-द्वारा प्रचलित ऐसी समस्त प्रथाओंका अन्त कर दिया जो इसलामसम्मत न थी, यथा सिजदा, नौरोज, सम्राटोंका तुलादान, झरोखा दर्शन, इत्यादि। राजकीय सिक्कोंपर कलमेके तथा मनुष्य, पशु आदि आकृतियोंका अंकित करनेपर निषेध लगा दिया। संगीत और नृत्यपर प्रतिबन्ध लगा दिया, चित्र और मूर्तिकलाको हतोत्साहित किया और पीर पूजा व पीरोंके मजारोंपर स्त्रियोंका जाना निषिद्ध किया। मुसलमान सौदागरोंका सौदागरी माल राज्यकरसे मुक्त कर दिया गया। जो हिन्दू अपना धर्म-परित्याग करके मुसलमान बन जाते उन्हें पुरस्कृत करने और राज्यकी नौकरी देनेकी व्यवस्था की। हिन्दुओंको राज्यसेवासे वञ्चित कर दिया गया और एक फ़रमान निकाला कि महक़मे-मालमें यथासम्भव केवल मुसलमानोंकी ही नियुक्ति की जाये। महाराज जयसिंह और जसवन्तसिंह-जैसे शक्तिशाली हिन्दू सरदारोंका अन्त करना शुरू कर दिया। सभी मुसलमानेतरोंपर जज़िया कर लगा दिया। हिन्दुओंके धार्मिक मेले बन्द कर दिये और उनके

होली, दिवाली आदि त्योहारोंका खुले रूपमें मनाया जाना बन्द कर दिया। जाट, सिख, सतनामी, राजपूत, मराठे आदि हिन्दुओंके जिस वर्गने भी जहाँ विद्रोह किया उन्हें निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया और इन विद्रोहोंको क्रूर धार्मिक अत्याचारोंका अवसर बनाया गया। हिन्दुओंके समस्त मन्दिरों, विद्यालयों एवं अन्य धर्मायतनों और सांस्कृतिक संस्थानोंको नष्ट करनेके लिए एक आम आज्ञा जारी कर दी गयी। हिन्दुओंके तीव्र विरोधपर बनारस फ़रमान-द्वारा इस आज्ञामें यह संशोधन कर दिया गया कि पुराने मन्दिरों कोरहने दिया जाये किन्तु नवीन मन्दिर कोई न बनाया जाये और जो बन रहा हो उसे गिरा दिया जाये। राजा जयसिंह एवं जसवन्तसिंहकी मृत्युके उपरान्त यह संशोधन फिर वापस ले लिया गया और अनेक प्राचीन भव्य मन्दिरोंका विनाश करा दिया गया। जहाँगीरके समयमें वीरसिंह बुन्देले द्वारा ३३ लाखकी लागतसे निर्मित मथुराके अप्रतिम केशवदेव मन्दिरका, काशीके प्राचीन विश्वनाथ मन्दिरका तथा अयोध्या आदि अन्य अनेक स्थानोंके प्रसिद्ध मन्दिरोंका ध्वंस करके उसने उनके स्थानमे उन्हीं स्थलोंपर मसजिदें निर्माण करा दीं। हिन्दू आदिकोंके धर्मप्रचार, धार्मिक शिक्षा और उन्मुक्त धर्मपालनपर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये। संस्कृत और हिन्दी साहित्यका तो प्रश्न ही क्या, उसने फ़ारसी साहित्यके सृजनको भी हतोत्साहित किया, यहाँतक कि इतिहास-ग्रन्थोंके निर्माणपर भी कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया। खफ़ीखाँ आदिके छिपाकर लिखे गये इतिहास, बर्नियर, टैवर्नियर, मनूची, करेरी आदि यूरोपीय यात्रियोंके वृत्तान्त, स्वयं औरंगज़ेबके अपने पत्र तथा अन्य फुटकर साधन तत्कालीन इतिहास, देश-दशा और सार्वजनिक असन्तोषपर प्रकाश डालते हैं। दरबार और दरबारियोंका आडम्बरपूर्ण रहन-सहन, सेनामें अनुशासनहीनता, अधिकारी-वर्गमें भ्रष्टाचार और विलासिता, विश्वासघात और स्वार्थपरता तथा आर्थिक-व्यवस्था और सिद्धान्तोंकी उपेक्षा, आदि अन्य कारण साम्राज्यके पतनमें साधक हुए।

सिक्खोंके यौद्धिक संगठन, जाटोंके शक्तिसंग्रह, मारवाड़के राठौड़ोंकी

उत्तरवर्ती सबलता और मराठोंके उत्कर्षका श्रेय औरंगजेबकी इस कुनीति को ही है। हिन्दी-साहित्यके महाकवि केशव, बिहारी, देव, भूषण, मतिराम आदि इसी कालमें हुए। रीतिकालीन हिन्दू कवियोंने प्रायः शृंगार रसका स्रोत ही प्रवाहित किया और राजा-रईसोंको विलासितामें डूबनेमें सहायता दी। इसके विपरीत भैया भगौतीदास, आनन्दघन, यशोविजय, विनय-विजय, लक्ष्मीचन्द्र, देव ब्रह्मचारी, जगतराय, शिरोमणिदास, जीवराज आदि जैन कवियोंने शान्त विरागपूर्ण आध्यात्मिक विचारोंका पोषण किया। उनके द्वारा धार्मिक ग्रन्थोंके अतिरिक्त पंचांग निर्माणविधि, शकुन परीक्षा, सामुद्रिक शास्त्र, रत्नपरीक्षा, वचनकोष, ख्यात आदि महत्त्वपूर्ण लौकिक ग्रन्थ भी रचे गये। आगरा निवासी भैया भगौतीदास (१६७४–९८ ई०) ने लगभग ६७ रचनाएँ कीं जो उनके विशालकाय ब्रह्मविलासमें संग्रहीत हुईं। आचार्य यशोविजय (१६२३–८८ ई०) न्याय आदि विविध विषयोंके प्रकाण्ड विद्वान् थे, हिन्दी भाषाके जसविलासके अतिरिक्त संस्कृत भाषामें उन्होंने लगभग ५०० छोटे-बड़े प्रकरण या ग्रन्थ रचे बताये जाते हैं। फतेहपुरके सरदार अलफ़खाँके जैन दीवान ताराचन्दके लिए लक्ष्मीचन्द्रने ज्ञानार्णव नामक योगविषयक प्राचीन ग्रन्थका भाषानुवाद एवं व्याख्या की थी। हथिकंतके विश्वभूषण, सुरेन्द्रभूषण आदि भट्टारक आगरेके निकट ही स्वधर्मका संरक्षण और साहित्यका प्रोत्साहन कर रहे थे। साहिजादपुर-निवासी कवि विनोदीलालने जिन्होंने कई ग्रन्थोंकी रचना की है, अपने श्रीपालचरित्र (१६९० ई०) के अन्त में लिखा है कि 'उस समय औरंगशाह बलीका राज्य था जिसने अपने पिताको बन्दी बनाकर राज्य पाया था और चक्रवर्तीके समान समुद्रसे समुद्र पर्यन्त अपने राज्यका विस्तार कर लिया था।' कोई विशाल नवीन मन्दिर जैनोंका उस कालमें नहीं बना, कुछ प्राचीन मन्दिर तोड़े भी गये होंगे किन्तु किसी प्रसिद्ध मन्दिरका ध्वंस या तीर्थका विनाश नहीं किया गया प्रतीत होता। आगरा और दिल्लीमें क़िलोंके निकट ही उस कालके पूर्वके बने हुए विशाल

जैनमन्दिर सुरक्षित एवं विद्यमान रहे। दिल्लीके शाहजहाँकालीन उर्दू मन्दिरमें दोनों समय पूजन-आरती आदिके अवसरपर वाद्य बजते थे। औरंगज़ेबने उनका निषेध किया। कहा जाता है कि बाजे फिर भी बजते रहे और औरंगज़ेबने अपनी निषेधाज्ञा वापस ले ली। अहमदाबादके जौहरी शान्तिदासको, जो शाहज़ादे मुरादका कृपापात्र रह चुका था, औरंगज़ेबने आगरे बुलाकर रखा और उसे अपना दरबारी नियुक्त किया। कन्नडी भाषाकी एक प्राचीन विरुदावलीके अनुसार औरंगज़ेबने कर्णाटकके एक दिगम्बर जैनाचार्यका भी आदर-सत्कार किया था। राजस्थानमें तो जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, बूँदी, जैसलमेर आदि प्रायः सभी राज्योंमें हिन्दुओंके साथ-साथ जैनी भी पर्याप्त उन्नतावस्थामें थे। मेवाड़के राणा राजसिंहका प्रधान दीवान संघवी दयालदास था। कर्नल टाडके कथनानुसार 'वह अत्यन्त साहसी और चतुर था, मुग़लोंके अत्याचारोंका बदला लेनेकी प्यास उसके हृदयमें सदा प्रज्वलित रहती थी। उसने तेज़ घुड़सवार सेना साथ लेकर नर्मदासे बेतवा तक फैले हुए मुग़लोंके मालवा प्रान्तको लूटा, सारंगपुर, सरोज, देवास, मांडू, उज्जैन, चन्देरी आदि नगरोंको विजय किया, किसी मुसलमान शत्रुको क्षमा नहीं किया तथा काज़ी-मुल्लाओं और उनके धर्मग्रन्थ क़ुरानको भी न बख़्शा। उसकी प्रचण्ड भुजाओंके सम्मुख कोई शत्रु नहीं टिकता था। लूटका यह विपुल धन लाकर उसने अपने स्वामी राणाको अर्पण किया। तदनन्तर राजकुमार जयसिंहको साथ लेकर चित्तौड़के निकट शाहज़ादे आज़मकी भारी सेनाको पराजित किया, फलस्वरूप आज़मको भागकर रणथम्भौरमें शरण लेनी पड़ी।' ये घटनाएँ औरंगज़ेबके राजपूत युद्ध (१६७९–८१ ई०) की हैं। दयालदास धर्मात्मा भी था। उसने 'राज समन्दकी पाल'के निकट पर्वतपर आदिनाथका एक क़िलेनुमा श्वेतमर्मरका विशाल मन्दिर भी बनवाया था। १६९३ ई० में महाराणा राजसिंहने एक फ़रमान जारी किया था जिसके द्वारा राज्यके दस हज़ार ग्रामोंके सरदारों, मन्त्रियों और पटेलों

को आज्ञा दी गयी थी कि प्राचीन कालसे जैनोंके मन्दिरों और स्थानोंको जो यह अधिकार मिला हुआ है कि कोई मनुष्य उनकी हदके भीतर किसी प्राणीका वध न करे, वह उनका पुराना हक़ है और मान्य किया जाये। जो जीव नर या मादा वध होनेके लिए इनके स्थानोंके निकटसे ले जाया जाता है वह अमर हो जाता है, उसका वध नहीं किया जा सकता। जैनियोंके उपासरेमें शरण लेनेवाले किसी राजद्रोही, लुटेरे या कारागृहसे भागे हुए महान् अपराधीको भी राजकर्मचारी वहाँ न पकड़ सकेंगे। फ़सल में कूंची, करानाकी मुट्ठी, उनके लिए दान की हुई भूमि, तथा नगरोंमे विद्यमान उनके उपासरे आदि पूर्ववत् क़ायम रहेंगे।' यह फ़रमान जैनयति मानको दिया गया जिन्हें साथ ही बहुत-सा भूमिदान भी किया गया। जोधपुरके महाराज जसवन्तसिंह राठौड़ने जैन सामन्त मुहणौत नैणसीको अपना दीवान बनाया था। नैणसी कुशल शासक और वीर योद्धा होनेके साथ महान् इतिहासकार भी था। उसने १६५९–६५ ई० के बीच राजस्थानके अपने प्रसिद्ध प्रामाणिक एवं विशाल इतिहास ग्रन्थ 'ख्यात'की रचना की। यह मूतानैणसी राजपूतानेका अबुलफ़ज़ल कहलाता है और उसकी ख्यात उस देशकी आइने-अकबरी। नैणसीका ग्रन्थ एक अपूर्व ऐतिहासिक संग्रह है। नैणसीका भाई मेहता सुन्दरदास महाराजका प्राइवेट सेक्रेटरी था और पुत्र वीरकरमसी उनके साथ औरंगजेबके विरुद्ध उज्जैनके युद्धमें घायल हुआ था। रघुनाथ भण्डारी जसवन्तसिंहके पुत्र महाराज अजीत-सिंह (१६८०–१७२५ ई०) का प्रधान दीवान था। जैसलमेर राज्यमें एक विशाल जैन ग्रन्थ-भण्डार था। बीकानेर-नरेश राजा अनूपसिंह जिन-चन्द्र सूरिको गुरुवत् मानता था। महाराज जयसिंहके समयसे ही आमेर राज्यकी नवीन राजधानी जयपुर जैनोंका एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनना प्रारम्भ हो गयी थी। बुन्देलखण्डमें ओड़छाका बुन्देलानरेश वीरवर छत्रसाल भी जैनधर्मके प्रति अति उदार और सहिष्णु था। जैन-मन्दिरों एवं तीर्थोंके संरक्षण, उन्हें दानादि देने एवं प्रश्रय देनेमें वह तत्पर रहता था।

१६५९ ई० के जेरठके चन्द्रप्रभ चैत्यालयमें वस्त्रपर लिखे गये एक सचित्र प्रशस्ति-पत्रसे ज्ञात होता है कि उस कालमें जैनी बुन्देलखण्डके राज्योंमें प्रतिष्ठित थे और निर्विघ्न धर्मपालन करते थे।

मराठोंका उत्कर्ष १७वीं शती ई० के उत्तरार्धकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है और मुग़ल-साम्राज्यके पतनका सर्व-प्रधान कारण है। दक्षिणापथका पश्चिमी घाटकी पहाड़ियोंसे निर्मित वह उत्तर-पश्चिमी भाग जो प्राचीनकालमें रट्टिकों और तदनन्तर राष्ट्रकूटोंका केन्द्र रहा था और पूर्व-मध्यकालमें जिसपर देवगिरिके यादवोंका राज्य रहा था तथा मुसलमानी कालमें जो बीजापुर, अहमदनगर और गोलकुण्डा राज्यों के अन्तर्गत पड़ता था, महाराष्ट्र या मरहट्टा देश कहलाया। छोटे क़दके श्यामवर्ण, बलिष्ठ, फुरतीले, परिश्रमी, चतुर और चालाक मराठे ही इस प्रदेशकी जन-संख्याका बहुभाग थे। उनमें-से अधिकतर खेतिहर और शेष गाँवोंके पटेल आदि मुखिया थे। उनके अतिरिक्त चतुर्थ-पंचम जातियोंमें परिगणित मोदी बनिये, मजदूर आदि थे जिनमें-से अब भी बहुत-से जैन थे। कोंकणके चितपावन ब्राह्मण भी जो अपने-आपको मराठोंसे भिन्न प्रकट करनेके लिए दक्षिणी कहते हैं, इस प्रदेशमें बढ़ने लगे थे। राष्ट्रकूटोंके ही नहीं, उत्तरवर्ती चालुक्यों, होयसलों एवं यादवोंके समय तक भी इस प्रदेश में जैनोंकी संख्या पर्याप्त थी, राज्य-कार्योंमें भी उनका पूरा योग था, और अनेक सामन्त-सरदार भी जैन थे। किन्तु १२वीं-१३वीं शताब्दियोंमे राज्याश्रयकी उत्तरोत्तर कमी और श्रीवैष्णवों, सद्शैवों तथा लिंगायतोंके प्रबल विरोध एवं भीषण अत्याचारोंके कारण जैनोंकी संख्या एवं प्रभाव इस प्रदेशमें वेगसे घटने लगा। १४वीं शतीमें अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुग़लकके आक्रमणों और तदनन्तर बहमनी राज्यकी स्थापनाने इस प्रदेशकी मुसलमानेतर जनतापर जो अमानुषिक धार्मिक अत्याचार किये उनमे जैनी और भी अधिक पिस गये। अन्दरसे सजातीय शैव-वैष्णवोंके और बाहरसे मुसलमानोंके बर्बर अत्याचारोंने इस प्रदेशमें जैनधर्मको निश्शेष प्रायः कर

दिया। छोटे वर्गोंमें यत्र-तत्र गौणरूपसे वे बच रहे। किन्तु उनके पतनसे हिन्दूओंकी भी रक्षा न हुई। मुसलमानोंके अत्याचारोंकी चक्कीमें पिसकर वे भी निम्न जातिके ही बन गये। जैनधर्म स्वयं जन्मतः जाति-पाँति माननेका विरोधी था। लिंगायत जो एक प्रकारसे जैनधर्मसे ही प्रसूत और प्रभावित थे वे भी जाति-पाँतिके विरोधी थे। अतः सामान्य शूद्रों-जैसी प्रायः एक ही मराठा जाति इस देशकी जन-संख्याके बहुभागके रूपमें रह गयी। बहु-संख्यक होनेके कारण मुसलमान सुलतानोंको शासनके निम्नतम स्तरोंपर उनसे कार्य लेना ही पड़ता था। अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डाके कुछ सुलतानोंने तो उन्हें कुछ ऊंचे पद भी देना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार मराठा सरदारोंके अनेक छोटे वंश उत्पन्न हो गये। इनमें-से कुछ तत्कालीन विजयनगरकी सेवामें भी रहे और कुछ प्राचीन यादव होयसल-कालीन सामन्तसरदारोंके वंशज होनेका दावा करने लगे। मुसलमानोंके अविवेकपूर्ण हिन्दू विरोधने उन्हें एकजातीयताके सूत्रमें बाँध दिया। उन्हीं शताब्दियोंमें अपभ्रंशोंसे विकसित उनकी एक देशभाषाका भी विकास होने लगा जो मराठी कहलायी। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, रामदास जैसे मध्यकालीन सन्तोंने मराठी भाषामें सरल छन्दोंमें अपने उपदेशों-द्वारा महाराष्ट्रके निवासियोंकी एकता, विधर्मी मुसलमानोंके अत्याचारोंसे स्वधर्म, स्वजातिकी रक्षा करनेकी एकोद्देश्यता, प्राचीन भारतीय धर्मवीरोंकी गौरव गाथाएँ सुनाकर हीनता, निराशा एवं हतोत्साह-जैसे भावोंका बहिष्कार आदि मनोवृत्तियोंका पोषण किया और शनैः-शनैः जागृतिकी एक लहर देश में फूँकनी आरम्भ कर दी। विजयनगरके महान् हिन्दू साम्राज्यका अमानुषिक अन्त लोगोंकी स्मृतिमें सजीव था—विजयनगर परम्पराके उत्त-राधिकारी चन्द्रगिरिके राजा तो अभी भी स्वतन्त्र बने हुए थे। आक्रान्ता धर्मशत्रु मुसलमानोंके क्रूर हाथोंसे स्वधर्म, स्वजाति और स्वदेशकी रक्षाके लिए तीन-सौ वर्ष पूर्व होयसल, यादव, ककातीय आदि भारतीय राज्योंके क्रूरतापूर्ण अन्तसे प्रेरणा पाकर जिस प्रकार संगमके वीर पुत्रोंने सफल प्रयत्न

किया था, क्या अब कोई अन्य भारतीय वीर वैसा ही नहीं कर सकता ? यह प्रश्न लोगोंके हृदयमें उठ रहा था। पिछले ५०-६० वर्षोंसे उत्तरके मुग़ल सम्राट् दक्षिणके मुसलमान राज्योंपर निरन्तर आक्रमण कर रहे थे और इस कालके ये दक्षिणी मुसलमानी राज्य पहले-जैसे असहिष्णु एवं अनुदार नहीं रहे थे, किन्तु अब औरंगज़ेबके रूपमें जो एक सर्वाधिक प्रबल मुसलमानसत्ताके नवीन आक्रमण एवं अत्याचार प्रारम्भ हो रहे थे वे पूर्व कालके अत्यन्त धर्मान्ध मुसलमानोंके अत्याचारोंका भी अतिरेक कर रहे थे। दक्षिणकी अपनी सूबेदारीमें उसने यह स्पष्ट कर दिया था। फिर वह स्वयं सम्राट् हो गया और उसने अपनी हिन्दू-विरोधी नीति उन्मुक्त रूपसे कार्यान्वित की। दक्षिणसे उसकी सेनाएं भी एक क्षणके लिए न हटीं। ये सब कारण और परिस्थितियां थीं जो इस्लामकी इस विनाशकारी प्रगतिका सफल प्रतिरोध करनेवाले उपयुक्त नेताकी माँग कर रही थीं। और मराठा वीर शिवाजीके रूपमें वह नेता आ उपस्थित हुआ।

अहमदनगर सुलतानकी सेवामें मालोजी भोंसले नामका एक छोटा-सा मराठा सरदार था। शिवनेरका दुर्ग उसकी जागीर थी। उसके पुत्र शाहजी भोंसलेने और उन्नति की। निज़ामशाहीके अन्तिम दिनोंमें तो उसने प्रबल प्रतापी मुग़लोंके रोषकी भी परवाह न करके अपने उक्त स्वामी राज्यको जीवित बनाये रखनेका भगीरथप्रयत्न किया था। अन्ततः विफल प्रयत्न होनेपर उसने बीजापुरके सुलतानकी नौकरी कर ली। मुहम्मद आदिलशाह बहुत योग्य, बुद्धिमान् और उदार था। राज्यसेवामें हिन्दुओंको उसने भारी प्रोत्साहन दिया था। राजा शाहजी भोंसला उसका एक प्रमुख अमात्य हो गया और उसे पूनाकी जागीर मिली। १६२७ ई० में शिवनेर के दुर्गमें शाहजीकी पत्नी जीजाबाईने शिवाजीको जन्म दिया। जीजाबाई स्वयं एक प्राचीन उच्च सामन्त घरानेकी कन्या थीं और बड़ी धर्मात्मा एवं शिक्षिता थीं। पूनामें अपनी माता एवं गुरु दादोजी कोंडदेवके अभिभावकत्वमें शिवाजीका बाल्यकाल बीता और शिक्षा-दीक्षा हुई। शिवाजीकी

शिक्षा-दीक्षा उदार एवं धार्मिक हुई थी। अस्त्र-शस्त्र और युद्धविद्यामें भी साथ-ही-साथ उसने निपुणता प्राप्त की। माताके प्रभावने उसे सच्चरित्र, उदार और सहृदय बनाया, गुरु कोंडदेवने उसके हृदयमें पूर्वजोंका गौरव जागृत किया और उसकी महत्त्वाकांक्षाको उत्तेजित किया, तथा समर्थ रामदास आदिके सम्पर्कसे उसे अत्याचारी विधर्मियोंका विरोध एवं संहार करके उनके हाथोंसे धर्म और जातिकी रक्षा करनेकी प्रेरणा मिली। पितासे उसे राजनीतिक पटुता एवं कूट-चातुर्य संस्कारमें मिले थे। प्रत्यक्ष यत्र-तत्र और विशेषकर १३–१४ वर्षकी आयुमें पिताके साथ बीजापुर जानेपर उसे मुसलमानोंकी दृष्टिमें अपना और अपनी जाति एवं धर्मकी हीनता एवं पग-पगपर किये जानेवाले अपमानका अनुभव हुआ। यह तेजस्वी युवक स्वाभाविक जन-नेता था। राज्य एवं शक्ति-लिप्सा उसके जातीय संस्कार थे। शिवाजीकी दृष्टिमें साध्य ही सब-कुछ था, साधनोंके औचित्यानौचित्यकी ओर वह ध्यान नहीं देता था। इन विविध तत्त्वोंसे निर्मित एवं पिता-द्वारा उपेक्षित इस वीर मराठा कुमारने १५–१६ वर्षकी आयुसे ही अभीष्ट-सिद्धिके लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। उसने पूनामें ही रहते हुए आस-पासके अपने समवयस्क मावले लड़के एकत्र करके उनकी एक छोटी सेना सुगठित की और १६४६ ई० में १९ वर्षकी आयुमें ही निकटके तोरनदुर्गको आदिलशाहके क़िलेदारसे छीनकर हस्तगत कर लिया। इस विजयसे उत्साहित होकर उसने शनैः-शनैः अपनी पूनाकी पैतृक जागीरका विस्तार एवं शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ कर दी। मावले बड़े सादे, तगड़े, चतुर और पहाड़ी एवं जंगली युद्धोंमें अत्यन्त निपुण थे। अतएव एक-एक करके शिवाजीने अनेक दुर्ग हस्तगत कर लिये और कुछ नवीन भी निर्माण कर लिये। शाहजहाँने १६३३ ई० में अहमदनगर राज्यका अन्त कर दिया था और उसके पुत्र औरंगजेबने दक्षिणकी अपनी प्रथम सूबेदारी (१६३४–४४ ई०) में अवशिष्ट बीजापुर एवं गोलकुण्डा राज्योंको एक पल शान्तिकी साँस न लेने दी थी। इस परिस्थितिमें

शिवाजीका लड़कपन बीता था और उसके भावी कार्य-क्रमकी योजना बनी थी। पूनाके निकटवर्ती ये दुर्ग राजधानी बीजापुरसे दूर थे और औरंगजेब उत्तरकी ओर वापस चला गया था। शिवाजीका पिता शाहजी सुलतानका प्रभावशाली अमात्य था, अतः छल-बल, घूस और सिफ़ारिश आदिके प्रयोगसे शिवाजीने इस अवसरका लाभ उठाया और साथ ही वह बीजापुर दरबारकी ओरसे उपेक्षित रहा। इसी बीचमें शाहजीसे सुलतान रुष्ट हो गया और उसे बन्दीगृहमें डाल दिया अतः कुछ समयके लिए पिता की सुरक्षाके खयालसे शिवाजी शान्त रहा।

१६५३ ई० में औरंगज़ेब फिर दक्षिणका सूबेदार होकर आ गया। सुलतानोंके उससे उलझे रहनेके कारण शिवाजीको अवसर मिला और उसने अपनी शक्ति और अधिक बढ़ानी आरम्भ कर दी। अब उसने उर्वरा एवं समृद्ध कोंकण और कोलाबा आदि प्रदेशोंपर भी आक्रमण किये और १६५५ ई० में जाओलीके राजाको, जिसने विद्रोहमें उसका साथ देना स्वीकार नहीं किया था, मार डाला। अतः सुलतान अब सहन न कर सका और १६५८ ई० में औरंगज़ेबके आगरेकी ओर रवाना होते ही शिवाजीके दमनकी योजनाएँ बनने लगीं। एकाध मामूली सरदारोंको तो शिवाजीने योंही मार भगाया, अतः १६५९ ई०में अफ़ज़लखाँ नामके एक बड़े सरदार को विशाल सेनाके साथ शिवाजीको पकड़ लानेके लिए भेजा गया। किन्तु शिवाजीने अपने छल-बल-कौशलसे अफ़ज़लका वध कर दिया, उसके मावले वीरोंने बीजापुरकी सेनाको तितर-बितर कर दिया और उनकी विपुल युद्ध-सामग्री हस्तगत कर ली। अब शिवाजीकी प्रसिद्धि, शक्ति और आतंक काफ़ी बढ़ गये, वह मुग़ल प्रदेशमें भी धावे मारने लगा। बीजापुरवाले तो शिवाजीकी ओरसे हताश ही हो बैठे थे। मुहम्मद आदिलशाहकी मृत्युके बाद उन्हें स्वयं अपनी स्थिति सँभालनी कठिन हो रही थी। किन्तु औरंगजेब शिवाजीकी धृष्टताको सहन न कर सकता था। उसने अपने मामा नवाब शाइस्ताखाँको शिवाजीका दमन करनेके लिए भेजा। किन्तु जब

शाइस्ताखाँ पूनाके महलमें आरामसे पड़ा सो रहा था शिवाजीने छापा मारकर उसकी दुर्गति की, वह प्राण बचाकर भाग गया। १६६४ ई० में शिवाजीने सूरतके बन्दरगाहको बुरी तरह लूटा। अब औरंगजेबने शाहजादे मुअज्ज़म और महाराज जयसिंहको उसके विरुद्ध भेजा। जयसिंहकी कूटनीति सफल हुई और सुरक्षाका आश्वासन देकर उसने शिवाजीको आगरे जानेपर राजी कर लिया। १६६५ ई० में आगरा पहुँचनेपर शिवाजीको ज्ञात हुआ कि बादशाह विश्वासघात करना चाहता है और जयसिंह-द्वारा दिये गये वचनकी कोई रक्षा न करेगा। अतः वह अपने पुत्रसहित जयसिंहके पुत्र रामसिंह की सहायता एवं अपने कौशलसे वेष बदलकर निकल भागा और महाराष्ट्र पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर उसने औरंगजेबके विरुद्ध खुला युद्ध शुरू कर दिया। अब मुअज्ज़मके साथ राजा जसवन्तसिंहको उसके विरुद्ध भेजा गया किन्तु ये दोनों ही पर्याप्त घूस लेकर उसके प्रति विरोधमें शिथिल हो गये, बल्कि सम्राट्से कह-सुनकर उन्होंने उसे राजाकी पदवी भी दिलवा दी और एक नरेशके रूपमें उसकी सत्ता स्वीकार करा ली। रायगढ़का नवीन दुर्ग-निर्माण करके शिवाजीने अपनी राज्य-सत्ता अब भली प्रकार जमा ली। अनेक दुर्ग और विस्तृत प्रदेश उसके अधिकारमें थे। १६६७–७० ई० तक उसने अपने राज्यके आन्तरिक शासन-प्रबन्धको व्यवस्थित किया। १६७० ई० में उसने खानदेशपर धावा किया और चौथ वसूल की तथा भविष्यमें भी दिये जानेके लिखित वचन स्थानीय शाही अधिकारियोंसे ले लिये। उसी वर्ष सूरतको फिर लूटा और अँग्रेज़ोंकी कोठीसे विपुल धन प्राप्त किया। १६७४ ई० में रायगढ़ दुर्गको अपनी राजधानी बनाकर उसीमें प्राचीन प्रथाके अनुसार समारोह-पूर्वक अपना राज्याभिषेक कराया और छत्रपति महाराज शिवाजीके नामसे सिंहासनारोहण किया, तथा अपना राज्य संवत्सर प्रचलित किया। १६७६ ई० में महाराज शिवाजीने अपनी सुदूर दक्षिणकी विजय यात्रा की और गोलकुण्डा पहुँचकर वहाँके सुलतानको अपना अनुवर्ती बनाया। जिंजी, वैलोर, बेलारी आदि दुर्गों और प्रदेशोंको अधिकृत करता हुआ वह

बीजापुर पहुँचा और वहाँके सुलतानके साथ भी उसने मैत्री सन्धि कर ली। यह यात्रा अत्यन्त सफल रही। अब शिवाजी दक्षिण भारतका एक स्वतन्त्र एवं सर्वाधिक शक्ति-शाली नरेश था। बीजापुर और गोलकुण्डाके सुलतान उसका मुँह निहोरते थे। उनको साथ लेकर उसने मुगलोंको देशसे बाहर निकाल देनेकी योजना बनायी। औरंगज़ेब सीमान्तके अफ़ग़ानों, साम्राज्यमें होनेवाले अन्य विद्रोहों और राजपूत-युद्धोंमें उलझा रहनेके कारण कुछ न कर सका और वीर शिवाजी अपनी शक्तिके शिखरपर तथा अपने लक्ष्यके निकट पहुँच गया। १६८० ई० मे शिवाजीकी ५३ वर्षकी आयुमे मृत्यु हो गयी।

औरंगजेब उसके एक वर्ष उपरान्त दक्षिणमें आ पाया। शिवाजीका उत्तराधिकारी उसका पुत्र शम्भाजी (१६८०–८९ ई०) हुआ। वह वीर और योद्धा तो था किन्तु क्रूर, दुराचारी और विलासी भी था। अपने पिता-जैसा चरित्र, आदर्श और बुद्धिमत्ता उसमे न थी। विद्रोही शाहज़ादे अकबरको उसने आश्रय दिया था। शिवाजीकी सफलता और इस प्रबल हिन्दूराज्यकी उसीके समयमे इस प्रकार उत्पत्तिसे औरंगजेब अत्यन्त क्षुब्ध था। अतः बीजापुर और गोलकुण्डाका अन्त करनेके उपरान्त १६८९ ई० मे उसने मराठोंका अन्त करनेका निश्चय किया। शम्भाजीको पराजित करके उसे उसके कानपुरी ब्राह्मण मन्त्री कविकलुष सहित बन्दी कर लिया और फिर अत्यन्त क्रूरताके साथ अन्य साथियों-सहित उनका वध कर दिया गया। इस प्रकार शिवाजीके राज्यका प्रत्यक्षतः अन्त कर दिया गया। शम्भाजीके सात वर्षके पुत्र साहुको ७०० का मनसब देकर शाही अन्तःपुर में पलनेके लिए रख लिया गया। किन्तु शम्भाजी और उसके राज्यका भले ही अन्त हो गया, मराठा शक्ति और मराठोंका अन्त न हुआ। वह कई गुना अधिक वेगसे सारे दक्षिणापथमें फैल गयी। शिवाजीके दूसरे पुत्र राजाराम और उसके उपरान्त उसकी पत्नी ताराबाईके नेतृत्वमे मराठे औरंगजेबको उसकी मृत्यु पर्यन्त बुरी तरह परेशान करते रहे।

इसमें सन्देह नहीं कि वीर शिवाजी उत्तर-मध्यकालके इतिहासकी सर्व-महान् राजनैतिक विभूति हैं। उसकी सर्वमहान् सफलता यही थी कि उसने यत्र-तत्र अति गौण, हीन एवं पराधीन रूपमे बिखरी हुई मराठा शक्तिको एकत्रित एवं सुसंगठित करके उसे स्पृहणीय राज्यशक्ति एवं जातीय शक्तिका रूप दे दिया था। अत्यन्त विषम विरोधी परिस्थितियों और प्रायः साधनविहीन रूपमें जीवन-कार्य प्रारम्भ करके उसने अत्यन्त शक्ति एवं वैभव-सम्पन्न विशाल मुग़ल साम्राज्यकी छातीपर मूंग दलकर औरंगज़ेबकी कट्टर धर्मान्धताका सफल प्रतिवाद किया और उसके देखते-देखते ही उसीके साधनोंका बरबस अपहरण करके उसीकी छातीपर एक शक्तिशाली स्वतन्त्र हिन्दू राज्य स्थापित कर दिया। शिवाजीने विश्वको यह दिखा दिया कि ऐसे अवनत काल और विषम विरोधी परिस्थितियोंमे भी एक भारतीय वीर क्या कुछ नहीं कर सकता। वस्तुतः वर्तमान कालमे भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलनके प्रारम्भिक नेताओंने शिवाजीके आदर्शसे ही प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्राप्त की थी। शिवाजीका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक था, मनुष्यकी पहचान भी उसे अद्भुत थी। अर्धसभ्य अशिक्षित हीन मावलोंको उसने दुर्द्धर योद्धा बना दिया था। उसका सैनिक संगठन अति उन्नत था। उसकी विशाल एवं शक्तिशाली सेनामें स्त्रियोंके रहनेका सर्वथा निषेध था। नौ-शक्तिका निर्माण करनेवाला भी मध्यकालमें वही प्रथम भारतीय नरेश था। देशका शासन प्रबन्ध सुचारु था। अष्ट-प्रधान नामक आठ प्रधान अमात्योंके मन्त्रिमण्डलकी अध्यक्षतामें प्राचीन भारतीय एवं मुग़ल दोनों शासन-पद्धतियोंके उचित सम्मिश्रणसे अपनी शासन-व्यवस्थाका उसने विकास किया था। शत्रुको क्षमा करना वह नहीं जानता था, छल-बलसे जैसे बने उसका दमन करके ही दम लेता था। अपनी आवश्यकताके लिए लूट-पाट करके धन लेनेमें भी उसे कोई संकोच न था। किन्तु किसी महिलाका कभी अनादर या अपमान वह नहीं करता था चाहे वह कितने ही कट्टर शत्रुसे सम्बन्धित क्यों न हो। गो, ब्राह्मण

और हिन्दू धर्मकी रक्षा उसका नारा था तथापि वह सभी धर्मोंके प्रति उदार और सहिष्णु था और उनका आदर करता था। जैन आदि अहिन्दू भारतीय धर्मोंका तो प्रश्न ही क्या वह मुसलमानोंकी मस्जिदों, कुरान एवं उनके धर्मका भी आदर करता था। शत्रुके रूपमें मुसलमानोंपर उसने चाहे जो अत्याचार किये किन्तु धार्मिक अत्याचार कभी किसीपर भी नहीं किया। स्वयं उसके मराठा-राज्यमें जैन विद्यमान तो थे, किन्तु उनकी स्थिति अति गौण, हीन एवं अनुल्लेखनीय हो चुकी थी और अब मराठा राज्यके ब्राह्मणोंने उन्हें उभरने नहीं दिया। किन्तु सुदूर दक्षिणके दक्षिणी कर्णाटक तुलुव एवं तामिल प्रदेशोंमें अब भी मैसूर, भट्कल आदि उनके दर्जनों छोटे-छोटे राज्य, श्रवणबेलगोल-जैसे महान् तीर्थ और जैनबिद्री, मूडबिद्री आदि अनेक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र उन्नत दशामें फल-फूल रहे थे। नाना प्रकारके बाह्याभ्यन्तर अत्याचारों एवं विरोधी परिस्थितियों के कारण पहले जैसी उनकी दशा नहीं रही थी फिर भी वे प्रायः अच्छी दशामें विद्यमान थे। कन्नडी भाषामें कितने ही श्रेष्ठ जैनग्रन्थ इस काल में भी रचे गये।

अध्याय ५

अराजकता काल (१७०७–१८५७ ई०)

औरंगजेबको मृत्युके साथ ही मुग़ल साम्राज्यकी महत्ता वैभव और प्रतापका ही अन्त नहीं हुआ भारतीय इतिहासके मध्यकालका भी अन्त हो गया। इतना ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतमें मुसलमान राज्यशक्तिका भी पराभव हो गया। मुसलमानोंके भारत-प्रवेशके उपरान्तकालमें यह दूसरा एवं पहलेसे अधिक प्रबल हिन्दू पुनरुत्थान युग था। १२०६ से १७०७ ई० पर्यन्तके पांच-सौ वर्षके मुसलमानी शासनकालमें मुग़ल साम्राज्यके डेढ़-सौ वर्ष (१५५६–१७०७ ई०) ही ऐसे थे कि जिनमें देशने एक प्रकारकी एक-सूत्रताका अनुभव किया, सुख-शान्तिकी कुछ सांस ली और अपनी शक्ति एवं वैभवके कारण विश्वके अन्य सम्राटोंकी ईर्ष्याका पात्र रहा। उस बीचमें भी अकबरसे शाहजहाँ पर्यन्त लगभग एक-सौ वर्षका समय ही ऐसा था जिसे सच्चे अर्थोंमें मध्यकालीन भारतका स्वर्णयुग कहना उचित है। इस युगमें देशकी राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सर्वतोमुखी उन्नति हुई और देश अपनी शक्ति एवं वैभवके चरम शिखरपर पहुँच गया। इसका प्रधान श्रेय अकबर महान्को है और अंशतः उसके पूर्वज बाबर और हुमायूँ का तथा वंशज जहाँगीर और शाहजहाँको है। अकबर आदिने विदेशी विधर्मी एवं पराया रहकर इस देशपर शासन करना नहीं चाहा और न यहाँ की बहुभाग भारतीय जनताको मात्र शासित ही समझा, वरन् उन्होंने भारत में रहकर भारतका ही होकर और भारतके ही लिए देशका शासन एवं अभ्युदय किया, शासितों एवं शासकोंमें प्रायः कोई जातीय या धार्मिक भेद नहीं रखा और देशकी सम्पूर्ण जनताका सहयोग और सद्भाव प्राप्त किया। उन्होंने अपने हितको केवल अपना निजका या मुसलमानों मात्रका अथवा

इस्लामका ही हित नहीं समझा वरन् उसे सम्पूर्ण भारतका और नानाविध धर्मों एवं जातियोंसे निर्मित अखिल भारतीय जनताका हित माननेका प्रयत्न किया। अतएव उपरोक्त मध्यकालीन स्वर्णयुगका निर्माण भारतके अकबरादि उदारमना भारतीय सम्राटोंके सचेष्ट आश्रयमें भारतकी हिन्दू, जैन, मुसलमान सभी जनताने तथा उसके सभी वर्गोंने मिलकर सम्पादित किया था।

किन्तु औरंगज़ेबकी विद्वेष एवं पक्षपातपर आधारित कुनीतिने न केवल उसके जीवनमें ही उक्त स्वर्णयुगका तो अन्त कर ही दिया वरन् स्वयं मुग़ल साम्राज्यकी नींवको इतना खोखला और उसके शरीरको इतना जर्जर कर दिया कि उसकी मृत्युके उपरान्त ही वह द्रुत वेगके साथ पतनके गम्भीर गह्वरमें डूबने लगा और अपने साथ सम्पूर्ण देशको भी ले डूबा। आगामी डेढ़-सौ वर्ष (१७०७–१८५७ ई०) का काल भारतीय इतिहासका अन्धकार युग है, इसलिए नहीं कि उस कालके सम्बन्धमें हमें कुछ ज्ञात नहीं है वरन् इसलिए कि जो कुछ ज्ञात है उससे हमारे मस्तक लज्जासे झुक जाते हैं। इस पूरे कालमें अराजकता, अव्यवस्था, भ्रष्टाचार, विलासिता, लूट-खसोट, मार-काट, षड्यन्त्र और विश्वासघात, परस्पर फूट और वैमनस्य का बोलबाला था। इन्हीं दुर्गुणों एवं दूषित प्रवृत्तियोंसे उस कालका सम्पूर्ण इतिहास भरा पड़ा है। देशकी राजनैतिक एकसूत्रता और संगठन ही नष्ट नहीं हो गये थे और उनके स्थानमें अव्यवस्थित विकेन्द्रीकरण और विशृङ्खला ही उत्पन्न नहीं हो गयी थी वरन् सम्पूर्ण देशका उत्तरोत्तर घोर नैतिक पतन होता चला गया। जिस हिन्दू पुनरुत्थानके नेता एवं पुरस्कर्त्ता मराठा वीर शिवाजी, सिक्खगुरु गोविन्दसिंह, जाट नेता गोकुल, मेवाड़के राणा राजसिंह और उनके प्रधान शाह दयालदास संघवी, मारवाड़के दुर्गादास राठौड़, बुन्देलखण्डके वीर छत्रसाल आदि स्वतन्त्रताके पुजारी नररत्न थे वही पुनरुत्थान सबल रूपमें सम्पादित हो जानेपर भी उनके उत्तराधिकारियोंकी परस्पर फूट, वैमनस्य, मूर्खता एवं अदूरदर्शिताके कारण

इतना अशक्त और असमर्थ हो गया कि सात समुद्र पारसे आनेवाले मुट्ठी-भर अंग्रेज़ व्यापारी इस समूचे विशाल देशके स्वामी बन बैठे। इन नवोत्थित हिन्दू शक्तियोंने पड़ोसी मुसलमान शक्तियोंके साथ ही नहीं वरन् स्वयं परस्परमें भी लड़-कटकर सम्पूर्ण देशको इतना निर्जीव, निश्शक्त और पतित बना दिया कि देशको सांस्कृतिक प्रगति कोसों पिछड़ गयी, धार्मिक एवं सामाजिक जीवनमें अनगिनत कुरीतियाँ प्रवेश कर गयीं, देशके व्यापार एवं उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये और उसका ऐसा आर्थिक शोषण हुआ जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। प्रत्येक व्यक्तिका धन-जन अरक्षित हो गया। दुराचार, अनाचार एवं अत्याचारका सर्वत्र बोलबाला था। न कोई शासन था, न व्यवस्था। राजा-प्रजा सभी लुटेरे थे और अपनेसे अधिक सबलों-द्वारा सभी लूटे जा रहे थे। जिसकी लाठी उसकी भैंस थी। और जो सबसे अधिक अविवेकी, छली, धूर्त्त और चतुर लुटेरे थे वे अंग्रेज ही शनैः-शनैः सबपर हावी होकर देशको पराधीनताकी ऐसी सुदृढ़ बेड़ियोंमें जकड़नेमें सफल हो गये जैसी पहले कभी गढ़ी भी न जा सकी थीं।

अतः डेढ़-सौ वर्षके इस भारतीय अन्धयुगका इतिहास अराजकता, विशृङ्खला, अशान्ति, नैतिक पतन तथा सर्वथा अपरिचित थोड़ेसे विदेशियों-द्वारा इस महादेशको पराधीनताकी बेड़ियोंमें जकड़ते जानेका ही लज्जा-जनक इतिहास है। इस इतिहासके प्रमुख पात्र हैं अवनति कूपमें गिरते हुए उत्तरवर्ती मुग़ल-नरेश, उनके स्वामिद्रोही एवं स्वार्थी सामन्त सरदार और सूबेदार जो अवसर पाते ही स्वतन्त्र राज्य जमा बैठे किन्तु उनकी भी रक्षा न कर सके, नादिरशाह दुर्रानी और अहमदशाह अब्दाली-जैसे क्रूर एवं बर्बर मध्य-एशियाई लुटेरे, जोधपुर नरेश अजीतसिंह राठौड़के नेतृत्वमें अल्पस्थायी बल प्राप्त करनेवाला राजस्थान, मराठा शक्तिको चरम-शिखर पर पहुँचाकर डुबा देनेवाले पेशवा और उनके भोंसले, गायकवाड़, होल्कर, सिंधिया आदि सरदार जो अपने स्वतन्त्र राज्य जमा बैठे किन्तु उस स्वतन्त्रताकी भी रक्षा न कर सके, भरतपुरके जाट, पंजाबके सिक्ख जिन्होंने

रणजीतसिंहके नेतृत्वमें चरमोत्कर्ष प्राप्त किया किन्तु उसकी मृत्युके साथ ही पराभूत भी हो गये, मैसूरमें हैदरअली और टीपूकी अल्पस्थायी मुसलमान शक्ति तथा पुर्तगाली, डच, फ्रान्सीसी और अंग्रेज आदि यूरोपीय व्यापारी जिनके व्यापारार्थ किये गये परस्पर संघर्षमें अंग्रेज ही अन्तत: विजयी रहे और फिर भारतकी हिन्दू एवं मुसलमान शक्तियोंकी पारस्परिक फूट, अदूरदर्शिता एवं देशकी गम्भीर पतनावस्थाका लाभ उठाकर उसके पूरे भाग्यविधाता बन बैठे।

उत्तरवर्ती मुग़लनरेश—औरंगज़ेबके प्रयत्नोंके बावजूद उसकी मृत्युके पश्चात् उसके तथा उसके पिता-द्वारा डाली गयी प्रथाके अनुसार उसके अवशिष्ट पुत्रों मुअज्ज़म, आज़म और कामबख्शके बीच उत्तराधिकार-युद्ध हुआ ही जिसमें आज़म और कामबख्श मारे गये और मुअज्ज़मने शाह-आलम बहादुरशाह (१७०७–१२ ई०) उपाधिके साथ सिंहासनारोहण किया। पूर्वजों-द्वारा संचित आगरेके विपुल राजकोषमें-से लेकर सरदारों और सैनिकोंमें धन वितरण किया और उन्हें सन्तुष्ट किया। उसके सौभाग्य से मुनीमखाँ और जुल्फ़िक़ारखाँ-जैसे दो सुयोग्य और बुद्धिमान् अमात्य उसे सहायक रूपमें प्राप्त हुए थे। उनके परामर्शसे उसने जज़िया-कर उठा दिया। १७०९ ई० में जोधपुर-नरेश अजीतसिंह राठौड़के अधिकारको स्वीकार करके और उसे राज्य-सेवामें लेकर तथा गुजरातका सूबेदार बनाकर तीस वर्षसे चले आये राजपूत-विरोधका अन्त किया। जुल्फ़िक़ारके परामर्शपर मराठोंमें परस्पर फूट डालनेके उद्देश्यसे शम्भाजीके पुत्र साहूको मुक्त कर दिया और उसे दक्षिणमें जाकर अपनी चाची ताराबाईके साथ राज्याधिकारके लिए लड़नेकी अनुमति दे दी। फलस्वरूप मराठोंमें गृहयुद्ध छिड़ गया और वे उसमें उलझ गये। बादशाहने जुल्फ़िक़ारको ही दक्षिणका सूबेदार नियुक्त कर दिया और उसके स्थानमें दाऊदखाँको वज़ीर बनाया। १७१० ई० में बन्दा बैरागीके नेतृत्वमें सिक्खोंने भयङ्कर विद्रोह किया और मुसलमानोंपर अनेक अत्याचार किये। बादशाह और मुनीमखाँने स्वयं

जाकर विद्रोहका दमन किया। बन्दा बैरागी बचकर भाग निकला। १७१२ ई०में ६९ वर्षकी आयुमें बहादुरशाहकी मृत्यु हो गयी। वह दुर्गुणरहित, सज्जन और क्षमाशील था, किन्तु औरंगज़ेबके द्वारा बुरी तरह बिगाड़े हुए घरको फिरसे बनाना उसके बूतेके बाहर था। पिताके दीर्घ कालीन कठोर नियन्त्रणने उसके समस्त तेज और प्रतिभाको कुण्ठित कर दिया था। सक्रिय शासनकी योग्यता और प्रवृत्ति ही उसमें न रह गयी थी, इसी कारण वह 'शाहबेखबर' कहलाता था। उसके उपरान्त अपने तीनों भाइयोंकी हत्या करके उसका ज्येष्ठ पुत्र जहाँदारशाह (१७१२ ई०) बादशाह हुआ। वह अत्यन्त निकम्मा और दुराचारी था। ग्यारह मासके पश्चात् ही उसके भतीजे फ़र्रुखसियर (१७१३–१९ ई०) ने निर्दयतासे उसका वध करके सिंहासन स्वयं हस्तगत कर लिया। वह भी निर्लज्ज, विलासी, दुराचारी, निकम्मा और हत्यारा था। गद्दीपर बैठते ही उसने जुल्फ़िकारखाँ आदि अनेक सुयोग्य एवं प्रमुख सरदारों और दरबारियोंका निर्दयतासे वध करा दिया। अपने रक्तपातपूर्ण शासनका सारा भार उसने अब्दुल्ला और हुसैनअली नामके दो सैयद भाइयोंको सौंप दिया। उनकी विश्वासघातपूर्ण नीतिने अन्य हिन्दू एवं मुसलमान सरदारोंको रुष्ट कर दिया। उसने जज़िया कर लगानेका भी विफल प्रयत्न किया। १७१५ ई०में बन्दा बैरागी पकड़ा गया और बादशाहने उसे घोर यन्त्रणा देकर मरवा डाला और उसके लगभग एक हज़ार साथियोंका भी क्रूरतासे वध करवा दिया। अंग्रेज़ोंके दूतसे चार-पाँच लाख रुपयेकी भेंट लेकर और उसके साथी डा० हैमिल्टनके इलाजसे प्रसन्न होकर फ़र्रुखसियरने अंग्रेज़ कम्पनीको भारतमें व्यापार करनेकी मूल्यवान् सुविधाएँ दे दीं और उनके मालको भी तट-करसे मुक्त कर दिया। १७१९ ई० में सैयद भाइयोंने ही उसे पदच्युत करके उसका वध कर डाला। तदुपरान्त इन सैयदोंने नेकुसियर, रफ़ीउदौलत और रफ़ीउद्दरजात नामक तीन शाहज़ादोंको एक-एक करके बादशाह बनाया और थोड़े-थोड़े दिन बाद प्रत्येकका वध कर दिया। इसी कारण ये सैयदबन्धु 'राजा बनाने-

वाले' कहे जाने लगे। अन्तमें उन्होंने फ़र्रुखसियरके एक अन्य चचेरे भाई मुहम्मदशाह (१७१९–४८ ई०) को बादशाह बनाया। वह भी बड़ा निकम्मा, दुराचारी और विलासी था, इसी कारण मुहम्मदशाह रंगीलेके नामसे प्रसिद्ध हुआ। किन्तु उसने तख्तपर बैठते ही सैयद हुसैनअलीका गुप्तरूपसे वध करवा डाला और उसके भाई अब्दुल्लाको बन्दीगृहमें डाल दिया। १७२० ई०में एक अन्य शाहजादे इब्राहीमने भी बादशाह होनेका विफल दावा किया। राठौड़-नरेश अजीतसिंहका प्रभाव और शक्ति इस समय पर्याप्त बढ़ गयी थी। जयपुरके सवाई जयसिंह और उदयपुरके संग्रामसिंह भी शक्तिशाली हो रहे थे। इन तीनोंने मिलकर एक राजनैतिक समझौता भी किया था, किन्तु वह सफल न हुआ। मुग़ल-सम्राट् और उसके दरबारकी ओरसे राजपूत उपेक्षित होते गये और स्वयं अपने-अपने राज्यकी शक्ति बढ़ानेमें व्यस्त रहे तथापि सवाई जयसिंह आदि राजपूत राजाओंके प्रभावसे इस बादशाहने जज़िया लगानेके प्रश्नको सदाके लिए समाप्त कर दिया। राज्यके जैन-धनिकोंके आग्रहपर उसने पशुवधपर भी कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया था। मुहम्मदशाहने १७२२ ई०में चिनकलीचखाँ आसफ़जहाँ निज़ामुल्मुल्कको अपना वज़ीर बनाया, इसके पहले वह दक्खिनका सूबेदार था। किन्तु साम्राज्यकी पुनः शासन-व्यवस्था करनेका दुस्तर कार्य उसे अपने बूतेके बाहर जान पड़ा अतः अगले ही वर्ष वह फिर अपनी दक्खिनकी सूबेदारीपर चला गया और वज़ीर भी बना रहा। १७२४ ई०में हैदराबादको राजधानी बनाकर दक्खिनके पूरे मुग़ल सूबेको उसने अपना स्वतन्त्र निज़ाम राज्य घोषित कर दिया। दिल्लीकी राजनीतिमें उसने फिर कोई भाग नहीं लिया और मराठोंसे अपने नवीन राज्यको सुरक्षित रखनेमें ही व्यस्त हो गया। उसी वर्ष सादतखाँ नामके एक अन्य सरदारने अवधके पूरे सूबेपर अधिकार जमाकर और फ़ैज़ाबादको राजधानी बनाकर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। बंगालके सूबेदार अलीवर्दीख़ाँने भी सम्राट्को कर देना बन्द कर दिया और उसके आधिपत्यको भी शनैः-

शनैः अस्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया, अन्ततः राजधानी मुर्शिदाबाद से वह (१७४०–५६ ई०) पूरे बंगाल और बहुभाग बिहारपर स्वतन्त्र नवाबके रूपमें राज्य करने लगा। गंगाके उत्तरवर्ती उर्वरा एवं विस्तृत प्रदेशपर जो रुहेलखण्ड कहलाया, रुहेले पठानोंने अपना स्वतन्त्र राज्य जमा लिया।

भरतपुर और उसके आस-पास सूरजमल जाटने अपना राज्य जमाया। बुन्देलखण्डमें राजा छत्रसाल पूर्ववत् विद्रोही बना हुआ था। गुजरात और मालवेके बहुभागपर पहले राजपूतोंका अधिकार रहा और फिर पूनाके पेशवे पूर्वमें उड़ीसा, उत्तरमें चम्बल और पश्चिममें गुजरात पर्यन्त फैलने लगे। दिल्ली दरबारमें जयसिंह, अभयसिंह आदि राजपूत राजाओंके अतिरिक्त मुहम्मदखाँ बंगश-जैसे एक-दो राज्यभक्त चतुर एवं वीर सेनानी और भी थे और उन्होंने मराठों, बुन्देलों, जाटों आदिका भरसक प्रतिरोध भी किया, तथापि देखते-देखते ही बिना किसी भारी युद्ध या रोक-टोक के कागजी महलकी भाँति विशाल मुगल-साम्राज्य औरंगजेबकी मृत्युके कुछ ही दशकोंके भीतर छिन्न-भिन्न एवं भूमिसात् हो गया। इससे किसीको भी, स्वयं दिल्लीके बादशाह मुहम्मदशाह रंगीलेको भी, न कोई आश्चर्य ही हुआ और न कुछ चिन्ता ही। इसी कालमें फ़ारसके शाह नादिरशाह दुर्रानीने, जो उस कालका सर्वमहान् योद्धा माना जाता है, १७३९ ई०में भारतपर आक्रमण किया। ग़जनी, काबुल और लाहौरके मार्गसे होता हुआ वह बिना किसी बाधाके दिल्लीके निकट पहुँच गया। कर्नालमें शाही सेनाने उसका प्रतिरोध किया। दो घण्टेमें ही युद्ध समाप्त हो गया, दिल्ली के लगभग बीस हज़ार सैनिक युद्धमें मारे गये, और बादशाह मुहम्मदशाह ने स्वयं दुर्रानीकी छावनीमें जाकर हाज़िरी दी। नादिरशाहने उससे नरमीका बर्ताव किया और मित्रता प्रदर्शित की। दिल्लीके शाही महलोंमें अत्यन्त सम्मानित अतिथिके रूपमें वह ठहरा। किन्तु कुछ लोगोंने उसकी मृत्युकी झूठी अफ़वाह उड़ा दी और यत्र-तत्र उसके सैनिकोंको मारना

शुरू कर दिया। इसपर नादिरशाहका क्रोध भड़का और उसने क़त्ले-आमकी आज्ञा दी। दिल्लीके प्रमुख बाजारकी सुनहली मस्जिदमें बैठकर वह नौ घण्टे तक लगातार दिल्ली-निवासियोंका निर्मम संहार देखता रहा। अन्ततः मुहम्मदशाह और उसके मन्त्रियोंके अत्यन्त अनुनय-विनय करनेपर असंख्य निरपराधोंके रक्तसे अपनी प्यास बुझाकर उसने यह पैशाचिक नरसंहार रोका। तदनन्तर ५८ दिन तक शाही मेहमान रहकर उसने तीन सौ वर्षमें संचित किये मुग़लोंके अपार धन-वैभवको उन्मुक्त होकर लूटा। शाही कोष और महलोंके अतिरिक्त दिल्लीकी जनताके भी सभी वर्गोंको जितना बना लूटा-खसोटा। और तब कोहेनूर हीरा तथा मयूर सिंहासनके साथ-साथ अन्य विपुल धन-सम्पत्ति जो अनुमानातीत है, ऊँटों, गधों और खच्चरोंपर लदवाकर ले गया। दुर्रानीकी इस भयंकर नादिरशाहीसे दिल्ली धन-जनहीन हो गयी और दिल्लीका बादशाह भी जो साम्राज्य और अधिकारविहीन तो पहले ही हो चुका था, अब धनहीन दरिद्री भी हो गया और उसकी प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गयी। सिन्धुनदके पश्चिमका अफ़गानिस्तान आदि समस्त प्रदेश नादिरशाहके राज्यका अंग बन गया। मुहम्मदशाहके अन्तिम दिनोंमें अहमदशाह अब्दालीने जो नादिरशाहकी मृत्युके उपरान्त उसके साम्राज्यके पूर्वी भागका स्वामी बन बैठा था, पंजाब पर आक्रमण किया किन्तु शाहज़ादे अहमदशाह और वज़ीर कमालुद्दीनने उसे पराजित करके पीछे हटा दिया। इसके एक मास पश्चात् ही मुहम्मद-शाहकी मृत्यु होनेपर उसका पुत्र अहमदशाह (१७४८–१७५४ ई०) दिल्लीका बादशाह हुआ। इसी वर्ष हैदराबादके निज़ाम और दिल्लीके वज़ीर आसफ़जहाँकी भी मृत्यु हो गयी थी। अब उसका पोता ग़ाज़ीउद्दीन वज़ीर हुआ। अब्दालीने पंजाबपर दूसरा आक्रमण किया और उस प्रान्त को उसे ही दे देनेके लिए बादशाहको विवश कर दिया। १७५४ में वज़ीर ग़ाज़ीउद्दीनने बादशाह अहमदशाहको पदच्युत करके पूर्ववर्ती बादशाह जहाँदारशाहके पुत्र आलमगीर द्वितीय (१७५४–५९ ई०) को बादशाह

बनाया। १७५६ ई० मे अब्दालीने अपना तीसरा आक्रमण किया, इस बार उसने दिल्लीको ही हस्तगत करके उस राजधानीमें भयंकर लूट-मार मचायी तथा मथुरा आदिमे भी भयंकर नरसंहार और अत्याचार किये। अब उसका विरोध करनेवाली इस देशमे कोई मुसलमान शक्ति नहीं थी। अवधके नवाब और रुहेले उसे अपना अधिपति मानने लगे थे। मराठोंसे ये परेशान थे। पेशवाओंकी शक्ति इस समय अपने चरम-शिखरको पहुँच रही थी और उन्होंने पंजाबको भी १७५८ ई० मे विजय कर लिया था। अतः भारतीय मुसलमानोंने अब्दालीकी सहायतासे मराठोंको कुचलनेकी योजना बनायी। अब्दाली स्वयं भारतपर शासन करनेका अभिलाषी था। इसी बीचमें आलमगीरका वध कर दिया गया और उसका पुत्र शाहजादा अली गोहर, शाहआलम द्वितीय (१७५९–१८०६ ई०) के नामसे, दिल्ली का बादशाह हुआ। अब्दालीने भी उसे स्वीकार कर लिया। १७६१ ई० में अहमदशाह अब्दाली विशाल सैन्यशक्तिके साथ फिर भारतके अन्तः-प्रदेशमे आया। इस बार वह मराठोंका अन्त करनेके उद्देश्यसे ही आया था। १७६१ ई० में अब्दालीके नेतृत्वमें मुसलमानोंके साथ पेशवाकी सेना का पानीपतकी प्रसिद्ध रणभूमिमे भयंकर युद्ध हुआ। विजय मुसलमानों के हाथ ही रही। इस पराजयने पेशवाओंकी कमर तोड़ दी। मराठा शक्तिकी जो क्षति हुई वह भी पेशवा तक ही सीमित थी, उसके सिन्धिया, होल्कर आदि सरदार स्वतन्त्र शक्तिशाली राजा बन बैठे। अवधका नवाब शुजाउद्दौला दिल्लीके बादशाहका वजीर भी बन गया था और क्योंकि वह अब्दालीका सहायक एवं समर्थक था इसलिए उसकी इस विजयसे उसे तथा नजीबुद्दौला रुहेलेको ही अधिक लाभ हुआ। उत्तर भारतकी इन विषम परिस्थितियोंका लाभ उठाकर चालाक अंग्रेज़ोंने बंगालपर प्रायः पूर्णाधिकार कर लिया था। १७५७ ई० के पलासीके युद्धके उपरान्त अब मीर जाफ़र आदि बंगालके नवाब उनके हाथकी कठपुतली मात्र थे। दिल्लीका बादशाह शाहआलम मात्र एक तमाशाई था। अहमदशाह अब्दालीका भारतके

साम्राज्यको भोगनेका स्वप्न भी उसके सैनिकोंके विद्रोहके कारण भग्न हो गया और उसे अपने देशको लौट जाना पड़ा। वह फिर वापस न आया। १७६५ ई०में इलाहाबादमें बादशाह शाहआलमके दरबारमें उपस्थित होकर अंग्रेजोंके गवर्नर क्लाइवने २६ लाख रुपये वार्षिक करके बदलेमें उससे बंगाल और बिहारकी दीवानी और कड़ा एवं इलाहाबादके ज़िले अपनी कम्पनीके नाम लिखा लिये। वास्तवमें दिल्लीका बादशाह अब नाममात्रका ही बादशाह और सम्राट् था। वह अपने पूर्वजोंके प्रताप और अधिकारकी एक गौण एवं उपेक्षणीय छाया-मात्र रह गया था। घटना-क्रमपर उसका कोई प्रभाव न था। दिल्ली दरबारका परम्परागत अधिकार-मात्र इतना ही रह गया था कि विभिन्न पक्षों-द्वारा किये गये बलात् एवं अन्यायपूर्ण कार्यों को उन-उन पक्षोंके कहनेसे अपनी शाही मुद्राकी छाप-द्वारा बाह्यतः न्याय रूप दे-दे। बादशाह शाहआलम कभी किसी मुसलमान सरदारका या नवाबका, कभी मराठा राजा सिन्धियाका और कभी अंग्रेजोंका बन्दी या आश्रित रहा। गुलाम क़ादिर नामक एक गुण्डेने जिसने उसके दरबारमें थोड़ा प्रभाव पैदा कर लिया था, शाहआलमकी दोनों आँखें फोड़ दी। महादाजी सिन्धियाने उसकी क़ैदसे बादशाहको मुक्त किया और अपनी ही एक प्रकारकी क़ैदमें रखा। १८०३ ई० में वह अंग्रेज कम्पनी का आश्रित हो गया और उससे प्राप्त वार्षिक पेन्शनसे अपना निर्वाह करने लगा। उसका पुत्र अकबर द्वितीय (१८०६–३७ ई०) और तदनन्तर पौत्र बहादुरशाह द्वितीय (१८३७–५७ई०) नाममात्रके बादशाह थे। वे अंग्रेज व्यापारियोंके पेन्शनभोगी, केवल नामके लिए बादशाह या सम्राट् पदका प्रयोग करनेके अधिकारी थे। वस्तुतः दिल्लीके धन-जनविहीन लालक़िलेकी चहार-दीवारीके भीतर ही उनकी बादशाहत और साम्राज्य सीमित थे। उसीमें अपने पूर्वजोंके अतीत गौरवकी स्मृतिमें आँसू बहाना, अपने छोटेसे परिवार तथा कुछ शायरों और मुफ़्तखोरे चाटुकार मुसाहबोंसे बने दरबार और फटे-पुराने कपड़े पहने निःशस्त्र थोड़े

से नौकर-चाकरोंके साथ दिल्लीके एक सामान्य रईसकी भाँति दिन बिताना ही उनके भाग्यमें रह गया था। १८५७ ई० के तथाकथित विद्रोहके उपरान्त उसका भी अन्त हुआ। अन्तिम बादशाह बहादुरशाहके पुत्रों आदिका वध कर दिया गया, उसे स्वयं रंगूनमें निर्वासित कर दिया गया और वहीं अंग्रेजोंके बन्दीके रूपमें कुछ वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गयी, और उसके साथ मुग़लोंकी बादशाहतका अन्त हो गया।

मुसलमान नवाब—१. हैदराबादके निज़ाम—हैदराबाद दक्खिन के निजामोंका मुसलमानी राज्य मुग़ल-साम्राज्यके पतनसे लाभ उठाकर उसी के अवशेषोंपर स्थापित होनेवाला सर्व-प्रथम मुसलमानी राज्य था, और यही राज्य सर्वाधिक स्थायी भी रहा, साथ ही सर्वाधिक धनी एवं समृद्ध भी। बहादुरशाहने १७१० ई० में जुल्फ़िकार अलीको अपना वज़ीर और दक्खिनका सूबेदार बनाया था, जुल्फ़िकारने अपनी ओरसे दाउदखाँ पठान को सूबेका शासन करनेके लिए नियुक्त कर दिया था। किन्तु बादशाह फ़र्रुखसियरने जुल्फिकारको मरवा डाला और १७१५ ई० के लगभग चिन-कलीचखाँ आसफ़जहाँको दक्खिनका सूबेदार नियुक्त किया। १७२२ ई० में बादशाह मुहम्मदशाहने आसफ़जहाँको दिल्ली वापस बुलाकर अपना वज़ीर बनाया, किन्तु वह एक वर्ष बाद ही वापस अपने सूबेमें चला गया और १७२४ ई० में उसने निज़ामुल्मुल्ककी उपाधि धारण करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी, हैदराबादको अपनी राजधानी बनाया और मुग़ल साम्राज्यके दक्खिनके पूरे सूबेपर अपना राज्य स्थापित कर लिया। आसफ़जहाँ बहुत योग्य, चतुर और बुद्धिमान् था। अपने शासनके अन्तिम २५ वर्षोंमें औरंगज़ेब दक्खिनमें ही रहा था अतएव उसकी बहुत-सी धन-सम्पत्ति वहीं रह गयी थी। दक्खिनकी मुसलमानी सलतनतोंका अन्त करके जो विपुल सम्पत्ति औरंगज़ेबने वहाँ प्राप्त की थी उसका भी बहुत-सा अंश वहीं रह गया था। बिजयनगरकी लूटसे प्राप्त अपार धन इन सुलतानोंके पास था। अंग्रेज आदि अभी तक कुछ छीन नहीं पाये थे,

शिवाजी और उसके उपरान्त पेशवाओंने ही जो थोड़ा-बहुत छीन पाया था उसके अतिरिक्त शताब्दियों क्या सहस्राब्दियोंसे संचित होती आयी दक्षिण भारतकी अपार धन-सम्पत्तिका बहुभाग निज़ामके ही हाथ लगा था। उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी पेशवा थे, उन्हींका उसे सबसे अधिक भय था। पेशवा बाजीराव भारी विजेता एवं पराक्रमी था, उसके कारण मराठों में परस्पर फूट डालनेकी निज़ामकी चाल असफल रही। अब उसने उनसे मित्रता बनाये रखनेमें ही कुशल समझी। १७२८ ई० में उसने पेशवाको नियमित चौथ देते रहना भी स्वीकार कर लिया। १७३८ ई० में उसने पेशवाको दिल्लीकी ओर बढ़नेसे रोकनेका भी प्रयत्न किया किन्तु भोपाल के निकट पराजित होकर चुप बैठ रहा। १७४८ ई० में वृद्ध निज़ामकी मृत्यु हुई और उसके दूसरे पुत्र नासिरजंग और पोते मुज़फ़्फ़रजंगके बीच उत्तराधिकारके लिए संघर्ष हुआ। फ़्रान्सीसी व्यापारियोंने मुज़फ़्फ़रकी सहायता की। युद्धमे तो वह हार गया किन्तु १७५० ई० में नासिरकी मृत्यु हो गयी और मुज़फ़्फ़र निज़ाम हुआ। उसने फ़्रान्सीसियोंको बहुत सा धन व जागीरें दीं और उनकी एक पलटन भी अपने राज्यमें किराये पर रख ली। इस प्रकार फ़्रान्सीसियोंका प्रभाव उसके दरबारमें बढ़ गया। मुज़फ़्फ़र भी शीघ्र ही एक युद्धमें मारा गया। उसके स्थानमे उसके लड़के को वंचित करके आसफ़जहाँके तीसरे पुत्र सलाबतजंगको फ़्रान्सीसियोंके प्रतिनिधि बुसीने गद्दीपर बैठाया। १७५८ ई० में बुसीको उसकी सरकारने वापस बुला लिया और निज़ाम राज्यमें फ़्रान्सीसियोंके प्रभावका अन्त हो गया। सलाबतजंगको मारकर उसका भाई निज़ामअली नवाब बन गया। अब निज़ाम, मराठे और मैसूरका हैदरअली दक्षिण भारतकी प्रभुताके लिए परस्पर लड़ रहे थे। अंग्रेज़ोंने अपनी कूटनीतिसे कभी किसीका और कभी किसीका पक्ष लेकर और जब चाहा अपना वचन भंग करके या विश्वासघात करके उन सब ही को बलहीन करना और अपनी शक्तिको बढ़ाना प्रारम्भ किया। भारतीय राजाओं और नवाबोंकी मूर्खताके कारण

उन्हें आशातीत सफलता मिलती गयी। १७९५ ई० में निज़ामको उन्होंने अपनी सहायकसन्धि-योजनाके जालमें फँसाकर अपंगु बना दिया। अब वह उनका आश्रित एवं एक प्रकारसे अधीन ही हो गया। शनैः-शनैः यह अंग्रेज़ी पराधीनता इतनी पूर्ण हो गयी कि निज़ाम अंग्रेज़ोंका एक आज्ञाकारी अनुचरमात्र रह गया जो उनकी दयासे अपने पैतृक राज्य-वैभवका आंशिक उपभोग कर सकता था। अभी कुछ वर्ष पूर्व स्वतन्त्रता प्राप्तिके उपरान्त सरदार पटेलकी विचक्षण नीतिने अन्य देशी राज्योंके साथ-साथ उस नाम मात्रकी राज्य सत्ताका भी अन्त कर दिया। व्यक्तिगत रूपमें निज़ामका वर्तमान वंशज आज भी विश्वके सर्वाधिक धनी व्यक्तियोंमें-से है। पिछले सौ वर्षोंमें अंग्रेज़ोंकी छत्र-छायामें हैदराबादके निज़ाम ही भारतवर्षमें इस्लाम और मुसलमानोंके प्रधान नेता, संरक्षक एवं अभिभावक बने रहे। हैदराबादकी निज़ामीके उत्कर्षके साथ-साथ ही दक्खिनमें कुछ अन्य छोटे-छोटे मुसलमान नवाब भी थे जो प्रथम निज़ामके अधीन थे किन्तु उसकी मृत्युके बाद प्रायः अर्धस्वतन्त्र हो गये थे। इनमें कर्णाटकका नवाब अनवरुद्दीन प्रमुख एवं योग्य था। आसफ़जहाँकी मृत्युके लगभग ही चाँदा साहबने उसे गद्दीसे उतारकर स्वयं राज्यपर अधिकार करनेका प्रयत्न किया और फ़्रान्सीसियोंकी सहायता ली। अनवरुद्दीन १७४९ ई० में मारा गया। उसके पुत्र मुहम्मदअलीका पक्ष अंग्रेज़ोंने लिया। इस प्रकार कर्णाटककी इस छोटी-सी नवाबीके आन्तरिक झगड़ोंमें पड़नेके द्वारा ही अंग्रेज़ों और फ़्रान्सीसियोंका भारतकी राजनीतिमें सर्वप्रथम प्रवेश और हस्तक्षेप हुआ। सफलताने अंग्रेज़ोंकी राज्य-लिप्साको उत्तेजित किया। १७५१ ई० में कर्णाटकके उत्तराधिकार-युद्धके सिलसिलेमें क्लाइव-द्वारा अर्काटके सफल घेरे और विजयसे ही भारतमें अंग्रेज़ी राज्यका सूत्रपात हुआ।

२. अवधकी नवाबी—निज़ामके साथ ही १७२४ ई० में सआदतखाँ नामक सरदारने अवध प्रान्तपर अधिकार करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी। अवधके नवाबोंने पहले फ़ैज़ाबादको और तदनन्तर लखनऊ

को अपनी राजधानी बनाया। दिल्ली बादशाहीकी अवनति, नादिरशाहके आक्रमण तथा देशकी राजनैतिक अस्त-व्यस्ततासे लाभ उठाकर सआदतखाँ के उत्तराधिकारी सफ़दरजंगने जो बादशाहका वज़ीर भी बन गया था, अपनी शक्ति पर्याप्त बढ़ा ली और अवध प्रान्तके अनेक छोटे-छोटे हिन्दू एवं मुसलमान तालुक़ेदारोंको अपने नियन्त्रणमें रखकर तथा उनकी सहायता-सहयोगसे अवधकी नवाबीको उत्तर भारतकी प्रधान शक्ति बना लिया। निज़ामके पौत्र गाज़ीउद्दीनके पश्चात् सफ़दरका उत्तराधिकारी अवधका नवाब शुजाउद्दौला भी दिल्लीका वज़ीर बन गया। इसीलिए वह और उसके कई उत्तराधिकारी नवाब-वज़ीर अवध भी कहलाते थे। अहमदशाह अब्दाली का वह सहयोगी और पक्षपाती था। पानीपतके तीसरे युद्ध (१७६१ ई०) में वह ससैन्य उपस्थित था किन्तु युद्धमें उसने कोई सक्रिय भाग नहीं लिया और उसके समाप्त होते ही चुपकेसे अपने राज्यमें लौट आया। १७५९ ई० मे उसने शाहज़ादे शाहआलमके साथ बिहारपर भी आक्रमण किया था किन्तु क्लाइवके नेतृत्वमें अंग्रेज़ी सेनाके प्रतिरोधके कारण विफल होकर लौट आया था। १७६४ ई० में बक्सरके युद्धमें उसने मीरकासिमकी अंग्रेज़ोंके विरुद्ध सहायता की थी और उसे बादशाह शाहआलमकी भी स्वीकृति प्राप्त थी। किन्तु इस युद्धमें अंग्रेज़ोंकी ही विजय हुई। शुजाउद्दौलासे चुनार और इलाहाबादके दुर्ग छिन गये। शाहआलमने भी एक प्रकारसे अंग्रेज़ोंका संरक्षण स्वीकार कर लिया। १७६५ ई० मे इलाहाबादकी उपहासास्पद सन्धिके द्वारा क्लाइवने इलाहाबाद और कड़ाके ज़िलोंके अतिरिक्त ५० लाख रुपया युद्धके हरजानेके रूपमें देनेका नवाबसे वचन ले लिया और किसी भी तीसरे पक्षके विरुद्ध परस्पर एक-दूसरेको सहायता करनेकी शर्त भी करवा ली। नवाबकी सीमाकी रक्षाके लिए किरायेपर अंग्रेज़ी सेना रखनेकी बात भी तय हो गयी और इस प्रकार अवधके नवाबकी भी लगभग पचास वर्षके भीतर ही स्वतन्त्रता नष्टप्रायः हो गयी। १७७३ ई० में बनारसकी सन्धिके अनुसार नवाबने पचास लाख रुपयेके बदलेमें अंग्रेज़ोंसे

कड़ा और इलाहाबादके ज़िले बादशाहसे छिनवाकर अपने नाम लिखा लिये और अगले वर्ष अंग्रेज़ोंकी सहायतासे रुहेलोंकी शक्तिका अन्त कर दिया। उसके उत्तराधिकारी आसफ़ुद्दौलाको १७८१ ई० में अंग्रेज गवर्नर वारेन हेस्टिंग्सने पूर्णतया पंगु बना दिया। कभी अंग्रेज़ी सेनाके व्ययके रूपमें और कभी पिछले पावनोंके रूपमें उसने नवाबसे निरन्तर रुपयेकी माँग जारी रखी। नवाबकी माँ और दादीको भी निर्दयताके साथ लूटा। अवधकी बेगमों के साथ किया गया यह अन्यायपूर्ण एवं अपमान-जनक बर्ताव हेस्टिंग्सका एक अतिरिक्त कलंक बना। आसफ़ुद्दौला अपने लखनऊके प्रसिद्ध इमाम-बाड़ेके निर्माणके लिए प्रसिद्ध है और लखनऊ नगरमे एक दानी नवाबके रूपमें उसकी प्रसिद्धि आज तक चली आती है। उसके उत्तराधिकारी अवध के नवाब अंग्रेज़ोंके चाटुकार तथा अत्यन्त विलासी और निकम्मे थे। अन्तिम नवाब वाजिदअलीशाहको १८५६ ई० में अंग्रेज़ोंने कलकत्तेके मटिया बुर्जमे ले जाकर बन्दी कर दिया और उसके नाममात्रके अधिकारका अन्त करके अवधको अंग्रेज़ी राज्यमे सम्मिलित कर लिया।

३. बंगालकी नवाबी—१७०१ ई० में औरंगजेबने मुर्शिदकुली खाँको बंगालका सूबेदार नियुक्त किया था। बिहार और उड़ीसाके प्रान्त भी शनैः-शनैः उसीके अधिकारमें आ गये। वह एक योग्य शासक था। दिल्लीकी राजनीतिसे प्रायः पृथक् ही रहकर उसने अपने सूबेका भली प्रकार शासन किया। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी शुजाउद्दीन (१७२५-३९ ई०) अपने पितासे भी अधिक योग्य शासक था, वह सहिष्णु, उदार और दानशील भी था। उसके शासनकालमें बंगालने सुख-शान्ति और समृद्धिका अनुभव किया। यह नवाब पक्षपातरहित और अत्यन्त न्याय-परायण भी था। उस कालमें ऐसा व्यक्ति अपवाद ही था। दिल्ली या शेष भारतकी कुराजनीतिसे उसने कोई सम्पर्क नहीं रखा और यद्यपि वह एक सर्वथा स्वतन्त्र शासक ही था तथापि अपने-आपको दिल्ली बादशाहके अधीन और उसका सूबेदार ही मानता रहा और वार्षिक राज्यकर भी

नियमित भेजता रहा। उसका पुत्र सरफ़राजखाँ (१७३९–४१ ई०) धार्मिक प्रवृत्तिका व्यक्ति तो था किन्तु एक अयोग्य शासक था। उस समय उसका अधीनस्थ बिहारका नायब सूबेदार अलीवर्दीखाँ था जिसे शुजाउद्दीनने ही तरक्की देकर उस पदपर नियुक्त किया था और अपना प्रधान वज़ीर भी बनाया था। अलीवर्दीखाँ वीर, सुयोग्य और महत्त्वाकांक्षी था। नादिरशाह के आक्रमणका लाभ उठाकर उसने अपने स्वामी सरफ़राजखाँके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। युद्धमें सरफ़राजखाँ मारा गया और अलीवर्दीखाँ (१७४१–५६ ई०) ने बंगालके सिंहासनपर अधिकार कर लिया। भ्रष्ट दिल्ली दरबार और बादशाहको घूस देकर उसने अपने लिए बंगाल, बिहार और उड़ीसाकी सूबेदारीका अधिकार-पत्र भी सहज ही प्राप्त कर लिया और उसके स्वामि-द्रोह एवं स्वामिवध-जैसे अपराधपर कोई प्रश्न न उठा। तदनन्तर उसने एक पैसा भी राज्यकरके नामसे सम्राट्को न भेजा और स्वतन्त्र नवाबकी हैसियतसे राज्य किया। हिन्दू, मुसलमान, सभी प्रजा उससे सन्तुष्ट थी। मुर्शिदाबादको उसने अपनी राजधानी बनाया। उसके शासनके प्रारम्भसे मराठोंने उसके राज्यपर आक्रमण और लूट-मार करनी प्रारम्भ कर दी और ग्यारह वर्ष तक वह उन्हींके प्रतिरोधमें व्यस्त रहा। अन्ततः १७५१ ई० मे मराठोंको उड़ीसा प्रान्त देकर उसने उनसे शान्ति मोल ली। बंगालकी चौथके रूपमें उन्हें १२ लाख रुपया प्रतिवर्ष देनेका भी उसने वचन दिया। उसकी सबसे बड़ी भूल यही थी कि उसने बंगालमें अंग्रेजोंको प्रश्रय दिया। ८० वर्षकी आयुमें वृद्ध अलीवर्दीकी मृत्यु होनेपर उसके द्वारा मनोनीत एवं उसका अत्यन्त स्नेहभाजन दौहित्र सिराजुद्दौला (१७५६–५७ ई०) नवाब हुआ। वह वीर योद्धा एवं सदाशय था किन्तु अनुभव-हीन उद्धत युवक था। अंग्रेजोंपर उसे प्रारम्भसे ही अविश्वास था। अली-वर्दीखाँ तो अपनी चतुराईसे उनपर नियन्त्रण रखे हुए था और उनकी शक्तिको सीमाके बाहर न बढ़ने देता था। किन्तु उसकी मृत्युके पश्चात् ही उन्होंने अपनी क़िलेबन्दी शुरू कर दी, नवाबकी वे अवज्ञा करने लगे,

उसके अपराधियोंको शरण देने लगे और १७१७ ई० के शाही फ़रमानसे उन्हें जो व्यापारिक सुविधाएँ मिली हुई थीं उनका भी वे अनुचित लाभ उठाने लगे। सिराज यह सब सहन न कर सका और उसने उन्हें वह सब करनेसे रोका। अंग्रेज़ोंने नवाबकी आज्ञा माननेसे इनकार कर दिया और अत्यन्त उद्दण्डतापूर्ण उत्तर लिख भेजा। नवाबने क्रोधित होकर कासिम-बाजारकी कोठीपर अधिकार कर लिया। तदनन्तर कलकत्तेपर धावा किया। बहुतसे अंग्रेज़, उनके गवर्नर और सेनापति भाग निकले। बंगाल, बिहार और उड़ीसाकी अन्य अंग्रेज कोठियोंपर भी नवाबका अधिकार हो गया। मद्रास समाचार पहुँचते ही क्लाइव और वाटसन गोरोंकी जल-थल-सेना लेकर बंगालके लिए रवाना हो गये और उन्होंने कलकत्तेपर पुनः अधिकार कर लिया। धूर्त क्लाइवने नवाबकी फ़ौजके बख़्शी मीरजाफ़रको जो अलीवर्दीख़ाँका बहनोई और नवाबीका एक बड़ा सरदार था, तथा सिख सौदागर अमीचन्द एवं अन्य कई प्रतिष्ठित व्यक्तियोंको मिलाकर नवाबके विरुद्ध एक भीषण षड्यन्त्र रचा और सब तैयारी कर लेनेपर झूठा दोषारोपण करके नवाबको युद्धके लिए ललकारा। १७५७ ई० मे पलासीके मैदानमें दोनों दलोंका भीषण युद्ध हुआ। नवाब की सेनाका बहुभाग जो मीरजाफ़र और उसके पुत्र मीरनके प्रभावमें था तमाशा ही देखता रहा। नवाब हार गया और बन्दी कर लिया गया, तदनन्तर मीरनने उसका वध कर डाला। सिराजुद्दौलाके अन्तके साथ ही बंगालकी स्वतन्त्र नवाबीका भी अन्त हो गया और विशाल समृद्ध देशपर वस्तुतः अंग्रेज़ोंका ही अधिकार हो गया। मीरजाफ़र नवाब बना। उसने मुक्तहस्तसे क्लाइव तथा अंग्रेज़ कौन्सिलके मेम्बरोंको धन दिया। उसका अधिकार नाममात्रका ही था, वास्तविक शक्ति क्लाइवके हाथमें थी। वैसे भी यह नवाब निकम्मा, अयोग्य और अफ़ीमची था। १७५९ ई० में शाहज़ादा शाहआलम और नवाब-वज़ीर अवधने उसकी अनीतिके लिए उसे दण्ड देनेके अभिप्रायसे बंगालपर आक्रमण किया। नवाबकी ओरसे

सेना लेकर क्लाइव उनके विरुद्ध चला, इसपर वे बिना लड़े ही वापस लौट गये। मीरजाफ़रने प्रसन्न होकर क्लाइवको ५-६ लाख रुपये वार्षिककी जागीर दे दी। किन्तु अंग्रेज़ोंकी नोच-खसोटसे मीरजाफ़र भी तंग आ गया और उसने डचोंसे सहायता माँगी किन्तु क्लाइवने उन्हें भी पराजित किया और उनसे हरजाना लिया। इधर नवाबका खज़ाना खाली हो गया था, अंग्रेज़ोंकी नित्य नवीन रुपयेकी माँगको वह पूरा नहीं कर सकता था। हिन्दू जमींदारोंकी सहायतासे ही सिराजका अन्त करनेमें क्लाइव सफल हुआ था और अब मीरजाफ़रके भी मुख्यतः हिन्दू दरबारी उसके विरोधी एवं विश्वासघाती थे। १७६० ई० मे क्लाइवके इंग्लैण्ड रवाना होनेके थोड़े समय पश्चात् ही कलकत्तेकी अंग्रेज कौन्सिलने मीरजाफ़रको गद्दीसे उतार कर उसके दामाद मीरक़ासिमको नवाब बनाया। मीरक़ासिम बुद्धिमान्, योग्य, वीर और स्वतन्त्रता-प्रेमी था, किन्तु अंग्रेज़ोंकी नोच-खसोटने उसे पंगु कर दिया था। प्रजापर अंग्रेज व्यापारियों-द्वारा किये जानेवाले क्रूर अत्याचार भी उसे खटक रहे थे। उनकी मनमानी प्रवृत्तियोंको जब उसने नियन्त्रित करना चाहा तो कौन्सिलने उसका विरोध किया और उसे विद्रोह करनेपर विवश किया। पटनामें १७६३ ई० में उसके एक जर्मन अफ़सर समरूने दो-डेढ़-सौ अंग्रेज़ोंका वध कर दिया। मीरक़ासिम युद्धमें पराजित होकर अवधकी ओर भाग गया। अंग्रेज़ोंने मीरजाफ़रको फिरसे नवाब बना दिया। १७६४ ई० में मीरक़ासिमने अवधके नवाबकी सहायतासे बंगालपर आक्रमण किया किन्तु बक्सरके युद्धमें पराजित होकर उसका अन्त हो गया। १७६५ ई०में मीरजाफ़र मर गया और उसका पुत्र नजमुद्दौला नवाब हुआ। उसी वर्ष इलाहाबादकी तथाकथित सन्धिके अनुसार क्लाइवने जो अब वापस आ गया था, बादशाह शाहआलमसे बंगाल, बिहार और उड़ीसाकी दीवानी एवं वस्तुतः समस्त शासनाधिकार प्राप्त करनेका क़ानूनी ढोंग भी पक्का कर लिया। फलस्वरूप बंगालमें दोहरा शासन स्थापित हो गया। १७७९-८० ई०में बंगालमें भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच

गयी। इसी समय बंगालके नाममात्रके नवाबको भी पदच्युत करके और उसे ३२ लाख रुपये वार्षिक पेन्शन देकर अलग कर दिया गया। दो वर्ष बाद वह पेन्शन भी आधी कर दी गयी। अब बंगाल, बिहारपर पूर्णतया अंग्रेजी शासन था।

४. रुहेलखण्डके नवाब—उत्तर मुगल कालकी अराजकता और नादिरशाहके आक्रमणसे उत्पन्न विशृंखलाके युगमें पेशावरके निकटवर्ती प्रदेशके निवासी रुहेला अफ़गानोंने अवधके उत्तर-पश्चिममें स्थित गंगा नदी और हिमालयके बीचके समृद्ध प्रदेशपर अधिकार करके अपना राज्य जमा लिया था। नजीबाबाद, मुरादाबाद, रामपुर, बरेली, पीलीभीत आदि इनके प्रमुख नगर थे। रुहेलोंके कारण ही यह प्रदेश रुहेलखण्ड कहलाने लगा। मराठोंके आक्रमणोंसे परेशान होकर इनके सरदार नजीबुद्दौलाने अहमदशाह अब्दालीको आमन्त्रित किया था और पानीपतके युद्धमें १७६१ ई०में वह उसीकी ओरसे लड़ा था। अतः तदुपरान्त कुछ समयके लिए वह दिल्लीके बादशाहका प्रधान कार्यवाहक बन बैठा था। किन्तु अब्दालीके वापस जाते ही मराठोंने रुहेलोंको फिर तंग करना शुरू कर दिया। अतएव १७७२ ई०में बनारसकी सन्धिके अनुसार रुहेला नवाब हाफ़िज़ रहमतखाँने अवधके नवाबसे यह तय किया कि यदि मराठे रुहेलखण्डपर आक्रमण करेंगे तो नवाब उसकी रक्षा करेगा और बदलेमें ४० लाख रुपया पायेगा। अगले वर्ष जब मराठोंने आक्रमण किया तो अवधके नवाबने अंग्रेजी सेनाकी मददसे उन्हें मार भगाया और रुहेलोंसे रुपया माँगा। उन्होंने टाल-मटोल की। इसपर नवाबने वारेन हेस्टिंग्सकी सहायतासे १७७४ ई०में मीरनकटरा के युद्धमें रुहेलोंको बुरी तरह पराजित किया। वृद्ध रुहेला वीर हाफ़िज़ रहमत युद्धमें मारा गया। लगभग बीस हज़ार रुहेले देशसे निर्वासित कर दिये गये। रुहेलोंका रुहेलखण्ड राज्य समाप्त हो गया, और अवधमें मिला लिया गया। कुछ रुहेले और उनके सरदार इस देशमें फिर भी बच रहे, उन्हींमें-से एक रामपुरके आस-पासके प्रदेशका शासक बन बैठा। वही

रामपुरके नवाबोंका पूर्वज था। किन्तु रामपुर प्रारम्भसे ही अंग्रेज़ोंके अधीन एक छोटी-सी देशी रियासत-मात्र रहा।

५. **मैसूरके नवाब**—गंगवाडिके प्राचीन गंगराज्यकी परम्परामें कर्णाटकका मैसूर प्रदेश होयसल राज्यके और तदनन्तर विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत था। विजयनगरका पतन होनेपर इस प्रदेशके एक प्रान्तीय शासकने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। यह वंश ओडेयर वंश कहलाता है। १८वीं शती ई०के मध्यमें उसकी राज्यशक्ति कुछ क्षीण हो रही थी और मन्त्री नंजराज ही सर्व-सर्वा हो रहा था। उसने राज्यके एक मुसलमान कर्मचारीके हैदरअली नामक पुत्रकी योग्यता, चतुरता एवं युद्ध-नैपुण्यसे प्रभावित होकर १७५५ ई०में उसे डिंडीगलका फ़ौजदार बना दिया। तदनन्तर उसे बंगलोरकी जागीर दे दी गयी और राज्यका प्रधान सेनापति भी बना दिया गया। १७६१ ई०में राज्यका लगभग आधा भाग उसके अधिकारमें हो गया और वह अपने राजाकी ओरसे सम्पूर्ण राज्यका ही शासन करने लगा। किन्तु उसीका एक अनुचर खाण्डेराव नामका ब्राह्मण उसका विरोधी हो गया और उसके शत्रुओंके साथ मिल-कर उसके पतनका षड्यन्त्र करने लगा। १७६३ ई० में हैदरने खाण्डेराव का दमन किया और उसे एक पिंजरेमें आजन्म बन्दी करके डाल दिया। उसी वर्ष उसने बेदनूर नामक प्रसिद्ध व्यापारिक नगरपर विजय करके अधिकार कर लिया। १७६६ ई० में राजाकी मृत्यु हो जानेपर उसने राज-महलोंको भी लूटा। उसने राजाके पुत्रको नाममात्रके लिए सिंहासनपर बैठा दिया और स्वयं राज्यका सर्व-सर्वा हो गया। अब उसने निजाम और मराठोंके साथ कूटनीतिक सन्धि-विग्रह करके अपनी शक्तिका प्रसार करना शुरू किया। १७६७ ई० में उसकी तथा उसके अस्थायी मित्र निजामकी संयुक्त सेनाको अंग्रेज़ोंने पराजित किया, किन्तु १७६९ ई० में ही हैदर-अली अंग्रेज़ोंके मद्रासके क़िलेपर चढ़ दौड़ा और उन्हें सन्धि करनेपर विवश किया जिसके अनुसार दोनोंने एक-दूसरेकी सहायता करनेका वचन दिया।

तथा विजित प्रदेशोंको लौटा दिया। किन्तु १७७१ ई० में जब मराठोंने हैदरअलीके राज्यपर आक्रमण किया तो अंग्रेजोंने वायदेके अनुसार उसकी कोई सहायता न की, इसपर वह उनका घोर शत्रु हो गया। १७७८ ई० में फ्रान्सके साथ युद्ध छिड़ जानेके कारण अंग्रेजोंने माहीपर तथा समस्त मालाबार तटपर अधिकार कर लिया, इससे हैदरअली और अधिक चिढ़ गया। निजाम और मराठोंके साथ उसने अंग्रेजोंके विरुद्ध मैत्री-सन्धि कर ली। निजामको अंग्रेजोंने फोड़ लिया, तथापि १७८० ई० में हैदरअली अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टनसे सेना लेकर चला और उसने कर्णाटकपर आक्रमण कर दिया और वहाँ भरपेट लूट-मार की। अंग्रेजोंके हाथकी कठपुतली कर्णाटकका नवाब तो अपंग था ही। रक्षाके लिए आयी अंग्रेजी सेना और उसके नायक कर्नल लेलीको हैदरअलीने काट डाला और राजधानी अर्काटपर भी अधिकार कर लिया। किन्तु १७८१ ई० में अंग्रेजोंने सर आयर कूटके नेतृत्वमें पोर्टोनोवाके युद्धमें उसे पराजित किया। मराठोंने भी उसकी कोई मदद नहीं की। वह अकेला ही अंग्रेजोंके साथ युद्ध करता रहा और उसने कई बार उन्हें पराजित भी किया। १७८२ ई० में हैदरअली की मृत्यु हो गयी, किन्तु उसके पुत्र और उत्तराधिकारी टीपू सुलतानने युद्ध जारी रखा। उसने भी कई बार अंग्रेजोंको पराजित किया और स्वयं भी पराजित हुआ। अन्ततः १७८४ ई० में दोनों पक्षोंके बीच मंगलौरकी सन्धि हुई जिसके अनुसार जो स्थिति युद्धके पूर्व थी वही हो गयी। १७८६ ई० में पेशवा और निजाम टीपूके विरुद्ध मिल गये और उन्होंने अगले वर्ष उसे पराजित करके एक ज़िला और ३० लाख रुपये उससे वसूल कर लिये। अंग्रेज भी उनके साथ ही मिल गये। इसपर टीपू क्षुब्ध हुआ और फ्रान्स तथा अफ़गानिस्तानको उसने अपने दूत भेजे। अंग्रेजोंके परम शत्रुओं उन विदेशियोंकी सहायतासे वह अंग्रेजोंको भारतसे निकाल बाहर करना चाहता था। १७८९ ई० में उसने अंग्रेजोंसे संरक्षण प्राप्त ट्रावन्कोर राज्यपर आक्रमण कर दिया और लूट-मार मचायी। अब अंग्रेजोंके साथ खुला युद्ध

छिड़ गया, मराठे और निज़ाम भी उन्हींके सहायक थे। स्वयं गवर्नर जनरल कार्नवालिसने युद्धका नेतृत्व किया। कई युद्ध हुए किन्तु प्रत्येक बार टीपूने ही उन्हें पराजित किया, किन्तु अन्तिम युद्धमें वह बुरी तरह पराजित हुआ। १७९२ ई० में श्रीरंगपट्टनकी सन्धि हो गयी जिसके अनुसार उसके राज्यका लगभग आधा भाग, साढ़े तीन करोड़ रुपये और वचन पालनके आश्वासन रूप उसके दो पुत्र अंग्रेजोंको प्राप्त हुए। टीपू इस अपमानजनक सन्धिको न भूल सका। अंग्रेजोंके विरुद्ध वह नैपोलियनसे भी पत्र-व्यवहार करता रहा। अंग्रेजोंके प्रतिवाद करनेपर उसने उन्हें फटकार दिया। इस पर १७९५ ई० में लार्ड वेलेज़लीने टीपूके राज्यपर आक्रमण कर दिया। निज़ाम तो अंग्रेजोंका अब अनुचर ही था। टीपूने बड़ी वीरता और साहस के साथ युद्ध किया। मलावलीके युद्धमें पराजित होकर उसने श्रीरंगपट्टनमें शरण ली। उसे भी शत्रुओंने घेर लिया और उससे सन्धि करनेके लिए कहा किन्तु सन्धिकी शर्तें इतनी अपमान-जनक थीं कि उसने अस्वीकार कर दिया और क़िलेकी दीवारके नीचे ही वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया। टीपूके विशाल राज्यको काट-छाँटकर अंग्रेजोंने अपने मित्र निज़ाम और मराठोंके साथ बाँट लिया। शेष मैसूरके छोटे राज्यको पुराने ओडेयर वंश के एक राजकुमारको सौंप दिया और उसकी सहायताके लिए टीपूके ही चतुर मन्त्री पूर्णियाको मन्त्री नियुक्त कर दिया। मैसूरका वह हिन्दू राज्य वर्तमान तक चला आया है। टीपूके पुत्रोंको पेन्शन नियत कर दी गयी। हैदरअली निरक्षर होते हुए भी अत्यन्त बुद्धिमान्, मनुष्यको पहचान करनेवाला, मेधावी, चतुर, राजनीतिपटु, कुशल सेनानी और वीर योद्धा था। उसकी स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र थी। वह प्रजावत्सल नरेश और कुशल शासक था। हिन्दू और मुसलमानोंके बीच भी वह भेद नहीं करता था। टीपू भी समदर्शी, उदार और सहिष्णु था। वह सुशिक्षित और विद्यारसिक भी था तथा कन्नडी, फ़ारसी और उर्दू-साहित्यका प्रश्रयदाता था। उसके विशाल पुस्तकालयको अंग्रेज कलकत्ते उठा ले गये। हैदरअली और टीपू

दोनोंने ही हिन्दू, जैन आदि राज्यके मुसलमानेतर धर्मोंके साथ उदारताका बर्ताव किया और उनके संस्थानोंको दानादि दिये। उस कालके राजनीतिक पात्रोंमें अपने उपरोक्त गुणोंके कारण ये पिता-पुत्र अपवाद ही थे। यद्यपि हैदरअलीने स्वामिद्रोह करके ही राज्य हस्तगत किया था, किन्तु अपने चातुर्य एवं पराक्रमसे उसने उसका विस्तार और शक्ति भी अत्यधिक बढ़ा दी थी। टीपू उसका संरक्षण कर सकता था किन्तु वह अत्यन्त वीर एवं साहसी योद्धा होते हुए भी कुशल सेनानी नहीं था और कुछ अदूरदर्शी भी था। सबसे बड़ा अपराध इन पिता-पुत्रका यही था कि वे अंग्रेजोंकी नीति और उनके उत्तरोत्तर शक्ति-संवर्धनमें बाधक थे। किन्तु साथ ही वे एकमात्र ऐसे नरेश थे जो प्रारम्भसे अन्त तक स्वतन्त्र ही रहे।

उपरोक्त प्रमुख मुसलमान शक्तियोंके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-छोटे मुसलमान नवाब भी भारतमें यत्र-तत्र उत्पन्न हो रहे थे, कुछ पहलेसे चले आ रहे थे, कुछ इसी कालमें लूट-मारके बलपर बने और कुछ अंग्रेजोंकी कृपासे अस्तित्वमें आये। रामपुर, भोपाल, टोंक और जूनागढ़के नवाब, सिन्धके अमीर, लुटेरे पिंडारी सरदार, इत्यादि इसी प्रकारके गौण मुसलमानी राज्य थे। वे प्रायः सब सहज ही और प्रथम अवसरमें ही अंग्रेजोंके अधीन होते चले गये।

राजपूत राजे—इस कालमें राजस्थानके प्रमुख राजपूत राज्य उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, जैसलमेर और बीकानेर थे। औरंगजेबके समयमें राणा राजसिंहने समस्त राजस्थानका नेतृत्व किया था और मुगल सम्राट्से सफल लोहा लिया था। उसकी मृत्युके उपरान्त संग्रामसिंह द्वितीय राणा हुआ। १८ वीं शतीके पूर्वार्धमें वह ही मेवाड़का महत्त्वपूर्ण राणा था यद्यपि राजस्थानका नेतृत्व अब मेवाड़के हाथमें नहीं रहा था। जोधपुरके राठौड़ महाराज जसवन्तसिंहकी मृत्युके बादसे ही लगभग ३० वर्ष तक मुगलोंके विद्रोही चलते रहे, किन्तु १७०९ ई० में बहादुरशाहने महाराज अजीतसिंहका राज्याधिकार स्वीकार करके और उन्हें शाही-सेवामें उच्च

पदपर नियुक्त करके राठौड़ोंको सन्तुष्ट कर लिया था। अजीतसिंह वीर, चतुर और कुशल राजनीतिज्ञ था। फ़र्रुखसियरके समयमें कुछ दिन दिल्ली में रहकर उसने बादशाहीका संचालन किया और उस कालमें उसके विश्वस्त जैन दीवान रघुनाथ भण्डारीने मारवाड़ राज्यका कुशलताके साथ शासन किया। अजीतसिंहके एक अन्य जैनमन्त्री खिमसी भंडारीके प्रयत्नसे ही फ़र्रुखसियरने फिरसे जजिया लगानेका संकल्प त्याग दिया था। तदनन्तर बादशाहने अजीतसिंहको गुजरात और अजमेरका सूबेदार नियुक्त किया। मुहम्मदशाहके समयमें भी अजीतसिंह उस प्रान्तका सूबेदार रहा। उसके उपरान्त उसका उत्तराधिकारी जोधपुर-नरेश अभयसिंह भी १७३० से १७३७ ई० तक उस प्रान्तका सूबेदार रहा। अजीतसिंहकी शक्ति और प्रभाव बादशाहोंपर, दरबारमें एवं साम्राज्यमें पर्याप्त बढ़ गया था। अजमेर और गुजरातकी सूबेदारीके कारण उसके राज्यकी शक्ति और समृद्धि भी काफ़ी बढ़ गयी थी। बड़े-बड़े मुसलमान सरदार उससे घबराने लगे थे। उसके बाद अभयसिंहकी शक्ति और प्रभाव भी प्रायः वैसा ही रहा। जयपुरमें इस कालमें महाराज सवाई जयसिंहका राज्य था। यह भी बड़ा योग्य, चतुर, विद्यारसिक एवं प्रतापी नरेश था। जयपुर नगरके वास्तविक निर्माणका और उसे अलंकृत करनेका प्रधान श्रेय इसे ही है। विविध साहित्यको भी इस राजाने प्रोत्साहन दिया, ज्योतिषविद्यासे इसे विशेष प्रेम था और नक्षत्र तारिकाओं आदिके पर्यवेक्षणके लिए उसने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, वाराणसी आदि कई स्थानोंमें जन्तर-मन्तर या मानमन्दिर बनवाये थे। दिल्ली दरबारमें इसका अत्यधिक मान और प्रभाव था। इस प्रकार औरंगजेबकी मृत्युके बाद लगभग तीस-चालीस वर्ष पर्यन्त उपरोक्त नरेशों के व्यक्तित्व, शक्ति एवं प्रभावके कारण राजस्थान एक पर्याप्त प्रबल शक्ति बन गया था। राणा संग्रामसिंह, राठौड़ अजीतसिंह और सवाई जयसिंहमें परस्पर मेल और मैत्री भी रही और इन तीनोंने मिलकर यह योजना भी बनायी थी कि अपने संयुक्त प्रभाव एवं बलसे बादशाहोंको कोई हिन्दू-

विरोधी कार्य न करने देंगे और शनैः-शनैः मुसलमानोंको पराभूत करके सम्भव हुआ तो देशमें हिन्दू राज्य-शक्तिका पुनरुत्थान करेंगे। इसमें उन्हें जाटों और बुन्देलोंका भी सहयोग प्राप्त था, और पेशवाओंको मिलानेका भी प्रयत्न किया गया। दक्खिन, बंगाल और अवधके स्वतन्त्र हो जानेसे साम्राज्यका जो द्रुत पतन हो रहा था वह इनकी योजनामें सहायक ही था अतः उसे रोकनेका इन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया। नादिरशाह-द्वारा दिल्लीकी भीषण लूट-मारके अवसरपर भी ये अपनी राजधानियोंमें बैठे तमाशा देखते रहे। किन्तु इसी बीच राणा संग्रामसिंह, महाराज अजीत सिंह तथा वीर छत्रसालकी मृत्यु हो चुकी थी। राणाका उत्तराधिकारी अयोग्य था किन्तु अजीतसिंहका पुत्र अभयसिंह अपने पिताका ही अनुसर्ता था। १७४३ ई० में जयसिंहकी और १७४९ ई० में अभयसिंहकी मृत्यु हो जानेसे राजपूत पुनरुत्थानकी वह महान् योजना स्वप्न बनकर रह गयी। हिन्दूपदपातशाहीका समर्थक पेशवा बाजीराव भी १७४० ई० में मर चुका था। उपरोक्त राजपूत नरेशोंके उत्तराधिकारी अत्यन्त अयोग्य और निकम्मे थे। एक ओर दिल्लीका बादशाह द्रुत वेगके साथ बल, धन और अधिकार हीन होता जा रहा था और दूसरी ओर दक्षिणके मराठोंने उत्तरापथके विभिन्न भागोंपर लुटेरे आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे। अब उन्होंने इन राजपूत राज्योंको भी न बख्शा। उनके साथ ही लुटेरे पिंडारी सरदारोंने भी राजपूत राज्योंको लूटना-खसोटना शुरू कर दिया था। आये दिनके इन संकटोंने राजाओंका नैतिक बल और अधिक कमजोर कर दिया। अन्तःकलह और गृहयुद्ध आम हो गये। वे उत्तराधिकारके प्रश्नों एवं विवाह-सम्बन्धों आदि छोटी-छोटी बातोंके लिए परस्पर एक दूसरेसे भी लड़ने लगे और मराठे उन झगड़ोंमें हस्तक्षेप करके अपना उल्लू सीधा करने लगे। जैसा कि कर्नल टॉडने अपने प्रसिद्ध 'राजस्थानमें' लिखा है "जाति-विशेषका पतन स्वयं उस जातिके द्वारा ही होता है। जाति-गौरवके सूर्यको अस्त करनेके लिए यदि वह जाति स्वयं आगे न बढ़े तो किसी अन्य जातिके द्वारा यह

कार्य कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। जो महाशक्ति जातिकी प्राण-प्रतिष्ठा कर देती है, जातिकी नस-नसमें अपना अव्यर्थ तेज भर देती है उस महाशक्तिका जिस दिनसे जातिने अपमान किया और आलस्य एवं विला-सिताके वशीभूत होकर जातीय भ्रातृभावकी जड़में कुठाराघात किया उसी दिनसे वह जाति पतनके दलदलमें फँसती चली जाती है।" जिस समय १७६१ ई० में भारतकी सभी प्रधान राज्यशक्तियाँ पानीपतके क्षेत्रमें भीषण युद्धमें संलग्न थीं जयपुरमें वहाँके राजा माधवसिंहके श्याम तिवाड़ी नामक मुँहचढ़े पुरोहितने नादिरशाही मचा दी। केवल धार्मिक विद्वेषसे अन्धा होकर उसने राज्यके अनेक जैन-मन्दिर और मूर्तियाँ तुड़वा डालीं, जैनियोंका घोर अपमान किया और उनपर भयंकर अत्याचार किये तथा पं० टोडरमल्ल जैसे प्रकाण्ड विद्वान् सन्तको जैनी होनेके कारण ही हाथीके पैरों-तले कुचलवाकर मरवा डाला। समस्त राजस्थानके लिए यह घटना अभूत-पूर्व थी और देशके तत्कालीन घोर नैतिक पतनकी ही परिचायक है। लुटेरे मराठों और पिंडारियोंके नित्यके धावों एवं गृहयुद्धोंने इन राज्योंकी कमर तोड़ दी थी। उनका सम्पूर्ण शासन अव्यवस्थित हो गया था। राजा लोग और उनके सामन्त सरदार आलसी, विलासी और कायर बन गये थे। राजस्थान निःसत्त्व एवं निरशक्त हो गया था। ऐसी शोचनीय स्थितिमें जब अंग्रेजोंने अपना वरद हस्त बढ़ाया तो समस्त राजपूत राजाओंने अप-मान, पराधीनता, भावी शोषणकी प्रत्यक्ष आशंका आदि किसी भी बातकी परवाह न करके सहर्ष और सहज ही उनके संरक्षणको अहोभाग्य मानकर ग्रहण कर लिया। इस प्रकार १९वीं शतीके प्रारम्भसे ही जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, जैसलमेर, कोटा, बूँदी, अलवर आदि राजपूतानेके छोटे-बड़े राजपूत राज्य अंग्रेजोंकी पराधीनतामें वर्तमानकाल-पर्यन्त जैसे-तैसे सुरक्षित रहे चले आये। बुन्देलखण्डमें वीर छत्रसाल १७३३ ई०में अपनी मृत्यु पर्यन्त विद्रोही बना रहा किन्तु उसके उत्तराधिकारी निर्बल एवं अयोग्य रहे, अतः उनके ओरछा आदि तथा अन्य प्रदेशोंके इने-गिने राजपूत

राज्योंकी भी वही गति हुई।

जाट—आगरा एवं दिल्लीके मध्य, मथुराके आस-पास जाटोंकी घनी बस्ती थी। औरंगजेबके समयमें १६६९ ई०में गोकल जाटके नेतृत्वमें इस प्रदेशके जाटोंने उसकी हिन्दू-विरोधी नीतिके विरोधमें भयंकर विद्रोह किया था और शाही फ़ौजदारको भी मार दिया था। कठिनतासे औरंगजेबने इस विद्रोहका दमन किया था। १६८८ ई०में राजारामके नेतृत्वमें जाट फिर भड़क उठे और १६९१ ई० में उन्होंने सिकन्दरेमें स्वयं अकबरके मकबरे और शवको लूटा। सम्राट् दक्षिणमें था और उसके सरदार कठिनतासे इस विद्रोहका दमन कर पाये। १७०५—०७ ई०में भज्जा जाटके नेतृत्वमें वे फिर भड़क उठे। बहादुरशाहने भज्जाके पुत्र चूड़ामनको शाही-सेवामें नियुक्त करके जाटोंको सन्तुष्ट किया किन्तु फ़र्रुखसियर उससे रुष्ट हो गया अतः चूड़ामनने थून नामक स्थानमें एक सुदृढ़ दुर्ग बनाकर शक्तिसंचय करना प्रारम्भ कर दिया। बादशाहने १७१६ ई०में सवाई जयसिंहको उसका दमन करनेके लिए भेजा। राजाने थूनपर अधिकार कर लिया किन्तु बादशाहको उसके अन्य दरबारियोंने जाटोंके साथ सुलह कर लेनेका परामर्श दिया। सन्धि जाटोंके अनुकूल थी और वे राजधानियों आगरे एवं दिल्लीके निकट-वर्ती प्रदेशमें ही एक भयप्रद शक्ति बन गये। मुहम्मदशाहके समयमें चूड़ा-मनके पुत्रोंने फिर विद्रोह किया और जब शाहीसेना उनके दमनके लिए भेजी गयी तो उन्होंने थूनके दुर्गमें शरण ली। किन्तु चूड़ामनका भतीजा बदन सिंहबादशाहसे मिल गया और उसने थूनपर शाहीसेनाका अधिकार होनेमें सहायता दी। अतः बादशाहने उसे ही जाटोंका राजा बना दिया। उसके दत्तक पुत्र और उत्तराधिकारी सूरजमलने जाटोंकी शक्तिको चरम शिखरपर पहुँचा दिया। उसने अपने राज्यको सुसंगठित एवं शक्तिशाली बना लिया और थूनके अतिरिक्त डीग, कुम्भेर, वेर तथा भरतपुरमें सुदृढ़ दुर्ग निर्माण किये। भरतपुरको उसने अपनी राजधानी बनाया। उसने अपनी एक सबल घुड़सवार सेना भी तैयार कर ली। नादिरशाहके आक्रमण और उससे

उत्पन्न स्थितिसे उसने पूरा लाभ उठाया था। किन्तु अब मराठे और अहमदशाह अब्दाली भी उसके राज्यपर आक्रमण करने लगे। ऐसे अवसरों पर वह अपने सुरक्षित दुर्गोंमें बैठकर शत्रुओंको चुनौती देता था। १७५७ ई० में अब्दालीने जब मथुरापर उस नगरको लूटनेके लिए धावा किया तो सूरजमलने चौमुहा स्थानपर उसके साथ भीषण युद्ध किया। यद्यपि वह अब्दालीको पीछे हटानेमें समर्थ नहीं हुआ तथापि ऐसे तीव्र विरोधका मुक़ाबला अब्दालीको भारतमें इसके पूर्व कभी नहीं करना पड़ा था। १७६१ई० के पानीपतके युद्धमें सूरजमल ससैन्य मराठोंकी सहायताके लिए गया था, किन्तु अपने मित्र महादाजी सिन्धियाकी भाँति युद्धमें उसने भी कोई भाग नहीं लिया। फलस्वरूप अब्दालीके जानेके बाद सूरजमल जाट ही उत्तर भारतका सर्वाधिक शक्तिशाली हिन्दू राजा हो गया था, उसकी सेना भी अक्षत रह गयी थी और उसका कोश भी भरा हुआ था। १७६१ ई० में ही उसने आगरेके क़िलेपर भी अधिकार कर लिया। किन्तु जाटोंके दुर्भाग्यसे १७६३ ई० में दिल्ली दरबारके सर्व-सर्वा नजीबुद्दौला रुहेलेके साथ एक युद्ध में सूरजमलकी मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी जवाहरसिंहका जीवन भी तूफ़ानी रहा। ग्वालियरके सिंधियाका वह मित्र बना रहा, किन्तु १७६८ई० में उसकी हत्या कर दी गयी। तदनन्तर अन्तःकलह और दलबन्दियोंके कारण जाटशक्ति क्षीण होने लगी और उसका पतन आरम्भ हो गया। बादशाह शाहआलमके सेनापति नजफ़खाँने १७७३ ई० में आगरेपर पुनः अधिकार कर लिया और १७७६ ई० में डीगके दुर्गको भी जाटोंसे छीन लिया। १८०५ ई० में अंग्रेज सेनापति लार्ड लेकने भरतपुर का घेरा डालकर अत्यन्त कठिनाईसे कच्ची मिट्टीसे बने उस अद्भुत एवं सुदृढ़ दुर्गको हस्तगत करके भरतपुरके जाट राज्यको अंग्रेजोंकी पराधीनता स्वीकार करनेपर विवश किया। तबसे वर्तमान पर्यन्त यह राज्य भी अन्य देशी राज्यों-जैसा ही रहता चला आया है।

सिक्ख—सिक्खधर्मके प्रवर्तक गुरु नानक (१४६९–१५३९ई०)

थे। इन्होंने पंजाबमें अहिंसा एवं सदाचार-प्रधान निर्गुण एकेश्वरवादी सन्तमतका प्रचार किया था। प्रचलित भारतीय धार्मिक विचार-धारामें यह एक सुधार-मात्र था। वे हिन्दू-मुसलिम एकताके भी समर्थक थे। अपने शिष्य अंगदको उन्होंने अपना उत्तराधिकारी नियत किया। गुरु अंगद (१५३९–५२ ई०)ने सिक्खों (गुरुके शिष्यों)को एक धार्मिक सम्प्रदायके रूपमें संगठित किया और गुरुमुखी लिपिका भी आविष्कार किया बताया जाता है। उनके उत्तराधिकारी अमरदास (१५५२–७४ ई०) के समय सिक्खधर्मकी और उन्नति हुई तथा चौथे गुरु रामदास (१५७४–८१ ई०)ने सम्राट् अकबरके आश्रय एवं सहायतासे अमृतसर स्थानको प्राप्त करके उस नगरकी, उसके प्रसिद्ध गुरुद्वारेकी तथा वहाँ सिक्ख धर्मके केन्द्रकी नींव डाली। तदनन्तर गुरुका पद वंश-परम्परागत हो गया। रामदासके पुत्र गुरु अर्जुन (१५८१–१६०६ ई०) ने अपने अनुयायियोंके संगठनको और अधिक व्यवस्थित किया और उनसे नियमित दान-दक्षिणा ग्रहण करने लगे। इस प्रकार उनकी शक्ति और धन काफ़ी बढ़ गया। शाहजादे खुसरूका पक्ष लेनेके कारण जहाँगीरने उनको मृत्युदण्ड दिया। १६०४ ई० में ग्रन्थ साहिबके संकलनका श्रेय भी इसी गुरुको है। उनके पुत्र हरगोविन्द (१६०६–३८ ई०)ने सिक्खोंका सैनिक संगठन किया। उन्होंने एक छोटी-सी अश्वारोही सेना भी बना ली और स्वयं भी तलवार ग्रहण की। अनुयायियोंकी संख्या भी बढ़ी। अब सिक्ख एक राजनीतिक शक्तिका रूप लेने लगे। उनके उपरान्त उनका पुत्र हरराय (१६३८–६० ई०) गुरु हुआ। वह शान्तिप्रिय था, किन्तु वह दाराशिकोहका पक्षपाती था अतः उसे अपने पुत्र रामरायको आश्वासनके रूपमें औरंगजेबके सिपुर्द करना पड़ा। हररायके बाद उसका द्वितीय पुत्र हरकिशन (१६६०—६४ ई०) गुरु हुआ और तदनन्तर हरगोविन्दका द्वितीय पुत्र तेगबहादुर (१६६४—७५ ई०) सिक्खोंका नवां गुरु हुआ। विद्रोहके सन्देहमें औरंगजेबने गुरुको दिल्ली बुलाया किन्तु मिर्जा राजा जयसिहके पुत्र कुमार

रामसिंहकी सहायतासे वह बहुत समय तक पटना, आसाम आदिमें सुरक्षित रहे और फिर पंजाब आये। वहाँ आते ही सम्राट्ने उन्हें पकड़वा मँगाया और बड़ी क्रूरताके साथ उनका प्राणान्त करा दिया। दिल्ली जानेके पूर्व ही उन्होंने अपने छोटे पुत्र गोविन्दसिंहको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। गुरु गोविन्दसिंह (१६७५–१७०८ ई०) सिक्खोंके अन्तिम और दसवें गुरु थे। उन्होंने सिक्खोंके नामके साथ 'सिंह' शब्दका प्रयोग, 'वाह गुरुकी फतह'का नारा और केश, कंघा, कच्छ, कड़ा तथा कृपाण नामक पाँच ककार चिह्न प्रचलित किये, खालसाके रूपमें धार्मिक राज्य स्थापित किया, उसके अन्तर्गत अनुयायियोंको मिस्लोंमें बाँटा और उनका सैनिक संगठन किया। वह कुशल सैन्य-संचालक और वीर योद्धा थे। पंजाबके कई पहाड़ी राजाओंसे उनके युद्ध हुए और औरंगजेबके वे अन्त तक विद्रोही बने रहे। अतएव सम्राट्की आज्ञापर सरहिन्दके फ़ौजदारने उनके दोनों पुत्रोंका वध कर दिया। सम्राट्की मृत्युपर गोविन्दसिंहने बहादुरशाहका पक्ष लिया और उसके साथ कामबख्शके विरुद्ध दक्षिण गये जहाँ एक अफ़गानने उनकी हत्या कर दी। अब उनका कोई उत्तराधिकारी नहीं था। उनके एक शिष्य बन्दा बैरागीने सिक्खोंका सैनिक नेतृत्व ग्रहण किया। उसने भंगी, चमार आदि जातियोंके लोगोंको बहुसंख्यामें सिक्खधर्ममें दीक्षित करके सिक्खोंकी संख्या अत्यधिक बढ़ा ली और एक विशाल सेना तैयार कर ली। बहादुरशाहके समयमें ही गुरु गोविन्दसिंहके पुत्रोंकी मृत्युका बदला लेनेके लिए उसने सरहिन्दके फौजदारको मार डाला और मुसलमानोंपर अमानुषिक अत्याचार किये। सेनापति मुनीमखाँने उसे परास्त कर दिया और वह भाग गया, किन्तु फ़र्रुखसियरके समयमें १७१५ ई० में वह पकड़ा गया और अपने साथियों सहित क्रूरताके साथ मार डाला गया। तदनन्तर पंजाबके सूबेदारोंने सिक्खोंपर भरसक अत्याचार किये। किन्तु नादिरशाह और अहमदशाह अब्दालीके आक्रमणोंके कारण सिक्खोंकी ओर ध्यान देनेका किसीको अवकाश ही नहीं मिला। १७५२ ई०

से तो पंजाबसे मुग़लोंका अधिकार ही उठ गया। इससे सिक्खोंने लाभ उठाया और अपनी शक्ति बढ़ायी। अब्दालीकी सेनाओंको वे निरन्तर परेशान करते रहे। पानीपतके युद्धके बाद अब्दालीने उनका दमन करनेका प्रयत्न किया और १७६२ ई० मे लुधियानाके युद्ध में उन्हें पराजित करके १२००० सिक्खोंका संहार किया, किन्तु फिर भी उनका अन्त न हुआ और वे उसे दूने वेगसे बराबर परेशान करते रहे। अन्ततः १७६७ ई० मे अब्दालीने अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली और फिर उन्हें न छेड़ा। अब सिक्खोंने सुयोग्य युद्ध-नेताओंके नेतृत्वमें बारह मिस्लों (सैनिक दलों) मे विभाजित सिक्खदल-द्वारा बहुभाग पंजाबपर अपना अधिकार जमा लिया। यह एक प्रकारका धर्म-सैनिक राज्यसंघ था। किन्तु अब बाहरी शत्रुकी अनुपस्थिति मे ये मिस्लें परस्पर ही लड़ने लगीं, और एक प्रकारकी अराजकता एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। इन्हीं मिस्लोंमें-से एकका सरदार महासिंह था। १७९० ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र रणजीतसिंहने जिसका जन्म १७८० ई० में हुआ था, १७ वर्षकी आयुमें ही अपनी पैतृक मिस्लका नेतृत्व ग्रहण कर लिया और छोटे-मोटे युद्धों-द्वारा अपनी शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ की। १७९८ ई० में जब अब्दालीके पोते काबुलके अमीर जमनशाहने पंजाबपर आक्रमण किया तो रणजीतसिंह उससे मिल गया। जमनशाह तो विफल प्रयत्न होकर लौट गया किन्तु इस अवसरसे लाभ उठाकर रणजीतसिंहने १७९९ ई० में उसके सिक्ख अधिकारियोंसे उस प्रदेशको छीन लिया। १८०५ ई० में उसने अमृतसरपर भी अधिकार कर लिया। लाहौरको अपनी राजधानी बनाकर उसने अब अपनी शक्तिका विस्तार करना शुरू किया। इस कार्यमें उसकी सास सदाकौर, जो स्वयं एक मिस्लकी स्वामिनी थी, तथा मित्र फतहसिंह, जो एक अन्य मिस्लका स्वामी था, उसके प्रधान सहायक हुए। इस प्रकार शनैः-शनैः पंजाबके समस्त सिक्ख-सरदारों और मिस्लोंको अधीन करके १८२३ ई० में रणजीत सिंहने सम्पूर्ण पंजाबपर अपना राज्य जमा लिया। फतहसिंह तो उसका

अब अधीनस्थ अनुचर हो बन गया था और सदाकौरको उसने बन्दीगृहमें डाल दिया। सतलज और यमुनाके मध्यभागको भी वह अपने राज्यमें मिलाना चाहता था और उस प्रदेशपर तीन बार उसने आक्रमण भी किया किन्तु इस समय अंग्रेज-शक्ति उत्तर प्रदेशमें प्रबल थी और उन्होंने उसे सतलजके इस पार न बढ़ने दिया। १८०९ ई० में ही अमृतसरकी सन्धि-द्वारा उसने वैसा न करनेका अंग्रेजोंको वचन दे दिया था। किन्तु उस पार उसने दक्षिणमें मुलतान तक अधिकार कर लिया और उत्तर-पश्चिममें कोहाट, बन्नू, टंक, डेरागाज़ीखाँ, डेराइस्माइलखाँ, पेशावर और काश्मीरको विजय करके तथा अफ़गानोंसे छीनकर अपने राज्यमें मिला लिया। सिन्धको भी उसने विजय करना चाहा किन्तु सिन्धके अमीरोंने भी १८३१ ई० में अंग्रेजोंकी अधीनता और संरक्षण स्वीकार कर लिया था अतः अंग्रेज उसके इस कार्यमें बाधक हुए। तथापि खैबरसे लेकर सतलज तक और लघुतिब्बत से लेकर सिन्धकी सीमा पर्यन्त रणजीतसिंहका विस्तृत सुगठित एवं शक्तिशाली राज्य था। १८१३ ई० में छछ के और १८२३ ई० में नौशेराके युद्धमें उसने काबुलके अफ़गानोंको बुरी तरह पराजित किया था। १८३७ ई० में अमीर दोस्त मुहम्मदने भी सिक्खोंके जमरूद और शुबकुदुर नामक दो सीमान्त दुर्गोंको हस्तगत करनेका विफल प्रयत्न किया। रणजीतसिंह निरक्षर, कुरूप एवं एकाक्षी होते हुए भी बड़ा चतुर, बुद्धिमान्, दूरदर्शी, राजनीति-विचक्षण, वीर, योद्धा, कुशल सैन्यसञ्चालक एवं निपुण शासक था। उसकी सेना विशाल, सुगठित और शक्तिशाली थी। उसका दरबार अत्यन्त ठाठ-बाटका था, और शासन सुव्यवस्थित था। बिना किसी धार्मिक या जातीय भेदभावके वह सुयोग्य पुरुषोंको अपनी सेवामें नियुक्त करता था। रणजीतसिंह अपने समयका अत्यन्त प्रतापी, शक्ति-शाली, वैभवसम्पन्न और महान् नरेश था। किन्तु १८३९ ई० में उसकी मृत्युके पश्चात् ही अन्तःकलह, षड्यन्त्र, विश्वासघात, अव्यवस्था और दलबन्दियोंका बोलबाला हुआ। उसका ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी खड़गसिंह एक वर्ष भी राज्य

न कर पाया। खड्गसिंहका पुत्र नौनिहालसिंह जो अपने दादा रणजीत-सिंहकी ही भाँति होनहार था अगले ही दिन मार डाला गया। तत्पश्चात् रणजीतसिंहका एक अन्य पुत्र शेरसिंह राजा हुआ किन्तु १८४३ ई० में उसका भी वध कर दिया गया। अब रणजीतसिंहके सबसे छोटे पुत्र दिलीपसिंहको जो छह वर्षका बालक मात्र था, राजा बनाया गया। राज्य की सारी शक्ति सेना और उसके नेताओंके हाथमें थी। सेना ही स्वयंको राज्यका प्रतिनिधि और खालसा कहने लगी, उसकी संख्या द्विगुणित हो गयी और वही समस्त शासन, वजीरों, राजा एवं प्रजाकी भाग्यविधाता बन बैठी। चतुर अंग्रेज तो ऐसे ही अवसरकी ताकमें थे। १८४५ ई० में दोनों शक्तियोंके बीच युद्ध छिड़ गया। सेनापतियोंके परस्पर अविश्वास एवं विश्वासघातके कारण एकके-बाद-एक चार युद्धोंमें सिक्ख हारे और अंग्रेजोंको सहज ही विजय प्राप्त हो गयी। परिणाम-स्वरूप जो सन्धि हुई उसके अनुसार जालन्धर दोआबका सम्पूर्ण प्रदेश अंग्रेजोंको प्राप्त हुआ, सिक्ख दरबारने युद्धके हरजानेके रूपमें तीन करोड़ रुपया देनेका वचन दिया और एक अंग्रेज अफ़सर राजा दिलीपसिंहके संरक्षकके रूपमें तथा शासनके प्रत्येक विभागपर नियन्त्रण रखनेके लिए लाहौर दरबारमें ससैन्य स्थापित हुआ। हरजानेकी रक़म अदा करनेके लिए कश्मीर देशको जम्मूके डोगरा सरदार गुलाबसिंहके हाथ बेच दिया गया। १८४९ ई० में व्यर्थका बहाना बनाकर अंग्रेजोंने फिर युद्ध छेड़ दिया। सिक्ख वीरताके साथ लड़े किन्तु पराजित हुए। सिक्खराज्यका अन्त करके सम्पूर्ण प्रदेश अंग्रेजी राज्यमें मिला लिया गया और महाराज दिलीपसिंहको पेन्शन देकर इंग्लैण्ड भेज दिया गया। वहाँ वह ईसाई बन गया और मृत्यु पर्यन्त वहीं रहा। भारतका प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा भी जिसे नादिरशाह लूटकर ले गया था और जिसे रणजीतसिंहने काबुलके अमीर शाहशुजासे पुनः प्राप्त कर लिया था, असहाय दिलीपसिंहसे महारानी विक्टोरियाको भेंट करवा दिया गया। वही सिक्ख जो अपनी स्वतन्त्रता, राज्य, राजा और देशकी रक्षा न कर सके थे

अब सहर्ष अंग्रेजोंकी सेनामें भर्ती हो गये और भारतमें उनके राज्यको स्थायी करनेमें सहायक हुए।

पेशवा—वीर शिवाजीके उत्तराधिकारी सम्भाजीकी मृत्यु (१६८९ ई०) के उपरान्त उसके भाई राजाराम और भावज ताराबाईने विद्रोही मराठा शक्तिका नेतृत्व करके औरंगजेबको पीड़ित-प्रताड़ित करना आरम्भ किया। मराठोंका राज्य और उसकी शासन-व्यवस्था समाप्त हो चुकी थी। सर्वत्र अराजकता एवं अस्त-व्यस्तता थी। ऐसी परिस्थितिमें उनके राजाराम आदि नेताओंने अपने मराठा सरदारोंके लिए सरंजामों और जागीरोंकी प्रथा प्रचलित कर दी। उनके सभी छोटे-बड़े सरदारों और सैनिकोंको जहाँसे और जैसे बने लूट-पाट करके ही अपना निर्वाह करना था और मुगलोंके विरुद्ध युद्ध जारी रखना था। अतः निरंकुश लूट-पाट मराठोंमें एक वैध एवं स्वाभाविक वस्तु बन गयी। ये संस्कार आगे चलकर सम्पूर्ण देशके लिए अत्यन्त भयानक सिद्ध हुए। औरंगजेबको मृत्युके उपरान्त और फल-स्वरूप मुगल सेनाओंके उत्तरमें चले जानेके बाद अब लड़नेके लिए कोई शत्रु भी न रहा। अतएव अनियन्त्रित, निरंकुश और निरुद्देश्य मराठे यत्र-तत्र बिखर गये। उधर चतुर मुगल वज़ीर जुल्फिकारअलीकी नीतिके फल-स्वरूप साहूके दक्षिणमें आनेपर उनके नेताओंमें शिवाजीके राज्यके उत्तराधिकारके लिए गृहयुद्ध भी छिड़ गया। १७०० ई० में राजारामकी मृत्यु हो जानेपर उसकी विधवा ताराबाईने अपने बालक-पुत्र शिवाजी द्वितीयको अपनी स्वयंकी संरक्षकतामें सम्भाजीका उत्तराधिकारी और मराठा राज्यका स्वामी घोषित कर दिया था। अब उसने कहा कि साहू सम्भाजीका पुत्र ही नहीं है और उसका दावा मिथ्या है। साहूने १७०८ ई० में दिल्ली से आकर सतारापर अधिकार कर लिया और अपने-आपको राजा घोषित कर दिया। ताराबाईने कोल्हापुरको अपना केन्द्र बनाया और गृहयुद्ध छिड़ गया। १७१२ ई० में ताराबाईका पुत्र मर गया और अब स्वयं उसे भी पदच्युत करके उसकी सपत्नी राजसबाईने अपने पुत्र सम्भूजीको राजा

घोषित कर दिया तथा उसकी ओरसे कोल्हापुरमें राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। सतारामें साहूकी स्थिति भी बिलकुल डाँवाडोल थी। इसी समयमें कोंकणके एक चितपावन ब्राह्मण विश्वनाथका पुत्र बालाजी भट्ट मराठा सरदार धनाजी जाधवका मन्त्री था। उसके कहनेसे धनाजी ताराबाईका पक्ष त्याग कर साहूसे आ मिला था। उसके साथ ही बालाजी भी आया। १७१० ई० में धनाजीकी मृत्युके बाद उसका पुत्र चन्द्रसेन जाधव फिर कोल्हापुरवालोंके पक्षमें चला गया किन्तु बालाजी साहूकी ही सेवामें रह गया। उसकी योग्यता देखकर साहूने उसे अपना सेनाकर्त्ता (बख्शी) बना लिया और तदनन्तर अपना पेशवा (प्रधान मन्त्री) बना लिया। इस प्रकार बालाजी विश्वनाथ (१७१४–२० ई०) पेशवा वंशका संस्थापक हुआ। यह बड़ा चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने एक-एक करके सभी लुटेरे मराठा सरदारोंका दमन किया और उन्हें वशमें कर लिया। कन्होजी आंग्रे जैसे अधिक शक्तिशाली सरदारोंको भी समझौता करके अपनी ओर मिला लिया। अपनी शक्तिका संवर्धन करनेके लिए इन अनुशासनके अनभ्यस्त निरंकुश लुटेरे सरदारोंको अपने नियन्त्रणमें रखना आवश्यक था, अतः साम, दाम, भय, भेदसे उन्हें वशमें करके उसने एक नवीन मराठा संघकी स्थापना की जिसका आधार चौथ और सरदेशमुखी था। शासन-द्वारा नियत भूमिकरका दसवाँ हिस्सा सरदेशमुखी कहलाता था और वह पूरा सताराके मराठा राजाको मिलता था। चौथ भूमिकरका चौथाई होता था, उसका २५ प्रतिशत मराठा राजाको जाता था तथा अन्य ६ प्रतिशत सहोत्रके रूपमें और ३ प्रतिशत नडगुण्डके रूपमें राजाकी इच्छापर अवलम्बित था, जिसे वह चाहे उसे दे। शेष ६६ प्रतिशत जो मोकासा कहलाता था मराठा सरदारोंमें बँट जाता था। प्रत्येक सरदारको नियत प्रदेश, वह चाहे किसी भी राज्यका हो, चौथ और सरदेशमुखी वसूल करनेके लिए दे दिया जाता था। जिस प्रदेशका अधिकार जिस सरदारको दिया जाता था उसकी चौथका मोकासा उसी सरदारको प्राप्त होता था और

उससे ही वह अपनी सेना और सेवकोंका संरक्षण करता था। इन करोंके बदलेमें सदैवके लिए कोई एक निश्चित रकम या भूमिप्रदेश नहीं लिया जाता था वरन् विभिन्न राज्यों और प्रदेशोंके शासकोंसे उन्हें प्रतिवर्ष नियमित रूपमे वसूल किया जाता था। परिणामस्वरूप कोई मराठा सरदार किसी एक प्रदेशका स्वामी न हो पाता और संघ संगठित बना रहता। इन करोंको उगाहनेका आधार भी टोडरमल्ल, मलिक अम्बर आदिकी प्राचीन भूमि-व्यवस्थाको बनाया जाता था, किन्तु क्योंकि इस बीचमें कृषिकी दशा और देशकी एवं प्रत्येक शासनकी स्थिति बहुत बिगड़ चुकी थी, उस प्राचीन आधार पर चौथ देना सभीके लिए असह्य होता था और बहुधा बाकी पड़ा रहता था। मराठा सरदारोंके लिए विभिन्न राज्योंके साथ युद्ध करते रहने और उनके प्रदेशोंमें लूट-मार करनेका यह सहज एवं निरन्तर बना रहनेवाला बहाना था। पेशवा बालाजी विश्वनाथने फर्रुखसियरके वजीर सैयद हुसैन अलीसे उसे अपनी सैनिक सहायता देनेके वचनके बदलेमे मुगलोंके छह दक्खिनी सूबोंकी चौथ एवं सरदेशमुखी वसूल करनेका अधिकार ले लिया। उसके साथ पेशवा दिल्ली भी गया और वहाँ उसने अपनी आँखोंसे बादशाहीकी अशान्ति, अराजकता एवं पतनको देखा। इस पेशवाके जीवनमें ही सताराका मराठा राजा गौण हो गया और पेशवा ही राज्यका सर्व-सर्वा हो गया। उसका पुत्र पेशवा बाजीराव प्रथम (१७२०–४० ई०) उससे भी अधिक महत्त्वाकांक्षी, युद्धप्रिय एवं कुशल सेनानी था। उसने उत्तर दिशामें विस्तार करनेकी नीतिको अपनाया। पन्त प्रतिनिधि श्रीपतरावने उसकी नीतिका विरोध किया और कहा कि उन्हें पहले दक्षिण भारतपर अपने राज्यको सुगठित एवं सुव्यवस्थित करना चाहिए, उत्तरकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। किन्तु बाजीरावने कहा, यदि हम जर्जर वृक्षके तनेपर ही सीधे प्रहार करेंगे तो उसकी शाखा-प्रशाखाएँ तो आपसे-आप गिर पड़ेंगी। उसकी वक्तृताके प्रभावमें आकर महाराज साहूने भी अपनी स्वीकृति दे दी। अतएव पेशवाने मालवा और गुजरातपर अनेक आक्रमण

किये। इन आक्रमणोंमें मल्हरराव होल्कर, रानोजी सिन्धिया, ऊदाजी पंवार, रघुजी भोंसले, पिलाजी गायकवाड़ आदि उसके अनुचर सरदार अनुभवी एवं सिद्धहस्त हो गये। उसकी युद्ध-यात्राओं और विजयोंके कारण राज्य की विशाल सेना सुदूर प्रदेशोंमें व्यस्त रहने लगी, उसके निर्वाहका कोई भार राजकोषपर नहीं रह गया, उल्टे लूट आदिका धन ही निरन्तर राज्य में आने लगा और मराठोंकी शक्ति, प्रभाव एव आतंक देशव्यापी होने लगा। १७२७ ई० मे महाराज साहूने पेशवाको राज्यके सर्वाधिकार सौंप दिये। पेशवाने १७२६ ई०मे श्रीरंगपट्टन तक सुदूर दक्षिणमें भी धावा किया था। निजाम उसके लिए बाधक बन रहा था। उसने कोल्हापुरके राजासे मेल करके पेशवाके चौथ वसूल करनेवाले व्यक्तिको निकाल दिया। किन्तु १७२८ ई०में पलखेडके युद्धमें पेशवाने निजामको पराजित करके उसे कोल्हापुरका पक्ष त्यागने एवं चौथ और सरदेशमुखी नियमित रूपसे देते रहनेका वादा करनेके लिए बाध्य किया। निजामने अपनी कूटनीतिसे सेनापति त्रियम्बक दाभडेको पेशवाके विरुद्ध कर दिया किन्तु पेशवाने १७३१ ई०में दभोईके युद्धमे सेनापतिको पराजित करके मार डाला। पेशवा के भाई चिमनाजीने मालवेके मुगल सूबेदार गिरधर बहादुरको भी पराजित करके मार डाला और उसका उत्तराधिकारी मुहम्मदखाँ बंगश भी पराजित हुआ। तदनन्तर राजा सवाई जयसिंह मालवेका सूबेदार हुआ। उसने पेशवासे समझौता कर लिया और सम्राट्से कहकर उसे मालवेका नायब सूबेदार बनवा दिया। गुजरातके सूबेदार राजा अजीतसिंहने भी पेशवाको चौथ एवं सरदेसमुखी देना स्वीकार कर लिया। इसी समयसे गुजरातमे पेशवाके प्रतिनिधिके रूपमें गायकवाड़का प्रभाव बढ़ने लगा। बाजीराव गंगा-यमुनाके दोआबे एवं दिल्ली प्रदेशपर प्रतिवर्ष धावा करता था। स्वयं दिल्लीके आसपास भी उसने लूट-मार की। उसके विरुद्ध दिल्ली दरबारके सब प्रयत्न निष्फल रहे। १७३८ ई०में बादशाहने निजामको सहायताके लिए बुलाया किन्तु भोपालके युद्धमें पेशवासे पराजित होकर

वह भी लौट गया। साथ ही विवश होकर बादशाहकी ओरसे सम्पूर्ण मालवा प्रान्त तथा नर्मदा और चम्बलके बीचके सम्पूर्ण प्रदेशका भी पूर्ण राज्याधिकार पेशवाको दे गया। १७३३ ई० में वीर छत्रसाल अपनी मृत्यु के समय बाजीरावको अपने बुन्देलखण्ड राज्यका एक तिहाई भाग स्वेच्छासे प्रदान कर गया था। शेष भागपर उसके पुत्र उत्तराधिकारी हुए, वे भी बाजीरावके मित्र एवं सहायक रहे। पेशवा दिल्ली बादशाहतका अन्त करनेकी सोच ही रहा था कि नादिरशाहका आक्रमण हो गया। इस भयसे कि कहीं नादिरशाह ही यहाँ न जम जाये उसने निज़ामके साथ मेल किया और कहा कि दक्षिणके हिन्दुओं और मुसल्मानोंकी संयुक्त शक्ति इस आततायीको देशसे निकाल बाहर करे। किन्तु उसकी सेना पुर्तगालियोंसे बेसीनको छीननेमें व्यस्त थी और जब इन दोनोंने नादिरशाहके विरुद्ध रवाना होनेकी बात सोची तो वह लूट-मार करके जा भी चुका था। थोड़े समय पश्चात् ही स्वयं बाजीरावकी मृत्यु हो गयी। इस महाराष्ट्रीय वीर योद्धाके सम्बन्धमें अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, मस्तानी नामक एक मुसलमान नर्तकीके साथ उसका अद्भुत प्रेम भी सुप्रसिद्ध है। कहा जाता है कि बाजीरावकी महत्त्वाकांक्षा भारतमें हिन्दूपदपातशाहीकी स्थापना करनेकी थी। किन्तु पेशवाओंने जिन अविवेकपूर्ण लूट-मार आदि साधनोंका विधिरूपसे अवलम्बन किया था उनसे ऐसे उच्च आदर्शोंकी सिद्धि असम्भव ही थी। स्वयं दक्षिणापथको वे मुसलमान एवं अन्य विदेशी शक्तियोंसे मुक्त न कर सके और न जनसाधारणको सुशासन एवं शान्ति दे सके। बाजीरावका पुत्र पेशवा बालाजी बाजीराव (१७४०–६१ ई०) अपने पिताकी भाँति महत्त्वाकांक्षी तथा उसकी उत्तराभिमुखी नीतिका तो अनुसर्त्ता था किन्तु उस जैसा वीर योद्धा, कुशल सेनानायक और राजनीतिपटु न था। जयपुर, जोधपुर आदिके उत्तराधिकारके झगड़ोंमें (१७४३–४९ ई०) हस्तक्षेप करने और फलस्वरूप उन राज्योंको लूट-खसोट करनेसे ये राजे भी मराठोंसे चिढ़ गये और उन्हें अपना शत्रु समझने लगे। १७४९ ई०

मे छत्रपति साहूकी मृत्यु हो गयी। उसकी वसीयतके अनुसार ताराबाईके पोतेको सतारा का राजा बनाया गया, किन्तु ताराबाईने स्वयं ही उसका विरोध किया और रामराज राजा बनाया गया। उसने राज्यके सर्वाधिकार पेशवाको सौंप दिये। अब सतारा और कोल्हापुरके राजा नाममात्रके अनुल्लेखनीय छोटे-से राजा मात्र रह गये। विस्तृत मराठा साम्राज्य एवं विशाल मराठा शक्तिका एकमात्र स्वामी पेशवा ही था। १७५० ई० में उसने पूनाको अपनी पृथक् एवं स्वतन्त्र राजधानी बनाया। उसके मराठा सरदारोंमें बरारका रघुजी भोंसले ही उसका प्रबल विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी था। पेशवाने उसे भारतके पूर्वी प्रान्तोंके सम्बन्धमें खुली छूट देकर सन्तुष्ट किया। अब भोंसले और उसके सहायक भास्कर पण्डितने प्रति वर्ष बंगाल, बिहार और उड़ीसाको रौंदना एवं लूटना शुरू कर दिया। भास्कर पण्डित को बंगालके तत्कालीन नवाब अलीवर्दीखांने मरवा दिया। इससे भोंसले के आक्रमणोंकी भीषणता और अधिक बढ़ गयी। अन्तत: अलीवर्दीखाँ ने भोंसलेको उड़ीसाका समूचा प्रान्त देकर और बंगालकी चौथके रूपमें १२ लाख रुपये प्रतिवर्ष देनेका वचन देकर उससे अपना पिण्ड छुड़ाया। पेशवा निजामके उत्तराधिकारी सलाबतजंगसे उलझा किन्तु उसके फ्रान्सीसी संरक्षक बुसीने १७५१ ई०में पेशवाको कई बार हराया। १७५५ ई०में पेशवाने सरदार आंग्रे और उसकी जहाजी शक्तिको नष्ट करनेकी भारी भूल की। १७५८ ई० में बुसीके हैदराबादसे हटते ही पेशवाने निजाम राज्य का अन्त करनेपर कमर कसी, अहमदनगरपर उसने अधिकार कर लिया और निजामके कुशल तोपची इब्राहीमगर्दीको अपनी ओर मिला लिया। पेशवाके भाई सदाशिवराव भाऊने उद्‌गिरके युद्धमें निजामको बुरी तरह पराजित करके उसे अपने दौलताबाद, असीरगढ़, बीजापुर, अहमदनगर और बुरहानपुरके सुप्रसिद्ध दुर्ग तथा ६० लाख रुपये वार्षिक आयका प्रदेश पेशवाको सौंप देनेके लिए बाध्य कर दिया। उधर उत्तरमें इस बीचमें पेशवा के भाई राघोबाने अपने १७५४–५६ ई०के आक्रमणमें राजपूतानेके जयपुर,

उदयपुर, कोटा, बूँदी आदि विभिन्न राज्योंमें लूट-मार करके चौथ वसूल की और स्वयं दिल्ली जाकर बादशाह अहमदशाहको गद्दीसे उतारकर आलमगीर द्वितीयको बादशाह बनानेमें वजीर इमादुलमुल्कको सहायता की। यह वजीर मराठोंके पूर्णतया अधीन था। गंगाके दोआबेमें भी उसने उन्हें प्रदेश दे दिये। सूरजमल जाटके राज्यमें भी उन्होंने लूट-मार की और फिर दक्षिण को लौट गये। १७५६–५७ ई० में अहमदशाह अब्दाली दिल्ली आया और उसने बादशाहसे पंजाब और मुल्तानके सूबे प्राप्त कर लिये। किन्तु उसकी पीठ फिरते ही राघोबाने १७५७–५८ ई० मे फिर उत्तर भारतपर आक्रमण किया और इस बार पंजाब तक धावा किया तथा वहाँसे अब्दालीके प्रतिनिधिको भगाकर अपनी ओरसे अदीनाबेगखाँको शासक नियुक्त कर दिया। अब मराठोंकी शक्ति अपने चरम शिखरपर पहुँच गयी थी। चम्बलसे गोदावरी और अरब सागरसे बंगालकी खाड़ी पर्यन्त उनका साम्राज्य फैल गया था और प्रायः सारे भारतसे वे चौथ वसूल करते थे। राजपूत, जाट, रुहेले, दिल्ली दरबार और निजाम सभी उनका लोहा मानते थे, सर्वत्र उनका आतङ्क था। इसी समय दक्खिनमें पेशवाका निजामके साथ युद्ध छिड़ गया था जिसका समाचार पाकर राघोबा उत्तरमें दत्ताजी सिन्धिया एवं मल्हारराव होल्कर नामक अपने सरदारोंको छोड़कर दक्षिण चला गया था। अब्दाली मराठोंके पंजाबपर किये गये आक्रमण और अधिकारको तथा दिल्ली दरबारपर उनके बढ़ते हुए प्रभावको सहन नहीं कर सकता था। अवधका नवाब और रुहेलोंने भी जो मराठोंसे परेशान थे भारतमें इस्लाम और मुसलमानोंकी रक्षा करनेके लिए उसे साग्रह आमन्त्रित किया। अतएव अब्दालीने एक विशाल सेनाके साथ फिर आक्रमण किया। १७५९ ई० मे ही उसने पंजाबपर पुनः अधिकार कर लिया, १७६० ई०के प्रारम्भमें ही उसने दत्ताजी सिन्धियाको पराजित करके मार डाला, राजधानी दिल्लीमें प्रवेश किया और होल्करको मार भगाया। तदनन्तर वह अलीगढ़में डेरा डालकर मराठोंके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगा।

अवधका नवाब शुजाउद्दौला और रुहेला सरदार नजीबुद्दौला ससैन्य उससे आ मिले। मराठे दक्षिणमें निज़ामके साथ ही उलझे हुए थे, उत्तरके ये समाचार पाते ही पेशवाके भाई सदाशिवराव भाऊ और पुत्र विश्वासराव की अध्यक्षतामें विशाल मराठा सेना अब्दालीका सामना करनेके लिए चल पड़ी। इब्राहीमगर्दीका प्रसिद्ध तोपखाना भी उनके साथ था। उन्होंने आते ही दिल्लीपर अधिकार कर लिया और अब्दालीके रसदके आधार कुंजरपुरपर भी क़ब्जा कर लिया और फिर पानीपतके मैदानमें आ डटे। मल्हारराव होल्कर, महादाजी सिन्धिया आदि मराठा सरदारोंके अतिरिक्त सूरजमल जाट भी उनसे आ मिला। १७६० ई०के नवम्बरमें ही दोनों सेनाएँ पानीपतमें आ डटी थीं, छुट-पुट हमले चलते रहे, किन्तु मराठा सेनाकी रसद समाप्त हो चली थी और सैनिकोंके अतिरिक्त घोड़े, बैल आदि पशु भी भूखे मरने लगे। १४ जनवरी १७६१ ई०के प्रातःकालसे पानीपतका यह तीसरा भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ और तीसरे पहर तक समाप्त भी हो गया। इस युद्धमें मराठे पूर्णतया पराजित हुए। स्वयं भाऊ और विश्वासराव युद्धमें मारे गये, उनके २७ अन्य सरदार भी काम आये, मृत और आहत सैनिकोंकी कोई गिनती न थी। मराठोंकी ४५००० सेना एवं अनगिनत अनियमित सिपाहियों, नौकरों-चाकरों आदिमें बहुत थोड़े ही बचकर अपने-अपने घर पहुँच पाये। अब्दालीकी ६०००० सेनाका भी पर्याप्त अंश युद्धमें काम आया। रुहेले उसकी ओरसे वीरताके साथ लड़े थे किन्तु चतुर शुजाउद्दौलाने अपनी या अपनी सेनाकी कोई क्षति न होने दी और विजयका आंशिक श्रेय लेकर वह अपने राज्यको लौट गया। अब्दाली ने नजीबुद्दौला रुहेलेको दिल्लीका वजीर बना दिया, फलस्वरूप बादशाह तथा उसके दरबारपर कुछ समयके लिए रुहेलोंकी अमलदारी स्थापित हो गयी। पेशवाके सहायकोंमें-से होल्कर तो भाऊकी नीतिसे मतभेद होनेके कारण पहले ही खिसक गया था, सिन्धियाने भी अपनी और अपनी सेना की विशेष क्षति न होने दी और बचकर भाग निकला। नाना फड़नवीस

भी बच निकला। सूरजमल जाट भी युद्धमें मात्र दर्शक ही बना रहा और युद्धका पासा पलटता देख अपने राज्यकी ओर चल दिया। राजपूतोंको मराठोंने पहले ही अपना शत्रु बना लिया था, अतएव युद्धकालमें वे अपनी राजधानियोंमें ही बैठे रहे। इस युद्धके परिणामस्वरूप महाराष्ट्रका कोई घर ऐसा न था जिसमें अपने किसी-न-किसी आत्मीयकी मृत्युके लिए शोक न मनाया गया हो। स्वयं क्षय रोगसे ग्रस्त पेशवा जो भाऊ आदि की सहायताके लिए उत्तरकी ओर चल पड़ा था, इस दुःखद समाचारको पाते ही सदमेसे मर गया। इस पराजयने पेशवाओंके तथाकथित हिन्दू-पदपातशाही अथवा सम्पूर्ण भारतीय साम्राज्यके स्वप्नको सदाके लिए भंग कर दिया। देखनेमें यह हिन्दू और मुसलमान शक्तियोंके बीच भारतके साम्राज्यके लिए लड़ा जानेवाला अन्तिम एवं निर्णायक युद्ध था, किन्तु मुसलमानोंको भी इससे विशेष लाभ नहीं हुआ। अपने सैनिकोंके विद्रोहके कारण अब्दालीको स्वदेश लौट जाना पड़ा और वह फिर कभी यहाँ नहीं आया। स्वयं भारतके हिन्दू एवं मुसलमान दोनोंकी ही राज्य-शक्तियाँ इस युद्धके कारण और भी अधिक निर्बल हो गयीं, मराठा शक्ति विशेषकर पेशवाके प्रताप और प्रतिष्ठाका तो थोड़े समयके लिए सर्वथा अन्त हो गया। और इस सबका लाभ अंग्रेजों ने पूरी तरह उठाया। बालाजी बाजीरावके पुत्र और उत्तराधिकारी पेशवा माधवराव प्रथम (१७६१–७२ ई०) ने अपने चचा राघोबाको संरक्षकता में १७ वर्षकी आयुमें राज्यारम्भ किया। १७६२ ई० में हैदराबादके निजामअलीने पानीपतमें मराठोंकी पराजयसे उत्साहित होकर पूनापर आक्रमण कर दिया, किन्तु वह पराजित हुआ। यद्यपि राघोबाके कपटसे सन्धिकी शर्तें उसके अनुकूल ही रहीं क्योंकि राघोबा स्वयं राज्य हस्तगत करना चाहता था और निजाम उसका सहायक था। किन्तु पेशवा बुद्धिमान् और वीर था, उसने चचाकी चाल न चलने दी, अतएव निजामने फिर आक्रमण किया किन्तु स्वयं पेशवाने उसे बुरी तरह पराजित किया। इस विजयसे

पेशवाका यश बहुत बढ़ गया । नाना फड़नवीस और महादाजी सिन्धिया जैसे सुयोग्य एवं विचक्षण राजनीतिज्ञोंको उसने अपने मन्त्री और सहायक बनाये थे । पानीपतकी पराजयके आघातसे राज्यकी स्थितिका पुनरुद्धार करनेका इस पेशवाने सफल प्रयत्न किया । उसने हैदरअलीको भी तीन बार पराजित करके उसकी शक्तिका प्रतिरोध किया और १७७२ ई० में उत्तरमें भी महादाजी सिन्धियाकी अध्यक्षतामें अपनी सेना भेजी जिसने मालवा और बुन्देलखण्डपर पुनः अधिकार कर लिया तथा रुहेलों, जाटों और राजपूतोंका दमन करके उनसे चौथ वसूल की । मराठोंने दिल्लीपर भी अधिकार कर लिया तथा बादशाह शाहआलमको इलाहाबादसे लाकर दिल्लीके तख्तपर अपने संरक्षणमें बैठाया । इस प्रकार दस वर्षके भीतर ही मराठोंने उत्तर भारतपर अपना प्रभाव पुनः स्थापित कर लिया । किन्तु १७७२ ई० में ही माधवरावकी मृत्यु हो गयी और उसके उत्तराधिकारके लिए गृह-कलह आरम्भ हो गयी । उसका भाई नारायणराव पेशवा हुआ किन्तु नौ मास बाद ही उसका वध करके दुष्ट राघोबा (रघुनाथराव) स्वयं पेशवा बना । नाना फड़नवीस आदि सरदार उस हत्यारेके विरोधी थे और उन्होंने नारायणरावके उसकी मृत्युके उपरान्त उत्पन्न होनेवाले नवजात पुत्रका पक्ष लिया । राघोबाने अंग्रेजोंसे सहायता माँगी और १७७५ ई० में सूरतकी सन्धि-द्वारा सहायताके बदलेमें उन्हें सालसट और बेसीनके टापू देनेका वचन दिया । इस प्रकार मराठोंकी स्वयंकी मूर्खता और स्वार्थान्धता के कारण अंग्रेजोंका मराठा राजनीतिमें सर्वप्रथम हस्तक्षेप हुआ । धूर्त अंग्रेजोंने अपने ही बम्बईके गवर्नर-द्वारा की गयी सूरतकी सन्धिके विरोधमें गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्सके रूपमें विरोधी पक्षके नाना फड़नवीसके साथ १७७६ ई० में पुरन्दरकी सन्धि कर ली और बहाना बनाकर युद्ध छेड़ दिया । नाना फड़नवीसकी सेनाने बम्बईके अंग्रेजोंको बुरी तरह पराजित करके उनके लिए हानिकारक और अपमान-जनक सन्धि करनेपर उन्हें बाध्य कर दिया । १७७९ ई० की बड़गाँवकी इस सन्धिको हेस्टिंग्सने

अस्वीकार कर दिया और फिर युद्ध छेड़ दिया। मराठा सरदारोंमें इस समय सर्वाधिक शक्तिशाली सिन्धिया ही था, उसे अंग्रेजोंने फोड़ लिया। १७८२ ई०में सालबाईकी सन्धिके अनुसार अंग्रेजोंने सालसट और बेसीन स्वयं लिये, सिन्धियाको ग्वालियरका राजा स्वीकार कर लिया और राघोबा को पेन्शन दिलवा कर पदच्युत करा दिया। इस सन्धिसे मराठा राज-नीतिमें भी अंग्रेजोंका प्रभुत्व स्थापित हो गया। पेशवा माधवराव नारायण (१७८२–९५ ई०) के समयमें नाना फड़नवीस राज्य मन्त्री और सर्वेसर्वा था तथा महादाजी सिन्धिया उसका सहायक और समर्थक था। मराठे अब अंग्रेजोंके मित्र थे, मैसूरके युद्धोंमें उन्होंने अंग्रेजोंका साथ दिया और टीपूके राज्यकी लूटमें हिस्सा बँटाया। १७९५ ई०में उन्होंने खर्दाके युद्धमें निजाम को हराकर उससे चौथ, दरजाना और दौलताबादका दुर्ग छीन लिया, किन्तु उसी वर्ष पेशवाकी मृत्यु हो गयी। वह निस्सन्तान था। राघोबाके पुत्र बाजीराव द्वितीयने गद्दीपर अधिकार करना चाहा। नाना फड़नवीस उसका विरोधी था तथापि वही पेशवा बना। १८००ई०में नाना फड़नवीस भी मर गया। अब होल्कर और सिन्धिया दोनोंने ही पूना दरबारमें अपना प्रभुत्व जमाना चाहा। होल्करने पेशवा और सिन्धियाको पराजित कर दिया। पेशवा भागकर अंग्रेजोंकी शरणमें चला गया और १८०२ ई० में अंग्रेजोंकी सहायक-सन्धिकी सब शर्तें मानकर वह उनके अधीन हो गया। इस सन्धिको सिन्धिया, होल्कर, भोंसले आदि सभी मराठा सरदारों ने जो अब प्रायः पूनाके प्रभुत्वसे स्वतन्त्र हो गये थे, बड़ा अपमानजनक माना और अंग्रेजोंके साथ युद्ध छेड़ दिया। अबतक अंग्रेजोंकी शक्ति पर्याप्त बढ़ चुकी थी, १८०३–०५ ई०के मराठा सरदारोंके साथ किये गये इन युद्धोंमें अंग्रेजोंकी ही विजय हुई और उन्होंने पेशवाके साथ-ही-साथ सिन्धिया, होल्कर, गायकवाड़ और भोंसलेको भी सहायक सन्धियोंके जाल में जकड़कर अपने अधीन कर लिया। बाजीराव द्वितीय अपने पिताकी ही भाँति मूर्ख एवं दुष्ट प्रकृतिका व्यक्ति था। वह पूना-मात्रका ही राजा

रह गया था किन्तु अपने पूर्वजोंकी भाँति पूरे मराठा संघका अध्यक्ष बनना चाहता था जो अब असम्भव था। उसका मन्त्री त्र्यम्बकजी भी बड़ा धूर्त और दुष्ट था। इन दोनोंने षड्यन्त्र करके गायकवाड़के धर्मात्मा विद्वान् एवं सुयोग्य ब्राह्मणमन्त्री गंगाधर शास्त्रीका वध करवा दिया, जिससे समस्त मराठा-संसारमें सनसनी फैल गयी। अंग्रेजोंने भी हस्तक्षेप किया और अपराधी त्र्यम्बकको पकड़नेका विफल प्रयत्न किया। १८१७ ई०में एक सन्धिके द्वारा उन्होंने पेशवाको कुछ और इलाक़ा दे देनेके लिए तथा मराठोंका मुखिया बननेके अधिकारका त्याग कर देनेके लिए बाध्य कर दिया। पेशवाने इस सन्धिको तोड़ा फलस्वरूप १८१८ ई०में अंग्रेजोंके साथ युद्ध छिड़ गया, अन्य मराठे राजे भी उसमें उलझ गये और पराजित होकर सभीने अंग्रेजोंको प्रदेश एवं धन और अधिकार देकर और उनकी पूर्ण अधीनता स्वीकार करके पिण्ड छुड़ाया। पेशवाका तो राज्य, पद, अधिकार सब छीन लिया गया और उसे पेन्शन देकर कानपुरके निकट बिठूर में रहनेके लिए भेज दिया गया जहाँ शतरंज खेलकर उसने दिन बिताये। १८५१ ई० में उसकी मृत्यु हो जानेपर उसके दत्तक पुत्र नाना साहिब धुन्धुपन्तकी पेन्शन भी बन्द कर दी गयी।

मराठा राज्य—शिवाजीके वंशजोंने परस्पर झगड़कर उसकी मृत्यु के तीस वर्षोंके भीतर ही सतारा और कोल्हापुरके दो राज्य स्थापित कर लिये थे। सतारा राज्यके आश्रयसे ही पेशवाओंका अभ्युदय हुआ था। वे मराठे नहीं थे, दक्षिणी ब्राह्मण थे किन्तु उन्होंने सम्पूर्ण मराठा-शक्ति और समस्त मराठा सरदारोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके अपनी शक्ति का अद्भुत विकास किया था। कोल्हापुर राज्य तो प्रारम्भसे ही नाममात्र का छोटा-सा राज्य था, सतारा भी १७४९ ई०में साहूकी मृत्युके उपरान्त उसी स्थितिको प्राप्त हो गया और पेशवाओंकी भी उसमें कोई दिलचस्पी न रही। पेशवा बाजीराव प्रथम ही पेशवा शक्तिका वास्तविक निर्माता था और उस शक्तिको उसने अपने स्वयंके बनाये और बढ़ाये हुए पिलाजी

गायकवाड़, रघुजी भोंसले, उदाजी पँवार, रानोजी सिन्धिया, मल्हरराव होल्कर आदि सरदारोंके बलपर एवं उन्हींके द्वारा विकसित एवं विस्तारित किया था। उसके अनेक युद्धोंमें भाग लेकर ये सरदार धन, शक्ति, सेना, प्रदेश और अनुभवमें पर्याप्त उन्नति कर गये थे। उसके उत्तराधिकारी बालाजी बाजीरावके समयमें तो उनकी शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि पेशवा उन्हें रुष्ट करनेका साहस न कर सकता था। उसी कालमें उन्होंने भारतके विभिन्न भागोंमें अपने स्थायी केन्द्र भी जमा लिये थे, यथा गायकवाड़ने बड़ौदा (गुजरात) में, सिन्धियाने ग्वालियरमें, होल्करने इन्दौरमें, भोंसलेने नागपुरमें, इत्यादि। १७६१ ई०के पानीपतके युद्धके उपरान्त इन सरदारोंने पूना और पेशवाकी राजनीति एवं हितोंकी उपेक्षा करके अपने-अपने राज्योंकी शक्ति-विस्तार एवं सुरक्षाकी ही ओर ध्यान दिया। किन्तु ये खुले रूपसे अपनी स्वतन्त्रता घोषित भी न कर पाये थे कि १७७५-८२ ई०के प्रथम अंग्रेज़-मराठा युद्धमें ही अंग्रेज शक्तिके ये सम्पर्कमें आये और उसका लोहा मानने लगे तथा उसके द्वारा अपने राज्याधिकारको स्वीकृत कराना आवश्यक समझने लगे। उस युद्धके उपरान्त उन सबने अपने-आपको पेशवाके आधिपत्यसे मुक्त, स्वतन्त्र राजा घोषित करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु बीस वर्षके भीतर ही दूसरे अंग्रेज-मराठा युद्ध (१८०३-०५ ई०) के फलस्वरूप उन सभी मराठा राजाओंने स्वयंको अंग्रेज़ोंको सहायक-सन्धि योजनामें जकड़वा कर उनकी अधीनता स्वीकार कर ली और १८१८ ई०के तीसरे युद्धके उपरान्त तो वे अंग्रेज़ोंके पूर्णतया अधीन और आश्रित हो गये, उनकी ही कृपापर अवलम्बित हो गये और अंग्रेज उनके आन्तरिक मामलों, उत्तराधिकारके प्रश्न, शासन-प्रबन्ध आदि में भी खुला हस्तक्षेप करने लगे। उनमें-से जिसका जब चाहा अंग्रेज़ोंने अन्त कर दिया, जो बच रहे वे वर्तमानकाल पर्यन्त चलते रहे। मराठों और दक्षिणी ब्राह्मणोंके कुछ अन्य भी छोटे-छोटे राज्य थे। उनकी भी वही गति हुई। उपरोक्त राज्योंके कतिपय प्रारम्भिक नरेश यथा मल्हरराव होल्कर,

अहल्याबाई, महादाजी सिन्धिया आदि अत्यन्त चतुर, सुयोग्य एवं पराक्रमी थे और अपने कार्य-कलापोंके लिए इतिहास-प्रसिद्ध हैं किन्तु उनके प्रायः सभीके और प्रायः सभी उत्तराधिकारी निकम्मे और अयोग्य ही रहे।

धर्म और संस्कृति—इस डेढ़-सौ वर्षके ऐतिहासिक अध्ययनमें धर्म और संस्कृति-जैसे प्रकाश-पुञ्जोंकी बात उठाना ही व्यर्थ है। उस कालकी घोर अराजकता, अशान्ति, मार-काट, लूट-खसोट, ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध एवं सर्वव्यापी घोर नैतिक पतनके बीच जहाँ छोटे-बड़े किसीकी भी प्रतिष्ठा, प्राण और धनकी सुरक्षा नहीं थी, धर्म और संस्कृतिकी ओर ध्यान देनेका किसे अवकाश था। उस कालके राजे, रईस, नवाब, अमीर, सामन्त और सरदार अधिकतर या तो निर्मम लुटेरे एवं क्रूर अत्याचारी थे अथवा कायर, आलसी, विलासी और दुराचारी थे। किसीको भी अपनी किसी प्रकारकी स्थितिके स्थायित्वका कोई विश्वास और भरोसा न था। अतः या तो वे नितान्त अविवेकी हो स्वार्थसाधनमें रत हो जाते या फिर निर्द्वन्द्व हो विषय-भोगोंमें डूब जाते। इस कालमें किसी भी धर्म, जाति, वर्ग या प्रदेशमें किसी भी तेजस्वी महात्मा, सन्त, महान् समाज-सुधारक या निस्पृह जननेताके उत्पन्न होनेका पता नहीं चलता। देशवासियोंकी समस्त उच्च एवं शुभ या सद् प्रवृत्तियाँ लुंठित कुंठित हुई पड़ी थीं। राष्ट्रका जीवन सत्त्वविहीन था। इस कालकी राजनीति भी बहुत ओछी, क्षुद्र एवं दुर्गन्धित थी। और इस कालमें सिवाय इस ऐसी राजनीतिके कुछ और था भी यह पता ही नहीं चलता। अतः इस डेढ़-सौ वर्षके कालमें उस बीचमें होनेवाले असंख्य छोटे-बड़े नरेशोंमें बुन्देलखण्डके छत्रसाल, जयपुरके सवाई जयसिंह, मैसूरके टीपू सुलतान, मैसूरकी रानी रंभा, झाँसीके राजा गंगाधरराव आदि इने-गिने अपवादोंको छोड़कर विद्यारसिक तथा साहित्य एवं विद्वानोंको प्रश्रय एवं प्रोत्साहन देनेवाले नरेशोंका प्रायः अभाव ही है। पेशवाओंके सम्पूर्ण इतिहासमें पं० गंगाधर शास्त्री-जैसे धार्मिक विद्वान् एकाध ही और मिलें तो मिलें। शासनकी भाषा होनेके कारण मराठी

गद्यका उनके समय कुछ विकास अवश्य हुआ। इस कालमें महाकवि देव, बिहारी, सेनापति, पद्माकर, तोष, दूलह, बेनी, ग्वाल आदि हिन्दी भाषा के पचासों कवि हुए। इन्होंने हिन्दीके ब्रजभाषा रूपका अभूतपूर्व विकास भी किया किन्तु इन कवियोंमें किसी प्रकारका भी नैतिक आदर्श नहीं था न उनमें राष्ट्र या जातिको सन्देश देनेकी कोई भावना थी। संस्कृत भाषा की प्रचलित रीतियोंका आश्रय लेकर उन्होंने अष्टयाम, नखशिख, ऋतुवर्णन, नायिका-भेद आदि विषयोंपर विभिन्न छन्दोंमें और आलंकारिक भाषामें अश्लील, शृंगारपूरित कविताएँ रच-रचकर अपने आश्रयदाता तत्कालीन आलसी-विलासी राजा-रईसों और उनके दरबारियोंका मनोरञ्जन किया और उनकी कामुकता एवं विलासप्रियताको अधिकाधिक उत्तेजित किया। अपने आश्रयदाताओंके तथा देशके नैतिक पतनमें ये हिन्दी कवि बाधक होनेके बजाय पर्याप्त साधक ही हुए। अपनी रसीली विषैली कविताओंके आश्रयसे इन्होंने कृष्ण-जैसे महापुरुषके चरित्रको भी मलिन एवं दूषित बना दिया। गुरु गोविन्दसिंह, भूषण, सूदन-जैसे वीर रसके इने-गिने कवि अपवाद थे। इसी प्रकार, यद्यपि इस कालमें बादशाह मुहम्मदशाह और उसके कुछ वंशजों तथा अन्य मुसलमान नवाबोंके प्रयत्न, प्रश्रय और प्रोत्साहनसे उर्दूभाषा और उर्दूशायरीकी अभूतपूर्व उन्नति हुई और नजीर, नसीर, मीर, सौदा, हाली, जौक, ग़ालिब आदि अनेक उच्चकोटिके शायर हुए, तथापि उर्दूके इन शायरोंने भी इश्क हकीकीके बहाने इश्क मजाजी के कामोत्तेजक गीत गा-गाकर अपने आश्रयदाता नवाबों, अमीरों, रईसों और उनके दरबारियोंको विलासिता, काहिली और विषय-भोगोंमें अधिका-धिक गर्क होनेमें ही सहायता दी। यदि कुछ और किया तो यह कि उन्हें निराशावादी बना दिया। कोई नैतिकता या सद् सन्देश इस उर्दूशायरीमें भी न था। दिल्ली और लखनऊ उर्दूशायरीके प्रधान केन्द्र बन गये थे। तत्कालीन हिन्दी एवं उर्दू साहित्यके आधुनिक प्रशंसक भले ही उनमें गूढ़ अर्थ, ईश्वरीय प्रेम, अन्य अतिशय ऊँचे-ऊँचे भाव एवं आदर्श खोज निकालें,

किन्तु जिस कालमें और जिन लोगोंके लिए वे कविताएँ—शेर या गीत, गजलें लिखी गयी थीं और जो उन्हें पढ़ते या सुनते थे उनपर तो इस साहित्यका कोई सत्प्रभाव पड़ा दृष्टिगोचर होता नहीं, प्रत्युत इसके देश और जातिके नैतिक पतनमें ही वह भी साधक ही हुआ प्रतीत होता है। धार्मिक, तात्त्विक, राष्ट्रीय या किसी भी प्रकारके वैज्ञानिक साहित्यका उस कालमें प्रायः कोई सृजन हुआ ज्ञात नहीं होता। आमोद-प्रमोदमें मग्न और शराब, अफ़ीम एवं कामिनियोंके शरीरभोगमें सर्वप्रकारके गम-गलत करनेवाले इन राजे, रईस और नवाबोंने संगीत और नृत्य आदिको भी अपनी ऐशका साधन बनाया, अतः प्रोत्साहन दिया। किन्तु इन महान् कलाओंको भी नीच उद्देश्योंका इस प्रकार साधन बनाकर विकृत एवं पतित कर दिया और उनका विकास एवं उन्नति करनेके बजाय उनके रूप एवं मूल्यको अत्यन्त गिरा दिया। विविध कुव्यसनोंका जिस देश और समाजमें बोल-बाला था वहाँ सद्साहित्य और कलाओंको क्या प्रोत्साहन मिल सकता था। चित्र एवं मूर्तकलाकी भी प्रायः यही दशा थी, इस कालमें उनकी साधना, विकास या किसी उल्लेखनीय कृतिका निर्माण नहीं हुआ प्रतीत होता। इन राजाओं और नवाबोंने स्थापत्य एवं शिल्पकलाका भी कोई विशेष विकास या किसी महत्त्वपूर्ण कृतिका निर्माण नहीं किया। हिन्दू, जैन, मुसलमान आदि किसीका भी कोई महत्त्वपूर्ण धर्मायतन—मन्दिर, मस्जिद आदि तो इस कालमें प्रायः बना ही नहीं, स्वयं अपने लिए भी किसी उल्लेखनीय नगर, दुर्ग, राजप्रासाद आदिका निर्माण भी उन्होंने प्रायः नहीं किया। जयसिंहकी वेधशालाएँ, अहल्याबाईके मन्दिर, अमृतसरमें सिक्खोंका स्वर्णमन्दिर, लखनऊके नवाबों-द्वारा निर्मित उनके दो-एक इमामबाड़े या कतिपय विलास-भवन एवं उद्यान, पेशवाओं-द्वारा कुछ तीर्थोंपर बनाये गये कोई-कोई हिन्दू मन्दिर ऐसे ही सम्भवतया दो-एक अन्य उदाहरण अपवाद कहे जा सकते हैं, किन्तु वे भी कोई विशेष उल्लेखनीय कलाकृतियाँ हों ऐसी बात नहीं है। नहरें, बाँध, सड़कें आदि बनानेका

तो कोई प्रश्न ही नहीं था, जो थीं वे भी नष्ट-भ्रष्ट होती गयीं। कृषिकी दशा शोचनीय थी और उद्योगधन्धे एवं व्यापार द्रुतवेगसे नष्ट होते जा रहे थे। भारतवर्षके प्रायः सभी विभिन्न प्रदेशोंमें स्थित हिन्दू, जैन आदि तीर्थ-क्षेत्र देशके विभिन्न भागोंमें बसी जनताके यातायात, आदान-प्रदान एवं एकसूत्रताके महत्त्वपूर्ण साधन रहते आये थे, किन्तु इस अशान्ति एवं अराजकताके युगमें जब घरके भीतर ही सुरक्षा निश्चित न थी तो सर्वत्र नाना प्रकारके चोर, डाकुओं, लुटेरोंसे व्याप्त मार्गोंमें होकर सुदूर तीर्थोंकी यात्रा करनेका कोई साहस ही न कर सकता था। अतः इस कालमें ये तीर्थ-यात्राएँ प्रायः बन्द ही रहीं जिसके कारण निर्जन स्थानोंमें स्थित तीर्थों एवं उनके कलापूर्ण स्मारकोंकी दशा भी बिगड़ती चली गयी। हिन्दू, जैन आदिकोंके मेले, त्योहार आदि भी प्रायः बन्द-से हो गये। प्रथम तो जनताके हृदयमें उनके लिए उत्साह ही न था, दूसरे उन्हें निश्चिन्ततापूर्वक मनानेकी सम्भावना भी न रह गयी थी। सांस्कृतिक केन्द्र और शिक्षासंस्थान भी अवनत एवं समाप्त होते चले गये। सार्वजनिक शिक्षाकी कोई व्यवस्था ही नहीं रह गयी। प्रत्येक समाज और वर्गमें घोर रूढ़िवादिता, संकीर्णता एवं अनेक अन्धविश्वास और कुरीतियाँ घर कर गयी थीं। धर्मने परम्परागत नामों, प्रथाओं और कतिपय बाह्य आचारों-मात्रका रूप ले लिया था। तेजस्वी धर्माचार्यों, सन्तों, सुधारकों एवं विद्वानोंके अभावमें प्राण एवं धनकी रक्षामें ही सदैव चिन्ताकुल जन साधारणका धार्मिक जीवन सड़ने लगा था। क्या इस्लाम, क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या जैन और क्या सिक्ख अथवा अन्य कोई भी धर्म, सबकी प्रायः एक-सी दशा थी। सभी धर्मोंमें घोर विकार, अनेक पन्थ-उपपन्थ जो स्वयं परस्पर एक दूसरेसे वैमनस्य रखते थे, तथा एक प्रकारकी शिथिलता उत्पन्न हो गयी थी। थोड़े ही मुसलमान होंगे जो इस्लामके सिद्धान्तोंको भली प्रकार जानते हों, उसके नियमोंका ईमानदारीके साथ पालन करते हों और अपने धर्मके विरुद्ध कार्योंको न करते हों या कुफ़ कही जानेवाली प्रवृत्तियों-

मे रत न रहते हों। हिन्दुओंके साथ अपना विरोध बनाये रखनेके लिए ही अथवा अपनी राजनैतिक शक्ति बनाये रखनेके लिए ही वे मुसलमान थे। जब हिन्दुओं या जैनों आदिकी सहायता और सहयोगकी आवश्यकता होती तब वे उनके धर्मके प्रति अत्यन्त सहिष्णु एवं उदार हो जाते, जब विरोध होता तो बड़ेसे-बड़ा अत्याचार करनेमें न चूकते। परिस्थितियोंने सन्त गुरु नानकके सीधे सरल धर्मको एक सैनिक संगठनका रूप दे दिया जिसकी राज्य और शक्तिलिप्सामें वह धर्म कमसे-कम उस कालमें तो डूब ही गया था। जन-साधारण हिन्दू, राम और कृष्णके रूपमें विष्णुके तथा शिव, गणेश, हनुमान, दुर्गाके मुख्यतया, और सामान्यतया तैंतीस करोड़ देवी देवताओंके उपासक हो गये और उनके लिए शैव, शाक्त, वैष्णव आदिका बहुधा कोई भेद नहीं था, किन्तु प्रान्त, प्रदेशों, जातियों और वर्गोंकी दृष्टिसे कहीं शैव मतका, कहीं शाक्तका, कहीं रामभक्तिका, कहीं कृष्णभक्तिका, कहीं लिंगायत आदि अन्य किसी सम्प्रदायका विशेष पक्ष था और कई बार शैव तथा वैष्णव अथवा रामभक्त और कृष्णभक्त परस्पर घोर वैमनस्य और कलहमें लीन हो जाते थे। राजपूत प्रधानतः शैव और शाक्त थे, महादेव और भवानीके उपासक थे किन्तु अब राम और कृष्णको भी पूजने लगे थे। बंगालमें शैव, शाक्त एवं वैष्णव तीनों सम्प्रदाय अत्यन्त पृथक्-पृथक् स्पष्ट थे। उन्होंने और मुसलमानोंने मिलकर पूर्वी प्रान्तोंमें बौद्ध और जैनधर्मका भी प्रायः अन्त कर दिया था। दक्षिणमें ब्राह्मण शैव और मराठे शाक्त थे। पंढरपुरके विठोबाके रूपमें वे कृष्णके भी उपासक थे। कहा जाता है कि यह मन्दिर पूर्वकालमें जैन था और मूर्ति तीर्थंकर नेमिनाथकी थी जिसे परिवर्तित करके वैष्णव बना लिया था। १७वीं–१९वीं शताब्दियोंमें महाराष्ट्र देशमें अनेक जैन-मन्दिरोंका इसी प्रकार परिवर्तन किया गया प्रतीत होता है। बाहरसे मुसलमानों और भीतरसे शैव, वैष्णव एवं लिंगायतोंके अत्याचारोंके कारण उस देशमें इस कालमें जैनी अल्प संख्यामें और वह भी छोटी जातियों एवं निम्न वर्गोंमें ही रह गये थे। प्रमुख नगरोंमें कहीं-कहीं व्यापा-

रियों और सेठोंके रूपमें ही वे कुछ प्रभावशाली थे। किन्तु पेशवाओंको पूनामें उनके द्वारा नगरके भीतर अपने मन्दिरोंको बनानेपर कड़ा प्रतिबन्ध लगा हुआ था। बाम्बे गजेटियर (जिल्द १८ भाग ३ पृ० ३४०)के अनुसार सन् १७५० ई०के लगभग जैन-गुरुओंने तत्कालीन शंकराचार्यसे सिफ़ारिश करवायी कि पेशवा पूनामें जैनोंको अपना मन्दिर बनानेकी आज्ञा दे दे। शंकराचार्यने सम्भवतया जैनोंसे कुछ धन लेकर पेशवासे आज्ञा दिलवा दी किन्तु फिर भी यह शर्त लगा दी गयी कि जैनी अपना मन्दिर नगरके एक ऐसे कोनेमें बना सकेंगे जो ब्राह्मणोंकी बस्तीसे दूर हो, मन्दिरोंपर शिखर और कलश न चढ़ाये जा सकेंगे क्योंकि उन्हें देखनेसे कट्टर हिन्दुओंकी पवित्रता दूषित होनेकी सम्भावना थी, उन्हें अपने मन्दिरके मजबूत कपाट भी सदैव बन्द रखने होंगे और उनके आरती-पूजनके वाद्योंका शब्द भी किसी ब्राह्मणके कानमें नहीं पड़ना चाहिए। इसके विपरीत मैसूरके हैदरअली और उसके बेटे टीपूने अपने राज्यके जैन-गुरुओं और जैन-तीर्थोंको दान दिये और उनके श्रवणबेलगोल-जैसे तीर्थोंका संरक्षण किया। स्वयं औरंगज़ेबके मुहम्मदशाह आदि वंशजोंने जैनोंके आग्रहपर जब-तब जीवहिंसा प्रतिबन्धक फ़रमान जारी किये। खीमसी भंडारी, राव कृपारामशाह, लाला हरसुखराय, राजा सुगनचन्द आदिको अपना खज़ांची बनाया और अपनी दिल्ली, आगरा आदि राजधानियोंमें भी जैनोंकी धार्मिक स्वतन्त्रतामें कोई बाधा नहीं दी। बंगालकी नवाबीमें मुर्शिदाबादका जैनधर्मानुयायी जगतसेठ और उसका घराना अत्यन्त प्रतिष्ठित था। धनकुबेर जगतसेठ उस राज्यका स्तम्भ था और अंग्रेज़ भी उसका आदर करनेपर विवश थे। व्यापारियोंके रूपमें जो थोड़े-बहुत जैनी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम आदिमें थे उनकी दशा अन्य हिन्दुओंसे भिन्न नहीं थी। यही दशा पंजाब, सिन्ध आदिमें थी। शेष उत्तर भारत—दिल्ली, आगरा प्रदेश, मध्यभारतके मराठा राज्य, राजस्थान, गुजरात आदिमें जैनोंका अपेक्षाकृत बाहुल्य था, किन्तु वहाँ भी उनकी धार्मिक और सामाजिक दशा प्रायः वहाँके अन्य हिन्दुओं

जैसी ही थी। सुदूर दक्षिणके तामिल प्रदेश एवं मैसूर आदि दक्षिणी कर्णाटकी प्रदेशोंमें जैन-धर्म इस कालमें भी अपेक्षाकृत उन्नत दशामें रहा। अब भी कई छोटे-छोटे जैन राज्य वहाँ विद्यमान थे। उस प्रदेशके जैन-तीर्थों एवं गुरुओंका संरक्षण एवं कन्नड भाषाके जैन-साहित्यकारोंका प्रश्रय वहाँ बराबर बना रहा। अनेक धार्मिक एवं लौकिक ग्रन्थ इन विद्वानोंने इस कालमें भी वहाँ रचे। कई ग्रन्थ तो ऐतिहासिक महत्त्वके भी हैं, विशेषकर वहाँकी एक जैन रानी रम्भाकी प्रेरणापर देवचन्द्र-द्वारा रचित राजावलिकथे (१८३४ ई०) पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। साहित्य-सृजनकी दृष्टिसे उत्तर भारतमें उस कालमें जैनोंके प्रमुख केन्द्र—गुजरात, दिल्ली, आगरा, और जयपुर थे। संस्कृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओंमें साहित्य-सृजन चलता रहा। किन्तु उसमें गद्य एवं पद्यके हिन्दी साहित्यकी ही बहुलता रही, और उसकी रचनामें जयपुर केन्द्र सर्वाग्रणी रहा। इस डेढ़-सौ वर्षके अराजकता कालमें लगभग पचास-साठ जैन कवियों एवं साहित्यकारोंके नाम मिलते हैं जिनमें लगभग एक दर्जन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं—दौलतराम, टोडरमल्ल, भूधरदास, बुधजन, यशोविजय, जयचन्द, सदासुख, लालचन्द, नथमल, देवदत्त, वृन्दावन, देवचन्द, चन्द्रसागर, रंगविजय, क्षमाकल्याण, नयनसुखदास आदि थे।

मुर्शिदाबाद—बंगालके जगतसेठ, दिल्लीके शाही खजांची हरसुखराय और सुगनचन्द्र, भरतपुरके नथमल, विलास आदि उस कालके प्रसिद्ध व्यक्तियोंमें-से थे। राजपूत राज्योंकी राजनीतिमें भी इस कालमें कुछ जैनोंने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। बुन्देलखण्डमें देवगढ़का शासक जैन था, जिससे सिन्धियाका युद्ध हुआ था। जयपुरमें मिर्जा राजा जयसिंहके समयमें बल्लूशाह जैनी एक उच्चपदपर नियुक्त था। उसका पुत्र बिमलदास राजा रामसिंह और बिशनसिंहके समयमें दीवान था। वह वीर योद्धा भी था, और लालसोरके युद्धमें मारा गया था। इसका पुत्र रामचन्द्र छाबड़ा महाराज सवाई जयसिंह (१७०१–४३ ई०) का दाहिना हाथ एवं प्रधान

दीवान था। यह भी शासन-प्रबन्ध एवं राजनीतिमें अत्यन्त कुशल होनेके साथ-ही-साथ वीर योद्धा एवं कुशल सेनानी था। जयपुर और जोधपुरके राजाओं, जयसिंह और अजीतसिंहने जो परस्पर साले-बहनोई भी थे उत्तराधिकारके युद्धमें आजमका साथ दिया था अतः बहादुरशाहने दोनों राज्यों-पर चढ़ाई करके उन्हें विजय किया और खालसा घोषित कर दिया। दोनों राजा भागकर उदयपुर चले गये। जयसिंहके साथ उसका दीवान रामचन्द्र भी था। उदयपुरवालोंकी कोई व्यंग्योक्ति सुनकर वह स्वयं अकेला जयपुर की ओर चल दिया, अपने छल-बल-कौशलसे बादशाहकी सेनाको वहाँसे निकाल बाहर किया और जयपुरपर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार अपने राजाकी आज्ञासे उसने जोधपुरसे भी शाही सेनाको मार भगाया, और दोनों राजाओंको अपने-अपने राज्यमें स्थापित कर दिया। इस दीवानने साम्भरको भी मुसलमानोंसे विजय किया और दोनों राजाओंके बीच बँटवा दिया। राजापर बादशाहको प्रसन्न करनेमें भी यह दीवान सहायक हुआ और राजाके साथ दिल्ली गये। तथा जब उसे मालवाकी सूबेदारी मिली तो वहाँ भी राजाके साथ गया। तदुपरान्त राव कृपाराम, शिवजी लाल (मृत्यु १८१० ई०), अमरचन्द (१८१०–३५ ई०) आदि प्रसिद्ध जैन दीवान जयपुर राज्यमें हुए। दीवान अमरचन्द विद्वानोंका भारी आश्रयदाता था, निर्धन छात्रोंको छात्रवृत्ति देता था, स्वयं भी बड़ा विद्वान् और धर्मात्मा था और अनेक मन्दिरोंका निर्माण एवं ग्रन्थोंकी रचना भी इसने करायी थी। राजाका सारा दोष अपने ऊपर लेकर और अपने प्राणोंकी बलि देकर अंग्रेजोंके कोपसे उसने जयपुर राज्यकी रक्षा की थी। इस कालमें जयपुर राज्यके जैन-साहित्यकारोंने विशेष रूपसे हिन्दी खड़ी बोलीके गद्यका अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण विकास किया। जयपुरके विद्वानोंका देशके अन्य प्रदेशों के जैन विद्वानोंके साथ भी बराबर सम्पर्क रहता था। ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ करनेका एक विशाल कार्यालय भी इस कालमें वहाँ स्थापित हुआ जहाँसे सर्वत्र ग्रन्थ भेजे जाते थे। अनेक जैन मन्दिरोंके अतिरिक्त जैन

मूर्तिकलाके निर्माणका भी केन्द्र जयपुर बना। केवल जयपुर नगरमें ही उस कालमें लगभग दस-बारह हजार जैनी थे। जोधपुर राज्यमें महाराज अजीतसिंहका प्रधान दीवान रघुनाथ भण्डारी था, खिमसी भण्डारी महाराजका प्राइवेट सेक्रेटरी (तनदीवान) था और अनूपसिंह जोधपुर नगर का शासक था। विजय भण्डारीको राजाने गुजरातके सूबेका कार्यभार सम्हालनेके लिए भेजा था। दूसरी बार पोमसिंह भण्डारीको अहमदाबाद भेजा। मेहता संग्रामसिंह और सावन्तसिंह जिलाधिकारी थे। अभयसिंहके समयमें सुरतराम भण्डारी दीवान था और रतनसिंह भण्डारीने अपने राज्य की ओरसे १७३०–३७ ई०में गुजरात और अजमेरकी सूबेदारी कुशलतापूर्वक की थी। उसने गुजराजके जैन सेठोंपर भी कोई रियायत नहीं की थी, बल्कि उनमें-से एक धनकुबेरको तो मृत्युदण्ड भी दिया था। राजा विजयसिंहके समयमें गंगाराम भण्डारी वीर सेनानायक था जो १७९० ई० में मेड़ताके युद्धमें मारा गया। मानसिंह (१८०४ ई०) के समयमें पृथ्वीराज भण्डारी दीवान था। इस राजाका प्रधान सेनापति इन्द्रराज संघवी था। उदयपुरकी राजकुमारी कृष्णाके लिए जयपुर और जोधपुरके बीच होनेवाले युद्धमें कछवाहोंके आक्रमणसे जोधपुर राज्यकी रक्षा और स्वयं जयपुरकी विजय इन्द्रराजने ही की थी, जिससे प्रसन्न होकर राजा मानसिंहने राज्यका सारा भार उसे ही सौंप दिया था। इस कालका जोधपुरका अन्तिम दीवान बहादुरमल (१८४३–७३ ई०) था जिसने नमकके ठेकेका सुप्रबन्ध करके मारवाड़का बहुत हित किया था। मारवाड़के कृष्णगढ़, रूपनगर, नागौर आदि उपराज्योंमें भी अनेक जैनी सामन्त सरदार और दीवान थे। नागौरमें तो भट्टारकीय गद्दी और विशाल शास्त्रभण्डार भी था। इस कालमें मारवाड़में लगभग दो लाख जैनी थे। उदयपुर राज्यमें राणा राजसिंहके पश्चात् भी उनका प्रसिद्ध मन्त्री शाह दयालदास दीवान बना रहा। तदनन्तर उसका पुत्र सांवलदास दीवान रहा। राणा संग्रामसिंह द्वितीयके समयमें कोठारी भीमसी एक वीर योद्धा और प्रसिद्ध सेनानी था,

रणबाजखाँके विरुद्ध युद्धमें वह मारा गया था। इस राणाने राज्यके जैन-तीर्थ ऋषभदेवको भी एक ग्राम भेंट किया था। १८वीं शतीके उत्तरार्ध मे राज्यका प्रसिद्ध प्रधान दीवान सोमचन्द गाँधी था, उसका पुत्र सतीदास गाँधी भी राजमन्त्री था, इसी समय डयोढ़ीवाल खान्दानका मेहता मालदास एक प्रसिद्ध सेनाध्यक्ष था, १७८७ ई०में होल्कर आदि मराठोंकी एक भारी सेनाको इसने मार भगाया था। युद्धमे ही उसने वीरगति पायी। १९वीं शतीके पूर्वार्धमे मेहता अगरचन्द बच्छावत, देवीचन्द, शेरसिंह आदि उदयपुरके दीवान रहे। राज्यमें जैन लगभग दस प्रतिशत थे, राजधानी उदयपुरके अतिरिक्त, चित्तौड़, केशरियानाथ, ऋषभदेव, बीजोल्याँ, देलवाड़ा, केरड़ा आदि प्रसिद्ध जैनतीर्थ एवं केन्द्र थे। मेवाड़के डूगरपुर, बाँसवाडा, प्रतापगढ़ आदि उपराज्योंमे भी जैनोंकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। जैसलमेरमे एक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण जैनग्रन्थभण्डार था। इस राज्यके जैनदीवानोंमे राजा मूलराज (१७६२ ई०) का मन्त्री मेहता स्वरूपसिंह अधिक प्रसिद्ध है। बीकानेर राज्यके इस कालके जैनदीवानोंमें अमरचन्द सुराना अत्यधिक प्रसिद्ध है। वह वीर सेनानी भी था, कई युद्धोंमें उसने विजय प्राप्त की थी और भाटियोंके खान जाब्ताखाँको बुरी तरह पराजित करके उसके प्रसिद्ध दुर्ग भटनेरको भी हस्तगत कर लिया था। अजमेर मेरवाड़ाका शासक १७८७–९१ ई० के बीच जैन वीर धनराज संघवी था। उसने चार वर्ष तक निरन्तर मराठोंके विरुद्ध युद्ध करके इस प्रदेशकी रक्षा की थी और प्राण रहते उन्हें उसपर अधिकार नहीं करने दिया था। बूँदी, कोटा, अलवर आदि अन्य राजपूत राज्योंमे भी जैनोंकी प्रायः ऐसी ही स्थिति थी। सम्पूर्ण राजस्थानकी जनसंख्याका लगभग दस बारह प्रतिशत वहाँके जैन थे, और यही ऐसा प्रदेश अब रह गया था जहाँ जैन मात्र सेठ साहूकार और व्यापारी ही नहीं थे वरन् उनमें-से अनेक वीर योद्धा, सैनिक, सामन्त-सरदार एवं राज्यमन्त्री भी थे तथा शासनमें विभिन्न पदोंपर भी बिना भेदभावके नियुक्त होते थे।

इस कालके सर्वव्यापी नैतिक पतनके प्रभावसे जैनधर्म और जैन भी अछूते नहीं थे, हिन्दू जैनविद्वेष भी यत्र-तत्र भड़क उठता था और बड़ी संख्यामें जैन अपना धर्म त्यागकर वैष्णव भी बनने लगे थे। भट्टारकीय शिथिलाचार, रूढ़िवादिता, संकीर्णता, अशिक्षा, जाति-पाँतिके कठोर बन्धन, छूआ-छूत, बालविवाह, बहुपत्नी, सहमरण आदि अनेक सामाजिक कुरीतियाँ क्या हिन्दू, क्या जैन और क्या मुसलमान, सभीमें व्याप्त होती जा रही थीं। सम्पूर्ण भारतीय समाज एक अजीब निराशावाद एवं नियतिवादके दलदलमें फँसकर अप्रगतिशील बन चला था।

इसमें सन्देह नहीं है कि इस डेढ़-सौ वर्षके युगके प्रारम्भ तक जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति संसारके सभी देशोंसे अधिक बढ़ी-चढ़ी थी वह उस युगके अन्त तक सभीसे पिछड़ गयी। इस कालमें अन्य देशोंने विशेष कर यूरोपीय देशोंने जब अभूतपूर्व उन्नति की, भारतने अभूतपूर्व अवनति की।

अध्याय ६

यूरोपवासियों-द्वारा भारतकी लूट (१६०८–१८५८ ई०)

औरंगज़ेबके जीवनमें ही हिन्दू आदि मुसलमानेतर भारतीयोंका राजनैतिक पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया था, और उसकी मृत्युके उपरान्त १५० वर्षके बीच वह पुनरुत्थान अपने चरम शिखरको पहुँचकर देश और जातिका बिना कुछ हित किये ही द्रुतवेगसे अवनत हुआ। हिन्दू राज्यशक्तिके प्रचण्ड उत्थानके सम्मुख मुसलमान सत्ता इस देशमें पराभूत हो चुकी थी, किन्तु उस हिन्दू राज्यशक्तिमें स्वयंमें एकसूत्रता न थी। प्रान्त, जाति, धर्म एवं व्यक्तिगत पक्षपात, फूट, वैमनस्य, स्वार्थान्धता एवं अदूरदर्शिताने उस महान् प्रयत्नको फल दिखानेके पूर्व ही व्यर्थ कर दिया। इतना ही नहीं, जैसा कि पूर्व अध्यायमें वर्णन किया जा चुका है देश और देशवासियोंको स्वयं उनके अपनोंने ही घोर अराजकता, अशान्ति, अव्यवस्था एवं अनैतिकताके तूफ़ानी अन्धकारमें डुबो दिया। परिणाम यह हुआ कि सुदूर पश्चिमसे उड़कर आये कतिपय गृद्धोंकी लोलुप दृष्टिने इस प्रकार क्षत-विक्षत, आहत एवं मृतप्राय भारत एवं भारतीयताका भरपेट रक्तशोषण एवं मांस-भक्षण करनेका समुपयुक्त अवसर देखा। सात समुद्र पारसे आनेवाले इन मुट्ठी-भर अनुल्लेखनीय, शक्ति एवं साधनविहीन किन्तु चतुर साहसी एवं धूर्त यूरोपीय लुटेरोंने अपने-आपको कुछ नहींसे सब कुछ बना लिया। १७०७ से १८५७ ई० पर्यन्तके भारतीय इतिहासका पतनोन्मुखी भारतीय रूप तो पूर्व अध्यायमें देख ही चुके हैं, प्रस्तुत अध्यायमें इसी कालमें भारतमें भारतवासियोंके ही धन-बल और बूतेपर उन्हींके द्वारा और उन्हींका उपयोग करके किस प्रकार धूर्त अंग्रेज़ोंने इस देशमें अपनी शक्ति एवं प्रभुत्वका विकास किया, इसका वर्णन करना है।

इतिहासकालमें यूरोपके निवासियोंका भारतवर्षके साथ सर्वप्रथम सम्पर्क यूनानियोंके द्वारसे हुआ। ५-६ठी शती ई० पूर्व में ही यूनान और भारतका सांस्कृतिक एवं दार्शनिक सम्पर्क परोक्षरूपसे स्थापित हो गया था। ४थी शती ई० पूर्वमें सिकन्दरके भारत आक्रमणसे राजनैतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष रूपसे स्थापित हुए। तदनन्तर रोमन साम्राज्य के उत्कर्ष कालमें रोमके साथ भारतका व्यापार बढ़ा-चढ़ा था, दोनों देशों के बीच कुछ राजदूत आदि भी आये गये। ईसा और ईसाई मतके उदयके दो-तीन सौ वर्ष पश्चात् ही एक ईसाई धर्म-प्रचारक दक्षिण भारतमें आया बताया जाता है, किन्तु तदुपरान्त लगभग एक हजार वर्ष तक सम्बन्ध विच्छेद रहा। यूरोपका वह अन्धयुग था, इस्लामके प्रचण्डवेगके सम्मुख ईसाई धर्म एवं यूरोपकी शक्ति हतप्रभ एवं पराभूत हो पड़ी थी। कई सौ वर्ष तक अपने धर्मस्थानों यरुशलम आदिका उद्धार करनेके लिए यूरोपका ईसाई-जगत् तुर्क मुसलमानोंके साथ धर्मयुद्ध करता रहा। १४५३ ई० में तुर्कों-द्वारा कुस्तुन्तुनियाकी विजयके उपरान्त जहाँ भारत एवं अन्य पूर्वी देशोंके साथ यूरोपका थलमार्ग चिरकालके लिए अवरुद्ध हो गया वहाँ यूरोपमें एक नवीन जागृति, चेतना, साहस और पराक्रमका उदय हुआ। भारतके कल्पनातीत धन-वैभवकी कहानियाँ सर्वत्र प्रचलित थीं। ऐसे अपूर्व देशके साथ व्यापार करके लाभ उठानेके लिए अनेक यूरोपवासी लालायित थे, किन्तु कोई मार्ग न था। अतः १४९८ ई०में वास्को डिगामा नामक यात्री कई प्रयत्नों एवं अनेक विपत्तियाँ उठानेके बाद अफ्रीका महाद्वीपका चक्कर काटकर आशा अन्तरीपके मार्गसे भारतके दक्षिणी-पश्चिमी तटपर स्थित कालीकटके छोटे-से राज्यमें आ पहुँचा और उसने वहाँके राजा जमोरिनसे उसके राज्यके द्वारसे भारतके साथ पुर्तगाल का व्यापार स्थापित करनेकी सुविधा प्राप्त कर ली। उस समय भारतका समस्त पश्चिमी जलमार्गी व्यापार अरबोंके हाथमें था। पुर्तगाली उन्हें हराकर पश्चिमी समुद्रतटपर जम गये। १५०५ ई०में अलमिडा उनका

गवर्नर हुआ। उसने पुर्तगाली बस्तियोंके लिए कुछ क़िले भी बनवाये। १५०९–१५ ई० में अल्बुकर्क भारतमें पुर्तगालियोंका गवर्नर रहा। उसने गोआपर अधिकार करके उसे यहाँकी पुर्तगाली बस्तियोंकी राजधानी बनाया। उसने मलक्काको विजय किया, लंका, सकोत्रा, उरमुज आदि द्वीपोंमें पुर्तगाली बस्तियाँ स्थापित कीं, भारतमें गोआ राज्यको कुछ विस्तृत करके संगठित किया, उत्तम शासन व्यवस्था की और शासन-प्रबन्धमें हिन्दुओंको भी नियुक्त किया। मुसलमानोंसे पुर्तगाली बड़ी घृणा करते थे। मुसलमान स्त्रियोंसे विवाह करने और मुसलमानों तथा अन्य भारतीयों को ईसाई बनानेका भी वे प्रयत्न करते थे। अलबुकर्क भारतमें पुर्तगाल का एक विशाल एवं सम्पन्न उपनिवेश स्थापित करना चाहता था। उसी समयसे व्यापार गौण और ईसाई मतका प्रचार तथा पुर्तगाली राज्यका शक्ति-संवर्धन पुर्तगालियोंका मुख्य उद्देश्य बन गया था। दक्षिणके विजय-नगर और बहमनी राज्यों तथा गुजरातके सुलतानोंके भी राजनैतिक संघर्ष में पुर्तगाली आये। मुग़लकालमें भी पश्चिमीतटपर वे एक महत्त्वपूर्ण शक्ति बने हुए थे और सूरत आदिसे हजके लिए जानेवाले मुसलमानोंके मार्गमें भारी बाधक होते थे। अतः उनका जब-तब दमन भी किया जाता था। अकबरकी इच्छापर गोआके पुर्तगालियोंने सम्राट्के दरबारमें जेसु-इटपादरियोंके दो-तीन ईसाई धर्म प्रचारकदल भी भेजे थे। १५८० ई० में स्पेनके राजाने पुर्तगालको अपने राज्यमें मिला लिया तभीसे भारतके पुर्तगाली राज्यको स्वदेशका राज्याश्रय समाप्त हो गया और उसकी अव-नति होने लगी। शाहजहाँने बंगालके पुर्तगालियोंकी ज्यादतियोंसे चिढ़कर उनको बुरी तरह कुचल डाला था। तदनन्तर फ्रान्सीसी, डच और अंग्रेजों ने उनके पूर्वी व्यापारके एकाधिपत्यको नष्ट कर दिया। अन्ततः गोआ, डामन और ड्यूके अतिरिक्त उनका और कोई प्रदेश न रह गया। किन्तु ये छोटी-छोटी पुर्तगाली बस्तियाँ कुछ दिन पूर्व तक चलती आ रही थीं और पुर्तगाली गोआकी समस्या भी स्वतन्त्र भारतके वर्तमान राजनीतिज्ञोंके

सम्मुख एक विषम समस्या बनी हुई थी। २० दिसम्बर १९६१ ई० को गोआ, दामन, ड्यू ये तीनों पुर्तगाली बस्तियाँ विधिवत् भारत साम्राज्यमें मिला ली गयीं और भारतसे उपनिवेशवाद पूर्णतया समाप्त हो गया।

हालैण्ड-निवासी डच भी बड़े कुशल नाविक हो चले थे। १६०१ ई० में पूर्वी देशोंके साथ व्यापार करनेके लिए उन्होंने एक कम्पनी बनायी और सहज ही मलाया द्वीप समूहके मसालेके टापुओंके व्यापारपर अपना एकाधिपत्य जमा लिया तथा भारतके समुद्र-तटपर भी अपने पैर जमाये, किन्तु अंग्रेजोंकी तीव्र प्रतिद्वन्द्विताके कारण भारतीय व्यापारसे उन्हें अपेक्षाकृत शीघ्र ही निकल जाना पड़ा। प्रारम्भसे ही दोनों जातियोंमें भारतीय व्यापारके लिए युद्ध चलता रहा। अम्बोयना द्वीपमें डचोंने अनेक अंग्रेजोंका वध कर डाला जिसके परिणामस्वरूप १६५४ ई० में इंग्लिस्तानके डिक्टेटर क्रामवेलने हालैण्डको हराकर डच कम्पनीसे अंग्रेज कम्पनी को भारी हर्जाना दिलवाया। अंग्रेजों और फ्रान्सीसियोंके बीच होनेवाली प्रतिद्वन्द्विता एवं युद्धोंमें डच और भी अधिक पिस गये। भारतकी उनकी अधिकांश व्यापारिक कोठियाँ उनसे छिन गयीं और चिनसुरा आदि दो-एक स्थानोंमें ही उनका अत्यन्त गौण अस्तित्व रह गया किन्तु मसालेके टापुओं पर उनका एकाधिपत्य वर्तमान काल तक अक्षुण्ण बना रहा। डचोंकी देखा-देखी उनके पड़ोसी डेनमार्कके निवासी डेनोंने भी भारतमें अपनी व्यापारिक कोठियाँ जमानेका प्रयत्न किया, किन्तु वे भी विफल रहे। अंग्रेज और फ्रान्सीसियोंने उन्हें शीघ्र ही इस देशसे निकाल बाहर किया।

अन्य यूरोपीय देशोंकी देखा-देखी फ्रान्सीसियोंने भी पूर्वी देशोंके साथ व्यापार करनेके लिए कम्पनियाँ स्थापित कीं। फ्रान्सीसियोंका यह प्रयत्न सबसे पीछे प्रारम्भ हुआ किन्तु उन्होंने बड़ी शीघ्रताके साथ उन्नति की। १६४२ ई० में सर्वप्रथम फ्रान्सके तत्कालीन प्रधान मन्त्री रिशलूने तीन कम्पनियाँ इस उद्देश्यको लेकर स्थापित कीं, किन्तु वे थोड़े समय पश्चात् ही भंग हो गयीं। जिसका कारण सरकारी कर्मचारियों एवं पादरियोंका

अनावश्यक हस्तक्षेप था। १६६४ ई० में फ़ान्सके बादशाह लूई चौदहवेंके मन्त्री कोल्बर्टने एक नवीन कम्पनीकी स्थापना की जिसका उद्देश्य व्यापार उतना नहीं था जितना पूर्वी देशोंमें फ़ान्सकी राजनैतिक शक्तिकी स्थापना, एवं फ़ान्सके राजाकी शक्तिमें वृद्धि करना और ईसाई धर्मका प्रचार करना था। फलस्वरूप १६७४ ई० में फ़ान्सिस मार्टिनने भारतके पूर्वी तटपर फ़ान्सके पाण्डुचेरी उपनिवेशकी नींव डाली और बंगालके चन्द्रनगरमें एक व्यापारिक कोठी बनायी। तदनन्तर फ़ान्स और हालैण्डके बीच होनेवाले युद्धोंसे इस कम्पनीको भारी क्षति पहुँची और १७२० ई०में उसका पुन: संगठन हुआ। उसी वर्ष मारीशस द्वीपपर तथा १७२४ ई०में मालावार तटवर्ती माही नामक स्थानपर फ़ान्सीसियोंका अधिकार हो गया। फ़ान्सीसी गवर्नर ड्यूमा (१७३५–४१) ने तत्कालीन दक्षिण-भारतकी अव्यवस्थित दशाको देखकर वहाँके छोटे-छोटे राज्योंके राजनैतिक मामलोंमें हस्तक्षेप करके अपनी शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ की। तञ्जौर राज्यमें उत्तराधिकारके लिए होनेवाले युद्धमें उसने एक पक्षकी सहायता की और उससे कारीकल प्राप्त कर लिया, जिससे फ़ान्सीसियोंकी शक्ति, अधिकार और प्रतिष्ठा पर्याप्त बढ़ गयी। तदनन्तर डूप्ले (१७४२–५४ ई०) भारतमें फ़ान्सीसी गवर्नर बनकर आया और उसके साथ ही फ़ान्सीसी कम्पनीके जीवनमें विजय एवं राजनैतिक विकासका नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ। डूप्ले नि:स्वार्थी, स्वदेशभक्त, अत्यन्त चतुर एवं कूटनीतिपटु था। अपने पड़ोसी भारतीय राज्योंकी राजनीतिका उसने भली प्रकार अध्ययन कर लिया था। अपने अधीनस्थ कर्मचारियोंके साथ वह कठोर व्यवहार करता था। उसकी आकांक्षा भारतमें फ़ान्सीसी शक्तिको अत्यधिक बढ़ाकर और वहाँ एक अच्छा विस्तृत राज्य जमाकर अपने देशको लाभ पहुँचाने और उसका गौरव बढ़ानेकी थी। मूलत: भारतके व्यापारका लाभ उठाने के लिए ही इन यूरोपीय कम्पनियोंकी स्थापना हुई थी। उनमें इस समय केवल अंग्रेजी और फ़ान्सीसी दो ही कम्पनियाँ रह भी गयी थीं। व्यापारिक

प्रतिद्वन्द्विता एवं प्रतिस्पर्द्धा तो इनमें परस्पर थी ही उत्तर मुगल कालकी अराजकताका लाभ उठाकर ये अपनी राजनैतिक शक्ति भी बढाने लगी थीं। फ्रान्स और इंग्लैण्डमें इस कालमें स्वाभाविक शत्रुता भी थी। अतः भारतमें ये दोनों कम्पनियाँ परस्पर लड़ने लगीं। किन्तु जब कि फ्रान्सीसी कम्पनीकी सत्ता इस देशमें अभी नयी-नयी थी अंग्रेजी कम्पनी काफी स्थायित्व, शक्ति एवं समृद्धि प्राप्त कर चुकी थी। फ्रान्सीसी कम्पनीकी अपेक्षा वह अधिक साधनसम्पन्न भी थी, उसकी भारतीय बस्तियाँ भी अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित, सुगठित एवं विशाल थीं और इंग्लैण्डके राजा या शासन का भी उसके कार्योंमें कोई हस्तक्षेप न था। किन्तु फ्रान्सीसी कम्पनी एक सरकारी कम्पनी थी, अपने राज्यकी सहायतापर पूर्णतया निर्भर थी, उसके कर्मचारियोंकी नियुक्ति भी फ्रान्सकी सरकार ही करती थी, और सरकार तथा उसके कर्मचारियोंके हस्तक्षेपके कारण कम्पनीका कार-बार बड़ी मुश्किलोंके साथ चलता था। इस प्रकार राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वितामें सफलता पानेके लिए भी अंग्रेजी कम्पनीकी स्थिति अधिक दृढ़ एवं अनुकूल थी। अतः भारतमें अंग्रेजों और फ्रान्सीसियोंके मध्य होनेवाले प्रथम युद्ध (१७४०–४८ ई०) में भी जो कि यूरोपमें इंग्लैण्ड और फ्रान्सके बीच प्रारम्भ होनेवाले युद्धके साथ ही छिड़ गया था, राजकीय सहायताके बावजूद फ्रान्सीसियोंको विशेष सफलता न मिली। इन्होंने मद्रासपर अवश्य ही कब्जा कर लिया किन्तु अंग्रेजोंने कई बार फ्रान्सीसियोंको पराजित किया। १७४८ ई०में दोनों देशोंके बीच एलाशपलकी सन्धि हो जानेके कारण भारतमें भी उनका युद्ध बन्द हो गया और मद्रास अंग्रेजोंको वापिस मिल गया। इस युद्धके फलस्वरूप इन दोनों विदेशी जातियोंको अपने पड़ोसी भारतीय राज्योंकी कमजोरी मालूम हो गयी, और अपनी बस्तियोंके आसपास सौ-सौ मीलके क्षेत्रसे वे भली-भाँति परिचित हो गये। अबतक उन्होंने यह भी समझ लिया था कि देशी राजाओंके पारस्परिक झगड़ोंमें पड़कर कितना लाभ उठाया जा सकता है। इस प्रकारके हस्तक्षेपकी पहल तन्जौरके मामलेमें अंग्रेजोंने ही करके फ्रान्सी-

सियोंका पथ प्रदर्शन किया था। डूप्लेको स्वयं भारतीय स्थितिका अच्छा ज्ञान था। उसने यह भी अनुभव कर लिया था कि यूरोपीय युद्ध-प्रणाली एवं सैनिक अनुशासनके बलपर सुव्यवस्थित यूरोपीय सेनाओंके द्वारा अधिक संख्यावाली भारतीय सेनाओंको कैसी आसानीके साथ हराया जा सकता है और अपनी शक्ति खूब बढ़ायी जा सकती है। अतः उसने अवसर मिलते ही पड़ोसी राज्योंकी राजनीतिमें भाग लेनेका निश्चय कर लिया। अवसर भी तुरन्त आ उपस्थित हुआ। १७४८ ई०में आसफ़जाहकी मृत्यु होते ही निज़ाम राज्यके उत्तराधिकारका द्वन्द्व छिड़ा। उधर कर्णाटकमें चाँदा साहब वहाँके नवाब अनवरुद्दीनको गद्दीसे उतारकर स्वयं नवाब बनना चाहता था। निज़ामका पोता मुज़फ़्फ़रजंग और चाँदासाहब मिल गये और उन दोनोंने फ़्रान्सीसियोंसे अपने प्रतिद्वन्द्वियोंके विरुद्ध सहायता माँगी। डूप्ले तो अवसरकी ताकमें ही था, सहर्ष तैयार हो गया। तीनोंने मिलकर अनवरुद्दीनपर हमला कर दिया, वह पराजित हुआ और अम्बरके युद्धमें १७४९ ई०में मारा गया। उसका लड़का मुहम्मदअली त्रिचनापल्लीमें अंग्रेजोंकी शरणमें भाग गया, चाँदा साहब कर्नाटकका नवाब हुआ और इस उपकारके लिए उसने फ़्रान्सीसियोंको ८० गाँव प्रदान किये। अब तीनों ने मिलकर मुजफ़्फ़रजंगके प्रतिद्वन्द्वी नासिरजंगपर आक्रमण किया किन्तु मुजफ़्फ़रजंग पराजित हुआ, तथापि थोड़े ही समय पश्चात् नासिरजंगके मारे जानेसे वही हैदराबादका निज़ाम बना। उसकी सहायताके लिए एक फ़्रान्सीसी सेना हैदराबादमें नियुक्त की गयी, फ़्रान्सीसियोंको कुछ धन और कई ज़िले मिले, स्वयं डूप्लेको भी एक जागीर मिली। वह अब भारतीय नवाबोंकी वेष-भूषामें उन्हींकी नाईं ठाठ-बाटसे रहने लगा। फ़्रान्सीसी सेना-पति बुसीकी संरक्षकतामें मुजफ़्फ़रजंग राजधानी हैदराबाद पहुँचे किन्तु एक लड़ाईमें मारा गया। बुसीने उसके स्थानमें आसफ़जाहके ही एक पुत्र सलाबजंगको नवाब बनाया और स्वयं उसके संरक्षकके रूपमें सात वर्ष हैदराबादमें ही डटा रहा। बुसी बहुत योग्य, चतुर एवं दूरदर्शी था, राज्यमें

उसीका प्रभाव सर्वोपरि था। अपनी सेनाका खर्च चलानेके लिए उसे निजामसे उत्तरी सरकारका प्रदेश मिल गया था। १७५८ ई०में बुसीको वापस बुला लिया गया और उसके जानेके साथ ही निजाम राज्यसे फ़ान्सीसियोंका प्रभाव सदाके लिए उठ गया। इसी बीचमें १७५१ ई०में अंग्रेजोंने कर्णाटककी राजधानी अर्काटका सफल घेरा डालकर और चांदासाहबको पराजित करके मुहम्मदअलीको कर्णाटकका नवाब बना दिया था और इस प्रकार डूप्लेके आधे कार्यको विफल करा दिया था। इन समाचारोंको ज्ञात करके फ़ान्सकी सरकार डूप्लेसे रुष्ट हो गयी और उसने १७५४ ई०में उसे वापस बुला लिया, उसके उत्ताधिकारी फ़ान्सीसी गवर्नर गोडहूने अंग्रेजोंके साथ सन्धि कर ली जिसके अनुसार कर्णाटक देशमें दोनों जातियोंको समान अधिकार मिले। किन्तु अभी यह सन्धि कार्यान्वित भी न हो पायी थी कि यूरोपमें इंग्लैण्ड और फ़ान्सके बीच सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६-६३ई०) छिड़ गया, अतः भारतमें भी इन जातियोंमें लड़ाई फिरसे छिड़ गयी। फ़ान्सीसी सेनापति लैली वीर योद्धा तो था किन्तु हठी और मूर्ख था। १७५८ ई०में ही उसने अंग्रेजोंके सेण्ट डेविड क़िले और मद्रास प्रदेशपर अधिकार कर लिया। बुसीको भी उसने हैदराबादसे बुला लिया था किन्तु उसकी सेनामें फूट पड़ गयी, धनाभाव भी था और पाण्डुचेरीके गवर्नरका उसे सहयोग भी प्राप्त न था, अतएव वह असफल होने लगा। १७६० ई०में वाण्डवाशके युद्धमें अंग्रेज सेनानी सर आयर कूटने लैलीको पराजित करके बन्दी कर लिया और इंग्लैण्ड भेज दिया। वहाँसे उसे फ़ान्स जानेकी अनुमति मिल गयी किन्तु उसकी सरकारने उसे मृत्युदण्ड दे दिया। बुसी भी क़ैदमें डाल दिया गया। अगले वर्ष पाण्डुचेरीपर भी अंग्रेजोंका कब्जा हो गया। १७६३ ई०में पेरिसकी सन्धिसे इस युद्धका अन्त हुआ। इस सन्धिके अनुसार भारतमें फ़ान्सीसियोंकी शक्ति एक-दम घट गयी, उनकी सेनाकी संख्या बहुत कम करके नियत कर दी गयी और प्रदेश-विस्तारपर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। बंगालमें वे अब केवल व्यापारीके रूपमें हो जा

सकते थे। हैदराबादमें उनके प्रभावका अन्त हो ही गया था, कर्णाटकमें भी कोई अधिकार नहीं रह गया था और उत्तरी सरकारके ज़िले भी अंग्रेजोंके हाथमें आ गये। अब पाण्डुचेरी, चन्द्रनगर आदि दो-तीन छोटी-छोटी बस्तियों एवं उनमें स्थित उनकी व्यापारी कोठियोंके अतिरिक्त भारतमें फ़ान्सीसियोंकी कोई सत्ता न रह गयी और भविष्यके लिए भी कोई आशा न रह गयी। फ़ान्सकी सरकारके लिए उसके इन भारतीय प्रतिनिधियोंके युद्ध एवं भाग्य परिवर्तन अत्यन्त गौण घटनाएँ थीं। वह इस प्रयत्नके तथा उसकी विफलताके मूल्यको तबतक आँक ही नहीं पायी थी।

आस्ट्रिया, स्वेडन, स्काटलैण्ड आदि अन्य यूरोपीय देशोंके निवासियोंने भी भारतके साथ व्यापार करनेका प्रयत्न किया किन्तु सब ही असफल रहे।

इस कार्यमें जो सबसे अधिक सफल हुए वे यूरोपके उत्तर-पश्चिममें स्थित इंग्लिस्तान नामके एक छोटेसे द्वीप देशके निवासी अंग्रेज़ व्यापारी थे। उन्होंने न केवल पुर्तगालियों, डचों, डेनों, फ़ान्सीसियों आदि अन्य यूरोपीय जातियोंको ही भारतीय व्यापार क्षेत्रसे शनैः-शनैः निकाल बाहर किया वरन् पश्चिम देशोंके साथ होनेवाले इस महादेशके सम्पूर्ण व्यापार-पर अपना पूर्ण एकाधिपत्य स्थापित कर लिया। इतना ही नहीं, देशके सर्वतोमुखी पतनसे लाभ उठाकर उन्होंने इस पूरे महादेशपर अपना पूर्ण राजनैतिक प्रभुत्व भी स्थापित कर लिया। देशके राजा-नवाब, सामन्त-सरदार, चोर-डाकू और ठग तो देशके धनिकोंको ही लूटकर देशका धन देशमें ही रखते थे, किन्तु इन महान् लुटेरोंने तो भारतवर्षके सभी वर्गों और सभी साधनोंको लूट-लूटकर कंगाल कर दिया और उस लूटसे सुदूरस्थ स्वदेश, स्वजाति एवं स्वराष्ट्रको सर्वतोमुखी लौकिक उन्नतिके अभूतपूर्व एवं अनुमानातीत चरम-शिखरपर पहुँचा दिया। उनके हस्तक्षेपके पूर्व उत्तर मुग़ल कालकी भीषण अराजकता एवं अशान्तिके बावजूद इस देशकी जनताका बहुभाग, उसके ग्रामीण कृषक, दस्तकार, कारीगर आदिको कोई स्थायी क्षति नहीं पहुँची थी, न उसकी सम्भावना की थी, देशका व्यापार

भी जैसे-तैसे चल रहा था और अनेक देशवासी ही उसका लाभ उठा रहे थे। कितने ही प्रान्तों-प्रदेशों और राज्योंमें जब-तब सुशासन सुख-शान्ति आदिका भी अनुभव होता रहता था। किन्तु अंग्रेजोंकी अर्थलोलुप दृष्टिसे धनी, निर्धन, छोटा-बड़ा, कृषक, दस्तकार, व्यवसायी, व्यापारी, जमींदार और साहूकार, राजा और नवाब, कोई भी न बचा। जिससे जिस रूपमें जो कुछ भी छीना-झपटा जा सकता था वह उन्होंने छीना और अपहरण किया। साथ ही भारतवासियोंको यह कह-कहकर सन्तुष्ट एवं आश्वस्त करनेका प्रयत्न किया कि हमने तुम्हें घोर अशान्ति, अराजकता, अव्यवस्था और अरक्षासे मुक्त किया है, हम तुम्हें अभूतपूर्व सुशासन एवं सुरक्षा प्रदान कर रहे हैं और हम अत्यन्त समदर्शी, उदार, निष्पक्ष एवं न्याय-परायण हैं। यह सब धूर्त अंग्रेजोंका ढोंग था और जलेपर नमक छिड़कनेके समान था। किन्तु उस समय देशकी दशा ऐसी शोचनीय हो गयी थी, उत्तरोत्तर होती जा रही थी और आगे भी होती चली गयी कि उसमें न तो उस जलेकी जलनको और न उसपर नमक छिड़के जानेसे होनेवाली बेचैनीको महसूस करनेकी प्रायः कोई शक्ति, सामर्थ्य या प्रवृत्ति रह गयी थी।

१७वीं शती ई० के प्रारम्भमें कुछ अंग्रेज व्यापारी सर्व-प्रथम भारत आये, और पचास-साठ वर्षोंके भीतर ही उन्होंने इस देशमें अपने कतिपय व्यापारिक अड्डे जमा लिये और साथ ही पुर्तगालियों, डचों आदि प्रारम्भिक प्रतिद्वन्द्वियोंको प्रतिद्वन्द्विताके क्षेत्रसे निकाल बाहर किया। उससे अगले पचास-साठ वर्षोंमें उन्होंने अपने भारतीय व्यापारको समुन्नत कर लिया, उसके द्वारा अपने-आपको और अपने देश एवं राज्यको सुसमृद्ध कर लिया तथा भारतवर्षमें अपना व्यापारिक अड्डोंका जाल भी विस्तृत कर लिया और कुछ सुदृढ़ सुरक्षित केन्द्र भी बना लिये। तदनन्तर अगले पचास वर्षोंमें फ़्रान्सीसियोंके रूपमें एक नवीन किन्तु सर्वाधिक प्रबल प्रतिद्वन्द्वीका उन्हें सामना करना पड़ा, किन्तु उन्हें भी अन्ततः अंग्रेजोंने कुचल

दिया, साथ ही फ्रान्सीसियोंको कुचलनेके प्रयत्नमें उन्होंने देशके तीन छोटे, पर पड़ोसी देशी राज्योंके अन्तःकलह एवं विपन्नावस्थाका लाभ उठाकर अपनी राजनैतिक शक्तिकी सुदृढ़ नींव भी इस देशमें जमा दी। अब उनका हौसला और बढ़ा और आगेके पचास वर्षोंमें उन्होंने द्रुतवेगसे एक-एक करके समस्त दक्षिणापथ एवं उत्तरापथकी विभिन्न हिन्दू एवं मुसलमान राज्य-शक्तियोंपर अपना प्रभाव एवं आधिपत्य स्थापित कर लिया। और उसके बाद अराजकता कालके शेष पचास-साठ वर्षोंमें सिन्ध, पंजाब, काश्मीर, नेपाल, बर्मा आदि सीमान्त प्रदेशोंको भी अधीन करके तथा पहले ही आधीन कर लिये गये राज्यों एवं प्रदेशोंपर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करके और समूचे महादेशको निःसत्व करके एवं अपना बनाकर उसे सुशासन, सुरक्षा, न्याय, सांस्कृतिक पुनरुत्थान आदि प्रदान करनेका ढोंग भी प्रारम्भ कर दिया। किन्तु इसी युगके अन्तमें बहुभाग भारतने अंग्रेजोंके मजबूत पंजोंसे देशको मुक्त करनेका भी एक भगीरथ प्रयत्न किया। देशके दुर्भाग्यसे या सौभाग्यसे अथवा उसके नेताओंके स्वयंके दोष से वह प्रयत्न विफल हुआ। फलस्वरूप देशमें जो कुछ सत्त्व बच रहा था वह भी कुचल डाला गया और अब सम्पूर्ण भारतवर्ष वस्तुतः अंग्रेजोंका अपना दास और अपनी सम्पत्ति बन गया। भले ही अनेक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों तथा इस प्राचीन देशकी नष्ट न होनेवाली प्राण शक्तिके पुनः सञ्चारके कारण अंग्रेजोंका वह प्रभुत्व पूरे सौ वर्ष भी न चल सका।

१६वीं शताब्दी ई० में सम्भवतया दो-एक गौण अंग्रेज साहसिक यात्री व्यक्तिगत रूपमें भारत आये थे। १५८८ ई० में अंग्रेजोंने स्पेनके आरमेडा नामक एक भारी जहाजी बेड़ेको पराजित करके छिन्न-भिन्न कर दिया था। इस विजयसे यूरोपमें इंग्लिस्तानकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी और अंग्रेजोंकी नाविक शक्तिकी धाक जम गयी। अब अंग्रेज मल्लाह जो मुख्यतया समुद्री डाकू और नाविक लुटेरे ही थे दूर-दूर समुद्रोंमें धावे मारने लगे। समुद्री व्यापारमें उनके निकटवर्ती डच लोग सबसे अधिक बढ़े-चढ़े थे और

उसके कारण उनका देश मालदार हो रहा था। उधर पुर्तगालवाले पिछले सौ वर्षोंसे भारतके साथ व्यापार करके मालामाल हो रहे थे। भारतके अनुमानातीत धन-वैभवकी कहानियाँ यूरोप-भरमें प्रचलित थीं। अतः स्पेनी आरमेडाकी पराजय, पुर्तगालवालों द्वारा स्थापित भारतके साथ नवीन समुद्री मार्गसे होने वाला यातायात और डचोंका व्यापारोत्कर्ष मिलकर अंग्रेज व्यापारियोंके लिए भारी प्रेरक तत्त्व हुए। पूर्वी व्यापारके साथ होनेवाले लाभकी आशासे वे प्रलुब्ध हो गये। अतः सन् १६०० ई० में इंग्लैण्डकी राजधानी लन्दनके कुछ अंग्रेज व्यापारियोंने एक कम्पनी स्थापित की और उसके लिए अपनी रानी एलिजाबेथसे भारत आदि पूर्वी देशोंके साथ व्यापार करनेका एकाधिकार प्राप्त कर लिया। उनमें-से कुछ व्यापारियोंने व्यक्तिगत रूपसे चन्दा करके एक जहाज पूर्वी द्वीप समूहके मसालेके टापुओंमें भेजा, और उससे होनेवाले लाभको परस्पर बाँट लिया। इसके बाद दो बार और व्यक्तिगत जहाज आये। अन्तिम जहाज १६०८ ई० में भारतके पश्चिमी-तटपर स्थित सूरत बन्दरगाहपर भी पहुँचा और वहाँ उसने कुछ व्यापार किया किन्तु पुर्तगालियोंके विरोधके कारण विशेष सफलता नहीं मिली। कप्तान जॉन हाकिन्स जहाँगीरके दरबारमें भी पहुँचा, भेंट आदि दी, १६०९–११ ई० में दो वर्ष वह मुग़ल राजधानीमें पड़ा भी रहा, किन्तु पुर्तगालियोंके प्रभाव और विरोधके कारण विफल प्रयत्न होकर ही लौटा। १६१२ ई० में अंग्रेजी कम्पनीने गुजरात के मुग़ल सूबेदारसे सूरत, खंभात तथा अन्य दो स्थानोंमें व्यापार करनेकी अनुमति प्राप्त कर ली। उन्होंने यह समझ लिया था कि पुर्तगालियोंका दमन किये बिना सफलता न मिलेगी, अतः एक भीषण समुद्री युद्धमें उन्होंने पुर्तगालियोंको हराकर अपनी स्थिति जमायी। इसी समय उनके राजाका अधिकारप्राप्त राजदूत सर टामस रो (१६१५–१८ ई०) मुग़ल-सम्राट्के दरबारमें पहुँचा। सम्राट्को बहुमूल्य भेंट और उसके आसफ़जहाँ आदि मन्त्रियोंको घूस देकर तथा अपनी चातुरीसे उसने अपनी ईस्टइण्डिया

कम्पनीके लिए सूरतमें व्यापारिक कोठी स्थापित करनेका फरमान प्राप्त कर लिया। सम्राट् स्वयं इस बीचमें पुर्तगालियोंसे रुष्ट हो गया था और उनपर अंग्रेजोंने जो समुद्री विजय प्राप्त की थी उससे उन्होंने स्वयंको पुर्तगालियोंका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध कर दिया था, अतः सम्राट्ने इन दोनों सजातीय फिरंगियोंको परस्पर लड़ानेका अवसर खोना उचित न जाना और अंग्रेजोंको भी प्रश्रय दे दिया। सूरतमें डचोंने भी अपनी कोठी स्थापित कर ली थी। १६१५ ई० में अंग्रेजोंने पुर्तगालियोंको फिर एक जहाजी युद्धमें हराया और १६२२ ई० में ईरानियोंकी सहायतासे उर्मुजद्वीपपर भी अधिकार करके पुर्तगालियोंको अत्यन्त शक्तिहीन कर दिया। १५८० ई० से ही भारतके पुर्तगालियोंको अपने देशके राज्यसे कोई आश्रय या सहायता मिलना बन्द हो ही चुकी थी। अब अंग्रेजोंने बंगालकी खाड़ीमें भी घुसना प्रारम्भ किया, मछलीपट्टम्‌में एक अड्डा बनाया और फिर १६२५ ई० में आराम गाँवमें अपनी कोठी स्थापित की। १६३९ ई० में आराम गाँवकी कोठीके अध्यक्ष फ्रान्सिस डेने चन्द्रगिरिके विजयनगरवंशी राजाके प्रदेशीय नायकसे लगभग दस हजार रुपये सालाना किरायेपर एक मील चौड़ी एवं चार मील लम्बी समुद्रतटवर्ती भूमि प्राप्त कर ली। इस कार्यमें निकटवर्ती सेनथामकी पुर्तगाली बस्तीके पुर्तगालियोंने भी अंग्रेजों की सहायता की। और इस स्थानपर १६४० ई० में मद्रास नगर तथा सेण्ट जार्ज दुर्गकी नींव पड़ी। १६५१ ई० में बंगालके अन्तर्गत हुगलीमें अंग्रेजोंने अपनी कोठी स्थापित की। १६६१ ई० में इंग्लैण्डके राजा चार्ल्स द्वितीयने स्पेनकी राजकुमारीके साथ विवाह करके बम्बई नगरको दहेजमें प्राप्त किया था, १६६८ ई० में चार्ल्सने यह स्थान दस पौण्ड सालाना किरायेपर कम्पनीको दे दिया। सूरतकी कोठीके अध्यक्ष जेरल्ड आंगियर (१६६९–७७ ई०) ने बम्बई नगर और दुर्गका निर्माण तथा वहाँ अंग्रेजी कोठीकी स्थापना की और १६९० ई० में सूरतके स्थानमें बम्बई ही पश्चिमी तटपर अंग्रेजोंका प्रधान केन्द्र बन गया। १६८६ ई० में जाब

चारनोकने जिस स्थानपर कलकत्ता स्थित है वहाँ एक बस्ती बनानेका प्रयत्न किया, किन्तु इस कालमें कम्पनीके प्रधान डायरेक्टर सर जोशिया चाइल्डको मूर्खता एवं उद्धततापूर्ण नीतिके कारण बगालके अंग्रेज शाही सूबेदारसे उलझ गये। नाचीज़ विदेशी व्यापारियोंकी इस धृष्टता पर औरंगजेबको बड़ा क्रोध आया और उसकी आज्ञासे सूबेदार शाइस्ता खाँने अंग्रेजोंको बगालमें निकाल बाहर किया। उनकी पटना, कासिमबाजार, मछलीपट्टम्, विजगापट्टम् आदिकी कोठियाँ भी छीन ली गयीं और सूरतकी कोठीपर भी अधिकार कर लिया गया। अन्तमें कम्पनीके अधिकारियोंने बहुत अनुनय-विनय की, क्षमा माँगी, १७००० पौण्ड सम्राट्को जुर्माना दिया और भविष्यमें कोई दुर्व्यवहार न करनेका वचन दिया। अत: सम्राट् ने उनकी कोठियाँ वापस करा दीं, उन्हें पूर्ववत् सुविधाएँ प्रदान कर दी, जाब चारनोकको भी हुगली लौट जानेकी अनुमति मिल गयी, और अब १६९० ई० में उसने वहाँ कलकत्ता नगर और फोर्ट विलियमकी नींव डाली तथा अंग्रेजी कोठी स्थापित की। इसी कालमें इंग्लैण्डमें भी कम्पनीकी बढ़ती हुई शक्ति और अधिकारोंका बड़ा विरोध हुआ किन्तु जोशिया चाइल्डने राजमन्त्रियोंको घूस देकर अपने पक्षमें कर लिया और १६९३ ई० में एक नया आज्ञापत्र प्राप्त कर लिया। किन्तु अन्य अंग्रेज व्यापारियों की ईर्ष्या और विरोध फिर भी शान्त न हुए और १६९८ ई० में कुछ अन्य व्यापारियोंने राजाज्ञा लेकर एक नयी कम्पनीकी स्थापना कर ली और यह दोनों कम्पनियाँ भारतीय व्यापारके एकाधिकारके लिए परस्पर लड़ने लगीं। अन्तत: १७०८ ई० में दोनोंको 'संयुक्त ईस्टइण्डिया कम्पनी' नामके अन्तर्गत मिलाकर एक कर दिया गया। इस समय सम्राट् औरंगजेबकी मृत्यु हो चुकी थी। भारतीय इतिहासका भीषण अराजकता-युग प्रारम्भ हो रहा था। अपने अबतकके गत सौ वर्षोंके कालमें अपनी व्यापारी कम्पनीके आश्रयसे अंग्रेज जातिने अपने प्रतिद्वन्द्वी पुर्तगालियों एवं डचोंका सदैवके लिए दमन करके पश्चिमी देशोंके साथ होनेवाले भारतीय व्यापारपर

अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था, देशके विभिन्न व्यापारिक केन्द्रोंमें अपनी व्यापारी कोठियाँ स्थापित कर ली थीं तथा देशके पश्चिमी तटपर बम्बईको, पूर्वी तटपर मद्रासको और बंगालमें कलकत्तेको केन्द्र बनाकर और इन स्थानोंमें अपने सुदृढ दुर्ग एवं बस्तियाँ बनाकर अपनी स्थिति सुदृढ एवं स्थायी कर ली थी। इस बीच भारतमें कम्पनीकी उत्तरोत्तर उन्नतिके फलस्वरूप कम्पनीके डायरेक्टर, हिस्सेदार, कर्मचारी आदि ही नहीं इंग्लैण्डके अन्य व्यापारी, व्यवसायी, साधारण जनता, राजा और मन्त्री भी पर्याप्त मालदार हो गये थे। कम्पनीके जो कर्मचारी भारतमें कार्य करनेके लिए आते थे उन्हें वेतन बहुत थोड़ा मिलता था, किन्तु उसकी पूर्ति करनेके लिए उन्हें व्यक्तिगत व्यापारकी सुविधा दे दी जाती थी, अतः कम्पनीके बहाने भारतमें आनेवाला प्रत्येक अंग्रेज कम्पनी के प्रधान व्यापारके अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र व्यापार भी करता था और मालामाल हो जाता था। १७०८ ई० के पूर्व शक्तिशाली मुगल सम्राट्के भयसे और उसके व्यवस्थित सार्वदेशीय प्रशासनके कारण अंग्रेजों की यह प्रवृत्ति अति सीमित ही रही, किन्तु अब उत्तर मुगलकालकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अराजकता, अशान्ति एवं अव्यवस्थाका छोटे-बड़े सभी अंग्रेजोंने भरसक लाभ उठाना शुरू कर दिया।

आगेके लगभग पच्चीस वर्ष तक अंग्रेज मुगल-साम्राज्यका पतन एवं छिन्न-भिन्न होना और देशकी गिरती हुई राजनैतिक दशाको चुपचाप देखते रहे। इसी बीच १७१७ ई० में दिल्लीके निकम्मे बादशाह फ़र्रुखसियर को और उसके दरबारियोंको घूस आदि देकर उन्होंने बिना राज्य-कर दिये ही व्यापार करनेकी छूट तथा अन्य अमूल्य सुविधाएँ प्राप्त कर लीं, और चुपचाप अपने व्यापारको बढ़ाते रहे। देशकी अव्यवस्थित एवं अरक्षित दशा तथा उस दशामें अपने केन्द्रों एवं कोठियोंकी चोरों, डाकुओं, लुटेरों आदिसे रक्षा करनेके बहानेसे उन्होंने एक अच्छी सेना भी तैयार कर ली जिसमें अंग्रेज अफ़सरोंके अधीन एवं उनके द्वारा प्रशिक्षण प्राप्त भारतीय

सैनिक भी बड़ी संख्यामें रखने प्रारम्भ कर दिये। इसी बहानेसे अपने दुर्गोंको भी सुदृढ़ कर लिया, एवं अपनी बस्तियों और कोठियोंकी किलेबन्दी भी कर ली। उनका जहाजी बेड़ा उनकी सहायताके लिए निकट रहता ही था। किन्तु इसी काल (१७२० ई०) में फ्रान्सीसी कम्पनी पुनः संगठित होकर नये उत्साह और बलके साथ मैदानमें फिरसे आ उतरी। उसके सुयोग्य एवं हौसलामन्द गवर्नरोंके हाथमें फ्रान्सीसियोंकी पूर्वी बस्तियों एवं भारतमें उनके केन्द्र शीघ्र ही सुगठित एवं मजबूत हो गये। फ्रान्सीसी कम्पनी सरकारी थी, उसके कार्यकर्त्ता भी सरकारी कर्मचारी थे और उसका प्रधान उद्देश्य भी राजनैतिक ही था, अतः बीस वर्षोंमें ही उनकी शक्ति और अधिकार अत्यधिक बढ़ गये। यह सब देखकर अंग्रेज बड़े चिन्तित हुए, किन्तु कुछ कर भी न सके और अवसरकी ताकमें बैठ रहे। फ्रान्सीसी कम्पनीके साथ युद्ध छेड़नेका अर्थ था फ्रान्सके साथ इंग्लैण्डका युद्ध मोल लेना जिसका साहस यह गैरसरकारी अंग्रेजी कम्पनी नहीं कर सकती थी। फ्रान्सीसियोंका प्रधान केन्द्र पूर्वी समुद्र तटपर स्थित पाण्डुचेरी था। उसके निकट ही दक्षिणकी ओर अंग्रेजोंका फोर्ट सेण्ट डेविड था और थोड़ी दूर उत्तरमें उनका इस तटका प्रधान केन्द्र मद्रास स्थित था। १६७६ ई० में ही पाण्डुचेरीके फ्रान्सिस मार्टिन नामक गवर्नरने एक छोटेसे स्थानीय सरदार शेरखाँके लिए वल्दूरका दुर्ग आक्रमण-द्वारा हस्तगत करके फ्रान्सीसियों और अंग्रेजोंका मार्गदर्शन कर दिया था। अब १७४० ई० के लगभग पाण्डुचेरीके निकट ही दक्षिणकी ओर स्थित छोटे-से तंजौर राज्यमें उत्तराधिकारका प्रश्न उपस्थित हुआ। गद्दीके लिए दो दावेदार थे। फ्रान्सीसियोंके भयसे उनसे पहले ही अंग्रेजोंने एक पक्षका समर्थन किया, तुरन्त फ्रान्सीसी गवर्नर ड्यूमाने दूसरे दावेदारका पक्ष ले लिया। मामला बिना कुछ रक्तपातके ही निपट गया किन्तु अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों दोनोंको ही तंजौर राज्यमें थोड़ा-थोड़ा प्रदेश मिल गया। १७४० ई० में यूरोपमें ही फ्रान्स और इंग्लैण्डके बीच युद्ध छिड़ गया। अब तो कोई बाधा

ही नहीं रही, भारतमें भी अंग्रेज और फ्रान्सीसी परस्पर लड़ने लगे। १७४८ ई० में एलाशपलकी सन्धि-द्वारा यूरोपका युद्ध बन्द होनेपर भारत में भी युद्ध बन्द हो गया। इस युद्धके फलस्वरूप किसी भी पक्षको कोई विजय या लाभ प्राप्त नहीं हुआ, दोनोंकी स्थिति पूर्ववत् ही रही, मद्रासपर फ्रान्सीसियोंने अधिकार कर लिया था वह उन्हे वापिस मिल गया। तथापि इस युद्धने इस देशमें उन दोनों जातियोंकी सैनिक शक्ति और राजनैतिक आकाक्षाओंकी नींव डाल दी एवं उनके राजनैतिक उत्कर्ष की सम्भावना दिखा दी।

इस सम्बन्धमे यह ध्यान रखनेकी बात है कि १८वीं शताब्दीके इस मध्यकाल तक अंग्रेजों या फ्रान्सीसियोंकी भारतकी राजनीतिमे अथवा भारतीय राजे-नवाबों, दिल्ली दरबार या प्रान्तीय शासकों अथवा छोटे-मोटे सामन्त सरदारोंकी दृष्टिमें भी कोई गणना ही न थी। बहुत-से तो ऐसे थे जो इन्हे जानते भी न थे या जिन्होंने इनका नाम भी न सुना था। अनेक ऐसे थे जो इन्हें अति तुच्छ एवं उपेक्षणीय समझते थे। शेष वे जिनका इन लोगोंके साथ व्यापार आदिके कारण कुछ निकट सम्पर्क पड़ा था इन्हें अपने अनुग्रहका याचक और अपनी दयापर आश्रित एक सामान्य व्यापारी वर्ग-मात्र समझते थे। उनकी दृष्टिमें ये बेचारे सुदूर विदेशसे लाभप्रद व्यापारके लिए अनेक जोखिम उठाकर उनके देशमें आनेवाले और उनकी दयापर अवलम्बित रहनेवाले फिरंगी बनिये-मात्र थे जिनकी रक्षा करना और जिन्हें यथाशक्य सुविधा सहायता देना आदर्श अतिथिसेवी भारतीयों का कर्त्तव्य था। वे पारस्परिक फूट-कलह एवं व्यक्तिगत स्वार्थ साधनमें रत भोले मूर्ख भारतीय बहुत देरमें यह समझ पाये कि इन गोरे व्यापारियों के रूपमें उन्होंने अपनी आस्तीनोंमें विषैले काले नाग पाल लिये हैं जो अवसर पाते ही उन्हें डस लेंगे। वे जब समझ पाये तब प्रतिकारका कोई उपाय उनके हाथमें न रह गया था। और तब भी वे यह तो समझ ही न सके कि ये केवल देशकी राज्य-शक्तिको ही डसकर बस कर आनेवाले

मॅनोपोलिये-मात्र ही नहीं हैं वरन् ऐसे चिपटू जोंक हैं जो सारे देशका रक्त शोषण करके उसे निर्जीव करके ही दम लेंगे। देशकी अशान्ति, अव्यवस्था और नैतिक पतन तथा राज्याधिकारियोंकी इस मूर्खतापूर्ण असावधानताका अंग्रेजोंने पूरा-पूरा लाभ उठाना प्रारम्भ कर दिया। दक्षिणके, बंगालके, अवधके तथा अन्य प्रान्तीय सूबेदारोंके स्वतन्त्र हो जाने, नादिरशाहकी भयंकर लूट, अब्दालीके आक्रमणों, जाटों, सिक्खों, रुहेलों आदिके उत्पातों और पेशवाओंकी उत्तराभिमुखी विजय-यात्राओंने इस समय तक दिल्ली बादशाहतके ही नहीं सम्पूर्ण देशके राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक पतन को शिखरपर पहुँचा दिया था। अंग्रेजोंके ही अलक्ष्य इशारेपर मूर्ख पेशवा बालाजी बाजीरावने दुर्द्धर भारतीय नाविक सरदार आंग्रे और उसकी सबल जहाजी शक्तिको नष्ट कर दिया था। शिवाजीने आंग्रे वंशके मराठा सरदारोंकी अध्यक्षतामें एक सबल नाविक शक्तिका निर्माण एवं विकास किया था और ये सरदार उसे अक्षुण्ण बनाये हुए थे। समुद्री शक्तिके महत्त्वसे अनभिज्ञ देशके किसी भी अन्य नरेशने मध्यकालमें देशकी नाविक शक्तिके विकासकी ओर ध्यान ही नहीं दिया था। यूरोपवासियोंके प्रत्यक्ष उदाहरणसे भी उन्होंने कोई सबक नहीं लिया और अदूरदर्शी पेशवाओंने तो बचे-खुचे साधनसे भी हाथ धो लिये।

१७४८ ई० में दिल्लीका बादशाह मुहम्मदशाह मर गया, दक्षिणमें निज़ाम राज्यका संस्थापक आसफ़जाह निज़ामुल्मुल्क भी उसी वर्ष मर गया। एक ओरसे अहमदशाह अब्दालीने उत्तर भारतपर आक्रमण किया तो दूसरी ओरसे पेशवाओंकी मराठा सेनाओंने भी मालवा, गुजरात, मध्य भारत, राजस्थान, बंगाल, बिहार और उड़ीसाको रौंदना शुरू कर दिया। ऐसे समयमें निज़ाम राज्यमें उत्तराधिकारका प्रश्न उपस्थित हो गया। निज़ाम का सबसे बड़ा पुत्र तो दिल्लीमें वज़ीर बना बैठा था, दूसरा पुत्र नासिरजंग निज़ामके सिंहासनपर बैठा किन्तु उसका भानजा मुजफ़्फ़रजंग स्वयं निज़ाम बनना चाहता था। इसी समय कर्णाटकका नवाब अनवरुद्दीन फ़ान्सीसियों

के मद्रासको हस्तगत करनेके कारण अंग्रेजोंकी सहायनार्थ फ्रान्सीसियोंकी शत्रुता मोल ले चुका था और उनके द्वारा पराजित भी हो चुका था। अतः फ्रान्सीसियोंने उसे पदच्युत करके उसके एक सम्बन्धी चांदा साहबको नवाब बनानेकी योजना की। अंग्रेज अनवरुद्दीन और उसके पुत्र मुहम्मद-अलीके कर्णाटकमें और नासिरजंगके हैदराबादमें पक्षपाती हुए। अतः एलाशपलकी सन्धि हो जाने और यूरोपमें फ्रान्सीसी और अंग्रेजी सरकारों के बीच युद्ध बन्द हो जानेपर भी भारतमें इन दोनों जातियोंके बीच युद्ध चालू रहा। प्रारम्भमें फ्रान्सीसी ही कर्णाटक और निज़ामराज्य दोनोंमें ही सफल रहे और फलस्वरूप उन्होंने धन, प्रदेश, शक्ति और प्रभावका पर्याप्त लाभ किया। अंग्रेज यह सब देखकर चुप बैठनेवाले नहीं थे। इन प्रारम्भिक विफलताओंसे वे बड़े क्षुब्ध हुए। इस समय क्लाइव नामका एक साधारण घरका आवारा अंग्रेज युवक मद्रासकी कोठीमें मुन्शी था। उस कालकी परिस्थितियोंके कारण भारतमें अंग्रेज़ कम्पनीके प्रायः समस्त कर्मचारी मुन्शी भी थे, व्यापारी भी थे और सैनिक भी थे। क्लाइव एक दो छुट-पुटे युद्धोंमें भाग लेकर एक छोटा-सा सेनानायक बन गया था। उसने अपने गवर्नरको यह योजना सुझायी कि चांदा साहबकी राजधानी अर्काटका घेरा डाल दिया जाये जिसका परिणाम यह होगा कि चांदा साहब त्रिचनापल्लीका घेरा उठाकर, जहाँ उसने मुहम्मदअलीको घेर रखा है, अपनी राजधानीकी रक्षाके लिए दौड़ा आवेगा और मुहम्मदअली मुक्त हो जायेगा। यह योजना कार्यान्वित की गयी। १७५१ ई० में क्लाइवने अपनी छोटी-सी सेनासे अर्काटका घेरा डाल दिया और ५३ दिन तक उस नगरको घेरे पड़ा रहा। सारी योजना सफल हुई, चाँदासाहब पराजित हुआ और अंग्रेजोंके मित्र तंजौरके राजाके द्वारा मारा गया। मुहम्मदअली अंग्रेजोंकी सहायतासे कर्नाटकका नवाब हुआ। उस राज्यसे फ्रान्सीसियोंका प्रभाव सर्वथा उठ गया और अंग्रेजोंका प्रभाव, अधिकार और शक्ति अत्यधिक बढ़ गये। इस सफलताके कारण क्लाइवकी प्रतिष्ठा और मान

भी एकदम बढ़ गये। फ्रान्सकी सरकारने डूप्लेसे रुष्ट होकर उसे वापस बुला लिया और १७५४ ई० मे अंग्रेजोंके साथ सन्धि करके इस युद्धका अन्त किया। अर्काटका घेरा और अंग्रेजोंका अर्काटकी नवाबीपर प्रभावस्थापन उस कालमें भारतीय राजनीतिकी एक अत्यन्त तुच्छ, गौण, अनुल्लेख-नीय एवं उपेक्षणीय घटना थी, किसीका भी ध्यान इसकी ओर आकृष्ट नहीं हुआ, किन्तु इस तुच्छ बीजने ही बड़े वेगके साथ पचास वर्षोंके भीतर ही अंग्रेजोंके विशाल भारतीय साम्राज्यका रूप धारण कर लिया। १७५३ ई० में क्लाइव इग्लैण्ड चला गया, दो वर्ष बाद वापस लौटा और साथमें कुछ नया अंग्रेजी तोपखाना एवं सेना भी लाया। आते ही उसने बम्बईके १७० मील दक्षिणमें स्थित भारतीय नाविक दस्युओंके घेरिया या विजयदुर्ग नामक प्रसिद्ध सुदृढ दुर्गको हस्तगत करके उनकी शक्तिको नष्ट कर दिया। उस दुर्गके बदलेमें मराठोंसे बम्बईके निकट ही कुछ भूमि प्राप्त कर ली। पश्चिमी तटपर यह अंग्रेज कम्पनीकी सर्वप्रथम निजी भूसम्पत्ति थी। विजयदुर्गका नाश इस बातका एक उदाहरण है कि कैसे अंग्रेजोंने शनैः-शनैः भारतके समुद्र-तटपर बिखरी हुई सभी छोटी-छोटी भारतीय नाविक शक्तियोंका अन्त कर दिया।

१७५४ ई० की सन्धि भली प्रकार कार्यान्वित भी न हो पायी थी कि १७५६ ई० मे यूरोपमें फ्रान्स और इंग्लैण्डके बीच सातवर्षीय युद्ध छिड़ गया। फलस्वरूप संसारके जिस किसी भागमें भी अंग्रेज और फ्रान्सीसी पास-पास हुए वे परस्पर लड़ने लगे, भारतमें भी दोनों जातियोंमें लड़ाई प्रारम्भ हो गयी। किन्तु फ्रान्सीसियोंका सेनापति लैली १७५८ ई० के पूर्व भारत न पहुँच सका और जब वह यहाँ पहुँचा तो बंगालकी अद्भुत विजयके कारण अंग्रेजोंकी शक्ति दसगुनी बढ़ चुकी थी और उनकी स्थिति बहुत सुदृढ हो चुकी थी। लैलीने दूसरी भूल यह की कि हैदरा-बादसे बुसीको भी वापस बुला लिया, फलस्वरूप निजामके राज्यमें भी जो भारी प्रभाव आठ वर्षोंसे बुसीने जमा रखा था वह सर्वथा नष्ट हो

गया और इस राज्यमें भी अंग्रेज़ोंको अपना प्रभाव जमानेका अवसर मिल गया जिसका लाभ उन्होंने नासिरजंगकी मृत्युपर सलाबतजंगको नवाब बननेमें सहायता देकर तुरन्त और पूरा-पूरा उठाया। उधर लैलीके नेतृत्व में फ़ान्सीसी सेनाको अंग्रेज सेनापति सर आयर कूटने १७६० ई० में वांडवाशके युद्धमें बुरी तरह पराजित किया, लैलीने भाग कर पाण्डुचेरीमें शरण ली। अंग्रेज़ोंने उसका भी घेरा डाल दिया और १७६१ ई० में उसपर अधिकार कर लिया। उन्होंने लैली आदिको बन्दी बना लिया। और भारतमें फ़ान्सीसियोंकी आकांक्षाका अन्त कर दिया तथा स्वयंको सजातीय (यूरोपवासी) प्रतिद्वन्द्वियोंसे सर्वथा मुक्त कर लिया। इसी वर्ष पानीपतकी ऐतिहासिक रणभूमिमें भारतके साम्राज्यके लिए मराठों और अफ़गानों अथवा हिन्दुओं और मुसलमानों या भारतीयों और विदेशियोंके बीच भीषण युद्ध हो रहा था। सारे देशकी आँखें उधर ही लगी हुई थीं, दक्षिण भारतके पूर्वी तटपर इन विदेशी फिरंगियोंके बीच होने वाले इस छोटे-से संघर्षकी ओर किसीका ध्यान भी न था। किन्तु वास्तवमें भारतके भाग्यका निर्माण १७६१ ई० के पानीपतके युद्धमें शायद उतना नहीं हुआ जितना कि पाण्डुचेरीमें फ़ान्सीसियोंकी पराजयमें हुआ। इस सातवर्षीय युद्धमें अंग्रेजोंने फ़ान्सीसियोंको भारतमें ही नहीं यूरोपमें, अमेरिका और कनाडामें, पश्चिमी द्वीप-समूह और अफ़्रीकामें सर्वत्र पराजित किया और उनके अधिकार, शक्ति और प्रभावको हानि पहुँचायी। १७६३ ई० में पैरिसकी सन्धिके द्वारा दोनों देशोंके बीच युद्ध बन्द हो गया। इस युद्धके दौरानमें क्लाइवने भी बंगालसे ससैन्य आकर फ़ान्सीसियोंको पराजित करनेमें हिस्सा बँटाया था और फिर तुरन्त बंगाल वापस जाकर चिनसुराके डचोंका पूर्णतया दमन कर दिया था। इस प्रकार १७६३ ई० में भारतमें अन्य कोई यूरोपीय शक्ति अंग्रेज़ोंकी प्रतिद्वन्द्वी या प्रतिस्पर्द्धी न रह गयी थी और न किसी अन्यके उत्पन्न होनेकी कोई सम्भावना रह गयी थी।

इसी युद्धके प्रसंगसे और उसीके बीच अंग्रेजोंको जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सफलता थी वह उन्हें बंगालमें प्राप्त हुई। सूबेदार मुर्शिद-कुलीखाँ और शुजाउद्दीन तथा नवाब अलीवर्दीखाँके शासन (लगभग १७०७–५६ ई०) में लगभग पचास वर्ष पर्यन्त बंगाल देशके निवासियोंने पारस्परिक सहिष्णुता, उदारता, सुख-शान्ति और सुशासनका उपभोग किया था। इस दिशामें यह प्रान्त समस्त भारतमें प्रायः अपवाद था। कृषक सुखी थे, जमींदार सम्पन्न थे, वस्त्र आदिके उद्योग-धन्धे अति समुन्नत थे, अधिकांश नागरिक व्यापार भी मुख्यतया जैन सेठोंके हाथमें बढ़ा-चढ़ा था, १७४० ई० से ही रघुजी भोंसलेके नेतृत्वमें मराठोंने भीषण लुटेरे आक्रमणों-द्वारा देशको अवश्य ही पर्याप्त हानि पहुँचायी थी और अशान्ति उत्पन्न कर दी थी किन्तु नवाब अलीवर्दीखाँने अपनी चतुराई से उनसे भी त्राण पा लिया था। बंगालमें फ्रान्सीसी, डच, आरमीनियन, अंग्रेज आदि विदेशी व्यापारी सूबेदारों और नवाबोंकी उदारताके कारण स्वतन्त्रतापूर्वक अपने व्यापारको उत्तरोत्तर उन्नत करते रहे थे। प्रायः समस्त विदेशी व्यापार इन्हीं लोगोंके हाथमें था। इनमें भी अंग्रेजोंने शाही फरमानोंके बलपर तथा अपनी कूटनीति एवं चालाकीसे अपने अन्य समस्त प्रतिद्वन्द्वियोंको पछाड़ कर उक्त व्यापारमें नेतृत्व प्राप्त कर लिया था। बंगालके विभिन्न नगरोंमें उनकी अनेक व्यापारिक कोठियाँ फैल गयीं थीं। कलकत्ता उनका प्रधान केन्द्र था जहाँ उन्होंने सुदृढ़ दुर्ग, सुगठित बस्ती तथा जल और थलकी द्विविध सैन्यशक्तिसे सुरक्षित होकर अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी। अलीवर्दीखाँ उनपर पूरा नियन्त्रण भी रखे हुए था और भीतर-ही-भीतर उनसे भय भी खाता था। उन्हें शत्रु बनानेका उसने कभी प्रयत्न नहीं किया। किन्तु १७५६ ई० में उसकी निःसन्तान मृत्यु हो जानेपर उसका दौहित्र सिराजुद्दौला बंगालका नवाब बना। वह वीर एवं सदाशय तो था किन्तु अनुभवहीन अल्हड़ नवयुवक था। अंग्रेज व्यापारियोंकी ज्यादतियोंको देख-सुनकर वह पहले

से ही उनसे चिढ़ा हुआ था, अब इसी वर्ष यूरोपमें सप्तवर्षीय युद्ध छिड़ जानेके समाचार जानकर इस देशमें भी परस्पर युद्ध छिड़ जानेकी आशंकासे बंगालके अंग्रेजों और फ्रान्सीसियोंने अपनी-अपनी बस्तियोंकी क़िलेबन्दी करनी और सैनिक भर्ती करनी शुरू कर दी। नवाबने यह देख-कर उन्हें रोका। फ्रान्सीसी तो तुरत मान गये किन्तु अंग्रेजोंने उसकी अवज्ञा की और एक अत्यन्त धृष्टतापूर्ण उत्तर नवाबको लिख भेजा। नवाबके कुछ विद्रोहियों एवं भयानक अपराधियोंको भी उन्होंने शरण दी और नवाबकी माँगपर भी उन्हें उसके अधिकारियोंके सिपुर्द नहीं किया। शाही फ़रमानोंकी आड़में व्यापारके बहाने भी वे देशमें अनाचार करने लगे थे। यह सब नवीन नवाब सहन न कर सका अतः उसने उनकी क़ासिम बाज़ारकी कोठीपर अधिकार करके कलकत्तेपर धावा कर दिया। कलकत्ते का गवर्नर, सेनापति और अन्य बहुत-से अंग्रेज भाग निकले और कुछ मारे गये। शीघ्र ही नवाबका अंग्रेजोंकी बंगाल, बिहार और उड़ीसामें स्थित प्रायः सभी कोठियोंपर अधिकार हो गया। इस पराभवका समाचार जैसे ही मद्रास पहुँचा अंग्रेज चिन्तित हो उठे और उन्होंने अपने कर्णाटकके बीर क्लाइवको सर्वाधिकार देकर तथा एडमिरल वाटसन एवं ९०० गोरे और १५०० हिन्दुस्तानी सिपाहियोंकी सेना उसके साथ करके कलकत्तेके लिए रवाना कर दिया। इन्होंने आते ही कलकत्ता वापस ले लिया क्योंकि नवाब वहाँ थोड़े-से सैनिक छोड़कर अपनी राजधानीको वापस जा चुका था। अब वे हुगलीकी ओर बढ़े। नवाबकी एक सेनाके साथ मुठभेड़ भी हुई किन्तु हार-जीतका निर्णय होनेके पूर्व ही दोनों पक्षोंके बीच सन्धि हो गयी। अंग्रेजोंको अपनी सब कोठियाँ और पहले अधिकार वापस मिल गये। नवाबके कथित अत्याचारके सम्बन्धमें अंग्रेजोंको भड़कानेके लिए हाल्वेल-द्वारा फैलाये गये कलकत्तेकी कालकोठरी विषयक मिथ्या अपवाद का क्लाइवने इस अवसरपर कोई उल्लेख ही नहीं किया। उसने इस समय बड़ी सावधानी और चतुराईसे काम लिया। वह यह भी जानता था कि

फ्रान्सीसी लोग नवाबके साथ अंग्रेजोंके विरुद्ध मैत्री-सन्धि करनेका प्रयत्न कर रहे हैं, अतः वह नवाबको तनिक भी असन्तुष्ट नहीं करना चाहता था। नवाबके विरुद्ध जो गूढ़ अभिसन्धि वह बना रहा था उसकी सफलता भी नवाबके अंग्रेजोंकी ओरसे असावधान रहनेपर ही निर्भर थी और उसे कार्यान्वित करनेके पूर्व वह बंगालके फ्रान्सीसियोंको कुचलकर अशक्त बना देना चाहता था। उधर इसी समय अब्दालीके दिल्लीपर किये गये आक्रमण तथा भयंकर मराठा शक्तिके द्रुत प्रसारसे सिराज स्वयं भयभीत था, उसके अनेक सामन्त सरदार भी द्रोह कर रहे थे, अतः वह भी अंग्रेजोंको अपना मित्र बनाये रखना चाहता था। फलस्वरूप अंग्रेजोंने चन्द्रनगरकी विजय करके एवं उसका विध्वंस करके फ्रान्सीसियोंको कुचल डाला। इस प्रकार अंग्रेजोंके विरुद्ध नवाबका एक प्रबल सहायक नष्ट हो गया।

क्लाइवने सिराजुद्दौलाका अन्त करनेके लिए दृढ़ निश्चय होकर भीतर ही भीतर एक भयंकर षड्यन्त्र करना शुरू किया। नवाबके फूफा और उसकी फ़ौजके प्रधान बख्शी मीरजाफ़रको जो उस समय बंगालके मुसलमान सरदारोंमें सबसे अधिक शक्तिशाली था, नवाब बनानेका लोभ देकर क्लाइवने अपनी ओर फोड़ लिया। नवाबकी मामी अर्थात् अलीवर्दीख़ाँकी पुत्रवधू घसीटी बेगम, सरदार यार लतीफ़ख़ाँ, राजा रायदुर्लभ, जगतसेठ आदि नवाबीके स्तम्भ भी अंग्रेजोंसे मिल गये। वास्तवमें प्रायः सभी बंगाली हिन्दू ज़मींदार और सेठ व्यापारी भी नवाबके पतनके इच्छुक थे और वे किसी-न-किसी रूपमें अंग्रेजोंके षड्यन्त्रमें सहायक हुए। नवाबके अन्त होने की सूरतमें उसके कोष एवं सम्पत्तिकी लूटमें सभीका हिस्सा निश्चित हुआ। अमीचन्द नामक एक धनी सिक्ख सौदागरकी मार्फ़त क्लाइवने मीरजाफ़र आदिके साथ सम्पर्क बनाये रखा। अमीचन्दको भी हिस्सा मिलना था, किन्तु धूर्त्त क्लाइवने उसके साथ भी जाल किया और समझौतेके जाली मसविदे भी तैयार किये। नवाबी दरबारके सरदारोंमें परस्पर भी ईर्ष्या द्वेष और फूट थी, सभी अपने-अपने स्वार्थमें अन्धे थे, नवाबके, राज्यके,

देशके या जनताके हितकी किसीको कोई चिन्ता न थी। तत्कालीन देश-व्यापी अनैतिकता और पतनके प्रभावसे बंगाल भी अछूता नहीं था, और १७५६–५७ ई० के वर्षोंमें तो अंग्रेजोंके प्रोत्साहन एवं सहयोगसे बंगालके प्रायः समस्त राज्याधिकारियोंकी कुचालोंके कारण वह प्रभाव अपने चरम शिखरपर था। धूर्त अंग्रेज इसी अवसरकी ताकमें थे। षड्यन्त्रकी सब योजना पूरी और पक्की हो जानेपर क्लाइवने नवाबको एक अत्यन्त उद्धत एवं धृष्ट पत्र लिखा जिसमें उसपर फ्रान्सीसियोंकी सहायता करनेका मिथ्या दोषारोपण भी किया। थोड़े समय तक उत्तरकी प्रतीक्षा करनेके उपरान्त वह सेना लेकर नवाबकी राजधानी मुर्शिदाबादसे २३ मील दक्षिणकी ओर स्थित पलासीके मैदानमें जा पहुँचा। नवाबने वहाँ कुछ सेना पहलेसे ही एकत्र कर रखी थी। उसकी संख्या पर्याप्त थी किन्तु उसमें ईरानी, अफ़गानी, अन्य मध्य-एशियाई तथा भारतीय हिन्दू, मुसलमानोंका अद्भुत अव्यवस्थित मिश्रण था। अधिकांश सिपाही राज्यभक्तिके कारण नहीं बल्कि केवल पैसेके लिए लड़नेवाले थे। नवाब स्वामिद्रोही एवं विश्वास-घाती सरदारोंसे घिरा हुआ था। स्वयं मीरजाफ़र, यारलतीफ़ और राय-दुर्लभकी अधीनतामें सेनाका बहुभाग था जो केवल तमाशा देखनेके लिए वहाँ चुपचाप निष्क्रिय बना रहा। फिर भी नवाबकी शक्ति इतनी थी कि अंग्रेजी सेनाका वहाँ चिह्न भी शेष न रहता। इसी कारण क्लाइव अत्यन्त भयभीत और चिन्तित था, वह रात्रिके छापों द्वारा ही नवाबकी सेनाको तंग करनेके पक्षमें था। किन्तु बड़े-बड़े सरदारों और साथी सैनिकोंके विश्वासघातको देखकर नवाबके विश्वासी सैनिक भी हतोत्साहित थे और पहले धावेमें ही पीछे हटने लगे। नवाब स्वयं घबरा उठा और मैदान छोड़-कर भाग गया, अन्ततः बन्दी हुआ और क्रूरतापूर्वक उसका वध कर दिया गया। लगभग सौ आदमी अंग्रेजोंके और पाँच-सौ नवाबके मरे या आहत हुए, किन्तु १७५७ ई० के पलासीके इस छोटे-से युद्धके मखौलने बंगालका ही नहीं पूरे देशका भाग्य निर्णय कर दिया। बंगालके निवासियोंने अपनी

मूर्खता एवं क्षुद्र स्वार्थान्धताके वशीभूत होकर अपने देशसे एक भारतीय शासनका अन्त करके उसे, उसके राज्य, उसकी जनता तथा भविष्यको नितान्त विदेशी व्यापारियोंके हाथोंमें स्वयं ही सौंप दिया। इस खेलमें अंग्रेजोंकी सफलताका कारण उनकी शूर-वीरता या सैन्यशक्ति नहीं थी, वरन् उनका सौभाग्य, चालाकी, विश्वासघात और स्वामिद्रोह था और था स्वयं देशका दुर्भाग्य तथा देशवासियोंकी अपनी मूर्खता, अदूरदर्शिता, विश्वासघात एवं निजी स्वार्थपरता।

पलासीके युद्धसे भारतमें अंग्रेजी राज्यकी वास्तविक एवं स्थायी नींव जम गयी। अबतक अंग्रेज प्रायः पूर्णतया व्यापारी ही थे अब वे राजा बन गये। इस समयके उपरान्त व्यापारकी ओर उनका ध्यान उत्तरोत्तर गौणसे गौणतर होता चला गया और राज्य-विस्तार एवं राजनैतिक शक्ति-संवर्द्धन की ओर अधिकाधिक बढ़ता गया। यहींसे अंग्रेजों-द्वारा भारतकी सर्वतो-मुखी भयंकर लूट विधिवत् एव व्यवस्थित रूपमें प्रारम्भ हुई और उसका प्रारम्भ बंगालसे ही हुआ जिसे सर्वप्रकार लूटनेमें उन्होंने कोई कसर न रखी। क्लाइवने अपनी संरक्षकतामें नीच मीरजाफ़रको नवाब बनाया। स्वयं क्लाइवको लगभग ढाई लाख पौण्ड नक़द और तीस हज़ार पौण्ड वार्षिककी जागीर मिली। कलकत्ता कौन्सिलके अन्य सदस्योंको भी किसी को पचास हज़ार और किसीको अस्सी हज़ार पौण्ड मिले। कम्पनीकी सेनाके विभिन्न अंग्रेज अफ़सरोंको सब मिलाकर साढ़े बारह लाख पौण्ड तथा सिराजुद्दौला-द्वारा कलकत्तेके घेरेमें जिन अंग्रेजोंकी जो कुछ क्षति हुई थी उसके मुआवज़ेमें पौने दो करोड़ रुपये उन्हें मिले। सिवाय अमीचन्द के अन्य देशी सामन्त सरदारोंको भी हिस्से मिले। बड़ी शान्तिके साथ जी भरकर सैकड़ों वर्षसे संचित बंगालके राजकोषकी लूट हुई और वह बिलकुल खाली हो गया। अंग्रेजोंका देना फिर भी काफ़ी बाक़ी बना रहा जिसका तक़ाजा नवाबकी गरदनपर हर समय सवार था। अब अंग्रेज ही बंगालके वस्तुतः स्वामी थे। घटनाका संवाद पाकर शाहज़ादे अलीगौहरने अवधके

नवाबके साथ बंगालपर आक्रमण किया किन्तु जैसे ही क्लाइव उसका सामना करनेके लिए बढ़ा वह बिना युद्ध किये ही अवध वापस लौट गया। अंग्रेजोंके अंकुश और नित्य नयी माँगोंसे तंग आकर मीरजाफ़रने चिनसुराके डचोंसे बात-चीत करनेका प्रयत्न किया। इसपर अंग्रेजोंने जल और थल दोनों पर डचोंको बुरी तरह पराजित किया और उन्होंने अंग्रेजोंको दस लाख पौण्ड हर्जाना देकर अपना पिण्ड छुड़ाया। इसके बाद डचोंकी ओरसे भी अंग्रेज सदाके लिए निश्चिन्त हो गये। १७६० ई०में अब अत्यन्त धनवान् क्लाइव इंग्लैण्ड चला गया।

क्लाइवके जाते ही कलकत्ता कौन्सिलके सदस्योंने मीरजाफ़रको उनकी माँगोंकी पूर्त्ति करनेमें असमर्थ पाकर पदच्युत कर दिया और उसके दामाद मीरक़ासिमको नवाब बनाया। इस उपलक्ष्यमें उससे खूब धन लूटा, लाखों रुपये और कई ज़िले प्राप्त कर लिये। मीरजाफ़रके पतनमें उसके हिन्दू मुसाहब और सरदार भी सहायक हुए थे। मीरजाफ़रसे ही अंग्रेजों ने यह अधिकार भी प्राप्त कर लिया था कि किसी भी अंग्रेज कोठीका अध्यक्ष किसी भी व्यक्तिको ऐसा अधिकार-पत्र दे सकता है कि जिससे उसका सौदागरी माल राज्य-करसे मुक्त रहेगा। अतः कम्पनीके छोटे-बड़े कर्मचारी अपने निजी व्यापारमें तो इन अधिकार-पत्रोंका उपयोग करते ही थे, देशी व्यापारियोंके हाथ भी ऐसे पत्र बेच-बेच कर वे रुपया बनाते थे। अंग्रेजोंका कम्पनीकी ओरसे भी और प्रत्येक अंग्रेजका व्यक्तिगत रूपमें भी राजा प्रजा सभीसे घूसखोरी और व्यापार दोनों ही साथ-साथ खूब चल निकले। कम्पनीके इन कर्मचारियोंमें न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित और आत्म-सम्मानका भाव तनिक भी न था, केवल अपने-अपने लाभपर ही उनकी दृष्टि थी। स्वयं अपने अंग्रेज मालिकोंको भी हानि पहुँचानेसे वे नहीं चूकते थे। जिस तरह बने निजी लाभ उठानेके प्रयत्नमें ही वे लीन थे। बिना किसी ज़िम्मेदारीके अंग्रेज लोग असीम अधिकारोंका उपभोग करने लगे। बहुधा वे शासन-कार्यमें राज्याधिकारियोंके मार्गमें भी रोड़े

अटकाते। उनके द्वारा व्यापारिक अधिकार-पत्रों (दस्तकों) के दुरुपयोगमें राज्यकी आय भी बहुत कम हो गयी थी। अंग्रेज लुटेरोंका एक निरंकुश अविवेकी एवं अधिकारपूर्ण दल समस्त देशपर छा गया। मीरकासिम योग्य, वीर, हौसलेमन्द और कुशल शासक था। थोड़े समयमें ही राज्यकी व्यवस्था कुछ ठीक करके उसने अंग्रेजोंके पावनेको कुछ कम करनेका प्रयास किया। उससे मिले कई लाख रुपयोंकी सहायतासे ही अंग्रेज १७६१ ई० में पाण्डुचेरीके युद्धमें एवं फ्रान्सीसियोंको कुचलनेमें समर्थ हुए। किन्तु मीरकासिमकी समस्याएँ विषम थीं, वह परवश था। अंग्रेजों-द्वारा देश की भीषण लूट और अनीति भी उसे सह्य न थी। उसने उनके चंगुलसे निकलना चाहा, मुर्शिदाबादसे हटाकर मुंगेरको राजधानी बनाया, जर्मन आदि विदेशियोंको सेनामें भरती किया और वह शक्तिसंग्रह करने लगा। बादशाह शाहआलम और अवधके नवाबसे भी उसने सहायता माँगी। इधर उसने कौन्सिलमें कम्पनीके कर्मचारियोंकी शिकायत की किन्तु कुछ परिणाम न निकला। इसपर उसने समस्त कर उठा दिये। इससे अंग्रेजों को जो दस्तकोंके-द्वारा विपुल लाभ होता था वह बन्द हो गया। अतः युद्ध छिड़ गया। पटनामें मीरकासिमके जर्मन कप्तान समरूने २०० अंग्रेजोंका वध कर दिया और तदनन्तर १७६४ ई० में बक्सरमें अंग्रेजों के साथ मीरकासिम, अवधके नवाब और बादशाह शाहआलमका युद्ध हुआ जिसमें अंग्रेजोंकी ही विजय हुई। मीरकासिम और अवधका नवाब अवध भाग गये और शाहआलम अंग्रेजोंकी शरणमें आ गया। अब तो अंग्रेज बंगालके ही सर्वे-सर्वा न थे वरन् स्वयं दिल्लीका बादशाह उनके संरक्षणमें था, देशमें उनकी शक्तिकी धाक जम गयी और भारतीय राजनीतिमें उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। बक्सरके युद्धके कार्यको पूरा करनेके लिए क्लाइवको कलकत्तेका गवर्नर एवं सेनापति बनाकर फिर भारत भेजा गया। उसने १७६५ ई० में इलाहाबादमें शाहआलम और शुजाउद्दौलाके साथ सन्धि करके अपनी कम्पनीके लिए बादशाहसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा

की दीवानी अर्थात् इन प्रान्तोंकी मालगुजारी वसूल करनेका अधिकार प्राप्त कर लिया जिसके बदलेमे बादशाहको २६ लाख रुपया वार्षिक देने का वचन दिया। अवधके नवाबसे कड़ा और इलाहाबादके जिले ले लिये, उससे परस्पर सहायता करनेकी शर्त कर ली और उसकी सीमापर उसीके खर्चेसे अंग्रेजी सेना रखनेकी बात तय कर ली। अब दिल्लीका बादशाह अंग्रेजोंका एक प्रकारका पेन्शनर था, अवधका नवाब-वजीर उनके प्रभाव में था तथा खर्चे एवं हर्जानेकी रकमके लिए ऋणी था, और बंगालके तो वे पूरे स्वामी थे। मीरजाफ़रको नाम-मात्रका नवाब बना दिया गया, पुलिस एवं दण्डविधान ही उसका एकमात्र अधिकार-क्षेत्र रह गया। कुछ ही मास उपरान्त वह मर गया और उसके बेटे नज्मुद्दौलाको नवाब बनाया गया। मीरजाफ़रके पुनरुत्थानपर भी उसे खूब लूटा-खसोटा गया था। स्वयं स्क्रेफटन नामक एक अंग्रेजके शब्दोंमें 'नवाब तो कम्पनीके नौकरोंके लिए एक ऐसा बैंक बना हुआ था जिससे वे जब, जितनी बार और जितना चाहे रुपया निकाल लें।' उसका दीवान भी अंग्रेजोंके द्वारा ही नियुक्त किया जाता था और उसकी सेना भी परिमित एवं नियत थी। बंगालमें दोहरा शासन प्रचलित हो गया। अंग्रेज अफ़सरों और उनके भारतीय कर्मचारियोंका जाल देशके गाँव-गाँवमें बिछ गया। कम्पनीके भ्रष्टाचारी कर्मचारियोंका भ्रष्टाचार और अधिक बढ़ गया। क्लाइवने अपनी सेनाका सुधार और संगठन किया तथा कम्पनीके कर्मचारियोंपर भी नियन्त्रण रखने और उनके भ्रष्टाचारको कम करनेका प्रयत्न किया। किन्तु १७६७ ई० में क्लाइव इंग्लैण्ड वापस चला गया और कुछ वर्ष बाद पागल होकर तथा आत्म-हत्या करके मर गया।

दोहरे शासनके दोष प्रत्यक्ष ही थे। कम्पनी और नवाब दोनोंके कर्मचारी जनताको लूटनेमें होड़ लगाये हुए थे। बड़े-बड़े जमींदारोंकी भी कोई प्रतिष्ठा या सुरक्षा न रह गयी थी। मालगुजारी आदिके वसूल करनेमें धन-जन, स्त्रियोंकी लाज, किसीको भी लूटनेमें कोई हिचक न थी। प्रजा

निःसहाय हो गयी। इस बीचमें होनेवाले बंगालके अंग्रेज गवर्नर वर्ल्स्ट (१७६७–६९ ई०) और कार्टियर (१७६९–७२ ई०) भी अयोग्य ही थे। १७६९–७० ई०में बंगाल देशमें अत्यन्त भयानक दुर्भिक्ष पड़ा जिसमें एक तिहाईसे अधिक जनता भूखों तड़प-तड़पकर मर गयी। सरकार ने कुल ९,००० पौण्ड तीन करोड़ अकाल-पीड़ितोंकी सहायताके लिए निकाले। अकालकी भीषणता राज्य-कर्मचारियोंके अत्याचारोंके कारण और अधिक बढ़ गयी। अकालके फलस्वरूप नबावके शासनका तो अन्त कर ही दिया गया और उसे पेन्शन देकर अलग कर दिया गया, साथ ही अब कम्पनीके ही सरकारी कर्मचारियोंने जैसे बना अकालपीड़ित जनताको लूट-खसोटकर सरकारी कोषमें १७७१ ई० में १७६८ ई० की अपेक्षा भी अधिक राज्य-कर वसूल करके जमा कर दिया। १७७२ ई० में वारेन हैस्टिंग्स बंगालका गवर्नर बनकर आया। वह बड़ा कुटिल कूट-नीतिज्ञ था। कम्पनीके अन्य सभी कर्मचारियोंकी भाँति वह घूसखोरी और भ्रष्टाचारसे भी मुक्त नहीं था। जनताका शोषण और लूट वेगके साथ चलती रही। देशके उद्योग-धन्धे शनैः-शनैः अत्याचारपूर्वक नष्ट कर दिये गये। भारतमें अंग्रेजोंकी शक्ति एवं विस्तार, और संसारमें इंग्लैण्ड का धन-वैभव, व्यापार, उद्योग-धन्धे, प्रभाव और प्रभुत्व दिन दूने रात चौगुने बढ़ते गये। भारतकी इस लूटसे प्राप्त धन तथा स्वयं भारतके ही कच्चे माल तथा विशाल भारतीय बाजारके बलपर ही इंग्लैण्डकी औद्योगिक क्रान्ति एवं संसारमें व्यापारिक प्रभुत्वका सम्पादन इसी समयके लगभग प्रारम्भ हुआ।

वारेन हैस्टिंग्सने अपनी दो साल (१७७२–७४ ई०) की गवर्नरीमें पड़ोसी राज्योंकी राजनीतिमें हस्तक्षेप करके कम्पनीकी शक्ति बढ़ानेकी प्रथा चालू रखी। अपने ऋणी अवधके नवाबकी इच्छापर रुहेलोंके साथ युद्ध छेड़कर और फलस्वरूप उनका विनाश करके उसने अवधको तो जो लाभ पहुँचाया सो पहुँचाया, स्वयं अपना लाभ किया और कम्पनी

को शक्ति और प्रभावको उत्तर भारतमें पश्चिम दिशामें और अधिक विस्तार दिया। इस युद्धमें पड़ना अंग्रेजोंके लिए अन्यायपूर्ण और अनुचित था। उसके लिए स्वयं अंग्रेजोंने हेस्टिंग्सकी कड़े शब्दोंमें निन्दा की है। रुहेले सरदार हाफ़िज रहमतखाँने अंग्रेजोंका कुछ भी न बिगाड़ा था। वह स्वयं भी एक उदार एवं सहृदय शासक था। अपनी मुसलमानेतर प्रजा के प्रति भी उसका व्यवहार अपेक्षाकृत अच्छा था। युद्धके उपरान्त अवध के नवाबोंके शासनमें रुहेलखण्डकी दशा एकदम बिगड़ गयी। किन्तु उस कालके इन अंग्रेजोंकी दृष्टिमें उचित-अनुचित, न्याय-अन्यायका कोई मूल्य न था। जो बात भी उनकी शक्ति-संवर्द्धन और स्वार्थसाधनमें सहायक होती वही उचित एवं न्याय्य थी और उसे करनेमें वे कभी न चूकते थे। वारेन हेस्टिंग्सने इसी कालमें बंगालके शासनको भी व्यवस्थित करनेका और उसमें सुधार करनेका कुछ प्रयत्न किया, किन्तु इन सुधारोंमें भी कम्पनी और अंग्रेजोंके हितों तथा अधिकारोंकी सुरक्षाकी दृष्टि ही प्रधान थी। संन्यासियों के विद्रोहके नामसे प्रसिद्ध एक जनविद्रोह भी अंग्रेजोंके अत्याचारोंके विरुद्ध बंगालके कुछ भागोंमें इस कालमें हुआ किन्तु अंग्रेजोंने उसे क्रूरताके साथ कुचल दिया। १७७३ ई० के रेगुलेटिंग ऐक्ट-द्वारा इंग्लैण्डकी सरकारने सर्वप्रथम कम्पनीके कार्योंमें वैधानिक हस्तक्षेप किया। इस विधानके अनुसार बंगालका गवर्नर भारतका गवर्नर-जनरल कहलाया, अन्य सब सूबों और मद्रास, बम्बई आदिके गवर्नरोंपर उसका आधिपत्य हुआ, ५ वर्ष उसका कार्यकाल नियत किया गया, उसकी सहायताके लिए चार सदस्योंकी एक कौन्सिल बनायी गयी और कलकत्तेमें सुप्रीम कोर्टके नामसे सर्वोच्च अदालत स्थापित की गयी जिसके जज गवर्नर-जनरल और उसकी कौन्सिलके अधिकारसे सर्वथा स्वतन्त्र थे। मालगुजारी-सम्बन्धी ब्यौरों तथा फ़ौजी एवं व्यापारिक मामलोंसे इंग्लैण्डकी सरकारको अवगत रखना आवश्यक हो गया। इस प्रकार इस पदाक्षेप-द्वारा इंग्लैण्डकी सरकार या यह कहिए कि सम्पूर्ण अंग्रेजी राष्ट्र भारतमें अपनी राज्य-शक्तिके

विस्तारमें प्रत्यक्ष रूपसे दिलचस्पी लेने लगा। कम्पनीके पिछले सभी कार्यों को तथा भविष्यमें किये जानेवाले सब कार्योंको अँग्रेज-सरकार का समर्थन, सहयोग, संरक्षण एवं अभिभावकत्व प्राप्त हो गया।

जिस प्रकार कलकत्ता केन्द्रके अँग्रेज बंगालमें और फिर उससे आगे बढ़कर पश्चिमी प्रदेशोंमें अँग्रेजी शक्तिका संगठन, विस्तार और संवर्धन कर रहे थे, उसी प्रकार पूर्वी तटपर मद्रास केन्द्रसे वे सुदूर दक्षिणके तामिल, तुलुव, आन्ध्र और कर्नाटक देशोंमें वैसा ही कर रहे थे। तंजौर, चन्द्रगिरि आदिके छोटे-छोटे राजाओंको तो उन्होंने प्रायः अपने अधीन कर ही लिया था और कर्नाटकका नवाब बंगालके नवाबकी भाँति ही उनके हाथकी कठपुतली था। उसके राज्यमें भी प्रायः उसी कालमें बंगाल-जैसा दोषपूर्ण दोहरा शासन स्थापित करके उन्होंने कर्नाटक देशकी दशा एवं शासन-व्यवस्थाको भी पहलेसे कहीं अधिक शोचनीय बना दिया था। निजाम और उसकी राजनीतिपर उन्होंने अपना प्रभाव जमा ही लिया था, अब उसे और अधिक सुदृढ़ करने तथा मैसूरमें हैदरअलीका अन्त करने तथा निजाम और मराठोंकी शक्ति क्षीण करनेके लिए उन्होंने भारतके इस भूभागमें अपनी शक्तिका संगठन, विस्तार एवं संवर्धन करना प्रारम्भ कर दिया था। इसी नीतिके अनुसरणमें उनका हैदरअलीके साथ प्रथम मैसूर-युद्ध (१७६७–६९ ई०) हुआ, यद्यपि उसका परिणाम उनके लिए कुछ लाभदायक न हुआ। इसी प्रकार पश्चिमी तटपर बम्बई केन्द्रमें उन्होंने मराठोंकी शक्तिको क्षीण करनेके लिए वैसा ही प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया था। १७६१ ई० की पानीपतकी पराजयके उपरान्त पेशवा राज्यकी स्थिति विपन्न हो उठी थी। अन्तःकलह, परस्पर फूट, सामन्त सरदारोंके स्वतन्त्र राज्य स्थापन आदिसे उत्पन्न परिस्थितियों ने इस भागमें भी अंग्रेजोंको स्वर्ण अवसर प्रदान किया। तीनों केन्द्रोंके द्वारसे अंग्रेज भारतवर्षको तीन महत्त्वपूर्ण दिशाओंसे आवृत करते चले आ रहे थे। तीनों ही केन्द्रोंके अंग्रेज अधिकारी प्रायः एक दूसरेसे स्वतन्त्र

रहकर ही अपनी-अपनी दिशामें अबतक अग्रसर होते रहे थे, किन्तु उनमें उद्देश्य, हित और पद्धतिकी एक-सूत्रता एवं साम्य तथा परस्पर सहयोग एवं सहायता अभी तक भी बराबर बनी हुई थी। रेगुलेटिंग ऐक्ट-द्वारा उनका पूर्ण केन्द्रीयकरण एवं एकसूत्रीकरण करनेका प्रयत्न किया गया, जिसमें प्रायः कोई कठिनाई न हुई। अबतक अंग्रेजी नीति और पद्धतिका यथावश्यक विकास हो चुका था, उनकी शक्ति अत्यधिक बढ़ गयी थी, स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ हो गयी थी तथा उनके प्रभाव, अधिकार और साधन पर्याप्त थे। उनकी भारतीय साम्राज्यकी नींव मजबूतीके साथ जम गयी थी, अब मात्र तेजीके साथ उस साम्राज्यका विस्तार करके समस्त देशको उसमें व्याप्त कर लेना था जिसके सम्पादनमें वे मनोयोगके साथ जुट गये। इस काल तककी घटनाओंका कुछ विस्तारके साथ विवेचन इसी लिए किया गया है कि अंग्रेजोंके उद्देश्य, उनकी नीति, पद्धति, मनोवृत्ति, जातीय चरित्र एवं अवसरवादिताका ठीक-ठीक परिचय मिल जाये। आगेकी सब घटनाएँ इन्हींकी पुनरावृत्तिमात्र हैं अतः उनका संक्षिप्त विवरण ही पर्याप्त होगा जो गवर्नर-जनरलोंके आधारसे कालक्रमानुसार निम्न प्रकार है :—

१. **वारेन हैस्टिंग्स** (१७७४–८५ ई०) भारतका प्रथम अंग्रेज गवर्नर-जनरल था। पहले उसकी नियुक्ति पाँच वर्षके लिए की गयी थी, फिर पाँच वर्षके लिए और बढ़ा दी गयी थी। उसके कार्यकालके प्रारम्भ होनेके अगले ही वर्ष बम्बईका गवर्नर पेशवा दरबारकी राजनीतिमें उलझ गया। पेशवा राज्यकी अन्तःकलहका लाभ उठाकर और राघोबाका पक्ष लेकर उसने अपने प्रान्तमें भी बंगालकी घटनाकी पुनरावृत्ति करनेकी सोची। किन्तु विचक्षण मराठा राजनीतिज्ञ नाना फडनवीसके कूटनीतिक चातुर्यके कारण उसे स्वयं लेनेके देने पड़ गये। १७७५–८२ ई० के प्रथम अंग्रेज-मराठा युद्धमें नाना फडनवीसने सिन्धिया, होल्कर, गायकवाड़, भोंसले आदि सभी मराठा सरदारोंको तथा निजाम और हैदरअलीको भी अपनी ओर मिला लिया। इसपर बम्बईवालोंके जैसे ही उद्देश्यसे प्रेरित

होकर मद्रास सरकारने हैदरअलीके साथ युद्ध छेड़ दिया। हैदर स्वयं अंग्रेजों को कर्नाटकसे बाहर निकाल देनेपर तुला हुआ था। अत: प्रथम अंग्रेज मराठा युद्धके बीचमें ही दूसरा अंग्रेज-मैसूर युद्ध (१७८०–१७८४ ई०) भी शुरू हो गया। इन युद्धोंके आरम्भ करनेमें बम्बई और मद्रासके गवर्नरोंने गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्सकी कोई अनुमति या स्वीकृति नहीं ली थी, अत: वह कुछ समय तक चुप ही बैठा रहा। फलस्वरूप पूर्वी एवं पश्चिमी तटसे अंग्रेजोंका नाम-निशान मिटने ही जा रहा था जिसके कारण अंग्रेजों की राज्याकांक्षा, शक्ति और प्रतिष्ठाको अमिट ठेस लगती, साथ ही विश्वास-घात, वचनभंग आदि लाञ्छनोंसे उन्हें सदैवके लिए लाञ्छित भी रहना पड़ता, किन्तु उसके पूर्व ही वारेन हेस्टिंग्सने समस्त अंग्रेज शक्तिको केन्द्रित करके इस युद्धमें लगा दिया। पश्चिमी तट, पूर्वी तट और मध्य भारत आदि विभिन्न स्थानोंमें पेशवा, मराठा सरदारों और हैदरअलीके साथ अंग्रेजोंके युद्ध हुए। अंग्रेजोंकी कूटनीति और चातुरी साथ-साथ अपना कार्य करती रही। परिणाम यह हुआ कि १७८२ ई० में सालबाईकी सन्धिसे मराठा युद्धका और १७८४ ई० में मंगलौरकी सन्धिसे मैसूर युद्धका अन्त हुआ। अंग्रेजोंका प्रभाव उनके सभी विरोधी राज्योंपर छा गया। उनकी सबकी ही शक्ति-विस्तार और अधिकार कुछ-न-कुछ घट गये और अंग्रेजोंके पर्याप्त बढ़ गये। अब उन राज्योंका अन्त करने या उन्हें पूर्णतया अपने अधीन कर लेनेका मार्ग भी अंग्रेजोंके लिए सुगम हो गया।

इस कालमें देशके प्रत्यक्ष शासनका काम अंग्रेजोंको केवल बंगालमें ही करना पड़ रहा था। उसके लिए उन्होंने प्रचलित मुगलकालीन शासन पद्धतिके ढाँचेको ही अपनाया और उसमें अपने हितोंकी सुरक्षा एवं उद्देश्यों की सिद्धिकी दृष्टिसे आवश्यक सुधार करने प्रारम्भ किये। उनकी इस शासन-पद्धतिमें देशका विशेष लाभ नहीं हुआ, अंग्रेजोंको ही उसके अधिका-धिक शोषण और लूटमें सहायता मिली। देश और जनताके हितकी उन्हें चिन्ता थी भी नहीं। किन्तु रेगुलेटिंग ऐक्ट-द्वारा स्थापित व्यवस्था स्वयं

उनके लिए भी सदोष और असुविधाजनक था। गवर्नर-जनरल और उसकी कौन्सिलके बीच सद्भाव एवं सहयोग रहता ही न था और राज्य-कार्यमें अड़चन होती थी। अतः इंग्लैण्डके प्रधान मन्त्री पिटने अपने १७८४ ई० के पिट्स इण्डिया ऐक्ट-द्वारा कम्पनीके लन्दनस्थ प्रधान कार्यालयपर तथा उसकी भारतीय नीतिपर अपनी सरकारका नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप और सुदृढ़ कर दिया और गवर्नर-जनरलके अधिकारोंमें भी वृद्धि कर दी। इसी बीचमें अपने कार्यकालमें वारेन हैस्टिंग्सने कतिपय अन्य जघन्य कार्य किये थे। उसके अन्यायपूर्ण रुहेला युद्धका उल्लेख किया ही जा चुका है। उसने बंगालके एक प्रतिष्ठित एवं सम्भ्रान्त राजपुरुष महाराज नन्दकुमार को व्यक्तिगत शत्रुताके कारण अपने मित्र सुप्रीम कोर्टके प्रधान जज सर एलाइजा इम्पे-द्वारा जालसाजीके झूठे मामलेमें फांसीकी सजा दिलवायी। नन्दकुमारने हैस्टिंग्सकी भारी घूसखोरीका भी भण्डाफोड़ किया था। इम्पेकी सहायतासे हैस्टिंग्सने अपने कितने ही अन्य अवैध कार्योंको भी वैधरूप दे दिया था। व्यक्तिगत शत्रुता एवं धनके लोभके कारण ही उसने बनारसके समृद्ध एवं निर्दोष राजा चेतसिंहका प्रतिहिंसापूर्ण निर्दयताके साथ विनाश किया और उसके राज्यको लूटा। धनके लोभसे ही उसने अवधकी प्रतिष्ठित बेगमोंको जी भरकर लूटा-खसोटा और अपमानित किया। उसने अनेक जाल किये, लोगोंके साथ छल-कपटपूर्ण व्यापारिक एवं राजनीतिक समझौते किये, अनुचित भेंटें और घूस ली। इन सब कार्यों के लिए स्वयं तत्कालीन एवं उत्तरवर्ती अनेक अंग्रेजोंने उसकी पर्याप्त निन्दा की है। इंग्लैण्ड वापस जानेपर उपरोक्त अपराधोंके लिए उसपर मुक़दमा चलाकर अंग्रेजोंकी न्याय-परायणताका भी खूब ढोंग किया गया। अन्ततः वह ससम्मान निरपराध सिद्ध हुआ। न भी होता तो भारत और भारतीयोंकी जो क्षति वह कर चुका था उसकी पूर्त्ति असम्भव थी, और उसकी तनिक भी पूर्त्ति करनेका अंग्रेजोंको, उनकी कम्पनी या सरकारको, स्वप्नमें भी कोई ध्यान न था। हैस्टिंग्सके जाने और नये गवर्नर-जनरल

के आनेके बीच लगभग बीस महीने तक मैकफर्सनने उसका कार्यभार सँभाला। उसके समयमें अंग्रेजोंका दोषपूर्ण एवं भ्रष्टाचारपूर्ण शासन और अधिक भ्रष्ट हो उठा। महादाजी सिन्धिया अपने फ्रान्सीसी सेनापति काउण्ट दी बोइनकी सहायतासे इस कालमें दिल्ली दरबारका सर्वेसर्वा था। बादशाह शाहआलम भी उसकी दयापर आश्रित था। सिन्धियाने अंग्रेजों से भी बंगाल, बिहार आदिकी चौथकी माँग की।

२. लार्ड कार्नवालिस (१७८६–९३ ई०) को गवर्नर-जनरल होनेके साथ-ही-साथ प्रधान सेनापति भी बना दिया गया और कौन्सिलके सदस्योंके ऊपर उसे पूरा प्रभुत्व प्रदान कर दिया गया। उसने कम्पनीकी नौकरीमें सुधार करने, भ्रष्टाचारको कम करने और अदालतोंका सुधार करनेका प्रयत्न किया तथा हेस्टिंग्स-द्वारा प्रचलित अत्याचारपूर्ण ठेकेदारी प्रथाका अन्त करके बंगालमें मालगुजारीका इस्तमरारी अर्थात स्थायी बन्दोबस्त किया और सिविल सर्विसकी भी स्थापना की। कार्नवालिस एक उच्च घरानेका सम्पन्न व्यक्ति, ईमानदार और अनुभवी शासक था। उसके पूर्ववर्ती अधिकारियों-द्वारा किये गये अत्याचारों एवं अनाचारोंको भुलानेके लिए उसे भेजा गया था। ऐसा करना अंग्रेजोंकी गहरी कूटनीतिका प्रदर्शन था। इस प्रकारकी क्रिया-प्रतिक्रियापर ही वह अवलम्बित थी और सदैव चलती रही। एक शासक आता जो जी भरकर जोर-जुल्म, लूट-खसोट करता उसके तुरन्त उपरान्त ऐसा व्यक्ति भेजा जाता जो जनताके आँसू पोंछनेका और उसे पुराने अत्याचारोंको भूलकर अंग्रेजोंकी सदाशयता, उदारता एवं न्याय-परायणताकी प्रशंसा करनेके लिए प्रोत्साहित करता। किन्तु इन दोनों ही गरम और नरम प्रकारके अधिकारियोंके हाथमें अंग्रेजों के अपने मौलिक हित समान रूपसे सुरक्षित रहते। १७९०–९२ ई० में दूसरा अंग्रेज-मैसूर युद्ध छिड़ा जिसके परिणामस्वरूप टीपू सुलतानका राज्य और शक्ति अत्यन्त घट गये और मद्रास प्रेसीडेन्सीका भी पर्याप्त विस्तार हो गया। इस कालमें उत्तरापथमें महादाजी सिन्धिया सर्वाधिक

शक्तिशाली हो रहा था, वह चतुर, बुद्धिमान् और प्रतापी भी था। अंग्रेजों ने उसके साथ मित्रता ही बनाये रखी और उसके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं किया। १८१४ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। १७९३ ई० में इंग्लैण्डकी सरकारने कम्पनीको आगेके २० वर्षोंके लिए भारतीय व्यापारके एकाधिकारके लिए नया आज्ञा-पत्र प्रदान कर दिया था।

३. सर जॉन शोर (१७९३–९८ ई०) पहलेसे ही कम्पनीका कर्मचारी था और कार्नवालिसका सहायक था। वह सिविलियन मनोवृत्तिका था और देशी राज्योंके मामलोंमें हस्तक्षेप न करनेकी नीतिका अनुसरण करना तथा पिटके इण्डिया ऐक्टका अक्षरशः पालन करना चाहता था। अतः पूर्व सन्धिकी अवहेलना करके उसने मराठोंके विरुद्ध अपने मित्र निजामको सहायता न दी, फलस्वरूप खर्दाके युद्धमें निजाम बुरी तरह पराजित हुआ। अंग्रेजोंकी इस प्रत्यक्ष कायरतासे प्रोत्साहित होकर टीपू सुल्तानने फ्रान्सके नेपोलियन तथा अफ़गानिस्तानके अमीरके साथ अंग्रेजोंके विरुद्ध बातचीत शुरू कर दी और वह युद्धकी तैयारी करने लगा। अफ़गान बादशाह जमनशाह पंजाबमें आ पहुँचा अतः डरकर सर जॉन शोरने अवधमें दृढ़तासे काम लिया। १७९७ ई० में नवाब आसफ़ुद्दौलाकी मृत्युपर उसके बेटेको पदच्युत करके भाई सादतअलीको नवाब बनाया, उससे इलाहाबादका क़िला, कुछ अन्य प्रदेश और धन लिया तथा अवधपर अपना पंजा पूरी तरह कस दिया।

४. लार्ड वेलेज़ली (१७९८–१८०५ ई०) अपने दो पूर्ववर्तियोंके बारह वर्षके नरम शासनके उपरान्त अब इस नये गवर्नर-जनरलने अपनी अत्यन्त गरम नीतिका प्रयोग किया। वह बड़ा साहसी, अविवेकी, साम्राज्यवादी एवं राजनीतिज्ञ था। इस समय नेपोलियनके भयसे अंग्रेजोंके प्राण सूख रहे थे, वे उसके साथ ऐसे भीषण एवं व्यापक युद्धमें संलग्न थे जिस पर उनके राष्ट्रका जीवन-मरण निर्भर था। भारतमें टीपू उनका कट्टर शत्रु था, खर्दाके युद्धके बाद निज़ाम भी उनसे रुष्ट हो गया और फ्रान्सीसियोंके साथ लिखा-पढ़ी करने लगा। उत्तरमें सिन्धिया अत्यन्त शक्तिशाली

था। कम्पनीकी भीतरी दशा भी बहुत खराब थी, उसके कर्मचारी परस्पर कलहमें रत थे, अनुशासन बिगड़ गया था और खजाना खाली था। वेलेजलीने तुरन्त व्यर्थका बहाना बनाकर टीपूपर आक्रमण कर दिया। निज़ाम डरकर अंग्रेजोंके पूरी तरह अधीन हो गया और युद्धमें उनकी सहायता करनेके लिए भी तैयार हो गया। १७९८–९९ ई० के इस चौथे अंग्रेज-मैसूर युद्धके फलस्वरूप टीपू और उसके राज्यका अन्त हो गया। राज्यका और सम्पत्तिका एक बड़ा हिस्सा अंग्रेजोंने हड़प लिया, शेष अपने मित्रोंमें बाँट दिया और अपनी संरक्षकतामें मैसूरका एक छोटा-सा हिन्दू राज्य स्थापित कर दिया। अब वेलेज़लीने अपनी सहायक-सन्धि प्रथा चालू की। जो राज्य अंग्रेजोंके साथ यह सन्धि करता वह अनिवार्य रूपसे अंग्रेजोंकी अधीनता स्वीकार कर लेता, किसी देशी या विदेशी अन्य शक्तिके साथ वह सन्धि-विग्रह नहीं कर सकता था, उसे अपने यहाँ एक अंग्रेज रेजीडेण्ट और सेना रखनी पड़ती थी जिसका सब खर्च उसे देना पड़ता था और किसी अन्य विदेशीको वह अपने यहाँ नौकर नहीं रख सकता था। सबसे पहले निज़ाम इस बन्धनमें बँधा। तदनन्तर अवधके नवाबसे रुहेलखण्ड और गोरखपुरके जिले बरबस छीनकर उसे इस सन्धिमें बाँधा। १८०२–०५ ई० में मराठोंके साथ युद्ध छेड़ दिया और परिणामस्वरूप पेशवा, सिन्धिया, होल्कर, भोंसले आदि मराठा राज्योंको पराजित करके उन्हें अपने-अपने राज्योंके मूल्यवान् प्रदेश अंग्रेजोंको दे देने तथा इस सन्धिमें बँधनेपर विवश किया गया। भरतपुरके जाटों और राजस्थानके प्रायः सभी राजपूत राज्योंको भी इन सन्धियोंमें जकड़ लिया गया। इन सन्धियोंके फलस्वरूप भारतमें अंग्रेजोंकी स्थिति अत्यन्त दृढ़ हो गयी, उनका राज्य विस्तार प्रत्येक दिशामें देशके अन्तःप्रदेश तक पहुँच गया, धन, आय तथा व्यापार अत्यधिक बढ़ गया, सन्धिमें बँधे राज्योंपर उनका साम्राज्य स्थापित हो गया और उनके पास एक सुशिक्षित विशाल सेना हो गयी जिसके लिए उन्हें कुछ भी खर्च न करना पड़ता था। इन कथित अनगिनत

मित्र राज्योंकी विदेशी नीतिपर भी उनका पूर्ण अधिकार हो गया और उन्हें अन्य यूरोपीय जातियोंके आक्रमणका कोई भय न रहा। इन सन्धियोंके लिए वेलेज़लीने भारतीय राजाओंपर बड़ा दबाव डाला तथा उनके साथ अत्याचारपूर्ण और सख्तीका बर्ताव किया। उसने उनकी या उनकी जनताकी भावनाओंका तनिक भी खयाल न किया और न उनके न्याय्य अधिकारोंपर ही कुछ ध्यान दिया। उसको तो केवल अंग्रेज़ी राज्यके विस्तार और सुरक्षाकी चिन्ता थी। देशी राजा नवाब उसके दबाव और अत्याचार तथा अपनी स्वयंकी असहाय अवस्था, अयोग्यता, फूट, स्वार्थ-परता एवं नैतिक पतनके कारण उसका कहा माननेपर विवश हुए। अंग्रेज इतिहासकारों और राजनीतिज्ञोंने अपने इस जाति वीरकी इस कुनीतिकी बड़ी प्रशंसा की है, किन्तु भारतीय राजाओं और नवाबोंपर इन सन्धियोंका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। अब उन्हें विदेशियोंके या पड़ोसी राज्योंके आक्रमणोंका अथवा आन्तरिक द्रोहोंका प्रायः कोई भय न रहा, अतः वे निकम्मे, कमज़ोर, आलसी और विलासी हो गये। उनका आत्मसम्मान भी जाता रहा और राजनैतिक जीवन निःसत्त्व हो गया। राज्यके शासन-प्रबन्धकी ओरसे भी वे विमुख हो गये। षड्यन्त्र, अनाचार और अत्याचार बढ़ने लगे और अन्तमें इन अत्याचारों और कुशासनकी दुहाई देकर उनमें-से जिसे चाहा उस राज्यको अंग्रेज़ी राज्यमें मिला लेनेका सहज बहाना अंग्रेज़ोंके हाथमें आ गया। टामस मनरो आदि पाश्चात्योंने भी इस सन्धि प्रथाकी कड़े शब्दोंमें आलोचना की है और कहा है कि इसके द्वारा भारतीय नरेश पूर्णतया चरित्रहीन और दुर्बल हो गये। इतना ही नहीं, वेलेज़लीने जो अपने राज्यका यथाशक्य विस्तार करनेपर तुला हुआ था; तंजौर राज्यके उत्तराधिकारके झगड़ेका लाभ उठाकर उस राज्यका अन्त करके उसे अंग्रेज़ी राज्यमें मिला लिया। सूरतकी नवाबीके साथ भी यही किया गया और कर्नाटककी नवाबीके साथ भी बंगाल-जैसा ही बर्ताव किया गया। इन नरेशोंको नाम-मात्रकी पेन्शन देकर अलग कर

दिया गया। उनके राज्यपर अंग्रेजी शासन स्थापित कर दिया गया जो प्राय: सदैव ही प्रारम्भमें पहलेकी अपेक्षा अधिक निकृष्ट और अत्याचारपूर्ण था। वैसे तो क्लाइव और हेस्टिंग्स पहले ही इस नीतिका प्रारम्भ कर चुके थे किन्तु अब वेलेजलीने उसे एक व्यवस्थित, व्यापक एवं वैध रूप देकर भारतमें अंग्रेजोंके प्रभुत्वको अनुमानातीत रूपमें गहरा एवं विस्तृत बना दिया और साथ ही देशके नैतिक एवं राजनैतिक पतनको भी शिखरपर पहुँचा दिया। वेलेजलीकी इस तीव्र नग्न नीतिके उपरान्त ठण्डी नरम नीतिकी आवश्यकता थी, अत:—

५. **कार्नवालिसको** पुन: गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया किन्तु कुछ मास पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गयी। उसके स्थान में—

६. **सर जार्ज बार्लो** (१८०५–०७ ई०) नियुक्त हुआ। उसने भी हस्तक्षेप न करनेकी नीतिका पूर्णताके साथ पालन किया। वेलेजलीकी नीतिके परिणामों और अंग्रेजोंकी गूढ़ दुरभिसन्धिको बहुत-से भारतीय अनुभव करने लगे थे किन्तु विवश थे। तथापि १८०६ ई० में वेलोरमें अंग्रेजी सेनाके भारतीय सैनिकोंने भीषण विद्रोह कर दिया जिसका कठिनाईसे दमन हुआ। साथ ही देश-भरमें उपद्रव खड़ा हो गया, झुण्डके-झुण्ड डाकू सर्वत्र घूमते फिरते थे और निःशंक लूट-मार करते थे। बुन्देलखण्डमें तो पूर्ण अराजकता फैल गयी, अनेक छोटे-छोटे सरदार परस्पर लड़ने-झगड़ने लगे। उधर पंजाबमें रणजीतसिंहका स्वतन्त्र सिक्ख-राज्य उत्तरोत्तर शक्तिशाली होता जा रहा था। यूरोपमें नैपोलियन बोनापार्ट अपनी शक्ति के शिखरपर पहुँच गया था। अंग्रेजोंका वही सबसे अधिक बलवान् एवं महान् शत्रु था जिसके कारण उनकी बड़ी भयप्रद स्थिति थी।

७. **लार्ड मिण्टो** (१८०७–१३ ई०) के गवर्नर-जनरलका पद सम्हालनेके समय उपरोक्त समस्याएँ उसके सम्मुख थीं। अत: उसने ईरान-अफ़गानिस्तान और पंजाबके नरेशोंके पास दूत भेजकर उनसे मैत्री सन्धियाँ कर लीं और उन्हें फ्रान्सीसियोंके विरुद्ध अंग्रेजोंका मित्र बना लिया।

सिन्धके अमीरोंके साथ भी इसी प्रकारकी सन्धि कर ली गयी। उसने बुन्देलखण्ड आदिके सरदारोंके पारस्परिक झगडोंका निबटारा किया और डाकुओंका भी कुछ दमन किया। मिण्टोको यह गर्व था कि भारतीय शक्तियों के विरुद्ध शस्त्र उठाये बिना ही उसने सारी अराजकताको दबा दिया।

८. लार्ड हैस्टिंग्स (१८१३–२३ ई०) के प्रथम वर्षमें ही कम्पनीका नया आज्ञा-पत्र अगले बीस वर्षोंके लिए जारी हुआ जिसके द्वारा भारतीय व्यापारपर उसका एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। १८१३ ई० के इस आज्ञापत्र-द्वारा ही प्रथम बार अंग्रेज कम्पनी सरकारने तीस करोड़ निवासियोंके इस विशाल देशके लिए दस हजार पौण्ड शिक्षापर खर्च करनेका उदार निश्चय किया। १८१४–१६ ई० मे नैपालके गोरखों के साथ युद्ध करके और उन्हे सहायक सन्धि प्रथामें बाँधकर मित्र राज्य बनाया गया तथा उनसे तराई प्रदेश एव कुमायूं, गढ़वाल, शिमला आदिके कुछ पर्वतीय प्रदेश हस्तगत कर लिये गये। १८१६–१८ ई० मे पिण्डा-रियोंका दमन किया गया। ये भयंकर सैनिक लुटेरे हज़ारोंकी संख्यामें कई क्रूर सरदारोंके नेतृत्वमे सर्वत्र लूट-मार करते थे और सामान्य जनताको ही नहीं अनेक राजाओं और राज्योंको भी निरन्तर सताते रहते थे। पूर्वकालके लुटेरे मराठा सरदारोंके सहयोगसे ये बढ़े थे जो अब भी उन्हे सहायता एव प्रोत्साहन देते थे। अब पिण्डारी सदल बल स्वतन्त्र लूट-मार करते थे। एक विशाल अंग्रेजी सेनाने सब ओरसे घेरकर उनको कुचल डाला और तितर-बितर कर दिया। उनके कई सरदार मारे गये। शेषमें से अमीरखाँको टोंकका राज्य दे दिया गया। १८१७–१९ ई० में तीसरा मराठा युद्ध छेड़कर पेशवाके पूना राज्यका अन्त कर दिया गया। उसके साथ ही मराठा संघका भी पतन हो गया। उसके सिन्धिया, होल्कर, भोंसले, गायकवाड़ आदि भिन्न-भिन्न सदस्य अपनी शक्ति, अधिकार और प्रदेश खो-खोकर तथा अपने राज्योंको सहायक सन्धि प्रथामें और अधिक जकड़वाकर अंग्रेजोंके पूर्णतया अधीन हो गये। अब कश्मीर, सिन्ध और

पंजाबको छोड़कर सम्पूर्ण भारतपर अंग्रेज़ोंका प्रभुत्व था। हेस्टिंग्सको टामस मनरो जैसे कतिपय योग्य और परिश्रमी प्रशासक भी प्राप्त थे। मनरोने मद्रास प्रान्तमें मालगुज़ारीकी रय्यतवाड़ी प्रथा स्थापित की। १८१८ ई० में बंगालके सीरामपुरमें ईसाई पादरियोंने धर्मप्रचारार्थ देशी भाषामें एक समाचार-पत्र निकालना शुरू किया। अंग्रेजी पत्रोंपर लगे प्रतिबन्धोंको भी ढीला कर दिया गया।

९. **लार्ड एम्हर्स्ट** (१८२३–२८ ई०) ने ब्रह्माके राजाके साथ जिसने आसामकी विजय करके पूर्वी बंगालपर आक्रमण करनेकी तैयारी की थी, युद्ध छेड़ दिया। ब्रह्माके इस प्रथम युद्ध (१८२४–२६ ई०) के फल-स्वरूप ब्रह्माका राजा पराजित हुआ और सहायक सन्धिमें बँधा। भारी रकम और आसाम प्रान्त अंग्रेज़ोंके हाथ आये। मनीपुरका राज्य भी उनकी अधीनतामें रहा। उनकी पूर्वी सीमा भी अब सुरक्षित हो गयी। १८२६ ई० में भरतपुरमें दुर्जनसाल विद्रोही हुआ जिसकी देखा-देखी मालवा, बुन्देलखण्ड एवं मराठा राज्योंमें विद्रोहके चिह्न दीख पड़ने लगे। अंग्रेज़ोंने दुर्जनसालको कुचल दिया, भरतपुरके क़िलेपर अधिकार कर लिया और खज़ानेको जी भरकर लूटा, किन्तु भरतपुर राज्यको क़ायम रखा।

१०. **सर विलियम बेंटिक** (१८२८–३५ ई०) ने शासन-सुधार और शान्ति-कार्योंकी ओर अधिक ध्यान दिया। इसके समयमें सर्व-प्रथम अंग्रेज़ोंने अपने एक प्रतिष्ठित अधिकारी टामस मनरोके मुखसे यह कहलाया कि ब्रिटिश सरकार एक संरक्षकके रूपमें भारतको अपने अधीन रखेगी और उसका ध्येय भारतीयोंको अपने देशका शासन करनेके योग्य बनाना है। यहींसे अंग्रेज़ोंने विश्वमें अपना यह दम्भ प्रचारित करना शुरू किया कि भारत-जैसे पिछड़े, अशक्त, अरक्षित और असभ्य देशोंका संरक्षण करना तथा उन्हें उन्नत और सभ्य बनाकर अपने पैरोंपर खड़ा कर देना इस गोरी जातिका स्वेच्छा एवं परोपकार वृत्तिसे ग्रहण किया हुआ भार और उत्तरदायित्व है। अंग्रेज़ोंका यह दम्भपूर्ण ढोंग वर्तमान पर्यन्त चलता

रहा है। अस्तु बेंटिकने घोषित किया कि प्रत्येक भारतीय जाति, धर्म या रंगके किसी भेद-भाव बिना किसी भी सरकारी पदपर नियुक्त किया जा सकता है। उसने फ़ौजी खर्च कम करके तथा शासन-सम्बन्धी अन्य आर्थिक सुधारों-द्वारा सरकारकी आय और बचत बढ़ायी, पश्चिमोत्तर प्रान्त का बन्दोबस्त पूरा कराया और इलाहाबादमें बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू स्थापित किया, अदालतोंमें सुधार किये तथा उनकी भाषा फ़ारसीके स्थानमें उर्दू कर दी। सतीकी प्रथा, नरबलि, शिशुहत्या, स्त्रियोंका व्यापार आदि सामाजिक कुरीतियोंको भी क़ानून-द्वारा दण्डनीय बनाया गया। गुलामी की प्रथा भी उठा दी गयी। सुसंगठित ठगोंके दलोंका प्रकोप बहुत बढ़ गया था जिनके कारण यात्राएँ एवं मार्ग अरक्षित थे। मेजर स्लीमन-द्वारा उसने इन ठगोंका विनाश कराया। यूरोपीय साहित्य और विज्ञानकी शिक्षाके लिए १८१६ ई० में और १८२० ई० में कलकत्तेमें दो कॉलिज स्थापित हो चुके थे। ये व्यक्तिगत प्रयत्न थे। अब सरकारने भी भारतीयों की शिक्षाके लिए क़दम उठाया। किन्तु मैकालेके, जो कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान, साहित्य और भाषाओंका घोर निन्दक एवं अंग्रेज़ीका पूर्ण पक्षपाती था, प्रभावसे अंग्रेज़ीको ही भारतीयोंकी शिक्षाका माध्यम बनाया गया और सरकारी सहायता केवल अंग्रेज़ी शिक्षाके लिए ही स्वीकृत हुई। देशी राज्योंके सम्बन्धमें बेंटिककी नीति सामान्यतया हस्तक्षेप न करनेकी ही थी, तथापि कचार और कुर्गके राज्योंका अन्त करके उसने उन्हें अंग्रेज़ी राज्यमें मिला लिया। मैसूर, अवध, भोंसले, होल्कर, सिन्धिया आदि राज्योंके आन्तरिक मामलोंमें भी काफ़ी हस्तक्षेप किया। अंग्रेज़ी सरकारकी दुरंगी नीतिके कारण बहुधा देशी राज्योंमें यह सोचा जाने लगा था कि अंग्रेज सरकार उनके राज्योंका अन्त करनेका बहाना ढूँढती रहती है। नरेशोंकी यह शिकायत बराबर बनी रहती थी कि न तो उन्हें अपने शासन की व्यवस्थाको अपनी इच्छानुसार ठीक करनेका ही अवसर मिलता है और न अंग्रेज सरकार ही इस कार्यमें उन्हें कोई सहायता देती है।

१८३१ ई० में महाराज रणजीतसिंहसे भेंट करके बेंटिकने अंग्रेज़-सिक्ख मैत्रीको पुष्ट किया और १८३२ ई० में सिन्धके सब अमीरोंको सहायक सन्धि प्रथामें बाँध लिया। १८३३ ई० में कम्पनीका नया बीस-साला आज्ञा-पत्र जारी हुआ जिसमें कम्पनीको अब व्यापारके स्थानमें भारतका शासन करनेकी ही आज्ञा मिली। शासन-व्यवस्थामें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी किये गये यथा गवर्नर-जनरलकी कौन्सिलमें न्याय सदस्यकी वृद्धि। इस पदपर मैकालेकी नियुक्ति हुई। साथ ही पालियामेण्टने यह घोषणा भी की कि भारतका कोई निवासी अथवा ब्रिटिश सम्राट्की कोई प्रजा अपने धर्म, जन्म-भूमि, वंश या रंगके कारण किसी सरकारी पद या नौकरीसे वंचित नहीं की जायेगी।

११. सर चार्ल्स मेटकॉफ़ (१८३५–३६ ई०) ने प्रेस-एक्ट-द्वारा समाचार-पत्रोंको स्वतन्त्रता प्रदान की।

१२. लार्ड ऑकलैण्ड (१८३६–४२ ई०) के समयमें प्रथम अफ़गान युद्ध हुआ। इसका उद्देश्य रणजीतसिंहकी सहायतासे काबुलके स्वाधीन शासक दोस्तमुहम्मदको, जिसपर अंग्रेजोंको विरोधी होनेका सन्देह था, पदच्युत करके शाहशुजाको अफ़गानिस्तानका अमीर बनाना था। अंग्रेज़ी सेनाने सिन्धके मार्गसे अफ़गानिस्तानमें १८३९ ई० में प्रवेश किया। इस युद्धमें अंग्रेज बुरी तरह पराजित हुए। १८४२ ई० में जब पराजित अंग्रेजी सेना सन्धि करके वापस लौट रही थी तो अफ़गानोंने उसे काट डाला और १६००० सैनिकोंमें-से केवल एक उस दुःखान्त घटनाका वर्णन करनेके लिए जीवित बचकर आ पाया। ऑकलैण्डकी बड़ी निन्दा हुई और वह वापस इंग्लैण्ड बुला लिया गया।

१३. लार्ड एलिनबरा (१८४२–४४ ई०) ने अफ़गान युद्धको समाप्त कर दिया। उसने पिछली हारका कुछ प्रतीकार करके वाहवाही लूटी। दोस्त मुहम्मद ही काबुलका बादशाह फिर बन बैठा। ऑकलैण्डने सिन्धके अमीरोंके साथ सन्धि करके उन्हें रेजीडेण्ट रखनेपर विवश

किया था और उनपर वार्षिक कर भी लाद दिया था। १८४३ ई० में अमीरोंपर कुछ झूठे दोषारोपण करके युद्ध छेड़ दिया गया और मियानीके युद्धमें उन्हें पराजित करके समस्त सिन्ध प्रान्त अंग्रेजी राज्यमें मिला लिया गया। इस अन्यायपूर्ण कार्यकी स्वयं इंग्लैण्डकी पार्लामेण्टने निन्दा की किन्तु उसे उलटा नहीं क्योंकि उससे अंग्रेजोंको भारी व्यापारिक और राजनैतिक लाभ जो हुआ था। ग्वालियरमें उत्तराधिकारका प्रश्न उठा, इस बहानेसे अंग्रेजोंने इस राज्यको जो अब भी पर्याप्त शक्तिशाली था, और अधिक अशक्त एवं पूर्णतया अपने अधीन कर लिया।

१४. लार्ड हार्डिन्ज (१८४४–४८ ई०) का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य रणजीतसिंहकी मृत्युका लाभ उठाकर सिक्खोंके साथ युद्ध (१८४५–४६ ई०) छेड़ना और फलस्वरूप महान् शक्तिशाली सिक्ख राज्यको अशक्त एवं अपंग बनाकर अपने अधीन कर लेना था। लाहौर में चतुर हैनरी लारेन्सको बालक राजा दिलीप सिंहका संरक्षक और रेजीडेण्ट नियुक्त कर दिया गया। कश्मीर एक पृथक् राज्य हो गया। शासन-सम्बन्धी कुछ सुधार भी हार्डिन्जने किये, बेंटिककी समाज-सुधार नीतिकी भी कुछ पुनरावृत्ति की और गंगाकी नहरके निकालनेकी योजनाका भी समर्थन किया।

१५. लार्ड डलहौज़ी (१८४८–५६ ई०) ने आते ही मुलतानके गवर्नर मूलराजके विद्रोहका लाभ उठाकर पंजाबके सिक्ख राज्यके साथ युद्ध छेड़ दिया। लाहौर राज्य १८४६ ई० की सन्धिके अनुसार ही अंग्रेजों की पूर्ण अधीनता एवं संरक्षणमें था और उन्हें २२ लाख रुपये वार्षिक राज्य-कर देता था। उसे बिलकुल ही कुचल डालनेकी नीतिने समस्त पंजाबको विद्रोही कर दिया। युद्धमें सिक्ख बड़ी वीरताके साथ लड़े और प्रारम्भमें उन्होंने अंग्रेजोंको प्राय: हरा ही दिया था, किन्तु अन्तमें वे पराजित हुए और बुरी तरह कुचल डाले गये। १८४९ ई० में राजा दिलीप सिंहको राज्यच्युत करके और पेन्शन देकर इंग्लैण्ड भेज दिया गया, राजा

की पदवी भी उससे छीन ली गयी और एक पत्रमें यह लिखकर कि दिलीप सिंह या उसके उत्तराधिकारी पंजाबके राज्यपर कभी कोई दावा न करेंगे, उसके हस्ताक्षर करा लिये गये। सिक्खोंको निःशस्त्र कर दिया गया और उनके सरदारोंकी जमीन और जागीरें छीन ली गयीं। पंजाबको इस प्रकार अंग्रेजी राज्यमें मिलानेमें कुछ कम कठोरता, अन्याय और अत्याचार नहीं किया गया। १८५२ ई० में अंग्रेज व्यापारियोंके हितोंकी रक्षा करने के बहाने ब्रह्माके साथ युद्ध छेड़ा गया और राजाको पराजित करके तथा सहायक सन्धिमें बाँधकर सम्पूर्ण दक्षिणी ब्रह्माको अंग्रेजी राज्यमें मिला लिया गया। अब बंगालकी खाड़ीका सम्पूर्ण समुद्र तट, कुमारी अन्तरीपसे मलाया प्रायद्वीप पर्यन्त अंग्रेजोंके अधिकारमें था। डलहौजी एक कट्टर साम्राज्यवादी था, निर्बल देशी राज्योंके साथ उसकी कोई सहानुभूति नहीं थी। वह उनके अस्तित्वको बनाये रखनेका विरोधी था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि ब्रिटिश शासन इस देशकी जनताके लिए परम लाभदायक है, चाहे वे उसे पसन्द करें या न करें। अतः उसने देशी राज्यों का अन्त करके उन्हें अंग्रेजी राज्यमें मिलानेकी एक नयी योजना बनायी जिसके अनुसार किसी राजाकी औरस पुत्रके अभावमें मृत्यु होनेपर उसका राज्य समाप्त कर दिया जाता था। इस समय अंग्रेजोंके आधिपत्यमें अवस्थित देशी राज्योंको उसने तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया। प्रथम वे नैपाल आदि स्वतन्त्र राज्य थे जिनमें भारतकी अंग्रेज सरकार राजाकी मृत्युपर उपयुक्त उत्तराधिकारीको गद्दीपर बैठाती थी, दूसरे वे राजपूत मराठा आदि राज्य थे जिन्होंने मुग़ल सम्राट् या पेशवाके स्थानमें अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली थी, और तीसरे वे राज्य थे जिन्हें अंग्रेजोंने ही बनाया या विजय किया था। इस तीसरी श्रेणीके राजाओंको तो उसने दत्तकपुत्र लेनेके अधिकारसे भी वंचित कर दिया। अब भीतर बाहर किसीके भी विरोधकी कुछ परवा न करके उसने जितना बना इन राज्योंका अन्त करना शुरू किया। सर्वप्रथम नागपुरके भोंसला राज्यके

अन्त और लूट हुई। १८४८ ई० में सतारा राज्यका अन्त हुआ, तदनन्तर उड़ीसाके संभलपुर, बाघट, उदयपुर आदि राज्योंका अन्त किया गया। १८५३ ई० में झाँसीकी रानीके दत्तकपुत्रको अमान्य किया, पेशवा बाजीराव द्वितीयकी मृत्युपर उसके दत्तकपुत्र नानाको भी अमान्य किया और उसकी पेन्शन बन्द कर दी। कर्नाटक और तंजोरके राज्यच्युत नरेशोंकी तो उपाधियाँ भी छीन लीं। १८५६ ई० में कुशासनका दोष लगाकर अवधकी नवाबीका भी अन्त कर दिया और उस प्रान्तको अंग्रेजी राज्यमें मिला लिया। ये सब कार्य अत्यन्त कठोर, अनुचित और अन्यायपूर्ण थे। पूर्वमें की गयी सन्धियोंमें दिये गये स्वयं अपने वचनोंको भी अंग्रेजोंने मान्य नहीं किया। इन कार्योंसे समस्त देशमें भीषण क्षोभ एवं असन्तोष फैल गया। १८५३ ई० में कम्पनीको नया बीससाला आज्ञापत्र मिला जिसके द्वारा उससे व्यापार करनेका अधिकार बिलकुल छीन लिया गया और उसकी शासन-व्यवस्थामें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तथा अधिक नियन्त्रण कर दिया गया। डलहौजीने स्वयं देशके आन्तरिक शासनमें भी बहुतसे सुधार किये, सरकारकी सैनिक शक्ति बढ़ायी, सिक्खों और गोरखोंकी भी पल्टनें भरती कीं और अर्थ-विभागका सावधानीके साथ प्रबन्ध किया। उसके समयमें सरकारकी वार्षिक आय २४५ लाखसे बढ़कर ३०७½ लाख हो गयी। सार्वजनिक कार्योंके लिए जनतासे ऋण लेने की प्रथा भी उसीने चलायी और पब्लिक वर्क्स विभाग भी स्थापित किया। उसीने १८५३ ई० में पहले-पहल भारतमें रेल चालू की तथा तार, डाक और डाकके टिकिटोंकी व्यवस्था की। सर चार्ल्सवुडकी अध्यक्षतामें आधुनिक देशी शिक्षाकी नींव डाली गयी और मैकालेने भारतीयदण्ड विधान बनाया।

१६. लार्ड कैनिंग (१८५६–५८ ई०) के समयमें १८५७ ई० में कलकत्ता, मद्रास और बम्बईमें एक-एक विश्वविद्यालयकी स्थापना हुई। किन्तु इसी वर्ष भारतमें वह भयानक देशव्यापी विप्लव हुआ जिसे अंग्रेजों

ने सिपाही विद्रोहका नाम दिया, उत्तर भारतमें जो ग़दर या संवत् १४ के बैदेके नामसे प्रसिद्ध है और जिसे अनेक आधुनिक लेखक स्वातन्त्र्य समरके नामसे पुकारने लगे हैं। डलहौजीके समयमें अतिशयको पहुँच गयी अंग्रेजोंकी गरम आक्रान्ता नीतिकी यह भारी प्रतिक्रिया थी। यह एक ऐसा महान् विद्रोह था जिसमें पश्चिमोत्तर प्रान्त, अवध, बिहार, बुन्देलखण्ड और मध्यभारतकी जनता, अंग्रेजी सेनाकी विभिन्न छावनियोंके भारतीय सैनिक, अनेक देशी राजे, नवाब, जमींदार, ताल्लुकेदार आदि सम्मिलित थे। अंग्रेजोंको देशसे निकाल बाहर करनेके लिए एक बार तो हिन्दू और मुसलमान भी मिलकर एक हो गये थे। यूरोपमें उस समय क्रीमियाका युद्ध छिड़ा था और इंग्लैण्डकी शक्ति उसमें लगी हुई थी। भारतके जो अनगिनत देशी राजे नवाब खुले रूपसे इस विद्रोहमें सम्मिलित नहीं भी हुए थे, उनमें-से भी अनेकोंकी विद्रोहियोंके प्रति सहानुभूति थी। मुसलमानोंको उत्तेजित करनेके लिए अवधके साथ किये गये अन्यायका और दिल्लीके बादशाहको उसका साम्राज्याधिकार वापस दिलानेका नारा था और हिन्दुओंको उत्तेजित करनेके लिए पेशवाके दत्तकपुत्र धुन्धुपन्त नाना के पेशवा साम्राज्यकी स्थापनाका नारा था। हिन्दू मुसलमान जनसाधारणको अंग्रेजों और उनके शासन-द्वारा लोगोंके धर्म-कर्मको नष्ट किये जानेका प्रचार था। रेल, तार, डाक, अस्पताल, स्कूल आदिकी स्थापना, तथा सती आदिकी प्रथाओंकी बन्दी उदाहरणमें प्रस्तुत किये जाते थे। सैनिकोंमें नयी किस्मकी बन्दूकों और उनकी मुँहसे खोली जानेवाली कारतूसोंसे धर्म-भ्रष्ट होनेकी बात, गोरे सैनिकोंका प्रभुत्व एवं अधिकाराधिक्य आदि उन्हें भड़कानेके लिए पर्याप्त थे। छावनियोंमें रक्त कमल और ग्रामोंमें चपातियोंके वितरण-द्वारा विद्रोही आन्दोलनका प्रचार किया गया। रविवार १० मई १८५७ ई० को मेरठकी अंग्रेज सैनिक छावनीमें इस विद्रोहका प्रथम विस्फोट हुआ और दावानलकी नाई यह आग शीघ्र ही एक जिलेसे दूसरे जिलेमें द्रुतवेगसे फैलने लगी। मेरठ, दिल्ली, लखनऊ,

कानपुर, झाँसी, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, बिहार आदि अनेक स्थानोंमें जेलोंको तोड़ा गया और सेनाओंके गोरे अधिकारियोंका ही नहीं जहाँ जिस अंग्रेजको देखा उसका सफ़ाया कर दिया गया। नाना साहिब, तात्याटोपे, झाँसीकी रानी लक्ष्मीबाई, बिहारके जमींदार कुँवरसिंह आदि विभिन्न प्रदेशोंमें विद्रोहियोंके सरदार थे। अनेक नगरोंके घेरे डाले गये, अनेक स्थानोंमें संगठित विद्रोही सैन्य दलोंके साथ अंग्रेजी सेनाके अनेक युद्ध हुए। एक वर्षसे अधिक तक देशमें भयंकर नरसंहार, मार-काट, लूट-पाट, अराजकता और अशान्तिका दौर चला, क्या अंग्रेजी सेनाके अंग्रेज या सिक्ख, गोरखे आदि भारतीय सैनिक और क्या विद्रोहियोंके हिन्दू एवं मुसलमान सिपाही, सभीने निर्दोष निरीह जनताके धन और प्राणोंका जी भरकर विनाश किया। अन्ततः अंग्रेज सरकारकी विजय हुई और विद्रोही अत्यन्त क्रूरताके साथ कुचल डाले गये, साथ ही जनताके असंख्य व्यक्तियोंको तलवारके घाट उतार दिया गया या पेड़ोंसे लटकाकर फाँसी दे दी गयी। खूनके नाले बह चले और हजारों गाँव फूँक डाले गये। एक-एक अंग्रेजकी मृत्युका बदला सौ-सौ, दो-दो-सौ भारतीयोंके रक्तसे भी पूरा न हुआ। इस बार भी विद्रोही सरदारोंकी परस्पर फूट-असहयोग एवं स्वार्थपरता, उनकी सेनाओंमें संगठनका अभाव तथा विद्रोहका लाभ उठाकर अनगिनत गुण्डों और लुटेरोंका सर्वत्र उत्पात इस भगीरथ प्रयत्नकी विफलताके कारण हुए। देशमें राष्ट्रीयता एवं एकसूत्रताका भाव तबतक सजग ही नहीं हुआ था। विद्रोहमें भाग लेनेवाले राजे, नवाब, ज़मींदार आदि वही लोग थे जिनकी अंग्रेजोंके साथ व्यक्तिगत शत्रुता थी और जिनको उन्होंने उनके राज्य, अधिकार, पद या धनसे वंचित कर दिया था। इन चीज़ोंकी पुनः प्राप्तिके लिए अपने-अपने निजी स्वार्थोंके कारण वे लड़ पड़े थे। अंग्रेज़ोंकी शत्रुताके अतिरिक्त उनमें परस्पर अन्य किसी बातमें भी उद्देश्य, नीति, पद्धति या मतका ऐक्य नहीं था। दूसरी ओर अंग्रेज अत्यन्त शक्तिशाली थे, बड़ी चतुराई, चालाकी और परिश्रमसे पिछले

सौ वर्षोंमें उन्होंने न कुछसे प्रारम्भ करके सम्पूर्ण भारतपर अपना पूर्ण अधिकार जमा पाया था और उसके फलस्वरूप अनुमानातीत विविध लाभ उठाया था। वह इस सोनेकी चिड़ियाको सहज ही अपने हाथसे निकल जाने न दे सकते थे। अधिकांश भारतीय नरेशोंने विद्रोहमें भाग नहीं लिया वरन् वे अंग्रेजोंके ही सहायक रहे। बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, महाराष्ट्र, गुजरात, सिन्ध, पंजाब आदि प्रान्त विद्रोहके प्रभावसे प्रायः अछूते ही बचे रहे। अपने सिक्ख और गोरखे सैनिकोंकी अंग्रेजोंको पूर्ण स्वामि-भक्ति प्राप्त थी और इन्हींकी सहायतासे उन्होंने उनके देश-भाइयोंका दमन किया।

इस प्रकार यह महान् क्रान्ति विफल हुई और फलस्वरूप अब सम्पूर्ण देशपर अंग्रेजोंकी सत्ता और अधिक दृढ़ एवं स्थायी हो गयी। इंग्लैण्डकी सरकारने भारतका राज्य कम्पनीके हाथोंसे छीनकर अपने अधिकारमें ले लिया, और वह अब इंग्लैण्डकी महारानी विक्टोरियाका भारतीय साम्राज्य कहलाया। लार्ड कैनिंग अब कम्पनीकी ओरसे नियुक्त उसका गवर्नर-जनरल नामक कर्मचारी न रहकर इंग्लैण्डकी महारानीका प्रतिनिधि शासक, भारतका वायसराय कहलाया। इंग्लैण्डके मन्त्रिमण्डलका एक मन्त्री भारत-सचिव हुआ जो अपने लन्दनस्थ भारत-कार्यालयके द्वारा इंग्लैण्डकी सरकार के निर्देशनमें भारतका शासन-सञ्चालन वायसराय आदि भारतमें नियुक्त अधिकारी वर्गसे कराने लगा। इलाहाबादमें १ नवम्बर १८५८ ई० को दरबार करके वायसराय कैनिंगने उपरोक्त व्यवस्थाको कार्यान्वित किया और महारानी विक्टोरियाका घोषणापत्र पढ़कर सुनाया जिसमें यह विश्वास दिलाया गया था कि कम्पनी और देशी नरेशोंके बीच की गयीं समस्त सन्धियों एवं प्रतिज्ञाओंका पालन किया जायेगा, देशी नरेशोंको गोद लेनेका अधिकार प्रदान किया जाता है, सरकारी नौकरियोंका द्वार सबके लिए खुला है, जाति वर्ण या धर्म उसमें बाधक न होंगे, जनताके धार्मिक मामलोंमें सरकार किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करेगी, और जिन

लोगोंने विद्रोह-कालमें अंग्रेजोंकी हत्या करने-जैसा महान् अपराध नहीं किया था उन्हें क्षमा किया गया।

वस्तुत: भारतमें अंग्रेजोंने प्रारम्भसे ही अपने-द्वारा शासित प्रदेशों अथवा अधीनस्थ राज्योंकी जनताके धार्मिक मामलोंमें सर्वथा हस्तक्षेप न करनेकी नीतिको ही बरता था। वे हिन्दू, जैन, सिक्ख, मुसलमान, पारसी आदि सभी प्रचलित धर्मोंके प्रति सहिष्णु एवं समदर्शी रहे थे। ईसाई धर्म उनका अपना राजधर्म था अत: उसको अवश्य ही प्रोत्साहन दिया और उसका व्यवस्थित प्रचार चालू कराया। तथापि धर्मप्रचार उनका कोई प्रमुख उद्देश्य न था। राजनैतिक अत्याचारों एवं आर्थिक शोषणसे ही उन्हें अवकाश न था अत: धार्मिक अत्याचारमें वे प्रवृत्त न हुए। वे यह भी जानते थे कि यदि वे ऐसा करनेका प्रयत्न करेंगे तो उनके मूल राजनैतिक एवं आर्थिक उद्देश्योंकी सिद्धिमें भारी बाधा पड़नेकी सम्भावना है।

इस प्रकार अपने इस देशमें आगमनके उपरान्त प्रथम डेढ़-सौ वर्षमें अपने अन्य यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियोंको कुचलनेके साथ-ही-साथ उन्होंने इस महादेशके व्यापारपर पूर्ण एकाधिकार स्थापित कर लिया, उस व्यापारको उन्नतिके शिखरपर पहुँचा दिया और उससे अपने देशमें एक अत्यन्त हितकारी औद्योगिक व्यापारिक एवं आर्थिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। अगले सौ वर्षोंमें शनै:-शनै: किन्तु द्रुतवेगके साथ उन्होंने ब्रह्मासे हिन्दुकुश पर्यन्त एवं नैपालसे लंका पर्यन्त सम्पूर्ण भारतवर्षपर उसके सीमान्त एवं सम्बद्ध प्रदेशों सहित, अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया और उसके द्वारा अपने देश, जाति और राष्ट्रको विश्वकी सबसे बड़ी एवं सबसे अधिक समृद्ध शक्ति बना दिया। इस कार्यमें उन्होंने देशके घोर राजनैतिक एवं नैतिक पतनका भरपूर लाभ उठाया, इस पतनको अपने हितके लिए और अधिक प्रोत्साहित किया और फिर इस दम्भपूर्ण ढोंगको प्रसारित करनेमें वे समर्थ हुए कि हम तो परोपकार वृत्तिसे इस निकृष्ट पतित अवनत एवं पिछड़े हुए काले आदमियोंके देशपर दया करके उसका संरक्षण कर रहे हैं और उसे

सुशासित सुसभ्य सुसंस्कृत एवं समुन्नत बनानेका स्तुत्य प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु उनका यह दम्भ भी एक प्रकारसे ठीक ही था। उसके लिए भारतवासी स्वयं ही जिम्मेदार थे, अपने स्वयंके दोषों एवं त्रुटियोंके कारण ही वे स्वयं गुलाम बने थे। देशका दुर्भाग्य भी था कि अनेक दीर्घकालीन ऐतिहासिक परिस्थितियोंने देशको उस कालमें वैसी विषम स्थितिमें ला डाला था और कोई ऐसा तेजस्वी प्रतिभाशाली वीर या वर्ग उस समय उत्पन्न न हुआ जो देशको उस अन्ध-कूपसे उबारता। किसीको ठगनेमें ठग का जितना दोष है उतना स्वयं ठगे जानेवालेका भी है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि भारतके इतिहासमें सबसे बड़े विदेशी लुटेरे अंग्रेज ही सिद्ध हुए और उनके द्वारा भारतकी महान् दीर्घकालीन एवं व्यवस्थित लूटका सम्पूर्ण सभ्य विश्वके इतिहासमें दूसरा उदाहरण नहीं है।

अध्याय ७

पुनरुत्थान युग (१८५८-१९४७ ई०)

अंग्रेजोंने भारतको जी भरकर लूटा और उसके नैतिक पतनको भी चरम सीमापर पहुँचा दिया, तथापि उन्होंने, चाहे अपने निजी हितों और स्वार्थोंकी दृष्टिसे ही सही, एक सुचारु सुगठित एवं उत्तम शासन-व्यवस्था भी इस देशको प्रदान की जो मुगलसाम्राज्यके चरमोत्कर्ष कालकी व्यवस्था पर ही यद्यपि मूलतः आधारित थी तथापि उससे कुछ अधिक ही उन्नत और श्रेष्ठ थी। राज्यतन्त्रीय प्रणालीमें उससे अधिक उत्तम सुशासन इस देशने पहले कभी शायद नहीं देखा था, अन्य किसी देशमें भी उसके पूर्व शायद कभी नहीं रहा। भारतीय प्रशासन या इण्डियन ब्यूरियोक्रेसी वर्तमान कालमें भी अपने ढंगकी सर्वोत्तम प्रशासन पद्धति समझी गयी। १८५७ ई० के विप्लवके उपरान्त ही इंग्लैण्डकी पार्लियामेण्टके तत्त्वावधान में भारतकी यह प्रशासन-पद्धति एवं व्यवस्था भली प्रकार विकसित हुई और उसने प्रत्येक विभाग एवं विस्तारमें निपुणता प्राप्त की। इस पद्धति और व्यवस्थामें फिर भी अनेक दोष रहे जिनका प्रधान कारण शासकों एवं शासितोंके बीच न मिटनेवाला भारी जातीय एवं राष्ट्रीय अन्तर था। उसीके कारण भारतके अंग्रेजी शासनमें अन्तर्निहित मूल उद्देश्य, अर्थात् इंग्लैण्ड देश और अंग्रेज जातिके स्वत्वों, स्वार्थों और हितोंकी सुरक्षा, उक्त सुशासनके अन्तर्गत भी भारतवर्ष और उसके निवासियोंकी स्वाभाविक एवं उपयुक्त उन्नतिमें प्रधान बाधक रहा। अंग्रेज जातिके हित-संरक्षणको पूर्ण प्राथमिकता थी। जिस सीमा तक भारतवर्षका प्रशासन एवं उन्नति अंग्रेज जातिके अपने किसी भी प्रकारके उत्कर्षमें साधक था उसे उन्नत बनाया गया। यदि उससे भारतीयोंकी उन्नति होती है तो यह और भी

अच्छा। किन्तु जहाँ और जिस रूपमें भारतकी इस उन्नतिसे स्वयं अंग्रेजोंके अपने उत्कर्षमे बाधा होनेकी सम्भावना होती वहीं उसपर रोक और नियन्त्रण लगा दिये जाते। इंग्लैण्डके हितके सम्मुख भारतका हित सदैव गौण रहा।

प्रारम्भमें जो अंग्रेज भारतमे आते रहे वे प्रायः छोटे घरोंके अशिक्षित, अवारा, लोभी, धूर्त एवं चरित्रहीन होते थे। व्यक्तिगत व्यापार और लूट-खसोट-द्वारा जल्दी ही धनी बनकर स्वदेश लौट जानेपर उनकी दृष्टि रहती थी। किन्तु १८ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें बंगाल और कर्णाटकमे राज्य-सत्ता हाथमें आनेपर तथा तदुपरान्त द्रुतवेगसे भारतके विभिन्न भागोंमें अंग्रेजी सत्ताके प्रसारके कारण उक्त वर्गके लोगोंका अनुपात धीरे-धीरे घटने लगा और अच्छे घरोंके सम्पन्न सुशिक्षित अंग्रेज भी अब आने लगे तथा उनकी संख्या शनैः-शनैः बढने लगी। ईसाई पादरी भी बहु-संख्यामें आने लगे जिनका प्रधान उद्देश्य यद्यपि धर्मप्रचार और अधिकसे-अधिक संख्यामें भारतीयोंको ईसाई बना डालनेका था किन्तु साथ ही उनमें से अनेक सुशिक्षित, परोपकारी वृत्तिके तथा दयालु भी होते थे। १९ वीं शतीके पूर्वार्धमें बंगाल, मद्रास, बम्बई आदि जिन प्रान्तोंपर अंग्रेजी सत्ता को स्थापित हुए चालीस पचास वर्ष बीत चुके थे और फलस्वरूप जहाँ अंग्रेजोंने अपना प्रशासन बहुत कुछ व्यवस्थित कर लिया था तथा शान्ति स्थापित कर ली थी वहाँके भारतीय जन भी शासनके विभिन्न विभागोंमें कार्य करने लगे थे और अंग्रेजोंके सम्पर्कसे पाश्चात्य आचार-विचारों और सभ्यतासे परिचित हो गये थे। उनमें-से अनेक अंग्रेजी भाषा भी सीख चुके थे और सीख रहे थे और अब वे जातीय सुधारकी ओर प्रवृत्त होने लगे थे। बंगालके राजा राममोहनराय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन आदि ऐसे ही महानुभाव थे। उपरोक्त प्रान्तोंमें अनेक भारतीय विशेषकर पारसी, जैन, मारवाड़ी, गुजराती आदि देशके व्यापारमें हिस्सा लेने लगे और आन्तरिक व्यापारको बहुत कुछ उन्होंने अपने हाथमें कर लिया तथा

पश्चिमी देशोंसे प्रेरणा पाकर कुछ उद्योग-धन्धोंको भी स्थापित करनेकी ओर वे प्रवृत्त हुए।

तीसरे, कुछ मनीषी अंग्रेज़ अधिकारियोंने अपने सैनिक या प्रशासकीय कार्य-भारसे अवकाश निकालकर या उसीके दौरानमें विद्या व्यसन और जिज्ञासासे प्रेरित होकर व्यक्तिगत रूपमें ही सही इस देशके साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास आदिका अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। १८ वीं शती ई० के चतुर्थपादमें ही वाराणसीमें एक संस्कृत कालिजकी और कलकत्तेमें एक मुसलमान मदरसेकी स्थापना हो गयी थी। सर विलियम जोन्सने कालिदासकी शकुन्तला तथा महाभारत आदि कई संस्कृत ग्रन्थोंका अंग्रेज़ीमें अनुवाद किया और प्राच्य विद्याके अध्ययनका बीजारोपण किया तथा इसी उद्देश्यसे १७७१ ई० में बंगाल एशियाटिक सोसाइटीकी स्थापना की। नैथेनियल हालहेडने मनुस्मृति आदिके आधारसे हिन्दू लॉ का संकलन किया और मुसलमानी क़ानूनका भी संकलन किया। मेजर रैनलने बंगालका सर्वे किया, भारतीय भूगोलविद्याको नींव डाली और बंगाल एटलसका निर्माण किया। हैनरी टामस कोलब्रुकने मूल संस्कृत ग्रन्थोंके आधारसे भारतीय धर्मों एवं दर्शनोंका अध्ययन प्रारम्भ किया। पादरी डूबोयने भारतीयोंकी जातियों, धर्मों एवं रीति-रिवाजपर ग्रन्थ लिखा। सर चार्ल्स विल्किन्स आदि अन्य विद्वानोंने भी भारतके विविधविषयक अध्ययनको बढ़ाया। स्वयं वारेन हैस्टिंग्स उर्दू, फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओंका ज्ञाता तथा बड़ा अध्ययनशील था। उसने भी उपरोक्त विद्वानोंको प्रोत्साहन दिया। १९वी शताब्दीके पूर्वार्धमें खारवेल, अशोक आदिके प्राचीन शिला-लेखों एवं अन्य अनेक प्राचीन भारतीय स्मारकों तथा प्राच्य विद्याके अन्य विभिन्न क्षेत्रोंमें खोज अध्ययन आदि हुआ, देशके अनेक प्रदेशोंका सर्वे हुआ तथा अनेक स्थानोंमें गजेटियरोंका निर्माण हुआ और भारत तथा भारतीयताके अध्ययनकी प्रभूत प्रगति हुई। कर्नल टॉडका प्रसिद्ध राजस्थान, कर्नल मेकेंजीका लेख संग्रह तथा एलफ़िन्स्टन आदिके इतिहास

ग्रन्थ लिखे गये। स्वयं अंग्रेज अधिकारियोंका ही एक दल ऐसा था जो भारतीयोंकी शिक्षाका माध्यम संस्कृत आदि प्राच्य भाषाओंको बनानेके पक्षमें था। मैकालेके तीव्र विरोधके कारण ही उनकी बात न चली। उपरोक्त समस्त प्रयत्न व्यक्तिगत थे तथापि उन्होंने भारतीय साहित्य, संस्कृति और इतिहासके आधुनिक अध्ययनकी सुदृढ़ नींव जमा दी और इस प्रकार इस देशका सर्वमहान् उपकार किया। इन दर्जनों उदार मनीषी, विद्या-व्यसनी अंग्रेज महानुभावोंने ही अपने कार्यों एवं कृतियोंके द्वारा भावी पीढ़ियोंके भारतीय विद्वानोंका तो पथ-प्रदर्शन किया ही इस देशके निवासियोंमें घर कर जानेवाले हीनताके भावोंको शनैः-शनैः दूर होनेमें भी भारी सहायता दी।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण देशको एक केन्द्रीय शासन-सूत्रमें बाँधकर, रेल, डाक, तार आदिकी व्यवस्था करके तथा सड़कों आदिका निर्माण, मार्गोंकी सुरक्षा और शान्तिकी स्थापना-द्वारा अंग्रेजी शासनने देशमें एक-सूत्रता एवं एकजातीयताके भावको प्रोत्साहन दिया, जाति, वर्ग एवं प्रान्तीयताके भावोंको शिथिल किया, और 'देशके चाहे जिस कोनेमें रहते हों हम सब भारतवासी ही हैं' इस भावको उत्तरोत्तर पुष्ट किया। अंग्रेजोंने जान-बूझकर भले ही इन प्रभृति प्रवृत्तियोंका पोषण न करना चाहा हो किन्तु उनके कार्योंसे इन परिणामोंका लक्ष्य या अलक्ष्य रूपमें स्वभावतः प्रकट होना अनिवार्य था।

इस प्रकार अंग्रेजोंने देशकी भीषण लूट एवं शोषणके तथा उसे पराधीनताकी बेड़ियोंमें जकड़ लेनेके बावजूद जाने या अनजाने इस देश और जातिके पुनरुत्थानके बीज भी बो दिये। १८५८ ई० के उपरान्त देशकी आन्तरिक शान्ति, सुशासन और शिक्षा-प्रसार तथा एक प्रदेशके निवासियों का दूसरे प्रदेशोंके साथ सहज सुगम निरन्तर गमनागमन एवं सम्पर्क ऐसी वस्तुएँ थीं जिन्होंने देशमें एक नवीन जागृति, स्फूर्ति, चेतना और सर्वतोमुखी प्रगतिकी लहर फूंकनी शुरू कर दी। विप्लवका दमन करके और

सम्पूर्ण देशको अपने सुदृढ़ पंजोंमें पूरी तरह कसकर जब अंग्रेज यह समझ बैठे थे कि अब तो इस देश और जातिपर हमारी पूर्ण सत्ता, स्वामित्व और प्रभुत्व सदैवके लिए स्थायी और अमर हो गया है, प्रायः तभीसे हो उनके देखते-ही-देखते देश और जातिके पुनरुत्थानका भी प्रारम्भ हो गया। नब्बे वर्ष भी न बीतने पाये कि उन्हें इस देशको स्वतन्त्र करने और सर्वथा छोड़कर चले जानेपर बाध्य होना पड़ा। नब्बे वर्षकी अवधि भी कुछ थोड़ी नहीं है, किन्तु देशका उसके पूर्वके डेढ़-सौसे अधिक वर्षोंका सर्व-प्रकारका पतन तथा अत्यन्त बल एवं साधन-सम्पन्न अंग्रेज शक्तिका लगभग दो सौ वर्ष तक इस देशपर उत्तरोत्तर अधिकाधिक कसा जानेवाला अधिकार, शासन और नियन्त्रण भी कुछ कम नहीं था।

१८५८–१९४७ ई० के इस नब्बे वर्षमें बीस अंग्रेज वायसरायोंने ब्रिटेनकी सरकारके प्रतिनिधिरूपमें इस देशका क्रमशः शासन किया— लार्ड कैनिंग (१८५८–६२ ई०), लार्ज एल्गिन प्रथम (१८६२–६३ ई०), सर जॉन लारेन्स (१८६४–६९ ई०), लार्ड मेयो (१८६९–७२ ई०), लार्ड नार्थब्रुक (१८७२–७६ ई०), लार्ड लिटन (१८७६–८० ई०), लार्ड रिपन (१८८०–८४ ई०), लार्ड डफ़रिन (१८८४–८८ ई०), लार्ड लैन्सडाउन (१८८८–९४ ई०), लार्ड एल्गिन द्वितीय (१८९४–९९ ई०), लार्ड कर्जन (१८९९–१९०५ ई०), लार्ड मिन्टो (१९०५–१० ई०), लार्ड हार्डिन्ज (१९१०–१६ ई०), लार्ड चेम्स-फोर्ड (१९१६–२१ ई०), लार्ड रीडिंग (१९२१–२६ ई०), लार्ड इरविन (१९२६–३१ ई०), लार्ड विलिंगडन (१९३१–३६ ई०), लार्ड लिनलिथगो (१९३६–४३ ई०), लार्ड वेवल (१९४३–४७ ई०) और लार्ड माउण्टबेटन (१९४७ ई०)।

इस नब्बे वर्षके ब्रिटिश शासनकी प्रधान विशेषताएँ वैदेशिक नीति, आन्तरिक शासनका वैधानिक विकास, देशकी धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति, राष्ट्रीयताका विकास और स्वातन्त्र्य संघर्ष हैं जिनमें

उक्त शासनकी कतिपय सुदेनें एवं कुदेनें दोनों सम्मिलित हैं।

वैदेशिक नीति—इस कालमें भारतीय शासनकी वैदेशिक नीति ब्रिटिश साम्राज्यकी वैदेशिक नीतिका ही अंग थी। भारतीय साम्राज्यकी सुरक्षाके लिए उसके सीमान्त प्रदेशोंको निष्कण्टक करना तथा उनके उस पार स्थित पड़ोसी स्वतन्त्र राज्योंको अपने प्रभावमें रखकर उन्हें 'धक्का सम्हाल' राज्य बना देना, तथा ब्रिटेनके शत्रुओंको कुचलनेमें अपनी पूरी शक्ति लगा देना ही भारतकी विदेशी नीति थी। १८६३ ई० में लार्ड एल्गिन प्रथमने सीमान्तके पठानोंका दमन करनेका प्रयत्न किया और भूटान नरेशके साथ भी एक सन्धि की। १८६५ ई० में लारेन्सने उस सन्धि को अमान्य किया और भूटानियोंको पराजित करके अपना करद बनाया। दोस्त मुहम्मदकी मृत्युके उपरान्त १८६३–६८ ई० में अफ़गानिस्तानमें उत्तराधिकारके प्रश्नपर गृह-युद्ध चलता रहा। इस प्रसंगमें वायसराय लारेन्सने 'वर्तमान राजाके प्रति मित्रभाव रखने और उसके राज्यके अन्तः-कलहमें क़तई हस्तक्षेप न करनेकी' नीति बरती। रूस मध्य-एशियामें अफ़-गानिस्तानकी ओर बढ़ता आ रहा था और भारतके लिए एक खतरा था, किन्तु लारेन्सने युद्ध मोल लेना ठीक न समझा। उसके उत्तराधिकारी मेयोने भी इसी नीतिका अनुसरण किया। अफ़गानिस्तानका अमीर शेरअली १८६७ ई० में स्वयं भारत आकर अम्बालेमें वायसरायसे मिला और विविध प्रकारकी सहायताकी याचना की। वायसरायने उसका बड़ा शिष्टा-चार और आवभगत की किन्तु सहायताका कोई स्पष्ट वचन नहीं दिया। फिर भी अमीर उसकी मित्रता, सौजन्य और शक्तिसे प्रभावित एवं सन्तुष्ट होकर लौट गया। रूसके साथ भी एक सन्धि की गयी जिसके अनुसार रूसी सरकारने अफ़गानिस्तानकी स्वतन्त्रताको मान्य रखनेका आश्वासन दिया किन्तु अमीरके साथ अंग्रेजोंके विरुद्ध भी लिखा-पढ़ी शुरू कर दी। अमीर ने समस्त पत्र-व्यवहार वायसरायके पास भेज दिया किन्तु वह फिर भी चुप रहा। १८७३ ई० में रूसियोंने खीवापर अधिकार करके शेरअलीको

भयभीत कर दिया। उसने वायसराय नार्थब्रुकसे सहायताकी याचना की, किन्तु उसने उसका तिरस्कार कर दिया। चिढ़कर अमीरने रूसियों से बात-चीत आरम्भ कर दी। अतः लार्ड लिटनने आते ही अफ़गानिस्तानके साथ युद्ध छेड़ दिया। इस समय यूरोपमें तुर्की-रूसी युद्ध प्रारम्भ हो गया था। अंग्रेज रूसके विरोधी थे। उन्होंने अफ़गानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। शेरअली पराजित होकर तुर्की भाग गया और १८७९ ई० में उसके पुत्र याकूबखाँको अमीर बनाकर भारत सरकारने उसे अपनी अधीनतामें जकड़ लिया किन्तु उसे अंग्रेज रेजीडेण्टकी हत्याके षड्यन्त्रके सन्देहमें निर्वासित करके भारत भेज दिया गया। उधर अब्दुर्रहमानने अफ़गानिस्तानपर अधिकार कर लिया। १८८० ई० में भारत सरकारने उसके साथ सन्धि करके और किसी अन्य विदेशी शक्तिसे सम्बन्ध न रखनेका वचन लेकर अमीर मान्य कर लिया। कलात, क्वेटा और गिलगिटमें अंग्रेजी छावनियाँ नियत हो गयीं तथा बिलोचिस्तान ब्रिटिश राज्यमें मिला लिया गया। इस प्रकार मध्य-एशियामें रूसियोंकी आकांक्षाका कमसे-कम एक दिशामें सफल प्रतिरोध हो गया। फिर भी रूसी अग्रसर होते ही रहे और मध्य-एशियामें अंग्रेज-रूसी संघर्ष १८८१ से १९०७ ई० तक चलता रहा। सीमान्तके पठान कबीलों के साथ भी भारत सरकारकी लड़ाइयाँ चलती रहीं। लार्ड कर्जनने १९०१ ई० में वहाँसे सेना हटाकर तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेशका एक पृथक् सूबा बनाकर वहाँ शान्ति स्थापित की। इसी वर्ष अब्दुर्रहमानकी भी मृत्यु हो गयी थी। उसका पुत्र हबीबुल्ला अमीर हुआ, उसके साथ नवीन सन्धि कर ली गयी और वह अंग्रेजोंका मित्र बना रहा। इसी बीचमें पूर्वकी दिशामें ब्रह्मा-राज्यके द्वारसे भारतपर फ्रान्सीसियोंके आक्रमणका भय बना हुआ था। ब्रह्माका राजा मिण्डोन (१८५२-७८ ई०) बड़ा चतुर था, उसने अंग्रेजोंके साथ भी मित्रता बनाये रखी और फ्रान्सके साथ भी सम्बन्ध रखा। किन्तु उसका युवक पुत्र और उत्तराधिकारी थीबो मूर्ख,

अयोग्य और अनुभवहीन था। उसपर फ्रान्सीसियोंके साथ मित्रता करने-का दोष लगाकर भारत-सरकारने युद्ध छेड़ दिया और उसके राज्यका अन्त करके उसे १८८६ ई० में अंग्रेजी राज्यमे मिला लिया। लार्ड कर्जन-ने १९०७ ई०में एक अंग्रेज-रूसी सन्धिके अनुसार ईरान देशको भी दो प्रभावक्षेत्रोंमें बाँट कर दक्षिणी ईरान और फ़ारसकी खाड़ीपर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। तिब्बत देशपर भी जो नाममात्रके लिए चीनके आधिपत्यमें था रूस और भारत-सरकार दोनों ही अपना प्रभाव स्थापित करनेका प्रयत्न कर रहे थे। इस सम्बन्धमें भी १९०७ ई०में अंग्रेजों और रूसियोंमे यह तय हो गया कि वे दोनों ही चीनके जरिये तिब्बतसे सम्बन्ध रखेंगे और उसके किसी भी प्रदेशपर कभी भी अधिकार न करेंगे। १९१० ई०में अफ़गानिस्तानके अमीर हबीबुल्लाका वध कर दिया गया और उसका पुत्र अमानुल्ला अमीर बना। १९१९ ई०में उसने ब्रिटिश प्रदेशपर आक्रमण कर दिया और तीसरा अफ़गान युद्ध छिड़ गया तथा शीघ्र ही समाप्त भी हो गया। अफ़गानिस्तान अब सर्वथा स्वतन्त्र और अंग्रेजोंके नियन्त्रणसे मुक्त राज्य हो गया। १९२९ ई० के उपरान्त होने वाली उसकी राज्य-क्रान्तियाँ और गृह-युद्धोंमें भारत-सरकारने कोई हस्तक्षेप नहीं किया और पुनः शान्ति स्थापित होनेपर नादिरशाहको अमीर मान्य कर लिया। इसी बीचमें १९१४–१८ ई० के प्रथम विश्वयुद्ध में भारत-सरकारकी पूर्ण शक्ति अंग्रेजोंकी ओरसे जर्मनीके विरुद्ध प्रयुक्त हुई। जनतासे युद्ध-चन्दा इकट्ठा किया गया। भारतीय सैनिक लाखोंकी सख्यामें फ्रान्स, मैसोपोटामिया आदि सुदूर विदेशोंमें जाकर वीरतापूर्वक लड़े। भारतके बलपर अंग्रेज और उनके मित्र-राष्ट्र उस महायुद्धमें विजयी हुए। युद्धमें भारतके धन-जनकी जो क्षति हुई और युद्धके परिणामस्वरूप भारतमें जो आर्थिक संकट आया उन्हें अकेले भारतने ही सहन किया। इसी प्रकार १९३९–४५ ई० के द्वितीय विश्वयुद्धमें भारतके धन-जनका पहले युद्धसे भी कहीं अधिक विनाश हुआ। और इस बार भी अन्ततः

स्वयं अपनी क्षति करके भारतवर्ष अंग्रेजों और उनके मित्र-राष्ट्रोंकी विजय-प्राप्तिमें अमूल्य सहायक सिद्ध हुआ।

आन्तरिक शासन और वैधानिक विकास—१८५७ ई० के विप्लवके उपरान्त इंग्लैण्डकी सरकारने अपने १८५८ ई० के 'भारतके श्रेष्ठतर शासनार्थ अधिनियम' अर्थात् 'ऐक्ट फार दी बेटर गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया' के द्वारा बोर्ड आफ़ कण्ट्रोल एवं बोर्ड आफ़ डाइरेक्टर्सको समाप्त करके भारतमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीके शासनका अन्त कर दिया था और उसकी बागडोर अपने हाथमें ले ली थी। इस कार्यका भार ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डलके एक सदस्यको सौंपा गया जो भारत-सचिव कहलाया, उसकी सहायताके लिए १५ सदस्योंकी एक परामर्शदात्री इण्डिया कौन्सिल स्थापित हुई और लन्दनमें इण्डिया आफ़िस उक्त सचिवका कार्यालय हुआ। भारत का गवर्नर-जनरल अब वायसराय कहलाने लगा। देशके आन्तरिक शासनमें विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। वायसराय कैनिंगने साम-दाम, भय-भेदसे शान्ति स्थापन करनेमें ही अपनी शक्ति लगायी। उसकी नरम नीतिके कारण अंग्रेज 'दयालु कैनिंग' कहकर उसका उपहास करते थे। उसीके समयमें मैकाले-द्वारा निर्मित दण्ड-विधान आदि क़ानून कार्यान्वित हुए और हाई कोर्टोंकी स्थापना हुई तथा माल, दीवानी और फौजदारी अदालतों-द्वारा न्याय-शासनकी नीचेसे ऊपर तक व्यवस्था हुई। सरकारके प्रत्यक्ष शासनके अन्तर्गत जितना प्रदेश था वह सामान्यतया गवर्नरोंके अधीन प्रान्तोंमें विभाजित था। प्रत्येक प्रान्त कमिश्नरोंके अधीन कमिश्नरियोंमें, प्रत्येक कमिश्नरी कलक्टरोंके अधीन ज़िलोंमें, प्रत्येक ज़िला तहसीलदारोंके अधीन तहसीलोंमें, प्रत्येक तहसील परगनोंमें और परगने गाँवों या महालोंमें विभाजित थे। सेना, पुलिस, जेल, डाक-तार, शिक्षा, व्यापार, वित्त, पब्लिक वर्क्स आदि विभिन्न सरकारी विभाग प्रान्तीय एवं केन्द्रीय आधारों पर संगठित हुए। अदालतोंमें वादी-प्रतिवादी या अभियुक्तोंकी सहायताके लिए वकील-मुख्तारोंकी प्रथा प्रचलित हुई। १८६१ ई० में इण्डिया

कौन्सिल ऐक्ट पास हुआ जिसके अनुसार वायसरायकी सहायताके लिए एक कार्यकारिणी समिति तथा एक व्यवस्थापिका समिति बनायी गयी। कार्यकारिणीमें स्वयं वायसराय, जिसके अधिकारमें परराष्ट्रनीति भी थी, सेनाके शासनके लिए सेनापति, शान्ति-रक्षा तथा आन्तरिक शासन आदिके लिए गृहसदस्य, बैंक, करेन्सी, ऋण, व्यय, टैक्स आदिके लिए अर्थ-सदस्य, क़ानूनके लिए न्याय-सदस्य, वाणिज्य, बन्दरगाह, जहाज़, रेल आदिके लिए व्यापार-सदस्य, शिक्षा-स्वास्थ्य आदिके लिए शिक्षा-सदस्य, तथा उद्योग एवं श्रमके लिए एक अन्य सदस्य सम्मिलित थे। क़ानून बनानेके लिए ६ से १२ सदस्योंकी एक परामर्शदात्री व्यवस्थापिका समिति बनी जिनमें आधोंका गैर-सरकारी होना आवश्यक था। पटियाला और काशीके नरेश तथा ग्वालियरके दीवान दिनकरराव इस समितिमें मनोनीत किये गये। बम्बई, मद्रास और बंगाल प्रान्तोंकी कौन्सिलोंको भी क़ानून बनानेका अधिकार मिला। व्यवस्थापिका-द्वारा बनाये गये अधिनियमोंपर वायसराय को विटोका अधिकार था, छह मासके लिए वह स्वयं भी कोई आर्डिनेन्स जारी कर सकता था।

उपरोक्त आधारोंपर भारतके आन्तरिक शासनका विस्तार और वैधानिक विकास उत्तरोत्तर होता गया। १८७१ ई० में प्रथम बार लार्ड मेयोने भारतकी जन-संख्या गणना करानेकी योजना की किन्तु पूरी गणना १८८१ ई० में हुई। इसी वायसरायने १८७० ई० में म्यूनिसपल ऐक्टों-द्वारा नागरिकोंके अपने-अपने नगरोंके स्थानीय प्रबन्धमें भाग लेनेके अधिकारको स्वीकार किया। यों तो १८४२ ई० में ही कलकत्ता, मद्रास और बम्बईके अतिरिक्त कुछ अन्य नगरोंमें म्युनिसिपैलिटियाँ स्थापित हो गयी थीं, किन्तु उनके जो थोड़ेसे सदस्य होते थे वे सब ही अधिकारियों-द्वारा मनोनीत होते थे और उनपर ही निर्भर थे। अब प्रथम बार स्वायत्त शासनके सिद्धान्तको स्वीकार किया गया। १८८३–८४ ई० में लार्ड रिपनने इस नीतिको और अधिक व्यवस्था और विस्तार दिया। अनेक नगरोंमें नगर-

पालिकाएँ स्थापित हुई, उनके अधिकार बढ़े और उनके बहुभाग सदस्य जनता-द्वारा निर्वाचित होने लगे। देहाती क्षेत्रोंमें भी स्थानीय तथा जिला बोर्डोंकी स्थापना हुई। १८९२ ई० में दूसरा इण्डियन कौन्सिल ऐक्ट पास हुआ जिसके अनुसार केन्द्रीय एवं प्रान्तीय व्यवस्थापिका समितियोंके अधिकारोंमें कुछ वृद्धि हुई, उनकी सदस्य-संख्यामें भी वृद्धि हुई और परोक्ष निर्वाचनका सिद्धान्त भी स्वीकार कर लिया गया। केन्द्रीय समितिके गैर-सरकारी सदस्य प्रान्तीय समितियोंके गैर-सरकारी सदस्यों-द्वारा चुने जाने लगे और प्रान्तीय समितियोंके गैर-सरकारी सदस्य नगर-पालिकाओं, जिला-बोर्डों तथा विश्वविद्यालयों-द्वारा चुने जाने लगे। १९०९ ई० में मिण्टो-मार्ले सुधारोंके आधारपर प्रथम गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट पास हुआ। इसके अनुसार व्यवस्थापिकाओंकी सदस्य-संख्या और अधिकार बढ़ाये गये। परिमित मताधिकारके रूपमें प्रत्यक्ष निर्वाचनको भी प्रश्रय दिया गया और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वके सिद्धान्तको भी मान्य किया गया। केन्द्रीय कार्यकारिणीमें सत्येन्द्र प्रसन्नसिंहके रूपमें एक भारतीय एवं गैर-सरकारी सदस्यको भी सम्मिलित कर लिया गया। १९१५ ई० में लार्ड हार्डिन्जने स्वायत्त-शासनमें भी कुछ सुधार किये। १९१७ ई० में भारत-सचिव माण्टेग्युने एक विज्ञप्तिके द्वारा घोषणा की कि "ब्रिटिश सरकारकी नीति प्रशासनके प्रत्येक विभागमें भारतीयोंका उत्तरोत्तर अधिक सहयोग प्राप्त करते जानेकी है जिससे कि वे शनैः-शनैः स्वायत्त-शासनका विकास करके ब्रिटिश साम्राज्यके एक अभिन्न अंगके रूपमें अपने देशमें भी उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकें।" फलस्वरूप माण्टेग्यु-चेम्सफ़ोर्ड सुधार प्रस्तुत हुए जिनके आधारपर १९१९ ई० का गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट पास हुआ। इसके अनुसार भारत-सचिवकी इण्डिया कौन्सिल में भारतीय सदस्योंकी संख्या बढ़ायी गयी, वायसरायकी कार्यकारिणीमें भी सदस्य-वृद्धि हुई, उसकी व्यवस्थापिका समितिको कौन्सिल ऑफ़ स्टेट्स तथा लेजिस्लेटिव एसेम्बली नामक दो सदनोंमें विभक्त कर दिया गया

जिनकी सदस्य-संख्या क्रमशः ६० और १४४ नियत हुई। उनकी अधिकार-वृद्धि भी हुई और निर्वाचन-क्षेत्र विस्तृत हुआ। प्रान्तोंमें द्वैध शासन स्थापित हुआ, संरक्षित विषयोंपर गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी का पूर्ण अधिकार था और हस्तान्तरित विषयोंपर प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौन्सिलके। जनता-द्वारा निर्वाचित सदस्योंमें-से नियुक्त किये जानेवाले मन्त्रियोंका विभिन्न जातियोंके प्रतिनिधित्व, प्रत्यक्ष निर्वाचन और मताधिकार-विस्तारको प्रश्रय दिया गया। म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, टाउन एरिया कमिटी आदिके अधिकारोंमें भी वृद्धि हुई और इन संस्थाओंको प्रान्तीय मन्त्रियोंके अधीन किया गया। नगरोंकी उन्नतिके लिए इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट स्थापित हुए। ग्राम-पंचायतोंके संगठनका सिलसिला १९०९ ई० के डीसेन्ट्रेलाइज़ेशन कमीशन (विकेन्द्रीकरण आयोग) की सिफारिशोंमें ही शुरू हो गया था, अब १९२२ ई० से स्थानीय अधिनियमों-द्वारा उनका उत्तरप्रदेश आदिमें व्यवस्थित संगठन प्रारम्भ हुआ। सर जान साइमनने भारतका दौरा करने तथा विभिन्न दलोंके नेताओंके विचार जान लेनेके उपरान्त सन् १९३० ई० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, तदनन्तर १९३०–३२ ई० मे लन्दनमें तीन गोलमेज कान्फ्रेन्सें हुईं जिनमें भारतीय नेताओंके साथ ब्रिटिश राजनीतिज्ञोंने भारतीय शासनके प्रश्नका विस्तार के साथ विवेचन किया। १९३३ ई० में श्वेतपत्र तैयार किया गया जिसके आधारपर अन्ततः १९३५ ई० का गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट पास हुआ। इसके अनुसार शासन-विधानमें भारी परिवर्तन हुए। अखिल-भारतीय संघ शासनकी स्थापना हुई। केन्द्रमें भी वायसरायकी सहायता के लिए व्यवस्थापिकाओं-द्वारा निर्वाचित मन्त्रि-परिषद्के बननेकी योजना हुई। सदनोंकी सदस्य-संख्या और अधिकारोंमें पर्याप्त वृद्धि हुई। प्रान्तोंमें तो प्रायः स्वायत्तशासनकी ही व्यवस्था हो गयी। जनसेवा-आयोग और संघन्यायालयकी भी स्थापना हुई। तथापि वायसराय और गवर्नरोंके अब भी अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार थे जिनके द्वारा वे आवश्यकता-

नुसार पूर्ण मनमानी कर सकते थे। साम्प्रदायिक एवं जातीय प्रतिनिधित्वके संरक्षणको भी आवश्यकतासे अधिक प्रोत्साहन दिया गया था। १९३७ ई० में निर्वाचन हुए और यह ऐक्ट कार्यान्वित हुआ, किन्तु १९३९ ई० में विश्वयुद्ध छिड़ जानेपर सरकारकी युद्ध-नीतिसे विरोध होनेके कारण मन्त्रिमण्डलोंने त्यागपत्र दे दिये और गवर्नरी शासन फिर चालू हो गया। १९४२ ई० मे सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स भारत आया और राष्ट्रीय नेताओंके साथ विचार-विमर्श करके उसने भारतीय संघकी एक योजना प्रस्तुत की। १९४४ ई० मे वायसराय वेवलने अपनी योजना प्रस्तुत की किन्तु देशके नेताओंके साथ कोई समझौता न हो सका। १९४५ ई० मे इंग्लैण्डसे एक कैबिनेट मिशन और एक पालियामेण्टरी डेलीगेशन भारत आये। अन्ततः सितम्बर १९४६ ई० में ब्रिटेनकी सरकारने भारतको स्वतन्त्रता प्रदान करनेका निश्चय कर लिया और देशमें एक अन्तरिम शासन स्थापित हुआ। ३ जून १९४७ ई० को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पास हुआ जिसके अनुसार १५ अगस्त १९४७ ई० को भारत अंग्रेज़ोंकी पराधीनतासे मुक्त हुआ। एक वर्षके लिए अन्तिम वायसराय लार्डमाउण्टबेटन ही भारतका प्रथम गवर्नर-जनरल होकर रहा, तदनन्तर १९४८-५० ई० तक चक्रवर्ती राजगोपालाचारी भारतके गवर्नर-जनरल रहे, इस बीचमें एक देशी विशिष्ट विधान निर्मातृ-सभा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारतका प्रजातन्त्रात्मक विधान निर्माण करती रही। आधुनिकतम आदर्शोंपर, देश-विदेशोंके विधानोंका सम्यक् अध्ययन करके भारतीयोंने ही अपने देशके लिए यह संविधान स्वयं बनाया, जो २६ जनवरी सन् १९५० ई० से कार्यान्वित हुआ। तबसे उक्त संविधानके अनुसार ही स्वयं भारतीय जन पूर्ण स्वतन्त्रताके साथ अपने देशका शासन कर रहे है, यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्तिकी एक प्रधान शर्तके अनुसार देशका एक बड़ा भाग पाकिस्तानके रूपमें उससे सर्वथा पृथक् फिर भी कर दिया गया।

ब्रिटिश राजकी कुदेनें—अंशतः लगभग दो-सौ वर्षके और पूर्णतः

लगभग सौ वर्षके ब्रिटिशराजने भारतवर्षको अनेक भयंकर कुदेनें प्रदान कीं जिनके कुफल यह देश ब्रिटिशराजके आरम्भसे ही भोगने लगा, कुछको अबतक भोग रहा है और सम्भवतया आगे भी न जाने कबतक भोगेगा। सबसे बड़ी कुदेन तो इस देशके इतिहासमें लग जानेवाला यह लज्जा-जनक अमिट कलंक है कि तीस करोड़से अधिक जन-संख्यावाले इस महान् प्राचीन देशको जो सभ्यता और संस्कृतिमें किसीसे पीछे नहीं था, जिसमें उस कालमें भी न राजाओं और राजनीतिज्ञोंका अभाव था और न शूर-वीर योद्धाओंका, हजारों मीलकी दूरीपर स्थित एक छोटे-से विजातीय विदेशने जिसका विस्तार, जन-संख्या, शक्ति और धन-वैभव भारतके एक राज्य या छोटे-से प्रान्तसे अधिक नहीं था, अपने मुट्ठी-भर निकृष्ट श्रेणीके तथा व्यापार के उद्देश्यसे आनेवाले प्रतिनिधियोंके छल-कौशल-द्वारा इतने सहज और सुगम रूपमें अधीन कर लिया। कुछ ही दशकोंके भीतर सम्पूर्ण देशपर, उसके समस्त प्राकृतिक सीमान्तोंके उस पार पर्यन्त, उनका प्रभुत्व छा गया और फिर एक शताब्दीसे अधिक काल पर्यन्त सुदूर इंग्लैण्डमें बैठे-बैठे ही वे अपने एक लाखसे भी कम प्रतिनिधियों-द्वारा तीस-चालीस करोड़ भारतवासियोंपर कुशलतापूर्वक शासन करते रहे। भारतमें सभी वर्गोंके अंग्रेजोंकी संख्या तीन-चार लाखसे अधिक कभी नहीं रही और इस प्रकार एक अंग्रेज एक हजारसे अधिक भारतवासियोंपर शासन करता रहा। साथ ही इस अंग्रेजी शासनका विपुल व्यय-भार भारतको वहन करना पड़ा। लन्दनके इण्डिया ऑफ़िससे लेकर भारतमें कार्य करनेवाले छोटेसे-छोटे अंग्रेज कर्मचारी या दफ़्तरके संरक्षण, व्यय, भारी-भरकम वेतन एवं विविध भत्तोंके रूपमें प्रति वर्ष करोड़ों रुपया इस देशसे इंग्लैण्ड जाता रहा। होम चार्जेजकी रहस्यमयी मदमें भी इंग्लैण्ड भारतसे विपुल द्रव्य निरन्तर पाता रहा। जो राजनैतिक, औद्योगिक अथवा अन्य प्रकारके आयोग या विशेषज्ञ इंग्लैण्डसे इस देशमें निरन्तर आते रहे उनका भारी खर्च अलग रहा। इंग्लैण्डके राजा, रानी, राजकुमारों आदिके भारत आगमनपर अथवा

वहाँके राजाओंके राज्याभिषेक आदि अवसरोंपर जो दरबार, जलूस और स्वागत-समारोह किये जाते रहे उनमें विपुल द्रव्य व्यय होता था। दूसरे देशोंके साथ होनेवाले इंग्लैण्डके महायुद्धोंमें भी इस देशको अनुमानातीत आर्थिक सहायता देनी पड़ी जिसके अतिरिक्त लाखों भारतीय वीरोंने अपने प्राण भी गँवाये तथा युद्धकालीन एवं युद्धोपरान्त आर्थिक संकटोंमें देश की जनताको पिसना पड़ा। शासनादि सम्बन्धी उपरोक्त विपुल व्यय-भार की पूर्ति इस देशकी जनतापर उत्तरोत्तर अधिकाधिक लादे जानेवाले विभिन्न, विविध, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष राज्य-करों और सरकारी ऋणों आदिसे की जाती थी। स्वर्ण-मुद्राको बन्द करके, चाँदीके रुपयेमें भी उसके मूल्यसे कम चाँदी रखकर और अन्ततः सस्ती धातुओं एवं कागजकी प्रतीक मुद्रा प्रचलित करके देशकी करेन्सीके साथ खिलवाड़ किया गया और उसके द्वारा भी जनताका शोषण हुआ। राजे-रजवाड़ोंके पूर्वसंचित द्रव्यको तो पहले ही बहुत कुछ लूट लिया गया था, जो शेष था या किसी प्रकार संचित होता उसे लूटनेके कई उपाय निकाल लिये गये। अनेक अवसरोंपर इंग्लैण्डके राजा-रानी, राजकुमारों आदिको मूल्यवान् भेंटें, कई-कई बार प्रत्येक वायसराय और उसकी लेडीको दिये जानेवाले मूल्यवान् उपहार, रेजीडेण्ट, पोलिटिकल एजेण्ट आदि अन्य अंग्रेज अधिकारियोंको दी जानेवाली घूसें, प्रत्येक राजा-रईसका इंग्लैण्डकी सैरके लिए जाकर वहाँ अपने वैभव प्रदर्शनको एक रिवाज बना देना, प्रत्येक राजा नवाबके पीछे एक-आध गोरी मेम लगा देना और इन निकम्मे आलसी राजा-नवाबों और रईस जमींदारोंको चरित्र-हीन एवं विलासी बना देना, छोटे-छोटे जमींदारों और रईसोंमें रायबहादुर, खाँबहादुर, राजा, रावराजा, सर आदि अनेक उपाधियोंको प्राप्त करनेका चस्का और होड़ लगा देना जिनके लिए वे अंग्रेज अधिकारियोंको घूस देनेमें विपुल द्रव्य व्यय कर डालते थे, इत्यादि अनेक उपाय काममें लाये जाते थे। टीमटाम, दिखावा, फ़ैशन-परस्ती, पश्चिमी सभ्यताका अविवेकपूर्ण अनुकरण और अंग्रेजोंकी बिना हेयोपादेय

का विचार किये नक़ल करना भारतीय जनताके विभिन्न वर्गोंमें छूतकी बीमारीकी नाईं फैलने लगे ।

देशके विदेशी व्यापारको अंग्रेज़ोंने बहुत पहले, १८वीं शताब्दीमें ही पूर्णतया अपने अधिकारमें ले लिया था, शनैः-शनैः आन्तरिक व्यापारके महत्त्वपूर्ण अंगोंपर भी वे छा गये । अनेक बैंकों, बीमा-कम्पनियों, विभिन्न एवं विविध व्यापार करनेवाली अंग्रेज ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनियों या प्राइवेट फ़र्मोंका देशमें जाल फैल गया । स्थान-स्थानमें उनके आफ़िस, डिपो और एजेन्सियाँ खुल गयीं । स्थानीय मरीजके व्यापारकी छोटी-मोटी दूकानदारी ही भारतीयोंके हाथमें अधिकतर रह गयी । इसपर भी सट्टे बधनी, स्टाक एक्सचेंज आदि अनेक वैध जुओंका चस्का भारतवासियोंको लगा दिया गया जिसके फलस्वरूप उनमें पड़नेवाले अधिकांश भारतीय अन्ततः बरबाद ही होते रहे किन्तु सरकार तथा उनके प्रधान संचालक अंग्रेज कम्पनियों या व्यक्तियोंको लाभ ही होता था । घुड़दौड़, लाटरी आदि अन्य अनेक प्रकार के द्यूत-व्यसन भी भारतमें फैलाये गये । और तारीफ़ यह कि व्यक्तिगत मनोविनोदके लिए थोड़ेसे पैसोंसे खेले जानेवाले देशी जुए तो दण्डनीय अपराध बना दिये गये और ये महाभयंकर सुव्यवस्थित भारी जुए वैध, क़ानूनी और सभ्य कहलाये । देशके अनेक विभिन्न एवं विविध उद्योग-धन्धे और व्यवसाय भी प्रायः सब १८ वीं से १९ वीं शतीके प्रारम्भ तक प्रयत्नपूर्वक नष्ट कर दिये गये थे । नवीन पश्चिमी ढंगके यान्त्रिक उद्योग-धन्धोंको प्रारम्भ करनेकी प्रवृत्ति और सुविधा भारतवासियोंको बहुत पीछे हुई । इसके पूर्व ही अंग्रेज़ोंने प्रायः सब ही महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान् धन्धोंपर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था । यथासम्भव यही प्रयत्न किया जाता था कि भारतमें उपयोगमें आनेवाली प्रत्येक छोटी-बड़ी वस्तु यहाँ इंग्लैण्डसे ही आये । अन्य देशोंमें बननेवाली वस्तुएँ श्रेष्ठतर एवं अधिक सस्ती होनेपर भी भारत सरकार-द्वारा उनपर लगाये गये अत्यधिक आयात-कर, तट-कर आदिके कारण वे इंग्लैण्डमें बनी वस्तुओंकी अपेक्षा

अत्यधिक मँहगी पड़ती थीं। यही नीति स्वयं भारतमें बनी वस्तुओंके साथ भी बरती जाती थी। स्वयं इस देशमें बनी वस्तुएँ भी इसी देशमें इंग्लैण्डमें बनी वस्तुओंकी अपेक्षा महँगी पड़ती थीं और उतनी अच्छी भी नहीं होती थीं। यन्त्रोंसे बनी छोटी-बड़ी दैनिक उपयोगकी फैशन, शौक और आराम की अनगिनत नयी-नयी वस्तुओंने देशकी रही-सही दस्तकारियों एवं हस्त-कलाओंका अन्त कर दिया। और जब इंग्लैण्ड आदिकी भाँति इस देशमें भी कुछ उद्योगी व्यवसायियोंने उन वस्तुओंमें-से कुछके निर्माणके लिए देशमें ही यान्त्रिक उद्योग-धन्धे प्रारम्भ किये तो उन्हें बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। सब आवश्यक यन्त्र और विशेषज्ञ आदि उन्हें इंग्लैण्डसे ही विपुल व्यय करके मंगाने पड़ते थे। जितना भाड़ा अंग्रेजी मालपर इंग्लैण्ड से भारतके तटपर पहुँचनेमें लगता था उससे अधिक देशी मालपर देशके भीतर ही रेल-द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जानेमें लग जाता था। अंग्रेजोंके साथ स्वतन्त्र व्यापारकी नीति बरती जाती थी तथा अंग्रेज व्यापारियों और व्यवसायियोंको सरकार सर्व-प्रकारकी सुविधाएँ और प्रोत्साहन देती थी। अंग्रेजोंकी यह स्पष्ट और निश्चित नीति थी कि भारतवर्ष इंग्लैण्डकी फ़ैक्टरियोंको विपुल एवं श्रेष्ठ कच्चा माल प्रदान करनेवाली उत्पादन-भूमि और उनके पक्के तैयार मालको निरन्तर खपाते रहनेवाला सुगम एवं लाभदायक बाजार बना रहे और ऐसा ही होता भी रहा। अंग्रेजोंने अपने शासनकालमें विश्वके अन्य सभी देशोंको इस विशाल देश का उपरोक्त द्विविध लाभ उठानेसे यथाशक्य वञ्चित रखा, स्वयं इस देश मे भी देशी उद्योग-धन्धोंको प्रोत्साहन न देकर वरन् उनमें बाधक बनकर उक्त द्विविध लाभपर अपना ही एकाधिकार अक्षुण्ण बनाये रखनेका प्रयत्न किया। फलस्वरूप भारतके बलपर इंग्लैण्ड अपने औद्योगिक एवं व्यापारिक विकासके चरम शिखरपर पहुँच गया। इसी शताब्दीके प्रारम्भमें पाण्ड्य मदुराके वीर चिदाम्बरम् पिल्लेने एक देशी जहाजी कम्पनी बनानेका प्रयत्न किया था जिसके कारण सरकारने उनपर राजद्रोहका अपराध

लगाकर उन्हें जेलमें सड़ाया। ऐसे न जाने कितने उदाहरण मिलेंगे। जहाज, रेल और उनके बनानेके कारखाने, जूट, नील, चाय, तम्बाकू (सिगरेट) आदिके उत्पादन, विभिन्न खनिजोंकी खानें इत्यादि इस देशके अनेक प्रधान व्यवसायोंपर अंग्रेजोंका पूर्ण एकाधिकार था और अबतक बहुत कुछ चला आ रहा है।

देशके धन और भूमिके चिरकालीन भयंकर शोषणने उसे बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी आदि दैवी विपत्तियोंसे लड़ने और स्वरक्षा करनेमें अशक्य एवं असमर्थ बना दिया। साथ ही उपरोक्त स्थितिके कारण ये दैवी प्रकोप आये भी बड़ी संख्यामें। १८५७ ई० के पूर्व अराजकता कालमें तो प्राकृतिक उत्पातोंके अतिरिक्त नित्यप्रति बने रहनेवाले लूट-मार, युद्ध, अशान्ति आदि मानुषी उपद्रवोंके कारण देश बराबर अकालपीड़ित-जैसा बना ही रहा और अन्नाभाव, दीर्घकालीन महामारियाँ, खेती-बारीकी अनिश्चितता एवं अरक्षा, यातायातकी कठिनाइयाँ सब मिलकर भीषण अकाल-जैसी स्थिति बनाये हुए थीं। उसके उपरान्त भी १८६१, १८६५–६६, १८७३–७४, १८७६–७८, १८९६–९७, १९०० ई० में देशके विभिन्न भागोंमें भयंकर दुर्भिक्ष पड़े। कभी-कभी उनके साथ भयानक बाढ़ों और भीषण एवं व्यापक प्लेग आदि महामारियोंका भी योग हो जाता। जनतामें इतनी शारीरिक या आर्थिक सामर्थ्य नहीं रह गयी थी कि साल दो सालके दुष्कालको अपने संचित अर्थ या शरीर-बलसे निकाल ले जायें। अतः इन अकालोंमें असंख्य देशवासी तड़प-तड़प कर भूखों मर गये। देशकी सामान्य शान्ति एवं यातायातकी बढ़ी हुई सुविधाओंके कारण अकाल या महामारीके प्रकोपसे मुक्त जिन अन्य प्रदेशोंसे अकाल-पीड़ितोंके सहायतार्थ धन या अन्न भिजवाया जाता वहाँ भी उस कारण आधा अकाल पड़ जाता। सरकारने अकाल-रक्षा कोष, अकाल और बाढ़-पीड़ितोंकी सहायता-योजनाएँ, महामारियोंको रोकने और उनके दमन करनेके उपाय आदि व्यवस्थाएँ कीं, किन्तु वे सब सदैव अपर्याप्त रहीं और देशकी भयंकर

स्तिका निवारण न कर सकीं। इन सब योजनाओं और व्यवस्थाओंको काफी विकसित कर लेने और सिंचाई आदिकी योजनाओंका अत्यधिक विकास कर लिये जानेपर भी गत पचास वर्षोंमें भी देशके विभिन्न भागोंमें कई भयंकर दुर्भिक्ष पड़ चुके है, अनेक विनाशक बाढ़ें आ चुकी है और कई बार महामारियाँ भड़क चुकी हैं।

सुशासित कहे जानेवाले देशके आन्तरिक प्रशासनके निम्न-स्तरोंमें भारी अत्याचार, अनाचार और भ्रष्टाचार था। देशवासियोंके सर्वथा निःशस्त्रीकरणने उन्हें स्वरक्षा एवं न्याय्य विद्रोहके लिए असमर्थ एवं अशक्त बना दिया था, उनके शौर्य, साहस और निर्भीकताको कुचल दिया था और उन्हें परमुखापेक्षी एवं कायर बना दिया था। देशकी बहुभाग जनता, ग्रामीण कृषक, छोटे-छोटे दस्तकार एवं श्रमिक और गाँवों, क़स्बों एवं नगरोंके छोटे-छोटे दूकानदार थे। और ये ही लोग निम्न वर्गके बहुसंख्यक राज्यकर्मचारियों-द्वारा निरन्तर पीसे जाते थे। एक लाल पगड़ी वालेको देखकर सारे ग्राममें अज्ञात विपत्तिकी आशंकासे शून्यता, भय और विषाद छा जाता था। जिला अधिकारियोंको घूस, रिश्वत आदिके द्वारा अपनी मुट्ठीमें रखनेवाले ज़मींदार और साहूकार पुलिस और अदालतोंके सहयोगसे इस ग़रीब जनसाधारणपर मनमाने अत्याचार करते थे, निरन्तर उनका लहू चूसते थे और उन्हें पनपने न देते थे। भारतीय पुलिस ज़ुल्मका आदर्श थी। कहीं किसी राजनैतिक, क़ानूनी या नैतिक अपराधके होनेका सन्देह मिलता कि सारे गाँव और बस्तीपर आफ़त आ जाती और भले आदमियोंका धन एवं इज्जत जी भरकर लूटा जाता। नित्य नये बननेवाले क़ानूनों और अदालतोंके जालने जनताकी नस-नस बाँध दी। अदालतोंके पण्डे, वकील और मुख्तार मुक़दमेबाजीको प्रोत्साहन देते। 'न कुछ' बात पर भाई-भाई और पड़ोसी-पड़ोसी आये दिन लड़ते रहते और उस लड़ाईका निपटारा करनेके लिए अनिवार्यतः इन वकील, मुख्तारों, पुलिस और अहलकारोंकी शरण लेते, अपनी शान्ति, समय, शक्ति और कारबार

नष्ट करते और जीवन-भरकी खून-पसीना एक करके सञ्चित की हुई कमाई उनकी जेबोंमें भरते, सदाके लिए ऋणके भारमें दब जाते और स्वयं अपनोंके शत्रु बन जाते। न्यायका ढोल बजाकर इस मुकदमेबाजीने देशकी जनताका जितना खून चूसा है, उसका जितना नैतिक पतन किया है और उसे अपंग बनाया है उतना शायद किसी अन्य चीजने नहीं। और इसके लिए अंग्रेज तो परोक्ष एवं अलक्ष्य रूपसे ही उत्तरदायी थे, वास्तविक एवं प्रत्यक्ष उत्तरदायी तो देशी वकील, मुख्तार, अदालतें, अहलकार और पुलिस-कर्मचारी थे। दुर्भाग्यसे मुकदमेबाजीका यह विष स्वतन्त्र भारतमें भी घटनेके बजाय और अधिक बढ़ रहा है।

देशमें अंग्रेजोंने शिक्षाका प्रचार किया, स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालय खोले, पर्याप्त-द्रव्य भी व्यय किया। किन्तु उसमें अंग्रेजोंका उद्देश्य भारतीयोंको वास्तवमें सुशिक्षित करके समुन्नत बनाना नहीं था। उनका मूल उद्देश्य तो अपने प्रशासनके निम्न स्तरोंमें काम करनेवाले बहुसंख्यक क्लर्क-बाबुओंका निर्माण करना था, जो अंग्रेजोंको अपना गुरु, आदर्श, स्वामी, अन्नदाता और सर्व-सर्वा समझें। और वे इस कार्यमें सफल भी हुए, इन राजभक्त एवं स्वामिभक्त बाबुओंके बलपर ही वे इतने काल तक इस देशपर कुशलतापूर्वक शासन कर सके। अपने उद्देश्य-की पूर्त्तिके लिए अंग्रेजोंने अंग्रेजीको शिक्षाका माध्यम बनाया तथा अंग्रेज अध्यापकों-द्वारा अंग्रेजी साहित्य, संस्कृति, कला और विज्ञानका अध्यापन कराया। अंग्रेज जातिके प्रगतिशील इतिहासके साथ-साथ अंग्रेज लेखकोंसे सोद्देश्य लिखाये गये भारतवर्षके ऐसे इतिहास पढ़ाये जिनसे पग-पगपर भारतीय छात्रोंको अपने देश, जाति, पूर्वजों और संस्कृतिकी हीनता का अनुभव हो और लज्जासे उनका सिर झुक-झुक जाये तथा अंग्रेजोंको वे अत्यन्त उदार, दयालु, सर्वाधिक सभ्य और सुसंस्कृत देवता समझने लगें, जिनसे उनकी शक्ति, बुद्धि और महत्ताकी तथा अपनी सर्वप्रकारकी हीनताकी अमिट छाप उनके हृदयमें पड़ जाये। और प्रायः यही हुआ।

अध्यापक और पाठ्य पुस्तकोंके लेखक बहुधा ईसाई पादरी होते थे जो छात्रोंको अपनी स्वदेशीय एवं स्वजातीय संस्कृतिका अनादर करना तो सिखाते ही थे उन्हें स्वधर्म और समाजका भी विद्रोही बना देते थे। ईसाई धर्म, पश्चिमी सभ्यता और अंग्रेजियतको ही वे सब-कुछ समझने लगते थे। शिक्षाप्राप्तिमें विपुल व्यय, सदोष परीक्षा-प्रणाली, डिग्रियोंका लोभ, अव्यावहारिक किताबी ज्ञान, आदि अनेक दोष इस शिक्षा-पद्धतिमें ऐसे थे जो शिक्षित भारतीयोंको सरकारी या गैर-सरकारी अंग्रेज़ी दफ़्तरोंकी बाबूगीरी, वकालत, अध्यापकी अथवा कुछ छोटी-छोटी अफ़सरी आदि करने के अतिरिक्त और किसी योग्य नहीं रहने देते थे। भारतीयोंके लिए इस शिक्षाका उद्देश्य डिग्रियाँ लेकर नौकरी करना था और नौकरियाँ कभी भी इतनी न होतीं कि उनमें सब सार्टीफ़िकेट या डिग्री प्राप्त भारतीय युवक खपाये जा सकते अतः अनेकोंको घोर निराशामें जीवन नष्ट करना पड़ता। देशमें फिर भी ९० प्रतिशतसे अधिक निरक्षर थे, और जब इन थोड़े-से शिक्षितोंकी यह दशा थी तो इस शिक्षासे देशको क्या वास्तविक लाभ हो सकता था यह अनुमान ही किया जा सकता है। सरकारी नौकरियोंमें भी प्रारम्भमें, बल्कि १९ वीं शती ई० के प्रारम्भ तक तो अंग्रेज अधिकारी भारतीयोंपर विश्वास ही नहीं करते थे और उन्हें सरकारी नौकरीके योग्य ही नहीं समझते थे। बादमें वे यह घोषणा करने लगे कि सरकारी नौकरीका द्वार प्रत्येक भारतीयके लिए खुला है, किन्तु तब भी किसी उत्तरदायित्व-पूर्ण या ऊँचे पदपर भारतीयोंको चाहे वे कितने ही योग्य हों नियुक्त न करते थे। १९वीं शती ई० के उत्तरार्धमें भी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी-जैसे अनेक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने आई० सी० एस० की परीक्षा में उत्तम सफलता प्राप्त की किन्तु उच्च नौकरी प्राप्त करनेसे वे वंचित रहे जब कि उनके साथके तथा उनसे कम योग्यतावाले अंग्रेजोंको प्राथमिकता दी गयी।

सरकारके प्रश्रयमें काम करनेवाले ईसाई मिशनोंके व्यवस्थित आल-

द्वारा भारतीयोंको ईसाई बनानेका प्रयत्न किया गया तथा निम्न जातियोंके असंख्य अशिक्षित दीन भारतीयोंको ईसाई बना डाला गया और उनके रूप मे अपने राज्यके स्थायित्वका इस देशमे एक स्थायी स्तम्भ निर्माण किया गया। ऐंग्लोइण्डियन या यूरेशियन गोरोंके रूपमें भी एक अन्य ऐसे वर्गका निर्माण किया गया।

अंग्रेजोंने इस देशमें साम्प्रदायिकताके तीव्र विषको भी स्वार्थके वशीभूत होकर खूब फूंका। सर्वधर्म समदर्शिता, बहुसंख्यकोंसे अल्पसंख्यकोंकी रक्षा, न्याय, उदारता आदिका बहाना लेकर उन्होंने हिन्दू और मुसलमानोंके बीच ऐसे फूट और वैमनस्यके बीज बो दिये जैसे कि पूर्व मुगल काल के सुलतानी शासन या औरंगजेबके कट्टर मुसलमानी शासनमें भी न थे। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरेके जानी दुश्मन हो गये, आये दिन साम्प्रदायिक दंगे और रक्तपात होने लगे, अन्ततः इस फूटका परिणाम देशका विभाजन हुआ। देशने अंग्रेजी शासन-कालमें जो अपनी स्वाभाविक प्राकृतिक एवं ऐतिहासिक पूर्णता एवं विस्तार प्राप्त कर लिया था यदि स्वतन्त्रताके उपरान्त भी वह बना रहता तो यह देश शीघ्र ही एक अत्यन्त समुन्नत एवं शक्तिसम्पन्न राष्ट्र हो जाता। किन्तु उससे अंग्रेजोंके स्वार्थोंको क्षति पहुँचनेकी भारी सम्भावना थी। अतः उन्होंने न केवल बर्मा, लंका, मलाया आदिको ही इस देशसे पृथक् करके स्वतन्त्र कर दिया, वरन् इस देशके भी दो बड़े खण्ड, एक सिन्ध, पंजाब एवं पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तके रूपमें पश्चिमी पाकिस्तान और दूसरा पूर्वी बंगालके रूपमे पूर्वी पाकिस्तान करके देशका खण्ड-खण्ड एवं संकुचित कर दिया। इतना ही नहीं कश्मीर, गोआ, चन्द्रनगर और अनगिनत देशी राज्योंकी समस्या भी उसीके सिर सुलझानेके लिए छोड़ दीं।

इस महादेशको धूर्ततापूर्वक गुलाम बनाने, दीर्घकाल तक उसे पूर्णतया गुलाम बनाये रखने, उसका सर्वप्रकार यथाशक्य शोषण करने और अत्यधिक नैतिक पतन कर लेनेपर अंग्रेज इसे छोड़कर गये भी तो क्षत-

विक्षत और अंग-उपांग विहीन करके गये और अनेक रूपोंमें अपना भूत पीछे छोड़ गये। अंग्रेजोंने भारतका पिण्ड छोड़ दिया किन्तु उनके भूतने देशका पिण्ड अभी भी नहीं छोड़ा है।

ब्रिटिश शासनकी सुदेनें—भारतवर्षके लिए जहाँ ब्रिटिशराजकी उपरोक्त अनेक घातक एवं अहितकर कुदेनें रहीं वहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान सुदेनें भो हैं। उसको सबसे बड़ी सुदेन देशके राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक पुनरुत्थानके बीज वपन करना था। चाहे जाने या अनजाने, इच्छा और प्रयत्नपूर्वक अथवा अनिच्छासे और अनायास ही, लक्ष्य रूपमे या अलक्ष्य रूपमें उन्होंने वैसा किया तथापि इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय राष्ट्रके वर्तमान सर्वतोमुखी पुनरुत्थानका श्रेय कमसे-कम अंशत: अंग्रेजोंको अवश्य ही है। देशकी जो प्राकृतिक, स्वाभाविक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पूर्णता थी उसे प्रथम बार राजनैनिक, आर्थिक एवं प्रशासकीय एकसूत्रतामें बाँधकर उन्होंने चरितार्थ और पुष्ट कर दिया। देशका विस्तार सभी दिशाओंमें उसकी वैज्ञानिक सीमाओं एवं अंग-उपांगों तक पहुँचा दिया। ऐतिहासिक कालमें ऐसे अनेक भारतीय नरेश हुए जिनमें-से कुछने पश्चिमोत्तर दिशामें काबुल और कन्दहारसे भी कुछ आगे तक अपने राज्यका विस्तार किया, कुछने पश्चिममें अरबसागर और ईरानको खाड़ीपर अपना प्रभुत्व रखा, कुछने उत्तरमें कश्मीर, नैपाल और भूटान ही नहीं तिब्बत तक अपने राज्यका विस्तार किया, कुछने पूर्वमें आसाम और अराकान तक ही नहीं ब्रह्म देश तक अपना प्रभावक्षेत्र बढ़ाया, और कुछने दक्षिण एवं दक्षिणपूर्वमें लंका, मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप-समूहके अनेक द्वीपोंपर अपना अधिकार विस्तार किया। किन्तु ऐसा कोई एक नरेश कभी नहो हुआ जिसने एक ही साथ उपरोक्त सभी सीमान्तों और सीमापार प्रदेशोंपर अपना प्रभुत्व जमाया हो। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक महान्, समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन खिलजी, अकबर या औरंगजेब, इन महान् सम्राटोंमें-से एक भी ऐसा न था जिसने

सम्पूर्ण देशपर भी अपना पूरा, अधूरा या नाममात्रका अधिकार फैला पाया हो। देशका किसी-न-किसी दिशामें और कुछ-न-कुछ भाग उनके आधिपत्यके बाहर रहा हो। चक्रवर्ती सम्राट्का जो प्राचीन भारतीय आदर्श था उसकी सिद्धि इतिहासकालमें यदि कभी हुई तो ब्रिटिश शासनके अन्तर्गत ही, और उसके अन्तके साथ ही वह भंग भी हो गयी या कर दी गयी। किन्तु एक बार प्राप्त हो जानेवाली तथा एक शताब्दी पर्यन्त स्थायी बनी रहनेवाली वह पूर्णता एवं एकता फिरसे भग्न और खण्डित हो जाने पर भी यह प्रदर्शित कर गयी कि वह कितनी सुगम, सम्भव और आवश्यक थी। स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्रके लिए वह एक सजीव प्रेरणा बन गयी जो उसे निरन्तर यह स्मरण दिलाती रहेगी कि उक्त मौलिक पूर्णता एवं एकताकी पुनः प्राप्ति राष्ट्रीय सत्ताका एक अनिवार्य कर्त्तव्य है।

देशने जैसे सुव्यवस्थित, सुविस्तृत, सुसञ्चालित एवं केन्द्रित प्रशासनका तथा उससे उत्पन्न शान्तिपूर्ण वातावरण, सुरक्षा, व्यक्तिगत व्यवहार स्वातन्त्र्य आदिका उपभोग इस कालमें किया था वैसा शायद ही पहले कभी किया था। उसकी उत्तमता इसी बातसे स्पष्ट है कि स्वतन्त्र होनेके बाद भी हमारे अपने वर्तमान प्रशासकोंने उसे प्रायः ज्योंका-त्यों अपना लिया और चालू रखा है। उसमें अनेक दोष, त्रुटियाँ या कुप्रथाएँ भी थीं, यथा नित्य नये असंख्य क़ानून बना-बनाकर उनका अम्बार लगाना, मुक़दमेबाजी, प्रशासनके विभिन्न भागोंमें भ्रष्टाचार और प्रशासन-व्यय, पुलिस आदिकी अनुत्तरदायित्वपूर्ण ज्यादतियाँ, सरकारी ऋणों, करों आदिमें अनावश्यक वृद्धि, प्रचलित शिक्षा-पद्धतिके दोष, राजकीय सेवाओंकी नियुक्तियोंमें बहुधा सिफ़ारिशों, रिश्वतों या पक्षपातका प्रयोग, इत्यादि। तथापि ब्रिटिश कालके उपरोक्त सुव्यवस्थित सुशासनको ही इस बातका श्रेय है कि इतने विशाल देशका सत्ताहस्तान्तरण जिसका अर्थ था राजतन्त्रके स्थानमें प्रजातन्त्र, पराधीनताके स्थानमें स्वाधीनता, विदेशी शासनके स्थानमें स्वदेशी शासन, सर्वोच्च पदोंपर अंग्रेज़ोंके स्थानमें भारतवासियों

की नियुक्ति, सेना और अर्थ-व्यवस्थाका भी हस्तान्तरित होना इत्यादि, इतनी आश्चर्य-जनक सुगमता, सरलता, शीघ्रता एवं शान्तिके साथ सम्पादित हो गया। ऐसी महान् क्रान्तिके इस प्रकार सम्पादित होनेका विश्वके पूरे इतिहासमें शायद एकाध ही उदाहरण मिले तो मिले। और इसका प्रधान श्रेय उक्त शासनव्यवस्थाको तथा कुछ अंशोंमें तत्कालीन अंग्रेज राजनीतिज्ञोंको है। इसमें भी सन्देह नहीं कि अब भारतीय शासन अंग्रेजों के नफ़ेका नहीं वरन् घाटेका व्यापार रहता जाता था। जैसे ही उस चतुर व्यापारी जातिने यह अनुभव किया उन्होंने भारतको स्वतन्त्रता प्रदान करने का यश भी घातेमें लूटनेकी परम बुद्धिमानी की, यद्यपि देशके टुकड़े-टुकड़े करके अपनी उदाराशयताको उन्होंने कुछ कलंकित ही किया।

किन्तु अंग्रेज इस देशसे क्यों चले गये और भारत स्वतन्त्र कैसे हो गया, इन प्रश्नोंका उत्तर है देशमें उदित राष्ट्रीयताकी भावनाका विकास और फलस्वरूप किये गये स्वातन्त्र्य-आन्दोलनकी उत्कटता। अंग्रेजोंने भारतवासियोंके हृदयमें राष्ट्रीयताकी भावनाका उत्पन्न होना और पनपना कभी भी नहीं चाहा और न स्वातन्त्र्य-आन्दोलनको कोई प्रोत्साहन दिया, वरन् उन्होंने समय-समयपर अपना अत्यन्त क्रूर एवं भयंकर दमनचक्र चलाकर इन दोनोंका मूलोच्छेद करनेका ही भरसक प्रयत्न किया। तथापि इन दोनोंके उदय और विकास एवं अन्तिम सफलताका भी श्रेय अनेक अंशों में अंग्रेजोंको और उनके शासनको है। अंग्रेज जाति चिरकालसे राजनैतिक स्वातन्त्र्यका उपभोग करती आयी थी। भारतपर राज्याधिकार स्थापनके कुछ पूर्वसे ही उनका देश नामके लिए राजतन्त्र किन्तु वास्तवमें प्रजातन्त्रका रूप लेता आ रहा था। भारतसे होनेवाले कल्पनातीत आर्थिक लाभके कारण उनके देशने द्रुत-वेगसे उन्नति की थी। उसके उद्योग-धन्धे, व्यापार-व्यवसाय, शक्ति-समृद्धि, प्रभाव और साम्राज्य विस्तार ही न केवल शीघ्रताके साथ अत्यधिक बढ़ गये और उन्होंने उसे विश्वकी प्रधान शक्ति बना दिया, वरन् शिक्षा, साहित्य, ज्ञान एवं विज्ञानकी भी उस देशमें अभूत-

पूर्व उन्नति हुई और उसकी शासनप्रणाली अधिकाधिक जनतन्त्रात्मक होती चली गयी। शक्ति, सत्ता और समृद्धिके साथ शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिके योगने अंग्रेज़ोंके जातीय चारित्र्यको भी उन्नत एवं परिष्कृत किया, तथा उनमें बुद्धिमत्ता, विवेक, दूरदर्शिता, उदारता, सहिष्णुता, न्याय-परायणता और स्वतन्त्र विचारक्षमताका पोषण किया। वहाँकी सत्ताधीश पार्लियामेण्ट द्विदलीय रही जिसमें एक दल नरम उदार परहितापेक्षी और शान्तिप्रिय रहा और दूसरा गरम अनुदार स्वहितापेक्षी और प्रतिक्रियावादी रहा। जब जिस दलके हाथमें सत्ता आ जाती उसीकी नीतिका प्रभाव उस देशके ही शासनमें नहीं भारतके प्रशासनमें भी लक्षित होता, और वायस-राय आदि उच्च पदाधिकारी भी उसी दलके सदस्यों या पक्षपातियोंमें-से नियुक्त किये जाते। अतः भारतके गवर्नर-जनरलों और वायसरायोंमें कभी गरम और कभी नरम नीतिका प्रायः एकके अनन्तर दूसरीका प्रयोग करने वाले व्यक्ति आते रहे। प्रारम्भसे ही उदार दलवाले भारतके समुचित सुशासन, शासनमें भारतीयोंके सहयोग और अधिकारोंकी वृद्धि, भारतीयों की शिक्षा-दीक्षा आदि बातोंको उठाते रहे, वे दूसरे पक्षको गरम अनुदार स्वार्थी अत्याचारी आदि नीतिकी खुली कटु आलोचना करते रहे और जब कभी उनके हाथमें सत्ता आ जाती तो वे अपने विचारोंको पूर्णतः या अंशतः क़ानून बनाकर अथवा विज्ञप्तियों, घोषणाओं और आदेशों-द्वारा कार्यान्वित करनेका प्रयत्न करते। भारतवासी जिनमेंसे अनेक अंग्रेज़ोंके सम्पर्कमें आते थे, बहुतसे शिक्षित भी होते जाते थे, कुछ एक यूरोपकी यात्रा भी कर आते थे और अनेक उदार एवं मनीषी अंग्रेज़ोंसे विचार-विनिमय करते थे, इन विचारोंसे अवगत होने लगे और स्वयं सरकार-द्वारा ही घोषित किये गये अधिकारोंकी माँग करने लगे। रेल, डाक, तार, समाचार-पत्र आदिकोंके प्रचलनने ऐसी माँगोंका देशके विभिन्न भागों और वर्गोंमें प्रचार होनेमें अभूतपूर्व सहायता दी। हिन्दू, जैन, सिख, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि तथा बंगाली, मद्रासी, महाराष्ट्रियन, पंजाबी, गुजराती

और कथित हिन्दुस्थानी सभी प्रान्त, धर्म, वर्ण, जाति आदिके किसी भेदके बिना एकदेशीयता, एकराष्ट्रीयता और एकजातीयताका अनुभव करने लगे। हमारा देश और इस देशके हम-सब निवासी शासित हैं, विदेशी अंग्रेज हमारे शासक हैं, इन शासकोंके कुशासन या प्रशासकीय दोषोंकी आलोचना करना और अपने न्याय्य अथवा उन्हींके द्वारा प्रदत्त या सुझाये गये उचित अधिकारोंकी माँग करना हमारा जन्मसिद्ध मानवी अधिकार है, ऐसी भावना बलवती होने लगी। जो प्रतिभासम्पन्न, प्रभावशाली और साहसी होते थे वे सार्वजनिक भाषणों, समाचार-पत्रों, स्मृति-पत्रों अथवा उच्च अधिकारियोंके साथ व्यक्तिगत भेंटोंके द्वारा सरकारसे टक्कर लेने लगे। नरम दलके शासनमें उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित की जाती, आश्वासन दिये जाते, कुछ अधिकार और सुविधाएँ भी प्रदान कर दी जातीं। किन्तु तदुपरान्त जब गरम दलका शासन प्रारम्भ होता तो प्रतिक्रिया होती और सरकारकी आलोचना एवं अधिकार-माँगको राजद्रोह और धृष्टता माना जाता। उससे नेताओं और उनके अनुयायियोंका क्षोभ बढ़ता और आन्दोलनमें कुछ गरमी आती तो दमनचक्र चलाया जाता। फलस्वरूप सारे देशमें सरकारकी निन्दा होने लगती और आन्दोलन और अधिक उग्र रूप धारण करने लगता। दमन नीति उसे अस्थायी रूपमें दबा देनेमें सफल भी हो जाती तो देशकी सहानुभूति आन्दोलनकर्त्ताओंके साथ और अधिक बढ़ जाती और स्वयं इंग्लैण्डमें पदच्युत नरम दल सत्ताधीश गरम दलकी कटु आलोचना करने और उसे पदच्युत करनेका नया बहाना ढूँढ लेता तथा भारत और उसके नेताओंके साथ सहानुभूति एवं समवेदना प्रदर्शित करता। सत्ता प्राप्त करनेपर वह पूर्व माँगोंके अनुसार भारतीयों को कुछ अधिकार प्रदान करता। किन्तु इस बीचमें भारतीयोंकी माँगें उससे कहीं अधिक बढ़ चुकी होती, अतः उस अधिकार प्रदानसे भारतीयों को कुछ भी सन्तोष न होता और आन्दोलन दबनेके बजाय और अधिक बल पकड़ता और प्रगतिवान् हो जाता। ब्रिटिश शासनके प्रायः प्रारम्भसे अन्त

तक यही क्रम चालू रहा। स्वयं अंग्रेजोंने ही भारतीयोंको अपने विरुद्ध लड़ना सिखाया, उसकी विधि और पद्धति बनायी और उसके साधन भी प्रदान किये। अतः इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि राष्ट्रीयताकी भावना और स्वातन्त्र्य-आन्दोलनकी उत्पत्ति, विकास एवं सफलताका श्रेय अनेक अंशोंमें अंग्रेजों एवं अंग्रेजी शासनको है।

भारतवर्ष लोककी अपेक्षा परलोक, स्वार्थकी अपेक्षा परमार्थपर दृष्टि रखनेवाला शान्तिप्रिय धर्मप्राण आध्यात्मिक देश है। निर्लोभ, सन्तोष, सदाचार, सच्चाई, सादगी, दया, समवेदना, उदारता, सहिष्णुता, स्वावलम्बन और स्वनिर्भरता आदि गुण इस देशके निवासियोंके सदैवसे सामान्य गुण रहते चले आये हैं। निजस्थान और वातावरणका प्रबल मोह उनमें बराबर रहता आया है। प्रतिभा, मेधा, विद्या-व्यसन और विचारशीलतामें वे कभी किसीसे पीछे नहीं रहे। स्वार्थ-त्याग और आत्म-बलिदानकी अपूर्व वीरता, निर्भीकता और साहस इस दान-प्राण देश-जैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। धर्मवीर ही कर्मवीर हो सकता है यह इस भारतीय जातिका आदर्श रहा है और इसकी स्वतन्त्रता स्वबन्धन अर्थात् अपने कर्त्तव्य-पालन और दूसरोंके अधिकारोंका आदर करनेमें सदैव जागरूक बने रहनेपर आधारित रही है। निरंकुश, अविवेकी, स्वार्थान्ध, पैशाचिक आततायियोंके छल-बलके सम्मुख इस देशको अनेक बार पराभूत होना पड़ा। किन्तु वह पराभव सर्वदा आंशिक एवं अल्प स्थायी रहा और भारतकी भारतीयता तथा उसके स्वातन्त्र्य-प्रेमको वह कभी भी निःशेष न कर सका। अंग्रेजोंसे पूर्व जो और जितने भी विदेशी आक्रान्ता इस देशपर शासन करनेकी नीयतसे आये उन्हें यहींका होकर रहना पड़ा, उन्हें भारतीयताके रंगमें रंगना पड़ा और इस देशमें स्वयंको आत्मसात् करना पड़ा। देशका धन सदैव देशमें ही रहा, देशके उन्नत उद्योग-धन्धों और व्यापार-व्यवसायके कारण विदेशोंका भी धन खिंच-खिंचकर इस देशमें आता रहा। देशकी आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति और बहुभाग लोक-जीवनपर भी

विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। देशकी नब्बे प्रतिशतसे अधिक जनता सदैव ग्रामीण कृषक, कृषि-श्रमिक, दस्तकार और कारीगर तथा छोटे-छोटे दूकानदारों एवं व्यापारियोंकी रही है जो देशके निम्न तथा निम्न-मध्यवर्ग थे और अब भी हैं। मुसलमानोंके भारत-प्रवेशसे पूर्वकी तो बात ही क्या, दिल्लीके तुर्की सुलतानों एवं प्रान्तीय मुसलमान नरेशोंकी भी प्रत्यक्ष पहुँच इस बहुभाग जनता तक थी ही नहीं। और जैसा कि कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ ठाकुरने सन् १९३१ ई० में अंग्रेज मनीषी एच० जी० वेल्ससे कहा था—'मुगल शासक भी गाँवोंके प्रगतिशील सामाजिक जीवनमें कोई हस्तक्षेप नहीं करते थे। दरबारी शासकोंके बावजूद भी जातीय जीवनकी धारा सहजरूपसे चली आ रही थी। मुसलमान शासकोंने (अंग्रेजोंकी भाँति) कोई शर्तें घोषित नहीं कीं और न भारतीय शिक्षा-दाताओं और ग्राम-वासियोंको अपने आदर्शपर चलनेके लिए पीड़ित किया।' वास्तवमें प्रत्येक ग्राम अपने नम्बरदार, मुखिया, चौकीदार, पटवारी, दुकानदार, साहूकार तथा विभिन्न आवश्यक कार्य करनेवाले व्यक्तियोंसे पूर्ण और अपनी शुद्ध जनतन्त्रीय ग्राम पंचायतसे शासित पूर्णतया आत्म-परिपूर्ण, स्वनिर्भर और स्वतन्त्र था। साम्प्रदायिक एवं जातीय पंचायतें अनेक ग्रामों, नगरों और पूरे-पूरे प्रदेशोंकी जनताको अपने स्वायत्त शासनमें बाँधे हुए थीं। राजा-महाराजाओं, सुलतानों और बादशाहोंकी स्वाधीनता-पराधीनता उनमें स्वयं में परस्पर एक दूसरेके सम्बन्धसे थी, सामान्य जनताका उससे कोई सरोकार या विशेष हानि-लाभ नहीं था। किन्तु अपने राज्य या प्रदेशकी स्वाधीनताके संग्राममें भाग लेनेके लिए यदि सामान्य जनताका आह्वान किया जाता तो कभी-कभी वह भी उसमें सहर्ष भाग ले लेती। किन्तु प्रथम तो उपरोक्त पराधीनता भी प्रायः अल्पस्थायी और परिवर्तनशील रहती थी, दूसरे ये स्वाधीनता संग्राम भी क्षणिक एवं अल्प हानिकर होते थे, तथापि वे देशकी समस्त जनताको सदैव सजग सचेष्ट और आत्म-रक्षा में समर्थ बनाये रखते थे। १९४७ ई० में प्राप्त स्वतन्त्रताकी नदीके

वास्तविक अटूट एवं अजस्र उद्गम स्रोत भारतवर्षकी उपरोक्त भारतीयता, स्वभाववैशिष्ट्य और सनातन संगठनमें ही अन्तर्निहित हैं। उन्हें अन्यत्र खोजना व्यर्थ है। अंग्रेजोंने इन स्रोतोंको सुखा डालनेका सर्व-प्रथम भगीरथ प्रयत्न किया किन्तु साथ ही उनके फूट पड़नेके अन्य द्वार स्वतः ही खोल दिये जिनके कारण ये मूलस्रोत भी सर्वथा न सूख पाये। राष्ट्रीयताकी भावना और स्वातन्त्र्य-आन्दोलनने इन स्रोतोंको सूखनेसे रक्षा की और इन्होंने द्विगुणित वेगके साथ बहकर आन्दोलनको अभूतपूर्व बल एवं प्रगति प्रदान की।

कम्पनीके शासन-कालमें उसके अन्त तक देशी नरेश अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्तिके लिए युद्ध करते रहे। जिन बंगाल, मद्रास आदि प्रदेशोंपर अंग्रेजी शासन कुछ स्थायी हो गया था वहाँ संन्यासी विप्लव और वैलोर विद्रोह-जैसी घटनाएँ होती रहीं। १८५७ ई० में एक अत्यधिक व्यापक सामरिक प्रयत्न भारतको अंग्रेजी राज्यसे मुक्त करानेके लिए किया गया। १९वीं शतीके पूर्वार्धमें ही राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदिने देशको जागृत करनेका प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। कम्पनीके १८१३, १८३३ और १८५३ ई० के आज्ञापत्रों, १८५४ ई० की चार्ल्सवुड की भारतीय शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्ट, १८५८ ई० कीम हारानी विक्टोरिया की विज्ञप्ति और १८६१ ई० के इण्डिया कौन्सिल ऐक्ट आदिके फलस्वरूप अनेक भारतीय अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने लगे थे और प्रचलित शासनके अन्तर्गत अपने वैध अधिकारोंसे अवगत होने लगे थे। स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, श्रीमती एनीबेसेण्ट, स्वामी आत्माराम आदिने धर्म और समाज सुधारके आन्दोलन चलाकर देशको जागृत करना प्रारम्भ कर दिया था। १८७६ ई० में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आनन्दमोहन बोस, द्वारकानाथ गांगुली आदिने भारतीय संघकी स्थापना की, गोखले और रानाडेने सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटीकी स्थापना की, और हिन्दू महासभा, जैन-महासभा, लाहौरकी अंजुमन आदि

अनेक सभा-सोसाइटियाँ भी स्थापित हुईं। लार्ड रिपन-द्वारा वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट रद्द कर दिये जानेसे विभिन्न देशी भाषाओंमें भी स्वतन्त्रतापूर्वक समाचारपत्र निकलने लगे। लोगोंको अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करनेके तथा उन्हें अपने अन्य देशवासियों तक पहुँचानेके लिए अनेक साधन बन गये। इन सबने मिलकर राजनैतिक आकांक्षाओंको प्रबल एवं पुष्ट करना शुरू कर दिया। १८८५ ई० में ए० ओ० ह्यूम नामक एक अंग्रेज सिविलियनने सर विलियम वेडरबर्न, सर हेनरीकाटन, जार्ज यूल आदि उदारहृदय अंग्रेजों और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, फ़ीरोज-शाह मेहता, दिनशा वाचा, बदरुद्दीन तैयबजी, के० टी० तैलंग, महादेव गोविन्द रानाडे आदि भारतीय अग्रगामी सज्जनोंके सहयोगसे बम्बईमें इण्डियन नेशनल कांग्रेसकी स्थापना की। व्योमेशचन्द्र बनर्जी उसके प्रथम सभापति बने। प्रारम्भसे ही कांग्रेसको पूरे देशका प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। उस समय सरकारके प्रति कांग्रेसका भाव पूर्ण मैत्रीका था और बहुत पीछे तक इस संस्थाका लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करनेका बना रहा। १८८६ ई० में वायसराय डफ़रिनने कांग्रेसी नेताओंको कलकत्तेके राजभवनमें प्रीतिभोजके लिए आमन्त्रित किया। किन्तु उसके उपरान्त ही कांग्रेसने अपनी नीति विरोधात्मक एवं आलोचनात्मक बना ली अतः सरकार उसे शंकाकी दृष्टिसे देखने लगी और १८९० ई० में आज्ञा प्रचारित कर दी गयी कि कोई सरकारी कर्मचारी उसमें भाग न ले। मुसलमानोंके नेता सर सैयद अहमदखाँने कांग्रेसका विरोध किया और १८८८ई० में अपर इण्डिया मुसलिम एसोसियेशनकी स्थापना की, फिर भी कांग्रेसके छठे अधिवेशनमें २२ प्रतिशत मुसलमान थे। १८८९ ई० में चार्ल्स ब्रैडला नामक पार्लियामेण्टका एक सदस्य कांग्रेस अधिवेशनमें सम्मिलित हुआ और फलस्वरूप १८९२ ई० का ऐक्ट पास हुआ। किन्तु जनताका असन्तोष बढ़ता ही गया। महाराष्ट्रमें लोकमान्य बालगंगाधर तिलकने राष्ट्रीय आन्दोलनको अत्यन्त उग्र रूप दिया। उन्होंने अपने 'केशरी'

नामक मराठी समाचारपत्रमें सरकारकी तीव्र कटु आलोचना करनी प्रारम्भ की और विद्यार्थियोंको उत्तेजित किया। उनका पत्र बन्द कर दिया गया और स्वयं उन्हें जेलमें डाल दिया गया। पंजाबमें लाला लाजपतराय और बंगालमें विपिनचन्द्र पाल भी उन्हींकी नीतिके समर्थक थे। कांग्रेसमें अब नरम और गरम दो दल हो गये। बाल, पाल और लालकी त्रिकुटी गरम दलकी नेता थी और दादाभाई, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, फ़ीरोज़शाह मेहता, मदनमोहन मालवीय आदि नरम नीतिके समर्थक थे। नरम नीतिवाले वैध उपायोंसे शान्तिपूर्ण याचनाके पक्षमें थे। गरम दल कहता था राजभक्तिका ढोंग छोड़ो, चापलूसीके प्रस्ताव पास करनेसे स्वराज्य नहीं मिलेगा। कलकत्तेके १९०६ ई० के कांग्रेस अधिवेशनमे दोनों दलोंका विरोध स्पष्ट हो गया और १९०७ ई०के सूरत अधिवेशनमे वे पृथक्-पृथक् हो गये। १९०६ ई० में आगाखाँके नेतृत्वमें मुसलमानोंका एक डेपुटेशन वायसराय मिण्टोसे मिला था और उसने पृथक् निर्वाचनकी माँग की थी। इसी वर्ष मुसलिम लीगकी स्थापना हुई। इसके कुछ पूर्व ही १९०४–०५ ई० मे जापानने रूसको बुरी तरह पराजित कर दिया था और लॉर्ड कर्जनने बंगालका विभाजन कर दिया था। इन कारणोंसे बंगालमें बड़ी उत्तेजना फैली और बंगभंग आन्दोलन शुरू हुआ। गुप्त क्रान्तिकारी दलोंकी भी स्थापना यत्र-तत्र होने लगी। महाराष्ट्रमे तिलकका प्रभाव पर्याप्त प्रसारित हो गया। १९०७–०८ ई० से यत्र-तत्र बमबाजी और अंग्रेज अधिकारियोंकी गुप्त हत्याके प्रयत्न भी प्रारम्भ हो गये। तिलकको क़ैदमें डाल दिया गया तथा लाजपतराय, अजीतसिंह आदि कई नेताओंको निर्वासित कर दिया गया। प्रेसपर कड़ा नियन्त्रण लगाया गया और राजद्रोह दमन करनेके लिए क़ानून बनाया गया। किन्तु थोड़े समय बाद ही १९०९ ई० के ऐक्ट-द्वारा आँसू पोछनेका प्रयत्न किया गया। तथापि बमबाजी चालू रही। १९१२ ई० में राजा-रानीके स्वागतमें दिल्लीदरबारके अवसरपर वायसराय हार्डिन्जपर बम फेंका गया।

क्रान्तिकारी दलकी हिंसक नीतिने भीषण दमन-चक्र चलानेके लिए सरकार को उपयुक्त बहाना प्रदान कर दिया। १९१४ ई० में यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। भारतने पूरा सहयोग और सहायता दी, कांग्रेसने भी कोई विरोध नहीं किया। युद्धकालमें श्रीमती एनीबेसेण्टने होमरूल आन्दोलन चालू कर दिया और अपने पत्र 'न्यू इण्डिया' द्वारा उसका उत्साहपूर्वक प्रचार किया। १९१६ ई० के लखनऊके कांग्रेस अधिवेशनमें नरम और गरम दल फिर मिलकर एक हो गये, मुस्लिम लीगके साथ भी समझौता किया गया जो लखनऊ पैक्ट कहलाया और स्वायत्त-शासनकी सरकार से माँग की गयी। कांग्रेसने एनीबेसेण्टके होमरूल आन्दोलनको भी अपना लिया। भारत-सचिव मोन्टेग्युने भारतकी युद्ध-सेवाओंको स्वीकार करते हुए उसे सन्तुष्ट करनेका आश्वासन दिया और १९१९ ई० का ऐक्ट पास कराया। किन्तु इसके पूर्व ही राज-द्रोहके दमनके लिए रौलट ऐक्ट पास कर दिया गया था जिसके फल-स्वरूप अमृतसरमें डायरगर्दी मची और जनतापर भयंकर अत्याचार किया गया। लोकमान्य तिलककी इसी वर्ष मृत्यु हुई, महायुद्धका भी अन्त हुआ और महात्मा गाँधीने जो दक्षिण अफ्रीकामें गोरे लोगोंके विरुद्ध छेड़े गये आन्दोलनके कारण पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे, भारतीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलनमें पदार्पण किया। उन्होंने रौलट ऐक्ट और जलियाँवाले बाग़के हत्या-काण्डका तीव्र विरोध किया तथा जनताको असहयोग आन्दोलन चालू करनेकी सलाह दी। तुर्की को युद्धमें घसीटने एवं खिलाफ़तको नष्ट करनेके कारण मुसलमान भी अंग्रेजोंसे रुष्ट हो गये थे और उन्होंने खिलाफ़त आन्दोलन छेड़ दिया। महात्मा गाँधीने जो अब कांग्रेस तथा स्वातन्त्र्य-संग्रामके नेता बन गये थे और पूर्ण अहिंसक नीतिके पालक थे, खिलाफ़त आन्दोलनको अपनाकर मुसलमानोंको भी अपना सहयोगी बना लिया। १९२१ ई० में असहयोग एवं खिलाफ़त आन्दोलनने बड़ा उग्ररूप धारण किया। स्कूल, कॉलेज बन्द हो गये, अनेक वकील-मुख्तारोंने वकालत छोड़ दी, कुछ लोगोंने सरकारी

उपाधियाँ त्याग दीं, बहुत-से सरकारी कर्मचारियोंने पदत्याग कर दिया, विलायती वस्त्रोंकी होलियाँ जलीं, विदेशी वस्तुओंका बहिष्कार हुआ और चर्खा एवं खद्दरकी धूम मच गयी। किन्तु मोपला विद्रोह और चौराचौरी काण्डने आन्दोलनको भारी आघात पहुँचाया। सरकारका दमन-चक्र जोरों के साथ चल पड़ा, महात्मा गांधी, अन्य अनेक नेता और हजारों कार्यकर्त्ता जेलोंमें ठूँस दिये गये। हिन्दू-मुसलमानोंमें परस्पर फूट और वैमनस्य उत्पन्न करा दिया गया जिसके फल-स्वरूप कोहाट आदिमें भीषण साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। १९२३ ई० मे कांग्रेसके अवशिष्ट नेताओंमे भी कौन्सिल प्रवेशके प्रश्नपर फूट पड़ गयी। चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू-जैसे नेता कौन्सिल प्रवेशके पक्षमे हो गये। १९२६ ई० मे लार्ड इरविन वायसराय हुआ, उसने शान्तिप्रिय नरम नीति बरती। नेताओंको जेलसे मुक्त कर दिया और हिन्दू-मुसलमानोंमें मेल करानेका प्रयत्न किया। १९२७ ई० में साइमन कमीशन आया जिसका कांग्रेसके नेतृत्वम देशने बहिष्कार किया। १९२९ ई० में कांग्रेसके लाहौर अधिवेशनने पं० जवाहर लाल नेहरूके सभापतित्वमें कांग्रेसका लक्ष्य 'पूर्ण स्वाधीनता' घोषित किया। महात्मा गांधीके नेतृत्वमें कांग्रेसने सविनय आज्ञाभंग और सत्याग्रह-आन्दोलन चालू किये, और नमक कानून तोड़ा। सारे देशमें स्वातन्त्र्य आन्दोलन भड़क उठा। अब यह आन्दोलन नगरों एवं मध्यवर्गके शिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं था, व्यापारी, श्रमिक और ग्रामीण जनताने भी इस आन्दोलनमें बड़े उत्साहसे भाग लिया। सरकारने फिर महात्मा गांधी और उनके सहयोगियों एवं अनुयायियोंको लाखोंकी संख्यामें जेलमें ठूँसा, किन्तु आन्दोलन न दबा। बेहद मन्दी और बढ़ती हुई बेकारीने जनताके असन्तोष एवं अशान्तिमें और अधिक वृद्धि की। सर तेजबहादुर सप्रू और जयकरने कांग्रेस तथा सरकारके बीच समझौता करानेका विफल प्रयत्न किया। १९३० ई० में ही प्रथम गोलमेज कान्फ्रेन्स हुई किन्तु कांग्रेस उससे अलग रही। १९३१ ई० में इरविनने गांधीजी व अन्य राजनैतिक

बन्दियोंको मुक्त कर दिया और गांधी-इरविन समझौता हो गया। १९३१ ई० की दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेन्समें महात्मा गांधी, पं० मदनमोहन मालवीय एवं श्रीमती सरोजिनी नायडूने कांग्रेसका प्रतिनिधित्व किया किन्तु कोई समझौता न हुआ। सत्याग्रह-आन्दोलन फिर छिड़ गया, नये वायसराय विलिंगडनने कठोरताके साथ आन्दोलनका दमन करनेका प्रयत्न किया और अनेक स्पेशल आर्डिनेन्स जारी किये। नेताओं और कार्य-कर्त्ताओंको जेलोंमें भरा जाने लगा। शासन-सुधारके प्रश्नपर भी बहस चलती रही किन्तु साम्प्रदायिक प्रश्न सबसे बड़ी बाधा थी। उसके निर्णयके लिए प्रधान मन्त्री रेमजे मैकडानल्डने अपना कम्यूनल एवार्ड दिया जिससे और अधिक असन्तोष फैला। महात्मा गांधीने अनशन प्रारम्भ कर दिया। देशमें तहलका मच गया। अतएव प्रधानमन्त्रीने महात्माजीसे समझौता कर लिया जो पूना पैक्टके नामसे प्रसिद्ध हुआ। १९३२ ई० में तीसरी गोलमेज़ कान्फ्रेन्सके प्रस्तावोंके आधारपर १९३३ ई० का श्वेतपत्र प्रकाशित हुआ और उसके आधारपर १९३५ ई० का ऐक्ट पास हुआ। वायसराय लिन-लिथगोने इस ऐक्टको कार्यान्वित किया और १९३७ ई० के चुनावमें सात प्रान्तोंमें कांग्रेसकी विजय हुई और मन्त्रिमण्डल बने। किन्तु युद्ध छिड़नेपर सरकारी नीतिसे मतभेद होनेके कारण उन्होंने पदत्याग कर दिया। सर्वत्र आर्डिनेन्सोंपर आधारित निरंकुश गवर्नरी शासन चालू हो गया। कांग्रेसने युद्धमें देश-द्वारा अंग्रेजोंकी सहायता करनेका विरोध किया और आन्दोलन छेड़ दिया। मुस्लिम लीग और कांग्रेसका परस्पर विरोध एवं मतभेद भी बढ़ता ही गया। मुहम्मदअली जिन्नाके नेतृत्वमें लीगने पाकि-स्तानकी मांग पेश कर दी। सन् १९४२ ई० में स्वातन्त्र्य-आन्दोलनने अति भीषण रूप धारण कर लिया। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास करके कांग्रेसने ही नहीं बल्कि सारी जनताने आन्दोलन मचा दिया। रेलकी पटरी हटाना, तार काटना, स्टेशन, डाकखाने आदि जलाना, ऐसे अनेक उत्पात भी यत्र-तत्र हुए। उधर युद्धमें जर्मनी और जापानकी विजय

हो रही थी, भारतीय वीर नेताजी सुभाषचन्द्र बोसने अपनी आजाद हिन्द सेनाका निर्माण करके जापानकी सहायतासे मलाया और ब्रह्मा पर आक्रमण कर दिया और भारतके आक्रमणकी तैयारी की। सरकार ने अत्यन्त कठोरताके साथ आन्तरिक विद्रोहका दमन करना शुरू किया, युद्धका भी पासा पलटने लगा और मित्रराष्ट्रोंकी विजय होने लगी। १९४४ ई० मे वायसराय वेवेलने आते ही राष्ट्रीय नेताओंके साथ समझौतेके प्रयत्न चालू कर दिये। १९४५ ई० मे केबिनेट मिशन और पार्लियामेण्टरी डेलीगेशन आये। महायुद्ध अब समाप्त हो गया था और अंग्रेजोंने भारतको स्वतन्त्र करनेका निश्चय कर लिया था। सितम्बर १९४६ ई० में पं० जवाहरलाल नेहरूके मन्त्रित्वमे अन्तरिम सरकार की स्थापना कर दी गयी। १९४७ ई० मे अन्तिम वायसराय माउण्टबेटन ने आते ही स्वतन्त्रता प्रदान करनेकी कार्रवाई शुरू कर दी। ३ जून १९४७ ई० को ब्रिटिश पार्लियामेण्टने भारतीय स्वतन्त्रता ऐक्ट पास किया और उसी वर्ष १५ अगस्तको भारतको स्वतन्त्रता प्रदान कर दी, या यों कहिए भारतवर्षके हिन्दुस्थान और पाकिस्तान नामक दो खण्ड करके दोनों को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। एक वर्ष माउण्टबेटनने स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्रका गवर्नर जनरल रहकर बँटवारेकी तथा सत्ता हस्तान्तरणसे सम्बन्धित अन्य आवश्यक बातोंकी व्यवस्था की। इस कालमें विभाजनके परिणामस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य अतिरेक कर गया। काफी संख्यामें मुसलमान भारतसे पाकिस्तान और उनसे कहीं अधिक बड़ी संख्यामें मुसलमानेतर जनता पाकिस्तानसे भारत आयी। भयंकर रक्तपात एवं उपद्रव हुए और जनताके धन-जन, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाकी भारी क्षति हुई। संविधान सभा इस बीचमे संविधान बनाती रही जो २६ जनवरी १९५० ई० से कार्यान्वित हुआ। स्वातन्त्र्य-आन्दोलनका नेतृत्व करने, देशका सबसे बड़ा राजनैतिक दल होने तथा आम चुनावमें सफलता प्राप्त करनेके कारण केन्द्रीय एवं प्रायः समस्त राज्य सरकारें कांग्रेसी दलकी ही

बनीं। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र गणतन्त्र भारतीय राष्ट्रकी इस प्रथम प्रजातन्त्रात्मक कांग्रेसी सरकारने समस्त देशी राज्यों और जमींदारियोंका अन्त कर दिया, देशकी विविध क्षेत्रीय उन्नतिके लिए प्रथम पञ्चवर्षीय योजना चालू की और उसकी समाप्ति होते न होते द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना चालू कर दी। अन्तर्राष्ट्रीय जगत्में भी भारतने सम्मान एवं प्रभावपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। देशको स्वतन्त्र करनेमें चाहे वह स्वतन्त्रता कितनी ही लुंजी, त्रुटिपूर्ण और उलझनोंसे भरी हुई रही, इस देशके निवासियोंको स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके योग्य बनानेमें और स्वतन्त्रता-प्राप्तिके उपरान्त उसका संरक्षण करनेके लिए उनके समर्थ होनेमें अंग्रेजों और अंग्रेजी शासनका भी बहुत कुछ हाथ है—इसमें सन्देह नहीं है। तथापि इस सबका प्रधान श्रेय भारतवर्षकी भारतीयता, देशवासियोंका अन्तर्निहित स्वातन्त्र्य-प्रेम, उनके अनगिनत विविध बलिदान और विषम परिस्थितियोंमें किये गये चिरकालीन संघर्षको ही है। देशने स्वयं स्वप्रयत्नसे ही स्वतन्त्रता प्राप्त की है और उसी प्रकार वह उसका सफल संरक्षण एवं उन्नति करेगा।

ब्रिटिश शासनमें देशकी कृषि, उद्योग-धन्धों, व्यापार और व्यवसायोंका भी पुनरुत्थान हुआ। विभिन्न नियमित बन्दोबस्तों, टेनेन्सी ऐक्टों, भूमि आलेखों और सुविस्तृत भूमि प्रशासन-द्वारा देशकी कृषि-भूमि तथा कृषि योग्य भूमिकी समुचित व्यवस्था की गयी। कृषि आयोगों तथा सरकारी कृषि अनुसन्धान समिति, सहकारिता विभाग, कृषि प्रदर्शनियों आदिके द्वारा कृषि और कृषकोंकी दशा सुधारनेका प्रयत्न किया गया। नहर, कुएँ, ट्यूबवेल, बाँध आदि विभिन्न उपायोंको विस्तार देकर सिंचाईका सुप्रबन्ध किया गया। चकबन्दी, नवीन प्रकारके रासायनिक खाद तथा यान्त्रिक उपकरणोंके प्रयोग भी कहीं-कहीं चालू किये गये। इस कृषि-प्रधान देशकी लगभग तीन चौथाई जन-संख्या खेतीपर ही निर्भर रहती आयी है। अंग्रेजोंके प्रारम्भिक प्रयत्नों-द्वारा देशके घरेलू उद्योग-धन्धोंके नष्ट हो जानेसे खेतीपर और अधिक भार बढ़ गया था। अंग्रेजी व्यापारके

द्वारा ही कपास, नील, जूट, सन, चाय आदि पदार्थोंके लिए विदेशी बाजारोंकी माँग बढ़नेसे उन पदार्थोंकी कृषिका क्षेत्रफल बढ़ गया था। मिल-मजदूरोंकी बढ़ती हुई संख्याने कृषकोंकी संख्यामें कमी की, रेलोंके विस्तृत जाल और जंगलोंके ह्रासने भी कृषिको क्षति पहुँचायी। ग्रामीण कृषकोंका पूर्वकालीन स्वनिर्भर स्वतन्त्र सचेत जीवन अत्यधिक अवनत हो गया था। मुकदमेबाजीके व्यसनने उनका आर्थिक एवं नैतिक पतन और अधिक किया। अतः मितव्ययी ईमानदार परिश्रमी और कार्यकुशल होते हुए भी ब्रिटिश शासनके मध्यकाल तक कृषि और कृषकोंकी दशा उस शासनके कारण ही अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। किन्तु ब्रिटिश शासनने ही अपने उत्तरार्ध कालमें उपरोक्त विविध उपायों-द्वारा देशकी कृषि और कृषकोंके पुनरुत्थानका प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था जिसका सुफल अभी भी लक्षित होने लगा है। १९३० ई० के आन्दोलनसे ही ग्रामीण जनताने अपनी राष्ट्रीय चेतना जोर-शोरसे व्यक्त करनी प्रारम्भ कर दी थी और अनेक अंशोंमें स्वातन्त्र्य-आन्दोलनकी सफलताका श्रेय देशकी बहुभाग ग्रामीण जनता-द्वारा उसमें लिये गये भागको ही है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनीने भारतके प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धों को प्रयत्नपूर्वक नष्ट कर दिया था। १८५७ ई० के उपरान्त भी कुछ दशकों तक सरकारने उनके पुनरुत्थानको कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। किन्तु नवचेतना और जागृतिके प्रभाव तथा सुशासन और शान्तिके सुयोगसे कुछ दूरदर्शी भारतीयोंने पश्चिमी यान्त्रिक प्रणालीपर देशके कतिपय उद्योग-धन्धोंका पुनरुत्थान प्रारम्भ कर दिया। १८७९ ई० तक भारतीय मिलों की संख्या ५८ थी और १८८६ ई० तक वह ९० हो गयी थी। २०वीं शतीके प्रारम्भ तक २०० मिलें स्थापित हो चुकी थीं जिनमें १७ करोड़ रुपया लगा था और दो लाख मजदूर काम करते थे। अधिकांश मिलें सूत कातनेका कार्य करती थीं, कपड़ा इंग्लैण्डसे ही बनकर आता था। जमशेदजी टाटाने लोहेका कारखाना पहले ही चालू कर दिया था। कुछ

अन्य चीजोंके कारखाने भी स्थापित होने लगे। १९१४ ई०के महायुद्धसे इन उद्योग-धन्धोंको भारी प्रोत्साहन मिला और उन्होंने अभूतपूर्व प्रगति की। लोहा, सूत और चीनीके उद्योग विशेषरूपसे चमके, कुछ मिलें वस्त्र भी बनाने लगीं। १९१८ ई०की सरकारी इण्डस्ट्रियल कमीशनकी रिपोर्टमें देशकी औद्योगिक उन्नतिके महत्त्वपर बल दिया गया और उन्नतिके अनेक उपाय सुझाये गये। १९२४ से १९२६ ई० के बीच भारतीय मिल-उद्योग-ने अपूर्व उन्नति की। वैज्ञानिक अनुसन्धानशालाओं और कई स्थानोंमें पानीसे तैयार की जानेवाली विद्युत्-शक्तिने भी इस कार्यमें भारी सहायता की। प्रत्येक प्रान्तमें एक औद्योगिक विभाग खुल गया, सरकारने सहायता, प्रश्रय और कुछ द्रव्य प्रदान किया। रेल, मोटर, तार-डाक आदिसे याता-यातकी सुगम सुविधा भी अत्यन्त सहायक हुई। दूसरे विश्वयुद्धने भारतीय मिल-उद्योगको और अधिक प्रोत्साहन दिया। फलस्वरूप स्वतन्त्रताप्राप्ति के समय तक भारतीय उद्योग-धन्धे पर्याप्त विकसित हो चुके थे और दैनिक उपयोगकी उन वस्तुओंमें-से जो पहले विदेशोंसे आयात की जाती थीं, अधिकतर अब भारतमें ही बनने लगीं। इतना ही नहीं, कुछ वस्तुओंका भारत कतिपय विदेशोंको भी निर्यात करने लगा। मिल-उद्योगके उत्थान के कुछ पहलेसे ही भारतीय व्यापार और व्यापारियोंकी दशा उन्नत होने लगी थी। उद्योग-धन्धोंके उत्थानने उसे और अधिक उन्नत किया। धीरे-धीरे देशके आन्तरिक व्यापारका अधिकांश तो उनके अधिकारमें आता ही चला गया, थोड़ा-थोड़ा विदेशी व्यापार भी उनके हाथमें आने लगा। अनेक अंग्रेजी या अन्य विदेशी कम्पनियों और फ़र्मोंमें भी भारतीय हिस्से-दार, साझीदार या प्रधान कार्यकर्त्ता, एजेण्ट आदि होने लगे। वर्तमान में देशका अधिकांश देशी एवं विदेशी व्यापार देशवासियोंके हाथमें है। व्यापार और उद्योग-धन्धोंके सञ्चालनके अतिरिक्त वकील, बैरिस्टर, मुख्तार, अटर्नी, डाक्टर, इञ्जीनियर, अध्यापक, लेखक, सम्पादक, पत्रकार, प्रकाशक, मिलमजदूर, मेकेनिक, सरकारी और गैर-सरकारी दफ्तरों तथा

बैंकों, फ़र्मों आदिकी क्लर्की, अन्य सरकारी नौकरियाँ, राजनीति आदि अनेक नवीन व्यवसाय ब्रिटिश शासनकालमें उदित हुए। बिजली तथा उसकी सहायतासे उपयोगमें आनेवाले अनगिनत उपकरणों, साधनों, सुविधाओं, नित्यप्रति प्रकाशमें आनेवाले पश्चिमी वैज्ञानिक आविष्कारोंके लाभ आदिने जीवन निर्वाह मंहगा बनाया, जीवनस्तरको ऊँचा उठाया, औसत जीवनकी व्यस्तता बढ़ायी और जीवनसंघर्षको जटिल एवं उग्र बना दिया। इस प्रकार पश्चिमी देशोंके अनुरूप भारतका सर्वतोमुखी आर्थिक पुनरुत्थान हुआ जिसके लाभ भी हैं और कुछ हानियाँ भी हैं।

शिक्षा-साहित्य, ज्ञान-विज्ञान और कलाओंका भी पुनरुत्थान हुआ। अराजकताकालमें भारतकी अपनी शिक्षा-व्यवस्था और उसके साधन छिन्न-भिन्न और प्रायः नष्ट हो चुके थे। कम्पनीके प्रारम्भिक अधिकारियोंने अपने स्वार्थ और सुविधाके लिए, अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे कुछ भारतीयोंकी आवश्यकता महसूस की और उसके लिए प्रयत्न चालू किया। उसी कालमें कैरी, टामस, मार्शमेन, वार्ड आदि अंग्रेज पादरियोंने ईसाई धर्मका प्रचार करनेकी भावनासे भारतीयोंको शिक्षित करनेका प्रयत्न चालू किया, छापाखाना और काग़ज़ बनानेका एक कारखाना भी खोला, एक समाचार-पत्र भी निकाला और बाइबिलका कई भारतीय भाषाओंमें अनुवाद प्रकाशित किया। कुछ अंग्रेज अधिकारियोंने स्वान्तःसुखाय अथवा जिज्ञासा तृप्तिके लिए भारतीय साहित्य, धर्म, संस्कृति, पुरातत्त्व और इतिहासका अध्ययन चालू किया और बंगाल एशियाटिक सोसाइटीकी नींव डाली। कलकत्तेमें एक मदरसा और बनारसमें एक संस्कृत कालिज स्थापित हुए। १८ वीं शती ई० के अन्तिम पादके उपरोक्त प्रयत्नोंके उपरान्त १९ वीं शतीके प्रथम पादमें अंग्रेज़ी शिक्षा और अंग्रेज़ोंके निकट सम्पर्कसे लाभान्वित राजा राममोहन राय, राधाकान्तदेव, जयनारायण घोष आदि भारतीय प्रतिष्ठित जनोंने और इंग्लैण्डमें ग्राण्ट और विल्बर फ़ोर्सने भारतमें शिक्षा-प्रचारके आन्दोलनको प्रगति दी। १८१३ ई० के कम्पनीके चार्टरमें

सरकारने इस मदमें एक लाख रुपया वार्षिक व्यय करनेकी स्वीकृति दी, १८१५ ई०में गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्सने अपने सरकारी मसविदेमें शिक्षा-प्रचारके महत्त्वपर जोर दिया, १८१६ ई० में कलकत्तेमें हिन्दू कालिजकी स्थापना हुई, १८२३ ई० में कलकत्ता बुक सोसाइटी एवं कलकत्ता स्कूल सोसाइटीकी स्थापना हुई तथा ऐडम और विल्सनकी अध्यक्षतामें सार्वजनिक शिक्षा कमेटीका निर्माण हुआ। १८३३ ई० के चार्टरमें शिक्षा-व्ययकी सरकारी रकम दस लाख कर दी गयी। १८३५ ई० में लार्ड बेंटिंक ने शिक्षाका माध्यम अंग्रेजी निश्चित किया। १८४२ ई० में पब्लिक इन्स्ट्रक्शन कमेटीके स्थानमें कौन्सिल ऑफ़ एजुकेशन स्थापित की गयी। संयुक्त प्रान्तके गवर्नर सर जेम्स टाम्सनने देहाती स्कूलोंकी स्थापनाका कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। १८५४ ई० में चार्ल्स वुड-द्वारा प्रस्तुत सार्वजनिक शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्टमें कहा गया था कि "शिक्षाके सिवाय और कोई प्रश्न ऐसा नहीं है जिसपर सरकारको सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। भारतवासियोंको वे नैतिक एवं आर्थिक लाभ जो केवल विद्योपार्जनसे ही प्राप्त हो सकते हैं, उपलब्ध कराना सरकारका पवित्र कर्त्तव्य है। हम चाहते हैं कि भारतवर्षमें ऐसी शिक्षाका प्रचार हो जिसके द्वारा जनताको यूरोपके साहित्य, विज्ञान, दर्शन, कला आदिका ज्ञान हो।" रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि "सार्वजनिक शिक्षाके लिए मातृभाषा ही प्रधान माध्यम है परन्तु अध्यापकोंको अंग्रेजीका ज्ञान होना आवश्यक है। देशी भाषाओंकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए, किन्तु जहाँ कहीं अंग्रेजी भाषाके पढ़नेकी इच्छा प्रकट की जाये वहाँ उसका प्रचार करना श्लाघ्य है।" फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तोंमें पृथक्-पृथक् व्यवस्थित शिक्षाविभाग स्थापित हुए। १८५७ ई० से ही प्रमुख-प्रमुख नगरोंमें विश्वविद्यालय एवं डिग्रीकालिज स्थापित किये जाने लगे। शिक्षार्थियोंकी संख्या भी द्रुतवेगसे बढ़ने लगी।

१८८२ ई० में सर विलियम हन्टरकी अध्यक्षतामें एक शिक्षा-आयोग नियुक्त हुआ जिसने सिफ़ारिश की कि जनताकी शिक्षाका प्रचार एवं

सुधार सरकारका सर्वप्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए, उसके लिए उसे निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए, प्रारम्भिक शिक्षापर विशेष ध्यान देना चाहिए, स्कूलोंका प्रबन्ध स्थानीय ग़ैर-सरकारी कमिटियोंको सौंप देना चाहिए, स्कूलोंकी फ़ीस कम कर देनी चाहिए और उच्च शिक्षामें सरकारको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्रारम्भिक एवं माध्यमिक शिक्षाका अधिकतर भार म्युनिस्पल एवं डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंको सौंप दिया गया। १९०४ ई० में इण्डियन यूनीवर्सिटीज ऐक्ट पास हुआ। १९१० ई० में वायसराय की कार्यकारिणीका ही एक सदस्य शिक्षा-विभागका सर्वोपरि अधिकारी बना। १९१३ ई० में शिक्षाविभागाध्यक्ष सर हार्कोर्ट बटलरके प्रस्तावों के फलस्वरूप वाराणसी, अलीगढ़, आगरा, पटना, नागपुर, लखनऊ, दिल्ली, ढाका आदि अन्य अनेक स्थानोंमें नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए जिनमेंसे कुछ केवल परीक्षा लेनेवाले ही थे। अनेक नगरोंमें कालिज भी खुले और प्राइमरी, मिडिल एवं सेकेण्डरी स्कूलोंकी संख्यामें अत्यधिक वृद्धि हुई। इनके अतिरिक्त डाक्टरी, सिविल और मैकेनिकल इंजीनियरी, कृषि आदि व्यावसायिक विषयोंके शिक्षणके लिए भी अनेक स्कूल कालिज यत्र-तत्र स्थापित हुए। १९३५ ई० के ऐक्ट-द्वारा शिक्षाविभाग एक हस्तान्तरित विषय बना दिया गया और जनताके स्वनिर्वाचित प्रतिनिधि मन्त्रियोंको सौंप दिया गया। १९३७ ई० से प्रारम्भिक शिक्षाको अनिवार्य करने तथा कहीं-कहीं वर्धायोजनाके अनुसार बेसिक एजुकेशनकी व्यवस्था करनेके प्रयत्न भी चालू हो गये। द्वितीय महायुद्धके उपरान्त शिक्षार्थियों और विविध शिक्षा-संस्थाओंकी संख्या तथा उनके सुधारोंने काफ़ी विस्तार प्राप्त किया है। अनगिनत सरकारी अथवा सरकार-द्वारा स्वीकृत उपरोक्त प्रकारकी शिक्षा-संस्थाओंके अतिरिक्त कवीन्द्र टैगोरकी विश्वभारती, प्रो० कर्वेका महिला विश्वविद्यालय, गांधीजीका सेवाश्रम-जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट-जैसे अनेक प्राच्यविद्यामन्दिर, सांस्कृतिक संशोधक मण्डल, खोज शोध एवं अनुसन्धान सम्बन्धी विद्याकेन्द्र,

साम्प्रदायिक विद्यालय, पाठशालाएँ और मदरसे, सार्वजनिक पुस्तकालय आदि यत्र-तत्र खुल गये। छापेखानों, साम्प्रदायिक या व्यवसायी प्रकाशन-संस्थाओं और फ़र्मों, समाचारपत्रों, साप्ताहिक पाक्षिक मासिक त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाओं आदिने भी ज्ञानका प्रसार करने और देशको शिक्षित करनेमें भारी योग-दान दिया। सिनेमा और रेडियो आदि मनोरंजनके आधुनिक उपकरणोंने भी जनसाधारणको शिक्षित करनेमें सहायता दी। अनेक प्रकाण्ड भारतीय विद्वानोंने प्रारम्भमें पाश्चात्य विद्वानोंके पथ-प्रदर्शन या सहयोगमें और कालान्तरमें अधिकांशत: स्वत: ज्ञान और विज्ञानके प्राय: सभी विभिन्न एवं विविध क्षेत्रोंमें आश्चर्यजनक एवं स्तुत्य कार्य किया और भारतीय प्रतिभाकी प्रतिष्ठा विश्वमें स्थापित की। साथ ही विभिन्न भारतीय भाषाओं और उनके अपने-अपने साहित्यका भी अभूतपूर्व विकास हुआ। बंगाली, मराठी, गुजराती, तामिल, कन्नड, उर्दू और हिन्दी आदि प्रमुख देशी भाषाओंने स्तुत्य प्रगति की। संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओंके अध्ययनको भी प्रोत्साहन मिला। हिन्दी, बंगला आदि प्रचलित देशी भाषाओंका सम्यक् विकास ब्रिटिश शासनकालमें ही हुआ। यों उनकी काव्य-भाषाका उद्गम एवं पर्याप्त विकास पिछली पाँच-छह शताब्दियोंसे होता आ रहा था, किन्तु गद्य-लेखन और उसकी शैलियोंका विकास प्राय: इसी कालकी देन है। प्राकृत भाषासे विकसित और पूर्वमध्यकालीन अपभ्रंश भाषाके द्वारसे उदित होनेवाली हिन्दी इस देशके पंजाबसे लेकर बिहार और हिमालयकी तराई से लेकर नर्मदापर्यन्त बहुभागमें व्यवहारमें आनेवाली सर्वाधिक प्रचलित लोकभाषा रही है। वीर गाथाकाल, निर्गुण भक्तिकाल, सगुण भक्तिकाल एवं रीतिकाल-जैसे भागोंमें विभाजित लगभग १००० ई० से १८०० ई० पर्यन्तके दीर्घकालमें इस भाषाका साहित्यिक काव्य रूप, बोलचालका सामान्य प्रचलित रूप और धार्मिक ग्रन्थोंके द्वारा, विशेषकर १८वीं-१९वीं शतीके आगरा, जयपुर आदिके जैन-पण्डितोंके प्रयत्नोंसे, गद्यरूप भी पर्याप्त

स्थायी एवं विकसित हो चुके थे। १९वीं शतीके मध्यके लगभग छापेखाने के प्रचलन और शिक्षाके प्रचारसे सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रश्रयमें इस भाषाने वह रूप लेना प्रारम्भ कर दिया जिसने उसे आज पूरे देशकी राष्ट्रभाषाके पदपर आसीन कर दिया। प्रारम्भमें अँग्रेजोंका पक्ष और तदनन्तर उर्दूकी प्रबल प्रतिद्वन्द्विता उसके मार्गमें भारी रुकावट बनी रहीं, किन्तु राजा शिवप्रसाद-जैसे समर्थकों, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-जैसे सेवकों तथा तदनन्तर अन्य अनगिनत साहित्यिक तपस्वियों, लेखकों, संस्थाओं आदिने विभिन्न शैलियोंमें विविध-विषयक गद्य-पद्य साहित्यका प्रचुर निर्माण करके, उसे प्रगतिशील बनाकर और उसका प्रचार करके उसे राष्ट्रभाषा बना दिया। देशकी इस समस्त ज्ञान जागृति एवं बौद्धिक प्रगतिके बावजूद सम्पूर्ण जनसंख्याका १५ प्रतिशतसे अधिक अभी भी शिक्षित तो क्या साक्षर भी नहीं है। तथापि इस पुनरुत्थान और उसके लिए किये गये सत्प्रयत्नोंके पुरस्कर्त्ता धन्यवादके ही पात्र हैं।

ललित कलाओंके क्षेत्रमें भी उन्नति हुई। विविध-विषयक वैज्ञानिक, तात्त्विक एवं उपयोगी साहित्य, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र आदि विषयोंपर महत्त्वपूर्ण पुस्तकों और प्राचीन ग्रन्थोंके अनुवाद व आलोचनात्मक व्याख्याओं सहित सुसम्पादित, संशोधित संस्करणोंके अतिरिक्त हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती, तामिल, कन्नड आदि प्रमुख भारतीय भाषाओंमें काव्य, नाटक, रूपक, प्रहसन, उपन्यास, कहानी, साहित्यिक समालोचना, जीवन-चरित्र, आत्म-चरित्र, निबन्ध आदि कला-त्मक साहित्यकी अनेक प्रौढ़ रचनाओंका सृजन हुआ। संगीतके क्षेत्रमें मौखिक एवं वाद्य दोनों प्रकारके शास्त्रीय एवं लोकप्रिय रूपोंका विभिन्न संगीत-विद्यालयों, कला-केन्द्रों, नाटक-समाजों, सिनेमाओं एवं रेडियो-द्वारा पर्याप्त विकास एवं प्रचार हुआ। नृत्य-कलाका भी पुनरुत्थान एवं विकास हुआ। इस कलाके शास्त्रीयरूपों, विभिन्न प्रदेशोंमें प्रचलित लोकरूपों, पाश्चात्यरूपों आदि विभिन्न प्रकारोंका विकास एवं समन्वय हुआ।

चित्रकलाके पुनरुद्धारका श्रेय कलकत्ता गवर्नमेण्ट स्कूल आफ आर्टके प्रिन्सिपल ई० बी० हैवेलको है जिनके प्रभावसे अवनीन्द्रनाथ ठाकुरने भारत की प्राचीन कलाको पुनरुज्जीवित करनेके प्रयत्नमें एक नवीन शैलीका विकास किया। नन्दलाल बोस, अब्दुर्रहमान चुग़ताई, डा० सुलेमान आदि अन्य अनेक प्रसिद्ध चित्रकारोंने चित्रकलाके पुनरुत्थानमें प्रभूत सहयोग दिया। मूर्तिकलामें विषयकी प्रत्याकृति बनानेकी ओर अधिक लक्ष्य रहा, उसके भावपक्षको इस कालमें विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। स्थापत्य कलाके क्षेत्रमें भी सादगी सुविधा और उपयोगिताकी ओर अधिक ध्यान रहा। इस कालमें अनगिनत सरकारी और गैरसरकारी इमारतें बनीं, किन्तु वस्तुतः कलापूर्ण कृतियाँ कहलाने योग्य उनमें शायद दो-चार ही निकलें तो निकलें। वास्तवमें इस युगमें कलाका भी पुनरुत्थान तो हुआ, किन्तु सभी कलाओंपर आधुनिक पाश्चात्य सभ्यताकी भारी छाप और प्रभाव रहा।

धर्म और समाजका इस धर्मप्राण देशमें अविनाभावी सम्बन्ध रहा है। सामाजिक जीवनका प्रायः कोई अंग ऐसा नहीं रहा जो धर्मके प्रभावसे ओत-प्रोत न रहा हो। इस देशकी संस्कृति भी प्रधानतः धर्मानुसारी ही रही, और क्योंकि विचार एवं विश्वास-स्वातन्त्र्यका भी इस देशमें सदैव सम्मान हुआ है, अतः यहाँ प्रारम्भसे ही कई-कई धर्म और उनसे सम्बन्धित संस्कृतियाँ साथ-साथ बहुधा सद्भाव और सहयोगपूर्वक ही फलती-फूलती रहीं। सुदूर प्रागैतिहासिक कालसे ही चली आयी भारतीय संस्कृतिकी द्राविड़ आर्य, व्रात्य वैदिक अथवा श्रमण ब्राह्मण रूप विशुद्ध स्वदेशी द्विविध धारा जिनमेंसे प्रथमका उद्गम-स्रोत मगधादि पूर्वी प्रदेश था और दूसरी का कुरुपांचाल कहलानेवाला उत्तर पश्चिमी प्रदेश था, एक दूसरेपर क्रिया-प्रतिक्रिया करती समताके साथ चली आ रही थी। ऐतिहासिक कालमें श्रमणधारा जैन बौद्धादि रूपोंमें और ब्राह्मणधारा शैव वैष्णवादि रूपोंमें विकसित होती पायी गयी। मुसलमानोंके आनेसे पूर्व जो भी अन्य विदेशी

जातियाँ इस देशमें आयीं उन्हें भारतीय समाज और संस्कृतिने सरलताके साथ आत्मसात् कर लिया, और मुसलमानी कालके प्रारम्भ तक अपने अन्तःमें पृथक्-पृथक् रूप किन्तु बाह्यतः एक रूप भारतीय संस्कृतिकी यह द्विविध धारा अपने हिन्दू जैन आदि अनुयायियों-द्वारा समताभावसे अबाध बहती एवं उत्तरोत्तर विकसित होती आ रही थी। इस्लाम और मुसलमानोंके आगमनने उसके निर्बाध बहावमें प्रथम बार रुकावट डाली और उसे कुछ नये मोड़ प्रदान किये। इस्लाम और मुसलमानोंको भारत पूर्णतया आत्मसात् तो न कर सका किन्तु उनकी शुद्धता और विदेशीयता एवं विजातीयताको अनेक अंशोंमें बहुत कम कर दिया। भारतको इस्लाम और मुसलमान अन्य इस्लामी देशोंके इस्लाम और मुसलमानसे बहुत कुछ भिन्न हो गये। इसके अतिरिक्त बहुभाग जनताके सामाजिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवनमें मुसलमानी शासनने विशेष हस्तक्षेप भी नहीं किया और न उसपर कोई खास प्रभाव डाला। थोड़ेसे आवश्यक परिवर्तनोंके साथ यह फिर अपनी सहज गतिसे प्रवाहित होने लगा। अराजकताकाल की अशान्ति और अव्यवस्थामें यह जातीय जीवन भी शिथिल, सुषुप्त एव अस्त-व्यस्त-सा पड़ गया था। और जब अंग्रेजी शासनके भली प्रकार स्थापित हो जानेपर उसे पुनरुत्थानका सुयोग मिला तो उक्त शासनके परिणाम स्वरूप पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृतिके साथ उसने अपने-आपको संघर्ष करते पाया। प्रारम्भमें अपनी उस अशक्त अवनत एवं पराधीन स्थितिमें वह अपने थोड़ेसे अंग्रेज शासकोंके द्वारसे पश्चिमी जगत्को विशेष प्रभावित करनेके योग्य तो था नहीं, अनेक परिस्थितियोंने स्वयं उसे उक्त सभ्यतासे अत्यधिक प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। पश्चिमके धर्म, विचारों, आदर्शों, रहन-सहन, वेशभूषा, आविष्कारों, पद्धतियों एवं प्रणालियों, सभीका भारतीय जीवनपर प्रभाव पड़ा। इसमें भी सन्देह नहीं कि कतिपय जिज्ञासु अंग्रेज मनीषियोंने प्रारम्भसे ही भारतीय धर्म, संस्कृति, साहित्य और इतिहासके ज्ञानका पुनरुद्धार करना भी शुरू कर दिया था

और यह कार्य उत्तरोत्तर उन्नति करता गया तथा उसने भारतके सम्बन्धमें पश्चिमी जगत्‌की धारणाओंको परिवर्तित करनेमें, उनकी भूलोंका संशोधन करनेमें और भारतको सांस्कृतिक विभूतिका आदर करनेमें पर्याप्त सहायता दी। तथापि भारतका यह प्रभाव अधिकांशत: बौद्धिक ही रहा, व्यवहार-दृष्टिसे उसका फल प्राय: नगण्य ही रहा।

अस्तु, अंग्रेजोंके सम्पर्कसे देशमें जो जागृति हुई उसका एक परिणाम धर्म और समाजमें सुधार करके उसे यूरोपवासियोंके आदर्शपर उन्नत बनानेके प्रयत्न थे। संख्या, प्रभाव और व्यापकताकी दृष्टिसे अपने अनेक बहुधा परस्पर भिन्न एवं विरोधी रूपोंके बावजूद, देशका प्रधान धर्म अब कथित हिन्दूधर्म था और प्रधान समाज हिन्दूसमाज था। हिन्दूसमाजमें भी वर्ण एवं जाति व्यवस्थाके कारण भारी अनैक्य था। उनमें भी अवर्ण अछूत शूद्रोंकी संख्या आधेसे अधिक थी जिन्हें चतुर अंग्रेजोंने 'दलित जातियाँ' या 'परिगणित जातियाँ' आदि नाम दिये। उनकी सामाजिक आर्थिक बौद्धिक एवं नैतिक दशा अवश्य ही अत्यधिक शोचनीय थी और जितनी थी उससे कहीं अधिक वर्णन की जाती थी। १९ वीं शतीके पूर्वार्धमें ही राजा राममोहन रायने धर्म एवं समाज-सुधारके उद्देश्यसे ब्राह्म-समाजकी स्थापना की। इसमें वर्णव्यवस्था और मूर्त्तिपूजाका बहिष्कार था और इसका झुकाव अंग्रेजियत एवं ईसाइयतकी ओर अधिक था। उस कालमें अंग्रेजोंके साथ खान-पानका सम्पर्क रखनेवाला या समुद्रपार जानेवाला व्यक्ति जाति और धर्मसे च्युत कर दिया जाता था, और ऐसे लोगोंकी संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। ब्राह्म-समाज उनको आश्रय देता था, अत: उसका प्रचार और प्रसार बढ़ता गया। केशवचन्द्र सेनने उसे और आगे बढ़ाया। देवेन्द्रनाथ ठाकुरने ब्राह्म समाजका प्राचीन वैदिक आदर्शोंके साथ समन्वय करनेके प्रयत्नमें आदि ब्राह्म-समाजके रूपमें उसकी एक नयी शाखाको जन्म दिया। इसके अनुकरणमें महाराष्ट्रमें निर्गुण एकेश्वरवादी प्रार्थना समाजकी स्थापना हुई। महादेव गोविन्द रानाडे और रामकृष्ण गोविन्द भण्डार-

कर प्रार्थना समाजके प्रमुख नेता थे। रानाडेने समाज-सुधारके ही उद्देश्य से डेकन एजुकेशन सोसाइटीकी और बादको गोपाल कृष्ण गोखलेने सर्वेन्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटीकी भी स्थापना की। स्वामी रामकृष्ण परमहंसने भी वेदान्ती विचारोंका प्रचार किया, उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्दने तथा स्वामी रामतीर्थने विदेशोंमें भी जाकर भारतीय अध्यात्मवादसे यूरोप और अमेरिकाके निवासियोंको प्रभावित किया। रामकृष्ण मिशन भी एक नया सुधारपन्थ बन गया। १८७५ ई० में मैडम ब्लावत्सकीने भारतीय आदर्शोंको एक नवीन रूप देकर थियोसोफ़िकल सोसाइटीकी स्थापना की। श्रीमती एनीबेसेण्टने इस क्षेत्रमें स्तुत्य कार्य किया। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयोंमें उसका बड़ा प्रचार हुआ। १८७५ ई० के ही लगभग स्वामी दयानन्दने आर्य समाजकी स्थापना की, ये भी मन्दिर, मूर्ति एवं पौराणिकताके विरोधी थे, समाज-सुधारके पक्षमें थे और याज्ञिक वैदिक धर्मका पुनः प्रचार करना चाहते थे। पंजाब और उत्तर प्रदेशमें आर्य समाजका बहुत प्रचार हुआ। किन्तु जहाँ आर्य समाज आन्दोलनने अनेक कुरीतियोंको दूर करनेका प्रयत्न किया, स्त्रीजातिके सुधार और शिक्षा-प्रचारके कार्यको आगे बढ़ाया और मुसलमानों एवं ईसाइयों-द्वारा जनता को अपने धर्मोंमें दीक्षित करनेमें भारी बाधा दी वहाँ सनातन धर्मोंकी कटु आलोचना एवं बीभत्स उपहास करके जन-साधारणकी धार्मिक भावनाको भी ठेस पहुँचायी। किन्तु इसका भी फल अच्छा ही हुआ, सनातन धर्म भी अपने-अपने संगठन एवं संरक्षण करनेमें प्रवृत्त हुए। आगरेके स्वामी शिवदयालने राधास्वामी सम्प्रदायकी स्थापना की। बंगालमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने विधवा-विवाह आन्दोलन चलाया। अन्तमें महात्मा गाँधीने समाज-सुधारको अपने राजनैतिक आन्दोलनका प्रमुख अंग बनाया और विशेषकर अछूत कही जानेवाली जातियोंके उद्धारके लिए हरिजन-आन्दोलन चलाया। अन्य भी अनेक धार्मिक और सामाजिक नेता इस युगमें हुए। वैज्ञानिक शिक्षा, पाश्चात्य विचारों एवं सभ्यताके सम्पर्क, विदेश-यात्रा

आदिने भारतीयोंके दृष्टिकोणमें भारी परिवर्तन कर दिया था। रूढ़ि, रीति, प्रथा, शास्त्रीय वक्तव्य और पण्डितों पुरोहितोंके फतवोंकी अपेक्षा युक्ति और तर्कको अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था। अनेक बन्धन तो आधुनिक सभ्यताके स्कूल, अस्पताल, रेल, होटल, छापाखाना आदि विविध उपकरणोंने स्वयं ही ढीले करने प्रारम्भ कर दिये थे। इन सबके सुयोगमें उपरोक्त आन्दोलनोंके फलस्वरूप धर्म और समाजमें प्रभूत सुधार एवं जागृति आ गयी। दलित जातियोंकी दशा सुधरने लगी, स्त्रीजातिमें शिक्षा, स्वनिर्भरता, परदेका अभाव आदि वेगके साथ बढ़ने लगे, विदेशयात्रा, विधवा-विवाह, विजातीय विवाह आदि बुरे न समझे जाने लगे और बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, कन्या-विक्रय आदि हेय समझे जाने लगे। इस प्रकार हिन्दू जातिका पर्याप्त पुनरुत्थान हुआ।

संख्या और प्रभावमें बहुत कम होते हुए भी भारतीयता, प्राचीनता, देशमें व्यापकता एवं सांस्कृतिक समृद्धिमें कथित हिन्दू धर्म और समाजके प्रायः समकक्ष जैनधर्म और जैन समाजमें भी उपरोक्त युगानुसारी प्रवृत्तियों विचारों एवं क्रान्तियोंका प्रायः वैसा ही प्रभाव पड़ा। अब भी देशके प्रायः प्रत्येक भागमें पाये जानेवाले जैनी अधिकांशतः मध्यमध्यम एवं उच्चमध्यम वर्गके व्यापारप्रधान समृद्ध एवं सम्पन्न भारतीय थे। सामाजिक संगठन, शिक्षा, सदाचार, स्वधर्मज्ञान एवं धार्मिकताकी दृष्टिसे वे अन्य समाजोंसे बहुत कुछ आगे थे। विवाह सम्बन्धी कुप्रथाओं, छूताछूत, विदेशगमन, धर्मशास्त्रोंके छापे जानेका विरोध, स्त्री जातिकी अशिक्षा, परदा आदि अनेक कुरीतियोंके सम्बन्धमें मध्य एवं उच्च वर्गोंके हिन्दुओं जैसा ही कदाग्रह उनमें भी था। किन्तु अधिक शिक्षा, सम्पन्नता, एवं अल्पसंख्याके कारण श्रेष्ठतर सामाजिक संगठन एवं स्वधर्माचरणकी अधिक निकटताने उन्हें युगकी प्रगतिके साथ अपने धर्म और समाजका सुधार करनेमें अधिक शीघ्रताके साथ समर्थ बना दिया। १९ वीं शती ई० के मध्य तक जयपुर, अहमदाबाद आदि अनेक केन्द्रोंमें हिन्दीकी प्रौढ़

गद्य एवं पद्य शैलियोंमें उनका विपुल धार्मिक साहित्य-निर्माण होता रहा था और दूर-दूर प्रान्तोंमें सैकड़ों प्रतियोंके रूपमें पहुँचाता रहता था। प्रत्येक मन्दिर उनका दैनिक सामाजिक मिलनस्थल था, जहाँ एक छोटा-बड़ा शास्त्रभण्डार भी रहता था और प्रायः दैनिक शास्त्र-सभा होती थी। इनसे उनका धार्मिक जीवन और सामाजिक जीवन भी बहुत कुछ बँधा हुआ था। १९वीं शतीके मध्यमें दिल्लीके पं० शिवचन्द्रने पचासों छोटी-छोटी पुस्तकें शिक्षोपयोगी धार्मिक एवं लौकिक विषयोंपर हिन्दी गद्यमें लिखी थीं। युक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के प्रथम शिक्षासंचालक राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द भी जैन थे जिनके प्रयत्नोंसे हिन्दी न केवल शिक्षा-संस्थाओंका एक पाठ्य विषय बनी वरन् अदालतोंमें भी उर्दूके साथ-साथ उसका प्रयोग होना प्रारम्भ हो गया। उन्होंने स्वयं भी हिन्दीमें कई पुस्तकें लिखीं। १८५० ई० में ही आगरा नगरमें एक जैन धार्मिक पुस्तक छप चुकी थी। किन्तु धर्मग्रन्थोंके छापे जानेका हिन्दू पण्डितोंकी भाँति जैन पुरातनपन्थियोंने भी लगभग पचास वर्ष तक विरोध किया। किन्तु विरोधके बावजूद छापेके आन्दोलनमें प्रगति होती गयी। १८७५ ई० से जैन समाचारपत्र भी निकलने प्रारम्भ हो गये और कुछ ही दशकोंमें हिन्दी, गुजराती, कन्नड़, मराठी, अंग्रेजी, उर्दू आदि विभिन्न भाषाओंमें साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाओंकी संख्या दर्जनोंपर पहुँच गयी। १८८९ ई० में दिगम्बर जैन महासभाकी और तदनन्तर श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स और जैन यंग मैन्स एसोसियेशन (भारत जैन महा-मण्डल) की स्थापना हो गयी। विभिन्न स्थानोंमें अनेक जैन सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संस्थाएँ स्थापित हो गयीं जिनसे शोध खोज एवं विविध-विषयक साहित्यका सृजन होने लगा। बालपाठशालाओं, बालिका-विद्यालयों एवं उच्च संस्कृतविद्यालयोंके अतिरिक्त जैन स्कूल, कालेज, छात्रावास, बाला-विश्राम, अनाथालय आदि भी शीघ्रताके साथ स्थापित होने लगे। स्त्रीशिक्षा, अन्तर्जातीय या विजातीय विवाहके पक्षमें और

वृद्धविवाह, कन्या-विक्रय आदिके विरोधमें उग्र आन्दोलन चले और पर्याप्त सफल हुए। दस्सापूजाधिकार-आन्दोलनने किसी भी व्यक्तिके धर्मपालन की स्वतन्त्रता अपहरण करनेकी प्रथाका अन्त कर दिया। समाज-सुधारके उद्देश्यसे ही दिगम्बर जैन परिषद् जैसी संस्थाएँ भी स्थापित हुईं। तीर्थ-क्षेत्रोंके प्रबन्धके लिए कमेटियाँ बनीं किन्तु इस प्रसंगको लेकर दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंमें कई तीर्थोंके एकाधिकारके प्रश्नपर खेदजनक मुक़दमे-बाज़ियाँ भी चलीं जिन्होंने घातक साम्प्रदायिक वैमनस्यमें वृद्धि की, किन्तु वह नेताओंके सत्प्रयत्नोंसे अब कुछ दशकोंसे शान्त पड़ गया है। अंग्रेज़ प्राच्यविदोंने १८वीं शताब्दीके अन्तिम पादमें ही जैनधर्म एवं साहित्यमें रुचि लेनी प्रारम्भ कर दी थी। १९वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें अनेक अंग्रेज़ विद्वानोंके प्रयत्नोंसे जैनधर्म, संस्कृति, साहित्य, पुरातत्त्व और इतिहासके अनेक अंगोंपर स्तुत्य प्रकाश पड़ा और जैनविद्या भारतीय विद्याका एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गयी। १९वीं शतीके उत्तरार्धमें अंग्रेज़ोंके अतिरिक्त अनेक जर्मन, फ़्रान्सीसी, इटेलियन आदि अन्य पश्चिमी देशोंके प्राच्यविदों ने जैनविद्याके अध्ययनको प्रभूत प्रगति प्रदान की एवं जैनधर्म और उसके इतिहाससे सम्बन्धित अनेक भ्रामक धारणाओंका सफल निरसन किया। वीरचन्द राघवजी गांधी, पं० लालन, जगमन्दरलाल जैनी, चम्पतराय बैरिस्टर आदि अनेक जैन विद्वानोंने यूरोप और अमेरिकामें जाकर जैन-धर्म एवं दर्शनका प्रचार किया। भारतमें अनेक जैन एवं अजैन प्रकाण्ड भारतीय प्राच्यविदों एवं विद्वानोंने जैनाध्ययन को उत्तरोत्तर प्रगतिवान किया और यह क्रम चालू है। इस प्रकार इस युगमें जैन समाजके आन्तरिक सुधार एवं पुनरुत्थानके साथ-ही-साथ जैन दर्शन, संस्कृति एवं इतिहास-सम्बन्धी ज्ञानका भी अभूतपूर्व पुनरुद्धार हुआ।

मुसलमान धर्मके विषयमें सदैव अधिक कट्टर एवं रूढ़िवादी रहे तथापि भारतीय इस्लाममें भी नये-नये पन्थ पैदा होते रहे। मिर्ज़ा गुलाम अहमद क़ादयानी (१८३९–१९०८ ई०) ने अहमदिया पन्थ चलाया। उसके

कुछ पूर्व अब्दुल वहाबने वहाबी पन्थ चलाया था। किन्तु इन पन्थोंमें धर्म या समाज-सुधारकी वह भावना न थी जो ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज आदि में थी। अंग्रेजी राज्यके कारण प्रारम्भमें मुसलमानोंका ही अधिक अहित हुआ था। पहले समस्त ऊँचे-ऊँचे पदोंपर वही नियुक्त थे और अब अलग कर दिये गये थे। अतः वे अंग्रेजोंसे असन्तुष्ट थे और उनके द्वारा प्रविष्ट नवीन विचारोंके प्रबल विरोधी थे। उनमें शिक्षाकी भी बहुत कमी थी और नैतिक चरित्रमें भी प्रायः अवनत थे। किन्तु मेरठके मौलवी चिराग़ अली (१८४४–९५ई०), अलीगढ़के सर सैयद अहमदखाँ (१८१७–९८ ई०), लखनऊके मौलवी शिबली नुमानी (१८५७–१९१४ ई०) आदि नेताओंने मुसलमानोंमें जागृति पैदा की और मुस्लिम यूनिवर्सिटी, स्कूल, मदरसे, मकतब आदि खोलकर, समाचारपत्र निकालकर तथा संस्थाएँ एवं संगठन बनाकर उनकी उन्नतिका प्रयत्न किया। मुसलमान नेताओंने प्रारम्भसे ही अपनी अपेक्षाकृत अल्पसंख्याका बहाना करके सरकारसे अपनी जातिके लिए विशेष अधिकार और रियायतें मांगना शुरू कर दी थीं। यह प्रयत्न अन्त तक चालू रहा। मुसलमानोंमें साम्प्रदायिक वैमनस्य या हिन्दू-विद्वेषको उनके नेताओंने सदैव प्रोत्साहन दिया, जिसके कुफल भयंकर साम्प्रदायिक दंगों, मार-काट, लूट-पाट और अन्तमें अखण्ड देशके खण्ड-खण्ड हो जानेके रूपमें सामने आये।

सिक्खधर्मने भी समयानुसारी प्रगति की, किन्तु विशेष नहीं। देशके विभाजनके फलस्वरूप उन्हें अन्य पंजाबी एवं सिन्धी हिन्दू जैन आदिकोंके साथ-ही-साथ भारी कष्ट उठाने पड़े, किन्तु उनके नेताओंका लक्ष्य भी मुसलमान नेताओंकी भाँति राजनीतिक लाभोंकी ओर अधिक रहा है और धर्म, समाज एवं संस्कृतिके पुनरुत्थानकी ओर कम।

पारसी समाज छोटा-सा किन्तु सर्वाधिक समृद्ध सुशिक्षित एवं गठा हुआ समाज है। अंग्रेजी शासन और सभ्यताका सर्वाधिक लाभ उसने अपनी व्यापारिक, औद्योगिक एवं सामाजिक उन्नति करनेमें उठाया।

बौद्ध धर्म लगभग एक सहस्राब्दिके उपरान्त अब कुछ दशकोंके बीच इस देशमें बाहरसे आकर फिरसे उदय हो रहा है, देशमें उसके अनुयायियोंकी संख्या चाहे अधिक न बढ़ रही हो किन्तु समर्थकों एवं प्रशंसकों की कमी नहीं है। धार्मिक दृष्टिसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पुनरुत्थान इस कालमें बौद्ध धर्मका ही हुआ है।

ईसाई धर्मने अंग्रेजी शासनके आश्रय, संरक्षण एवं सहायता, सहयोगसे भारी उन्नति की थी। निम्न जातियोंकी दीन गरीब अशिक्षित जनताको ईसाई बनानेमें उन्होंने अधिक ध्यान दिया और उसमें वे पर्याप्त सफल भी हुए। उनके मिशनों और पादरियोंने स्कूलों, अस्पतालों, अनाथालयों आदिके द्वारा देशको लाभ ही पहुँचाया, सेवाभावका आदर्श भी भली प्रकार प्रस्तुत किया, किन्तु इन सत्प्रयत्नोंमें यही सबसे बड़ा कलंक है कि इस देशमें ईसाई धर्मका प्रचार करनेके पीछे पश्चिमी गोरी ईसाई जातियोंके राजनीतिक उद्देश्य ही प्रधानरूपसे कार्य करते रहे और सम्भवतया अब भी कर रहे हैं। वैसे ईसाई समाज अपेक्षाकृत शिक्षित एवं सामान्यतया उन्नत समाज रहा है।

इस प्रकार गत शताब्दीके पुनरुत्थानयुगमें भारतवर्षने जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें नवीन जागृति, प्रगति एवं उन्नति की। इस सर्वतोमुखी पुनरुत्थान ने स्वतन्त्रता-प्राप्तिके साथ एक बड़ी मंज़िल तय कर ली। देशका पुनरुत्थान हो चुका, अब वह सर्वप्रकार समर्थ सचेतन होकर अपने पैरोंपर खड़ा है और सभ्यताकी दौड़में विश्वके अन्य सभ्य राष्ट्रोंके साथ समान स्तरपर भाग लेनेके लिए कटिबद्ध है। यदि अपनी सांस्कृतिक परम्पराके समस्त श्रेष्ठ एवं उपादेय तत्त्वोंका, भारतकी भारतीयताका संरक्षण करते हुए और उन्हें उत्तरोत्तर समुन्नत बनाते हुए वह आगे बढ़ता है तो वह अवश्य ही स्व-पर-कल्याणका सफल साधन कर लेगा, इस बातमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रमुख तिथियाँ

१. देशी भारत

१ करोड़ से ६ लाख वर्ष पूर्व	: पूर्व पाषाण युग
लगभग ६००००० – १५००० ई० पू०	: पुरातन पाषाण युग
,, १५०००–८००० ,,	: नव्य पाषाण युग
,, ८००० ,,	: धातु युग एवं मानव सभ्यता और संस्कृतिका उदय, ऋषभ युग
,, ६०००-२५०० ,,	: सिन्धु घाटी सभ्यता–पूर्वकी मानव एवं पश्चिम और दक्षिणकी विद्याधर (द्रविड़) सभ्यताएँ
,, ३०००–१००० ,,	: वैदिक आर्य सभ्यता
,, २००० ,,	: रामायण काल, अयोध्याके श्री रामचन्द्र, मगधमें २०वें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत, दक्षिणमें वानरवंशी एवं ऋक्षजाति-रावण आदि
,, १४४३ ,,	: महाभारत युद्ध, महाराज कृष्ण, २२वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि
,, १४००–७०० ,,	: उत्तर-वैदिक काल, उपनिषदोंकी रचना, नागोंका पुनरुत्थान, व्रात्यों एवं श्रमणोंका पुनरुत्कर्ष
,, १००० ,,	: हस्तिनापुरका विनाश
,, ९००–७०० ,,	: काशी राज्यका उत्कर्ष, चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त

८७७–७७७ ई० पू० : तीर्थंकर पार्श्वनाथ

६४२ ,, : काशीके शिशुनाग-द्वारा मगधमें शिशुनाग वंशकी स्थापना

५९९ ,, (मार्च ३०) : अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर-का जन्म

५८७-५३५ ,, : मगध-नरेश श्रेणिक बिम्बसार

५७० ,, (नवम्बर ११) : महावीरकी दीक्षा

५६३ ,, : शाक्यपुत्र गौतम बुद्धका जन्म

५५७ ,, (अप्रैल २६) : महावीरकी कैवल्य-प्राप्ति

५५७ ,, (जुलाई १) : महावीरका प्रथम उपदेश, धर्मचक्र-प्रवर्तन

५३५-५०३ ,, : मगध-नरेश कुणिक अजातशत्रु; वैयाकरण पाणिनि

५३४ ,, : बुद्धकी प्रव्रज्या

५२८ ,, : बुद्धका बोधिलाभ (निर्वाण)

५२७ ,, (मंग० अ० १५) : निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (निगंठनातपुत्र) भ० महावीरका निर्वाण, महावीर संवत्का प्रारम्भ

५१६ ,, : ईरानके शाहदासका भारतके पश्चिमोत्तर प्रदेशपर आक्रमण

५१५ ,, : महावीरके पट्टधर इन्द्रभूति गौतम केवलिका निर्वाण

५०३ ,, : गौतमके उत्तराधिकारी सुधर्म अर्हतकेवलिका निर्वाण

५०३-४८७ ,, : मगध-नरेश अजउदयी, पाटलि-पुत्रका निर्माण

४८७-४६७	ई० पू०	: पाटलिपुत्र-नरेश अनुरुद्ध, मुण्ड, नागदशक आदि
४८३	,,	: गौतमबुद्धका परिनिर्वाण (मृत्यु)
४६७	,,	: मगधमें शैशुनाग व्रात्यनन्दि द्वारा विजय वंश अपर-नाम पूर्वनन्द वंशकी स्थापना,
४६६	,,	: अवन्तीका मगध-राज्यमें मिलना
४६५	,,	: महावीर-परम्पराके अन्तिम अर्हतकेवलि जम्बु-स्वामीका निर्वाण
४४९-४०७	,,	: मगध-सम्राट् नन्दिवर्धन कालाशोक
४२४	,,	: नन्दिवर्धन-द्वारा कलिंग विजय
४०७-३६४	,,	: महानन्दिन्
३६६	,,	: अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहुका (जैन) संघ सहित दक्षिण देशको बिहार, मगधमें द्वादशवर्षीय दुभिक्ष प्रारम्भ
३६५	,,	: कर्णाटकके कटवप्र पर्वतपर भद्रबाहुका देहत्याग
३६३	,,	: मगधमें राज्य-क्रान्ति, नव्यनन्द वंशकी स्थापना,
३६३-३२९	,,	: महापद्मनन्द
३२९-३१७	,,	: धनानन्द और उसके भाई—८ नन्द, चाणक्य
३२६	,,	: यूनानी सम्राट् सिकन्दरका पंजाब और सिन्धपर आक्रमण
३२१	,,	: चन्द्रगुप्त मौर्यका नन्दोंके विरुद्ध विद्रोहारम्भ
३१७	,,	: मगध राज्य-क्रान्ति, नन्द वंशका अन्त, मौर्यवंश की स्थापना
३१७-२९८	,,	: सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य
३१२	,,	: चन्द्रगुप्तका अवन्तिविजय,
३०५	,,	: चन्द्रगुप्त द्वारा यूनानी सम्राट् सेल्युकसकी पराजय
३०३	,,	: मगध-राज दरबारमें यूनानी राजदूत मेगेस्थनीज
२९८	,,	: चन्द्रगुप्तका राज्यत्याग और जैन मुनि बनकर श्रवण-

बेल्गोल (दक्षिण कर्णाटक) को चला जाना

२९८-२७४ ई० पू० : मौर्य सम्राट् बिन्दुसार अमित्रघात,

२७४-२३२ ई० पू० : सम्राट् अशोक

२७१-७० ई० पू० : अशोकका राज्याभिषेक

२६२-६१ ई० पू० : कलिंग-युद्ध

२५७-५६ ई० पू० : अशोकके शिलालेखोंका लिखाया जाना

२३२-१९० ई० पू० : पश्चिमी एवं दक्षिणी मौर्य-साम्राज्यका अधिपति सम्राट् सम्प्रति (राजधानी अवन्ति); मगधमें उसका चचेरा भाई दशरथ और उसके वंशज

ल० २०० ई० पू० : पैठनमें सिमुक-द्वारा सातवाहन वंशकी स्थापना

१९०-१६४ ई० पू० : अवन्तिमें मौर्य सम्प्रतिके वंशज

१९०-१५२ ई० पू० : कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल

१८४ ई० पू० : पुष्यमित्र शुंग-द्वारा मगधके अन्तिम मौर्य बृहद्रथका वध

१८४-७४ ई० पू० : मगधमें शुंग वंश, ब्राह्मणधर्म-पुनरुद्धार, पतञ्जलि, वाल्मीकि, मनुस्मृति

१७५ ई० पू० : खारवेलका यौवराज्याभिषेक

१६६ ई० पू० : खारवेलका राज्याभिषेक

१६४ ई० पू० : खारवेल-द्वारा पैठनके सातवाहन-नरेश शातकर्णिकी विजय

१५८ ई० पू० : खारवेलने मगध-नरेश पुष्यमित्र शुंगको पराजित किया तथा यूनानी सम्राट् दमित्रको पराजित किया

१५३ ई० पू० : कुमारी पर्वतपर खारवेलने जैनमुनियोंका महा-सम्मेलन किया

१५२ ई० पू० : खारवेलके हाथीगुम्फा शिलालेखकी तिथि

ल० १५० ई० पू० : जैन सरस्वती आन्दोलनका प्रारम्भ

ल० ८५ ई० पू०	: शकोंका भारत-प्रवेश
७४-६१ ई० पू०	: उज्जैनीमें खारवेलके वंशज महेन्द्रादित्य गर्दभिल्लका राज्य
६६ ई० पू०	: शकोंका मालवामें प्रवेश, पुरातन शक संवत्की प्रवृत्ति
६१-५७ ई० पू०	: उज्जैनीमें शकोंका राज्य
५७ ई० पू०	: विक्रमादित्यके नेतृत्वमें शकोंकी पराजय, मालवगणकी स्वतन्त्रता, विक्रम संवत्की प्रवृत्ति। सुराष्ट्र, मथुरा, आदिमें शक-क्षत्रपवंशोंकी स्थापना
८ ई० पू०-४४ ई०	: जैनाचार्य कुन्दकुन्द और उनके पाहुडग्रन्थ
२५-७५ ई०	: दिगम्बर परम्पराके आगमोंका संकलन
२६-६६ ई०	: सुराष्ट्रका क्षहरात नहपान, गौतमीपुत्र शातकर्णी
६६ ई०	: दक्षिणके दिगम्बर मूलसंघके उपभेदोंकी उत्पत्ति
७८ ई०	: चष्टन-द्वारा पश्चिमी क्षत्रपवंशकी स्थापना, उज्जैनीकी विजय, शक संवत्की प्रवृत्ति
७८-१०० ई०	: पुरुषपुर (पेशावर) का कुषाण सम्राट् कनिष्क, बौद्धाचार्य अश्वघोष
७९ ई०	: जैनसंघका दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें विभाजन
१२०-१८० ई०	: जैनाचार्य समन्तभद्र
१२५-१५० ई०	: महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम, सुदर्शन झीलका लेख
१८८ ई०	: सिंहनन्दि-द्वारा मैसूरके गंगवंशकी स्थापना

लं० २०० ई० : सातवाहन वंशका अन्त, दक्षिण भारतके पूर्वी तटके नागमण्डलका अन्त, कांचीमें पल्लववंशका उत्कर्षारम्भ, उत्तरापथके नाग और वकाटक राज्य

२४९ ई० : कलचुरी या त्रैकुटक संवत्की प्रवृत्ति

लं० २५० ई० : वैजयन्तीका मयूरवर्मन कदम्ब

३१९-२० ई० : गुप्त संवत् व वल्लभी संवत्की प्रवृत्ति, चन्द्रगुप्त प्रथमका मगधपर अधिकार, गुप्त वंशकी स्थापना

३२८-७८ ई० : सम्राट् समुद्रगुप्त, कांचीमे विष्णुगोप पल्लव, पुराण रचना

३७९-४१४ ई४ : सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य, महाकवि कालिदास

लं० ४०० ई० : कदम्बनरेश काकुत्स्थवर्मन, गंगनरेश माधव द्वितीय, फाह्यानका भारत आगमन

४००-४८२ ई० : गंग अविनीत कोंगिणी

४१४-४५५ ई० : सम्राट् कुमारगुप्त

४३१ ई० : श्वेतहूणोंका प्रथम भारत-प्रवेश, अत्याचारी विधर्मी कल्किका उदय

४३६-४५८ ई० : कांचीनरेश सिंहवर्म पल्लव

लं० ४५०-४७८ ई० : मृगेश वर्मन कदम्ब, कृष्णवर्म प्रथमका विद्रोह

४५३-४६६ ई० : वल्लभीमें देवर्द्धि-द्वारा श्वेताम्बर आगमोंका संकलन

४५५-४६७ ई० : सम्राट् स्कन्दगुप्त

४६४-५२४ ई० : जैनाचार्य पूज्यपाद देवनन्दि

४६५-५५५ ई० : महाकवि भारवि

४७३-५१५ ई० : हूणराज तोरमाण (कल्किपुत्र), जैनगुरु हरिगुप्त

४८२-५५२ ई० : गंगनरेश दुर्विनीत कोंगुणी, चालुक्य जयसिंह विष्णु-वर्धन

४९७ ई० : पूर्वी गंग संवत्‌की प्रवृत्ति

५०५ ई० : वराहमिहिरकी पञ्चसिद्धान्तिका

ल० ५२०-५५० ई० : चालुक्य पुलकेशि प्रथम

५३० ई० : मालवा-नरेशन् यशोधर्मन-द्वारा हूण मिहिरकुलकी पराजय

ल० ५५० ई० : उज्जैनीमें राजर्षि देवगुप्त

५५०-५७६ ई० : कन्नौजमें मौखरि ईशान वर्मन, कांचीमें सिंहविष्णु पल्लव

६००-६३० ई० : पल्लव महेन्द्र वर्मन प्रथम

ल० ६००-६८० ई० : जैनाचार्य अकलंक देव; भर्तृहरि, कुमारिल भट्ट, धर्मकीर्त्ति, महाकवि दण्डी, बाण, आदि भी लगभग इसी कालमें

६०४ ई० : वज्रनन्दि-द्वारा पाण्ड्य मदुरामें जैन द्रविड़संघका पुनः संगठन

६०५-११ ई० : वल्लभीका मैत्रक नरेश शिलादित्य धर्मादित्य प्रथम

६०६-४७ ई० : स्थानेश्वरमें सम्राट् हर्षवर्धन, गौड़ नरेश शशांक (६१९ ई०)

६०८-४२ ई० : वातापीका चालुक्य-सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय

६०९-७० ई० : गंगनरेश भूविक्रम कोंगुणि

६१५ ई० : कुब्ज विष्णुवर्धन, वेंगिका प्रथम पूर्वी चालुक्य नरेश

६२९-४३ ई० : ह्वेनसांगका भारत प्रवास

६३०-६६८ ई० : पल्लव नरसिंह वर्मन प्रथम

६३४ ई० : रविकीर्त्तिका ऐहोल शिलालेख

६४३ ई० : अकलंकका कलिंगकी राजसभामें बौद्ध विद्वानोंके साथ वाद

६४३-८० ई० : चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य प्रथम
६७०-७१३ ई० : गंग शिवमार नवकाम
६८१-६९७ ई० : चालुक्य विनयादित्य
६९७-७३३ ई० : चालुक्य विजयादित्य
ल० ७०० ई० : बंगालमें आदिसूर
७२६-७७८ ई० : गंग श्रीपुरुष मुत्तरस
७३०-७५० ई० : कन्नौजमें यशोवर्मन
७३३-७६९ ई० : कश्मीरमें ललितादित्य मुक्तापीड
७३३-७४६ ई० : चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय
ल० ७३५-७५७ ई० : राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग
७४३ ई० : बप्पभट्ट सूरि—श्वेताम्बरोंके ८४ गच्छ स्थापन,
७४६ ई० : वनराज चावड़ा-द्वारा गुजरातमें चापोत्कट वंश-स्थापन
७५८-७३ ई० : राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम
७६०-८२४ ई० : बंगालमें पालवंशी धर्मपाल
७६४-९९ ई० : वेंगिका पूर्वी चालुक्य विष्णुवर्धन चतुर्थ
७७२ ई० : जाजू-द्वारा दिल्लीमें तोमर वंशकी स्थापना
ल० ७७५-८०० ई० : गुर्जर-प्रतिहार नरेश वत्सराज
७७८ ई० : उद्योतनसूरिकी कुवलयमाला
७७९–७९३ ई० : राष्ट्रकूट ध्रुवधारावर्ष
७८० ई० : स्वामी वीरसेन-द्वारा धवल नामक महाग्रन्थकी समाप्ति
ल० ७८० ई० : शंकराचार्य
७८३ ई० : जिनसेनका हरिवंश
७९३ ई० : कन्नौजमें इन्द्रायुधका राज्य
७९३–८१४ ई० : राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय जगत्तुंग

८१५– ७७ ई० : राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम नृपतुंग

८१५– ५० ई० : गंग राचमल सत्यवाक्य प्रथम

८२४– ७२ ई० : बंगाल-नरेश देवपाल

८३६– ८५ ई० : कन्नौजका गुर्जर-प्रतिहार सम्राट् भोजदेव

८७८–९१४ ई० : राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय अकालवर्ष

ल० ९०७ ई० : परान्तक प्रथम चोल

९३९– ६७ ई० : राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय

९४७ ई० : गुजरातमें मूलराज-द्वारा सोलंकी वंशकी स्थापना

९५४-१००२ ई० : खजुराहोका धंग चन्देल

९६१– ७४ ई० : गंग मारसिंह

९७३– ९७ ई० : तैलप द्वितीय, कल्याणीके उत्तरवर्ती चालुक्य वंश का संस्थापक

९७४– ९५ ई० : धारमें वाक्पति मुंज परमार

९७७ ई० : ग्वालियरमें वज्रदामन कच्छपघट

९७८ ई० : श्रवणबेलगोलकी गोम्मटेश बाहुबलि मूर्तिका निर्माण

९८५-१०१६ ई० : राजराजा चोल

९९७-१००९ ई० : चालुक्य सत्याश्रय इरिव बेदिग

१००६ ई० : मुनीन्द्र वर्धमान-द्वारा होयसल राज्यकी स्थापना

१०१४– ४२ ई० : चालुक्य सम्राट् जयसिंह द्वितीय

१०१६– ४२ ई० : राजेन्द्र चोल

१०१८– ६० ई० : धारका भोज परमार

१०७६–११२६ ई० : चालुक्य विक्रमादित्य (विक्रमांक)

१०९० ई० : कन्नौजमें चन्द्रदेव-द्वारा गहड़वाल वंशकी स्थापना

१०९४-११४३ई० : अन्हिलवाड़ेका जयसिंह सिद्धराज सोलंकी

११०६- ४१ ई० : होयसल नरेश विट्टिवर्धन, रामानुजाचार्य

११४३- ७३ ई० : गुजरातका कुमारपाल सोलंकी, जैनाचार्य हेमचन्द्र
ल० ११५० ई० : अजमेर-साम्भरका विग्रहराज चौहान, दिल्लीमें अनंगपाल तोमर
११५६- ६७ ई० : कल्याणीमें बिज्जल कलचुरि, बासव-द्वारा लिंगायत मतकी उत्पत्ति
११६६-१२०३ ई० : परिमाल चन्देल
ल०११७५ - ९३ ई० : दिल्लीमें पृथ्वीराज चौहान, कन्नौजमें जयचन्द्र
१२८८ - ९३ ई० : मार्कोपोलोकी भारत-यात्रा
१३१८ ई० : देवगिरिके यादवोंका पतन
१३२१ ई० : वारंगलके ककातीय राज्यका पतन
१३२६ ई० : द्वारसमुद्रके होयसल राज्यका पतन
१३३६ ई० : हरिहर एवं बुक्का-द्वारा विजयनगर राज्यकी स्थापना
१३३६-१४८५ ई० : विजयनगरमें संगम वंश
१४८६- ९२ ई० : विजयनगरमें नरसिंह सालुव, नवीन वंश
१५०५ ई० : विजयनगरमें अरस वंशकी स्थापना
१५०९-३० ई० : विजयनगर-नरेश कृष्णदेवराय
१५६५ ई० : तालिकोटाका युद्ध, विजयनगर विध्वंस

२. विदेशी शासनमें भारत

६०९ ई० : हिजरी सन्का प्रारम्भ
६४४ ई० : अरबोंका सिन्धपर प्रथम आक्रमण
७१२ ई० : मुहम्मदबिन कासिम-द्वारा दाहिरकी पराजय और सिन्धमें अरब-राज्यकी स्थापना
९८७ ई० : भटिण्डेके राजा जयपाल साही-द्वारा सुबुक्तगीन गजनवीकी पराजय

९९९-१०२७ ई० : महमूद गजनवीके लुटेरे आक्रमण; अलबेरुनी
११९१ ई० : तराइनका प्रथम-युद्ध, राजपूतों-द्वारा मुहम्मद गोरीकी पराजय
११९२-९३ ई० : तराइनका दूसरा युद्ध, पृथ्वीराजकी पराजय दिल्लीपर मुसलमानोंका अधिकार
११९४ ई० : जयचन्द्रकी पराजय, कन्नौजपर मुसलमानोंका अधिकार
११९७ ई० : भीमदेव सोलंकी-द्वारा गोरीकी सेनाओंकी पराजय
११९९ ई० : मुहम्मदबिन बख्तियार खिलजी-द्वारा बिहार व बंगालपर अधिकार
१२०६ ई० : गोरीकी मृत्यु, कुतुबुद्दीन ऐबक-द्वारा दिल्लीमें गुलामवंशकी स्थापना
१२१२-३६ ई० : इल्तुतमिश दिल्लीका सुल्तान
१२२५ ई० : चंगेजखाँ मंगोलका आक्रमण
१२६६-८६ ई० : बलबन
१२९० ई० : जलालुद्दीन खिलजी-द्वारा दिल्लीमें खिलजीवंशकी स्थापना
१२९६-१३१६ ई० : अलाउद्दीन खिलजी
१३२१ ई० : गाजी तुग़लक-द्वारा दिल्लीमें तुग़लकवंशकी स्थापना
१३२५-५१ ई० : मुहम्मद तुग़लक, अफ्रीकी यात्री इब्नबतूता
१३४७ ई० : दक्षिण (गुलबर्गा) में बहमनी राज्यकी स्थापना
१३५१-८८ ई० : फ़ीरोजशाह तुग़लक, दिल्लीके तुर्की साम्राज्यका पतन आरम्भ
१३८८-१६०१ ई० : खानदेशका फ़ारूकी वंश
१३९८ ई० : तैमूरलंगका भारत-आक्रमण और लूट-मार

१३९८-१५२६ ई० : ग्वालियरका तोमर राज्य
१३९९-१४७६ ई० : जौनपुरकी शर्की सल्तनत
१४०५-३२ ई० : माण्डू (मालवा) का सुलतान होशंग गोरी
१४१४ ई० : तुग़लकवंशका अन्त, दिल्लीमें सैयद वंशकी स्थापना-सैयद खिज्रखाँ-द्वारा
१४१७-६७ ई० : कश्मीरका सुलतान जैनुल्आबदीन (बुधशाह)
१४३६-८२ ई० : मालवेका सुलतान महमूद खिलजी
१४५० ई० : दिल्लीमें बहलोल लोदी-द्वारा लोदी वंशकी स्थापना; मेवाड़में राणा कुम्भ
१४५९-१५११ ई० : गुजरातका सुलतान महमूद बेगड़ा
१४६३-८२ ई० : बहमनी राज्यका प्रसिद्ध मन्त्री महमूद गवाँ
१४८४-१५७४ ई० : बरारकी इमादशाही सल्तनत
१४८९-१५१७ ई० : दिल्लीका सुलतान सिकन्दर लोदी
१४८९-१६८६ ई० : बीजापुरकी आदिलशाही सल्तनत
१४९०-१६३७ ई० : अहमदनगरकी निज़ामशाही सल्तनत
१४९३-१५१९ ई० : बंगालका सुलतान हुसेनशाह
१४९८ ई० : पुर्तगाली वास्कोडिगामाका कालीकटमें आगमन
१५०९ ई० : एल्बुकर्क-द्वारा गोआमें पुर्तगाली राज्यकी स्थापना
१५१७-२६ ई० : दिल्लीमें इब्राहिम लोदी
१५१८-१६८७ ई० : गोलकुण्डाकी कुतुबशाही
१५२६ ई० : पानीपतका प्रथम युद्ध, लोदी वंशका अन्त, मुग़ल-राज्यकी स्थापना
१५२६ ई० : बहमनी राज्यका अन्त
१५२६-१६०९ ई० : बीदरकी बरीदशाही सल्तनत
१५२६-३७ ई० : गुजरातका सुलतान बहादुरशाह

१५२६-३० ई० : बाबर, दिल्लीका प्रथम मुग़ल नरेश

१५२७ ई० : कनवारका युद्ध, बाबर-द्वारा राणा सांगाकी पराजय

१५२९ ई० : मेवाड़ाधिपति राणा सांगाकी मृत्यु

१५३०-५५ ई० : मुग़ल बादशाह हुमायूँ

१५३९-४५ ई० : शेरशाह सूरि

१५४० ई० : हुमायूँको हराकर शेरशाह-द्वारा दिल्लीमें सूरि-वंशकी स्थापना

१५४५-१५५३ ई० : सलीमशाह सूरि

१५५५ ई० : हुमायूँकी पुन: राज्य-प्राप्ति, सूरिवंशका अन्त

१५५६ ई० : पानीपतका दूसरा युद्ध, अकबर-द्वारा हेमूकी पराजय

१५५६-१६०५ ई० : मुग़ल सम्राट् अकबर

१५७९ ई० : अकबरकी धार्मिक क्रान्ति

१६०० ई० : अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी स्थापना

१६०१ ई० : डच ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी स्थापना

१६०५-२७ ई० : मुग़ल सम्राट् जहाँगीर

१६०८ ई० : अंग्रेजोंका भारतके साथ सर्वप्रथम व्यापार

१६१५-१८ ई० : जहाँगीरके दरबारमें अंग्रेजी राजदूत सर टामस रो

१६२७-८० ई० : मराठा वीर शिवाजी

१६२८-५८ ई० : मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ

१६४० ई० : मद्रासमें-अंग्रेजी कोठीकी स्थापना

१६४२ ई० : फ़्रान्सीसी कम्पनीकी स्थापना

१६५८ ई० : उत्तराधिकार युद्ध, शाहजहाँको बन्दी करके औरंगज़ेबका राज्यारोहण

१६५८-१७०७ ई० : मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब

१६६८ ई० : अंग्रेजों-द्वारा बम्बई केन्द्रका निर्माण
१६७४ ई० : शिवाजीका राज्याभिषेक, मराठा राज्यकी स्थापना
१६८० ई० : राजपूत युद्ध, औरंगजेबका दक्षिणगमन
१६९० ई० : अंग्रेजोंकी कलकत्ता कोठीकी स्थापना
१७०७-१८५७ ई० : अराजकता काल, मुगलसाम्राज्य व वंशका पतन, विदेशियों-द्वारा भारतकी लूट, अंग्रेजोंका प्रभुत्व-स्थापन
१७०७-१२ ई० : मुगल-बादशाह बहादुरशाह प्रथम
१७०८ ई० : संयुक्त ईस्टइण्डिया कम्पनी (अंग्रेजी)
१७१४-२० ई० : प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ
१७१७ ई० : अंग्रेजोंकी बादशाह फर्रुखसियरसे व्यापारी अधिकार-प्राप्ति
१७२०-४० ई० : पेशवा बाजीराव प्रथम
१७२४-४८ ई० : हैदराबादमें आसफ़जाह निजामुल्मुल्क, प्रथम निजाम
१७३५-४१ ई० : फ्रान्सीसी गवर्नर ड्यूमा
१७३९ ई० : नादिरशाह दुर्रानीका आक्रमण, दिल्लीकी लूट और हत्याकाण्ड
१७४०-६१ ई० : पेशवा बालाजी बाजीराव
१७४०-४८ ई० : प्रथम अंग्रेज-फ्रान्सीसी युद्ध
१७४२-५४ ई० : फ्रान्सीसी गवर्नर डुप्ले
१७४९-५४ ई० : द्वितीय अंग्रेज-फ्रान्सीसी युद्ध
१७५१ ई० : क्लाइव-द्वारा अर्काटका घेरा, अंग्रेजी राजनैतिक शक्तिका सूत्रपात
१७५६-६३ ई० : तीसरा अंग्रेज-फ्रान्सीसी युद्ध

१७५६ ई० : अहमदशाह अब्दालीको दिल्लीद्वारा लूट
१७५७ ई० : पलासीका युद्ध, बंगालपर अंग्रेज़ोंका प्रभुत्व
१७६१ ई० : पानीपतका तीसरा युद्ध, मराठोंकी पराजय, पेशवाओंका पतन
१७६१-८२ ई० : मैसूरका हैदरअली
१७६५ ई० : लार्ड क्लाइव बंगालका गवर्नर, इलाहाबादकी सन्धि
१७६७-६९ ई० : प्रथम अंग्रेज-मैसूर युद्ध
१७७२-७४ ई० : वारेन हेस्टिंग्स बंगालका गवर्नर
१७७३ ई० : रेगुलेटिंग ऐक्ट
१७७४-८५ ई० : वारेन हेस्टिंग्स अंग्रेज़ी भारतका गवर्नर-जनरल
१७७५ ई० : सर विलियम जोन्स-द्वारा बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना
१७७५-८२ ई० : प्रथम अंग्रेज-मराठा युद्ध
१७८०-८४ ई० : दूसरा अंग्रेज-मैसूर युद्ध
१७८४ ई० : पिट्स इण्डिया ऐक्ट
१७८६-९३ ई० : लार्ड कार्नवालिस (ग० ज०), इस्तमरारी बन्दोबस्त
१७९३ ई० : कम्पनीका चार्टर
१७९३-९८ ई० : सर जॉन शोर (ग० ज०), हस्तक्षेप न करने की नीति
१७९८-१८३९ ई० : पंजाबमें रणजीत सिंह, सिक्ख राज्य संस्थापक
१७९८-१८०५ ई० : लार्ड वेलेज़ली (ग० ज०), सहायक सन्धि-प्रथा
१७९८-९९ ई० : चौथा अंग्रेज-मैसूर युद्ध, टीपू सुल्तानका अन्त
१८०२-०५ ई० : दूसरा अंग्रेज-मराठा युद्ध
१८०५-०७ ई० : सर जार्ज बार्लो (ग० ज०)

१८०७-१३ ई० : लार्ड मिण्टो (ग० ज०)
१८१३ ई० : कम्पनीका चार्टर
१८१३-२३ ई० : लार्ड हेस्टिंग्स (ग० ज०)
ल० १८१५ ई० : राजा राममोहनराय-द्वारा ब्राह्म समाजकी स्थापना
१८१६ ई० : नेपाल-युद्ध और सिगौलीकी सन्धि
१८१६-१८ ई० : पिण्डारियोंका दमन
१८१७-१९ ई० : तीसरा मराठा युद्ध, मराठा शक्तिका पतन
१८२३-२८ ई० : लार्ड एम्हर्स्ट (ग० ज०)
१८२४-२६ ई० : प्रथम बर्मा युद्ध
१८२८-३५ ई० : सर विलियम बैंटिक और उसके सुधार
१८३२ ई० : सिन्धके अमीरोंका दमन
१८३३ ई० : कम्पनीका चार्टर
१८३५-३६ ई० : सर चार्ल्स मेटकाफ़ (ग० ज०)
१८३६-४२ ई० : लार्ड आकलैण्ड (ग०ज०), प्रथम अफ़ग़ान युद्ध
१८४२-४४ ई० : लार्ड एलिनबरा (ग० ज०)
१८४३ ई० : सिन्धको अंग्रेज़ी राज्यमें मिलाना
१८४४-४८ ई० : लार्ड हार्डिन्ज (ग० ज०), प्रथम सिक्ख युद्ध, सिक्खराज्यका पतन
१८४८-५६ ई० : लार्ड डलहौज़ी
१८४८ ई० : सतारा राज्यका अन्त
१८४९ ई० : पंजाबको अंग्रेज़ी राज्यमें मिलाना
१८५२ ई० : दूसरा बर्मा युद्ध, दक्षिणी बर्मापर अंग्रेज़ोंका अधिकार
१८५३ ई० : झाँसी राज्यका अन्त, कम्पनीका चार्टर, भारतमें रेलका जारी होना

१८५४ ई० : चार्ल्स वुडकी शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्ट

१८५६ ई० : अवधकी नवाबीका अन्त

१८५७ ई० : अंग्रेजी शासनके विरुद्ध देशव्यापी सैन्य विप्लव

१८५८ ई० : विद्रोहका दमन, भारतका शासन इंग्लैण्डकी सरकारने कम्पनीसे छीनकर अपने हाथमें लिया, महारानी विक्टोरियाकी विज्ञप्ति, ऐक्ट फ़ार दी बेटर गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया, लार्ड कैनिंग प्रथम वायसराय

१८५८-१९४७ ई० : पुनरुत्थान युग

१८६१ ई० : इण्डिया कौन्सिल ऐक्ट

१८७० ई० : म्युनिसिपल ऐक्ट-द्वारा स्वायत्त शासनको मान्य करना

१८७१ ई० : प्रथम जन-गणना

१८७६ ई० : भारतीय संघ नामक संस्थाकी स्थापना

१८८३-८४ ई० : विभिन्न स्थानोंमें म्युनिसिपल व डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंकी स्थापना

१८८५ ई० : इण्डियन नेशनल कांग्रेसकी स्थापना

१८८८ ई० : अपर इण्डिया मुसलिम एसोसियेशनकी स्थापना

१८९२ ई० : दूसरा इण्डिया कौन्सिल ऐक्ट

१९०४-०५ ई० : बंगभंग आन्दोलन

१९०६ ई० : मुसलिम लीगकी स्थापना

१९०७ ई० : कांग्रेसका सूरत अधिवेशन, गरम और नरम दल अलग हुए

१९०९ ई० : मिण्टो-मार्ले रिफ़ार्म, गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ऐक्ट

१९११ ई० : दिल्ली दरबार, इंग्लैण्डके राजा और रानीके आगमनके उपलक्षमें

१९१४-१८ ई० : यूरोपीय महायुद्ध

१९१६ ई० : कांग्रेसका लखनऊ अधिवेशन, गरम-नरम दल मिले, मुसलमानोंके साथ लखनऊ पैक्ट, एनी बेसेण्टका होमरूल आन्दोलन

१९१९ ई० : माण्टेग्यु-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट, गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ऐक्ट

१९१९ ई० : लोकमान्य तिलककी मृत्यु, गाँधीजी कांग्रेसके नेता बने

१९२१ ई० : महात्मा गाँधीका असहयोग आन्दोलन, खिलाफ़त आन्दोलन

१९२२ ई० : ग्राम्य पंचायतोंकी स्थापना

१९२९ ई० : कांग्रेसका लाहौर अधिवेशन, पूर्ण स्वाधीनता लक्ष्य घोषित

१९३० ई० : साइमन कमीशनकी रिपोर्ट

१९३० ई० : महात्मा गाँधीके नेतृत्वमें सविनय आज्ञाभंग आन्दोलन और सत्याग्रह प्रारम्भ

१९३०-३२ ई० : लन्दनकी तीन गोलमेज़ कान्फ़्रेन्सें

१९३१ ई० : रैम्जे मैकडानल्डका कम्यूनल एवार्ड

१९३३ ई० : श्वेत-पत्र

१९३५ ई० : गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया ऐक्ट

१९३७ ई० : कई प्रान्तोंमें कांग्रेस मन्त्रिमण्डलोंकी स्थापना

१९३९-४५ ई० : विश्वयुद्ध

१९४२ ई० : 'भारत छोड़ो' आन्दोलन, सुभाष बोसका आजाद हिन्द-प्रयत्न, जिन्ना-द्वारा पाकिस्तानकी माँग, स्टैफ़र्ड क्रिप्सका भारत आगमन और भारतीय संघ योजना प्रस्तुत करना

१९४४ ई० : वेवल योजना

१९४५ ई० : कैबिनेट मिशन एवं पार्लमेण्टरी डेलीगेशन

१९४६-४७ ई० : अन्तरिम शासन

१९४७ ई० : (१५ अगस्त), इंग्लैण्डकी सरकारका इण्डियन इन्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, भारतवर्षका विभाजन और स्वतन्त्रता

१९४८ ई० : (३० जनवरी), महात्मा गांधीकी हत्या

१९५० ई० : (२६ जनवरी), भारतीय संविधानका कार्यान्वित होना

शुद्धिपत्र

पृष्ठ सं०	पंक्ति सं०	मुद्रित	शुद्ध
९	४	अंजनाभ	अजनाभ
५३	४	भृषिपत्तन	ऋषिपत्तन
५७	८	ई०पूं० ५४७	ई०पू०५५७
६६	१५	कौशल	कोसल
९७	१७-१८	संघरक्षिता	संघमित्रा
१६८	२३	यशोवर्सदेव	यशोवर्मदेव
२२२	१६	तन्त्रयमान	तन्त्रयान
२९३	–	पृष्ठ सं० ३९३	२९३
३०१	८	मसूरो	मसूदी
३१७	२	९६८	१०६८
३६४	३-४	इन युद्धोंमें जैन वीर	इन युद्धोंमें उसके सहायक जैन वीर
४०२	२२	जरखरदी	जरख़रीद
४२५	२४	फ़रिस्ताने	फ़रिश्ताने
४३०	१६	लौंकोशाह	लौंकाशाह
४३१	८	जैनुलआदबदीन	जैनुलआबदीन
४३६	१८	कुतबशाह	कुतुबशाह
४७७	१३	निर्ज़ा	मिर्ज़ा
४९६	२०	मसूर	मसूद
५८६	१८	मुर्शिदाबाद बंगालके	बंगालमें मुर्शिदाबादके
५९१	२	(१६०८-१८५८ई०)	(१७०८-१८५८ई०)
५९४	२	भारत साम्राज्य	भारत संघ-राज्य
६४७	१३	लार्ज	लार्ड
६५४	५-६	नियुक्ति किये जानेवाले मन्त्रियोंका	मन्त्रियोंकी नियुक्ति
७१०	१	अब्दालीकी दिल्ली द्वारा लूट	अब्दाली-द्वारा दिल्ली-की लूट